शल्य-विज्ञान की पाठ्य-पुस्तक

(Text Book of Surgery)

शल्य-विज्ञान की पाठ्य-पुस्तक

(TEXT BOOK OF SURGERY)

भाग 2

सम्पादक :

संगम लाल

F. R. C. S. (ENG.), D. O. M. S. (LOND.)

भूतपूर्व प्रोफ़ेसर सर्जरी, इन्स्टीट्यूट ऑफ

मेडिकल साइन्सेज, नई दिल्ली

और

सी. पी. वी. मेनन

M. S. (MAD.), F.R.C S. (ENG.)

अवैतनिक भूतपूर्व प्रोफ़ेसर

मेडिकल कालेज, मद्रास

अनुवादक :

डॉ० मुकन्द स्वरूप वर्मा, एम० बी० बी० एस०

डा० महेश चन्द्र, एम० बी० बी० एस०

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग

शिक्षा-मंत्रालय, भारत सरकार

प्रथम संस्करण, वर्ष 1969

प्रस्तुत पुस्तक सर्वश्री बटर वर्थ, लन्दन द्वारा प्रकाशित सर्वश्री संगमलाल तथा सी. पी. वी. मेनन की अंग्रेजी पुस्तक Text Book of Surgery के 1962 के संस्करण का हिन्दी अनुवाद है और वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग की मानक ग्रंथ-योजना के अन्तर्गत शिक्षा मंत्रालय के शत-प्रतिशत अनुदान से प्रकाशित हुई है।

मूल्य : 11·75

प्रधान प्रकाशन अधिकारी, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली का स्थायी आयोग, शिक्षा मंत्रालय, वेस्ट ब्लॉक-7, रामाकृष्णापुरम, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित तथा शाहदरा प्रिंटिंग प्रेस, के-18 नवीन शाहदरा दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित।

प्रस्तावना

हिन्दी और प्रादेशिक भापाओ को शिक्षा के माध्यम के रूप मे अपनाने के लिए यह आवश्यक है कि इनमे उच्चकोटि के प्रामाणिक ग्रंथ अधिक से अधिक संख्या मे तैयार किए जाएं। भारत सरकार ने यह कार्य वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग के हाथ मे सौपा है और उसने इसे बडे पैमाने पर करने की योजना बनाई है। इस योजना के अन्तर्गत अग्रेजी और अन्य भाषाओं के प्रामाणिक ग्रंथों का अनुवाद किया जा रहा है तथा मौलिक ग्रथ भी लिखाए जा रहे है। यह काम अधिकतर राज्य-सरकारो, विश्वविद्यालयों तथा प्रकाशको की सहायता से प्रारम्भ किया गया है। कुछ अनुवाद और प्रकाशन-कार्य आयोग स्वयं अपने अधीन भी करवा रहा है। प्रसिद्ध विद्वान् और अध्यापक हमे इस योजना मे सहयोग दे रहे है। अनूदित और नए साहित्य मे भारत सरकार द्वारा स्वीकृत शब्दावली का ही प्रयोग किया जा रहा है ताकि भारत की सभी शिक्षा-संस्थाओं में एक ही पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर शिक्षा का आयोजन किया जा सके।

'शल्य-विज्ञान की पाठ्य-पुस्तक' नामक पुस्तक आयोग द्वारा प्रस्तुत की जा रही है। इसके मूल लेखक **श्री संगम लाल और श्री सी० पी० वी० मेनन और अनुवादक डा० मुकन्द स्वरूप वर्मा और कैप्टन महेश चन्द्र हैं**। आशा है भारत सरकार द्वारा मानक ग्रन्थों के प्रकाशन संबंधी इस प्रयास का सभी क्षेत्रो मे स्वागत किया जाएगा।

बाबूराम सक्सेना

नई दिल्ली

अध्यक्ष

मार्च, 1969

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग,

शिक्षा मन्त्रालय, भारत सरकार

प्राक्कथन

भारतवर्ष मे 2500 वर्ष पूर्व शल्य-विज्ञान उन्नति की चरम सीमा पर पहुंच गया था। उसकी तुलना केवल मिस्र के पुरातन शल्य-विज्ञान मे की जा सकती है। केवल आधुनिक समय ही मे उसके आगे प्रगति हो सकी है। हिन्दू तथा भारतीय शल्य-विज्ञान के जन्मदाता, सुश्रुत ने अपनी संहिता 2500 वर्ष पूर्व लिखी थी जो उससे भी 300 वर्ष पूर्व लिखे गए आयुर्वेद पर आधारित है। अतः यह उचित ही है कि जिस जाति के लोगो ने उस समय शल्य-विज्ञान के इस सर्वोत्तम विस्तृत पाठ्य-ग्रंथ का निर्माण किया हो जब कि ब्रिटिश द्वीपो के निवासी लिखना और पढना तक नही जानते थे, उस जाति के कुछ प्रतिनिधि मिलकर अंग्रेजी भाषा मे प्राक्-स्नातको और स्नातको के लिए शल्य-विज्ञान की एक नई पाठ्य-पुस्तक तैयार करे।

शल्य-विज्ञान अब इतना अधिक विस्तृत और जटिल हो गया है कि यह तय करना कठिन है कि आयुर्विज्ञान के प्राक्-स्नातको को कौन-सा भाग पढाया जाए और कौन-सा छोड दिया जाए क्योंकि कोई भी व्यक्ति आज समस्त शल्य-विज्ञान का ज्ञाता नही हो सकता। इस पुस्तक के लेखक आवश्यक भाग को लेने और अनावश्यक भाग को छोडने मे सफल हुए हैं। परिणामस्वरूप यह पुस्तक विशेषकर भारत और एशिया के छात्रो और सर्जनो के लिए बहुत ही उपयोगी बन गई है। हमे विश्वास है कि शल्य-विज्ञान की इस पाठ्य-पुस्तक से वाछनीय सफलता प्राप्त होगी।

चार्ल्स रोब

लन्दन, 1962 रोडने मेनाट

INTRODUCTION TO HINDI EDITION

It is with a sense of exhilaration and pardonable pride that I, as a Member for "Medicine" in this Commission, write this Introduction to the Hindi translation of a "Textbook of Surgery" in English edited by Sangam Lal & Menon. This is a pioneering venture being the first of the Standard works of University level to be published by this Commission in Hindi in one of the major subjects of Medical Sciences. Having been intimately associated with the teaching, practice, and pursuit of 'Surgery' for over 3 decades and also Medical Education for about 5 years, it gives me particular pleasure to have this authoritative book on Surgery translated and published by this Commission in our National language, Hindi.

It is a happy and welcome co-incidence that this first book in a Medical Science to be translated into Hindi should in its English original version be a publication by multiple Indian authors, all of whom are eminent and senior Professors in the subject. This must be a sufficient guarantee for the excellence of its contents and its appropriateness to Indian conditions

I must seek the indulgence of Principals and Deans of Medical Colleges, senior Professors of the subject and my senior Colleagues in the profession for encouragement and popularization of this book among the staff and the students of Medical Colleges and medical men in general. It may well be that some seniors may remark that this translation is more tough going than the original in English. That is natural and arises not from any defect in translation or in Hindi language itself, but in the fact that it has for centuries not been used for expression of modern scientific thought. The translators of this book are medical men, highly proficient in Hindi and have done a good job. In order to facilitate easy understanding, the English technical term is given within brackets following every Hindi equivalent used in the text. The book, at the present stage, is mainly intended for the benefit of considerable number of students who get into Medical Colleges without an

adequate grasp of English language both in comprehension and expression. As the National policy on Education is being implemented in the years to come, with the replacement in stages of English by Hindi or other regional languages, the need for this book and several similar others to follow, will become more and more urgent.

I am confident that this book will occupy a pre-eminent place in the Library of medical books in Hindi to be built up under this programme I do hope that this book on Surgery in Hindi will contribute to the basic and better understanding of the fundamentals of the subject by medical students and in general, the advancement of the standards of education in the subject of Surgery in our Medical Colleges.

Dt. : 25-3-1969.

S. BALASUBRAMANIAM
Member, Medicine
Commission For Scientific And
Technical Terminology
(Ministry of Education)

भूमिका

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ही से भारतीय विद्यार्थियो के लिए शल्य-विज्ञान की एक ऐसी पाठ्यपुस्तक लिखने का प्रस्ताव भारत के सर्जनो और अध्यापकों के विचाराधीन रहा है, जिसमे विषय का प्रतिपादन भारत की प्रचलित दशाओं के अनुसार किया जाए। शल्यविज्ञान की अन्य कितनी ही पाठ्य-पुस्तकों के उपलब्ध होने पर एक और पुस्तक को प्रकाशित करने का हमारा यही उद्देश्य है। इस आकाक्षा की पूर्त्ति का श्रेय उन सब विद्वानो को, जिन्होंने इस पुस्तक मे अपने लेख दिये है, तथा प्रकाशको को, है।

भारतवर्ष की शल्यविज्ञान-सम्बन्धी समस्याये संसार के अन्य देशो की तत्सम्बन्धी समस्याओं के प्राय: समान ही है। किन्तु देश, काल तथा सामाजिक परिस्थितियो के कारण रोगो के लक्षणो मे भिन्नता स्वाभाविक है और इन्ही कारणों से चिकित्सा मे भी भिन्नता आवश्यक होती है। फिर कुछ रोग भी देश के भिन्न-भिन्न भागो ही मे विशेपतया अधिक होते है।

पुस्तक में रोगो के लाक्षणिक तथा नैदानिक विवेचन पर ही विशेष ध्यान दिया गया है। केवल सैद्धान्तिक विचारो का न्यूनतम समावेश करने का प्रयत्न किया गया है। यह हमारा प्रथम प्रयास होने के कारण पुस्तक मे त्रुटियो के रह जाने और कुछ विपयो के छूट जाने की सम्भावना है। हमारी यह हार्दिक प्रार्थना है कि सर्जन और अध्यापक इस पुस्तक को पढकर अपनी सम्मति और प्रस्ताव हमारे पास भेजने की कृपा करें, जिससे पुस्तक के भावी संस्करणो में हम उन सब विषयो को सम्मिलित करके पुस्तक की उपयोगिता बढाने मे सफल हो सके।

यद्यपि यह पुस्तक विशेषतया प्राक्-स्नातको के लिए ही लिखी गई है, हमे आशा है स्नातकोत्तर विद्यार्थी (post-graduate) भी इससे लाभ उठा सकेंगे।

पुस्तक के भिन्न-भिन्न परिच्छेदो के लेखक सब ही अपने अपने विपयो के विशेपज्ञ है और मेडिकल कालेजो मे अध्यापन का कार्य कर रहे है अथवा कर चुके है।

शल्य-विज्ञान की पाठ्य-पुस्तक

(TEXT BOOK OF SURGERY)

16

अवटु, परावटु, पीयूष एवं अधिवृक्क ग्रन्थियां
(Thyroid, Parathyroid, Pituitary and Adrenal Glands)

बी० एन० वालकृष्ण राव

अवटु-ग्रन्थि (Thyroid gland)

अवटु या थाइराइड एक महत्त्वपूर्ण अन्त स्रावी ग्रन्थि है जो एक विशिष्ट हारमोन का निर्माण, सचय एव स्रवण करती है।

अन्त.स्रावी होते हुए भी अवटुग्रन्थि की विशेषता है कि इसके द्वारा उत्पन्न हारमोन जठरान्त्र तथा आन्त्रेतर, दोनो मार्गों द्वारा प्रयुक्त किया जा सकता है। सम्भवत: इसका कारण है कि मूल रूप मे अवटु आहारपथ (alimentary tract) का ही एक अग है (मेरीन—Marine)।

परिवर्धन (development)

अवटुग्रन्थि का निर्माण उस वृन्त (अवटु-जिह्वापथ, thyroglos al tract) के अन्तर्वलन के फलस्वरूप होता है जो आद्य ग्रसनी (primitive pharynx) से ग्रीवा सम्मुख के निम्न भाग तक विस्तृत होता है। इसका उत्पत्ति-विन्दु जिह्वा की मध्यरेखा मे अग्र दो-तिहाई तथा पश्च एक-तिहाई भाग के सगम पर स्थित अन्धरन्ध्र (foramen caecum) है। अवटुग्रन्थि का एक अग चतुर्थ एण्टोडर्मी कोष्ठ (fourth entodermal pouch) से भी परिवर्धित होता है।

अवटु समस्त पृष्ठवंशियो मे विद्यमान होता है। इसके कार्य मे ऋतुनिष्ठ परिवर्तन पाए जाते हैं। इसका आकार यौवनारम्भ के तत्काल पूर्व अधिकतम होता है (Mc Carrison)।

शरीर-रचना

अवटु की आकृति तितली के समान होती है जिसका धड इस्थमस (isthmus) के और पख खण्डों (lobes) के समान होते है । यह शरीर की सवसे वडी अन्त.स्रावी ग्रन्थि है तथा प्रसामान्यत. इसका भार लगभग 20 ग्राम होता है । यह एक पतले सम्पुट मे परिवद्ध होती है जिससे निकलने वाले पट इसे अपूर्णत खण्डको मे विभक्त करते है ।

पार्श्व खण्ड को, अभिमध्य ओर श्वासनली और स्वरयन्त्र तथा पार्श्व ओर कैरोटिड पिधान (carotid sheath) और उर.कर्णमूलिका पेशी (sternomastoid muscle) सीमित करती है । गभीर ग्रीवाप्रावरणी (deep cervical fascia) इस ग्रन्थि की वाह्य सीमा पर अग्र तथा पश्च स्तरो मे विभक्त हो जाती है तथा ये दोनो तहे अवटु को एक कूट सम्पुट (false capsule) प्रदान करती है । ग्रन्थि के सम्मुख और दोनो ओर उर कण्ठिका (sternohyoid तथा उरोऽवटुका (sternothyroid) पेशी रहती है । उपरिलिखित अवयवो के मध्य का स्थान अवटुग्रन्थि ऐसी भली प्रकार सपूरित करती है कि ग्रीवा का वहिस्तल एकसम प्रतीत होता है तथा उपरिस्थ अग होते हुए भी ग्रन्थि पृथक्त दृश्य अथवा सम्पर्श्य नही होती ।

परावटुग्रन्थिया पार्श्व खण्डो के पीछे की ओर स्थित होती है । अभिमध्य ओर श्वासनली (trachea) तथा ग्रसनी के वीच आवर्ती स्वरयन्त्र-तन्त्रिका (recurrent laryngeal nerve) स्थित होती है ।

आपरेशन करते समय 80 प्रतिशत अवटुग्रन्थियो म पिरामिडी खण्ड (pyramidal lobe) की उ.. यत्ति पाई जाती है । यह अवटु-जिह्वापथ (thyroglossal tract) का अव.. होता है ।

अवटु मे रक्तसभरण प्रचुर होता है । इसमे रक्त लाने वाली दो उर्ध्व अवटु तथा दो निम्न अवटु धमनिया है; कुछ व्यक्तियो मे अधस्तम अवटु-धमनी (thyroidea ima artery) भी विद्यमान होती है । ये सव धमनियाँ परस्पर भलीभाँति सम्मिलन करती है । मौडल (Modell) ने ग्रन्थिपदार्थ मे धमनी-शिरा-लघुपथो (arterio-venous short-circuits) का वर्णन किया है । इनके माध्यम से केशिकाप्रवाह तथा फलस्वरूप हारमोन के अवशोपण का नियत्रण होता है । क्रमश वेगस तथा ग्रीवागडिकाओ (cervical ganglions) मे निकलने वाली परानुकम्पी (parasympathetic) व अनुकम्पी (sympathetic) तन्त्रिकाएँ रक्त वाहिकाओ और स्वरयन्त्र तन्त्रिकाओ के सहारे अवटु-

ग्रन्थि तक पहुँचती हैं।

अवटु हारमोन

अवटु अथवा थाइरायड ग्रन्थि द्वारा उत्पन्न हारमोन थाइरॉक्सिन (thyroxin) कहलाता है तथा आयोडीन-युक्त होता है। आयोडीन के प्रति आकर्षण इस ग्रन्थि का एक विशिष्ट गुण है। अवटुग्रन्थि की क्रिया का अनुमान रक्त मे प्रोटीनबद्ध आयोडीन (protien-bound iodine)-स्तर के निर्धारण द्वारा किया जा सकता है। ग्रन्थि के कोष्ठको या एसिनसो (acini) मे विद्यमान कालाइड (colloid) एक आयोडीनयुक्त प्रोटीन है जिसका पूर्वगामी डाइ-आयोडोटाइरोसीन (di-iodotyrosine) माना जाया है। अभिनव खोजो द्वारा थाइरॉक्सिन के अतिरिक्त एक अन्य हारमोन 3·5 3 ट्राई-आयोडोथॉइरोक्सीन (tri-iodothyroxine) भी पृथक् किया गया है।

थाइरायड हारमोन (थाइरॉक्सिन) का शरीर पर व्यापक प्रभाव पडता है। कुछ प्रभाव निम्नलिखित है· (1) कैलोरीजनक क्रिया (calorigenic action)—इसके द्वारा शरीर मे चयापचय का स्तर ऊचा बनाए रखने मे सहायता मिलती है,, (2) ऊतको की परिवृद्धि एव परिपक्वन—अवटुहारमोन की अनुपस्थिति जड़वामनता (cretinism) तथा वामनता (dwarfism) के रूप मे प्रतिफलित होती है, (3) जल एव लवण चयापचय—थाइरॉक्सिन की क्रिया मूत्रल (diuretic) होती है। (4) कार्बोहाइड्रेट चयापचय—यह हारमोन यकृत् के ग्लाइकोजनभण्डार का ह्रास करता है। उक्त क्रियाओ के अतिरिक्त यह हारमोन प्रोटीन एव लिपाइड (lipoid) चयापचय, परिसचरण, तन्त्रिका और पेशीतत्र तथा अन्य अत स्रावी तत्रो पर भी प्रभाव डालता है।

पिट्यूटरी द्वारा एक अवटु-उद्दीपक हारमोन या TSH (thyroid stimulating hormone) की उत्पत्ति मालूम की गई है; थाइरॉक्सिन हारमोन के स्तर मे ह्रास पिट्यूटरी को TSH के उत्पादन की ओर प्रेरित करता है।

अवटुग्रंथि तथा अवटु-जिह्वापथ की जन्मजात अपसामान्यताएँ

अवटुकलिका (thyroid bud) अधरध्र (foramen caecum) से आरम्भ होकर जिह्वापदार्थ में से होती हुई कण्ठिका-अस्थि (hyoid bone) तक पहुँचची है तथा तत्पश्चात् अवटु-उपास्थि के सम्मुख स्थान ग्रहण करती है। प्रसामान्य स्थिति में इसका प्रतिस्थापन अन्त गर्भाशय जीवन के आठवे-नवें सप्ताह मे होता है। अन्धरन्ध्र से उत्पन्न होने वाला यह पथ अवटु-जिह्वा-पथ

(thyroglossal tract) कहलाता है तथा प्राय एक अस्पष्ट तन्तु बन्ध (fibrous band) के रूप मे पाया जाता है। इसी पथ का एक अवशेष पिरामिडी खण्ड है।

अवटु-अवरोहण मे स्थगन के फलस्वरूप कतिपय अपसामान्यताएँ प्रकट हो सकती है। यदि अवरोहण बिलकुल न हो तो ग्रन्थि जिह्वापदार्थ मे ही स्थित रहती है (जिह्वाअवटु, lingual thyroid), आशिक अवरोहण होने पर वह अधिकण्ठिका (Suprahyoid) अथवा अध कण्ठिका (infrahyoid) प्रदेश मे स्थापित हो सकती है। इन अपसामान्य परिस्थितियो मे ग्रन्थि की प्रसामान्य स्थिति स्वाभाविकत अवटु-ऊतक से रहित होती है। विरल अवसरो पर अवटु की अपसामान्य स्थिति ग्रीवा के पश्च त्रिभुज (posterior triangle) मे हो सकती है।

अवटुजिह्वापुटी एवं नालव्रण (thyroglossal cysts & sinuses)

अवटुजिह्वापथ मे कुछ उपकला-द्वीपो (epithelial islands) के शेष बच रहने पर वहा पुटी विकसित हो सकती है। पुनरावर्ती शोथ के कारण छेदन अथवा विदरण के पश्चात् ये सिस्ट निर्बंध (persistent) नालव्रण का रूप ग्रहण कर लेती है जिनसे चमकदार द्रव्य निकलता रहता है। ऐसे नालव्रण का मुख प्राय मध्यरेखा के तनिक एक ओर स्थित होता है, किन्तु गिल-साइनस (branchial sinus) की भाति अत्यधिक पार्श्व मे नही होता।

अवटुजिह्वापुटिकाये प्राय बाल्यावस्था मे पाई जाती है, किन्तु वे किसी भी आयु पर हो सकती है। इनका आकार 1-2 cm व्यास के लगभग तथा आकृति गोल होती है। पे कण्ठिका (hyoid)-अस्थि से बद्ध होती है और जिह्वा बाहर निकालने या निगरण क्रिया करने पर गतिशील होती है। स्पर्शानुभव पर पुटिये तनावयुक्त प्रतीत होती है। इनकी अन्तर्वस्तु अपारभासी (non-translu-scent), तनिक भूरे रग की तथा कोलेस्टेरोल (cholesterol) क्रिस्टलो से भरी होती है। पुटी प्राय कण्ठिका के नीचे स्थित होती है, किन्तु कभी-कभी उसकी स्थिति अधिकण्टिका (suprahyoid) हो सकती है। कण्ठिकानिम्न स्थिति मे यह प्राय मध्यरेखा के तनिक पार्श्व मे स्थित होती है क्योकि मध्य मे अवटु-उपास्थि का सम्मुख भाग नुकीला होता है। कभी-कभी एक सूत्र-समान बन्ध भी पाया जाता है जो पुटी को कण्ठिकाकाय से तथा नीचे अवटु-इस्थमस से सम्बद्ध करता है।
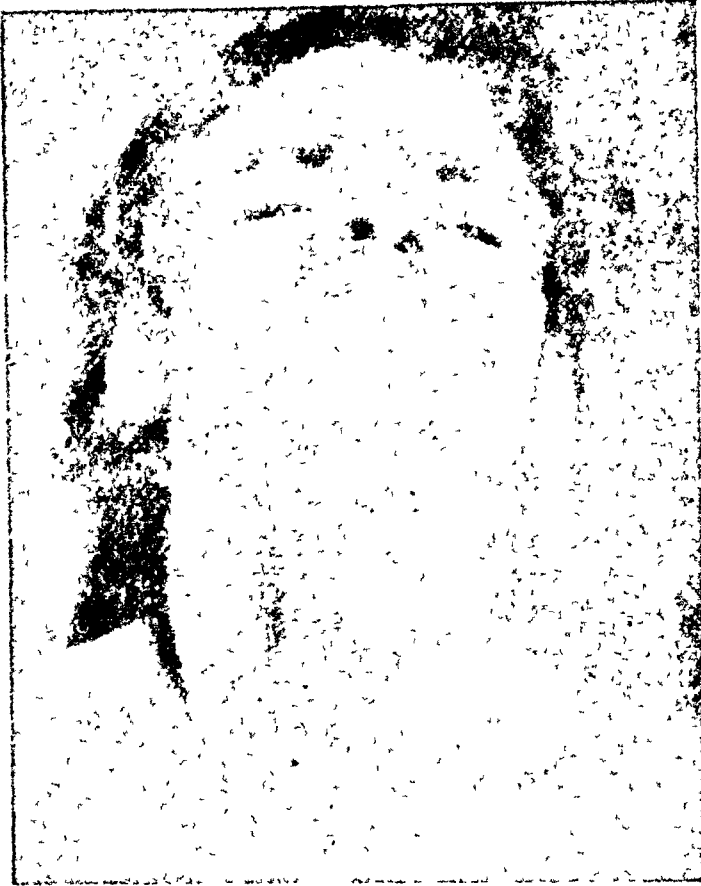
चित्र 104—दो मुखों से युक्त अवटुजिह्वा नाल्व्रण। साधारणतः केवल एक मुख होता है।

अवटुजिह्वा नाल्व्रण (चित्र 104) का स्वरूप एक लघु छिद्र के समान होता है जिसके ऊपर विशिष्टत. त्वचा का एक अनुप्रस्थ पुटक (transverse fold) प्रलम्बित (overhanging) होता है। जिह्वा बाहर निकालने पर त्वचा तन जाती है तथा ग्रीवा पतली हो तो अवटुजिह्वापथ देखा जा सकता है, जो नाल्व्रणमुख के ऊपर परिस्पर्श्य भी होता है। निस्राव के कारण नाल्व्रणमुख के नीचे स्थित त्वचा आर्द्र तथा एक्जीमी (eczematous) हो जाती है।

चिकित्सा

पुटी में काठिन्यकर (sclerosing) द्रवों का निवेश करने से कोई लाभ नहीं होता। सन्तोषजनक परिणाम के लिए पुटी तथा अन्धरन्ध्र तक सम्पूर्ण

अवटुजिह्वापथ को उच्छेदित करना आवश्यक होता है। इस प्रयोजन के लिए ऐसे अनुप्रस्थछेदन (transverse incision) का प्रयोग किया जाता है जो नालव्रण के मुख मे से होता हुआ त्वचा के प्राकृतिक पुटक (natural fold) पर स्थित हो। परिस्थिति के अनुसार कण्ठिकास्थि की काय को काटने की आवश्यकता पड सकती है, किन्तु इसे न सीने से किसी प्रकार की निर्योग्यता नही होती।

अवटुशोथ (Thyroiditis)

अवटुशोथ शीर्षक के अन्तर्गत तीन पृथक् दशाओ को सम्मिलित किया जाता है किन्तु इनमे वस्तुत सभी शोथजन्य नही होती। ये निम्नलिखित हे

अनुतीव्र (subacute), कूटयक्ष्मज (pseudotuberculous) या महाकोशिका (giant cell)-अवटुशोथ, हाशिमोटो का अवटुशोथ, लसीका-अवटुता या लसीकापर्विल गलखण्ड (Hashimoto's thyroidits ; Struma lymphomatosa; lymphadenoid goitre); तथा रीडल का अवटुशोथ (Reidel's thyroiditis) या काष्ठाभ (ligneous or woody) अवटुशोथ।

अनुतीव्र अवटुशोथ

यह रोग स्त्रियो मे प्राय 30 वर्ष की आयु के पश्चात् पाया जाता हे तथा वहुधा इसके पूर्व ऊर्ध्वश्वसन-सक्रमण (upper respiratory infection) का प्रकोप होता है, उदाहरणत ग्रसनीशोथ (pharyngitis), साइनसशोथ (sinusitis) या टौसिलशोथ (tonsillitis)। इस शोथ का यथार्थ कारण अज्ञात है तथा अभी तक कोई जीवाणु विलग नही किये जा सके है। सूक्ष्मदर्शी-अध्ययन पर क्षत मे महाकोशिकाओ से युक्त कूटयक्ष्मिकाएँ (pseudotubercles) पाई जाती है। रोग की हेतुकी अज्ञात है।

अवटुग्रन्थि मे एक समान, स्पर्शासह, दृढ अथवा कठोर, विवर्धन पाया जाता है तथा निगरण क्रिया करने पर कान की ओर विकिरणी पीडा (radiating pain) होती है। मन्द ज्वर, हृदयक्षिप्रता (tachycardia), कम्प (tremor) तथा स्वेदन भी पाये जाते है। न्यूनतम चयापचयदर मे वृद्धि नही होती।

अनुतीव्र अवटुशोथ एक स्वय-सीमित रोग है। यह कुछ सप्ताहो अथवा मासो मे जाता रहता है तथा किसी प्रकार की अवटु-अपक्रिया शेष नही छोडता।

चिकित्सा

एक्सरे उपचार का प्रभाव सन्तोषप्रद होता है ।

हाशिमोटो रोग (hashimoto's disease)

यद्यपि यह रोग प्राय अवटुशोथ के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जाता है, इस अवस्था मे शोथ का कोई प्रमाण नही पाया जाता । ऊतिकीय अध्ययन पर लसीका-कोशिकाओं द्वारा स्यंदन पाया जाता है तथा ऐसिनसो (acini) के बीच लसीकाभ कूपो (follicles) का निर्माण और तन्तु-ऊतक की वृद्धि पाई जाती है ।

हेतुकी

हाल मे रियोट तथा डोनिएक (Riott & Doniach) ने मत स्थापित किया है कि हाशिमोटो का अवटुशोथ प्रतिजन प्रतिपिण्ड-प्रतिक्रिया (antigen-antibody reaction) के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाला एक रोग है । अवटु-विषी ग्रन्थियों (thyrotoxic glands) के सार मे एक प्रतिजन या एण्टिजन तथा सीरम मे थायरोग्लोबुलिन (thyroglobulin) के प्रति एक प्रतिपिण्ड या एण्टिबाडी की उपस्थिति सिद्ध की जा चुकी है । इस रोग के 98 प्रतिशत रोगियो मे ऐसे अवटुस्वप्रतिपिण्डो (thyroid autoantibodies) का उच्च टाइटर (titre) निर्दशित किया जा चुका है । इससे संकेत मिलता है कि सम्भवत: हाशिमोटो का रोग अवटु-समांगसार-प्रतिजनो (thyroid homogenate antigens) के प्रति स्वरोगक्षमता (auto-immunity) के कारण उत्पन्न होता है । स्वत मिक्सेडीमा (spontaneous myxoedema) तथा कुछ हद तक कोलाइड (colloid) और दुर्गम गलगण्ड के रोगियो मे भी अवटु स्वप्रतिपिण्ड पाए जाते है ।

हाशिमोटो का रोग अधिकत. स्त्रियो मे 40 या पचास वर्ष की आयु के पश्चात् पाया जाता है । इसका आरम्भ मद और अस्पष्ट होता है । ग्रथि विव-र्धित, दृढ, स्पर्शासह तथा निगरण द्वारा चलायमान होती है । पीड़ा तथा ज्वर सामान्यतः अनुपस्थित होते है । यह दशा अल्पअवटुता को जन्म दे सकती है ।

हाशिमोटो रोग का निदान कठिन होता है तथा पुष्टि के लिए सूचिका-जीव-ऊतिपरीक्षा (needle biopsy) की आवश्यकता पड सकती है ।

एक्स-रे उपचार का परिणाम संतोषजनक होता है ।

कुछ रोगियो मे अवटुमार (thyroid extract) का प्रयोग भी लाभप्रद रहता है।

रीडल अवटुशोथ (reidel's thyroiditis)

इस रोग को काष्ठाभ अवटुशोथ भी कहते है क्योंकि परिस्पर्शन करने पर ग्रथि काठ के समान कठोर प्रतीत होती है। यह अज्ञातहेतुक रोग एक प्रफलनी तान्तवकर (fibrosing) शोथयुक्त अवस्था के रूप मे पाया जाता है जो एक अथवा दोनो खडो को प्रभावित करती है तथा कालातर मे अवटुग्रथि के सान्निध्य मे स्थित अन्य अवयवो (श्वासनली, पेशिया, तन्त्रिकाए आदि) तक विस्तृत हो जाती है। विक्षति के केन्द्र मे प्राय. एक व्यपजननशील ग्रथ्यर्वुद (adenoma) पाया जाता है जिसके ततु-ऊतक मे प्याज के समान (onion-like) परत पाये जाते है।

यह रोग अस्पष्ट रूप मे आरम्भ होता है, अतत एक विशाल, कठोर, पीडारहित अर्बुद वन जाता है जो समीप के ऊतको से जुड जाता है। इसके कारण श्वासनली तथा ग्रासनली पर दवाव पडता है।

चिकित्सा

एक्स-रे उपचार द्वारा इस अवस्था मे अल्प लाभ होता है। विक्षति का पूर्ण अपहरण भी कठिन होता है। ग्रथ्यर्वुद के केन्द्रीय व्यपजननशील क्रोड का अपहरण कुछ सीमा तक लाभप्रद रहता है।

अवटुग्रथि-रोग के सामान्य अभिलक्षण

अवटुग्रथि के रोगो को दो वर्गो मे विभाजित किया जा सकता है—वे जिनमे उसके अत स्रावी कार्य मे परिवर्तन हो जाय, तथा वे जिनमे ऐसा परिवर्तन न हो। प्रथम वर्ग के रोगो मे परिवर्तन दो प्रकार का हो सकता है—अत स्रावी क्रिया का अधिक होना (अति-अवटुता), तथा अन्त स्रावी क्रिया का ह्रास (अल्प-अवटुता), प्रासामान्य क्रिया की स्थिति सु-अवटुता (euthyroidism) कहलाती है। द्वितीय वर्ग मे अवटुग्रथि अथवा उसके समीपवर्ती अवयवो से सम्वन्धित स्थानीय लक्षण पाए जाते है, शोथ के फलस्वरूप ज्वर तथा दुर्दम रोग के फलस्वरूप शारीरिक क्षीणता आदि दैहिक लक्षण भी पाए जा सकते है।

अतिक्रिया (Hyperactivity) की अवस्था मे अवटुग्रथि मे व्यापक विवर्धन (generalised enlargement), वर्धित रक्तसचार (increased

vascularıty) तथा सुचूर्णता (friabılıty) पाई जाती है। लसीकापर्वको की अतिवृद्धि तथा लसीका-कोशिकाओ की भी वृद्धि होती है। कोलाइड के सचय का क्षय हो जाता है, कोशिकाए स्तम्भाकार रूप ग्रहण कर लेती है तथा सख्या एव आकार मे, वृद्धि के फलस्वरूप, वे ऐसिनसो की अवकाशिकाओ (lumen) मे अकुरकरूप (papılliferous) अतर्वलन उत्पन्न कर देती है।

सामान्य अतिक्रिया (physiological hyperactıvity) यौवनारभ, सगर्भता तथा रजोनिवृत्ति के समय पाई जाती है।

क्रिया के ह्रास (अल्पअवटुता) के लक्षण

अल्पअवटुता के समस्त लक्षण चयापचय के निम्न स्तर तथा ऊतको पर अल्प हारमोनप्रभाव के कारण होते है।

चयापचय के ह्रास के कारण स्वेदन घट जाता है तथा फलस्वरूप त्वचा शुष्क एव शीतल होकर मोटी व स्थूल हो जाती है। रोगी को शीतकी अनुभूति होती है तथा ठडा मौसम अरुचिकर होता है। द्रव अवधारण तथा वसासचय के फलस्वरूप शरीर का भार बढ जाता है।

हारमोन की कमी के कारण रक्त तथा ऊतक-द्रवो मे जल एव प्रोटीन अवधारित हो जाते है तथा फलस्वरूप रोगी एक प्रकार की विशिष्ट 'फूली हुई आकृति' (bloatıng) ग्रहण कर लेता है। गर्त्य और अगर्त्य (nonpıttıng) शोफ प्रकट हो जाता है जिसे श्लेष्मल शोफ (mucous oedema) भी कहते है; इसी कारण यह दशा मिक्सिडीमा (myxoedema) भी कहलाती है।

बाल भगुर हो जाते है, उनकी वृद्धि दर घट जाती है तथा वे गिरने लगते है। निम्नलिखित मानसिक परिवर्तन भी पाये जाते है—मद प्रमस्तिष्क-प्रतिक्रिया, हीन स्मृति, आशिक बधिरता, अचल मनोवेगात्मक स्थिति। यदि अवटु-अल्पक्रिया परिवर्धनकाल मे हो तो वृद्धि अपर्याप्त रहती है तथा बच्चा शारीरिक रूप से अपरिपक्व और मानसिक रूप से प्राय मूढ़ (ımbecıle) होता है।

स्वायत्त तत्र (autonomıc system) की क्रिया घटने के कारण आत्र का पुर सरण (perıstalsıs) कम हो जाता है। रोगी को भूख नही लगती तथा कब्ज की शिकायत रहती है। हृदयमदता (Bradycardıa), निम्न रक्तदाब, मद यौनक्रिया, बध्यता (sterılıty), रूक्ष ध्वनि (hoarse voıce) आदि लक्षण प्रायः पाये जाते है।

अतिक्रिया (अतिअवटुता) के लक्षण

अतिअवटुता के लक्षण उपर्युक्त दशा के लगभग विपरीत होते हे। स्वेदन बढ जाता है, त्वचा कोष्ण (warm) होती है तथा रोगी को ठडे मौसम से रुचि व गर्म मे अरुचि होती हे। अधिक चयापचय के फलस्वरूप शरीरभार घट जाता है, किन्तु भूख अधिक लगती है। विश्राम के समय भी नाडी तेज (130-160 तक) होती है, हृद्धडकन (palpitation) एव पुरोहृद्-पीडा (precordial pain) पाई जाती है। रोगी अस्थिर मनस्क, वेचैन, चचल और चिडचिडा होता है। अतिअवटुता का एक विशिष्ट अभिलक्षण जिह्वा तथा अगुलियो का सूक्ष्म कप (fine tremor) है। अतिसार, अनार्तव (amenorr-hoea) तथा पेशी-निर्वलता भी पाई जा सकती है।

यद्यपि नेत्र चिह्नो पर वहुत वल दिया जाता है, नेत्रोत्सेध (exophth-almos) तथा ये चिह्न सदैव अतिअवटुता के विकारदर्शी (pathognomonic) नही होते, क्योकि न केवल ये कुछ अन्य रोगो मे पाए जा सकते है, वल्कि स्पष्ट अतिअवटुता की अवस्था मे अनुपस्थित भी हो सकते हैं।

स्थानीय लक्षण

ग्रथि विर्वाधित हो सकती है तथा यह विवर्धन विसरित, स्थानीकृत या पर्वकरूपी (nodular) हो सकता है; पर्वको की सख्या एक या अधिक हो सकती हे। कभी-कभी शोथ अथवा रक्त स्राव के कारण स्पर्शासहता या पीड़ा भी पाई जाती है।

अवटुग्रथि की शरीर-रचनात्मक स्थिति के कारण इसका विवर्धन समीप-वर्ती अवयवो पर दवाव डाल सकता है। श्वासनली पर दवाव आरम्भ मे क्षोभकर अनुत्पादक खाँसी (unproductive cough) तथा विलम्वित अवस्था मे श्वास-कृच्छ उत्पन्न करता है, जो लेटने पर अधिक होता है। ग्रासप्रणाल पर दवाव के फलस्वरूप निगरणकृच्छ (dysphagia) हो मकता है, किन्तु ऐसा रोग की विलम्वित अवस्था मे ही होता है। आवर्ती स्वरयत्रतत्रिका (recurrent laryngeal nerve) के दवाव या अन्त सरण का परिणाम ध्वनि का भारीपन (hoarseness) अथवा अध्वनिता (aphonia) होता है। प्रगत रोगियो मे स्वर-ततुओ के द्विपार्श्वी अपवर्तन घात (abductor paralysis) के फलस्वरूप श्वसन मे वाधा पड सकती है तथा श्वासनलीछेदन (tracheostomy) आवश्यक हो सकता है। शिराओ पर दवाव ग्रीवा व अग्र वक्षभित्ति पर शिरा-विस्फारण के

रूप मे प्रतिफलित होता है; ऐसा अत वक्ष-गलगण्ड (intrathoracic goitre) के कारण अधिक होता है।

अवटुग्रथि-रोग में अन्वेषण
(Investigations in thyroid gland disease)

अवटुरोगों का उचित निदान तथा चिकित्सा कठिन होती है तथा इस प्रयोजन के लिए अनेक परीक्षण आवश्यक होते है। विस्तृत इतिवृत तथा शारीरिक परीक्षा के अतिरिक्त स्वरयंत्रदर्शन (laryvgoscopy) भी अनिवार्य होता है। यथार्थ निदान करने तथा चिकित्सा का उचित मूल्याकन करने मे सहायक परीक्षणों का अत्यन्त महत्त्व है। भविष्य मे रोग की गति तथा चिकित्सा के प्रभाव का अनुमान करने मे भी इनसे सहायता मिलती है।

एक्सरे-चित्रण—वक्ष तथा ग्रीवा की एक्सरे परीक्षा द्वारा निम्नलिखित का पता लगता है : श्वासनली का विस्थापन या सकीर्णन, अवटुग्रथि का कैल्सीभवन, अत.वक्ष गलगण्ड की उपस्थिति तथा हृदय की अवस्था।

आधारिक चयापचय दर (B. M. R)—अवटुग्रथि के समस्त रोगो के लिए यह सबसे महत्त्वपूर्ण परीक्षण है। 10 प्रतिशत तक की सख्या प्रसामान्य समझी जाती है। प्रसामान्य B. M. R. 40 कैलोरी प्रति वर्ग मीटर शरीर उपरिस्थतल प्रति घटा होता है; यह आयु, लिंग, शरीरभार तथा लम्बाई पर निर्भर करता है।

विद्युद्हृत्लेखन (E. C. G)—इससे हृद्पेशी की क्षति, हृदयक्षिप्रता तथा विकपन (fibrillation) का आकलन करने मे सहायता मिलती है।

रक्त कोलेस्टेरोल—यह अल्पअवटुता मे अधिक तथा अतिअवटुता मे कम होता है।

क्रिएटिनीन सह्यता (creatinine tolerance)

रक्त आयोडीन आकलन—अवटु ग्रथि की क्रिया का मूल्याकन करने मे इससे पर्याप्त सहायता मिलती है। प्राय प्रोटीनबद्ध आयोडीन (protein-bound) iodine) का स्तर मापा जाता है।

रेडियोएक्टिव आयोडीन (1317) उद्ग्रहण—यह अवटुग्रथि की क्रियात्मक अवस्था विदित करने की अनुपम विधि है किन्तु सदा उपलब्ध नही होती। परीक्षण मात्रा (test dose) देने के पश्चात् यदि रेडियोएक्टिव आयोडीन का मूत्र-उत्सर्जन अल्प हो तो अति-आयोडीन उद्ग्रहण (iodine uptahe) का

सकेत मिलता है, इसका विपरीत भी सत्य है। प्राय. 25 μ c की अनुरेखी मात्रा (tracer dose)प्रयुक्त की जाती है।

सूचिका जाव-ऊतिपरीक्षा (needle biopsy)—यह 'अवटुशोथ' के निदान मे तथा एसिनस (acini) कोशिकाओ की दशा का अध्ययन करने मे सहायक होती है। इन कोशिकाओ की ऊचाई से उनकी क्रियात्मकता का पता चलता है—ग्रथि जितनी क्रियाशील होगी कोशिकाए उतनी ही ऊची होती है।

गलगण्ड (Goitre)

वर्गीकरण

अवटुग्रथि का विवर्धन गलगण्ड या गायटर कहलाता है। यह कई प्रकार का होता है। इसकी हेतुकी विविध है तथा पूर्णत ज्ञात नही है। यह इसी तथ्य से स्पप्ट है कि वर्गीकरण की अनेक पद्धतियाँ प्रचलित है।

निम्नलिखित वर्गीकरण 'गायटर के अध्ययन के लिए अमरीकन सोसायटी' (American Society for the study of Goitre) के अनुसार है :

विसरित गलगण्ड (diffuse goitre)	अतिअवटुता से युक्त—ग्रेव रोग (Graves' disease) अतिअवटुता से रहित।
पर्वकी गलगण्ड (nodular goitre)	अति-अवटुता से युक्त—विषैला ग्रन्थ्यर्वुद (toxic adenoma) अतिअवटुता से रहित—स्वत (spotaneous) व स्थानपदिक (endemic)
सुस्पप्ट ग्रन्थ्यर्वुद (discrete adenoma)	गर्भ ग्रन्थ्यर्वुद (foetal adenoma), सुदम अर्वुद
दुर्दम गलगण्ड (malignant goitre)	कार्सिनोमा अकुरकी प्ररूप (papillary type) अनाकुरकी प्ररूप (ग्रन्थिकार्सिनोमा) (adenocarcinoma) विविध (शल्की कोशिका) सार्कोमा लिम्फोमा तर्कु-कोशिका

इस परिच्छेद मे केवल अतिअवटुतारहित गलगण्डो की चर्चा की गई है,

अतिअवटुता तथा दुर्दम अर्बुदो का वर्णन आगे किया जायगा ।

अतिअवटुता-रहित विसरित गलगण्ड

शरीर पर बोझ तथा शीघ्र वृद्धि के समय अवटुहारमोन की माग वढ जाती है। ऐसी अवस्थाओं के उदाहरण किशोरावस्था, यौवनारम्भ, सगर्भता तथा रजोनिवृत्ति है। आरम्भ मे ग्रन्थि अतिविकसनशील (hyperplastic) तथा एकसम विवर्धित होती है, तत्पश्चात् वह अतिवर्धित (hypertrophied) हो जाती है। जब बोझ हटता है तो ग्रन्थि अन्तर्वलित (involuted) हो जाती है। पूर्णत. अन्तर्वलन न होने पर ग्रन्थि का विसरित विवर्धन शेष रहता है तथा उसका आकार वढ जाता है (चित्र 105)। ऐसे विसरित विवर्धन को कोलाइड गलगण्ड ((colloid goitre) कहते है। कभी-कभी अतिविकसन तथा अन्तर्वलन के इस क्रम से अतिअन्तर्वलन तथा व्यपजनन के फलस्वरूप पर्वको की उत्पत्ति हो जाती है (Reinhoff)। कालान्तर मे सभी वर्धित विसरित गलगण्ड पर्वकयुक्त हो जाते है।
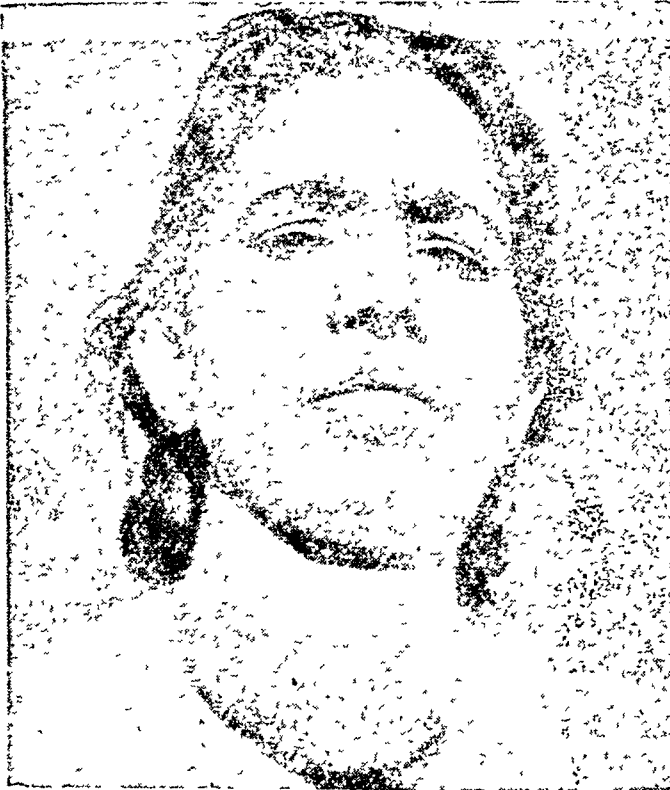
चित्र 105—कोलाइड गलगण्ड

विसरित अवटु विवर्धन गलगण्डजनो (goitrogens) के कारण तथा स्थानपदिक क्षेत्रो मे आयोडीन अभाव के कारण भी हो सकता है ।

चिकित्सा

शरीरक्रियात्मक (physiological) अवस्थाओ के लिए किसी विशेष चिकित्सा की आवश्यकता नही होती । पूति फोकसो का अपनयन, सामान्य स्वास्थ्य मे सुधार तथा मन्द आयोडीन औषधो (यथा फेरस आयोडाइड का शर्बत, syrup of ferrous iodide) का प्रयोग पर्याप्त होता है ।

अतिअवटुतारहित पर्वकी गलगण्ड स्थानपदिक गलगण्ड

ससार के कुछ क्षेत्रो मे बच्चो, वयस्को, पुरुषो, स्त्रियो आदि की जनसख्या का एक विशाल भाग गलगण्ड से पीडित है (चित्र 106) । बच्चो मे ऐसा अधिक
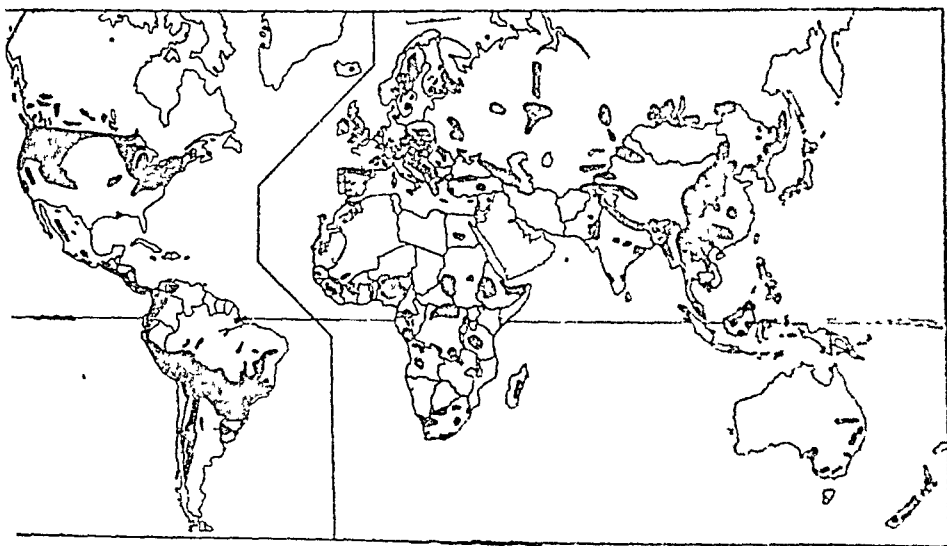
चित्र 106—ससार के मानचित्र मे स्थानपदिक गलगण्ड का भौगोलिक वितरण (विश्व-स्वास्थ्य-सघ से साभार)

होता है । ये स्थान प्रात समुद्रतट से दूर है तथा इन व्यक्तियो के भोजन मे आयोडीन की कमी होती है । ये क्षेत्र निम्नलिखित है ग्रेट ब्रिटेन मे डर्बीशायर, सयुक्त अमेरिका गणराज्य मे मध्य-पश्चिम पट्टी, न्यूजीलेड और स्विटजरलैड के

कुछ प्रदेश। भारत मे 'गलगण्ड देश' (goitre belt) का विस्तार 2500 Km. है। कश्मीर के उत्तरी भागो से आरम्भ होकर पजाब की कागडा घाटी, हिमालय के दक्षिणी ढलानो, नेपाल, सिक्किम और भूटान से होती हुई यह असम के लुसाई तथा नागा पर्वतो तक फैला हुआ है। उत्तरप्रदेश, बिहार और बगाल के उत्तरी तराई क्षेत्र भी स्थानपदिक है। शेष भारत मे दक्षिण बिहार के राची पठार के अतिरिक्त और कोई स्थानपदिक क्षेत्र नही है। भारत मे लगभग 90 लाख व्यक्तियो को गलगण्ड है (एन० के० बसु, भारत सरकार का गायटर पायलट सर्वे प्रोजेक्ट)। कागडा और कुल्लू घाटियो मे औसत आघटन 43 से 54 प्रतिशत है (एन० के० बसु)। जडवामनता या क्रेटिनिज्म, बधिरमूकता तथा शारीरिक और मानसिक अवनतियुक्त अन्य अवस्थाएँ बहुधा गलगण्ड की सहगामी होती है।

स्थानपदिक गलगण्ड का हेतु आहार मे नमक तथा आयोडीन की कमी माना जाता है। जल मे विद्यमान कुछ अन्य गलगण्ड-जलघटक भी इस अवस्था के लिए उत्तरदायी हो सकते है। उदाहरणत फ्लोरीन, उच्च कैल्शियम अश, मानव व पशुमल द्वारा जलसदूषण (McCarrison)।

स्थानपदिक क्षेत्रो मे जनता को उपयुक्त जल तथा आयोडीनयुक्त नमक (iodized salt) खिलाने पर पर्याप्त सुधार प्रकट होता है। भारत सरकार के गायटर पायलट सर्वे प्रोजेक्ट के अन्तर्गत एक क्षेत्र मे 1956 से 1959 के मध्य आयोडीनयुक्त नमक प्रयुक्त किया गया। फलस्वरूप आघटन दर 43 से 24 प्रतिशत रह गई। बहुपर्वकी गलगण्ड (multinodular goitre) का स्वत-आघटन विस्तृत क्षेत्र मे पाया जाता है।

विकृति

प्राय उपकला-अतिविकसन (epithelial hyperplasia), अति-अन्तर्वलन (hyperinvolution) तथा अन्तरा-एसिनस तन्तु-ऊतक-सघनन पाया जाता है। परिणामस्वरूप कोलाइड, रक्त तथा कोलेस्टेरोल क्रिस्टलो से युक्त विभिन्न आकार के पर्वक बन जाते है।

नैदानिक अभिलक्षण

स्थानपदिक क्षेत्रो मे बचपन मे ही अवटुग्रन्थि विसरित रूप मे विवर्धित हो जाती है। कुछ मे जन्म समय भी गलगण्ड उपस्थित होता है। वृद्धिकाल यथा यौवनारम्भ के समय विवर्धन अधिक हो जाता है। वयस्को मे बहुपर्वक गलगण्ड भी प्रकट हो सकता है तथा इसका आकार अत्यधिक हो सकता है

(चित्र 107) । ये गलगण्ड, उपद्रवो की अनुपस्थिति मे, पीडारहित व अलाक्षणिक होते है, तथापि अगरागी दृप्टि से अशोभनीय होते है ।
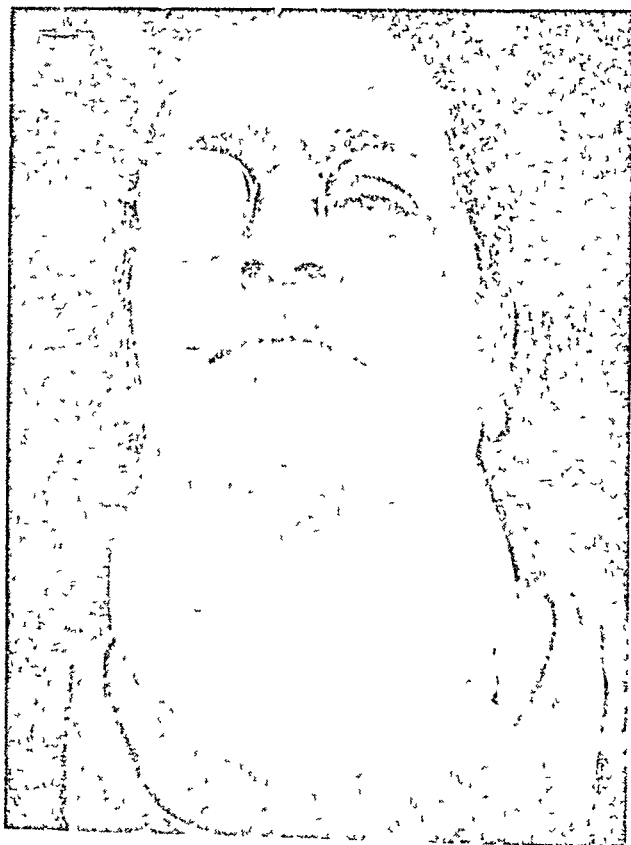
चित्र 107—वहुलपर्वकी गलगण्ड

यदि गलगण्ड मे शोथ उत्पन्न हो जाय अथवा पर्वको मे रक्तस्राव हो तो पीडा उत्पन्न हो सकती है । अतिअवटुता की अवस्था आरम्भ होने पर यह द्वितीयक जीवविपी गलगण्ड (secondary toxic goitre) कहलाता है । रोगियो के एक लघु प्रतिशत मे कार्सिनोमी परिवर्तन हो सकता है ।

चिकित्सा

वृहद् आकार, कुरूपता तथा सम्भाव्य उपद्रवो को दृप्टिगत रखते हुए आशिक अवटुउच्छेद (partial thyroidectomy) करना उचित है । स्थानपदिक क्षेत्रो मे निवारक साधन अपनाने चाहिएँ ।

अन्तःवक्ष गलगण्ड (अध उरोस्थि गलगण्ड)

अन्त वक्ष गलगण्ड (intrathorecic goitre) प्राय पर्वकी गलगण्ड के निम्न ध्रुव (lower pole) के प्रलम्बन के रूप मे पाया जाता है। अति विरल अवसरो पर यह अवटु कलिका (thyroid bud) के अन्त.वक्ष विस्तार के फलस्वरूप पैदा होता है।

नैदानिक अभिलक्षण

कुछ रोगी लक्षणरहित होते है। लक्षण मुख्यत वक्ष अन्तर्गम (thoracic inlet) पर दबाव के कारण प्रकट होते है— यथा, ग्रीवा की विशेष स्थितियो मे श्वासकृच्छ्र, क्षोभजन्य खासी, निगरण कष्ट, उरोस्थि पर विवर्धित व सकुलित (conjested) शिराओ की उपस्थिति। दक्षिण अग्र तिर्यक स्थिति (right anterior oblique position) मे लिये गये एक्सरे चित्र मे, उरोस्थि के पीछे एक छाया दिखाई पडती है जिसका निम्न उपात उत्तल होता है। स्क्रीनिग द्वारा प्रकट होता है कि यह छाया निगरण के समय चलायमान है। श्वासनली विस्थापित तथा विरूपित होती है।

चिकित्सा

अन्त वक्ष गलगण्ड के समस्त रोगियो के लिए शल्यचिकित्सा आवश्यक होती है। अधिकाशत अन्त वक्ष गलगण्ड तक ग्रीवा मार्ग द्वारा पहुँचा जा सकता है, कभी-कभी उरोस्थि विपाटन आवश्यक हो सकता है।

सुस्पष्ट ग्रन्थिअर्बुद (discrete adenoma)

कुछ तरुण व्यक्तियो, प्रधानत. स्त्रियो, की अवटु ग्रन्थि मे एक सुस्पष्ट, परीमित, दृढपर्वक होता है जिसमे ऊतिकीय परीक्षण पर कालाइडरहित ठोस एसिनस (acinus) पाये जाते है। इस अवस्था की उत्पत्ति गर्भ कोशिका शेषो (foetal cell rests) से मानी जाती है। अत. इसे गर्भ ग्रन्थ्यर्बुद (foetal adenoma) कहते है। इसमे दुर्दम परिवर्तन तथा कभी-कभी जीवविषाक्तता (toxicity) की प्रबल प्रवृत्ति होती है।

व्यपजनन के फलस्वरूप अनेक लघु पुटी उत्पन्न हो जाती है जो सम्मिलित होकर एक बडी पुटी युक्त अर्बुद का रूप धारण कर लेती है। इनमे शोथ अथवा रक्तस्राव के फलस्वरूप तीव्र लक्षण प्रकट हो सकते है।

नैदानिक लक्षण

सुस्पष्ट ग्रन्थ्यर्बुद अवटु के किसी एक खण्ड मे 2-3 cm. व्यास की स्फीति के रूप मे प्रकट होना है जिसका सम्पुट व उपान्त सुनिश्चित होता है। स्त्रियो मे यह अधिक पाया जाता है। आयु कोई भी हो सकती है, किन्तु वह 10 और 30 वर्ष के मध्य अधिक होता है। रक्तस्राव के कारण रोगी को सहसा श्वासकृच्छ (dyspnoea) हो सकता है। चिरस्थित ग्रन्थ्यर्बुदो मे अतिअवटुता एव दुर्दमता प्रकट हो सकती है।

चिकित्सा

सम्पुट के खण्डित होने से पूर्व समस्त ग्रन्थ्यर्बुद का अपहरण करना ही उचित है। यदि दुर्दमता की आशका हो तो प्रभावित खण्ड तथा इस्थमस का उच्छेद करके विकिरण उपचार करना चाहिये।

रक्तस्राव के कारण उत्पन्न सहसा श्वासकृच्छ का उपचार पुटीका सूचिका द्वारा चूषण (needle aspiration) किया जाता है। यदि इसमे असफल हो तो स्फीति पर की गभीर प्रावरणी के छेदन द्वारा विसम्पीडन (decompression) करके श्वासनली को दावमुक्त किया जा सकता है।

अल्पअवटु रोग (Hypothyroid diseases)

जडवामनता (cretinism)

स्थानपदिक क्षेत्रो मे शिशुओ एव बालको मे प्रायः स्थानपदिक रूप मे जडवामनता पाई जाती है। कभी-कभी गर्भावस्था मे भी अल्पअवटु स्थिति उपस्थित हो सकती है। स्थानपदिक प्ररूप मे विभिन्न आकार का गलगण्ड भी होता है। स्वत. जडवामनता भी पायी जा सकती है, किन्तु इस दशा मे अवटु ग्रन्थि अनिर्विधित होती है।

जडवामनता मे मिक्सोडिमा (myxoedema) के सयरूपी परिवर्तन पाए जाते है, साथ ही शारीरिक व मानसिक वृद्धि का मन्दन भी विद्यमान होता है।

नैदानिक लक्षण

क्रेटिनिज्म का निरुनिकत रूप विशिष्ट है। शरीर ठिगना तथा शिशु-समान (infantile), शाखाअग छोटे और त्वचा शुष्क व तनिक स्थूल होती है।

उदर फूला हुआ और नाभि उत्सेधित होती है ।

रोगी का 'चेहरा गोल और मूढ तथा नाक चौडी, चपटी और मोटी' होती है । जिह्वा मोटी होने के कारण मुँह खुला रहता है और लाला टपकता रहता है। बच्चे का शरीर मोटा और ठिगना, आवाज भारी, मानसिक विकास मन्द और बुद्धिस्तर मूढ होता है । स्थानपदिक क्षेत्रो में एक ही परिवार में उपरिलिखित गुणो के कई व्यक्ति पाये जाते है । स्थानपदिक जडवामन बहुधा बधिर-मूक (deaf-mute) भी होता है । अतिकोलेस्टरोल-रक्तता, अल्प प्रोटीनबद्ध आयोडीन तथा अल्प सीरम थोस्फेटेज इस अवस्था के विशिष्ट अभिलक्षण है । इस अवस्था मे शीघ्र निदान का विशेष महत्त्व है क्योकि यथासमय एव यथोचित चिकित्सा से पर्याप्त सुधार हो सकता है ।

चिकित्सा

रोगी को अवटुसार की पर्याप्त मात्रा प्रयोग करवाते रहना चाहिये ताकि उसका BMR आयु के अनुसार प्रसामान्य स्तर पर रहे । स्थानपदिक जड़वामनों (cretins) को आयोडीनयुक्त नमक खिलाना लाभप्रद होता है तथा आघटन दर मे पर्याप्त कमी हो जाती है ; स्वत जड़वामनो मे इससे कोई लाभ नही होता ।

मिक्सेडिमा (myxoedema)

वयस्क व्यक्तियों में अल्पअवटुता के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली दशा मिक्सेडिमा या गल का रोग (Gull's disease) कहलाती है । अल्पअवटु अवस्था के कारण निम्नलिखित हो सकते है : ग्रन्थि पेरेन्काइमा (parenchyma) की क्षति या विनाश, पूर्ण अवटु-उच्छेद के कारण अनअवटुता (अनअवटु क्षीणता, cachexia strumipriva), प्रतिअवटु औषधो का दीर्घकालीन प्रयोग, पीयूषिका के अवटु प्रेरक हारमोन (TSH) की असफलता ।

नैदानिक लक्षण

आरम्भ प्राय. अस्पप्ट होता है । प्रौढावस्था में पाया जाने वाला यह रोग स्त्रियों को अपेक्षाकृत अधिक प्रभावित करता है । त्वचा मे अन्तराली रूप मे तन्तुऊतक विकसित होने के फलस्वरूप त्वचा मोटी, स्थूल और अगर्त्य शोफ (nonpitting oedema) से युक्त हो जाती है । बाल और दांत गिर जाते हैं तथा अधस्त्वचा वसा मे वृद्धि हो जाती है । रोगी को पसीना नही आता तथा ठण्डा

मौसम नही रुचता । शारीरिक निष्क्रियता और मानसिक रुचिहीनता विद्यमान होती है तथा पेशियाँ दुर्बल और ढीली होती हैं । उच्चारण स्खलित (slurred speech) और प्रमस्तिष्क मन्द और स्मृतिहीन होता है । उपरिलिखित लक्षण BMR– 20 तक पहुँचने पर प्रकट होते है ।

विलम्बावस्था मे भगुर बाल, मोटी जिह्वा, शुष्क त्वचा तथा प्रबल कोष्ठ-बद्धता विद्यमान होती है । स्त्रियो मे अत्यार्तव (menorrhagia) और पुरुषो मे नपुसकता (impotence) बहुधा पाई जाती है । रोगियो को प्रायः बधिरता होती है, किन्तु अवटु के प्रयोग द्वारा यह शीघ्र ठीक हो जाती है । रोग की विलम्बित अवस्था मे सतत तन्द्रिलता पाई जाती है ।

चिकित्सा

रोगी को जीवन भर अवटु की पर्याप्त मात्रा का सेवन करना होता है ताकि BMR उचित स्तर पर बना रहे । सामान्यतया 1C0 mg. प्रतिदिन मात्रा पर्याप्त होती है । इस उपचार का परिणाम अत्यन्त सन्तोषजनक होता है ।

अतिअवटुता (Hyperthyroidism)

अतिअवटुता का यथार्थ हेतु अज्ञात है । सक्रमण, वातावरण, उद्विग्नता, भय, पिट्यूटरी अपक्रिया आदि अनेक घटको को उत्तरदायी बताया गया है ।

पूर्वकाल मे दो पृथक् रोगो की व्याख्या की जाती थी—प्राथमिक जीवविषी गलगण्ड (primary toxic goitre), नेत्रोत्सेधी गलगण्ड या ग्रेव का रोग (grave's disease) तथा पूर्वस्थित पर्वकीय गलगण्ड (nodular goitre) मे प्रकट होने वाला द्वितीयक (secondary) जीवविषी गलगण्ड । किन्तु आजकल विश्वास किया जाता है कि दोनो अवस्थाएँ मूलत. एक है तथा क्लिनिकल रूप मे पायी जाने वाली तनिक भिन्नता ग्रन्थि के पर्वकयुक्त होने के कारण नही, रोगी की आयु तथा अतिअवटुता के प्रति उसकी प्रतिक्रिया के कारण होती है ।

तथाकथित द्वितीयक जीवविषी गलगण्ड के हृदयसम्बन्धी उपद्रव वास्तव मे हारमोन के कारण नही होते ; इन रोगियो की आयु अपेक्षाकृत अधिक होने के कारण वे शारीरिक हृदयरोग के प्रति अधिक प्रभाववश्य होते है । ग्रेव के रोग मे मिलता-जुलता ही नेत्रोत्सेध (exophthalmos) कुछ अतिअवटुता-रहित दशाओ मे भी पाया जा सकता है ; इसका यथार्थ कारण अज्ञात है (चित्र 1C8) ।

सम्भवत इस दशा के लिए पिट्यूटरी का TSH उत्तरदायी है क्योकि इस ग्रन्थि का व न विभाजित करने के पश्चात नेत्रोत्सेध का प्रतिक्रमण होता देखा गया है।

चित्र 108—नेत्रोत्सेध

क्लिनिकल अभिलक्षण

BMR +20 से अधिक होता है, अत अतिबुभुक्षा, शरीरभार का ह्रास, हृद्क्षिप्रता, हृद्धडकन, स्वेदन तथा कोष्ण, आर्द्र त्वचा पाई जाती है। नाडी-दाव (pulse pressure) और प्रकुचन रक्तदाव (systolic blood pressure) अधिक होती है।

ग्रेव के रोग मे विसरित अवटु विवर्धन और द्वितीयक जीवविपी प्ररूप मे पर्वकीय गलगण्ड पाया जाता है।

नेत्रोत्सेध के कारण कुछ विशिष्ट चिह्न प्रकट होते हैं।

स्टेलवाग (stellwag) का चिह्न—पक्ष्म विदर (palpebral fissure) चौडा हो जाता है तथा फलस्वरूप रोगी की दृष्टि घूरती हुई प्रतीत होती है।

वोनग्राफे (von graefe) का चिह्न—नेत्र गोलक को ऊपर-नीचे गतिशील करते समय ऊपरी पलक पिछड जाती है।

जिह्वा और अगुलियो मे सुस्पष्ट कम्प (tremor) पाया जाता है। सूक्ष्म कम्प को देखने से नही, हाथ की फैली अगुलियो के स्पर्श से भली प्रकार अनुभव

किया जा सकता है। रोगी में मानसिक अस्थिरता होती है।

शर्करामेह (glycosuria) और अतिशर्करारक्तता (hyperglycaemia) की स्थिति भी विद्यमान हो सकती है। कैल्शियम संतुलन विकृत होने के कारण अस्थियों से खनिजों का अवक्षय होने लगता है तथा वे विरलित (rarefied) हो जाती है।

निदान

प्राय निदान सरल होता है किन्तु कभी-कभी इस दशा को अज्ञातहेतुक अतिरक्तदबाव (essential hypertension) से विभेदित करना कठिन हो सकता है। निदान की पुष्टि के लिए प्रतिअवटु औषधों का उपचाररूपी परीक्षण (therapeutic test) तथा BMR का निर्धारण किया जा सकता है।

चिकित्सा

यद्यपि स्वत विसर्ग (remission) तथा रोगमुक्ति सम्भव है, ऐसा बहुधा नही होता।

मेडिकल चिकित्सा—रोगी को शैया विश्राम, प्रचुर द्रव तथा अल्प अवशेष वाला उच्च कैलोरी आहार—न्यूनतम 3000 कैलोरी—प्रदान करना चाहिये—आंत्रेतर ग्लूकोज का प्रयोग आवश्यक है। प्रशामक के रूप में बार्बिटूरेटों की आवश्यकता भी पड सकती है (उदाहरणत. दिन मे दो-तीन बार 20 mg. ल्यूमिनाल, luminal), किन्तु इनका प्रयोग उत्तेजना उत्पन्न कर सकता है, ऐसी स्थिति मे कोडीन तथा ब्रोमाइडों का प्रयोग श्रेयस्कर होता है।

आयोडीन के प्रयोग द्वारा एसिनस कोलाइड से परिपूर्ण हो जाते है और अतिअवटुता का स्तर और उसके लक्षण कम हो जाते है। परन्तु इस विधि द्वारा स्थायी रोगमुक्ति सम्भव नही होती तथा प्रायः पुनरावृत्ति हो जाती है। आपरेशन से पूर्व आयोडीन का पोटाशियम आयोडाइड या ल्यूगोल (lugol) आयोडीन के रूप मे प्रयोग लाभप्रद रहता है। आपरेशन के लिए आदर्श समय आयोडीन उपचार के 2-4 सप्ताह पश्चात् होता है। आयोडीन के प्रथम प्रयोग के समय होने वाली आशाजनक अनुक्रिया दैनिक प्रयोग द्वारा नही पायी जाती। इस कारण आयोडीन का प्रयोग केवल शल्यपूर्व उपक्रम के लिए ही करना उचित है।

थायोयूरेसिल (thiouracil) परिसंचरणरत रक्त से अवटु द्वारा आयोडीन ग्रहण मे बाधा डालता है तथा इस प्रकार हारमोन उत्पादन रोकता है।

मेथिलथायोयूरेसिल एक सशक्त किन्तु जीवविपात्मक (toxic) प्रभाव वाली औषध है। इसकी अपेक्षा प्रोपिलथायोयूरेसिल कम जीवविपात्मक है तथा अधिक समय तक प्रयुक्त की जा सकती है। अल्पकालप्रभावी होने के कारण इसका प्रयोग दिन मे तीन बार तथा सोते समय करना होता है। दैनिक मात्रा 200-200 mg है, जब तक BMR का स्तर शून्य या ऋणात्मक न हो जाए, इसका प्रयोग चालु रखना चाहिये।

उपरिलिखित प्रतिअवटु (antithyroid) औषधों के जीव-विपात्मक प्रभाव गलदाह (sore throat), ज्वर, त्वचाशोथ और श्वेतकोशिकान्यूनता (leukopaenia) हैं। कणिकाकोशिकान्यूनता (agranulocytosis) की ओर से पूर्णतः सजग रहना आवश्यक है। मेथिलथायोयूरेसिल की तुलना मे प्रोपिलथायोयूरेसिल कही कम जीवविषात्मक है।

कार्बिमेज़ोल (carbimazole) नामक एक नवीन औषध, जो बाजार में नीयो-मर्केजोल (neo-mercazle) के नाम से उपलब्ध है, 20-40 mg प्रतिदिन की लघु मात्रा मे पर्याप्त सशक्त पायी गई है। इसकी जीवविपता अल्प है और यह थायोयूरेसिल वर्ग की भॉति गलगण्डजन (goitrogen) नही है।

औषध चिकित्सा निम्न दशाओ मे उपयोगी होती है—छोटे, विसरित गलगण्ड से युक्त ग्रेव रोग (grave's disease), पुनरावर्ती अतिअवटुता, अल्प जीवन प्रत्याशा वाले रोगी।

एक्सरे चिकित्सा—प्रतिअवटु औषधो के प्रादुर्भाव के पश्चात् अतिअवटुता के लिए एक्सरे उपचार का प्रयोग समाप्तप्राय हो गया है। इसका प्रयोग शस्त्रकर्मपूर्व उपक्रम के लिए, तथा शस्त्रकर्म के अयोग्य रोगियो मे चिकित्सा के लिए, तब किया जाता है जब रोगी अवटु औषधो के प्रति असहनशील हो।

रेडियोएक्टिव आयोडीन—अवटु ऊतक को विनष्ट करने की एक उत्तम विधि रेडियोएक्टिव आयोडीन 1319 का प्रयोग है। इसके लिए आवश्यक मात्रा का निर्धारण परिस्पर्शन द्वारा अवटु ग्रन्थि के अनुमानित आकार के अनुसार किया जाता है। किन्तु गलगण्ड के आकार का सही अनुमान कठिन होता है। अत. यथार्थ मात्रा निश्चित नही की जा सकती। रेडियोएक्टिव आयोडीन प्रयोग के पश्चात् 10 प्रतिशत रोगियो को मिक्सेडीमा हो जाता है जब कि अवपूर्ण अवटुउच्छेद(subtotal thyroidectomy) के पश्चात् यह सम्भावना 3 प्रतिशत होती है। इसके अतिरिक्त कुछ अवांछनीय प्रभाव विलम्बित रूप मे भी पाये जा सकते है, उदाहरणत. अवटु मे कार्सिनोमी परिवर्तन तथा तरुण स्त्रियों की

डिम्बग्रन्थि मे उत्परिवर्तन (mutation) रेडियोएक्टिव आयोडीन का प्रयोग उन्ही रोगियो मे करना चाहिए जो पुनरावर्ती अतिअवटुता से पीडित हो अथवा जिनकी आयु 45 वर्ष से अधिक हो।

शल्यचिकित्सा—सर्वश्रेष्ठ विधि असम्पूर्ण अवटुउच्छेद (subtotal thyroidectomy) मानी गई है। शस्त्रकर्मोत्तर मृत्युदर मे भी पर्याप्त कमी हुई है, ऐसा अपेक्षाकृत उत्तम सज्ञाहरण, शल्यपूर्व उपक्रम और प्रतिअवटु औषधो द्वारा ही सम्भव हो सका है।

आपरेशन के सकेत निम्नलिखित हैं 40 वर्ष से कम आयु तथा दीर्घ जीवन प्रत्याशा वाले अतिअवटु रोगी, प्रतिअवटु औषधो के प्रति असह्यता (intolerance', बहुपर्वकीय गलगण्ड (multinodular goitre) की सहगामी अतिअवटुता।

शस्त्रकर्म पूर्वकाल मे BMR के अनुसार उच्च कैलोरी एव अल्प अवशेष वाला आहार देना चाहिए।

प्रशामको का प्रयोग करते समय बार्बिटुरेटो की तुलना मे कोडीन व ब्रोमाइडो को प्राथमिकता देनी चाहिए। यदि स्थानीय सज्ञाहरण प्रयुक्त किया जाये तो आपरेशन से तुरन्त पूर्व मार्फीन का प्रयोग किया जा सकता है।

हृदय को डिजिटेलाइज (digitalize) करने के लिए डिजिटेलिस का प्रयोग भी करना चाहिए।

उपद्रवो के निवारण के लिए BMR को प्रसामान्य स्तर तक लाना आवश्यक है। इस प्रयोजन के लिए सर्वप्रथम प्रतिअवटु औषधो का प्रयोग किया जाता है तथा तत्पश्चात् इन औषधो के कारण उत्पन्न सवहनता और भुनूर्ष्यता को दूर करने के लिए आपरेशन से 2-4 सप्ताह पूर्व ल्यूगोल आयोडीन का सेवन कराया जाता है। आयोडीन आरम्भ करने के एक सप्ताह पश्चात् तथा आपरेशन से दो सप्ताह पूर्व प्रतिअवटु औषधो का प्रयोग रोक देना चाहिए।

संज्ञाहरण

आदर्श विधि स्थानीय अन्त.सचरण सज्ञाहरण (infiltration anaesthesia) अथवा मार्फीन द्वारा ग्रीवा रोध (cervical block) है। पेन्टोथाल (pentothal) गैस और आक्सीजन का प्रयोग भी पर्याप्त सन्तोषप्रद रहता है।

अवटुउच्छेदन (thyroidectomy)—अवशेषी तथा पुनरावर्ती अतिअवटुता के निवारण के लिए आवश्यक है कि ग्रन्थि का पर्याप्त भाग ($\frac{5}{6}$ से $\frac{7}{8}$) उच्छेदित

किया जाए। आपरेशन के समय आवर्ती स्वरयन्त्र तन्त्रिका, ऊर्ध्व स्वरयन्त्र तन्त्रिका की बाह्य शाखा तथा परावटु ग्रन्थियों को सुरक्षित रखना चाहिए। शिराओ के माध्यम से वायु अन्त शल्यता (air embolism) न होने का ध्यान रखना भी आवश्यक है। अवटु शैय्या (thyroid bed) मे रक्त सग्रह या हीमेटोमा तथा सीरम सग्रह न होने देने के लिए उचित हीमोस्टेसिस (रक्त-स्तम्भन) का पर्याप्त महत्त्व है। कालाइड सचय को रोकने के लिए क्षत के उपयुक्त निकास (drain) की व्यवस्था आवश्यक है।

उपद्रव—आवर्ती स्वरयन्त्र तन्त्रिका तथा परावटु के आहत होने के अतिरिक्त श्वासनली भी अभिघातग्रस्त हो सकती है। विरल अवसरो पर स्वरयन्त्र आकर्ष (laryngeal spasm) के कारण श्वासनली छेदन (tracheostomy) आवश्यक हो सकता है।

अवटु संकट (thyroid crisis) के लक्षण निम्नलिखित है: टाक्सिक (toxic) आकृति, अतिद्रुत नाडी, ताप अतिवृद्धि, मानसिक सम्भ्रान्ति, वमन। उचित शस्त्रकर्मपूर्व उपक्रम द्वारा इस दशा का आघटन कम किया जा सकता है। अवटु संकट का प्रकोप होने पर अन्तःशिरा आयोडीन और ग्लूकोज का प्रयोग करना चाहिए तथा क्षत का तनाव घटाने के लिए आवश्यकतानुसार एक-दो टाँके निकाल देने चाहिये।

अवटु सकट की भाँति हृदय क्षतिअपूर्ति (cardiac decompensation) का भी निवारण सरल किन्तु उसका उपचार कठिन है। हृदय क्षतिअपूर्ति तथा हृद्‌पेशी विनाश वाले रोगियो के आपरेशन मे भय अधिक होता है। यदि रोगी की आयु अधिक हो, वजन का ह्रास हो और नाडी दर व BMR के सकेतानुसार आयोडीन तथा प्रतिअवटु औपधो के प्रति अनुक्रिया मन्द हो तो प्राक्ज्ञान आशाजनक नही होता।

ग्रन्थि का पर्याप्त अपहरण न होने के कारण अवशेपी अतिअवटुता (residual hyperthyroidism) शेप रह सकती है। अतिअवटुताजनक घटको के पुनर्भवन के कारण 5–10 प्रतिशत रोगियो मे 4–5 वर्ष पश्चात् तक भी पुनरावर्ती अतिअवटुता (recurrent hyperthyrodism) बनी रह सकती है। इन दोनो प्रकार के रोगियों की प्रतिअवटु औपधो और रेडियोएक्टिव आयोडीन द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए। यदि ग्रन्थि की अधिक मात्रा उच्छेदित की जाए तो अवटु अभाव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है और रोगी को जीवन-भर अवटुसार का सेवन कराना होता है।

अवटु ग्रन्थि के दुर्दम अर्बुद

अवटु ग्रन्थि का कार्सिनोमा प्राय पाया जाता है। उसका आघटन स्तन कार्सिनोमा की तुलना मे दशाश होता है। पेपिली कार्सिनोमा युवा तथा वृद्धो मे एक समान होता है तथा 25 प्रतिशत रोगी 20 वर्ष से कम आयु के होते है। यदि अवटु के एकल ग्रन्थिअर्बुद (solitary adenoma) का आकार विवर्धित हो, कठोरता समीपवर्ती ऊतक से भिन्न हो तथा लक्षण उत्पन्न हो तो, रोगी की आयु कुछ भी होने पर, विक्षति को सम्भाव्य दुर्दम (potentially malignant) समझना चाहिए।

अवटु ग्रन्थि का कार्सिनोमा क्लिनिकल दृष्टि से निम्नलिखित प्रकार का होता है पेपिली कार्सिनोमा, अपेपिली कार्सिनोमा या ग्रन्थिकार्सिनोमा (adenocarcinoma), विविध प्ररूप (अविकसनीय या एनाप्लास्टिक)।

स्मरणीय है कि अधिकाश कार्सिनोमा विशुद्धत किसी एक प्रकार के नही होते तथा इस कारण उनका वर्गीकरण करते समय भ्रान्ति उत्पन्न हो सकती है। मेटाप्लेजिया (metaplasia) या इतरविकसन के फलस्वरूप शल्की कोशिका कार्सिनोमा भी पाया जा सकता है।

पेपिली कार्सिनोमा (papillary carcinoma)

पेपिली कार्सिनोमा की दुर्दमता मन्द तथा विक्षेपन असाधारण होता है। अर्बुद के समीप तन्तुभवन का क्षेत्र विद्यमान होता है किन्तु सम्पुट नही होता। इसमे काचाभ व्यपजनन (hyaline degeneration) तथा कैल्सीभवन हो सकता है। विस्तार प्राय लसीकावाहिकाओ द्वारा ग्रीवा के लसीका पर्वो तक होता है (चित्र 109)। कुछ रोगियो मे अवटु ग्रन्थि का अर्बुद आकार मे छोटा होता है तथा सर्वप्रथम लसीका विक्षेपो द्वारा ही स्वय को प्रकट करता है। अन्य रोगियो मे प्राथमिक अर्बुद विशाल तथा विक्षेप (metastases), यदि है भी तो, अत्यन्त विलम्बित होते है।

मन्द वृद्धि के कारण इस अर्बुद का प्राक्ज्ञान आशाप्रद होता है। रक्त द्वारा प्रसार की प्रवृत्ति बहुत कम होती है। यदि थाइराइड ग्रन्थि को लसीका पर्वो सहित निकाला जा सके तो रोगमुक्ति की लगभग पूरी सम्भावना होती है।

चिकित्सा

आदर्श चिकित्सा विधि लसीका पर्वो सहित पूर्ण हरण है। यदि बृहद
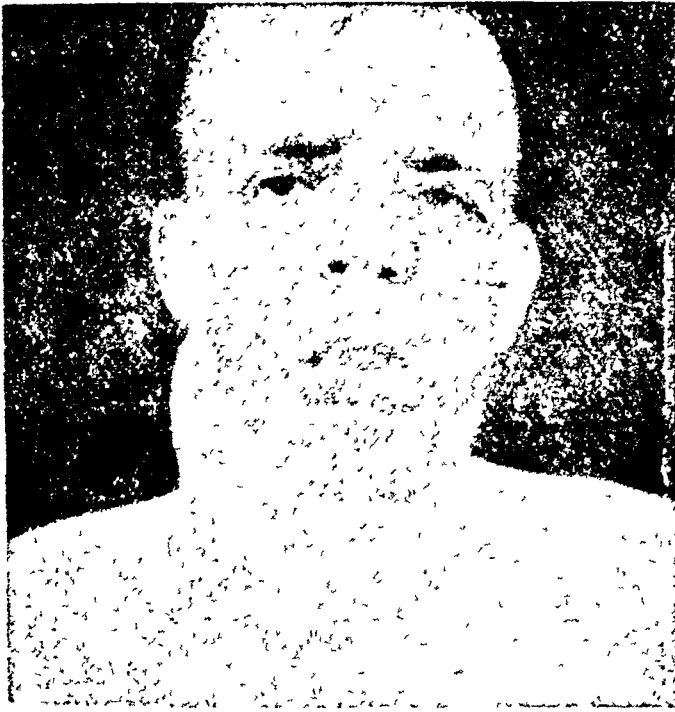
चित्र 109—अवटु ग्रन्थि का कार्सिनोमा तथा लसीका पर्वो मे उसके द्वितीयक

चित्र 110—करोटि विक्षेपो से युक्त अवटु कार्सिनोमा। दक्षिण खण्ड मे एक लघु प्राथमिक पर्वक विद्यमान है।

अर्बुद का पूर्णोच्छेद न किया जा सके तो यथासम्भव भाग का उच्छेद करके शेष को रेडोन बीज आरोपण (radon seed implantation) द्वारा या एक्स-किरणों द्वारा उपचारित करना चाहिए। रेडियोएक्टिव आयोडीन उद्ग्रहणशील अर्बुदों में 131 का प्रयोग किया जा सकता है।

अपेपिली कार्सिनोमा (Non-papillary carcinoma)

अंकुरहीन या नोनपेपीलरी कार्सिनोमा प्रायः 50 वर्ष से अधिक आयु की स्त्रियों में होता है। प्रायः यह पूर्वस्थित ग्रन्थिअर्बुदीय गलगण्ड (adenomatous goitre) में दुर्दम परिवर्तन के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। इसके चारों ओर एक सुनिश्चित सम्पुट होता है जो अर्बुद द्वारा आक्रान्त हो सकता है। इस का प्रसार प्रायः नहीं होता किन्तु शिराओं द्वारा फुफ्फुस व अस्थियों तक प्रसार शीघ्र व बहुधा होता है। सामान्य विक्षेप स्थल करोटि, कशेरुक तथा लम्बी अस्थियों के छोर हैं (चित्र 110)। इन विक्षेपों की यह विशेषता है कि ये हारमोन स्रवित करते हैं, अतः सम्पूर्ण अवटु ग्रन्थि उच्छेदित करने पर भी वे अल्पअवटुता के लक्षण उत्पन्न नहीं होने देते।

क्लिनिकल स्वरूप

सामान्यतः लक्षण एक ऐसे पूर्वस्थित गलगण्ड के समान होते हैं जिनके आकार में हाल ही में वृद्धि हुई हो। ग्रन्थि के एक खण्ड में कठोर, अकलसीभूत अर्बुद की उपस्थिति दुर्दमता की परिचायक होती है। यदि पूर्वस्थित अर्बुद गभीर अवयवों से स्थानबद्ध हो जाये तथा निगरण पर गतिशील न हो तो उसमें दुर्दमता की उत्पत्ति समझनी चाहिए। इस अवस्था में एक अथवा दोनों स्वर यन्त्र तन्त्रिकाओं का घात पाया जा सकता है। पीड़ा आवश्यक नहीं है। इस अवस्था में प्रायः अतिअवटुता नहीं होती। यदि अतिअवटुता की स्थिति विद्यमान हो तो दुर्दमता का निदान सन्दिग्ध है।

कुछ परिस्थितियों में क्लिनिकल आधार पर रीडल (Reidel) के अवटु-शोथ और कार्सिनोमा में विभेदन कठिन हो सकता है तथा इस प्रयोजन के लिए बायोप्सी (जीवोतिपरीक्षा) आवश्यक हो सकती है।

जब अवटु के दोनों खण्ड प्रभावित हों, ग्रन्थि स्थानबद्ध हो अथवा एक या दोनों स्वर तन्त्रिघातग्रस्त हों तो रोग को दुःसाध्य व शस्त्रकर्म के अयोग्य समझना चाहिए। फेफड़ों व अस्थियों में दूरस्थ विक्षेपण होने पर भी शल्यचिकित्सा उपयोगी नहीं होती।

चिकित्सा

परिस्थिति सब प्रकार उपयुक्त होने पर अकुरकहीन कार्सिनोमा की चिकित्सा की आदर्श विधि अवटु गिराओ, अवटु के एक या दोनो खण्डो तथा प्रभावित ओर की ग्रीवागिरा (jugular vein) का उन्मूलक उच्छेद है। किन्तु अधिकाश रोगियो मे ऐसा व्यापक हरण सम्भव नही होता तथा प्रशामक साधनो का प्रयोग करना पडता है। इस प्रयोजन के लिए अवटु ग्रन्थि और सम्बन्धित द्वितीयको का एक्सरे किरणन किया जा सकता है।

रेडियोएक्टिव आयोडीन—अतिअवटुता और अवटु कार्सिनोमा सामान्यत. एक साथ कदापि नही पाये जाते। कार्सिनोमा प्राय रेडियोएक्टिव आयोडीन को ग्रहण नहीं करता, तथापि विक्षेपो या मेटास्टेसिसो मे ऐसा हो सकता है। यदि रेडियोएक्टिव आयोडीन का उपयोग सम्भव न हो और विक्षेप विद्यमान हो तो ^{131}I. द्वारा चिकित्सा अवश्य करनी चाहिए। अधिकाश रोगियों से सन्तोषप्रद प्रशमन और कुछ मे रोगमुक्ति की सम्भावना होती है।

अपविकसन कार्सिनोमा (anaplastic carcinoma)

प्रसामान्य थाइरायड ग्रन्थि मे अपविकसन के फलस्वरूप कार्सिनोमा उत्पन्न होकर शीघ्र ही समीपवर्ती सरचनाओ पर दबाव डाल सकता है। विक्षेप और स्वर तन्तुओं का घात शीघ्र ही प्रकट हो जाता है।

शल्य चिकित्सा प्राय असम्भव होती है। प्रशामक एक्सरे उपचार किया जा सकता है किन्तु लगभग सभी रोगियो मे पुनरावृत्ति हो जाती है।

सार्कोमा

अवटु ग्रन्थि के सयोजी ऊतक से व्युत्पन्न होने वाले इस दुर्दम अर्बुद के दो प्ररूपो का उल्लेख किया गया है—दुर्दम लसीकार्बुद (malignant) lymphoma) और तर्कु-कोशिका सार्कोमा (spindle cell sarcoma)। इन प्ररूपो के निदान के लिए ऊतिकीय अध्ययन किया जाता है।

एक्सरे उपचार द्वारा इस अवस्था मे कुछ लाभ पहुँचता है किन्तु पुनरावर्तन प्राय पाया जाता है।

परावटु (Parathyroid) ग्रथियां

चिरकाल तक चिकित्साविज्ञान परावटु ग्रथियो के अस्तित्व से अनभिज्ञ था

तथा तत्सम्बन्धी रोगों के लिए अवटु ग्रंथि को उत्तरदायी समझा जाता था। 1880 में सैंडस्ट्रोम (Sandstrom) ने इन ग्रंथियों को पृथक् रूप से पहचाना। 1909 में मैककेल्लम (Maccallum) और वोग्टलिन (Voegtlin) ने निदर्शित किया कि परावटु ग्रंथियां कैल्शियम चयापचय को नियंत्रित करती हैं। हैन्सन (Hanson), तथा 1925 में कोलिप (collip) ने स्वतन्त्र रूप से परावटु हार्मोन का अस्तित्व प्रमाणित किया। इस हार्मोन को कोलिप यूनिट द्वारा व्यक्त किया जाता है—एक यूनिट हार्मोन की उस मात्रा के एक-सौवां भाग के समान है जो 20 kg वजन के प्रसामान्य कुत्तों में अन्तःपेशीय अन्तःक्षेपण के पश्चात् सीरम कैल्शियम का स्तर 15 घंटे में औसतन 5 mg प्रति 100 ml बढ़ा दे।
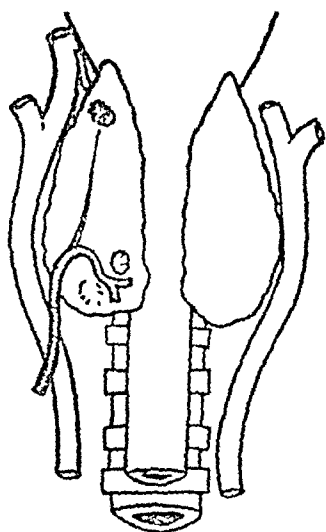
चित्र 111—परावटु ग्रंथियों का निम्न अवटु धमनी से संबंध, पीछे की ओर से

शरीररचना (Anatomy)

थाइरायड ग्रंथि के पीछे की ओर परावटु ग्रंथियों की दो जोड़ियां स्थित होती हैं। इनकी स्थिति अनियमित होती है। ऊपरी जोड़ी प्रत्येक खण्ड के ऊर्ध्व एक-तिहाई और निम्न दो-तिहाई के संगम पर स्थित होती है; निम्न जोड़ी निम्न अवटु धमनी के निकट साहचर्य में, उसके ऊपर या नीचे, स्थित होती है (चित्र 111)। परावटु की आकृति अंडाकार, लंबाई 3-4 mm और रंग विविध होता है—बचपन में गुलाबी, यौवनारम्भ में भूरा और वयस्कावस्था में पीला। उनका संभरण निम्न अवटु धमनी की शाखाओं द्वारा होता है। प्रायः परावटु ग्रंथियां अवटु संपुट के बाहर स्थित होती हैं किंतु कुछ व्यक्तियों में अवटु ग्रंथि के भीतर भी पाई जाती हैं।

शरीरक्रिया विज्ञान (Physiology)

'परावटु हारमोन का रक्त मे कैल्शियम स्तर के सतुलन से घनिष्ठ सवध है। सपूर्ण परावटु ऊतक के अपहरण का परिणाम घातक होता है—सीरम कैल्शियम के स्तर मे तीव्र ह्रास हो जाता है और टिटेनी या अपतानिका के कारण आक्षेपी ग्रह (convulsive seizures) प्रकट होने लगते हैं।

रक्त का कैल्शियम लगभग पूर्णत प्लाज्मा मे स्थित होता है। प्रसामान्य सीरम कैल्शियम स्तर 9-11 mg प्रति 100 ml है, इसका 50 प्रतिशत प्रोटीन-बद्ध और 50 प्रतिशत आयनो के रूप मे मुक्त और विसरणशील (diffusilele) होता है। इन दोनो प्ररूपो मे साम्य (equililerium) होता है।

परावटु हारमोन की क्रियाविधि निश्चित रूप से ज्ञात नही है। इस सवध मे दो मत है। (1) यह वृक्क नलिकाओ मे फास्फोरस देहली (phosphorus threshold) को कम करता है; फलस्वरूप होने वाली फास्फोरस हानि के कारण ककाल से फास्फोरस तथा, साथ ही, कैल्शियम चलायमान हो जाता है। इस प्रकार होने वाली अतिकैल्शियमरक्तता के कारण कैल्शियम का उत्सर्जन वढ़ जाता है। (2) यह अस्थिप्रसूओ (osteoplests) को अस्थिभजको (osteoclasts) मे परिणत करता है, फलस्वरूप ककाल के कैल्शियम और फारफोरस चलायमान होकर उत्सर्जित होने लगते है।

पिट्यूटरी द्वारा एक परावटुप्रेरक (parathyrotropic) हारमोन की उत्पत्ति परिकल्पित की गई है, किंतु इसे अभी सिद्ध नही किया जा सका है। कुछ लोगो का मत है कि रक्त के आयनीकृत कैल्शियम स्तर मे ह्रास परावटु क्रिया के लिए प्रेरक होता है।

अल्पपरावटुता (Hypoparathyroidism)

हेतुकी

अल्पपरावटुता निम्न प्रकार उत्पन्न हो सकती है . असपूर्ण या आशिक अवटुउच्छेद करते समय परावटुओ का आकस्मिक अपहरण, परावटु अर्वुद उच्छेदित करने के पश्चात् अन्य परावटु ग्रथियो का अनुपस्थित या अक्रियाशील पाया जाना, अज्ञातहेतुक।

अवटुउच्छेदन के पश्चात् 8-10 प्रतिशत रोगियो मे अल्पस्थायी 'अल्पपरावटुता' उत्पन्न हो जाती है, किंतु उत्तम शल्यविधि के कारण अव यह घटना कम होती जा रही है।

शल्योत्तर परावटु टिटेनी (tetany) या अपतानिका आपरेशन के 2-3 दिन पश्चात् हाथो और वाहुओ की झनझनाहट के रूप मे प्रकट होती है। इस अवस्था मे विशिष्टत हाथ और अग्रवाहु पेशियो का उद्वेष्टन, स्फुरण तथा दीर्घ पीडायुक्त आकर्ष पाये जाते है। इन हस्त-पाद आकर्षो (carpo-pedalspasms) के कारण एक विशेष प्रकार का 'दाई हस्त' (accoucheur hand) हो जाता है—इस दशा मे करम-अगुलास्थि सधिया अर्द्धआकुचित, अतगअगुलास्थि सधियाँ प्रसारित और अगूठा व छोटी अगुलि हथेली की ओर मुडी होती है।

स्वरयत्र, आनन और उदर की पेशिया भी प्रभावित हो सकती है तथा फल-स्वरूप कठघर्घर (stridor) और वमन हो सकता है। प्राय. यह उद्वेष्टन धीरे-धीरे लुप्त हो जाता है किंतु कभी-कभी कुछ मिनट से कुछ घटो तक रहकर प्राणघातक सिद्ध हो सकता है।

टिटेनी (tetany) या अपतानिका के कुछ विशेष चिह्न होते है तथा ये अव्यक्त टिटेनी के निदान मे सहायक होते है।

श्वोस्टेक (Choostek) का चिन्ह—कान के ठीक सामने और नीचे की ओर आनन तंत्रिका को थपकी देने पर आनन पेशिया स्फुरित हो जाती है।

ट्रोसो (Trousseau) का चिन्ह - ऊर्ध्व वाहु पर 1-5 मिनट तक सिस्टोलिक रक्तदाव से अधिक दवाव डालने से हस्तपाद आकर्ष (carpopedal-spasm) उत्पन्न हो जाता है।

अर्ब (Erb) का चिन्ह—न्यून वैद्युत उद्दीपन के फलस्वरूप अतिशय पेशी अनुक्रिया पाई जाती है।

निदान

अल्पपरावटुता के निदान मे निम्नलिखित से सहायता मिलती है: अवटु आपरेशन का इतिवृत्ति, एक्सरेचित्रण (परावटु ग्रथियो का कैल्सीभवन जाचने के लिए) सीरम कैल्शियम और फास्फोरस का आमापन। यह स्मरणीय है कि निम्नलिखित दशाओ मे परावटु विकार के विना भी टिटेनी हो सकती है। (1) जव सीरम कैल्शियम अल्प हो, उदाहरणत: रिकेट्स, अस्थिमृदुता (Osteo malacia), सीलियक (coeliac) रोग, स्प्रू (sprue), अज्ञातहेतुक वसापुरीप (idiopathic steatorrhoea)। अल्पपरावटुता के विपरीत इस दशा मे सीरम फास्फोरस का स्तर वर्धित होने के स्थान पर सामान्य रहता है। (2) जव सीरम कैल्शियम की मात्रा प्रसामान्य हो किंतु आयनित कैल्शियम अल्प हो। ऐसा एल्केलोसिस या क्षारमयता की अवस्था मे होता है, जो निम्नलिखित

कारणो से उत्पन्न हो सकती है . जठरनिर्गम अवरोध (pyloric obstruction) के परिणामरूप प्रवल वमन, अतिसवातन (hyperventilation), पेप्सी व्रण की चिकित्सा मे क्षारो का दीर्घ काल तक प्रयोग ।

चिकित्सा

10 प्रतिशत कैल्शियम ग्लूकोनेट का 10 ml पुनः पुन अंतःशिरा इजैक्शन टिटेनी को नियत्रित करता है । एक-दो दिन तक प्रति आठ घण्टे पश्चात् 30 यूनिट परावटु सार का अत.पेशी इजैक्शन भी सहायक होता है । आहार में फास्फोरस अतर्ग्रहण मे ह्रास और कैल्शियम अतर्ग्रहण मे वृद्धि, तथा प्रतिदिन 40,000 यूनिट कैल्सिफेरोल (calciferol) का प्रयोग, अल्पपरावटुता के प्रभाव के दूर करने मे सहायक होता है । कभी-कभी मृत-जात शिशुओ से प्राप्त परावटु ग्रथियो का आरोपण भी सतोपप्रद परिणाम प्रदान करता है ।

अतिपरावटुता (Hyperparathyroidism)

प्राथमिक अतिपरावटुता प्रायः अर्वुद (ग्रथिअर्वुद) के कारण तथा कभी-कभी अज्ञातहेतु अतिविकसन के कारण होती है । इसके फलस्वरूप व्यापक ततुल अस्थिशोथ (generalised osteitis fibrosa) उत्पन्न हो जाता है जिसे अस्थि का तंतुपुटी रोग (fibrocystic disease) या वोन रेकलिगौसन (von Recklinghausen) का रोग भी कहते है । प्राथमिक अतिपरावटुता मे कैल्शियम और फास्फोरस का उपापचय विकृत होने के कारण वृक्क अश्मरी (renal calculi) और विक्षेपी कैल्सीभवन (metastatic calcification) उत्पन्न हो जाते है ।

अतिपरावटुता का कारण अज्ञात है । इस अवस्था के अभिलक्षण अस्थियो से फास्फोरस और कैल्शियम के चलायमान होने के कारण प्रकट होते है, फलस्वरूप अस्थियो मे विरलन और ततु ऊतक द्वारा प्रतिस्थापन हो जाता है ।

पेराथायराइड ग्रथि मे अर्वुद उपस्थित होने पर उसका आकार छोटा (प्राय 2-3 cm व्यास) होता है ।

क्लिनिकल अभिलक्षण

पीठ और हाथ-पैरों मे पीडा होती है तथा पेशियो की निर्वलता और असमन्वय (incoordination) के कारण रोगी को चलने मे कष्ट होता है । भूख न लगने के कारण रोगी का वजन घट जाता है तथा कमजोरी अधिक हो सकती है ।

विलम्बित अवस्था मे पेशियो की निर्बलता और अल्पतानता (hypotonia) बहुपिपासा और बहुमूत्रता पाये जाते हैं। सीरम कैल्शियम का स्तर अधिक होता है। विकिरणी चित्र मे हड्डियों का विकैल्सीभवन (decalcification) तथा उनमे अनेक स्थानो पर अनियमित तन्तुभवन के क्षेत्र बन जाते हैं, फलस्वरूप अस्थियो मे पुटियो (cysts) की उपस्थिति का भास होता है। वैकृत अस्थि-भग और विकट विरूपता भी पाई जा सकती है।

इस रोग मे वृक्क मे अश्मरी, मूत्र मे कणिकीय कास्ट (granular casts) तथा फुप्फुस और हृदयावरण मे विक्षेपी कैल्सीभवन पाया जा सकता है। कुछ रोगियो मे वाहिका अतिरक्तदाब भी देखा गया है।

सीरम कैल्शियम 9-11 mg प्रति 100 ml के प्रसामान्य स्तर से बढकर 14-18 mg हो जाता है। सीरम फास्फोरस कम, लगभग 1-3 mg प्रति 100 ml होता है। सीरम एल्केलाइन फोस्फेटेज (serum alkaline phosphatase) 3-13 K-A यूनिटो (King-Armstrong units) के प्रसामान्य स्तर मे अधिक होता है। कैल्शियम और फास्फोरस का अन्तर्ग्रहण कम होने पर भी मूत्र में उनका निकास सामान्य से अधिक मात्रा मे होता है। अतिपरावटुता मे कैल्शियम की मात्रा मल की अपेक्षा मूत्र मे अधिक निष्कासित होती है।

चिकित्सा

यदि अतिपरावटुता की उत्पत्ति अर्बुद के कारण हो तो उसका अपहरण करना चाहिये, यद्यपि आपरेशन के समय अर्बुद को खोजना कठिन हो सकता है। यदि अतिपरावटुता मात्र अतिविकसन के कारण हो तो ग्रथियो का अपहरण स्थायी लाभ प्रदान नही करता।

द्वितीयक अतिपरावटुता (Secondary hyperparathyroidism) अपाती अल्प सीरम कैल्शियम के प्रति एक क्षतिपूरक प्रतिक्रिया के रूप में प्रकट होती है। ऐसा रिकेट्स, अस्थिमृदुता (osteomalacia), दुग्धस्राव (lactation), चिर-काली वृक्क पात (renal failure) आदि अवस्थाओ मे पाया जाता है। इन रोगियो को द्वितीयक अतिपरावटुता की नही, केवल मूल रोग की चिकित्सा की आवश्यकता होता है।

पीयूप ग्रन्थि (Pituitary Gland)

शरीर-रचना तथा शरीर-क्रिया (anatomy and physiology)

पीयूप या पिट्यूटरी ग्रथि अत स्रावी ग्रथियो मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है तथा अन्य ग्रंथियो को नियत्रित करती है। इस व्यापक नियत्रण के कारण ही इसे "अत स्रावी आर्केस्ट्रा के निर्देशक" की सज्ञा दी जाती है। इसके निम्नलिखित भाग है : अग्र खंड (anterior lobe), पश्च खड (posterior lobe), मध्य खड (intermediale lobe), पार्स ट्यूवरेलिस (Pars Tuberalis)।

अग्र खड (anterior lobe) से निम्नलिखित हारमोन उत्पन्न होते है : वृद्धि हारमोन (growth hormone); (2) जननग्रथिप्रेरक (gonadotrophic) हारमोन—(अ) फालिकल उद्दीपक (follicle stimulating) तथा (व) ल्यूटिनोकारक (luteinizing) हारमोन; (3) अवटुप्रेरक (thyrotrophic) हारमोन; (4) अधिवृक्क-कार्टेक्स प्रेरक (adreno-cortico-trophic) हारमौन; (5) दुग्धजनक (lactogenic) हारमोन।

पिट्यूटरी तथा अन्य अत.स्रावी ग्रथियो के मध्य साम्य होता है तथा उनके हारमोन परस्पर नियत्रक प्रभाव डालते है।

पश्च खड से निम्नलिखित घटक उत्पन्न होते है :

(1) गर्भाशय सकोचक घटक या औक्सीटोसिक फैक्टर (oxytocic factor)—alpha hypophamine

(2) वेसोप्रेसिन (vasopressin)—beta hypophamine ;

(3) मूत्रलतारोधी (antidiuretic) घटक।

पीयूप ग्रंथि के अर्बुद

इनके निम्न प्रकार है।

(1) अग्रखड से उत्पन्न होने वाले अर्वुद (अ) वर्णविरागी (chromophobe) कोगिकाएं—इनका कोशिकाद्रव्य अकणिकीय होता है तथा ये हारमोन का निर्माण नही करती; (आ) वर्णरागी (chromophil) कोगिकाएं—इनका कोगिकाद्रव्य कणिकीय होता है तथा अभिरजी गुणो के अनुसार ये (1) अम्लरागी (acidophil) तथा (2) क्षाररागी (basophil) होती है।

(2) उपकला कोशिका शेपो (cell rests) से उत्पन्न होने वाले अर्वुद—ये कोगिका शेप रथके के कोप्ठ (Rathke's pouch)के अवगिप्ट चिन्ह होते है, जो अग्र खड, मध्य खंड तथा पार्स ट्यूवरेलिस को जन्म देता है।

पिट्यूटरी के पश्च खड के प्राथमिक अर्बुद नही पाये जाते किन्तु इस भाग मे विक्षेपी कार्सिनोमा हो सकता है।

सर्वाधिक पाए जाने वाले अर्बुद कपालग्रसनी अर्बुद (craniopharyngiomas) या अधिपर्याणिका सिस्ट (suprasellar cysts) तथा अग्र खड के ग्रथिअर्बुद है। कपाल-ग्रसनीअर्बुद तथा अभिरजकद्वेषी ग्रथिअर्बुद का आकार वढता है तो समीपवर्ती अवयवो पर दवाव के लक्षण प्रकट होते है। अम्लरागी और क्षाररागी अर्बुद स्थानी दवाव के अतिरिक्त हारमोन के अतिस्राव द्वारा भी प्रभाव डालते है।

आघटन

75 प्रतिशत ग्रथिअर्बुद वर्णविरागी (chromophobe) होते है। इनका आघटन प्राय वयस्को मे होता है, वच्चो और किशोरो मे यह विरल होते है। 10 प्रतिशत रोगी लक्षणरहित होते है। क्षाररागी या हेमरागी (basophilic) ग्रथिअर्बुदो का आघटन विरल होता है।

अधिपर्याणिका पुटी (supresellor cysts) वचपन और किशोरावस्था मे वहुघटित होते है किंतु मद वृद्धि के कारण लक्षण विलम्ब से प्रकट होते है। राथके (Rathke) के कोष्ठ की पुटी विरल होती है।

वैकृत परिवर्तन

अधिकाश ग्रथिअर्बुद सुदम होते है। दुर्दम ग्रथिअर्बुद समग्र पिट्यूटरी अर्बुद के 2 प्रतिशत से कम होते है तथा इनका प्ररूप सदा वर्णविरागी होता है। अपर्याप्त रक्त सभरण के कारण वडे आकार के ग्रथिअर्बुदो मे पुटी व्यपजनन हो सकता है।

पर्याणिका (sella turcica) गुब्बारे के समान फूली होती है तथा अग्र और पश्च स्थाणुक प्रवर्ध (clinoid processes) अपरदित हो जाते है। अक्षि-व्यत्यासिका (optic chiasma) तथा जतूक वायु विवर (sphenoidal air sinus) पर भी दवाव पड सकता है। यदि गह्वर शिरानाल(cavernous sinus), हाइपोथेलेमस और मस्तिष्क के ललाट व शख खडो पर आक्रमण हो तो दुर्दम ग्रथिअर्बुद की उपस्थिति समझनी चाहिये।

पुटीयुक्त कपालग्रसनीअर्बुद पर्याणिका डायाफ्राम (diaphragma sellae) के ऊपर स्थित होने के कारण अधिपर्याणिका पुटी (suprasellar cyst) कहलाते है। इनके अतिरिक्त ठोस कपालग्रसनीअर्बुद भी पाये जा सकते है। विस्फारण

के फलस्वरूप अधिपर्याणिका पुटी अक्षि व्यत्यासिका, हाइपोथेलेमस तथा स्वयं पिट्यूटरी ग्रंथि पर दवाव डालती है। राथ्के के कोष्ठ (Rathke's pouch) की वास्तविक पुटी अत पर्याणिक (intrasellar) होती है। ये अति विरल सिस्ट अग्र एव पश्च खडो के मध्य स्थित होती है तथा पीयूष ग्रंथि पर दवाव डालती हैं।

चित्र 112—पर्याणिका का गुब्बारे के समान फूलना

क्लिनिकल अभिलक्षण

शिरपीडा की तीव्रता विविध होती है। विशिष्ट दृष्टिदोष निम्नलिखित है अधबिंदु (blind spot) का विवर्धन, प्राथमिक दृष्टि-तन्त्रिका शोष (primary optic atrophy), दृष्टि की कीलकरूपी हानि—इसका यथार्थ क्षेत्र दृष्टि तन्त्रिका व्यत्यासिका (optic chiasma) और अर्बुद की परस्पर स्थिति पर निर्भर होता है, किन्तु प्रधानत ऊर्ध्व शख चतुर्थांश (upper temporal quadrants) प्रभावित होते है। गह्वर शिरानाल की दीवार मे स्थित तृतीय

कपाल-तन्त्रिका पर दवाव के कारण द्विदृष्टि (diplopia) प्रकट हो सकती है। पेपिलोडीमा (papillocdema) प्राय नही पाया जाता।

प्रमस्तिष्क-मेरु द्रव मे प्रोटीन का स्तर अधिक हो सकता है।

चित्र 112 मे पर्याणिका (sella turcica) का गुव्वारे के समान फूलना तथा अग्र और पश्च क्लिनाइड प्रवर्धों का अपरदित होना दिखाया गया है।

कपालग्रसनीअर्बुद के मुख्य लक्षण शिरपीड़ा, वमन तथा अक्षिविम्ब शोफ या पेपिलोडीमा (papilloedema) है। दृष्टि तन्त्रिका-व्यत्यासिका (optic chiasma) पर दवाव के कारण दृष्टि-विकार तथा हाइपोथेलेमस पर दवाव के कारण फ्रोलिक सल्लक्षण (Frohlich's syndrome) और उदकमेह (diabetes insipidus) उत्पन्न हो जाते है।

चित्र 113 मे अनियमित कैल्सीभवन दिखाया गया है जो अधिपर्याणिका पुटियो मे अति स्पष्ट है।
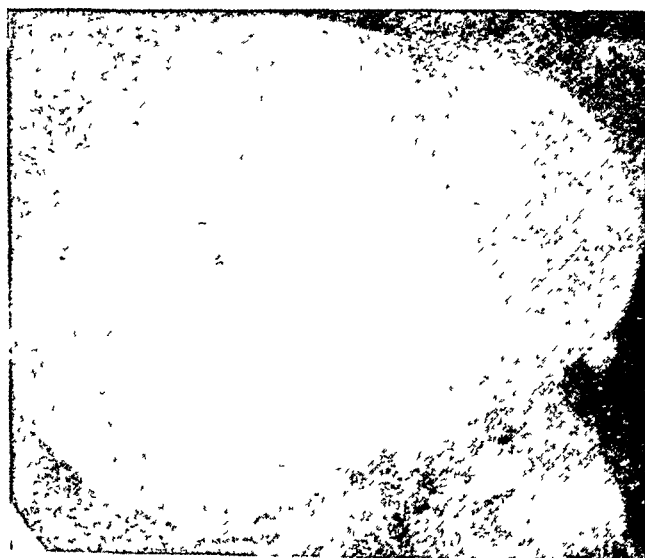
चित्र 113—एक अधिपर्याणिका पुटी का व्यापक कैल्सीभवन

चिकित्सा

चिकित्सा के लिए विकिरण अथवा शस्त्रकर्म द्वारा अपहरण किया जाता है। दोनो साधनो का सयुक्त प्रयोग भी किया जा सकता है।

यदि दृष्टि-विकार उपस्थित न हो तो अर्बुद का विकिरण सतोषप्रद रहता है। पुटियो, पुटीयुक्त अर्बुदो तथा दृष्टिदोष-युक्त विक्षतियो के लिए शस्त्र-चिकित्सा श्रेयस्कर है।

अतिपीयूषता (Hyperpituitarism)

भीमकायता (giagantism)

भीमकायता यौवनारभ से पूर्व उत्पन्न होने वाले अम्लरागी ग्रथिअर्वुद के कारण होती है। इस अवस्था में लम्वी अस्थियों की अत्यधिक वृद्धि होती है। भीमकायता के साथ ही शाखादीर्घता (acromegaly) भी प्रकट होने के कारण शाखाअंगो की लम्वाई धड़ की तुलना मे अनुपात से अधिक पायी जा सकती है। पेशियाँ प्राय. दुर्वल होती हैं किंतु कुछ रोगी वलवान होते है। 7 फुट 6 इच तथा इससे भी अधिक शरीर लम्वाई पाई गयी है।

चिकित्सा शाखादीर्घता के समान ही की जाती है।

शाखादीर्घता (acromegaly)

शाखादीर्घता ऐसे अम्लरागी ग्रथ्यर्वुद (acidophil adenoma) के कारण उत्पन्न होती है जो यौवनारभ के पश्चात् प्रकट होता है जव एपीफाइसिस जुड़ चुकती है। मृदु ऊतक स्थूल हो जाते है तथा हाथो, पैरो और चेहरे की अस्थियाँ विवर्धित हो जाती है। अस्थि परिवर्तन सममित होते है तथा कार्टेक्स स्थूल होता है, अस्थि-रेखाएँ (bony markings) तथा उत्सेध सुस्पष्ट हो जाते है। प्रायः ललाटास्थि, ऊर्ध्वहनु (maxiliad), अधोहनु (manelible), कशेरुक तथा हाथो और पैरो की हड्डियाँ प्रभावित होती है। आनन अस्थियो के के प्रभावित होने के कारण चेहरा सिंहसमान (leonine) हो जाता है। अधोहनु ऊर्ध्वहनु से आगे को वढा होता है, उद्गतहनु (prognathia)। करोटि स्थूल होती है तथा कुब्जता (kyphosis) विद्यमान हो सकती है।

हृदय, स्वरयत्र, जिह्वा, आमाशय और आभ्यन्तराग अतिपुष्ट होते हैं। शिर-वेदना अविरत होती है तथा दुसाध्य हो सकती है, जो अर्वुद अपहरण के पश्चात् भी अत नही होती।

सीरम अकार्वनिक फास्फोरस का स्तर अधिक होता है किंतु कैल्शियम और फास्फेटेज (phosphatase) सामान्य होते है।

चिकित्सा

अर्वुद की सक्रियावस्था मे विकिरण करने से उसकी सक्रियता घटायी जा सकती है। शस्त्र अपहरण तभी करना चाहिए जव दृष्टिविकार विद्यमान हो, अन्यथा विकिरण उपचार श्रेयस्कर होता है।

कुशिग रोग (cushinsg's syndrome)

इसका वर्णन अधिवृक्क ग्रथियो के अतर्गत किया गया है ।

अल्पपीयूपता (Hypopituitarism)

अग्र खड

अल्पपीयूपता अग्र खड के पूर्ण या आशिक विनाश के फलस्वरूप प्रकट होती है जिसके अनेक कारण हो सकते है । प्राय यह एक बहुग्रथिल अल्पक्रिया के रूप मे लक्षित होती है—शारीरिक वृद्धि रुक जाती है तथा अवटु, जननग्रथि और अधिवृक्क कार्टेक्स के हारमोनो की मात्रा अपर्याप्त होती है । अल्पशर्करा-रक्तता (hypoglycaemia) भी पाई जा सकती है ।

अल्पपीयूपता की अभिव्यक्ति वामनता (dwarfism) और शिशुता (infantilism) के रूप मे भी हो सकती है ।

सिमोड रोग (simmond's disease)

पिट्यूटरी या पीयूप ग्रथि का परिगलन प्राय: प्रसूति पूतिता के फलस्वरूप रक्त वाहिकाओ की अतःशल्यता या घनास्त्रता के कारण होता है । ग्रंथिअर्बुद के दवाव तथा राजयक्ष्मा के कारण भी ऐसा हो सकता है ।

रोगी की आकृति कालपूर्व जराजीर्ण व्यक्ति के समान होती है, चेहरे पर झुर्रिया पड जाती है तथा चिरकारी क्षीणता विद्यमान होती है । जघन प्रदेश और वगल के वाल गिर जाते है ।

इस दशा की चिकित्सा अवटु तथा वृषण के हारमोनो द्वारा प्रतिस्थापन उपचार (replacement therapy) है ।

सकट के समय अत शिरा मार्ग द्वारा 50-100 mg एड्रनल कार्टेक्स सार (adrenal cortical extract) तथा 24 घटे की अवधि मे ग्लूकोज और सोडियम क्लोराइड का आधान किया जाता है । अनुरक्षण (maintenance) के लिए प्रतिदिन 1–5 mg डेसआक्सीकार्टिकोस्टीरोन एसिटेट (desoxycorticsterone acetate) प्रदान किया जाता है । अल्पजननग्रथिता (hypogonadism) के नियत्रण की सर्वोत्तम विधि सप्ताह मे तीन वार 500-1000 यूनिट जरायुज गोनेडोट्रोफिन (chorionic gonadotrophin) का प्रयोग है ।

पश्च खंड

फ्रोलिक संलक्षण (frohlich's syndrome)

इस अवस्था मे स्थूलता और जननांगों का अल्पविकसन (hypoplasia) पाया जाता है, अत इसे वसा-जननग्रथि दुष्पोषण (adiposo-genital dystrophy) भी कहते हैं। पुरुषो के शरीर में चर्वी का वितरण स्त्रियों के समान होता है। इस सिंड्रोम मे वामनता और उदकमेह भी पाये जाते हैं।

यह दशा कपालग्रसनी अर्बुद (craniopharyngioma) या ग्रंथिअर्बुद (adenoma) द्वारा दवाव के कारण प्रकट हो सकती है। यदा-कदा करोटि आधार (base of skull) का अभिघात भी इसके लिए उत्तरदायी हो सकता है।

पुरुषो मे टेस्टोस्टेरोन (testosterone) तथा स्त्रियों मे ईस्ट्रोजन (oestrogen) के प्रयोग से लाभ हो सकता है। यदि अर्बुद या पुटी विद्यमान हो तो उसका शस्त्रकर्म द्वारा अपहरण करना चाहिये।

अधिवृक्क ग्रथियाँ (Adrenal Glands)

शरीररचनात्मक स्थिति के कारण एड्रेनल ग्रथियो को अधिवृक्क (Suprarenal) कहा जाता है। इसके दो भाग है, प्रान्तस्था और अन्तस्था। इन दोनो की क्रिया पृथक् होती है तथा पिछली दो दशाब्दियो में इनके हारमोनो की कार्यविधि के सम्बन्ध मे बहुत जानकारी प्राप्त की गयी है।

अधिवृक्क प्रान्तस्था के हारमोन रसायनत स्टेरॉइड (steroid) होते हैं तथा तीन वर्गों में विभाजित किये जा सकते है मिनरेलो-कार्टिकाइड (mineralocorticoids)—ये जल एव लवण का उत्सर्जन नियन्त्रित करते हैं। ग्लूकोकार्टिकाइड (glucocorticoids'—ये कार्वोहाइड्रेट चयापचय से सम्बन्धित होते हैं, एन्ड्रोजन (androgens)—इनके प्रभाव से नाइट्रोजन अवधारण और प्रोटीन चयापचय होता है, अत. ये नाइट्रोजन हारमोन भी कहलाते है।

अधिवृक्क प्रान्तस्था के विकार अतिक्रिया (hypercorticalism) अथवा अल्पक्रिया के रूप मे हो सकते है। अल्पक्रिया किसी कारणवश प्रान्तस्था कोशिकाओ के विनाश के कारण होती है।

अधिवृक्क प्रान्तस्था की अल्पक्रिया

तीव्र अल्पक्रिया (acute hypofunction)

एड्रेनल कार्टेक्स की अल्पक्रिया प्राय रक्तस्राव के कारण तीव्र रूप मे पायी जाती है।

अधिवृक्क रक्तस्राव प्राय द्विपार्श्विक होता है तथा अनेक कारणो से उत्पन्न हो सकता है। इसके फलस्वरूप तीव्र अधिवृक्क अपर्याप्तता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है । मेनिंगोकाकसी सेप्टिसीमिया (meningococcal septicaemia) के कारण उत्पन्न अधिवृक्क रक्तस्राव और तीव्र अपर्याप्तता, वमन, श्यावता (cyanosis) तथा पर्पूरा रैश (purpuric rash) की स्थिति को वाटरहाउस-फ्रिडेरिक्सेन (Waterhouse-Friderichsen) सलक्षण कहते हैं।

5-10 वर्ष की आयु तक द्विपार्श्विक अधिवृक्क रक्तस्राव का कारण पूति-रक्तता (septicaemia), रक्तस्रावी रोग (haemorrhagic disease) तथा अधिवृक्क शिराओं की घनास्रता होती है, यह नवजात शिशु मे भी पाया जा सकता है । वयस्को मे अधिवृक्क रक्तस्राव का सर्वाधिक घटित कारण घनास्रता या थ्राम्बोसिस है। यह प्राय. द्विपार्श्विक होती है तथा सगर्भता और दाह के रोगियो मे और यदा-कदा स्वस्थ व्यक्तियो मे भी पाई जाती है।

चिरकारी अल्पक्रिया (chronic hypofunction)

चिरकारी अपर्याप्तता एडिसन (Addison) के रोग के रूप में प्रकट होती है। इस अवस्था मे पेशी दुर्बलता, अल्प रक्तदाब और वर्णक धब्बे पाये जाते हैं।

यह रोग प्रायः यक्ष्मज होता है कुछ रोगियो मे यह प्रान्तस्था शोष (cortical atrophy) के कारण होता है। उपयुक्त हारमोन उपचार द्वारा जीवन मे 3-6 वर्ष की वृद्धि की जा सकती है।

कार्टेक्स हारमोन अनेक होने के कारण रोगी की आयु तथा लिंग के अनुसार कई सलक्षण उत्पन्न हो सकते हैं। (1) अधिवृक्क एन्ड्रोजनो के आधिक्य के कारण—(अ) गर्भकाल में आधिक्य के फलस्वरूप स्त्री-कूटउभयलिंगता (female pseudohermaphroditism), (आ) यौवनारंभ-पूर्व आधिक्य के फलस्वरूप लड़को और लड़कियो मे कालपूर्वता कूटयौन (pseudosexual precocity), (इ) यौवनारंभ के पश्चात् आधिक्य के फलस्वरूप स्त्रियों मे अधिवृक्क-जननाग सलक्षण (adernogenital syndrome), (2) ग्लूको-कार्टिकाइड के आधिक्य के कारण कुशिग का सलक्षण (Cushing's syndrone), (३) उपरिलिखित सलक्षणो का संयोग, (4) अधिवृक्कज स्त्रीत्व (adrenal feminism)।

अधिवृक्कज-जननांग सिंड्रोम

अतिकार्टेक्सता के कारण यह सलक्षण बच्चो मे कालपूर्व यौन के रूप मे

प्रकट होता है तथा स्त्रियो मे वयस्क पुरुष के समान द्वितीयक लैंगिक लक्षण (secondary sexual characters) प्रकट हो जाते है।

अधिववक्क स्त्रीपुँवता (adrenal virilism) की अल्प कोटि वहुधा पायी जाती है तथा वचपन मे यौवनारम्भोत्तर काल मे तथा यदा-कदा रजोनिवृत्ति के पश्चात् पायी जा सकती है, तथापि सर्वाधिक आघटन द्वितीय एवं तृतीय दशाव्दी मे होता है।

विकृति

इस सिण्ड्रोम मे अधिवृक्क प्रान्तस्था का अर्वुद अथवा अतिविकसन पाया जाता है तथा इस तथ्य से अधिवृक्क एण्ड्रोजनो के अतिस्राव का आभास मिलता है। अर्वुद ऊतकीय दृष्टि से कार्सिनोमा या एडीनोमा (ग्रन्थ्यर्वुद) हो सकता है। कार्सिनोमा वच्चो मे अधिक होते है। ये छोटे, मृदु और पीले रग के होते है तथा इनमे परिगलन क्षेत्र पाये जाते हैं। कुछ रोगियो मे अर्वुद नही, केवल अतिविकसन पाया जाता है।

क्लिनिकल अभिलक्षण

लक्षण द्वितीय वर्ष के पश्चात् कभी भी आरम्भ हो सकते है।

लड़कियो मे चेहरे, वगल, अग्रवाहु, जघन प्रदेश और टाँगो मे वालो की वृद्धि होने लगती है, जघन प्रदेश (pubic) के वाल पुरुष की भाँति नाभि की ओर वढ़ सकते है। वाह्य जननागो, विशेषत. भगशिश्निका या क्लाइटोरिस का आकार अधिक, ध्वनि गम्भीर और शरीर की आकृति पुरुष के समान हो जाती है।

लड़को मे चेहरे और जघन प्रदेश मे अत्यधिक रोम-वृद्धि होती है, शिश्न और वृषणकोश का आकार वढ जाता है और वे कुछ सीमा तक यौन-क्रिया योग्य हो सकते हैं। वृषण प्रसामान्य रहते है। अत्यधिक पेशी विकास के कारण ये वच्चे 'शिशु भीम' (infant Hercules) के समान प्रतीत होते है।

वसा-जननाग सिण्ड्रोम से ग्रस्त लड़के-लडकियाँ प्राय स्थूलकाय होते है। अतिशर्करारक्तता के कारण उनमे अतिरक्तदाव और शर्करामेह भी पाया जा सकता है।

यौवनारम्भ के पश्चात् स्त्रियो मे पुरुष लक्षणो की वृद्धि और स्त्री लक्षणो का दमन होने लगता है। चिवुक और ऊर्ध्व ओष्ठ पर रोमवृद्धि तथा स्तनो

मे शोप प्रकट हो जाता है। पुरुप-समान शारीरिक आकृति तथा तदनुरूप मानसिक परिवर्तन भी प्रकट हो जाते हैं। 17 कीटोस्टीरायड (17 keto-steroids) का उत्सर्जन अधिक होता है। यह अवस्था दढियल स्त्रियो का मधुमेह (diabetes of bearded women) अथवा एकार्डथीर्स सलक्षण (achard-thiers syndrome) भी कहलाती है।

निदान

क्लिनिकल अभिलक्षण, अर्बुद के परिस्पर्शन तथा 17 कीटोस्टीरायडो के अधिक उत्सर्जन द्वारा निदान मे सहायता मिलती है। एक्सरेचित्रण, वायु अथवा आक्सीजन द्वारा परिवृक्क विस्फारण (perirenal insufflation) तथा शल्य अन्वेपण (surgical exploration) की आवश्यकता पड सकती है।

चिकित्सा

यदि अर्बुद विद्यमान हो तो उसके अपहरण द्वारा रोगी को अद्भुत लाभ होता है, किन्तु यदि केवल अतिविकसन हो तो इतना लाभप्रद नही होता। मानसिक उद्विग्नता की शान्ति के लिए अतिरोमता (hirsutism) के उपचारार्थ प्रशामक साधन प्रयुक्त किये जा सकते हैं, यथा इलेक्ट्रोलिसिस और विकिरण चिकित्सा।

कुशिंग का सिण्ड्रोम (cushing's syndrome)

यह एक विरल रोग है जो पिट्यूटरी के क्षाररागी ग्रन्थ्यर्बुद (बेसोफिल एडिनोमा) के कारण होता है। इसकी अभिव्यक्तियाँ अधिवृक्क ग्रन्थि की अतिकार्टेक्सता (hypercorticalism) के कारण होती हैं। ये निम्नलिखित हैं स्थूलकायता, अतिरक्तदाब, अनार्तव (amenorrhoea), अतिरोमता (hirsutism) तथा अस्थिशोप (osteoporosis)।

कुशिंग सलक्षण प्राय. स्त्रियो मे तीसरी और चौथी दशाब्दी मे पाया जाता है। अन्य लक्षणो के अतिरिक्त कतिपय मानसिक विक्षोभ भी हो सकते हैं, उदाहरणतः अवसाद और आत्महत्या की प्रवृत्ति।

इस अवस्था मे कार्टिकोस्टीरायडो का मूत्र उत्सर्जन अधिक होता है।

चिकित्सा

यदि अधिवृक्क अर्बुद विद्यमान हो तो अधिवृक्क-उच्छेद द्वारा सन्तोषप्रद

परिणाम प्राप्त होता है। अर्बद की अनुपस्थिति मे चिकित्सा की यह विधि फल-प्रद नही होती। ऐसे रोगियो मे पीयूषग्रन्थि का किरणन किया जा सकता है किन्तु इसका परिणाम भी अनिश्चित ही होता हैं।

अधिवृक्क स्त्रीत्व (adernal feminism)

यह दशा पुरुषो मे 15 से 45 वर्ष के मध्य पायी जाती है। इस अवस्था मे निम्नलिखित लक्षण विद्यमान होते है: पुस्तनवृद्धि (gynaecomastia), चर्बी और बालो का स्त्रीरूपी वितरण, वृषण शोष, कामेच्छा की लुप्ति। कुछ रोगी नपुसक भी हो सकते है। कटि प्रदेश मे अर्बुद की उपस्थिति और उदर मे कष्ट एवं पीडा की अनुभूति भी हो सकती है। अधिवृक्क का अर्बुद प्राय दुर्दम होता है और 1–2 वर्ष मे विक्षेपन द्वारा प्राणान्त कर देता है।

अर्बुद का अपहरण और विकिरण-उपचार चिकित्सा के साधन है।

अधिवृक्क उच्छेदन के अन्य संकेत

द्विपार्श्विक अधिवृक्क उच्छेदन का प्रयोग स्तन के अनुच्छेद्य कार्सिनोमा तथा प्रोस्टेट के अस्थिविक्षेपणयुक्त कार्सिनोमा की चिकित्सा के लिए किया जाता रहा है। स्तन कार्सिनोमा की चिकित्सा मे द्विपार्श्विक अण्डाशय उच्छेदन के साथ ही अधिवृक्क उच्छेदन का प्रयोग-भी किया गया है। इस प्रकार पीडा भी घट जाती है और अस्थि विक्षेपो मे कैल्सीभवन की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। शस्त्रकर्म के पूर्व तथा पश्चात् प्रतिस्थापनात्मक हारमोन चिकित्सा आवश्यक होती है।

अधिवृक्क अन्तस्था के अर्बुद

अधिवृक्क अन्तस्था के अर्वुद दो प्रकार के होते हैं: (1) विविध विभेदन कोटि की अनुकम्पी तंत्रिका कोशिकाओ से उत्पन्न होने वाले, (2) वर्णकरागी या क्रोमेफिन कोशिकाओ से उत्पन्न होने वाले–क्रोमेफिनोमा (chromaffinoma) या फियोक्रोमोसाइटोमा (pheochromocytoma)।

अनुकम्पी तन्त्रिका कोशिकाओ से व्युत्पन्न अर्बुद

ये निम्नलिखित है

सिम्पेथोगोनियोमा (sympathogonioma)—ये अर्वुद अविभेदित, अति दुर्दम और विशालाकार होते हैं। इनमें रक्तस्राव, परिगलन और शीघ्र विक्षेप

पाया जाता है।

न्यूरोब्लास्टोमा (neuroblastomas)—ये अर्बुद अपरिपक्व कोशिकाओं से उत्पन्न होते हैं तथा दो प्रकार के होते हैं (1) कालीमिर्च प्ररूप (pepper type)—यह जीवन के प्रथम या द्वितीय वर्ष में कटि प्रदेश में एक विशाल अर्बुद के रूप में प्रकट होता है तथा यकृत, फुफ्फुस और उदरीय लसीकापर्वों में विक्षेपित होता है। (2) हचिंसन प्ररूप (Hutchinson type)—यह 5–8 वर्ष की आयु के मध्य पाया जाता है तथा कपाल एवं नेत्र कोटर में विक्षेपन के कारण नेत्र का अग्रसरण या प्रोप्टोसिस (proptosis) उत्पन्न करता है। अन्य अस्थियों में भी इसके विक्षेप पाये जाते हैं।

गैंग्लियोन्यूरोमा (ganglioneuroma)—ये सुदम होते हैं तथा सुविभेदित गैंग्लियन कोशिकाओं से उत्पन्न होते हैं।

विक्षेपों की उपस्थिति के कारण सिम्पैथोगोनिगोमा और न्यूरोब्लास्टोमा (तन्त्रिकाप्रसूअर्बुद) का सन्तोषपूर्ण शस्त्र अपहरण सम्भव नहीं होता।

फियोक्रोमोसाइटोमा (pheochromocytoma)

ये क्रोमेफिन कोशिकाओं से उत्पन्न होते हैं। तथा एड्रेनेलीन और नोर-एड्रेनेलीन (noradrenaline) के स्रवण द्वारा सतत अथवा प्रवेगी अतिरिक्त-दाब का कारण होते हैं। इनका आकार विविध होता है तथा उपस्थिति एक या दोनों ओर हो सकती है। प्रकोप के समय रक्त में एड्रेनेलीन-समान रक्तदाब-वर्धी पदार्थ पाये जाते हैं।

अधिकांश रोगियों में निम्नलिखित लक्षण पाये जाते हैं : प्रवेगी या अविरत अतिरक्तदाब, पीलापन (pallor), अतिशर्करारक्तता (हाइपरग्लाइसीमिया), शर्करामेह (ग्लाइकोसूरिया), हृद्क्षिप्रता तथा श्वासकृच्छ (dyspnoea) के आक्रमण। कुछ रोगी अलाक्षणिक होते हैं तथा शव-परीक्षा के समय ही प्रकाश में आते हैं।

निदान की पुष्टि हिस्टेमीन परीक्षण (histamine test) तथा टेट्राएथिल-अमोनियम ब्रोमाइड (TEAB) परीक्षण द्वारा की जाती है। एक्सरे-चित्रण द्वारा स्थिति निश्चित करने के पश्चात् इसका अपहरण करने से प्रायः सन्तोष-जनक परिणाम होता है।

17

अस्थियां और संधियां

बी० मुखोपाध्याय

अस्थि के पूयजन संक्रमण
(Pyogenic infections of bone)

अस्थि ऊतक मे सूक्ष्मजीवों के आक्रमण तथा परिवृद्धि के फलस्वरूप अस्थि-मज्जाशोथ (osteomyelitis) अथवा अस्थि के सभी तत्त्वो का शोथ उत्पन्न होता है। अस्थि तक सक्रमण की पहुच रक्त-प्रवाह द्वारा, विवृत घाव द्वारा (उदाहरणत: विवृत अस्थिभग) अथवा प्रत्यक्ष प्रसार द्वारा (उदाहरणत. दत उलूखल से अधोहनु तक) हो सकती है।

सक्रमण की विधि, कारक जीवो की उग्रता और परपोषी के प्रतिरोध के अनुसार रोग का स्वरूप तीव्र, अनुतीव्र अथवा चिरकारी हो सकता है। तीव्र अस्थिमज्जाशोथ प्राय: तीव्र से चिरकारी रूप मे परिणत हो जाता है।

तीव्र रक्तजन्य अस्थिमज्जशोथ (acute haematogenous osteomyelitis)

रक्त द्वारा प्रसार के फलस्वरूप होने वाला तीव्र अस्थिमज्जाशोथ प्राय. 10 वर्ष तक की आयु के बच्चो मे पाया जाता है, कम-से-कम 10 प्रतिशत रोगियों मे यह लम्बी अस्थियो की वृद्धि रुकने से पूर्व होता है। प्रभावित बच्चे प्राय. अल्पपोषित बालक होते है। सक्रमण व्यापक जीवाणुरक्तता, पूतिरक्तता अथवा पूयरक्तता के कारण प्रकट होता है। सर्वाधिक उत्तरदायी जीव स्टेफाइलोकाकस आरियस(staplylococcus aureus)है, कुछ अवसरो पर स्ट्रेप्टोकाकस, कभी-

अवसादयुक्त हो जाता है तथा यदा-कदा स्थानीय चिह्न प्रकट होने से पूर्व ही मृत्युग्रस्त हो जाता है। रोगी प्राय एक स्पष्टत बीमार बच्चे के रूप मे प्रस्तुत होता है जिसका चेहरा लाल, जिह्वा मैली और नाड़ी तेज होती है : 103-104° F तक ज्वर तथा जूडी (rigors) भी पाई जा सकती है।

स्थानीय चिह्न हड्डी की गहराई तथा उसे आच्छादित करने वाले मृदु ऊतक की मात्रा पर निर्भर होते है। ध्यानपूर्वक परिस्पर्शन करने पर अस्थि के छोर पर एक दाववेदनाशील क्षेत्र पाया जाता है जो आरभ मे एपिफिसिस डिस्क के समीपवर्ती क्षेत्र तक सीमित होता है। टिबिया या प्रजधिका आदि अवस्त्वचा अस्थियो मे आरभिक अवस्था मे दाववेदना के अतिरिक्त लालिमा और सूजन भी विद्यमान होती है। फीमर या प्रगंडिका के ऊर्ध्व छोर तथा इलियम आदि गभीरस्थ अस्थियो के प्रभावित होने पर जानुसंधि मे अन्यत्रानुभूत पीडा (referred pain) का अनुभव हो सकता है। शाखाअग की गति भी पीडामय होती है तथा उसे थपकने पर विकारयुक्त क्षेत्र मे वेदना की अनुभूति होती है। उपयुक्त चिकित्सा न करने पर कुछ दिनो मे पूय-निर्माण के स्थानीय चिह्न प्रकट हो जाते है। समीपस्थ सधि मे नि सरण या एफ्यूजन (effusion) भी उत्पन्न हो सकता है जो अनुकम्पी (sympathetic) और जीवाणुरहित (स्टेराइल) अथवा सक्रमण-प्रसारजन्य और पूयमय हो सकता है। अन्य अस्थियो, सधियों, प्लूरा, फुफ्फुस तथा मस्तिष्क आदि मे विक्षेपनजन्य विक्षतिया भी उत्पन्न हो सकती हैं।

आरभिक अवस्था मे विकिरणीचित्रण (radiography) द्वारा निदान मे कोई सहायता नही मिलती क्योकि हड्डियो मे तत्सबधी परिवर्तन केवल 2-3 सप्ताह पश्चात् ही प्रकट होते हैं (चित्र 115)। रक्तपरीक्षण पर प्रायः सभी रोगियो मे मद्धिम अथवा प्रवल बहुरूपकेन्द्रक श्वेतकोशिकावाहुल्य तथा अधिक लोहितकोशिका अवसादन दर (E S R) पायी जाती है। रोग के प्रथम कुछ दिनो मे 75 प्रतिशत रोगियो का रक्तकल्चर (blood culture) धनात्मक होता है।

भेददर्शी निदान (differential diagnosis)

पूतिरक्ततायुक्त अवस्थाएं—तीव्र अस्थिमज्जाशोथ का उन अवस्थाओ से निदान करना आवश्यक है जो पूतिरक्तता या सेप्टिसीमिया उत्पन्न करती है। इन अवस्थाओ मे टाइफायड मुख्य है तथा उष्ण कटिबंधीय देशो मे इसकी सम्भावना अधिक होती है। अस्थिमज्जाशोथ मे अस्थिछोर पर पायी जाने वाली पीडा और दाववेदना तथा रक्त मे श्वेतकोशिकावाहुल्य इस सबध मे

महत्त्वपूर्ण है।

ऊतिशोथ (सेलुलाइटिस)—शिशुओं तथा छोटे बच्चों मे तीव्र रक्तजन्य ओस्टियोमायलाइटिस तथा सेलुलाइटिस का विभेदन कठिन हो सकता है किन्तु इससे विशेष अन्तर नही पडता क्योंकि दोनों दशाओ की चिकित्सा समान होती है।

मोच या स्प्रेन—इस अवस्था मे भी अभिघात का इतिवृत्त विद्यमान होने के कारण अनुभवहीन व्यक्ति भ्रम मे पड़ सकता है। स्मरणीय है कि मोच की अवस्था मे चोट लगने के लगभग तुरन्त पश्चात् पीड़ा आरम्भ हो जाती है तथा ज्वर आदि दैहिक लक्षण अनुपस्थित होते हैं।

अध:परिअस्थि रक्तसंग्रह से युक्त स्कर्वी—यह अवस्था काफी हद तक अस्थिमज्जाशोथ की नकल कर सकती है। इस अवस्था मे भी बच्चा रोगपीडित प्रतीत होता है तथा लक्षण सहसा प्रकट हो सकते है। किन्तु इस अवस्था मे ज्वर प्राय. अनुपस्थित होता है, श्वेतकोशिकाबाहुल्य नही होता तथा अनेक स्थानो पर रक्तस्राव के चिह्न पाये जा सकते है।

तीव्र सपूय संधिशोथ (acute suppurative arthritis)—इस अवस्था मे चिह्न एव लक्षण प्राय. सधि से ही सबधित होते है। सधि के चूषण एस्पिरेशन) द्वारा निदान की पुष्टि की जा सकती हैं।

तीव्र सिफिलिसी एपिफिसिसशोथ—बच्चो मे इस दशा को अस्थिमज्जाशोथ से विभेदित करने मे इन तथ्यो से सहायता मिलती है कि विक्षतियां एकाधिक होती हैं तथा जन्मजात सिफिलिस के अन्य चिह्न विद्यमान होते हैं।

तीव्र अग्र पोलियोमाईलाइटिस—इस अवस्था मे प्रबल दैहिक लक्षण तथा एक शाखाअग मे पीडा और आकर्षण (स्पाज्म) विद्यमान हो सकते है, अत अस्थिमज्जाशोथ का भ्रम हो सकता है। किंतु ग्रीवा दुर्नम्यता (neck rigidity) की उपस्थिति विभेदन मे सहायक होती है। कुछ रोगियों मे पोलियोमायलाइटिस (poliomyelitis) के निदान की पुष्टि के लिए प्रमस्तिष्कमेरु द्रव (C S F) का परीक्षण आवश्यक हो सकता है।

उपद्रव

व्यापक—इनमे जीवविपरक्तता (टाक्सीमिया), पूतिरक्तता (सेप्टिसीमिया) पूयरक्तता (पायीमिया) तथा दूरस्थ विक्षेपन मुख्य है।

स्थानीय -इनके उदाहरण निम्नलिखित है. चिरकारी अस्थिमज्जाशोथ और विद्रधि, साइनस या विविक्ति (sequestrum) का निर्माण, सलग्न सधि का प्रभावित होना, स्वत. विभग (चित्र 116), वृद्धि प्लेट (growth plate) को

क्षति पहुचने के कारण विरूपता, ब्रोडी विद्रधि (Brodie's abscess) ;
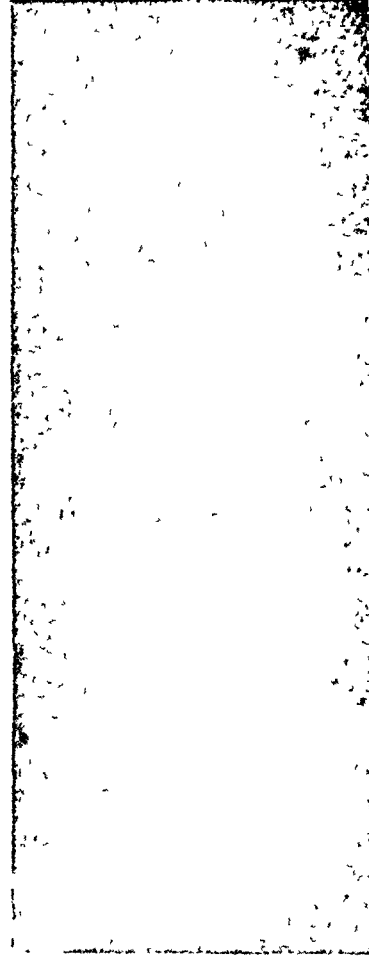
चित्र—116

चित्र 115—अस्थिमज्जाशोथ (सपूय) मे तीव्र अवस्था के तीन म ताह पश्चात् व्यापक अस्थिपरिवर्तन

चित्र 116—तीव्र पूयजन अस्थिमज्जाशोथ के फलस्वरूप ऊर्विका प्रकाड का वैकृत विभंग (पार्श्व एक्सरेचित्र)

चित्र 115

चिकित्सा

स्फूर्जक रोगियो को छोडकर अन्य प्रकार के तीव्र अस्थिमज्जाशोथ की चिकित्सा मे प्रतिजीवियो के प्रयोग ने लगभग क्रान्ति-सी ला दी है। इन औषधो की पर्याप्त मात्रा के प्रयोग द्वारा पूतिरक्तता को भली प्रकार नियत्रित किया जा सकता है। आजकल स्टेफिलोकाकस के औषधप्रतिरोधक विभेदो (drug resistant strains) की व्युत्पत्ति के कारण सक्रमण का जीवाणुविज्ञानात्मक अध्ययन तथा औषधसवेदनशीलता का निर्धारण आवश्यक हो गया है। जब तक इन परीक्षणो का परिणाम उपलब्ध हो, एक विस्तृत स्पेक्ट्रम (broad spectrum) एन्टिवायोटिक द्वारा चिकित्सा आरम्भ कर देनी चाहिए क्योकि रोग के प्रथम कुछ दिन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते है। प्रतिजीवियो के प्रयोग द्वारा मृत्युदर 25 प्रतिशत से घट कर 1 प्रतिशत रह गयी है। रोग की आरभावस्था मे उपयुक्त प्रतिजीवी की पर्याप्त मात्रा का प्रयोग स्थानीय सक्रमण को पूर्णत वियोजित कर सकता है, किन्तु अत्यधिक पूयनिर्माण अथवा रक्तसभरण मे वाधा के फलस्वरूप व्यापक अस्थिपरिगलन की स्थिति मे ऐसा सभव नही होता।

उपयुक्त स्प्लिट अथवा द्विकपाटिका प्लास्टर (bivalved plaster) द्वारा अग को स्थानीय विश्राम प्रदान करना आवश्यक होता है। समय-समय पर यह जाचने के लिए अग का निरीक्षण करना चाहिए कि संक्रमण अवतलित हो रहा है अथवा नही। यदि स्थानीय एव दैहिक लक्षण शीघ्र लुप्त होने लगे तो सरक्षी अथवा कजर्वेटिव चिकित्सा ही पर्याप्त होती है, जब तक समस्त स्थानीय चिन्हों का लोप और प्रसामान्य रक्त अवसादनदर की पुनःप्राप्ति न हो जाय, विश्राम और प्रतिजीवियो का प्रयोग जारी रखना चाहिए।

यदि चिकित्सा की सतोपप्रद अनुक्रिया न हो तो आपरेशन आवश्यक हो सकता है। प्रतिजीवी पूतिरक्तता के नियन्त्रण मे असफल रहे अथवा अवपर्यस्थि या मृदु ऊतक मे विद्रधि वन जाय तो शीघ्र ही पूय का पूर्णत. निष्कासन करना चाहिये। आपरेशनक्षत को विना किसी भय के वद किया जा सकता है, अत. त्वचा से द्वितीयक सदूपण होने की सभावना नही रहती। यदि मज्जा या मेडुला मे पूय विद्यमान होने की आशका हो तो उपयुक्त स्थानो पर ड्रिल छिद्र (drill holes) वना कर उसका निकास कर देना चाहिए।

चिकित्सा आरभ करने मे अनेक दिन अथवा कुछ सप्ताह का विलव होने से अस्थि का व्यापक विनाश, विविक्ति या सीक्वेस्ट्रम का निर्माण तथा नवीन अवपर्यस्थि अस्थि वनने लगती है, ये सव परिवर्तन एक्सरेचित्र मे दीखते है।

इस अवस्था मे प्रतिजीवियो के प्रयोग द्वारा पूतिरक्तता तो शीघ्र जाती रहती है किंतु संक्रमण पूर्णत: नियंत्रित नही हो पाता तथा चिरकारी अस्थिमज्जाशोथ (chronic osteomyelitis) की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

चिरकारी अस्थिमज्जाशोथ

यह दशा तीव्र रक्तजन्य अस्थिमज्जाशोथ की अपेक्षा, विवृत अस्थिभंग (compound fracture) के संक्रमण अथवा आरंभत अनुतीव्र रक्तसंक्रमण के फलस्वरूप उत्पन्न हो सकती है। विकृति मूलत दृढभित्तिनिर्मित तथा संक्रमणयुक्त गुहिकाओ के रूप मे होती है। इन गुहिकाओ के चारो ओर काठिन्यकृत अस्थि (sclerosed bone) विद्यमान होती है तथा इनमे विविक्तिका (sequestra) पायी जा सकती हैं। यह संक्रमण तीन रूप ग्रहण कर सकता है (पर्किन्स) पुनरावर्ती आक्रमण (recurrent flareup or attacks) किंतु साइनस की अनुपस्थिति, दीर्घस्थायी साइनस (persistent sinus); बिना पुनरावृत्ति के दीर्घस्थायी साइनस तथा संक्रमण की उग्रता की पुनरावृत्ति।

चिकित्सा

चिकित्सा की विधि स्थानीय चिन्हो पर निर्भर करती है। चिरकारी प्ररूप मे प्रतिजीवियो द्वारा तीव्र अस्थिमज्जाशोथ की भाति नाटकीय लाभ नही होता। इन रोगियो मे औषधप्रतिरोध (drug resistance) अधिक पाया जाता है तथा द्वितीयक संदूषको (secondary contaminants) के कारण नियंत्रण कठिन होता है। चिकित्सा के सिद्धान्त मोटे तौर पर निम्नलिखित है।

(1) पोषक आहार, विटामिनो, रक्तवर्धको (haematinics) तथा आवश्यकतानुसार रक्ताधान आदि उपायो द्वारा रोगी के सामान्य स्वास्थ्य मे सुधार।

(2) सुग्राहिता (sensitivity)-परीक्षणो के अनुसार उपयुक्त प्रतिजीवी का प्रयोग।

(3) विलग हो गयी विविक्तियो का अपहरण।

(4) पूय के निकासार्थ अस्थिविद्रधियो को इस प्रकार विवृत करना कि केवल छिछली गुहिकाएँ शेष रहे तथा उनका परिसर प्रलंबी (overhanging margin) न हो।

(5) यदि अस्थि व्यापक रूप से संक्रमित हो किंतु विद्रधि या विविक्ति न बनी हो तो चौडा छेदन, जिससे चौडी नाली-सी बन जाय (saucerization) लाभप्रद हो सकता है। इस विधि मे अस्थि के ग्रस्त भाग को इस प्रकार काटा जाता है

कि चपटा तल शेष रहे, शल्यक्षेत्र को पर्याप्त त्वचा द्वारा ढक दिया जाता है।

प्रतिजीवियों के प्रयोग से उपरिलिखित शस्त्रकर्म अपेक्षाकृत निरापद हो गए है तथा सफलता की सभावना बढ़ गयी है। किन्तु कुछ रोगियो मे चिरकारी अस्थिमज्जाशोथ चिकित्सा के प्रति पर्याप्त प्रतिरोधशील सिद्ध हो सकता है।

उपद्रव

दीर्घकालीन साइनस से युक्त चिरकारी अस्थिमज्जाशोथ के फलस्वरूप निम्नलिखित दशाये प्रकट हो सकती हैं

(1) मार्जोलिन का व्रण (Marjolin's ulcer)—यह स्कार ऊतक मे चिरकारी व्रण होता है जिसमे अततः दुर्दमता (शल्की कोशिकाकार्सिनोमा) उत्पन्न हो जाती है तथा अस्थि-अंतःसचरण होने लगता है।

(2) एमाइलायड रोग (amyloid disease)।

यक्ष्मज अस्थिरोग

अस्थि-तपेदिक बच्चो के सर्वाधिक गम्भीर तथा अपगकारी रोगो मे से एक है तथापि यह किसी भी आयु मे हो सकता है। सक्रमण का रूप प्राय द्वितीयक होता है किंतु विरल अवसरो पर प्रत्यक्ष आरोपण भी हो सकता है। प्राथमिक फोकस फुप्फुस अथवा लसीका पर्वों में पाया जाता है। यहा से जीवाणु रक्त मे पहुच कर अस्थियो मे किसी सामान्य अभिघात लगे स्थल पर प्रस्थापित हो जाते है। भारत मे प्राय. यक्ष्मा के मानव प्ररूपी (human type) दंडाणु सक्रमण के लिए उत्तरदायी होते है। रोग समाज के निर्धन वर्गों मे अधिक पाया जाता है क्योकि ये व्यक्ति अस्वच्छ वातावरण मे रहते है, कुपोषित होते हैं तथा सक्रिय फुप्फुस यक्ष्मा के रोगियो के संपर्क मे आते रहते हैं। अस्थियों मे सबसे अधिक कशेरुकाए ग्रस्त होती हैं, करोटि, हाथ-पैरो की लघु अस्थियां, पर्शुकाए तथा अन्य अस्थियां भी ग्रस्त हो सकती हैं।

विकृति

अस्थि से स्थानीय विक्षति एक प्ररूपी यक्ष्मी फालिकल के रूप मे प्रकट होती है जिसका विस्तार सलग्न क्षेत्र मे होता है। विक्षति आरभ से ही सवहनता-रहित होती है। इसकी निम्नलिखित अवस्थाएं होती है : आक्रमण की अवस्था (stage of invasion), निरन्तर क्रियात्मकता की अवस्था (stage of sustained activity), जिसमे पूयनिर्माण हो सकता है; तथा मद प्रतिक्रमण

(slow regression), की अवस्था जो अततः विरोपण (repair), द्वारा समाप्त होती है। अचिकित्सित रोगी में ये सब अवस्थाएं 1-3 की अवधि में पूरी होती है।

एक्सरे चित्रण के आधार पर रोग के चार रूप हो सकते हैं : पुटीमत (encysted), अन्तःसंचरणशील (infiltrating), शोषी (atrophic) तथा अतिवृद्धिक (hypertrophic), सापेक्षिक निदान के समय ये सारे भिन्न प्रकार की समस्याएं प्रस्तुत करते हैं।

अतिवृद्धिक रूप के अतिरिक्त अन्य तीनों प्ररूपों में अस्थि शोषित (atrophied, rarefied), विनष्ट और द्रवीभूत हो जाती है तथा फलस्वरूप एक शीतल विद्रधि प्रकट होती है जिसमें ऊतक तलों (tissue planes) की ओर अग्रसर होने की प्रवृत्ति होती है।

नैदानिक अभिलक्षण

रोग का आरंभ अस्पष्ट रूप में होता है। स्फीति प्रकट होने से पूर्व प्रायः मंद, स्थानीय या अन्यत्रानुभूत पीड़ा अनुभव होती है जो अंग की क्रिया में बाधा डालती है। पेशी-क्षय (muscle wasting) शीघ्र ही प्रकट होता है। कालांतर में एक शीतल विद्रधि विकसित हो सकती है ; उसके फटने पर एक साइनस शेष रहता है। जिसमें प्रायः सदा द्वितीयक संक्रमण प्रस्थापित हो जाता है। एक्सरे-चित्र में दीखने योग्य परिवर्तन नैदानिक लक्षणों के पश्चात् प्रकट होते हैं। साधारणतया एक्सरे-चित्र में एक विरलीभूत क्षेत्र दृष्टिगोचर होता है जिसमें नव अस्थि का निर्माण नहीं के समान होता है। अस्थि का प्रत्यक्ष विनाश तथा गुहिकाओं और लघु विविक्तियों का निर्माण भी प्राय देखा जाता है (चित्र 117)।

निदान

रोग का आरम्भ अस्पष्ट होता है, स्थानीय व दैहिक चिह्न अतिमन्द होते हैं तथा एक्सरे-चित्र ऋणात्मक होता है। इस कारण रोग का निदान सहज ही चूक सकता है। अतः आवश्यक है कि यदि निम्नतम चिह्न भी उपस्थित रहें तो रोग की सम्भावना पर विचार किया जाये। प्राय उच्च रक्त अवसादन दर निदान में सहायक होती है। पुष्टि के लिए एक प्रादेशिक लसीकापर्व की जीवोतिपरीक्षा करके प्राप्त द्रव्य का कल्चर (culture), गिनीपिग

निवेशन (guinea pig inocculation) और ऊतकीय अध्ययन करना चाहिए।
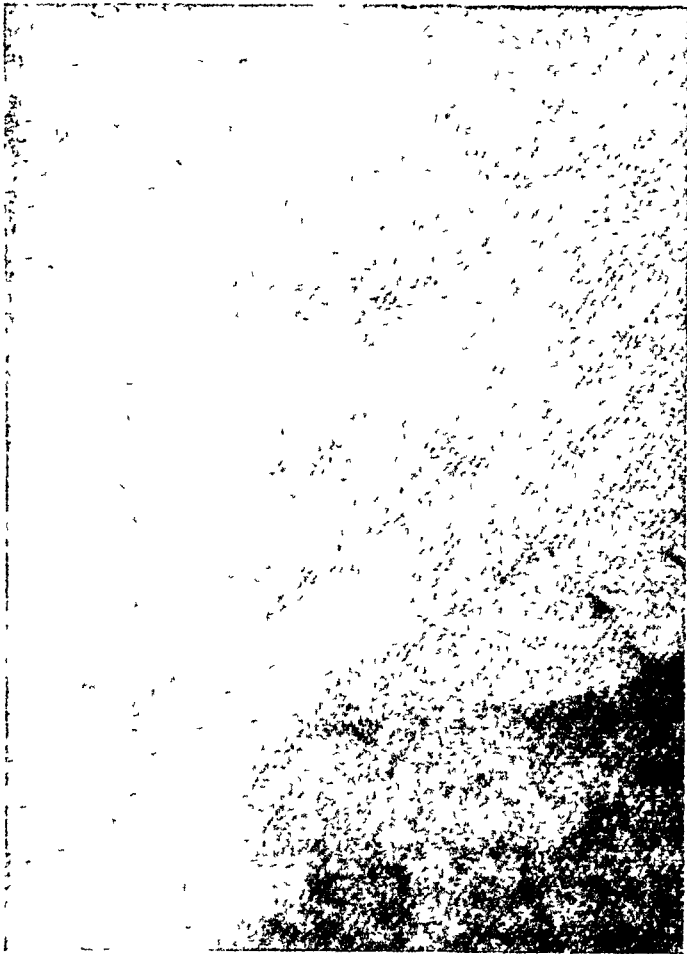
चित्र 117. मेरु के यक्ष्मा रोग में विविक्ति प्रदर्शित करता हुआ एक्सरे-चित्र

चिकित्सा

स्थानीय तथा दैहिक, दोनों प्रकार की चिकित्सा आवश्यक होती है। रोगी को सेनेटोरियम दिनचर्या तथा प्रतियक्ष्मा औषधे देनी चाहिएँ—स्ट्रेप्टोमाइसिन और आइसोनिअजिड (isoniazid) का संयुक्त प्रयोग सर्वाधिक प्रभावकारी रहता है। स्थानीय चिकित्सा के लिए प्रभावित अंग को ऐसे

उपकरण मे विश्राम प्रदान किया जाता है कि समय-समय पर रोगग्रस्त क्षेत्र का निरीक्षण किया जा सके। स्थानीय तथा दैहिक लक्षणो एव चिह्नो के शीघ्र ह्रास से सकेत मिलता है कि रोगी की दशा सुधर रही है।

यदि पर्याप्त समय बीतने पर भी रोगी को सतोषप्रद लाभ न हो अथवा यदि रोगी चिकित्सा के लिए विलम्ब से आए और उपद्रव उत्पन्न हो चुके हो, तो आपरेशन करना आवश्यक होता है। स्मरणीय है कि आपरेशन चिकित्सा का केवल एक अग है, शस्त्रकर्मपूर्व तथा पश्चात् की अवस्थाओ मे अन्य उपचार एव औपधो का प्रयोग आवश्यक होता है।

शल्यचिकित्सा का उद्देश्य विद्रधि की भीति तथा अतर्द्रव्यनिहित समस्त यक्ष्माग्रस्त ऊतको का अपहरण होता है। प्रतिजीवी-पूर्वकाल की तुलना मे आजकल प्रतियक्ष्मा-औपधो की उपलब्धि के कारण सक्रिय यक्ष्माग्रस्त ऊतक मे आपरेशन करके का भय बहुत कम हो गया है।

मेरु-यक्ष्मा (Spinal tuberculosis)

कशेरुक-यक्ष्मा इस रोग का गम्भीरतम रूप है तथा अस्थियक्ष्मा के 40–60 प्रतिशत आघटन के लिए उत्तरदायी होता है। यह लडकियो की अपेक्षा लडको को अधिक होता है। सर्वाधिक आघटन जीवन की प्रथम तथा तृतीय दशाब्दियो मे होता है।

विकृति

अधिकाश व्यक्तियो मे रोग मेरुदड के वक्षीय तथा वक्ष-कटि (thoraco-lumber) भागो मे आरभ होता है, किन्तु कोई भी भाग इसकी सभावना से मुक्त नही है। बडे बच्चो तथा वयस्को मे रोग का फोकस कशेरुक काय के अग्र भाग मे आरभ होता है तथा तत्पश्चात् अतराकशेरुक चक्रिकाओ तक फैल जाता है। छोटे बच्चो मे फोकस एपिफिसिस प्लेट (epiphyseal plate) के सान्निध्य मे आरभ होता है तथा शीघ्र ही सलग्न चक्रिका को ग्रस्त कर लेता है। विरलत फलक (laminae), सधि-प्रवर्धो (articular processes) अथवा कशेरुककाय के पश्च भाग मे भी रोग का प्रारभ हो सकता है।

रोग के सामान्य प्ररूप मे अनेक कशेरुककायसक्रमण के विस्तार द्वारा ग्रस्त हो जाते है। अग्र सर्वनिष्ठ स्नायु (एटीरियर कामन लिगामेण्ट) के नीचे यक्ष्मज कणिका ऊतक एकत्रित हो जाता है तथा इसके द्रवीभवन के फलस्वरूप एक शीतल विद्रधि उत्पन्न होती है जो कशेरुकाकायो के सहारे ऊपर और नीचे

को फैल जाती है । रोगग्रस्त कशेरुका कायो का विनाश और अन्तत. ध्वस हो जाता है । तन्त्रिकीय चाप (neural arch) और अतराकशेरुक सधियाँ (intervertebral joints) प्राय अखड रहती है । अत अस्थियाँ टेलेस्कोप की भाति एक-दूसरे के भीतर नही धँसती, वरन् आगे की ओर फिसल कर एक तीव्र कोण बना देती है । कोणभवन (Angulation) की मात्रा विनाश की व्यापकता तथा विनष्ट कशेरुको की सख्या पर निर्भर करती है (चित्र 118) ।

शीतल विद्रधि की उपस्थिति अधिकांश रोगियो मे पायी जाती है । यह कशेरुकाकायो के सम्मुख तथा पार्श्व ओर से आरंभ होती है तथा परामेरु विद्रधि (paraspinal abscess) के रूप में अपने स्थान पर ही सीमित रह सकती है, किन्तु वह प्राय. अन्य दिशाओं मे फैल जाती है । विस्तार की दिशा अनेक कारणो पर निर्भर होती है, यथा गुरुत्व, प्रावरणी तल (facial planes) तथा तन्त्रिका-रक्तवाहिकाबण्डलो (neurovescular bundles) का मार्ग (चित्र 119) ।

विरोहण (repair) ततुऊतक के प्रतिस्थापन द्वारा होता है जो कालातर मे अस्थि मे परिणत हो सकता है । रोग के अन्त होने पर विद्रधि धीरे-धीरे सूख जाती है तथा प्रगाढ़ द्रव्य शेष रहता है जो कैल्सीभूत हो सकता है ।

नैदानिक अभिलक्षण

मेरु का यक्ष्मा रोग अस्पष्ट व मन्द रूप मे आरम्भ होता है । लक्षणो का आरम्भ गौण अभिघात (गिरने, ठोकर लगने आदि) के पश्चात् हो सकता है । आदि चिह्न अनिश्चित व अस्पष्ट होते है, उदाहरणत. शैथिल्य, शरीरभार का ह्रास, खेलने और भागने-दौडने की अनिच्छा, अत्यधिक क्लान्ति, तथा थकान की अवस्था मे तनिक लगडापन (limp) । इन चिह्नो की विशिष्टता है कि मन्द और अस्पष्ट होते हुए भी ये निर्वन्ध (persistent) होते है । रोग की स्थिति के अनुसार लक्षणो व चिह्नो मे तनिक विविधता आ सकती है, किन्तु इनमे मुख्य निम्नलिखित है ।
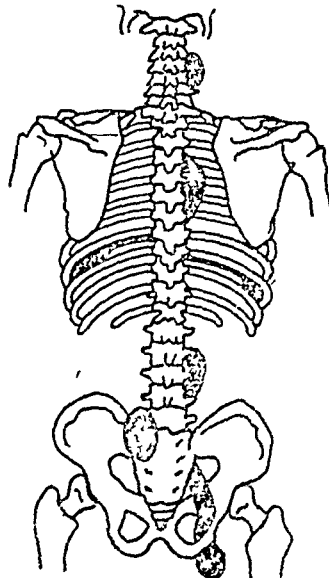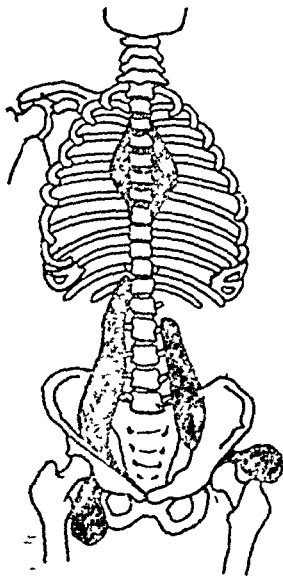
←चित्र 118—दूसरी से नवी वक्ष कशेरुक तक व्यापक कशेरुकविनाश के फलस्वरूप मेरु का कोणभवन

↓ चित्र 119—मेरुरोग मे विद्रधि की विभिन्नस्थितियाँ

पीड़ा—मद पीडा प्राय सभी रोगियों को होती है । यह स्थानीय, सवंधित तत्रिकामूलों (nerve roots) के वितरणक्षेत्रो मे परिसर की ओर अन्यत्रानुभूत, अथवा दोनो प्रकार की हो मकती है । गति तथा शारीरिक क्रिया करने, विशेषत. पीठ को मोडने और धक्का लगने से पीड़ा अधिक होती है तथा विश्राम द्वारा कुछ समय के लिए शान्ति मिलती है ।

चाल—रोगी की चाल सहज एवं प्राकृतिक नही होती, वह सावधानीपूर्वक और ध्यान रखकर चलता है । कटिरोग मे कटिलम्बिनी (psoas) पेशी वहुधा आकर्षग्रस्त होती है तथा चाल में स्पष्ट लग (limp) पाया जा सकता है ।
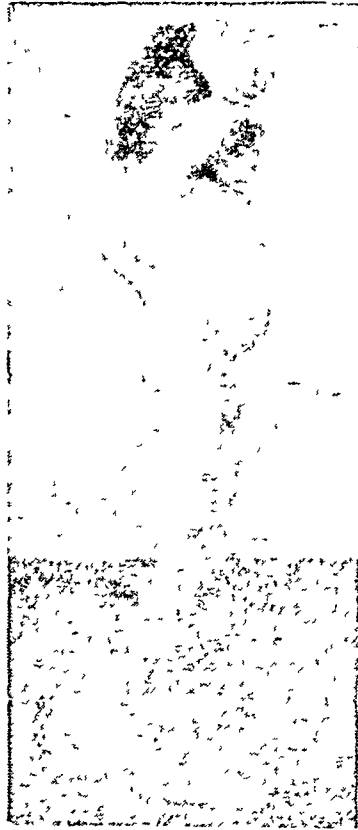
चित्र 120. वक्षीय मेरुदड के व्यापक यक्ष्मारोग मे तीव्र कोणभवन

दाबवेदना—मेरुदड का सावधानीपूर्वक परिस्पर्शन करने से रोगग्रस्त कशेरुकाओं पर स्थानीय स्पर्शासहता पायी जा सकती है । स्मरणीय है कि इस स्पर्शासहता का महत्त्व तभी है जब यह स्थानसीमित हो ।

कठोरता या दृढता (rigidity)—यह रोग के प्रथमतम अभिलक्षणो मे से एक है। मेरुदड झुकाने या घुमाने मे रोगी को पीडा होती है। मेरु-उत्कर्पनी (erector spinea) का आकर्प स्पष्टत· विद्यमान होता है।

विरूपता—आरभ मे मेरुदड के प्रसामान्य वक्रो मे परिवर्तन आ जाता है किन्तु कुछ समय पश्चात् कोणरूपी विरूपता (angular deformity) उत्पन्न हो जाती है और उसके शिखर पर स्थित कटक प्रवर्ध (spinous process) अगुलियो के पोरो (knuckles) की भाति उभरे होते है। प्रवल एव प्रगत रोग के फलस्वरूप, विशेषत वच्चो मे, विरूपता भयकर रूप धारण कर सकती है, इस प्रकार वक्ष और गदर के आतरागो पर पडने वाले दवाव के कारण शारीरिक स्वास्थ्य और वृद्धि पर वुरा प्रभाव पड सकता है (चित्र 120)

विद्रधियां—ये रोग के वास्तविक स्थान से पर्याप्त दूरस्थ स्थितियो मे प्रकट हो सकती है। विद्रधि की सभाव्य स्थितियो पर ध्यानपूर्वक खोज करनी चाहिए, उदाहरणत. ग्रसनी, ग्रीवा के त्रिभुज, वक्ष का पश्च व पार्श्व, कटि, श्रोणिफलक खात (iliac fossa), वक्षण (groin), पेडू (श्रोणि), नितम्व-प्रदेश, आसनास्थि-मलाशय (इश्चियो-रेक्टल)प्रदेश। शीतल विद्रधि प्रायः एक विशाल, अपेक्षत मृदु, स्पर्शतरगयुक्त (fluctuating), पीडाहीन स्फीति के रूप मे प्रकट होती है। वक्षण मे ऐसी स्फीति हर्निया का भ्रम उत्पन्न कर सकती है।

अधरागघात (paraplegia)—अधरागघात प्राय मेरुयक्ष्मा की विलम्वित अवस्था मे प्रकट होता है तथा इस अवस्था मे निदान सहल होता है। तथापि कुछ मे रोग का प्रथम चिह्न टागों की दुर्वलता अथवा मेखलारूपी वेदना (girdle like pain) हो सकती है। अधरागघात आरभ मे केवल चलने पर कष्ट उत्पन्न करता है, धीरे-धीरे निर्योग्यता वढती जाती है तथा अंत मे अगघात प्रकट हो सकता है।

निदान

वच्चो मे प्राय नैदानिक अभिव्यक्ति के आधार पर ही मेरुयक्ष्मा का निदान सभव होता है, किन्तु पुष्टि के लिए एक्सरे-चित्रण अवश्य करना चाहिए। रोग की आरभिक अवस्था मे एक्सरे-चित्र मुख्यत निम्नलिखित परिवर्तन प्रदर्शित करता है। कशेरुक काय की रूपरेखा मे अनियमितता, विकैल्सीभवन, काय की गभीरता (depth) मे ह्रास, तथा, सवसे महत्त्वपूर्ण, अंतराकशेरुक अवकाश (intervertebral space) का शीघ्र सकीर्णन। आरभिक प्रावस्था मे ही विद्रधि-छायाएँ भी देखी जा सकती है। रोग की विलम्वितावस्था मे अस्थि

का व्यापक विनाश, अंतराकशेरुक चक्रियो का लोप तथा कशेरुकाकायो · ,
पिचकना पाया जाता है ; कभी-कभी विविवित का निर्माण भी हो सकता है ,

सापेक्षिक निदान

अधिक आयु के व्यक्तियो मे मेरुयक्ष्मा को द्वितीयक विक्षेपो से विभेदित करना अत्यत कठिन हो सकता है ।

वयस्को मे इस रोग को आरभिक बद्धकशेरुकासंधिशोथ (early ankylosing spondylitis) से भेद करना आवश्यक होता है क्योंकि इस अवस्था मे दीर्घकालीन विश्राम रोगी के लिए हानिकारक होता है । एक्सरे-चित्र मे त्रिक-श्रेणिफलक सधि का (sacro-ilic joints) का द्विपार्श्विक अवउपास्थि (subchondral) अस्थिनिक्षेपन इस अवस्था के निदान मे सहायक होता है ।

उपद्रव

मेरुदंड के यक्ष्मा का गभीरतम उपद्रव अधरागघात है जो लगभग 20 प्रतिशत अचिकित्सित रोगियों मे होता है । वक्ष कशेरुक रोग मे ऐसा अधिक होता है । अधरांगघात का कारण सुषुम्ना पर दबाव है जो विद्रधि (चित्र 121) के कारण, विविक्ति (अस्थिकृत अथवा ततुउपास्थिकृत) के कारण, अथवा विरलत. स्वय विरूपता के कारण पड सकता है । अधरागघात रोग की पूर्वावस्था या उत्तरावस्था मे पाया जा सकता है । इस अवस्था मे सपीडन-अधरांगघात (compression paraplegia) के प्ररूपी लक्षण पाये जाते है तथा वे निम्नलिखित अवस्थाओ मे से होकर पार होते है मद प्रेरक अधरागघात , प्रसारण मे अधरागघात (paraplegia in extension) ; आकुचन मे अधरागघात (paraplegia in flexion) तथा पीडामय आकुचन आकर्ष (flexor spasms), अतिम अवस्था मे पूर्ण प्रेरक, सवेदी और आतराग अधरागघात हो सकता है, जो प्राणघातक सिद्ध हो सकता है ।

चिकित्सा

व्यापक—मेरुयक्ष्मा वास्तव मे व्यापक सक्रमण की एक स्थानीय अभिव्यक्ति है, अत चिकित्सा के मुख्य प्रयोजनो मे से एक रोगी के शारीरिक प्रतिरोध की वृद्धि है । इस उद्देश्य के लिए सेनेटोरियमदिनचर्या तथा प्रतियक्ष्मा-औषधो के उपयुक्त सयोग का प्रयोग किया जाता है । औषधो के प्रयोग से मृत्युदर मे पर्याप्त कमी आ जाती है तथा रोगी की दशा मे द्रुत सुधार होता है; किन्तु

उपरिलिखित लक्ष्यो की पूर्ति के लिए प्लास्टर शैय्या (plaster bed) जोन्स फ्रेम (Jone's frame) तथा ऐसे ही अन्य अनेक उपकरणो का प्रयोग किया जा सकता है। प्रयोग काल मे दवाव विन्दुओ पर दवाव छाले या व्रण उत्पन्न होने की ओर सावधान रहना चाहिए तथा परिस्पर्शन द्वारा विद्रधियो की उपस्थिति के लिए निरीक्षण करते रहना चाहिए। यदि तीव्र ग्रीवा-कशेरुक-यक्ष्मा (acute cervical caries) के रोगियो मे अत्यधिक पीड़ा आकर्ष हो अथवा शीर्षधर अक्षक संधि (atlanto-axial joint) के वैकृत स्थान के अपभ्रंश का भय हो, तो सिर ट्रैक्शन (head traction) आवश्यक हो सकता है।

चिकित्सा काल मे नियमित समयातर पर एक्सरे चित्र लेने चाहिएं। इनमे निम्नलिखित परिवर्तन दृष्टिगोचर होते है : विकैल्सीभवन और विनाश की क्रिया धीरे-धीरे समाप्त हो जाती है, पुनर्कैल्सीभवन आरभ हो जाता है; अततः रोगग्रस्त क्षेत्र के चारो ओर घनी अस्थि का वलय वन जाता है, जिससे रोग के विरोहण (healing) का सकेत मिलता है।

सपूर्ण चिकित्साक्रम मे प्राय 1½ से 2 वर्ष का समय लगता है। जव रोगी सर्वप्रथम वैठना आरभ करे तो उसकी पीठ के लिए किसी प्रकार का सहारा या आधार देना आवश्यक होता है।

शल्यचिकित्सा—अनेक रोगी, विशेपत. वयस्क और प्रौढ़ व्यक्ति, सरक्षी या कंजर्वेटिव चिकित्सा द्वारा लाभान्वित्त नही होते। इसके अतिरिक्त कुछ रोगी ऐसी अवस्था मे चिकित्सा के लिए उपस्थित होते हैं जव रोग पर्याप्त प्रवल और प्रगत तथा गभीर उपद्रवो से युक्त हो चुका होता है।

ऐसे रोगियो मे विद्रधिभित्ति तथा समस्त रोगग्रस्त व निर्जीव ऊतक का अपहरण आवश्यक होता है। शल्यचिकित्सा निम्नलिखित दशाओ मे दिप्ट होती है · (1) जव 3 मास तक कुशल सरक्षी चिकित्सा होने पर भी रोग वढता रहे, (2) जव विशाल तथा अग्रसरणशील विद्रधि के फटने की सभावना हो, (3) जव दीर्घकालीन साइनस चिकित्सा का प्रतिरोध करे, (4) जव संरक्षी उपचार के दौरान द्वितीयक उपद्रव प्रकट हों।

अधरांगघात की चिकित्सा—वच्चो मे अधरागघात वहुधा सामान्य सरक्षी चिकित्सा द्वारा ठीक हो जाता है किंतु वयस्को मे ऐसा नही होता। यदि अधरागघात चिकित्सा द्वारा ठीक न हो या और अधिक विगड जाय, अथवा यदि वह इतना प्रगत हो कि जीवन के लिए घातक हो, तो शल्य चिकित्सा आवश्यक होती है। आपरेशन विद्रधि-निकास के रूप मे हो सकता है अथवा दवाव के कारण को दूर करने के लिए मेरु-रज्जु के प्रत्यक्ष तथा

स्पष्ट विसम्पीडन (decompression) की आवश्यकता पड सकती है।

रेशेदार संधिग्रह (Fibrous ankylosis) द्वारा रोग का विरोहण होने पर प्राय. शल्यसाधनो द्वारा अस्थिसयोजन (bony fusion) उत्पन्न करना वाछनीय होता है। किंतु स्मरणीय है कि इन साधनो का प्रयोग केवल सरक्षी साधनो के सहायक के रूप मे किया जाय, विकल्प के रूप मे नही। शल्यप्रविधि रोग का विरोहण (healing) पूरा होने के पश्चात् ही करनी चाहिए। इसके फलस्वरूप रोग के फिर से सक्रिय होने की सभावना नही रहती।

अन्य अस्थियो का यक्ष्मा रोग

इसके दो रूप हो सकते है—स्थानसश्रित या पुटीभूत (encysted) तथा विसरित।

स्थानसश्रित (localised type)

स्थानसश्रित प्ररूप प्राय लम्बी अस्थियो के मेटाफिसिस क्षेत्र को प्रभावित करता है। इसके कारण एक भाग मे अस्थि-अपरदन (bone erosion) उत्पन्न होता है तथा उसके चारो ओर स्क्लेरोसिस (sclerosis) का क्षेत्र विद्यमान होता है। इस अवस्था का अस्थिपुटी के रूप मे मिथ्या निदान सहज ही सभव होता है। लक्षण प्राय अस्पष्ट व अनिश्चित होते है—ग्रस्त अस्थि मे तनिक स्फीति और स्पर्शासहता तथा समीपवर्ती सधि मे तनिक गतिह्रास। आघटन बच्चो मे अपेक्षाकृत अधिक होता है। पूर्ण निश्चय के लिए जीवोति-परीक्षा द्वारा प्राप्त ऊतक का सवर्धन (culture) और गिनीपिगनिवेशन (guinea pig inoculation) किया जा सकता है। विश्राम, प्रतियक्ष्मा औषधो के प्रयोग तथा शल्य प्रविधि द्वारा गुहिका को मिटा देने से 3–6 मास मे विरोहण हो जाता है।

विसरित प्ररूप (Diffuse type)

यह रूप अधिकतर कार्पल, मेटाकार्पल, टार्सल और मेटाटार्सल अस्थियो तथा अगुलास्थियो मे पाया जाता है। सुषिर अस्थि विनष्ट हो जाती है तथा मेडुला यक्ष्मिकाओ (tubercles) से युक्त गूदेदार कणिका ऊतक मे परिणत हो जाता है। विविक्तिया भी प्राय. दृष्टिगोचर होती है। भीतर से ऊतकविनाश तथा बाहर की ओर अवपर्यस्थि-निक्षेपन के कारण अस्थि का आकार बढ जाता

है। प्राय एक से अधिक अस्थियां ग्रस्त होती है। इस दशा का बहुल उपास्थ्यर्बुद (multiple chondroma) तथा सिफीलिसी अगुलिशोध (syphilitic dactylitis के रूप मे मिथ्या निदान सभव होता है। चिकित्सा स्थानसश्रित प्ररूप के समान ही की जाती है।

अस्थि के उपापचय और अन्त.स्रावी विकार
Metabolic and endocrine disorders of bone

अस्थि सतत परिवर्तनशील ऊतक है, इसमे अस्थि के विनाश और निर्माण का अविरत चक्र चलता रहता है तथा इन दोनो क्रियाओ मे परस्पर संतुलन स्थापित होता है। इस चक्र के सहज सम्पन्न होने के लिए विटामिन 'डी' की पर्याप्त मात्रा की उपलब्धि आवश्यक है। किसी कारणवश इस विटामिन की पर्याप्त मात्रा प्राप्त न होने के दो प्रभाव होते है: प्रथम, जब विकसित अस्थि में अस्थि-ऊतक का प्रतिस्थापन होता है तो उसका स्थान अपूर्णत. कैल्सीभूत अस्थ्याभ ऊतक (osteoid tissue) ग्रहण करता है, अत' अस्थि मृदु हो जाती है; द्वितीय बच्चो मे मेटाफिसिस के अस्थ्याभ ऊतक का प्रसामान्य कैल्सीभवन नही हो पाता।

उपरिलिखित परिवर्तनों के कारण बच्चो मे रिकेट्स तथा वयस्को मे अस्थि-मृदुता उत्पन्न हो जाती है।

रिकेट्स (rickets)

रिकेट्स एक दैहिक रोग है तथा इसकी उत्पत्ति एपिफिसिसो के बद होने से पूर्व होती है। मुख्य परिवर्तन वृद्धिप्लेट (growth plate) मे पाये जाते हैं तथा द्रुत शरीरवृद्धि की प्रावस्था मे सर्वाधिक स्पष्ट होते हैं। नवनिर्मित अस्थ्याभ ऊतक (osteoid tissue) भली प्रकार कैल्सीभूत नही हो पाता, अतः अस्थि की दृढता और कठोरता कम होती है। तथापि परिवर्तन केवल वृद्धिप्लेट तक सीमित न होकर अस्थि के सभी भागो मे विद्यमान होते है।

विटामिन डी की कमी पोषण के अभाव, त्वचा मे अपर्याप्त सश्लेषण अथवा आत्र मे अपर्याप्त अवशोषण के कारण हो सकती है। रक्त-कैल्शियम प्रायः प्रसामान्य होता है, किन्तु फास्फोरस का स्तर कम तथा फास्फटेज का अधिक होता है।

एपिफिसिसी प्लेट चौडी और मोटी पायी जाती है तथा उसका प्रसामान्यत. नियमित, स्तम्भाकार विन्यास विरूपित हो जाता है। अस्थिभवन का क्षेत्र मृदु,

चित्र 122—तीन वर्ष की लडकी मे सक्रिय रिकेट्स : मेटाफिमिस चौडे है तथा रेडियस और उलना के मेटाफिसिसी ओर के प्रान्त विगलित और फैले हुये हो गये है।

पैचयुक्त (patchy) और अल्प-कैल्सीभूत होता है तथा उसमे अनियमित रूप से रक्तवाहिकाए विद्यमान होती है।

एक्सरेचित्रो मे मेटाफिसिस चौडे (चित्र 122), प्याला-रूपी (cupshaped) और विरलित प्रतीत होते है तथा वृद्धिप्लेट की मोटाई सामान्य से अधिक पाई जाती है। अपर्याप्त कैल्सीभवन के कारण अस्थि निर्बल हो जाती है। तीव्र रोगियो मे कूटअगघात (pseudoparalysis), विलम्बित एव अत्यल्प दन्तोद्भवन, तथा अल्प रक्तकैल्शियम के कारण, टिटेनी या अपतानिका पायी जा सकती है।

नैदानिक प्ररूप

लक्षणो के आधार पर रिकेट्स के निम्नलिखित भेद किये गये है।

गर्भ रिकेट्स—यह अस्थिमृदुता से ग्रस्त माताओ के शिशुओ मे पाया

जाता है।

शिशु रिकेट्स—यह जीवन के प्रथम दो वर्षो मे होता है तथा विशेपतः तव पाया जाता है जब स्तनपान वन्द किया जा चुका हो और नया आहार अभावपूर्ण हो। इस प्रकार का रिकेट्स भारत के कुछ भागो, विशेपत. निर्धन वर्गो, मे आजकल भी वहुतायत से पाया जाता है।

किशोर रिकेट्स—यह किशोरावस्था (adolescence) मे पाया जाता है जव शारीरिक वृद्धि और विटामिन डी की आवश्यकता अधिक होती है।

प्रतिरोधी रिकेट्स (resistant rickets) – यह लगभग 5 वर्ष की आयु से आरम्भ होता है। प्रतिरोध का कारण अज्ञात है; आहार अथवा उसके अवशोषण मे कोई दोप नही होता।

आंत्र-विकारजन्य रिकेट्स -- विटामिन डी एक वसा-विलेय (fat-soluble) विटामिन है। स्प्रू (sprue), सीलियक रोग (coeliac disease) और अज्ञातहेतुक वसापुरीप (idiopathic steatorrhoea) आदि रोगो मे वसा अवशोपण दोपपूर्ण होता है तथा रोगी ढेर-से दुर्गधयुक्त वसामय मल का त्याग करता है। परिणामस्वरूप विटामिन 'डी' अवशोपण अल्प होता है तथा रिकेट्स को जन्म देता है।

फान्कोनी सलक्षण (Fanconi's syndrome)—इस अवस्था मे एपिफिसिसो मे रिकेट्स-सम्वन्धी परिवर्तनो के अतिरिक्त शर्करामेह, एल्वुमिनमेह और सिस्टीनमेह (cystinuria) भी पाया जाता है।

नैदानिक अभिलक्षण

रिकेट्स अस्थियो मे निम्न प्रकार अभिव्यक्त होता है :

शरीर का नाटापन— यह वृद्धि के मदन तथा विरूपता के कारण होता है।

लम्वी अस्थियो का मुड़ना– इसके निम्नलिखित रूप हो सकते है : अतर्नत नितम्व (coxa vara); ऊर्विका की प्रसामान्य वक्रता मे वृद्धि, टिविया तथा कभी-कभी अग्रवाहु का धनुर्भवन (bowing), वहिर्नत जानु (genu valgum) तथा अन्तर्नत जानु (genu varum)।

श्रोणि की विरूपताएं—श्रोणि की आकृति चपटी अथवा त्रिअरीय (triradiate pelvis) हो सकती है।

मेरु की विरूपताएं—इनमे कुब्जता या काइफोसिस मुख्य है।

वक्ष की विरूपताए—पर्शुका-उपास्थि-सगम (costo-chondral junction) सुस्पष्ट और उभारयुक्त हो जाते है। वक्ष पर मध्यच्छद के सलगन की रेखा मे

अवनमन हो जाता है जो हेरिसन परिखा (Harrison's sulcus) कहलाता है।

करोटी—करोटी चौडी और चपटी हो जाती है तथा ललाटप्रदेश उत्सेधित हो सकता है। (frontal bossing)।

चिकित्सा

चिकित्सा के सिद्धान्त निम्नलिखित है प्रति-रिकेट्स आहार, विटामिन-डी का प्रयोग, यदि आवश्यकता हो तो प्रचुर मात्रा मे; विरूपता का निवारण—रोग की सक्रिय एव परिवर्तनशील अवस्था मे विश्राम तथा उपयुक्त स्प्लिट का प्रयोग, विरूपताए विकसित हो गई हो तो उनका सशोधन—इस प्रयोजन के लिए रोग की सक्रिय अवस्था मे, जब अस्थिया मृदु और सुनम्य होती है, मालिश, हस्तकौशल (manipulation), स्प्लिटप्रयोग तथा प्लास्टरसाँचों (plaster casts) का प्रयोग किया जाता है। रोग के विरोहण (healing) के पश्चात् अस्थिया कडी हो जाती है और विरूपता के लिए संशोधक अस्थिच्छेदन (corrective osteotomy) की आवश्यकता पड सकती है।

वृक्क रिकेट्स (renal rickets)

जन्मजात चिरकारी वृक्कपात (congenital chronic renal failure) के कारण ककाल मे रिकेट्स के अनुरूप परिवर्तन प्रकट हो सकते है (चित्र 123)। इस अवस्था मे बहुमूत्रता, मूत्र का अल्प घनत्व, तथा एल्बुमिनमेह पाया जाता है तथा नाइट्रोजन का अवधारण होता हे जिसके फलस्वरूप कैल्शियम और फास-फोरस की उपलब्धि पर प्रभाव पडता है। रिकेट्स के अभिलक्षण प्राय 7-14 वर्ष की आयु के मध्य प्रकट होते है। चिकित्सा पूर्णत: कजर्वेटिव या संरक्षी आधार पर की जाती है।

अस्थिमृदुता (osteomalacia)

सहायक घटक (contributory factors)

अस्थिमृदुता वयस्को मे पायी जाने वाली रिकेट्स की समतुल्य अवस्था है। इसका सर्वाधिक आघटन स्त्रियो मे शीघ्रत वारम्बार सगर्भता होने तथा दीर्घ-काल तक स्तनपान कराने के फलस्वरूप होता है। आहार मे विटामिन डी और खनिजो का अभाव इस अवस्था की उत्पत्ति मे सहायक होता है।

नैदानिक स्वरूप

अस्थियो मे विरलीभवन, ट्रैबेकुली विन्यास (trabecular pattern) का

चित्र 123 —नौ वर्ष की लडकी मे वृक्क-रिकेट्स—टांग की अस्थियो का मुडना, विकैल्सीभवन तथा अस्थिभग और रिकेट्स के समान एपिफिसिस परिवर्तन स्पष्ट हैं (फान्कोनी सिड्रोम)

लोप, मज्जा का विस्तार तथा कार्टेक्स का पतला होना पाया जाता है। भार-वाहक अस्थियो मे, विशेषत श्रोणि और ऊर्विका की ग्रीवा के क्षेत्र मे, वैकृत प्रतिबल-अस्थिभग (pathological stress fractures) उत्पन्न हो सकते है। श्रोणि विरूप हो जाती है तथा प्ररूपी त्रिअरीय आकृति की हो जाती है।

त्रिक प्रोत्तुंग (sacral promontory) के आगे धकेले जाने के फलस्वरूप कटि-लार्डोसिस (lumbar lordosis) प्रकट हो जाता है, सुस्पष्ट अंतर्नत नितम्ब (coxa vara) भी विद्यमान होता है, ऊर्विका और अन्तर्जंघिका की वक्रता बढ़ जाती है। भारत में अस्थिमृदुता काफी पायी जाती है।

लक्षण प्राय पीठदर्द, चलने में कष्ट तथा डगमगाती चाल (waddling gait) के रूप में प्रकट होते हैं। एक्सरे-चित्रों में पाया जाने वाला एक विशिष्ट परिवर्तन अस्थियों की पारभासता है, लेकिन अस्थिभंग भी हो सकता है।

चिकित्सा

चिकित्सा के लिए निम्नलिखित आवश्यक हैं. पर्याप्त आहार, खनिज और विटामिन डी का प्रयोग, विश्राम, स्तनपान बंद करना (weaning) तथा परिवार नियोजन द्वारा पुन. पुन प्रसव का नियंत्रण। नितम्बविरूपता अत्यधिक हो तो संशोधक आपरेशन भी आवश्यक हो सकता है।
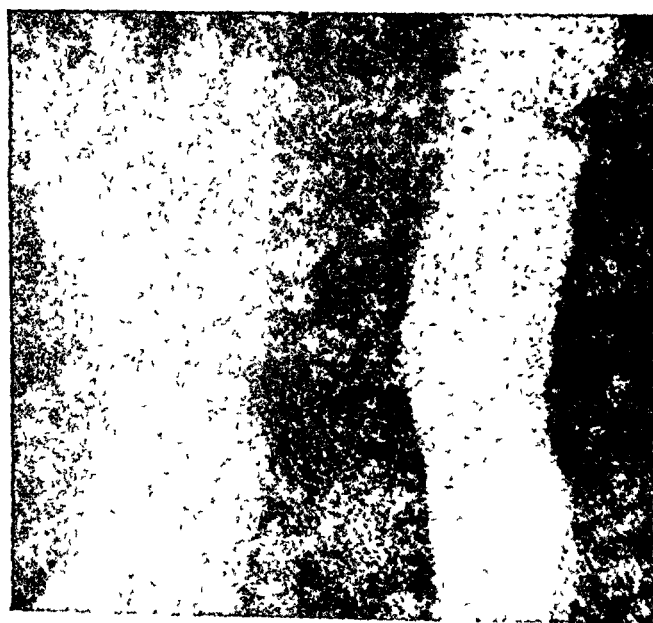
चित्र 124 (अ) स्कर्वी के रोगी में मेटाफिसिसी प्लेट का सघनन तथा मेटाफिसिस के समीप विकैल्सीभवन।

चित्र 124 (व) प्रगत स्कर्वी के रोगी मे अवपर्यस्थि-हीमेटोमा तथा एपिफिसिस का आशिक स्थानभ्रंश (subluxation) ।

स्कर्वी (scurvy)

विटामिन सी के तीव्र अभाव के कारण 2 वर्ष तक की आयु के बच्चो मे एक रक्तस्रावी रोग प्रकट हो सकता है जिसमे विकारस्थानिक रक्तस्राव (focal haemorrhages) तथा अरक्तता पायी जाती है (चित्र 124 अ तथा व)। कुछ रोगियो मे अस्थि-प्रकाड, विशेषत ऊर्विका या टिबिया पर एक पिलपिली स्फीति, स्पर्शाहता तथा तीव्र पीडा भी विद्यमान हो सकती है , सहसा अवपर्यस्थिक रक्तस्राव के कारण रोगी को बेचैनी भी हो सकती है । ऐसे रोगियो का तीव्र रक्तजन्य अस्थि-मज्जाशोथ निदान करने की भूल की बहुत सभावना रहती है ।

सुदम अर्बुद (benign tumours)

उपास्थिअर्बुद (chondroma)

यह अपेक्षाकृत अनिश्चित संज्ञा कंकाल में संबद्ध उन उपास्थिजन्य स्फीतियों के लिए प्रयुक्त की जाती है जो बहि उपास्थिअर्बुद (ecchondroma) के रूप में बाहर की ओर प्रवर्धित होती हैं अथवा अन्त.उपास्थिअर्बुद (enchondroma) के रूप में भीतर की ओर अस्थिद्रव्य में बढ़ती हैं। वे एकल अथवा बहुल हो सकती हैं।

बहिउपास्थिअर्बुद, अध्यस्थि या अस्थिउपास्थिअर्बुद (ecchondroma, exostosis or osteochondroma)—इनकी उत्पत्ति प्राय. एपिफिसियल वृद्धिप्लेट के निकट होती है तथा यह सर्वाधिक जानु-संधि के क्षेत्र में आपटित होता है। जैसे-जैसे डायफिसिस की लंबाई बढ़ती जाती है अर्बुद की स्थिति अस्थि-प्रकांड के मध्यबिन्दु की ओर अग्रसर होती जाती है। वृद्धि के फलस्वरूप यह वृन्तकयुक्त हो जाता है किंतु वृन्तकरहित भी रह सकता है। यह अस्थि-निर्मित होता है तथा इसके छोर पर उपास्थि की एक टोपी लगी होती है, वृद्धि समाप्त होने पर यह उपास्थि भी अस्थि हो जाती है।

यदि बहुल अध्यस्थियों के अतिरिक्त रोगी में विरूपता और सुनिश्चित इतिवृत्त भी विद्यमान हो तो यह अवस्था डायफिसियल एक्लेजिया (diaphyseal aclasia) कही जाती है। यह संदेहास्पद है कि ये वृद्धियां (growths) वास्तव में अर्बुदीय होती हैं अथवा अपविकसनजन्य। चपटी अस्थियों की एकल वृद्धियां बड़ी हो सकती हैं तथा इनमें दुर्दम परिवर्तन भी हो सकते हैं।

ये अर्बुद दबाव के कारण लक्षण उत्पन्न करते हैं। इन स्थितियों में अर्बुद का पूर्ण उच्छेद करना चाहिए। यदि बड़े आकार के कारण ये गति में बाधा न डालें तो इन्हें यथास्थान भी रहने दिया जा सकता है। चपटी अस्थियों के एकल अर्बुद दुर्दम रूप ले सकते हैं, अत. उनका शीघ्र उच्छेदन उचित है।

अंत उपास्थिअर्बुद या एनकोंड्रोमा—ये एकल अथवा बहुल अर्बुद अस्थि में उत्पन्न होते हैं तथा वृद्धि के कारण अस्थि के संहत स्तर को विस्फारित करते हैं। इनकी स्थिति प्राय हाथ की लघु-अस्थियों में होती है तथा ये बृहत् आकार प्राप्त करने की क्षमता रखते हैं। ये व्यापक कंकाली अपविकास (skeletal dystrophies) के सहगामी भी हो सकते हैं। इन वृद्धियों का स्वरूप खंडकयुक्त (lobulated) और पीडारहित होता है। वैकृत अस्थिभंग की संभावना भी रहती है।

चिकित्सा के लिए आवश्यकतानुसार उच्छेदन तथा तत्पश्चात् अस्थ्यारोपण (bone graft) किया जाता है ।

अस्थिअर्बुद या ओस्टियोमा (osteoma)

अस्थ्यर्बुद दो प्रकार के होते है—सुषिर और सहत । सुषिर (cancellous) वास्तव मे अध्यस्थि या एक्सोस्टोसिस (exostosis) का ही रूप है । संहत (compact) अर्बुदकला से उत्पन्न होने वाली अस्थियो मे पाये जाते है तथा अपने दवाव से लक्षण उत्पन्न करते है । ये इतने कठोर होते है कि सरलतापूर्वक नही काटे जा सकते , समीपवर्ती अस्थि-क्षेत्र से इनका सपिंड उच्छेदन (en-block excision) कर देना चाहिए ।

अस्थ्याभ अस्थ्यर्बुद (osteoid osteoma)

अस्थि के इस सुदम अर्बुद का पृथक् एव स्पष्ट स्वरूप होता है । यह अस्थिप्रसू (osteoblast) सयोजी ऊतक से उत्पन्न होता है तथा अधिकतर अन्तर्जंघिका या टिविया मे स्थित होता है । रोगी की आयु प्राय: किशोर होती है । वह प्रभावित अस्थि मे कुतरने के समान सतत पीड़ा अनुभव करता है ; तीव्र स्थानिक स्पर्शासहता होती है । एक्सरे-चित्र मे अर्बुद एक छोटे अस्थि-सलायी (osteolytic) क्षेत्र के रूप मे दीखता है जिसके केन्द्र मे कैल्सीभवन का धव्वा होता है जो नीड या नाइडस (nidus) कहलाता है , अस्थि मे अर्बुद के प्रति सुस्पष्ट अस्थिकाठिन्य अनुक्रिया (osteosclerotic response) पायी जाती है । एक पृथक् नैदानिक दशा के रूप मे इसका वर्णन किया जाने से पूर्व इस अवस्था के अधिकाश रोगियो का गारे (Garre) के काठिन्यकर अस्थि-मज्जाशोथ (sclerosing osteomyelitis) अथवा ब्रोडी विद्रधि (Brodie's abscess) का निदान किया जाता था जो मिथ्या था ।

चिकित्सा के लिए नीड (nidus) तथा समीपवर्ती सहत अस्थि की कुछ मात्रा का उच्छेदन किया जाता है ।

स्थानीय दुर्दम अर्बुद (locally malignant tumours)

अस्थिभंजक अर्बुद या ओस्टियोक्लास्टोमा (osteoclastoma)

इसे महाकोशिकार्बुद (giant-cell tumour) तथा मज्जाभ सार्कोमा (myeloid sarcoma) भी कहते है । यह सुदम किंतु स्थानीय रूप में विनाश-

कारी होता है। आघटन दोनों लिंगो मे समान तथा जीवन की तीसरी या चौथी दशाब्दी मे होता है। उत्पत्ति प्राय. ओस्टियोक्लास्ट या अस्थिभजक कोशिकाओ से मानी जाती है। स्थिति अधिकतर लबी अस्थियो के छोर पर होती है किंतु कोई भी अस्थि इसकी सभावना से अक्षुण्ण नही होती। अर्बुद विशिष्टतः एपिफिसिस मे आरम्भ होता है तथा मेटाफिसिस को भी प्रभावित करता है। वृद्धि के कारण यह अस्थि को विस्फारित करता है तथा फल-स्वरूप सहत भाग पतला तथा छिद्रित तक हो सकता है, सधि उपास्थि के वेधन के फलस्वरूप सधि भी ग्रस्त हो सकती है; सर्वाधिक आघटन के ऊर्विका के निम्न छोर, अन्तर्जघिका के ऊर्ध्व छोर तथा वहि प्रकोष्ठास्थि के निम्न छोर मे पाया जाता है। अर्बुद का स्थूल स्वरूप लाल-भूरा, मृदु तथा भुचूर्ण्य होता है, कुछ अर्बुदो का रग अपेक्षाकृत फीका होता है तथा वे श्वेत भीमकोशिका अर्बुद कहलाते है। अधिकाश अर्बुद का ऊतिकीय स्वरूप, गोल या अडाभ कोशिकाओ के वाहिकायुक्त जाल के रूप मे होता है, जिनके मध्य विशाल सख्या मे बहुकेद्रक भीमकोशिकाएँ बिखरी होती है।

नैदानिक रूप मे रोग लबी अस्थि के एपिफिसिस पर एक पीडामय, कठोर, गोल स्फीति के रूप मे प्रकट होता है जिसके कारण अस्थि का छोर फूल जाता है। विलम्बित प्रावस्था मे इस स्फीति को दाबने से अण्डे के छिल्के के चटकने के समान ध्वनि उत्पन्न हो सकती है (egg-shell crackling)।

निदान की पुष्टि एक्सरेचित्र द्वारा की जा सकती है जिसमे एक स्थान पर अस्थि का सहसा फैलना पाया जाता है, इस विस्फारित भाग मे अस्थि-ट्रेबेकुला (bone trabeculae) स्पष्ट देखे जा सकते है जो इसे एक बहुकोष्ठक सिस्ट की-सी आकृति प्रदान करते है (चित्र 125)।

चिकित्सा की विधि निम्नलिखित मे से चुनी जाती है: (अ) भली प्रकार आखुरण (curettage), (आ) अस्थि के ग्रस्त भाग का चौड़े उपात सहित उच्छेदन, (इ) विकिरण उपचार, (ई) अगोच्छेदन या एम्पुटेशन। उपयुक्त विधि अर्बुद की स्थिति, आकार तथा दुर्दमता की सभावना पर निर्भर करती है।

अस्थि के दुर्दम अर्बुद

अर्बुदनिदान

दुर्दम अर्बुदो के संबध में एक विशेष समस्या उनका ठीक निदान है।
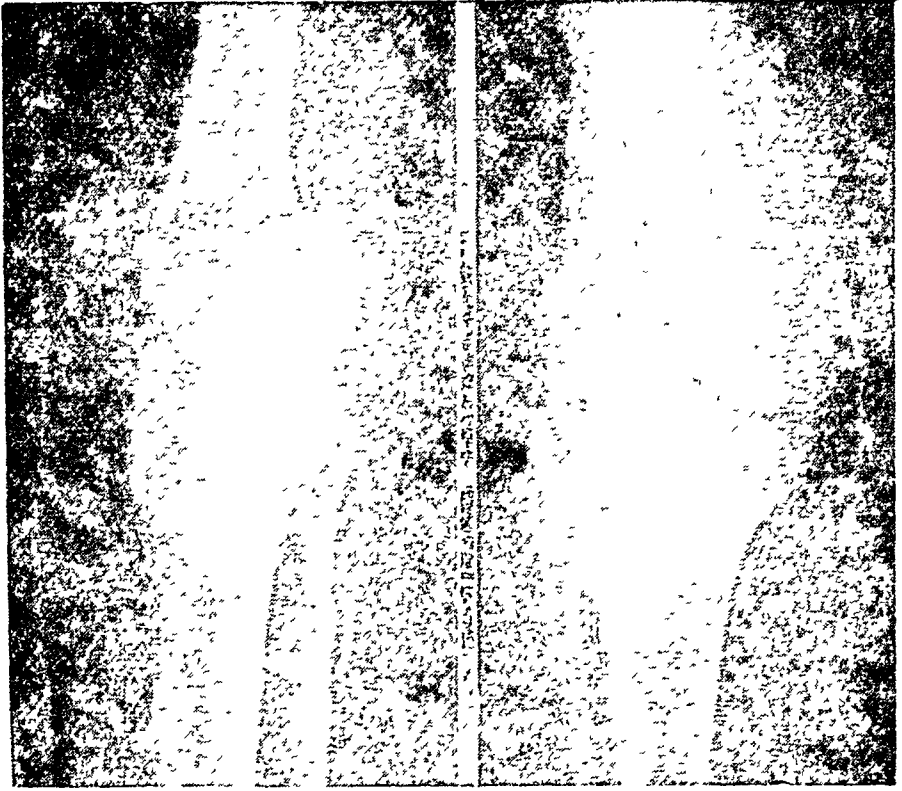
चित्र 125—वाम अतर्जंघिका के ऊर्ध्व छोर के प्ररूपी ओस्टियो-क्ला-स्टोमा का एक्सरे चित्र का स्वरूप। अर्बुद की एपिफिसिसीय व उत्केन्द्रीय स्थिति तथा साबुन के बुलबुले के समान आकृति ध्यान देने योग्य है। ऊतिकीय दृष्टि से यह ग्रेड-1 विक्षति है।

प्राय. सभी अर्बुद एकसमान लक्षण-त्रिक उत्पन्न करते है—पीडा, स्पर्शासहता तथा स्फीति। सर्वप्रथम लक्षण प्राय पीडा है, जो काफी प्रबल, सतत तथा विश्राम द्वारा अप्रभावित होती है; इसके कारण रोगी की निद्रा मे बाधा पड सकती है। ऐसे लक्षण उपस्थित होने पर रोगी की विस्तृत जाच करनी चाहिए। रक्त गणनाए (blood counts) प्राय अनुपयोगी रहती है। एसिड फोस्फेटेज (acid phosphatase) का स्तर अधिक होने पर प्रोस्टेट विक्षेपों का सदेह करना चाहिए। मूत्र मे बेन्स-जोंस प्रोटीन (Bence-Jones protein) की उपस्थिति व्यापक मज्जार्बुदता (generalised myelomatosis) की ओर सकेत करती है। स्मरणीय है कि वासरमैन प्रतिक्रिया धनात्मक होने पर भी

सहगामी दुर्दमता की सभावना रहती है। निदान मे एक्सरे चित्र उपयोगी होते है किंतु वे सदा निश्चयात्मक नही होते, विभिन्न विभेदन कोटि (degree of differentiation) के एक्सरेचित्र इस सबध मे विशेष सहायक होते है। इनमे निम्नलिखित चिह्न का पाया जाना दुर्दमता का प्रबल परिचायक होता है—(अ) मृदु ऊतक स्फीति, (आ) कार्टेक्स-मेडुला अस्थि नाश (corticomedullary bone destruction), (इ) अस्थि-निर्माण के क्षेत्र जिनके एक्सरे चित्रो मे व्यापक विविधता हो। संदेहात्मक रोगियो मे बायोप्सी की जा सकती है किंतु इसके बावजूद भी निदान अनिश्चित रह सकता है। निदान करते समय किसी एक परीक्षण पर ही पूर्णत. निर्भर नही रहना चाहिए क्लिनिकल, एक्सरे तथा लेबोरेटरी प्रमाणो पर सयुक्त विचार द्वारा ही उचित निर्णय किया जा सकता है।

अस्थिसार्कोमा (osteosarcoma)

अस्थिसार्कोमा किशोरावस्था अथवा आरभिक वयस्कावस्था मे लबी अस्थियो के छोर पर पाया जाने वाला एक अत्यत दुर्दम अर्बुद है। इसकी उत्पत्ति अस्थि प्रसूओ (osteoblasts) की पूर्वगामी कोशिकाओ मे मानी जाती है। ऊतिकीय स्वरूप मे अर्बुद की प्रधान कोशिकाओ के अनुसार पर्याप्त विविधता हो सकती है। यह एक सभाव्य अस्थि-निर्माणकारी अर्बुद है किंतु अस्थि की वस्तुत. निर्मित मात्रा मे पर्याप्त न्यूनाधिकता पायी जाती है, फलस्वरूप यह अर्बुद अस्थि-सलायी (osteolytic) अथवा अस्थिप्रसूजन्य (osteoblastic), दोनो प्रकार का हो सकता है। किसी अर्बुद विशेष का व्यक्तिगत व्यवहार उसकी स्वाभाविक वृद्धिशाली एव विनाशकारी प्रवृत्ति तथा शरीर के प्रतिरोध मे परस्पर सतुलन पर निर्भर होता है।

सर्वाधिक आघटन जानु सधि के क्षेत्र मे होता है। विशिष्ट अभिलक्षण पीडा, स्फीति तथा स्पर्शासहता है। स्फीति असममित, अस्थि से अपृथक्य, तथा प्राय. दृढ और प्रत्यास्थ होती है, विलम्बित अवस्था मे यह मृदु और पिलपिली हो सकती है तथा इसके बाह्य पृष्ठ पर शिराए सुस्पष्ट हो जाती है। विक्षेपन रक्त द्वारा होता है तथा फेफडो मे एक विशेष प्रकार की तोपगोलाछाया (cannon ball shadow) उत्पन्न करता है। एक्सरे चित्रण द्वारा विशिष्टतः निम्नलिखित अभिलक्षण पाए जाते है (चित्र 126) (अ) मृदु ऊतक छाया, (आ) अस्थि प्रकाड से किरणो के रूप मे छितरने वाली अस्थिकटिकाओ के फलस्वरूप उत्पन्न 'सूर्य-किरण-रूप' (sunray appearance), (इ) कोर्टेक्स-मेडुला अस्थि

विनाश, (ई) विक्षति के परिसर पर अस्थि विकास के फलस्वरूप उत्पन्न कोडमैन का प्रतिक्रिया त्रिभुज (Codman's reactive triangle)।

शास्त्रीय स्वरूप के अतिरिक्त अन्य विविध रूप भी बहुधा पाये जाते है।

चिकित्सा के केवल दो साधन उपलब्ध है—अगोच्छेदन तथा विकिरण का पृथक् अथवा सयुक्त प्रयोग। किन्तु प्राग्ज्ञान प्राय निराशाजनक होता है तथा रोगमुक्ति की सभावना अत्यल्प होती है। इस रोग मे शीघ्र ही फुफ्फुस विक्षेपन हो जाता है।

चित्र 126—इस एक्स-रे चित्र मे अस्थिसार्कोमा का 'सूर्य-किरण प्ररूप' स्पष्ट है। अगोच्छेदन के पश्चात् इस रोगी मे अर्बुद का पुनरावर्तन हो गया था।

उपास्थिसार्कोमा (Chondrosarcoma)

उपास्थिसार्कोमा का नैदानिक रूप अस्थिसार्कोमा से बहुत भिन्न होता है।

रोगी की आयु अपेक्षाकृत अधिक, 30 से 50 वर्ष के मध्य होती है। अर्बुद खंडकयुक्त (lobulated) होता है तथा विशालाकार और दीर्घकाल से स्थित हो सकता है। यह वृद्धि के फलस्वरूप समीपवर्ती ऊतकों को धकेलना अवश्य है किन्तु उन पर आक्रमण नहीं करता। इसका विस्तार मज्जानलिका (medullary canal) में होता है तथा फेफड़े विक्षेपित हो सकते हैं। इसकी ऊतकीय संरचना सुनिर्मित कार्टिलेज कोशिकाओं द्वारा होती है।

क्लिनिकल परीक्षण द्वारा एक दृढ़, खंडकयुक्त, सुपरिगत स्फीति पायी जाती है जिसके कारण पास की संरचनाओं पर पड़ने वाला दबाव लक्षणों के लिए उत्तरदायी होता है। एक्सरेचित्र में एक विशिष्ट धब्बेदार स्वरूप (stippled appearance) पाया जाता है।

चिकित्सा का सर्वोत्तम साधन अर्बुद का पूर्ण उच्छेदन अथवा एम्पुटेशन (अंगोच्छेदन) है, यदि द्वितीयक वृद्धियाँ (secondary growths) न हुई हों तो प्राग्ज्ञान आशापूर्ण होता है।

तंतुसार्कोमा या फाइब्रोसार्कोमा

अन्य स्थानों की भाँति अस्थि का फाइब्रोसार्कोमा भी एक फाइब्रोब्लास्टिक (fibroblastic) अर्बुद है। अस्थि का अपरदन करने के फलस्वरूप यह एक्सरे-चित्र में एक अस्थिनलायी विक्षति (osteolytic lesion) के रूप में दीखता है।

केवल विकिरण-उपचार द्वारा इस अर्बुद की सफल चिकित्सा करना प्रायः असंभव होता है, उत्तम परिणाम के लिए उन्मूलक शस्त्रचिकित्सा (radical surgery)अथवा शस्त्रचिकित्सा और विकिरण का संयुक्त प्रयोग करना चाहिए।

ईविंग का अर्बुद (Ewing's tumour)

इसका आघटन प्राय कम आयु के व्यक्तियों की लम्बी अस्थियों में होता है तथा यह छोर की तुलना में प्रकांड के मध्य में अधिक पाया जाता है। कभी-कभी यह छोटी अथवा चपटी अस्थियों को भी ग्रस्त कर सकता है। ऊतकीय दृष्टि से अतिअभिरंजक, सूत्रीविभाजनशील, छोटी, गोल या बहुफलक (poly hedral) कोशिकाओं की तहों द्वारा निर्मित होता है।

रोगी प्राय ज्वर का इतिवृत्त बताता है, अत. परीक्षा के समय इस रोग का अनुतीव्र अस्थिमज्जाशोथ के निदान की भूल सम्भव होती है; आपरेशन के समय अर्बुद ऊतक का स्थूल स्वरूप पूय द्रव्य के समान पाया जा सकता है।

एक्सरेचित्र मे मेडुला का चौड़ा तथा विरलित होना (चित्र 127) तथा

अस्थि का पटलित (laminated) या 'पलाडु-छिलका सम' (onion skin-like) रूप मे निक्षेपित होना पाया जाता है।

ईविंग का अर्बुद विकिरण-सवेदनशील है किन्तु उपचार के उपरांत पुनः इसकी आवृत्ति हो जाती है; दूरस्थ मैटास्टेसिसि या विक्षेप वहुधा पाये जाते है। वास्तविक रोग-मुक्ति प्रायः असभव होती है।
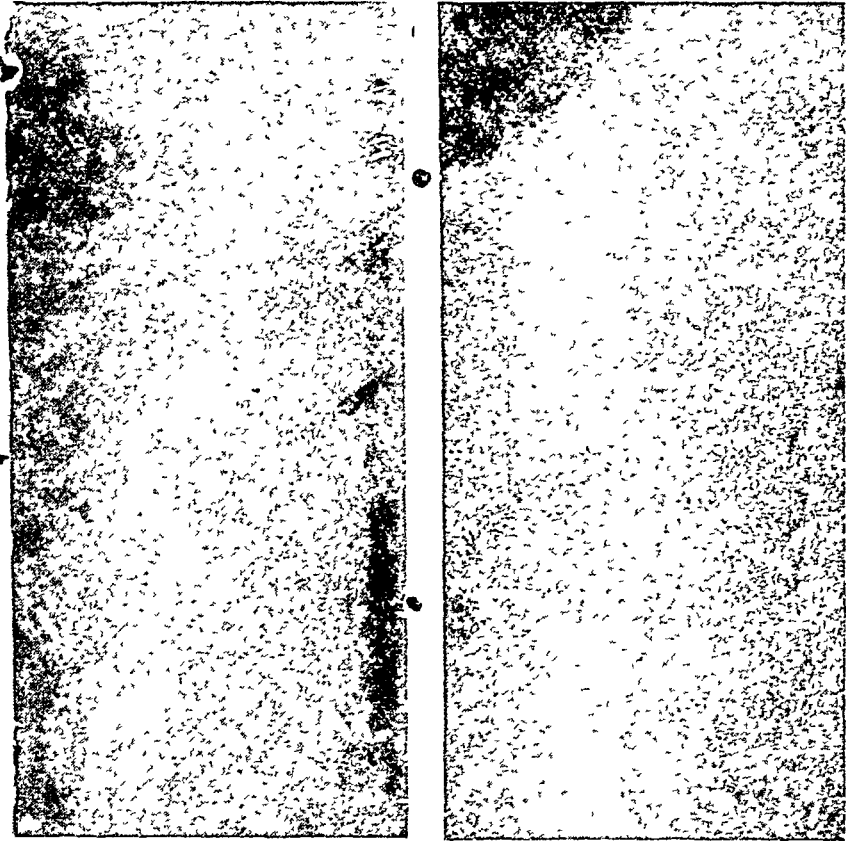
चित्र 127—ऊर्विका के मध्यकाड मे ईविंग अर्बुद। इससे सहज ही अस्थि-मज्जाशोथ का भास हो सकता है।

वहुल मज्जार्बुद (*multiple myeloma*)

यह एक विरल अर्बुद है जो प्राय 45 वर्ष से अधिक आयु के पुरुषो में पाया जाता है। इसका आरम्भ मंद व अस्पष्ट होता है; धीरे-धीरे पीडा वढती जाती है तथा अतत. वैकृत अस्थिभग उत्पन्न हो सकता है। यह अर्बुद शरीर में अनेक अस्थिमज्जायी विक्षतियां उत्पन्न करता है जो अधिकतः श्रोणि, करोटि, कशेरुकों तथा पर्शुकाओं मे पायी जाती है।

एक्सरे-चित्र में विक्षतियाँ अनेक छोटे, छिद्रित (punched out) क्षेत्रों के रूप में पायी जाती हैं। रक्त प्रोटीन का एल्बुमिन-ग्लोबुलिन अनुपात विशेषतया उत्क्रमित होता है तथा बीटा-ग्लोबुलिन और गामा-ग्लोबुलिन की मात्रा में वृद्धि होती है। अधिकांश रोगियों में बेन्स-जोन्स प्रोटीनमेह (Bence-Jones protein-uria) भी पाया जाता है। कभी-कभी, रक्त कैल्सियम का स्तर भी वर्धित होता है। अस्थिमज्जा में प्रायः प्लाज्मा कोशिका अनुक्रिया पायी जाती है।

उपरिलिखित प्रयोगशाला-परीक्षण-बहुल मज्जार्बुद तथा अस्थिविक्षेपन के विभेदन में पर्याप्त सहायक होते हैं।

चिकित्सा विधि आम तौर पर प्रशामक होती है तथा गभीर एक्सरे उपचार प्रायः लाभप्रद होता है। रसायनी चिकित्सा के लिए हाल में यूरेथेन (Urethane) का प्रयोग भी किया गया है।

विक्षेपित कार्सिनोमा

अस्थियों में कार्सिनोमा विक्षेप बहुधा पाये जाते हैं तथा कुछ प्रकार के अर्बुद सर्वप्रथम इन्हीं में अभिव्यक्त होते हैं। अवरोही महत्ता तथा आवृत्ति के क्रमानुसार निम्नलिखित अंग अस्थिविक्षेपन उत्पन्न करते हैं: प्रोस्टेट या पुरस्थ ग्रंथि, स्तन, श्वसनी (bronchus), अवटु, वृक्क, अधिवृक्क तथा जठरान्त्र क्षेत्र। प्रोस्टेट कार्सिनोमा के द्वितीयकों का एक्सरे चित्ररूप अत्यन्त सघन और अस्थि-काठिन्ययुक्त (osteosclerotic) होता है। एक अन्य निदानात्मक चिह्न परिसंगीय रक्त में एसिड फास्फेटेज (acid phosphatase)-स्तर की वृद्धि है। स्तन-कार्सिनोमा के द्वितीयक साधारणतः अस्थिमलायी होते हैं, किन्तु अस्थिकाठिन्यकार निक्षेप भी पाये जा सकते हैं। उपरिलिखित अन्य सभी अंगों के अर्बुद अस्थियों में मलायी द्वितीयकों को जन्म देते हैं, जो प्रायः वैकृत अस्थिभंग के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। अस्थिविक्षेपन का सर्वाधिक आघटन मेरु, उर्विका, पर्शुका, करोटि तथा श्रोणि में होता है। जानु और कूर्परी से नीचे स्थित अस्थियों में विक्षेपन अति विरल होता है।

अस्थियों में विक्षेपन प्रायः अर्बुद की विलम्बित अवस्था का द्योतक है, अतः इस अवस्था में चिकित्सा मूलतः प्रशामक होती है। विक्षेपों का गभीर एक्सरे उपचार कुछ सीमा तक लाभप्रद होता है। प्रोस्टेट और स्तन के विक्षेपों की वृद्धि हारमोनों पर निर्भर करती है तथा स्त्री या पुरुष हारमोनों का प्रयोग उनकी चिकित्सा में सहायक होता है; उनकी चिकित्सा के लिए अधिवृक्क-

उच्छेद और पीयूष-उच्छेद का भी व्यापक प्रयोग किया गया है ।

अस्थि की पुटी (Cysts of Bone)

अस्थिपुटी एक अर्बुदीय विक्षति न होने के कारण इसे उपरिलिखित वर्गीकरण में स्थान नही दिया गया है, तथापि यहा इस दशा का सुविधापूर्वक वर्णन किया जा सकता है । मुख्यतः बाल्यावस्था व किशोरावस्था (5 से 15 वर्ष) की आयु मे घटित होने वाली यह विक्षति लम्बी अस्थियो के कांडो मे पायी जाती है । सर्वाधिक आघटन का स्थल प्रगडिका, विशेषतः इसका ऊर्ध्व तृतीयाश है । यह ऊर्विका और अन्तर्जघास्थि के ऊर्ध्व व निम्न तृतीयाश तथा बहिर्जघिका के ऊपरी छोर पर भी पाया जा सकता है ।

बहुधा अस्थिपुटी की उपस्थिति वैकृत अस्थिभग द्वारा प्रकाश मे आती है।

पुटी प्राय एपिफिसिस रेखा के निकट स्थित होती है किंतु इसे कदापि पार नही करती । ऐक्सरे-चित्र मे यह एक बहुत कुछ पारभासी तथा एकसमान फैलावयुक्त विक्षति के समान दीखती है । पर्यस्थि अस्थि से पृथक् हो कर ऊपर को नही उठ जाती । अस्थि भग होने की अवस्था मे उसका विरोहण (healing) शीघ्र ही हो जाता है । पुटी का अस्तर प्रायः अत्यन्त पतला होता है तथा उसमे कुछ द्रव विद्यमान हो सकता है ।

चिकित्सा का उचित समय पुटी का प्रथम निदान है । गुहिका का आखुरण (Curettage) करने तथा उसे लघु अस्थि खंडो द्वारा भरने से प्राय. संतोषप्रद परिणाम होता है ।

सापेक्ष निदान करते समय इस आयु के रोगियो मे पायी जाने वाली अन्य ऐक्सरे-चित्रों मे दीखने वाली अस्थिसलायी विक्षतियो को स्मरण रखना चाहिए, उदाहरणत. अस्थि का इयोसिनोफिलिक कणिकार्बुद (eosinophilic granuloma), ततु दुर्विकसन (fibrous dysplasia) की एकल विक्षतिया, अत -उपास्थ्यर्बुद (enchondroma), अस्थि का महाकोशिकाअर्बुद, फाइब्रोमा जिनमे अस्थिभवन नही होगा (non-ossifying fibroma), तथा एन्यूरिज्मल अस्थिपुटी (aneurysmal bone cyst) ।

सधियों के तीव्र अ-यक्ष्माजन्य विकार
(Acute nontuberculous affections of joints)

एक प्ररूपी सधि के निर्माण मे दो या अधिक अस्थियां भाग लेती हैं जो स्नायुओ द्वारा सुबद्ध होती है । पेशियो द्वारा इन अस्थियो को स्थिरता और

गति प्राप्त होती है। संधि को निर्मित करने वाला अस्थिपृष्ठ काचाभ उपास्थि से ढका रहता है जो कठोर, चिकना और चमकदार होता है तथा घर्षणरहित होने के कारण संधियों के परस्पर फिसलने और गतिशील होने में सहायक होता है। संधि-उपास्थि (articular cartilage) को छोड़कर संधि का शेष भाग श्लेषक कला (synovial membrane) से आच्छादित होता है, जो संधि की रक्षा करती है तथा एक स्वच्छ, तेल के समान स्निग्ध द्रव उत्पन्न करती है। संधिविकार दो प्रकार के हो सकते हैं—वे जो मुख्यत. संधि के भीतर स्थित अवयवों को प्रभावित करें (अंत.संधि विक्षतियां) तथा वे जो मुख्यत: संधि के चारों ओर स्थित अवयवों को प्रभावित करें (परिसंधि विक्षतियां)। संधायक उपास्थि प्रत्यक्षत: किसी वाहिका द्वारा संभरित नहीं होती, वह पोषण के लिए श्लेपक द्रव (synovial fluid) तथा अधोपास्थि-अस्थि (subchondral bone) पर निर्भर करने के कारण रोगों से सहज ही ग्रस्त हो जाती है।

तीव्र सपूय संधिशोथ (acute suppurative arthritis)

संधि में संक्रमण की पहुंच निम्न प्रकार हो सकती है।

(1) दूरस्थ फोकस से रक्तप्रसार द्वारा।

(2) अस्थि आदि में स्थानीय संक्रमण के प्रत्यक्ष विस्तार द्वारा।

(3) संधि में खुलने वाले वेधक्षत द्वारा।

सामान्यत. संक्रमण क्रमानुसार स्टेफाइलोकाकस, स्ट्रेप्टोकाकस तथा न्यूमोकाकस जीवाणुओं द्वारा होता है। कुछ रोगियों में अन्य जीवाणु भी संक्रमण के लिए उत्तरदायी हो सकते हैं। इस क्रम में संधियां ग्रस्त होती हैं:—नितम्ब, जानु स्कंध, कूर्पर तथा मणिबंध। संक्रमण की सीरमीय, सीरम-फ़ाइब्रिनी (serofibrinous) तथा सपूय, ये तीन प्रावस्थाएं हो सकती हैं, किंतु ऐसा आवश्यक नहीं है; रोगकाल में ये प्रावस्थाएं एक-दूसरे में विलीन हो सकती हैं।

विकृति

श्लेपक कला शोथयुक्त, फूली हुई और जेली के समान गाढ़ी हो जाती है। शोथजन्य नि.स्राव से भरने के कारण संधिगुहिका में तनाव उत्पन्न हो जाता है। चिकित्सा के अभाव में यह नि:स्राव शीघ्र ही सपूय हो जाता है। जैसे-जैसे रोग की वृद्धि होती है, कणिका ऊतक बनकर काचाभ उपास्थि पर फैल जाता है और उसे नष्ट कर देता है। सपूय नि:स्राव के कोष्ठ-से बन जाते हैं (pocketing of exudate), संधि की स्नायुओं का मृदुभवन (softening)

और संधि का स्थानभ्रंश हो जाता है। एंजाइमक्रिया तथा व्रणोत्पत्ति के फलस्वरूप उपास्थि विनष्ट हो जाती है; संपुट में से होकर कंडराओं के सहारे पूय-विस्तार के कारण परिसंधिविद्रधियों की उत्पत्ति हो सकती है; अस्थि-प्रान्तों में परिगलनशील अस्थिशोथ (necrotizing osteitis) और विविक्तिभवन होने के फलस्वरूप वैकृत स्थानभ्रंश हो जाता है (चित्र 128)। धीरे-धीरे शोथ-प्रक्रिया का शमन, कणिकोतक का स्कार, ऊतक में परिवर्तन तथा अततः अस्थिकृत या तान्तव संधिग्रह (fibrous ankylosis) के कारण संधि का विपरूप स्थिति में स्थिरीकरण हो जाता है।

चित्र 128—शिशु में नितंब के सपूय संधिशोथ का एक्सरेचित्र। ऊर्विकाशिर का नाश, वैकृत स्थान-भ्रंश तथा श्रोणि-उलूखल का भर जाना स्पष्ट है।

सारणी

विभिन्न संधियों के तीव्र सपूयशोथ के विशिष्ट लक्षण और चिन्ह

संधि	सुविधापूर्ण स्थिति	अधिकतम स्फीति का स्थान	संधिग्रह के लिए सर्वोपयुक्त स्थिति
स्कंध	अभिवर्तित	त्रिकोणिका (डेल्टायड) के नीचे, द्विशिरस्क की कंडरा के साथ, तथा बगल में	स्कंध संधि 40-50 अंश तक अपवर्तित, कोहनी किरीटी तल (coronal plane) से तनिक आगे तथा हाथ मुख के सामने
कूर्पर	अवतानित तथा समकोण पर आंकुचित	त्रिशिरस्क कंडरा के दोनों ओर	अर्ध-अवतानित (semipronated) तथा 10 अंश तक प्रसारित। यदि दोनों कोहनियां ग्रस्त हों तो एक 75 तथा दूसरी 135 अंश तक प्रसारित। व्यवसाय के अनुसार इन अवस्थाओं में रूपांतरण किया जा सकता है। मजबूत पकड़ के उद्देश्य से पृष्ठाकुंचित (dorsiflexed)
मणिबंध	तनिक आंकुचित	प्रसारिणी और आंकुचनीकंडराओं के नीचे	
नितंब	प्रथम अवस्था—बहिः घूर्णित	प्रथम अवस्था—स्कार्पा त्रिभुज (scarpa's	अभिवर्तन की दृष्टि से उदासीन (neutral)

	(externally rotated) द्वितीय अवस्था--ऑकुचित, अभिवर्तित तथा अन्त-घूर्णित	triangle) का ऊर्ध्व भाग। द्वितीय अवस्था-शिखरकीय व नितव क्षेत्रो मे	स्थिति तथा ऑकुचन की दृष्टि से 20-30 अंश ऑकुचित, ताकि वैठना सभव हो सके।
जानु	आँकुचित	अधिजानुफलक वर्सा तथा जानुफलक कडरा (patellar tendon) के दोनो पार्श्व	चलते समय पाव को धरती पर घिसटने से वचाने के लिए 5-10 अश आँकुचन
गुल्फ	तनिक प्रसारिता तथा अतर्वर्तित (inverted)	सम्मुख दिशा मे तथा एचिलीस (achilles) कडरा के दोनो ओर	समकोण तथा चपटे पाव (flat foot) के निवारण के लिए, तनिक अतर्वर्तन

सधिग्रह की सर्वोपयुक्त स्थिति वह स्थिति है जो सधिग्रह होने पर भी रोगी के लिए सर्वाधिक उपयोगी रहे।

लक्षण एवं चिह्न

रोग का आरभ जीवविपरक्तता (toxaemia) अथवा पूतिरक्तता (septicaemia) तथा सधिशोथ के स्थानीय चिह्नो के रूप मे होता है। ग्रस्त संधि वेदनायुक्त, स्पर्शासिह और सूजी हुई होती है। पेशी-आकर्ष के कारण वह कडी हो जाती है तथा उसकी गति से रोगी को दारुण वेदना होती है। आरभ मे निष्क्रिय गति कुछ सीमा तक वेदनारहित हो सकती है। किंतु कालातर मे सब प्रकार की गति तीव्र वेदना उत्पन्न करती है। व्यक्तिगत सधियो के विशिष्ट अभिलक्षण पिछले पृष्ठ की सारणी मे दिखाये गए है।

भेददर्शी निदान

निदान करते समय पूतिरक्तता उत्पन्न करने वाले अन्य रोगो, टायफाइड, ज्वर तथा तीव्र अस्थिमज्जाशोथ को ध्यान मे रखना चाहिए। सदेह की अवस्था मे चूषण द्वारा मवाद निकाल कर सधिशोथ की पुष्टि की जा सकती है तथा लेप और सवर्धन (culture) द्वारा सक्रामी जीवाणुओ की जाच की जा सकती है। रोग की आरभिक दशा मे एक्सरे-चित्रण से विशेष जानकारी नही मिलती, केवल सधि के समीप मृदु-ऊतक-शोथ का भान हो सकता है, विलम्बित प्रावस्था मे सधि-अवकाश (joint space) का ह्रास तथा कुछ अन्य चिह्न प्रकट होते है।

कभी-कभी हीमोफिलीय सधिशोथ (haemophilic arthritis), रूमेटी सधिशोथ तथा अस्थिसधिशोथ (osteo-arthritis) निदान मे कठिनाई उत्पन्न कर सकते है।

चिकित्सा

तीव्र सपूय सधिशोथ का निदान करते ही रसायनी चिकित्सा तथा प्रतिजीवी चिकित्सा आरभ कर देनी चाहिए। जहा तक सभव हो चूषण द्वारा प्राप्त सधिद्रव का सवर्धन और सुग्राहिता-परीक्षण करके उपयुक्त प्रतिजीवी का प्रोग करने का प्रयत्न करना चाहिए। किंतु इन प्रयोगशालापरीक्षणो की प्रतीक्षा मे चिकित्सा मे विलम्ब करना उचित नही है।

ग्रस्तसधि का निश्चलीकरण सर्वाधिक कार्ययोग्यता (maximum utility) की स्थिति मे करना चाहिए तथा प्रतिदिन उसकी परीक्षा करते रहना चाहिए। यदि पर्याप्त स्थानीय अनुक्रिया न पायी जाये तो तुरत सधि

को विसपीडित करना आवश्यक होता है , इसमे विलम्ब करने से सधि की उपास्थि के विनाश के फलस्वरूप स्थायी रूप से सधिक्रिया मे बाधा पड सकती है। विसपीड़न (decompression) चूषण अथवा सधिछेदन द्वारा किया जा सकता है , रोग के आरभ मे प्रथम विधि पर्याप्त हो मकती है, किंतु प्रचुर पूयनिर्माण होने पर सधिछेदन करके गुहिका को सब ओर से रिक्त करना आवश्यक होता है। सक्रामी जीवो को प्रभावित करने वाले किसी उपयुक्त प्रतिजीवी के विलयन द्वारा गुहिका का धावन भी किया जा सकता है। इस प्रक्रिया के पश्चात् जब तक सक्रमण पर नियत्रण न हो, अग को पूर्ण स्थानीय विश्राम प्रदान करना चाहिए। सधिगति धीरे-धीरे आरभ करनी चाहिए।

यदि रोग अत्यन्त प्रगत हो और मधि-उपास्थि विनष्ट हो चुकी हो तो सर्वोत्तम परिणाम सधिग्रह के रूप मे ही सभव होता है। ऐमे रोगियो को व्यापक निकास (drainage) तथा अधिकतम क्रियात्मक उपयोगिता की स्थिति मे स्थिरीकरण की आवश्यकता होती है।

शीघ्र निदान तथा उपयुक्त चिकित्सा द्वारा सक्रमण वियोजित हो जाता है तथा पुन प्रसामान्य सधि प्राप्त की जा सकती है; निदान मे विलम्ब करने अथवा उपयुक्त रीति से चिकित्सा न करने का परिणाम सधि की स्थायी निर्योग्यता होता है।

तीव्र संक्रामी संधिशोथ के अन्य प्रकार

कभी-कभी निमोनिया, अतिसार तानिकाशोथ (मेनिंजाइटिस), फाइलेरियेसिस, टायफाइड, स्कार्लेट ज्वर, चेचक तथा अन्य स्फोटक ज्वरो (exanthemas) के रोगियों को सधिशोथ हो सकता है (चित्र 129)। यह सधिशोथ रोगी के मूल सक्रामी जीवाणुओ के कारण अथवा द्वितीयक सक्रमण के कारण हो सकता है। रोग की प्रबलता विविध होती है तथा मन्द सीरमी साईनोवियलशोथ अथवा स्पष्ट पूयजन पूयसधिता (suppurative pyoarthrosis) की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। चिकित्सा के सिद्धात पूतिज सधिशोथ (septic arthritis) के समान ही होते है।

गोनोरिया के एक प्रतिशत रोगी जानु, कूर्पर आदि किसी एक विशाल सधि के तीव्र शोथ से ग्रस्त हो जाते है। इस अवस्था का आरम्भ शीघ्र होता है तथा स्थानीय और दैहिक चिह्न प्रबल होते है। हाल मे हुए तीव्र मूत्रमार्गशोथ का इतिवृत्त भी बहुधा पाया जाता है। पेनिसिलिन तथा सल्फा आदि औषधो का प्रयोग प्राय: उत्तम रहता है और इनके अविलम्ब प्रयोग से शीघ्र ही

सक्रमण वियोजित हो जाता है। अचिकित्सित रोगियो मे तान्तवसधिग्रह (fibrous ankylosis) हो सकता है।

जीवन के प्रथम वर्ष मे कुछ शिशु एक गभीर प्रकार के अस्थिशोथ से ग्रस्त हो जाते है जो प्राय नितम्ब तथा कभी-कभी जानुसधि को प्रभावित करता है। ग्रस्त सधि शीघ्र ही अत्यन्त क्षतिग्रस्त हो जाती है। इस आयु मे एपिफिसिस की उपास्थिमय प्रकृति के कारण अस्थिया भी पर्याप्त विनष्ट हो जाती है। समीपवर्ती एपिफिसिसी वृद्धि उपास्थि (epiphyseal growth cartilage) भी नष्ट हो
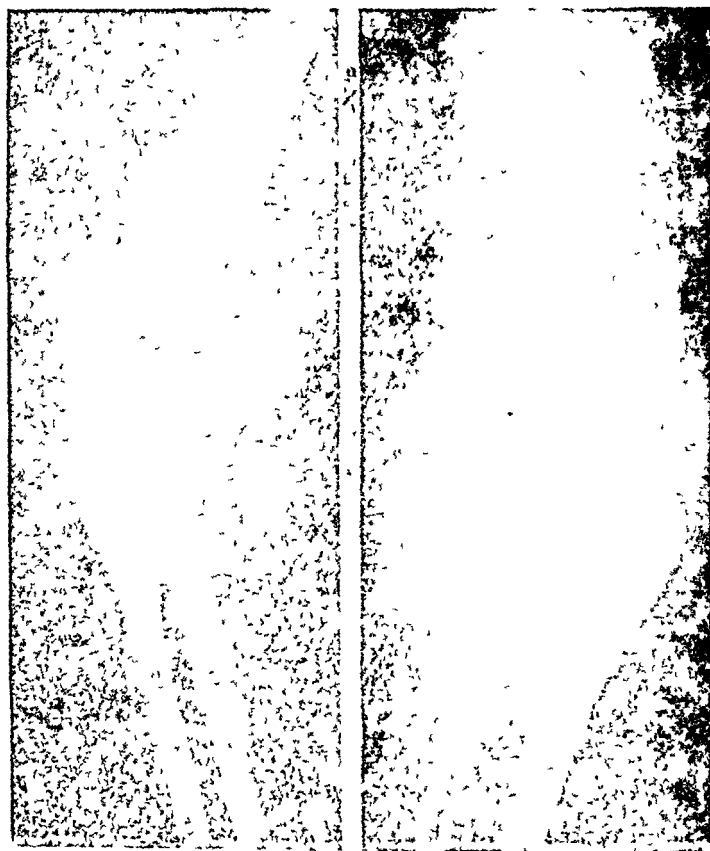
चित्र 129—बच्चो मे चेचक के कारण तीव्र सपूय सधिशोथ विरल नही है, ऊपर एक्सरे-चित्र मे दाई कूर्पर की ऐसी ही दशा दिखायी गयी है। एपिफिसिसी प्लेट और सधितलो का विनाश तथा सवलक्षेमन की प्रवृत्ति स्पष्ट है। प्रगडिका, अलना और रेडियस मे पर्यस्थि की प्रतिक्रिया भी प्रत्यक्ष है।

सकती है तथा फलस्वरूप अग मे अधिकाधिक विरूपता और छोटापन होता जाता है। रोग के आरम्भ मे ही यदि समुचित चिकित्सा की जाये तो सक्रमण का नियत्रण और अग की सुरक्षा हो सकती है।

अस्थिउपास्थिशोथ (Osteochondritis)

वृद्धिकाल मे कुछ अस्थियो मे विशेष एक्सरे-चित्र मे दीखने वाले परिवर्तन प्रकट होते है। किंतु सहगामी नैदानिक अभिलक्षण अत्यल्प होते हैं। इन अवस्थाओ का यथार्थ हेतु अभी अज्ञात है, किंतु विश्वास किया जाता है कि सक्रमण अथवा अभिघात के फलस्वरूप एपिफिसिस के रक्त-सभरण की त्रुटि के कारण ऐसा होता है। आघटन की सामान्य स्थितिया निम्नलिखित है। ऊर्विका के शिर पर की एपिफिसिस (capital epiphysis)—पर्थी रोग (Perthes' disease), पदकूर्चकी नौकास्थ (tarsal navicular)—कोह्लर

चित्र 130 (अ)—सक्रिय पर्थी रोग। एपिफिसिस का विदारण, खडन, सपीडन तथा सघन-अस्थि का अवशोषण स्पष्ट है। सघन, अनियमित अस्थि द्वीप भी दृष्टिगोचर है। सधि-अतराल मे वृद्धि हो गई है।

रोग (Kohler's disease), अन्तर्जंघिका की गुलिका—श्लैटर रोग (Schlatter's disease), कशेरुक काय—कैल्वे रोग (Calve's disease), मणिवध की अर्धचद्राकार (carpal lunate)—कीनबोक रोग (Kienbock's disease), कशेरुक एपिफिसिस—शरैमन रोग (Scheuermann's disease)।

चित्र 1.0 (ब)—विरोहित पर्थी रोग। ऊर्ि के कारण आकृति कुकुरमुत्ते के समा

उपरिलिखित सभी अवस्थाएँ अपेक्षाकृत सुदम्य है तथा पर्थी रोग के अतिरिक्त इनका आवटन विरल है। इनका महत्त्व इस कारण है कि वे यक्ष्मा रोग का भ्रम उत्पन्न कर सकती है तथा इस प्रकार अनुचित चिंता का कारण बन सकती हैं।

पर्थी रोग (Perthes' disease)

नितंब का यह रोग लडकियो की अपेक्षा लडको मे अधिक पाया जाता है

तथा आयु 5–10 वर्ष होती है—रोग की तीन प्रावस्थाएँ होती है—आरम्भ (onset), सक्रियता (activity) तथा विरोहण (healing)।

आरम्भ मद व अस्पष्ट होता है तथा आरम्भिक लक्षण पीड़ा, लगडाना (limp) तथा पेशी आकर्ष के कारण गतिरोध के रूप मे प्रकट होते है। अपावर्तन, अभिवर्तन और आतरिक घूर्णन (internal rotation) की गतिया अपेक्षाकृत अधिक सीमित होती है। कुछ समय पश्चात् घनात्मक ट्रेडलेनवर्ग चिह्न (positive Trendelenburg's sign) प्रकट हो जाता है तथा स्कार्पा त्रिभुज (Scarpa's triangle) भरा हुआ प्रतीत होता है। स्पर्शानुभव पर वृहत् शिखरक मोटा प्रतीत हो सकता है।

एक्सरे-चित्र मे विशिष्ट प्रकार के परिवर्तन प्रकट होते है जिनकी निम्नलिखित प्रावस्थाये होती है—एपिफिसिस की सघनता मे वृद्धि तथा सधि-अवकाश का विस्तार, एपिफिसिस का खण्डन, सघनन (चित्र 130) और चपटा हो जाना, तथा अन्तत ऊर्विकाग्रीवा का चौड़ापन और सिर की कुकुरमुत्ता-सम आकृति। जैसे-जैसे रोग विरोहित होता है, प्रसामान्य ट्रेवेक्युली प्रारूप (trabecular pattern) पुन. प्रकट हो जाता है।

इस अवस्था की चिकित्सा के लिए जव तक वैकृत चक्र अध्यारोपित न हो, सन्धि को भार वाहन से वचाना चाहिए। अध्यारोपण मे 2-3 वर्ष का समय लग सकता है।

अज्ञात हतु के कंकाल-विकार
(Skeletal disorders of unknown aetiology)

पेजेट रोग (Paget's disease)

विरूपकर अस्थिशोथ (Osteitis deformans) के नाम से सम्वोधित इस रोग का हेतु अज्ञात है। यह सम्पूर्ण अथवा आशिक ककाल को प्रभावित कर सकता है; ककाल के कुछ भागो के मृदुभूत और विवर्धित होने के फलस्वरूप विरूपता और वैकृत अस्थिभग उत्पन्न हो जाते है। कभी-कभी विक्षतियो मे सार्कोमी दुर्दमता भी उत्पन्न हो सकती है। यह रोग प्राय प्रौढ अवस्था मे होता है। भारत मे इसका आघटन विरल है।

इस रोग मे एक अस्थि, शाखा अग अथवा सम्पूर्ण शरीर प्रभावित हो सकता है। रोग का आरम्भ मद तथा अस्पष्ट होता है। प्राथमिक लक्षण टाग अथवा पीठ मे पीडा के रूप मे प्रकट होते हैं। रोग की पूर्णत. विकसित दशा मे करोटि

विवर्धित हो जाती है तथा कशेरुकाओं के पिचकने, कुब्जता प्रकट होने तथा ऊर्विका और अन्तर्जंघिका अस्थियों के टेढ़ा होने के कारण शरीर की लम्बाई घट जाती है। कभी-कभी रन्ध्रों अथवा रन्ध्रों में अस्थि-विवर्धन के कारण तन्त्रिका-सम्पीडन के चिन्ह (उदाहरणत अधरागघात) प्रगट हो सकते हैं। बहुधा अस्थि-भग भी हो जाता है।

ऐक्सरे चित्र स्वरूप विशिष्ट होता है—ग्रस्त अस्थि में विवर्धन, अस्थि-विनाश और नवीन अस्थि निर्माण के चिन्ह तथा दीर्घाकार ट्रेबेक्युली प्रारूप (giant trabecular pattern) पाया जाता है।

चिकित्सा लाक्षणिक है।

तान्तव दुर्विकसन (Fibrous dysplasia)

यह एक विरल रोग है जिसमे शरीर में किसी भी स्थान पर एक या अधिक अस्थियो मे अपविकसन (dystrophy) पाया जाता है; अस्थि-ऊतक तान्तव ऊतक द्वारा प्रतिस्थापित हो जाता है जिनमे पुटी (cystic)-व्यपजनन के क्षेत्र विद्यमान होते हैं। सर्वप्रथम पीडा व स्फीति प्रकट होती है किंतु वैकृत अस्थिभग द्वारा भी रोग का प्रथम सकेत मिल सकता है।

एक्सरे-चित्र मे एक पारभासी क्षेत्र पाया जाता है जिसकी रूपरेखा स्पष्ट तथा कभी-कभी अनियमित होती है। यह क्षेत्र पतले पटो द्वारा विभाजित हो सकता है।

चिकित्सा स्थानीय शल्य अपनयन द्वारा की जाती है किंतु पुनरावर्तन बहुधा हो जाता है।

चिरकारी संधिशोथ (Chronic arthritis)

इस वर्ग मे वस्तुत केवल सधियो की शोथयुक्त विक्षतिया ही होनी चाहिएँ, किंतु प्राय कुछ ऐसे रोग भी सम्मिलित किये जाते है जो मूलत. शोथजन्य नहीं होते। चिरकारी-अस्थिशोथ शीर्षक के अन्तर्गत आने वाली अवस्थाए निम्न-लिखित है . (1) यक्ष्मज सधिशोथ, (2) रूमेटाइड सन्धिशोथ; (3) एकिलो-जिग स्पोंडिलाइटिस (ankylosing spondylitis); (4) गोनोकाकसी सन्धि-शोथ, (5) गाउटजन्य सन्धिशोथ (gouty arthritis); (6) अस्थिसन्धिशोथ (osteo-arthritis); (7) तन्त्रिका-विकारजन्य (neuropathic) सन्धिशोथ।

यक्ष्मज सन्धिशोथ (Tuberculous arthritis)

अस्थियक्ष्मा की भांति सन्धि-यक्ष्मा भी सदा द्वितीयक विक्षति के रूप मे आरम्भ होता है तथा दोनो को उत्पन्न करने वाले कारण समान होते है। विक्षति का आरम्भ अस्थिफोकस अथवा साइनोवियल फोकस (synovial focus) के रूप मे हो सकता है। अस्थिफोकस की स्थिति प्राय सन्धि परिसर के निकट अव-उपास्थि ऊतक मे अथवा एपिफिमिसीय रेखा के निकट मेटाफिसिस मे होती है; यथार्थ स्थिति व्यक्तिगत अस्थि पर निर्भर होती है। साधारणतः यह विक्षति अल्प अवधि मे ही सन्धि मे फैल जाती है, किंतु कभी-कभी वहि सधि-फोकस (extra-articular focus) के रूप मे ही सीमित रह सकती है। यदि फोकस श्लेपक कला मे आरम्भ हो तो अस्थि दीर्घकाल तक अप्रभावित रह सकती है। किन्तु अन्तत दोनों प्रकार की विक्षेतियो मे सन्धि के समस्त भाग ग्रस्त हो जाते है।

आरम्भ होने के पश्चात् रोगवृद्धि मे तीन अवस्थाएं होती है—आक्रमण (invasion) की अवस्था, सक्रियता (activation) की अवस्था, प्रतिक्रमण (regression) की अवस्था, जिसके पश्चात् विरोहण (repair) होता है। यक्ष्मज फालिकल वर्धित तथा सलीन होकर प्रमामान्य ऊतको को नष्ट कर देते है तथा उनके स्थान पर प्रतिस्थापित हो जाते है। एक वार सन्धि-उपास्थि को अपरदित करने तथा सन्धि मे प्रविष्ट होने के पश्चात् विक्षति व्यापक रूप मे फैलने लगती है तथा सम्पूर्ण श्लेपक कला और सन्धिकार्टिलेज यक्ष्मज कणिका-ऊतक से आच्छादित हो जाते है।

विस्तृत ऊतकविनाश तथा द्रवीभवन के फलस्वरूप एक शीतल विद्रधि उत्पन्न हो सकती है। शोथ के कारण सन्धिसंपुट निर्बल हो जाता है तथा विद्रधि के भीतर का द्रव उसे चीरकर सपुटवाह्य ऊतक-तलों (tissue planes) में पहुच जाता है। सम्पुट और स्नायुओ की निर्वलता, पेशी-आकर्प, तथा गुरुत्व और भारवाहन के प्रभाव के कारण सन्धि का वैकृत स्थानभ्रंश हो जाता हे।

सन्धि-सपुट से वाहर आने के पश्चात् विद्रधि मे की पूय ऊतक-तलो मे होती हुई अधस्त्वक् स्थिति मे पहुचती है तथा अंतत त्वचा के फटने से एक साइनस वन जाता है जिससे स्राव निकलता रहता है।

प्रतिक्रमण की अवस्था आरभ होने के पश्चात् अस्थि-ऊतक का पुन कैल्सीभवन होता है किन्तु सन्धि-उपास्थि का पुन निर्माण नही होता तथा अस्थि की विरूपित आकृति वैसी ही रहती है। विरोहण (repair) तान्तव ऊतक द्वारा

होता है तथा अन्तिम परिणाम प्राय: विरूपित स्थिति मे तान्तव सन्धिग्रह (fibrous ankylosis) होता है। इन विरोहित दीखने वाली विक्षतियों मे तन्तु-ऊतक द्वारा सपुटित सक्रिय यक्ष्माफोकस शेष रह सकते है तथा उनके कारण अनेक वर्ष पश्चात् भी रोग फिर उभर सकता है। साइनस द्वारा द्वितीयक सक्रमण होने पर अस्थि-सन्धिग्रह (bony ankylosis) भी हो सकता है।

रोग समस्त रोगियो मे उपरिलिखित मार्ग ही ग्रहण नही करता। कुछ रोगियो मे व्यापक विनाश अथवा विद्रधि-निर्माण के बिना ही विरोहण हो जाता है, अन्य मे यक्ष्मा रोग के व्यापक विसरण के फलस्वरूप तानिकाशोथ (meningitis), क्षवगु यक्ष्मा (miliary tuberculosis), तथा अन्य प्रकार का व्यापक यक्ष्मा उत्पन्न हो सकता है और रोगी की मृत्यु हो सकती है।

लक्षण एवं चिन्ह

दैहिक लक्षण मद तथा गौण होते है उदाहरणत: कुछ भारहानि, रुग्णता की अनुभूति, सामान्य कार्य के पश्चात् थकान तथा बच्चों मे, खेलने मे अरुचि। प्रभावित अग मे क्षोभ के चिन्ह पाये जाते है, यथा पीड़ा, सम्बन्धित पेशियो का आकर्ष, सन्धि की गति एव क्रिया मे अवरोध। आरम्भिक दशा मे वेदना अत्यल्प अथवा अनुपस्थित होती है, किन्तु सन्धि-उपास्थि के नष्ट होने के पश्चात् अपेक्षाकृत प्रबल हो जाती है। सन्धि मे स्थानीय वेदना के अतिरिक्त सम्बन्धित मेरुखडाश (spinal segment) द्वारा तत्रिका-सभरित किसी अन्य क्षेत्र मे अन्यत्रानुभूत पीडा भी प्रकट हो सकती है; उदाहरणत त्रिक-श्रोणिफलक सन्धि के रोग का एक शीघ्र व नियत चिन्ह गृध्रिका या शाएटिक तत्रिका (sciatic nerve) के मार्ग मे पीडा है। निम्न शाखाअग के सन्धिरोग का प्रथम लक्षण लगडाना (limp) होता है। सन्धिविरूपता प्राय: प्रत्येक रोगी में प्रगट हो जाती है, सन्धि की स्थिति रोग की प्रावस्था तथा सन्धि से सम्बन्धित मुख्य पेशियों की क्रिया पर निर्भर होती है। उपरिस्थ सधियो मे श्लेपक कला तथा परिसधि-ऊतको के शोफ के कारण शीघ्र ही स्फीति प्रकट हो जाती है जिसका विशिष्ट स्पर्शानुभव दलदल समान (boggy feel) होता है। यक्ष्मज सन्धिशोथ का एक महत्वपूर्ण लक्षण सम्बन्धित पेशियो का शीघ्र व द्रुत क्षय है। यदि विद्रधि बन जाय तो वह सपुट के निर्बलतम स्थान पर स्थित होती है तथा उसका स्वरूप एक अस्पष्ट, मृदु, स्पर्शतरगयुक्त स्फीति के समान होता है।

विद्रधि के विसर्जन के पश्चात् जो साइनस शेप रहता है उसका परिसर शोपित (atrophic) त्वचा के कारण विवर्ण होता है।

निदान

यक्ष्मज सन्धिशोथ का सापेक्ष निदान पूतिज सन्धिशोथ, रूमेटाइड सन्धिशोथ, अस्थ्युपास्थिशोथ, अस्थिसधिशोथ तथा तन्त्रिकाविकारजन्य सन्धिशोथ से करना होता है। इस रोग का सदेह निम्नलिखित अभिलक्षणो की उपस्थिति मे मे करना चाहिए—मद सधि वेदना का इतिवृत्त, स्फीति और सधि की अकर्मण्यता का मद आरम्भ, पेशीशोप, गति-ह्रास तथा विरूपता।

शीघ्र निदान अत्यत आवश्यक है क्योकि विशिष्ट चिकित्सा साधनो के शीघ्र प्रयोग द्वारा रोग वियोजित हो सकता है तथा सन्धि पुन. प्रसामान्य रूप ग्रहण कर सकती है। निदान मे विलम्ब होने पर उपयुक्त चिकित्सा भी सन्धि को विस्तृत विनाश से बचाने मे असमर्थ रहती है।

रक्तपरीक्षण से केवल इतनी ही सहायता मिलती है कि कुछ रोगियो मे अवसादन-दर (sedimentation rate) की वृद्धि पायी जा सकती है। एक्सरे-चित्र निश्चय ही सहायक होते है किंतु रोग की अतिशीघ्र प्रावस्था तथा श्लेषक कला के रोग मे ऋणात्मक हो सकते है। कालातर मे निम्नलिखित चिह्न प्रकट हो सकते हैं—मृदु-ऊतक-छाया अस्थिरूपरेखा का लोप, ट्रेबेक्युली प्रारूप का नाश, विकैल्सीभवन तथा अतत विनाश। सदेहास्पद दशाओ मे निदान के लिए सधि का चूपण, श्लेपक ऊतक अथवा प्रादेशिक लसीकापर्वो की जीवोतिपरीक्षा, तथा इस प्रकार प्राप्त ऊतक का सवर्धन, गिनीपिग निवेशन और ऊतकीय अध्ययन आवश्यक हो सकता है। ट्यूबरकुलिन परीक्षण (tuberculin test) का भी निदानात्मक महत्त्व है; ऋणात्मक परीक्षण द्वारा यक्ष्मा रोग की सभावना मान्य नही होती है।

चिकित्सा

यक्ष्मज विक्षति का विरोहण मूलत रोगी की प्रतिरोध शक्ति पर निर्भर होता है। कुछ समय पूर्व तक चिकित्सा का मुख्य साधन रोगी को स्थानीय व दैहिक विश्राम, पौष्टिक आहार तथा खुली वायु था, ताकि उसमे सक्रमण का विरोध करने की शक्ति बढे। यह चिकित्सा कई वर्षो तक करनी होती थी। सक्रिय रोग की अवस्था मे शस्त्रकर्म करना आपद्पूर्ण होता था।

प्रतियक्ष्मा औपधो के प्रादुर्भाव के कारण इस दशा मे सुधार हो गया है। ये औपधे आक्रमणकारी जीवाणुओ को नष्ट कर देती है, अत आपरेशन से पूर्व

रोगग्रस्त ऊतक को सक्रिय संक्रमण से मुक्त करना तथा शस्त्रकर्म द्वारा रोग का उन्मूलन करना संभव हो गया है। चिकित्साविधि की सामान्य योजना नीचे प्रस्तुत की गयी है।

सक्रिय रोग की चिकित्सा

सामान्य चिकित्सा—यह अभी भी चिकित्सा का एक महत्त्वपूर्ण अंग है जो रोगी की प्रतिरोधशक्ति को बढाने तथा प्राथमिक विक्षति को नियंत्रित करने मे सहायक होता है। रोगी को शारीरिक व मानसिक विश्राम, विटामिन, पौष्टिक आहार, शुद्ध वायु तथा उत्तम परिचर्या द्वारा उसका शारीरिक बल और आत्म-विश्वास बढाने चाहिए।

प्रतियक्ष्मा औषधों के प्रयोग से रोग की सक्रिय अवस्था की अवधि घट जाती है, साइनस-विरोहित हो जाते हैं तथा रोगी के सामान्य स्वास्थ्य मे अति शीघ्र वृद्धि हो जाती है।

प्रतिरोधी विभेदो या स्ट्रेनो की उत्पत्ति के निवारणार्थ प्रतियक्ष्मा औषधों का प्रयोग संयुक्त रूप मे करना चाहिए। यह प्रयोग 1–2 वर्ष के दीर्घकाल तक करना होता है।

सर्वोत्तम औषधे स्ट्रेप्टोमाइसिन, आइसोनाएजिड (isoniazid) और पेरा-एमाइनो-सेलिसिलिक एसिड है। कुछ अन्य औषधो का भी सीमित प्रयोग किया गया है।

स्थानीय चिकित्सा—यह रोग की प्रावस्था तथा वृद्धि पर निर्भर करती है। आरंभिक रोग की अवस्था मे संधि का तब तक इष्टतम क्रिया (optimum function) की स्थिति मे अचलीकरण करना चाहिए जब तक रोग शात न हो जाय तथा उपचार का प्रभाव स्थायी हो जाय। तत्पश्चात् कठोर निरीक्षण के अन्तर्गत संधि को क्रमश. गतिशील करना चाहिए। इस चिकित्सा द्वारा अत्यंत आरंभिक रोग पूर्णत वियोजित हो जाता है और संधि पुन असामान्य हो जाती है। अपेक्षाकृत प्रगत रोग मे चिकित्सा का अन्तिम परिणाम तान्तव संधिग्रह (fibrous ankylosis) होता है।

यदि रोग तीव्र, व्यापक तथा पर्याप्त प्रगत हो, संधायक पर्यस्थि विनष्ट हो चुकी हो, संरक्षी चिकित्सा का परिणाम संतोषप्रद न हो, तथा विद्रधि, साइनस, क्षीणता आदि उपद्रव प्रकट हो गए हो, तो चिकित्सा की सर्वोत्तम विधि संरक्षी तथा शस्त्रचिकित्सा का उचित संयुक्त प्रयोग है। ऐसा वयस्क रोगियो मे विशेष आवश्यक होता है क्योकि उनमे विरोहण (healing) की गति मंद होती है,

रोग का सरोध सदेहपूर्ण होता है तथा आर्थिक या अन्य कारणों से लवी अवधि तक सरक्षी चिकित्सा सभव नही होती। ऐसे रोगियो मे शस्त्रकर्म द्वारा विद्रधि-भित्ति, विविक्ति आदि समेत समस्त स्पष्टत. रोगग्रस्त ऊतक का उन्मूलक उच्छेदन तथा यक्ष्मज मलवे (tuberculous debris) का अपहरण करना चाहिए। आपरेशन से पूर्व प्रतियक्ष्मा औषधो तथा अन्य सरक्षी साधनो द्वारा रोगी की चिकित्सा आवश्यक है; आपरेशन के पश्चात् भी विक्षति के विरोहित होने तथा स्थायी लाभ दृष्टिगोचर होने तक यह उपचार चालू रखना आवश्यक है।

संरुद्ध रोग की चिकित्सा

सरुद्ध रोग (arrested disease) के मरीजो को तीन वर्गो मे बांटा जा सकता है।

(1) जिनमे प्रसामान्य सधि पुन स्थापित हो गई है तथा पूर्ण परिसरयुक्त, वेदना रहित गतिया विद्यमान हो; ऐसे रोगियो को केवल सामयिक जाच की आवश्यकना होती है।

(2) ऐसे रोगी जिनमे सधि नष्ट हो चुकी हो, किंतु उपयोगी गतियां (useful range of movement) शेष हो। ऊर्ध्व शाखा-अगो की सधिया भारवाही न होने के कारण उनमे सयुक्ति या फ्यूज़न (fusion) करने की कोई आवश्यकता नही होती, ऐसे मरीजों को रोग के फिर से सक्रिय होने के चिह्न पहचानने के लिए प्रेक्षणगत रखना चाहिए। भारवाही सधियो के लिए प्रतीक्षा और प्रेक्षण (wait and see) की नीति का अनुसरण करना उचित रहता है; यदि रोग के पुन सक्रिय होने या अपर्याप्त विरोहण का सदेह हो अथवा गति वेदनायुक्त हो तो उन सधियों को आर्थ्रोडिसिस (arthrodesis) या सधि स्थिरीकरण के आपरेशन द्वारा स्थिर कर देना चाहिए।

(3) यदि विरोहण तान्तव संधिग्रह (fibrous ankylosis) द्वारा हुआ हो तथा कोई गति विद्यमान न हो तो भविष्य मे रोग सक्रियता के निवारणार्थ आर्थोडेसिस (arthrodesis) आपरेशन द्वारा तान्तव सधिग्रह को अस्थिसधिग्रह (bony ankylosis) मे परिणत करना वाछनीय होता है। यदि रोग विरोहित हो चुका हो तथा जोड विरूप अवस्था मे स्थिर हो गया हो तो सशोधक शल्यकर्म (corrective surgery) की आवश्यकता होती है।

नितंब का यक्ष्मा

नितंब संधि बहुधा यक्ष्माग्रस्त होती है। रोग का आरंभ आम तौर पर अस्थि मे तथा कभी-कभी श्लेषक कला में भी होता है। संधिबाह्य रोग द्वारा भी संधि प्रभावित हो सकती है। विलंबावस्था मे श्रोणि-उलूखल की छत अपरदित हो जाती है तथा धीरे-धीरे ऊर्विका शिर का अभिपृष्ठ स्थानभ्रंश (dorsal dislocation) हो जाता है—'भ्रमणशील श्रोणिउलूखल' (wandering acetabulum) अस्थि विनाश अल्प अथवा व्यापक (श्रोणि उलूखल व ऊर्विका शिर को प्रभावित करने वाला) हो सकता है। शीतल विद्रधि भी बन सकती है जो दीर्घतमा (सार्टोरियस) और ऊरु प्रावरणीताननी (tensor fasciae latae) के मध्य प्रकट होती है या मध्यवर्ती और अभिवर्तनी पेशियो के बीच प्रकट हो सकती है, नितंबिकाओं (glutei) के नीचे एकत्रित हो सकती है, कटिलंबिनी पिधान (psoas sheath) मे प्रविष्ट होकर श्रोणिफलक खात (iliac fossa) को भर सकती है, वक्षण (groin) मे प्रवेश पा सकती है अथवा श्रोणि-उलूखल को छिद्रित करके अंत श्रोणि-विद्रधि (intrapelvic abscess) का रूप ग्रहण कर सकती है।

आरंभिक लक्षण वेदना और लंगडापन (limp) है। आरंभ मंद होता है तथा कुछ रोगियो मे केवल सविरामी (intermittent) लंगडापन पाया जाता है। वेदना बहुधा जानु मे अन्यत्रानुभूत होती है। शीघ्र ही नितंब क्षीण हो जाता है, संधि के सामने की ओर स्पर्शासहता प्रकट होती है तथा सब दिशाओ मे गति रुक जाती है। संधि की स्थिति रोग की प्रावस्था पर निर्भर करती है।

संधि की स्थिति

प्रथम अवस्था—आकुंचन, अभिवर्तन तथा बाह्य घूर्णन, अर्थात् अधिकतम संधि अवकाश की स्थिति। प्रभावित पार्श्व मे श्रोणि के नीचे झुकने के कारण शाखाअंग की लंबाई मे आभासी ह्रास हो जाता है।

द्वितीय अवस्था—सक्रिय संधिशोथ आरम्भ होने पर मुख्य पेशियो के आकर्षण के कारण आकुंचन, अभिवर्तन और आंतरिक घूर्णन। श्रोणि के ऊंचा उठने के कारण अंग की लंबाई अधिक दीखती है (यद्यपि होती नही)।

तृतीय अवस्था—शिर और ग्रीवा के विनाश तथा शिर के शनै. शनैः अभिपृष्ठ-स्थानभ्रंश के कारण उक्त स्थिति की वृद्धि। आभासी एवं वास्तविक दोनो प्रकार की लंबाई कम हो जाती है।

सापेक्ष निदान (differential diagnosis)

बच्चे—बच्चो मे नितव सधि के यक्ष्मा का विभेदन निम्नलिखित दशाओं से करना होता है : (1) अल्पस्थायी श्लेषकशोथ (transient synovitis), जो केवल कुछ सप्ताह तक रहने वाला, अत्यन्त सुदम्य रोग है और स्वत विरोहित हो जाता है; (2) पर्थी रोग (Perthes' disease) जो केपिटल एपिफिसिस के रक्तसभरण मे वाधा के कारण होता है और कुछ विशिष्ट एक्सरेचित्र परिवर्तन प्रदर्शित करता है—सर्वप्रथम शिर की सघनता वढ जाती है, तदनतर विखडन (fragmentation) और पात(collapse) प्रकट होता है तथा तदुपरांत स्वत. विरोहण हो जाता है। अन्त मे शिर की आकृति चपटी, चौडी और अनियमित हो जाती है। एक्सरे-परिवर्तन नैदानिक अभिलक्षणो की तुलना मे अधिक सुस्पष्ट होते है, जो केवल लगडापन (limp) तथा तनिक गतिरोध के रूप मे प्रकट होते हैं; (3) सर्पिल ऊर्ध्व ऊर्विका एपिफिसिस—इस अवस्था मे ऐक्सरेचित्र से स्पष्ट विदित होता है कि शिर का एपिफिसिस ग्रीवा से नीचे और पीछे की ओर फिसल गया है, (4) सधिवाह्य यक्ष्मा (extra-articular tuberculosis) एक्सरेचित्र द्वारा इस अवस्था का निदान सहज ही किया जा सकता है।

वयस्क—वयस्को मे नितवसधि यक्ष्मा का निदान निम्नलिखित दशाओ से करना होता है : (1) आरम्भिक एकिलोजिग स्पॉडिलाइटिस या सधिग्रहशील कशेरुक सधिशोथ, विशेपत जव इस रोग का आरम्भ एक नितंव सधि मे हो। यह विभेदन कठिन किन्तु अनिवार्य होता है। इस दशा मे एक्सरेचित्र मे दोनो त्रिक-श्रोणिफलक सधियो मे अवोपास्थि-अस्थि-निक्षेपन पाया जाता है; (2) अस्थिसधिशोथ का निदान एक्सरेचित्र द्वारा स्पष्ट हो जाता है; (3) अस्थियो मे द्वितीयक दुर्दम विक्षेप केवल आभासतः ही नितवयक्ष्मा के समान होता है—इस अवस्था मे सधि प्रभावमुक्त रहती है तथा एक्सरेचित्र मे सधि के निकट अस्थिविनाश के क्षेत्र पाये जाते है।

चिकित्सा

चिकित्सा के सिद्धान्त पहले ही वताये जा चुके है। यदि रोगी की प्रथम प्रस्तुति के समय पर्याप्त विरूपता विद्यमान हो तो मद सतत खिंचाव (gentle continuous traction) द्वारा उसे सशोधित करना होता है। सधि को 5-10 अंश अभिवर्तन तथा तनिक आकुचन की स्थिति (इष्टतम सधि क्रिया की स्थिति)

मे अचल कर दिया जाता है। यदि ट्रैक्शन द्वारा विरूपता का संशोधन सभव न हो तो अध.शिखरक कीलाकार अस्थिछेदन (subtrochanteric cuneiform osteotomy) करके शाखाअग को सर्वोत्तम क्रियात्मक स्थिति मे अचल कर देना चाहिए।

आरम्भिक मरीजो, विशेषत बच्चो, मे आधुनिक चिकित्सा-साधनो द्वारा रोग का पूर्ण वियोजन तथा सधिक्रिया की पूर्ण पुन प्राप्ति सम्भव होती है। चिकित्सा मे लगभग 12-18 मास का समय लगता है। रोग के व्यापक होने पर, विशेषत यदि रोगी वयस्क हो, स्थानीय रोग की शस्त्रचिकित्सा मे विलव नही करना चाहिए।

उल्लाघ काल मे सुरक्षात्मक साधन के रूप मे रोगी को भार-मुक्तिदायक कैलिपर (weight-relieving caliper) अथवा भली प्रकार फिट होने वाला छोटा नितव स्वस्तिक (hip spica) लगाया जाता है। जब तक एक्सरेचित्र में प्रभावित क्षेत्र का पूर्ण सपिडन (consolidation) प्रकट न हो तथा सक्रिय रोग के वावजूद स्थानीय लक्षण एव चिन्ह लुप्त न हो, इन साधनो का प्रयोग चालू रखना चाहिए। यदि सधिग्रह अस्थिर हो तो आर्थोडिसिस (arthrodesis), यथासभव सधिवाह्य मार्ग के प्रयोग द्वारा, करना चाहिए। बच्चो मे किशोरा-वस्था से पूर्व यह आपरेशन वर्जित है।

जानुयक्ष्मा

नितव के पश्चात् जानुसधि सबसे अधिक रोगग्रस्त होती है। रोग प्राय. श्लेपण कला मे प्रारम्भ होता है तथा दीर्घ काल तक इसी रूप मे रहता है। एक हाइड्रोपिक प्ररूप (hydropic type) भी पाया जाता है जिसमे सधि मे नि सरण की प्रचुर मात्रा एकत्र हो जाती है तथा निदानात्मक समस्या प्रस्तुत कर सकती है। प्रथम रूप वच्चो मे विशेष रूप से अत्यधिक विनाशकारी होता है (चित्र 131)।

आरम्भिक लक्षण वेदना तथा स्फीति होते है। श्लेपक रोग मे गतिसीमन (limiation of movement) अत्यल्प हो सकता है। जव कभी उपास्थि क्षतिग्रस्त होती है, पेशीआकर्ष के कारण स्थायी आकुचन विरूपता (fixed flexion deformity) प्रकट हो जाती है। पेशी क्षीणता शीघ्र और महत्त्वपूर्ण होती है तथा मुख्यत वास्टसपेशी पिड (vastus muscle mass) को प्रभावित करती है। उपेक्षित रोगियो मे सधि के मृदुभवन तथा पेशियो के खिचाव के कारण एक प्रकार का त्रिरूपी स्थानभ्रश उत्पन्न हो जाता है—अन्तर्जघिका पीछे,

वाहर और ऊपर की ओर खिच जाती है तथा वाह्य दिशा मे घूम जाती है।

निदान

एक घुटने का चिरकारी श्लेपकशोथ पाया जाय तो यक्ष्मा का सदेह करना चाहिए। इस रोग का विभेद अविशिष्ट श्लेपकशोथ (non-specific synovitis) पूतिज श्लेपकशोथ तथा रूमेटाइड सधिशोथ से करना होता है। प्रगत रोग का निदान कदाचित् ही कठिन होता है, पुष्टि के लिए जीवोतिपरीक्षा का प्रयोग किया जा सकता है।

चिकित्सा

चिकित्सा की विधि अन्य सधियो के यक्ष्मा के समान ही है। सधि को प्रमारण (extension) की स्थिति मे अचल करना चाहिए। विरूपता के संशोधन के लिए ट्रैक्शन (traction) का प्रयोग किया जाय। यदि त्रिरूपी स्थान-भ्रश विद्यमान हो तो अन्तर्जघिका के ऊर्ध्व छोर को सहारा देना चाहिए तथा उसे ट्रैक्शन के समय अग्र दिशा मे खीचना चाहिए। प्रगत तथा व्यापक रोग की शस्त्रचिकित्सा आवश्यक होती है, सम्पूर्ण रोगग्रस्त ऊतक का अपहरण करके उसी समय आर्थोडिसिस या सधि स्थिरीकरण कर देना चाहिए। वच्चो मे यथासभव आपरेशन से वचने का यत्न करना चाहिए, क्योकि उनमे जानुप्रदेश की वृद्धि-प्लेटो (growth plates) के आहत होने का भय रहता है।

चित्र 131—दक्षिण जानुसधि का अग्र-पश्च एक्सरे-चित्र, जिसमे सधि का प्ररूपी यक्ष्मा दिखाया गया है। पार्श्व ऊर्विका के स्थूलक का विनाश तथा अभिमध्य-स्थूलकप्रदेश (intra-condylar region) मे रोग केन्द्र की उपस्थिति स्पष्ट है।

श्लेपक यक्ष्मा मे रोग का वियोजन तथा सधिक्रिया का पूर्ण प्रतिस्थापन सम्भव होता है। सधि-उपास्थि के नष्ट हो चुकने पर सधिग्रह अवश्यभावी है।

उल्लाघ काल मे चलने के समय लगाने वाले केल्पिगे (walking caliper) का रोगी द्वारा प्रयोग कराया जाता है।

आजकल अगोच्छेद कदापि आवश्यक नही होता।

गुल्फ का यक्ष्मा

गुल्फ (ankle) किसी भी आयु मे ग्रस्त हो सकता है। रोग का आरम्भ प्राय सदा अस्थि प्ररूपी होता है। आरम्भिक लक्षण वेदना, लगड़ापन (limp) तथा शोफ है, शोफ गुल्फ के चारो ओर होता है तथा एचिलिस कडरा (achillis tendon) के पार्श्वो मे अधिक स्पष्ट दिखाई देता है। पैर की स्थिति इक्वायनस (equinus) अवस्था मे पायी जाती है। टाग की क्षीणता शीघ्र ही सुस्पष्ट हो जाती है।

वच्चो मे मुख्यत सरक्षी चिकित्सा की जाती है। किन्तु प्रनिरोधी रोगियो मे स्पष्टत रोगग्रस्त ऊतक का शल्य-अपनयन आवश्यक हो सकता है। वयस्कों में शस्त्रचिकित्सा करने मे अधिक विलम्ब नही करना चाहिए क्योकि गुल्फ रोग का प्राग्ज्ञान आशाप्रद नही होता। वयस्को मे स्थानीय शस्त्रचिकित्सा के अतिरिक्त किसी सर्वमान्य प्रविधि द्वारा सधि का आर्थोडिसिस (arthrodesis) या स्थिरीकरण भी करना चाहिए।

त्रिक-श्रोणिफलक संधि का यक्ष्मा

त्रिक-श्रोणिफलक सधि (sacro-iliac joint) का यक्ष्मा वच्चो की अपेक्षा वयस्को को अधिक प्रभावित करता है तथा स्त्रियो मे अपेक्षाकृत अधिक पाया जाता है। इसका कारण स्त्रियो मे प्रसव के समय शरीर पर पडने वाला वोझ हो सकता है। रोग के मुख्य लक्षण निम्नलिखित है—लगडापन, स्थानिक वेदना, स्पर्शासहता, आसन तन्त्रिका (sciatic nerve) के सभरण क्षेत्र मे अन्यत्रानुभूत वेदना। जब तक एक्सरे-चित्र सधि मे अस्थि-अपरदन न प्रदर्शित करे, इस रोग का निदान कठिन होना है। विद्रधि का निर्माण शीघ्र ही हो जाता है, यह श्रोणि मे अथवा पीछे की ओर प्रस्तुत हो सकती है। विद्रधि वनने के पश्चात् निदान सदेहरहित हो जाता है।

त्रिक-श्रोणिफलक सधि को विश्राम देना अति कठिन होता है; लेटने पर भी ऐसा सम्भव नही होता। सरक्षी चिकित्सा तथा प्रतियक्ष्मा औपधो के प्रयोग

के वावजूद भी विक्षति प्राय वढती रहती है, अत शस्त्रचिकित्सा आवश्यक होती है । सर्वोत्तम परिणाम आपरेशन तथा औपधो के सयुक्त प्रयोग द्वारा प्राप्त होते है।

स्कंध का यक्ष्मा

स्कध सधि मे यक्ष्मा रोग का एक विशेप प्ररूप पाया जाता है, जिसे शुष्क क्षरण (caries sicca) कहते है । इस अवस्था मे असफलक-प्रगडिका सधि (scapulo-humeral joint) सधि की वेदना और अत्यधिक कठोरता या दृढता पायी जाती है तथा स्कधमेखला की पेशिया क्षीण हो जाती है । एक्सरे-चित्र निदान मे सहायक होता है । प्राय: सरक्षी चिकित्सा रोग को विरोहित करने मे सफल होती है । किंतु स्कध का कडापन कुछ शेप रह सकता है । इस दशा में शस्त्रकर्म कदाचित् ही करना पड़ता है, इस सन्धि पर अधिक भार न पडने के कारण प्राय. आर्थोडिसिस की आवश्यकता नही होती ।

कूर्पर का यक्ष्मा

कूर्पर सन्धि वहुधा यक्ष्माग्रस्त होती हैं । रोग प्राय अस्थि मे प्रारम्भ होता है किंतु प्रधानत श्लेपक प्ररूप भी पाया जाता है । इस क्षेत्र मे विक्षति पुटीभूत भी हो सकती है । विशिप्ट अभिलक्षण निम्नलिखित है—वेदना, शोथ, आकुचन, विरूपता, कूर्पर और अन्तराप्रकोष्ठ सधियो का गतिसीमन तथा वाहु-पेशियो की पर्याप्त क्षीणता । विद्रधि और साइनस वहुधा शीघ्र ही वन जाते है । उपेक्षित रोगियो मे रोग वाहु तथा अग्रवाहु मे व्यापक रूप से फैल जाता है । एक्सरे चित्र मे अस्थि का विनाश और अपरदन तथा सन्धि अवकाश का ह्रास पाया जाता है ।

आरभिक रोगियो मे सरक्षी चिकित्सा के उत्तम परिणाम होते है तथा सन्धि मे पर्याप्त गति होती रहती है । यदि सरक्षी चिकित्सा सफल न हो, रोगी विलम्व से आवे अथवा चिकित्सा की उपेक्षा की गई हो तो शस्त्रचिकित्सा आवश्यक हो सकती है; कूर्पर का उच्छेदन इस रोग मे अत्यन्त सतोपप्रद रहता है तथा नियत्रित, वेदनारहित गतिये भी भलीभाति हो सकती है । उल्लाघ अवस्था मे कूर्पर पिंजरे (elbow cage) द्वारा अग को सुरक्षित रखा जा सकता है । अगोच्छेदन कदापि आवश्यक नही होता ।

अन्य संधियो का यक्ष्म

मणिवध, करभ, पाव आदि की सन्धियो के यक्ष्मा का निदान मंद आरम्भ,

दीर्घकाल, वेदना, शोफ, क्षीणता तथा विशिष्ट एक्सरे चित्र की छायाओं के आधार पर किया जाता है। चिकित्सा की रूपरेखा अन्य सन्धियों के समान ही है।

रूमेटाइड संधिशोथ (Rheumatoid arthritis)

यह एक अज्ञातहेतुक बहुसंधिशोथ है जो स्त्री-पुरुष दोनों को प्रभावित करता है तथा उत्तरोत्तर अधिक अकर्मण्यता उत्पन्न करता है। इसके लिए आनुवंशिकता, संक्रमण, बोझ (stress), अंतःस्रावी विकार, पौष्टिक आहार का अभाव आदि अनेक घटक उत्तरदायी ठहराये गये हैं किंतु इनमें से कोई भी रोग की प्रकृति तथा विकास के अनुरूप पूर्णतः उपयुक्त नहीं है। हाल में रूमेटाइड सन्धिशोथ को एक प्रकार के कोलेजेन रोग की संज्ञा दी गयी है, किन्तु इसका भी पर्याप्त प्रमाण नहीं है। लाक्षणिक आधार पर रोग को दो रूपों में विभाजित किया जा सकता है बच्चों में होने वाला स्टिल रोग (Still's disease) तथा वयस्कों में होने वाला रूमेटाइड संधिशोथ।

कुछ प्ररूपों का स्वरूप अस्थिसन्धिशोथ तथा रूमेटाइड सन्धिशोथ के मध्य होता है।

वैकृत परिवर्तन अत्यन्त व्यापक होते हैं। श्लेषक कला में स्थूलता, रक्तांकुर-निर्माण तथा एक प्रकार का अविशिष्ट कोशिका-स्यदन पाया जाता है। कला प्रफुल्लित होकर सन्धि-उपास्थि पर फैल जाती है। संधिसंपुट में तान्तव परिवर्तन हो जाता है। उपास्थि-व्यपजनित, और अपरदित हो जाती है, अस्थियां अत्यधिक विरलीभूत हो जाती हैं, तथा त्वचा और पेशियों में शोथ एवं क्षीणता प्रकट हो जाती है। इन रोगियों में अल्पवर्णी अरक्तता (hypochromic anaemia) बहुधा पायी जाती है किन्तु अभी तक किसी नियत या महत्वपूर्ण जीव-रासायनिक परिवर्तन की खोज नहीं की जा सकी है।

लाक्षणिक अभिलक्षण

रोगारम्भ प्रायः मन्द किन्तु कभी-कभी द्रुत होता है। रोग लगभग सदैव समसित और बहुसंधि-प्रभावी होता है। इसकी विशिष्टता है कि यह हाथ-पांव के छोटे जोड़ों को ही प्रभावित करता है। कुछ मरीजों में आरम्भ में केवल एक सन्धि प्रभावित होती है। रोग के बढ़ जाने पर संधियों में शोथ, वेदना और दृढ़ता (rigidity) आ जाती है तथा शीघ्र ही विरूपताएं प्रकट हो जाती हैं। सन्धि के लक्षण कुछ काल पश्चात् शांत हो जाते हैं किन्तु प्रत्येक प्रकोप

के पश्चात् विविध कोटि की दृढता या कठोरता और विरूपता शेष रहती हैं।

चिकित्सा

सामान्य आरोग्य की दृष्टि से रोगी को सन्तुलित आहार, शारीरिक व मानसिक विश्राम तथा वेदना के शमन की आवश्यकता होती है। सक्रमण के फोकसों की उपस्थिति जानने के लिए भली प्रकार शारीरिक परीक्षण भी करना चाहिए। रूमेटाइड सधिशोथ की चिकित्सा के लिए कोई विशिष्ट औषध उपलब्ध नही है। फिनाइलब्यूटाज़ोन (phenylbutazone), कार्टिकोस्टीरायडों तथा उनके व्युत्पादो का प्रयोग लाभकर होता है। ये सब औषधे प्रशामक है, रोग-मुक्तिदायक नही। कार्टिकोस्टीरायडो का प्रयोग उन रोगियो मे विशेष लाभदायक होता है जिनमे एस्पिरिन (aspirin) तथा फिनाइलब्यूटाज़ोन या ब्यूटाजोलिडोन (butazolidin) आदि अपेक्षाकृति सरल और निरापद औषधे असफल रही हो; द्रुतवर्धी तथा स्फूर्जक रोग मे भी इनका प्रयोग लाभप्रद होता है। कार्टिसोन की प्राय. प्रयुक्त मात्रा दिन मे तीन बार 25 mg है। यह औषध महगी है तथा आनुषगिक प्रभावों (side-effects) के कारण इसके प्रयोग मे सावधानी की आवश्यकता होती है। ब्यूटाजोलिडिन के कारण कभी-कभी जठरान्त्र क्षेत्र से रक्तस्राव हो सकता है, विशेषत यदि इसका प्रयोग दीर्घकाल तक किया जाये।

स्थानीय चिकित्सा के साधन निम्नलिखित है—स्प्लिन्ट, जिसको हटाया जा सके (removable splint), भौतिक चिकित्सा (physiotherapy), सुनियत्रित तथा सुनिरीक्षित अंशांकित व्यायाम (graduated exercise) और विश्राम की दिनचर्या, ऊष्मा, मालिश, तथा सक्रिय और निष्क्रिय गतिया। सधियो मे हाइड्रोकार्टिसोन एसिटेट (hydrocortisone acetate) का स्थानीय इजेक्शन भी लाभप्रद हो सकता है।

सुप्रस्थापित विरूपताओ की चिकित्सा के लिए सधि की दशा तथा रोगी की आवश्यकताओ के अनुसार फैलाना (stretching), ट्रैक्शन (traction), प्लास्टर सशोधन (plaster correction), कडराछेदन (tenotomy), प्रावरणीछेदन, सपुटछेदन, अस्थिछेदन या सन्धि के कीलक-उच्छेदन (wedge-resection) आदि साधनो की आवश्यकता पड़ सकती है।

सन्धिग्रही कशेरुकसन्धिशोथ (ankylosing spondylitis) एक अज्ञातहेतुकी रोग है जो प्रधानत. 20-35 वर्ष के पुरुष को प्रभावित करता है। इस रोग का विशिष्ट अभिलक्षण त्रिक-श्रोणिफलक सन्धि और अतराकशेरुक सधियो

का प्रगामी अस्थि-सन्धिग्रह (bony ankylosis) तथा सम्बन्धित स्नायुओं का अस्थिभवन है। इसकी विशेषता है कि रोग की वृद्धि सविराम (intermittent) होती है।

आरम्भ में केवल हल्का कमर दर्द होता है जो धीरे-धीरे स्थायी हो जाता है। यह दर्द मेरुदंड में ऊपर की ओर चलता है तथा गर्दन तक पहुँच सकता है। वेदना के साथ दुर्नम्यता या कठोरता भी विद्यमान होती है जिसका कारण आरंभ में, पेशी आकर्ष किंतु आगे चलकर, सन्धियों और स्नायुओं का अस्थिभवन (ossification) होता है।

चित्र 132—सधिग्रही कशेरुका-सन्धिशोथ में चरम विरूपता

पर्शुका-कशेरुक संधियां (costo-vertebral joints) प्रभावित होने के कारण वक्ष का प्रसामान्य विस्तार नहीं हो पाता। विरूपता प्ररूपी होती है—रोगी का शरीर सामने की ओर वक्र हो जाता है तथा चरम रोगियों में 90 अंश तक वक्रता पायी जा सकती है (चित्र 132)। कुछ रोगियों के स्कन्धों तथा

नितम्वो मे भी रोग के कारण सधिग्रह् हो सकता है। आरम्भिक एक्सरे-चित्रो में त्रिक-श्रोणिफलक सधियो का द्विपार्शिक काठिन्य (sclerosis) पाया जाता है। कालातर मे स्नायुओ के अस्थिभवन के कारण वेणु पृष्ठवश (bamboo-spine) की अवस्था प्रकट हो सकती है।

चिकित्सा

उत्तम आहार, ताजी हवा, उचित व्यायाम व विश्राम आदि रोगी की सामान्य स्वास्थ्य-वृद्धि मे सहायक होते है। भौतिक चिकित्सा (physio-therapy) कुछ सीमा तक लाभदायक होती है। यदि रोग की आरभिक प्रावस्था मे ही जव केवल त्रिक-श्रोणिफलक (sacro-iliac) सधिया प्रभावित हुई हो, गभीर एक्सरे उपचार किया जाय तो 90 प्रतिशत मरीजो मे रोग स्थगित हो सकता है। द्विपार्श्विक नितव सधिग्रह् के रोगियो मे अनेक प्रकार के चालक शस्त्र-कर्म (mobilising operations) विविध सीमा तक सफल सिद्ध हुए हैं।

गोनीकोकसी संधिशोथ (gonococcal arthritis)

गोनोरिया के रोगियो की छोटी सधियो मे एक प्रकार का विलवित चिर-कारी वहुसधिशोथ (late chronic polyarthritis) पाया जाता है जो अपेक्षाकृत अधिक दुर्नम्यतायुक्त होने के अतिरिक्त अन्य रूपो मे लगभग रूमेटाइड सधिशोथ के समान होता है। इस रोग का आघटन कम होता जा रहा है। चिकित्सार्थ रूमेटाइड सधिशोथ के लिए प्रयुक्त साधनो तथा पेनिसिलिन की विशाल मात्रा का प्रयोग करना चाहिए।

आमवात संधिशोथ (gouty arthritis)

गाउट के रोगियो मे सधि एवं परिसधि क्षेत्र मे यूरेटो ((urates) के निक्षेपन के कारण तीव्र सधिवेदना के आक्रमण हो सकते है। इन सहसा आक्रमणो मे ज्वर, प्रवल पीड़ा तथा सधि का स्थानीय शोथ पाया जाता है। रेडियोग्राफ मे अस्थि छोरो पर विरलीभवन के अनेक प्ररूपी, स्पप्टरेखित केन्द्र पाये जाते है। आक्रमण का सर्वाघटित स्थान पदागुष्ठ प्रपद अगुल्यस्थिसधि (meta-tarsophalangeal joints) है किंतु अन्य सधिया भी प्रभावित हो सकती है। चिकित्सा रोगी के मूल रोग अर्थात्, गाउट की ओर केंद्रित होती है। प्रभावित सधि को विश्राम प्रदान करना आवश्यक होता है। विरल अवसरो

शरीर-भार घटाना, सुनियोजित दिनचर्या के अनुसार विश्राम व व्यायाम करना, शरीर को वोझ से वचाना तथा आवश्यकतानुसार व्यवसाय को वदलना, ये सव महत्त्वपूर्ण चिकित्सोपाय है। स्थानिक ऊष्मा, मालिश, व्यायाम लघु-तरग डायथर्मी (short wave diathermy), जलोपचार, विकिरणी उपचार आदि से भी लाभ होता है। कभी-कभी हस्त-कौशल (manipulation) उपयोगी हो सकता है। हाइड्रोकार्टिसोन (hydrocortisone) या अन्य ऐसी ही औषधो का स्थानिक इंजेक्शन भी सहायक हो सकता है। कुछ रोगियो के लिये ब्रेस (brace) अथवा आश्रय (support) का प्रयोग किया जाता है। चरम रोगियो की चिकित्सा के लिए संधि का वितत्रकीकरण (denervation), सधि-स्थिरीकरण (arthrodesis) तथा सधिप्लास्टी (arthroplasty) आदि साधनो का प्रयोग किया गया है, इनमे सर्वाधिक सतोपप्रद विधि सधि-स्थिरीकरण पायी गयी है।

तंत्रिकाविकारजन्य संधियां (neuropathic joints)

तत्रिकातत्र के कतिपय रोगो मे सधियों का तत्रिकासंभरण प्रभावित हो जाता है, उदाहरणत. टेवीज़ डोर्सेलिस (tabes dorsalis), सिरिंगोमायलिया, कुष्ठ, परिसरीय तत्रिका अभिघात आदि, प्रभावित सधि मे कतिपय विशिष्ट वेदनाहीन, विनाशकारी परिवर्तन हो जाते है जिनके कारण सधि अतिगतिशील हो जाती है। ये परिवर्तन शोपी (atrophic) या अतिवृद्धिक (hypertrophic) हो सकते हैं। सधिउपास्थि का व्यापक विनाश, श्लेष्मक अतिवृद्धि, स्नायुओ की निर्वलता, सधिभ्रश तथा वहुधा सधि मे श्लथ पिंड (loose bodies) पाये जाते हैं। सधियां वेदनारहित, शोथयुक्त और अतिचलायमान होती हैं। सहवर्ती तत्रिकारोग की उपस्थिति निदान मे सहायक होती है। चिकित्सा का मुख्य उद्देश्य स्प्लिन्ट तथा केलिपर (caliper) के प्रयोग द्वारा सधि को अभिघात से वचाना है।

18

विकलांगी विरूपतायें और पृष्ठवेदना
(Orthopaedic Deformities and Backache)

बी० मुखोपाध्याय

विकलांगी विरूपतायें
(Orthopaedic Deformities)

देहशाखाओ की असममिति, आकार और रूप की भिन्नता, कोणभवन, झुकना या घूम जाना और मेरुदड की वक्रताये विरूपताओ मे गिनी जाती है। इन विरूपताओ के द्योतक कुछ पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग किया जाता है जो निम्नलिखित है ·

मन्यास्तभ (torticollis)—ग्रीवा की पार्श्विक विरूपता।

कुब्जता (kyphosis)—मेरुदड की पृष्ठ ओर की उत्तलता (convexity) का बढ जाना, जो स्थानीय या सर्वांग (मेरुदड) मे हो।

पुरःकुब्जता (lordosis)—मेरुदड की पृष्ठ ओर की अवतलता का बढ जाना।

पार्श्व-कुब्जता (scoliosis)—मेरुदड का पार्श्व ओर को झुक जाना। साथ मे कशेरुकाओ का विवर्तन हो या न हो।

वहिर्नति (valgus)—किसी अंग का शरीर मध्यरेखा से बाहर खिचकर मुड जाना (कोण बनाना)।

अन्तर्नति (varus)—अग का मध्य रेखा की ओर मुडना (कोण बनाना)।

पुनर्वक्र (recurvatum)—सधि का अपसामान्य अति प्रसार।

मुद्‌गर पाद (talipes)—पाँव की विरूपता जिसमे पदतल बाहर या भीतर को घूम जाता है, भूमि की ओर नही रहता। इसके प्रकार ये हैं; (क) अश्वपाद (equinus)—गुल्फ पर पाद-पृष्ठ आकुचन (dorsiflexion), (ख) अन्तर्नत (varus)—अवघुटिका मध्यपदकूर्च (subtalar-midtarsal inversion) सधि का अन्तर्वर्तन, (ग) वहिर्नत (valgus)—अवघुटिका और मध्य पदकूर्च सधियों पर वहिर्वर्तन (eversion), (घ) पार्ष्णिका (calcaneus)—गुल्फ पर पाद-पृष्ठाकुचन (dorsiflexion at ankle), (ङ) गुहिका (cavus) पदतल की अवतलता बढ जाती है। (च) सरला (planus)—पदतल की अवतलता कम हो जाती है।

इनमे से एक या दो विकृतियाँ मिली हो सकती है।

विरूपतायें जन्मजात या उपार्जित (congenital, acquired) होती हैं तथा स्थिर (fixed) या चलायमान (mobile) हो सकती हैं। स्थिर विरूपतायें वे होती है जो मृदु हस्तक्रिया द्वारा अगुलियो से दवाने से नही सुधर सकती।

प्रत्येक विरूपता मे दो प्रकार के कारण होते है. (1) प्राथमिक कारण जो विरूपता उत्पन्न करते है, (2) द्वितीयक कारण जो दशा को और भी बढा देते है; ऐसे द्वितीयक कारण भार उठाना, पेशीकर्षण (muscle pull) गुरुत्वीय बल (gravitational forces) अथवा इसमे से कई का सयोग, हो सकते हैं।

यदि वृद्धिकाल मे विरूपता होती है तो और भी दशाओ का उसपर प्रभाव पड़ता है। विरूपित स्थिति मे वृद्धि से विरूपता और भी बढती है। वर्धी एपीफाइसेस प्लेट के दोष से विरूपता उत्पन्न हो सकती है, ऐसी विरूपता और भी बढ जाती है। वूल्फ (Wolff) नियम के अनुसार बढती हुई अस्थि मे नया ऊतक बनता है, अर्थात् वह प्लास्टिक होती है और उसपर दवाव और खिचाव से वह प्रभावित होती है। अतएव अयुक्त प्रभाव से विरूपता बढ सकती हैं, किन्तु उपयुक्त प्रभाव से अस्थि के वर्धन के गुण के कारण विरूपता सुधर भी सकती हैं।

सहज (जन्मजात) विरूपतायें

सहज विरूतायें गर्भावस्था मे उत्पन्न हो जाती है, उनकी उत्पत्ति का कारण अज्ञात है। वे निम्न दो समूहो मे बाँटी जा सकती है।

(1) **प्राथमिक विरूपतायें**—उत्पादक वीजद्रव्य (germplasm) के
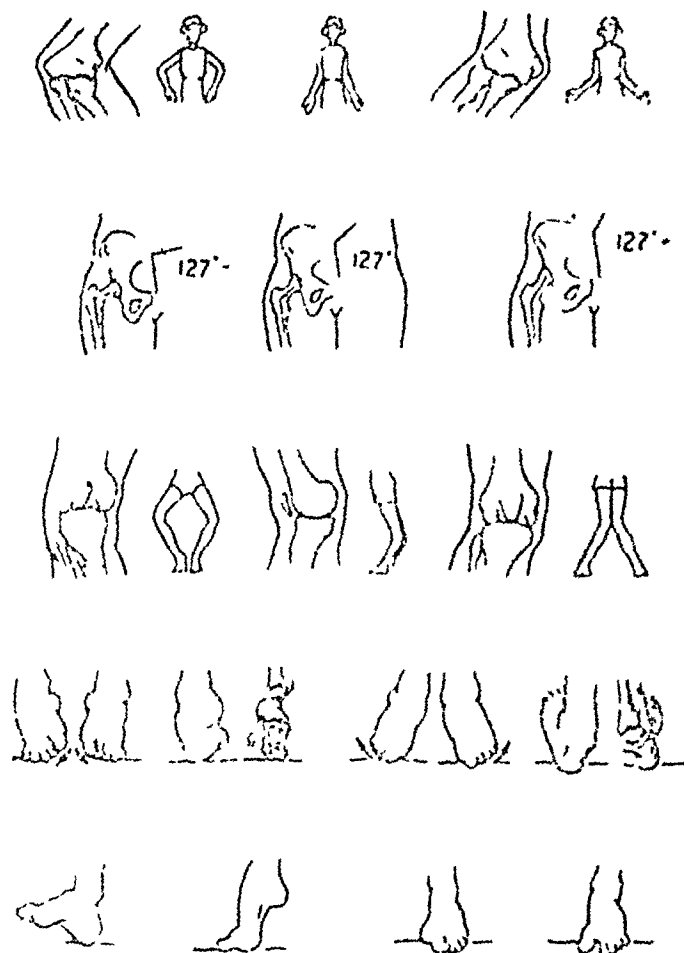
चित्र 133—सामान्य विकलांगी विरूपताओं के भिन्न-भिन्न प्ररूप .

Cubitus Varus	Normal carrying angle	Cubitus Valgus
अन्तर्नत प्रकोष्ठ	प्रसामान्य वाहककोण	वहिर्नत प्रकोष्ठ
Coxa vara	Coxa norma	Coxa Valga
अन्तर्नत नितम्ब	प्रसामान्य नितम्ब	वहिर्नत नितम्ब
Genu varum	Genu recuvatum	Genu valgum
अन्तर्नत जानु	पश्चवक्र जानु	वहिर्नत जानु

Talipes varus — अन्तर्नत टैलिपेस

Talipes valgus — वहिर्नत टैलिपेस

Talipes calcaneum	Talipes equinus	Hallux valgus	Hallux varus
पार्ष्णिका टैलिपेस	उन्नत टैलिपेस	वहिर्नत पादागुष्ठ	अन्तर्नत पादांगुष्ठ

दोप के कारण उत्पन्न होती हैं और कई वार पैतृक होती हैं। दोप संवांग हो सकता है या वह स्थानीकृत हो।

(2) **द्वितीयक विरूपतायें**—किन्ही वाह्य कारणों से उत्पन्न होती हैं, यद्यपि प्रयम गर्भ प्रसामान्य रूप का होता है। अतएव ये पूर्णतया स्थिति सम्वन्धी विरूपताये होती हैं जिनमे भावी वृद्धि की प्राकृतिक शक्ति होती है।

इन दोनो प्रकार की विरूपताओ के वीच मे कोई निश्चित सीमा नही होती; अनेक मे दोनो के लक्षण या गुण उपस्थित होते है।

सहज विरूपताये शरीर के किसी भी भाग मे हो सकती हैं। किन्तु वे अधिक नही होती और कितनी ही केवल ज्ञान-वृद्धि का कारण होती हैं, जैसे अगुलियो के वीच में (जन्म से) झिल्ली वन जाना (webbing), एक पूर्ण अग या उसके एक भाग का न वनना, सधियो की सहज विरूपता या जुड जाना
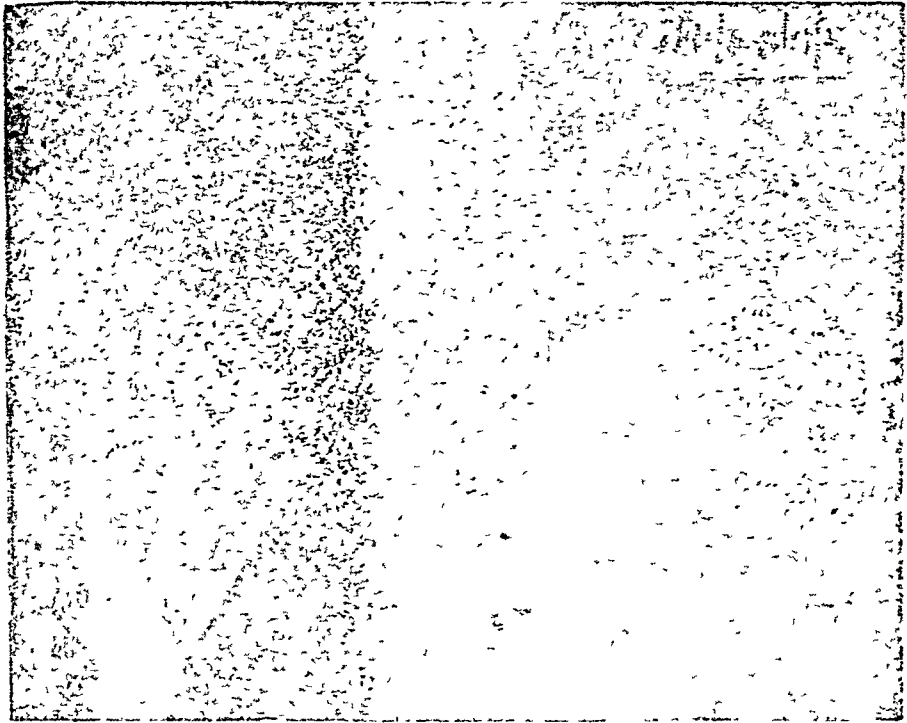
चित्र 134—एक्सरे चित्र, जिसमे वहुल जन्मजात असंगतिया दीख रही हैं। वाम असफलक का जन्मजात उन्नमन (elevation), ग्रैव मेरुदंड (cervical spine) और स्कध मेखला (shoulder girdle) के वीच अस्थिकृत जोड़ (अस-कशेरुका अस्थि—omo-vertebral bone); वाम ओर की पर्शुका की विरूपता या कुरचना और ग्रैव प्रदेश मे जन्मजात अर्धकशेरुका।

एक पूर्ण अस्थि या उसके एक भाग की अनुपस्थिति, अंसफलक का जन्मजात उन्नयन या स्प्रेंगिल-विरूपता (Sprengel's deformity), मणिबंध का अव-सन्धिभ्रंश (subluxation) या माडेलुंग (Medelung's) की विरूपता, जैसे उपास्थि-अविकसन (achondroplasia), उपास्थि-दुर्विकसन (dyschondroplasia) कशेरुकाओं की सहज अपूर्णता या दोष जो अस्थि-तकाल के सदोष परिवर्धन का परिणाम होती है। इनमें से बहुत सी विरूपताओं का कारण अज्ञात है, किन्तु आश्चर्य यह है कि वे जीवन की किसी क्रिया में बाधक नहीं होती।

पाव की विरूपतायें साधारण है और चिकित्स्य होती है, सबसे अधिक होने वाली विरूपता मुद्‌गर-पाद या जन्मजात अन्तर्नत अश्वपाद होना है जो मुद्‌गरपाद का एक प्रकार है।

जन्मजात मुद्‌गरपाद (Congenital club-foot)

जन्मजात विरूपताओं में मुद्‌गरपाद 7 प्रतिशत होता है। यह विरूपता स्वत हो सकती है या अन्य बहुत-सी विकृतियों के साथ होती है। इसमें पान्च दशायें मिली होती है गुल्फ (ankle) पर अश्वपाद (equinus); मध्य-पद कूर्च संधि (midtarsal joint) पर अभिवर्तन (adduction), अव-घुटिका संधि (subtalar joint) पर अन्तर्नति (Varus); पदतल की अतिअवतलता (गुहिका cavus), और बहुत बार अन्तर्जंघास्थि का अन्तर्वि-

(a)

चित्र 135—जन्मजात टेलिपेस (a) उन्नत-अन्तर्नत टेलिपेस, एक बालक में।

(b) वयस्क मे उन्नत-अन्तर्नत टेलिपेस । पावो के वाहिर की ओर घट्टो को देखो ।

वर्तन (internal rotation) । स्त्री और पुरुष दोनो मे यह विरूपता समान रूप से होती है। विरूपता अल्प, मध्यम और तीव्र हो सकती है। घुटिका-नौकाभ (talonavicular) की सधिच्युति (dislocation) अवश्य होती है जिससे नौकाभ अस्थिघुटिका (talus) के शिर के नीचे और अभिमध्य ओर आ जाती है। साधारणतया पाव की अस्थिया प्रसामान्य होती है और एक वार उनको प्रसामान्य सरेखण (alignment) मे रख देने पर उनकी उसी दिशा मे वृद्धि होती है। पाव के अभिमध्य और पश्च ओर की स्नायु-प्रावरणी, कडरा, मासपेशी आदि मृदु ऊतक छोटे और सकुचित होते है तथा मोटे, तान्तव और अनम्य हो सकते है, और अभिपृष्ठ और वाह्य ओर के ऊतक लवे और शोषित (atrophied) हो जाते हैं।

जघा दूसरी ओर की जघा से पतली होती है, पाव का वाहिरी किनारा उत्तल और भीतरी किनारा अवतल होता है, घुटिका का शिर पादपृष्ठ (dorsum of foot) पर प्रतीत होता है और भीतर को घूम जाता है तथा ऊपर को खिच जाता है। पाँव के नीचे और भीतर की त्वचा मे सिलवटे पड़ जाती हैं और पादपृष्ठ की त्वचा तन जाती है। पाव की अगुलिया भीतर की ओर को और कभी कभी पीछे की ओर तक मुड सकती है और पादपृष्ठ को शरीरभार सहन करना होता है जिस पर वर्सा और ठेस (callosities) तक वन जाते हैं।

ऐसी ही विरूपता कुछ रोगो मे हो जाती है जैसे पोलियो, संस्तम्भी अग-

चित्र 136—एक मुद्गरपाद की एक्सरे आकृति, जिसमे पार्ष्णि का अन्तर्भ्रमण, पद के अग्रभाग का अभिवर्तन, नौकाभ अस्थि का अन्तर्भ्रमण और गुल्फ (Ankle) का उन्नमन (equinus) दीख रहे है।
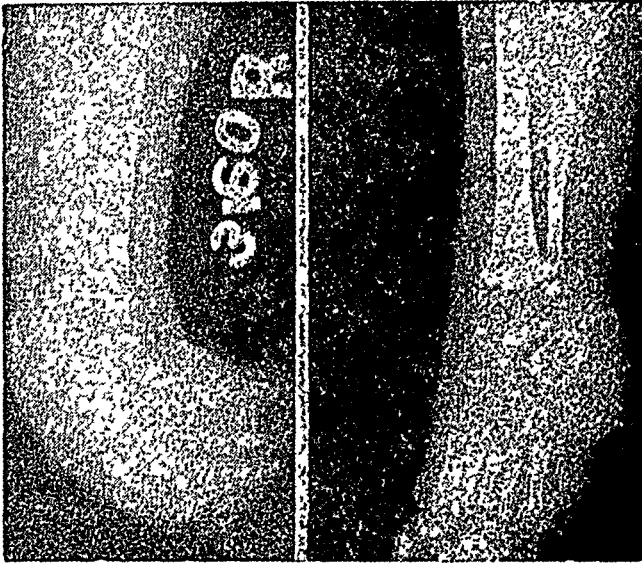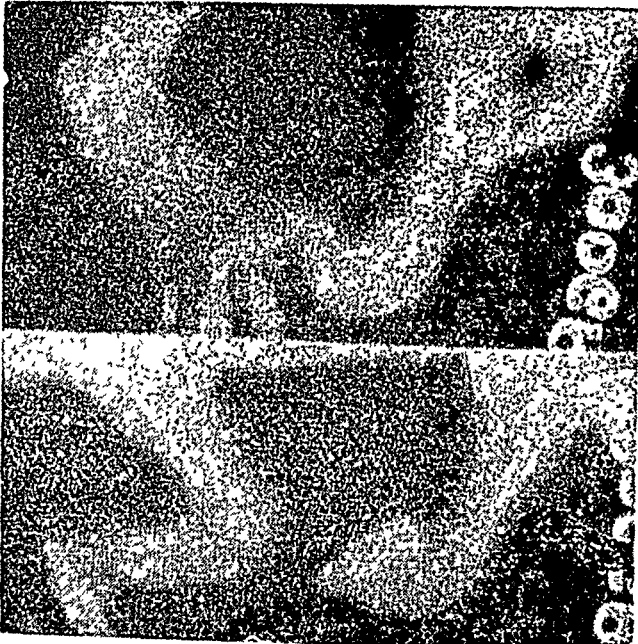
चित्र 137—एक अतिप्रमुख जन्मजात दक्षिण ओर के उन्नत (अश्वपाद) अन्तर्नत टेलिपेस और वाम ओर के पार्ष्णिकाटेलिपेस का एक्सरे चित्र।

घात (spastic paralysis) अथवा आघात से। इसका जन्मजात विरूपता से भेद आवश्यक है।

चिकित्सा

वार-वार मृदु हस्तकौशल से विरूपता को सुधारना और धारक स्प्लिन्टो (retentive splints) या प्लास्टर मे आवश्यक समय तक रखना, जव तक विरूपता के सव तत्त्व अपनी सामान्य दशा मे न आ जाएँ और विकृति की पुनरावृत्ति की प्रवृत्ति मिट न जाय, यही विरूपता की चिकित्सा है। चिकित्सा जितना शीघ्र हो सके, जन्म के दिन ही से, प्रारभ करके तव तक करते रहना उचित है जव तक बालक पाव का वहिर्वर्तन और पादपृष्ठाकुचन (dorsiflexion) न करने लगे और चलने लगे जिससे पाव पर शरीर भार पड़ने से पादतल के भूमि की ओर रहने मे सहायता मिले।

विलवित अथवा अचिकित्सित रोगियों मे केवल हस्तकौशल से विरूपता का पूर्ण सुधार नही होता। जहा विरूपता का कारण केवल अश्वपाद है वहा पार्ष्णिकडरा (tendoachilles) के अनावृत (open) या अधस्त्वक् (subcutaneous) कडराछेदन (tenotomy) से विरूपता दूर हो जाती है। जहा
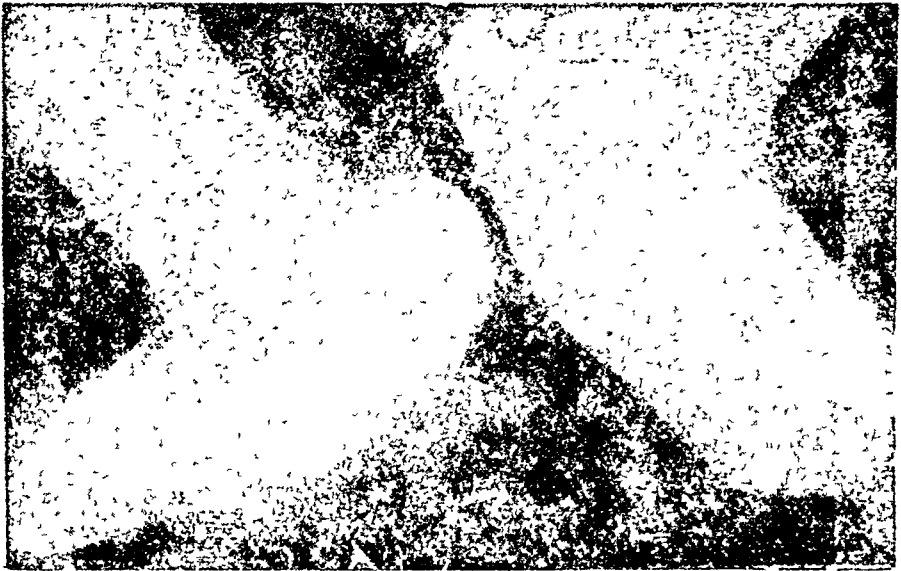
चित्र 138—धातज द्विपार्श्विक उन्नत (अश्वपाद) अन्तर्नत टेलिपेस की एक्सरेचित्र की आकृति। वाम ओर घुटिका (talus) पूर्णतया पदतलाकुचित है।

विरूपता मे अन्य सब ही दशाये या तत्त्व उपस्थित होते है वहा पाव के अभि-मध्य और पश्च और की सभी तनी हुई मरननाओ का, रक्तवाहिकाओ और तन्त्रिकाओ के अतिरिक्त, छेदन आवश्यक होता है। उसके पश्चात और भी हस्तकौशल आयोजन करने होते हे। किन्तु पार्ष्णिकडरा की लवाई को कभी भी अत्यधिक बढाना ठीक नही है।

अतिविलम्बित और अचिकित्सित रोगियो मे अस्थि का एक कीलकाकार (wedge shaped) भाग निकालना पडता है, इसका आधार अभिपृष्ठ और पार्श्व ओर को रहता है जिससे पदतल नीचे को (भूमि ओर) आ जाता है।

नितंब की जन्मजात सन्धिच्युति (congenital dislocation of hip)

भारत मे यह असाधारण विरूपता है, यद्यपि पश्चिमी देशो, विशेषकर इटली, मे यह बहुत पाई जाती हे। और लडको की अपेक्षा लडकियो मे सात गुना अधिक होती है।

सन्धिच्युति पूर्ण अथवा अपूर्ण और एकपार्श्वी अथवा द्विपार्श्वी हो सकती है। मुख्य दोष उलूखल ओष्ठ या नेमि (labium or rim) के पश्चौर्ध्व (postero-superior) चतुर्थांश का अपूर्ण परिवर्धन होता है। इस कारण ऊर्वस्थि के सिर का आश्रय अपूर्ण रह जाता है और शिर का परिवर्धन भी अपसामान्य होता है। जब यह दोष अधिक होता है तो जन्म से पूर्व ही नितब की सन्धिच्युति हो चुकती है और नवजात शिशु मे ऊर्वस्थि का शिर श्रोणि के पार्श्व पर ऊँचा स्थित मिलता है। दोष के कम होने पर जन्म के पश्चात सन्धिच्युति होती है।

प्राय शिर पश्च ओर को च्युत होता है, सम्पुट तन जाता है, श्रोणि-और्वी (pelvi-femoral) पेशियाँ सकुचित होती है और अपावर्त्तिका (abductors) पेशियाँ ढीली और कार्यहीन होती है। आगे चलकर भार-वहन से अस्थियो और मृदु ऊतको मे द्वितीयक परिवर्तन हो जाते है जिनसे विकृति और बढ जाती है और पुन स्थापन और भी कठिन हो जाता है।

निदान

बालक के चलना प्रारम्भ करने से पूर्व निदान असाधारण है। एकापार्श्वी सन्धिच्युति होने पर दोनो शाखाओ की लम्बाई की असमानता से ध्यान आकर्षित होता है।
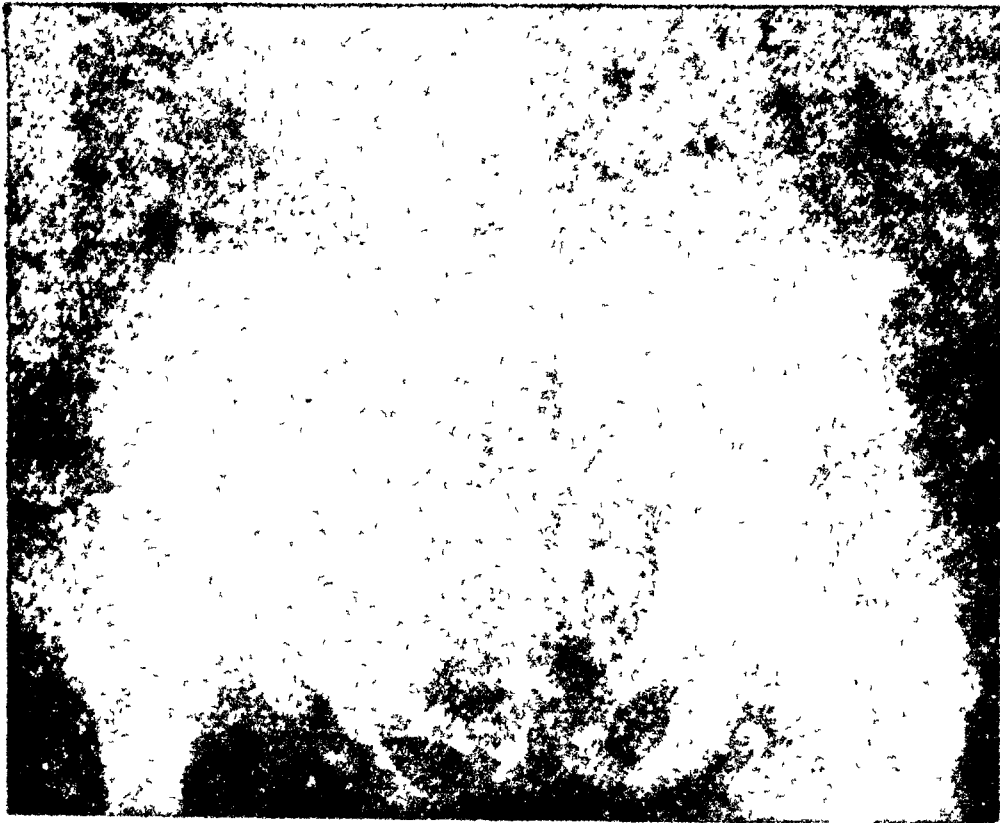
उत्पन्न होने वाली तथा पोलियोपश्च अगघात (post poliomyelitic) आदि रोगो से उत्पन्न सन्धिच्युतियो से भेद करना आवश्यक है।

ट्रेंडिलिनवर्ग परीक्षण—यह परीक्षण मध्य नितविका (glutcus medius) के प्रसामान्य कार्य पर निर्भर करता हे। यह पेशी नितव की अपावर्तक (abductor) है और एक अधोशाखा पर शरीर के भारवहन के समय श्रोणि को टेढा (tilt) करके शरीर के गुरुत्व केन्द्र (centre of gravity) को बनाये रखती है अर्थात् शरीर का सतुलन करती है। पश्च सधिच्युति, कौक्सा वारा (अन्तर्नत नितव) अथवा पोलियो के समान अगघात मे पेशी की क्रिया को क्षति हो जाती है। इस कारण व्यक्ति के प्रसामन्य अग पर खडे होने पर रोगग्रम्त अग का नितवपुटक (gluteal fold) ऊँचा रहता है, किन्तु रोगग्रस्त अग पर खडे होकर स्वस्थ ऊरु को उठाने पर स्वम्थ
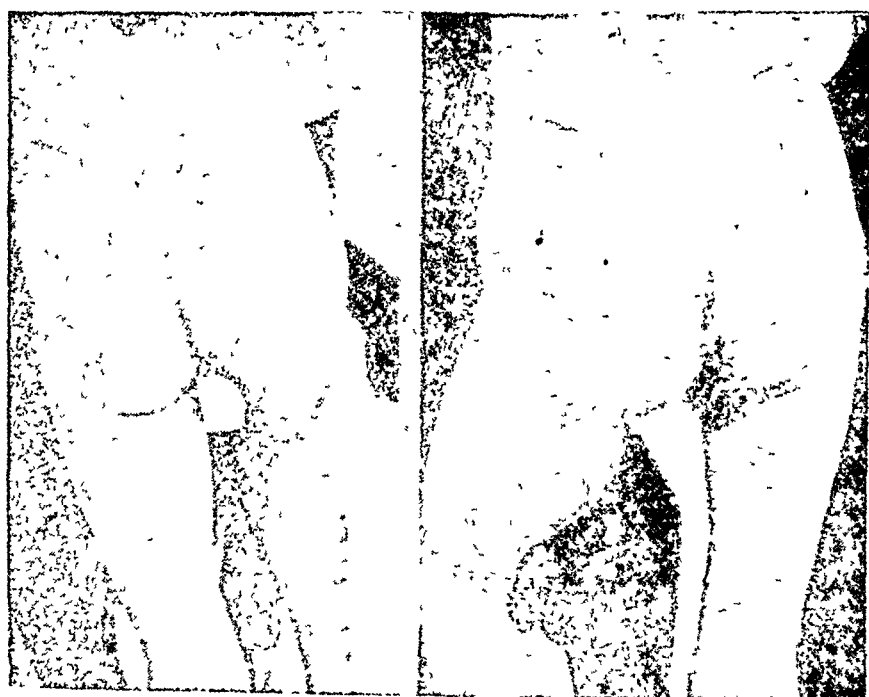
(b)

चित्र 140—ऋण ट्रेन्डिलिनवर्ग परीक्षण (प्रसामान्य)—स्वस्थ टाग पर खडे होने पर दूसरी ओर का नितम्ब पुटक (gluteal fold) ऊचा रहता है। (ब) धन ट्रेन्डिलिनवर्ग परीक्षण— ग्रस्त ओर पर खडे होने पर दूसरी ओर का नितम्ब पुटक नीचा रहता है।

ओर का पुटक ग्रस्त ओर के पुटक से नीचा रहेगा । यह धनात्मक ट्रैंडिलिनवर्ग परीक्षण कहा जाता है ।

चिकित्सा

चिकित्सा का सार शीघ्र निदान है । उसके पश्चात् सवेदनाहरण करके धीरे-धीरे हस्तकौशल से पुन स्थापन किया जाता है । वल लगाना वर्जित है । उससे ऊर्वस्थि के शिर के अभिवर्ध (epiphysis) की रक्तमप्राप्ति क्षत हो सकती है । प्राथमिक कर्पण (primary traction) करने पर अल्पवल से पुन स्थापन सम्भव है । एक्सरे द्वारा इसका निश्चय करना चाहिए और उसके पश्चात् 9-12 मास तक प्लास्तर की स्वस्तिक पट्टी से या उपयुक्त ब्रेस द्वारा उसको इसी स्थिति मे रखा जाय । इस समय मे उलूखलोष्ठ फिर से वन जाता है और पुन च्युति की प्रवृत्ति जाती रहती है । समय-समय पर एक्सरे चित्र से उसकी परीक्षा करते रहना चाहिये ।

पुन स्थापन के सफल न होने पर, रोगी के अतिविलव से आने पर, या उलूखलोष्ठ के फिर न वनने पर चिकित्सा कठिन हो जाती है । ऐसी दशा मे रोगी की वय, सन्धिच्युति का प्रकार और अवधि, रोगी का सामाजिक स्तर तथा सर्जन का अनुभव इस सव के विचारानुसार सर्जन को निम्न चिकित्सा-विधियाँ उपलव्ध है, (1) कोई चिकित्सा नही; (2) शस्त्रकर्म द्वारा खोलकर पुन.स्थापन; (3) श्रोणिफलक से अस्थि लेकर उससे उलूखलोष्ठ वनाना; (4) विरूपता सुधारने के लिये अस्थिछेदन (osteotomy); (5) नितव सधि का स्थिरीकरण (fixation); (6) पुनर्निर्माण विधियाँ । प्रत्येक रोगी की आवश्यकता और दशा के अनुसार उसके लिये उपयुक्त उपाय का निश्चय करना चाहिये ।

मेरुदड की विरूपताये

मन्यास्तंभ (Torticollis) अथवा वक्रग्रीवा (wryneck)

यह जन्मजात या उपार्जित हो सकता है । वास्तविक जन्मजात मन्यास्तभ मेरुदण्ड के परिवर्धन के दोप से होता है और अचिकित्स्य है ।

उपार्जित मन्यास्तभ के ये कारण हो सकते है, (1) जन्म-आघात (birth injury), जो जन्मजात वक्रग्रीवा भी कही जाती है; (2) आदत; (3) ग्रैव मेरुदण्ड की सधिच्युति या अवसधिभ्रश (subluxation); (4) ग्रैव

मेरुदण्ड का यक्ष्मा; (5) नेत्र असतुलन, (6) एक ओर की उर-कर्णमूलिका का या अन्य ग्रैव पेशियो का अगघात; (7) ग्रीवा के एक ओर क्षतांक सकोच (cicatricial contraction) (8) प्रतिवर्त उत्तेजन (reflex irriatation), जैसे ग्रैव लसीका-पर्वों का शोथ, मध्यकर्णशोथ या पैरोटिड ग्रन्थिशोथ, (9) आकर्षी मन्यास्तभ (spasmodic torticollis)

जन्मजात मन्यास्तभ उर.कर्णमूलिका के तन्तुमयताजन्य संकोच का परिणाम होता है जो किसी अभिघात या स्तनप्राप्ति की गड़बड़ी से उत्पन्न होता है। जन्म के समय उर.कर्णमूलिका के निम्न भाग मे एक वेदनायुक्त रक्तगुल्म या हीमेटोमा बना होता है। प्राय यह विरूपता शिशु के 1 वर्ष के हो जाने तक स्पष्ट नही होती, तब तक वह धीरे-धीरे बढ़ती है। चिकित्सा न करने से विरूपता बढ़ जाती है जिससे आनन की असममिति (asymmetry) उत्पन्न हो सकती है। विरूपता को सुधारने के प्रयत्न के समय उर.कर्णमूलिका एक ह्रस्व (shortened) रज्जु के समान तन जाती है।

निदान

सावधानी से लिये हुए पूर्ण इतिवृत्त, सम्यक् नैदानिक परीक्षा तथा एक्सरे द्वारा वक्र ग्रीवा के अन्य कारणो तथा अस्थिदोषो से इस दशा का भेद किया जा सकता है। आकर्षजन्य रोग तत्रिकातत्र के रोगो से उत्पन्न होता है जिसके लिये मानसिक उपचार आवश्यक है।

चिकित्सा

प्रारम्भिक दशा मे जब केवल ग्रीवा की गति सीमित होती है, और विरूपता नही होती तब बारम्बार हस्तकौशल्य (manipulation) द्वारा ग्रीवा की गतियो का पूर्ण प्रतिपादन (restoration) किया जा सकता हे। विलम्बित दशा मे उर कर्णमूलिका का अधस्त्वक् या अनावृत (open) परिच्छेदन (section) करने के पश्चात् उसका आतनन (stretch) किया जाता है। विरूपता के अधिक तीव्र होने पर पेशी के दोनो प्रातों का विभाजन करना होता है। आनन-असममिति, एक बार हो जाने पर, बनी रहती है। अन्य रोगियो मे चिकित्सा कारणानुसार होती है।

पार्श्वकुब्जता (Scoliosis)

यह सस्थितिज (postural) और रचनात्मक (structural) दो प्रकार

की हो सकती है। सस्थितिज विरूपता मे कशेरुकाओं के रूप मे कोई परिवर्तन नही होता। वह स्वय व्यक्ति के पेशीसम्बन्धी प्रयत्नो से सुधर सकती है और केवल कार्यात्मक विकार का फल होता है।

रचनात्मक पार्श्वकुब्जता—इससे वस्तुतः भिन्न है। वह भी दो प्रकार की होती है· (1) अज्ञातहेतुक (Idiopathic) जिसका कोई कारण नही मालूम होता; (2) द्वितीयक (secondary) निम्न कारणो से उत्पन्न होती है. (1) जन्मजात दोष जैसे अर्धकशेरुक आदि; (2) कशेरुक रोग, जैसे रिकेट्स, अस्थिमृदुता (osteomalacia), अस्थिभंग-संधिच्युति (fracture dislocation), यक्ष्मा, दुर्दम रोग और अस्थि-मज्जाशोथ; (3) मृदु, ऊतक सकोच (contracture); (4) श्रोणि की तिर्यक्ता (obliquity)—किसी भी कारण से हो, वह शरीर की ऊर्ध्वाधर (erect) सस्थिति बनाये रखने के लिए मेरुदड मे पार्श्ववक्रता (lateral curvature) उत्पन्न कर देती है। (5) अंगघात—मेरुदड का अथवा उदर की पेशियो का एकपार्श्वी अगघात, जैसे पोलियो, सस्तम्भी अर्धांग-घात (hemiplegia) तथा अन्य तन्त्रिकीय रोगो मे, (6) या तन्त्रिकी तान्तव-अर्बुदमयता (neurofibromatosis)।

अज्ञातहेतुक पार्श्वकुब्जता रचनात्मक पार्श्वकुब्जता का सबसे अधिक होने वाला और गम्भीर प्ररूप है। रोग के प्रारभ के काल के अनुसार भी दो प्रकार होते है, एक शैशव (infantile) और दूसरा युवन (adolescent)। शैशव प्रकार जो लडको में अधिक होता है, अधिक तीव्र होता है; उसकी वृद्धि से बहुत अधिक विरूपता हो जाती है। युवन प्रकार लडकियो मे अधिक होता है, विरूपता साधारण होती है।

रोग का मुख्य लक्षण नितव या स्कध की असममिति होनी है। बालक की, उसके वस्त्र उतार कर, सम्पूर्ण परीक्षा करने से दशा स्पष्ट हो जाती है। अज्ञातहेतुक के अतिरिक्त, रचनात्मक पार्श्वकुब्जता का एक्सरे चित्रो द्वारा सहज मे पता चल जाता है। किन्तु पोलियो के पश्चात् होने वाली कुब्जता को, जहाँ पेशीदुर्बलता मेरुदड प्रदेश की पेशियो मे सीमित होती है, मालूम करना कठिन होता है।

पार्श्ववक्रता की उत्पत्ति की, जिसके साथ कशेरुक कार्यो के घूम जाने से वक्ष भी विरूप हो जाता है, व्याख्या करने के लिए अनेक प्रयत्न किये गये है। किन्तु कोई भी सिद्धान्त सतोषजनक नही है और न माना जाता है। जो कुछ भी कारण हो, मेरुदड के पार्श्व ओर झुकने मे कशेरुक कायो का विवर

(rotation) उत्तलता की ओर होता है और कटकों का अवतलता (concavity) की ओर। पश्चकुब्जता (kyphosis) भी कुछ हो जाती है। असमामान्य खिचाव और दाब पड़ने के कारण कशेरुक कायों का रूप भी बदल जाता है। पर्शुकाओं का भी विवर्तन होता है; अवतलता की ओर वे आगे को बढ़ जाती है और उत्तलता की ओर वे पीछे को प्रक्षिप्त हो जाती है।

लक्षण नहीं के समान होते हैं; विरूपता तीव्र होने पर वक्ष और उदर के अभ्यन्तरांगो के कार्य में बाधा पड़ती है। कभी-कभी अवतल पार्श्व में मूल (root) वेदना होने लगती है। वृद्धावस्था में पृष्ठवेदना कष्टदायी हो सकती है।

रचनात्मक पार्श्वकुब्जता की चिकित्सा भीषण समस्या है और विशेष चिकित्सालयों ही मे होनी चाहिए। वक्रता को सुधारना और उस सुधार को बनाये रखना, जिससे फिर विरूपता न होने पाये, एक बृहत् कर्म है और उसके करने की विधियाँ न उपद्रवो से रहित है और न उसके परिणाम ही ऐसे निश्चित है कि सहज ही मे उनका परामर्श दिया जा सके। जब तक श्रोणि और स्कंध सममित (symmetrical) है, पेशी व्यायामो से मेरुदंड की गतिशीलता को बढाने मे सहायता मिलती है और विरूपता छिपी रहती है। तीव्र या बढती हुई विरूपता में सुधारक प्लास्टर जाकटो (jacket) का उपयोग किया जा सकता है। कुछ जाकटो से तत्काल बलपूर्वक सुधार किया जाता है जैसे टर्नबकिल (turnbuckle) जैकट से। किन्तु इस प्रकार के सुधार के पश्चात् कशेरुकाओं की संयुक्ति (fusion) आवश्यक है जिससे सुधार बना रहे। तो भी किसी भी रोग मे विरूपता पूर्णतया नहीं मिटती, थोड़ी-बहुत उन्नति हो जाती है।

कुब्जता (पश्च कुब्जता, Kyphosis)

कुब्जता सस्थितिज अथवा रचनात्मक दोनो प्रकार की हो सकती है। रचनात्मक कुब्जता के ये कारण हो सकते हैं; (1) जन्मजात, कशेरुकाओं के जुड़ जाने या कुविवर्तन (malrotation) से; (2) अभिघातज, अस्थिभग-सधिच्युति के पश्चात; (3) अन्तरा कशेरुक चक्रिकाओं के क्षत से, जैसे युवन (adolescent) कुब्जता अथवा जराजन्य (sinile) कुब्जता, (4) कशेरुकायों और चक्रिकाओं के नाशकारी रोग, जैसे यक्ष्मा, द्वितीयक दुर्दमता, सिफिलिस, अस्थिमज्जा शोथ (*osteomyelitis*) तथा अन्य विरल रोग; (5) चयापचयज तथा व्यपजनक (metabolic, degenerative) मेरुरोग (spinal diseases) जैसे, रिकेट्स, अस्थिमृदुता, पैजेट का रोग, पुटीमय

तान्तव अस्थिशोथ (ostitis fibrosa cystica) अस्थि-संधि-शोथ (osteo-arthritis); (6) संधिग्रही कशेरुकाशोथ (ankylosing spondylitis)

कुब्जता कोणिक (angular)—हो सकती है, जैसे यक्ष्मा में, या युवन कुब्जता के समान **गोल** हो सकती है, अथवा मेरुदंड की सामान्य वक्रता सामने की ओर को बढ सकती है जैसा जराजन्य कुब्जता मे या संधिग्रही कशेरुकाशोथ मे होता है। कुब्जता की चिकित्सा कारण पर निर्भर करती है।

युवन कुब्जता (adolescent kyphosis)

वहुत वार युवन कुब्जता कशेरुको की कायो के अधिवर्धो (epiphyses) के व्यतिक्रमो (disorders) से होती है जिनका ज्ञान अभी तक नहीं है। यह दशा 12 से 15 वर्ष के वीच के वय पर प्रारंभ होती है और मध्य तथा निम्न उरोप्रदेश को आक्रान्त करती है। वक्रता एकसम होती है और पूरककटि-पुनःकुब्जता (compensatory lumbar lardosis) भी हो जाती है। प्रारंभ मे वेदना न हो, किन्तु विरूपता के वढ जाने पर प्रकट होती है। आगे चलकर आक्रान्त कशेरुकाकायों मे कीलकाकार विरूपता हो जाती है।

चिकित्सा—रोग की प्रारंभिक वेदनायुक्त अवस्था मे रोगी को उत्तम प्रकार से लगे (well fitting) प्लास्तर जाकेट मे लिपटाकर रखना चाहिये। 3 से 6 मास तक ऐसे ही रखना आवश्यक हो सकता है। पश्च मेरुदंड आश्रय (support) से पुराने रोगियों की दशा, जिनमे कशेरुका स्थिर हो चुके है, उन्नत हो सकती है।

जराजन्य कुब्जता (senile kyphosis)—मे ऊपर की उरोकशेरुकाओं में विरूपता वढ़ती चली जाती है। यह दशा साधारणतया 60 वर्ष के पश्चात आरंभ होती है, उसमे अन्तराकशेरुक-चक्रिकाओ का व्यपजनन तथा कशेरुकाओ मे अस्थि-संधिशोथ सम्वन्धी परिवर्तन हो जाते हैं। कुछ रोगियो मे कशेरुकाओ के अस्थिशोष (osteoporosis) के कारण उनमे से दो या अधिकों का पात (collapse) होकर उनकी मोटाई अंशमात्र रह जाती है। इससे अन्तरा-कशेरुकचक्रिकाये समीप की कशेरुककायो मे धस जाती है जिससे एक्सरे चित्र मे कशेरुकायें उभयावतल दीखती है। सव प्रकार की जराजन्य कुब्जताओ मे वक्रता चौडी या विस्तृत और क्रमश. (wide and gradual) होती है।

चिकित्सा लाक्षणिक है, विश्राम, साधारण व्यायाम मेरुआश्रय (spinal support), कैल्सियम और विटामिन डी का पर्याप्त प्रयोग, लिंग हारमोन और भौतिक चिकित्सा (physiotherapy) से लाभ होता है।

पुर:कुब्जता (lardosis)

इस दशा में मेरुदण्ड की अग्र वक्रता बढ़ जाती है। प्रायः सदा ही यह पूरक (compensatory) होती है। किन्तु रिकेट्स, अस्थिमृदुता, कशेरुका-अग्र-सर्पण (spondylolisthesia) और कभी कभी पोलियो आदि रोगों में वह पूरक नहीं होती।

चिकित्सा कारणानुसार होती है।

निम्न देहशाखा की विरूपतायें
(Deformities of Lower Extremities)

कॉक्सावारा (अन्तर्नत नितंब Coxa Vara)

ऊर्वस्थि की ग्रीवा और काण्ड के बीच का 120-140 अंश का कोण कई कारणों से घट सकता है। वह 90 अंश या उससे भी अधिक घट जाता है। इससे ऊर्वस्थि का शिर महाशिखरक के सिरे से भी नीचे चला जाता है जिसके परिणामस्वरूप अंग वास्तव में ह्रस्व हो जाता है और अपावर्तन (abduction)-गति सीमित हो जाती है। उसके कारण ये हैं. (1) वास्तविक जन्मजात कॉक्सावारा, (2) ऊर्वस्थि की ग्रीवा के अस्थिविकास के व्यतिक्रम से उत्पन्न कॉक्सा वारा, (3) अभिवर्धी (epiphyseal) कॉक्सावारा, युवन कॉक्सा वारा अथवा ऊर्वस्थि के ऊर्ध्व अभिवर्ध का नीचे को फिसल जाना; (4) अभिघातज—ऊर्वस्थि के अन्तराशिखरिक (intertrochanteric) और अव-शिखरिक (subtrochanteric) अस्थिभग, (5) दैहिक रोग जिनके कारण भारवहन से ऊर्वस्थि की ग्रीवा विरूपित हो जाती है, जैसे, रिकेट्स, अविटा-मिनता (avitaminosis), वृक्कज रिकेट्स, अस्थिमृदुता, पेजेट रोग और तान्तव अस्थिशोथ (osteitisfibrosa); साधारणतया विरूपता द्विपार्श्वी होती है।

(6) स्थानिक रोग—अस्थिमज्जाशोथ, यक्ष्मा, पर्थे का रोग, अस्थि-पुटिया रोगजन्य अस्थिभग सहित—अस्थिक्लैस्टोमा, फाइब्रोसारकोमा (अस्थि का) और अस्थि-सन्धिशोथ।

कॉक्सावारा के सब रोगियों में हत वृशिखरक के निलेटन रेखा से ऊपर चले जाने से अंग वास्तव में छोटा हो जाता है और उसकी पूर्ति के लिये श्रोणि (compensatory) उधर उठ जाती है। तीव्र दशाओं में मध्य नितम्बिका की अपर्याप्तता और ट्रेंडिलिन-बर्ग चाल (trendelenberg gait) हो जाती है।

चिकित्सा विरूपता की सीमा पर निर्भर करती है। अल्प विरूपता मे कुछ भी नही किया जाता है। विरूपता के अधिक और स्थिर हो जाने पर अवशिखरक (subtrohanteric) या पारशिखरक (transtrochanteric) अस्थिछेदन (osteotomy), निम्न खड (fragment) के अपवर्तन सहित, करने से विरूपता दूर होती है, अग लम्बा होता है तथा नितवसधि और स्थायी (stable) हो जाती है।

युवन कॉक्सा वारा (adolescent coxa vara)

यह दशा युवावस्थाप्राप्ति के समय पर होती है, विशेषतया पुरुषो मे। तृतीयांश रोगियो मे फ्रौलिख प्रकार का पीयूषिका का कार्यविकार पाया जाता है जिसके प्रायः रोग दोनो ओर होता है। ऊर्वस्थि का शिर नीचे और पीछे को चला जाता है और समस्त अगसहित ग्रीवा ऊपर को हट जाती है तथा वाहर को घूम जाती है। भारत मे यह दशा विरल है।

यह दशा शनै-शनै होती है, यद्यपि अकस्मात भी हो सकती है। लगड़ाकर चलना, अग की बढती हुई ह्रस्वता, अग की वहिर्विवर्तनविरूपता, (external rotation deformity), अपवर्तन और अन्तर्विवर्तन (abduction, internal rotation), गतियों का अत्यन्त सीमित होना और नितव प्रान्त का भरा हुआ दीखना, रोग के लक्षण है। एक्सरे चित्रण से निदान का समर्थन होता है।

प्रारभिक अवस्था मे विस्थापन दूर किया जा सकता है। पुन. स्थापन के पश्चात अभिवर्ध (epiphyses) को ग्रीवा पर स्थिर किया जाता है। दशा के वढ जाने पर विरूपता अस्थिछेदन द्वारा सुधारी जा सकती है।

कॉक्सा वाल्गा (वहिर्नतनितंब coxa valga)

इसमे ग्रीवा-काड कोण चौड़ा हो जाता है और अग की लवाई कुछ वढ़ जाती है तथा शिर की काड पर स्थिति अधिक ऊर्ध्वाधर हो जाती है। यह प्राय. जन्मजात दशा होती है और अधिकतर उन अगो मे मिलती है जिन्होने भारवाहन नही किया है। पोलियों मे तथा वाल्यकाल मे अगोच्छेदन करने पर भी यह दशा मिलती है। ऊर्वस्थि की ग्रीवा के अपवर्तन मे हुए अन्तर्घटित अस्थिभग मे भी ऐसी अल्पदशा मिल सकती है।

इस दशा की चिकित्सा आवश्यक नही है।

बहिर्नत जानु (genu valgum) अथवा संघट्टजानु (knock knee)

भारवहन के समय अक्ष जानुसंधि के केन्द्र से बाहर बनता है और इस कारण अन्तर्नत खिचाव पड़ता है। अतएव किसी भी अस्थि-ऊतक के मृदुतागी (softening disease) रोग से अन्तर्नत जानु उत्पन्न हो जाता है। किन्तु अल्प संघट्टजानु स्वस्थ-सुपोषित बालकों में भी अनेक बार मिलता है। तीव्र विरूपता का कारण प्राय अविटामिनताजन्य अथवा वृक्कज रिकेट्स होता है। अन्तर्नत-जानु की सीमा पूर्ण प्रसारित अंगों के दोनों जानुओं के आपस में स्पर्श करने
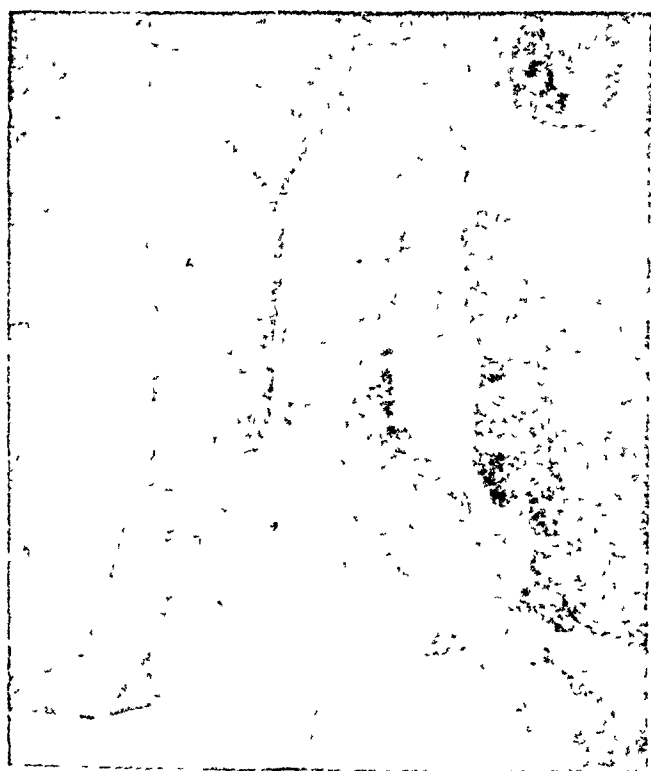
चित्र 141—एक अतीव बहिर्नत जानु का रोगी।

पर गुल्फिकाओं के बीच की दूरी से निश्चित की जाती है। 4 वर्ष तक के बालकों में यह दूरी, बिना किसी दैहिक रोग के लक्षण के, 2 इंच हो सकती है। ऐसी विरूपतायें सदा स्वतः सुधर जाती हैं।

संघट्ट जानु की तीव्र दशा में पार्श्व ऊरु-स्थूलक संपीडित हो जाता है, अभिमध्य स्थूलक आगे को बढ़ जाता है और अपेक्षतः उसकी अतिवृद्धि हो जाती है। कुछ समय पश्चात् अन्तर्जंघास्थि का, और्वी द्विशिरस्का की कंडरा

के खिचाव के कारण, वहिर्विवर्तन हो जाता है तथा पांव मे वहिर्नत (valgus) विरूपता हो जाती है। चलने मे, पाव प्राय: भीतर को मुड जाते है और नितव की एक ओर से दूसरे ओर की गति वहुत वढ जाती है जिससे चाल भद्दी दीखती है। जानु के आकुचन पर विरूपता जाती रहती है।

चिकित्सा

अज्ञातहेतुक अन्तर्नत जानु मदा स्वत सुधर जाता है, केवल जूते के भीतरी किनारे को 1/4 इच ऊचा कर देना आवश्यक होता है, यथामभव वालक को नगे पाव या साधारण जूता पहिन कर भागने-दौडने की मनाही होनी चाहिये।

विरूपता के अधिक होने पर, जहा गुल्फिकाओ के वीच की दूरी 3 इंच हो, अधिक मक्रिय चिकित्सा आवश्यक है जो स्प्लिन्टो द्वारा या शस्त्रकर्म से की जाती है। स्प्लिन्ट एक लवा लौह का दड होता है। इसमे ऊरु और जंघा को पकडने के लिये घेरे लगे रहते है। स्पिलन्ट को ऊरु और जघा के
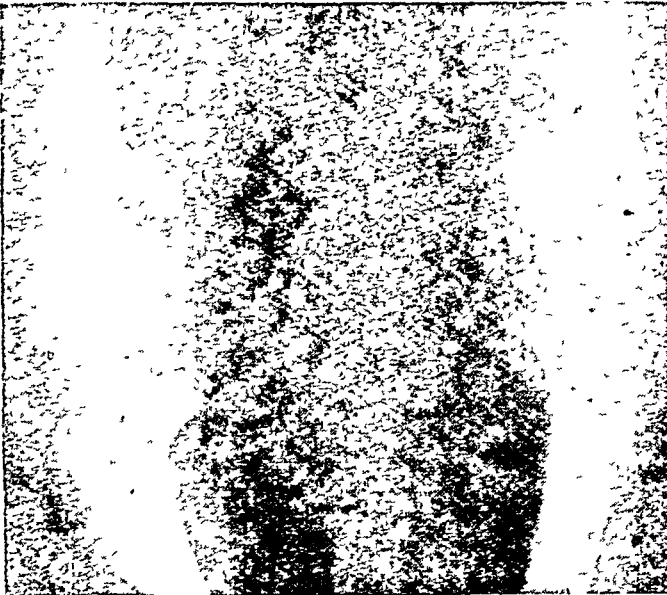
चित्र 142—उपास्थि-दुर्विकसन (dyschoandroplasia) के कारण उत्पन्न अन्तर्नतजानु (चापजघा) के एक रोगी का एक्सरेचित्र।

भीतर की ओर लगाकर घेरे या लोहे के वधो को कस दिया जाता है जिससे अग भीतर को खिचा रहे। अथवा मरमेड (mermaid) स्प्लिट को दोनो

अगो के भीतर की ओर लगाकर कस दिया जाता है। क्रमशः प्लास्टर की कास्टों (casts) के प्रयोग से भी विरूपता सुधरती है। अधिक विरूपता होने पर अधिस्थूलक कीलक अस्थिच्छेदन (supracondylar cuneiform osteotomy) से सहज मे सुधार हो जाता है, कीलक का आधार अभिमध्य ओर रहता है और शस्त्रकर्म के पश्चात प्लास्तर तब तक लगा रहता है जब तक अस्थि जुड नही जाती। इधर कुछ वर्षो मे ऊरु के अभिमध्य ओर की वृद्धि को, उधर की वर्धक उपास्थि के नियत्रण द्वारा, रोकने का प्रयत्न किया गया है।

अन्तर्नतजानु (genu varum) अथवा चापजंघा (bow-legs)

यह विरूपता सघट्ट जानु से कम होती है। इसमे अन्त और वहिर्जंघिकाओं के काण्डो के ऊर्ध्व और मध्यतृतीयाश वाहर को मुड जाते है। इसके प्रकार ये है . **शैशव**, रिकेट्स और कभी-कभी पेजेट रोग या दुरुपास्थिविकसन (dyschondroplasia) रोगो के द्वितीयक रूप, और **बहिर्नत अन्तर्जंघास्थि** (tibia vara)।

चिकित्सा

शैशव प्रकार स्वत. सुधर जाता है। रिकेट्स मे, यदि दशा रोग की सक्रिय अवस्था ही मे मालूम हो जाती है तो वह कई वार के हस्तकौशल तथा प्लास्टर कास्टो से सुधर सकती है। अथवा नाइट (knight's) के ब्रेस (brace) से वह सुधर सकती है।

दशा के वढ जाने पर अस्थिभजन (osteoclasis), अर्थात हाथो से एक कीलक (wedge) पर अन्त' और वहि' दोनो जघास्थियो का भग करने अथवा कीलक अस्थिछेदन (wedge osteotomy) करने के पश्चात प्लास्तर कास्ट के प्रयोग से विरूपता सुधर सकती है। रिकेट्स से उत्पन्न विरूपता को उसी दशा मे छोड देना चाहिये। टिविया के ऊर्ध्व प्रान्त के अधिवर्ध (epiphysis) और मध्यवर्ध (metaphysis) दोनो के परिवर्धन दोप से उत्पन्न विरूपता केवल अस्थिछेदन द्वारा सुधर सकती है। इस कर्म को जितना भी शीघ्र हो सके कर देना चाहिये जिससे आगे परिवर्धन समान प्रकार से हो।

सपाट पद (flat foot)

इसका अर्थ है वह पांव जिसकी अनुदैर्ध्य चाप खडे होने पर मिट जाती है। ऐसा पाव लक्षणहीन हो सकता है और इच्छा होने पर शिथिलावस्था मे

चापवत स्थिति पुन. प्राप्त कर सकता है ।

वास्तव मे सपाटपद का शब्द क्रियात्मक या कार्योपलक्षी अर्थ मे प्रयोग करना चाहिये । यह केवल एक लक्षण है जो पाव के कई विकारो में पाया जाता है जिनमे वेदना होती है और पाव का कार्य भी विकृत हो जाता है । लक्षण सपाटता के अनुपात मे नही होते ।

लक्षण

लक्षण, उपस्थित होने पर, शीघ्रता से प्रकट हो या धीरे-धीरे बढ़े । उपस्थित लक्षण वेदना होती है जो निम्न स्थितियो मे एक या अधिक स्थानों मे प्रतीत हो सकती है · नौकाभ अस्थि की गुलिका के नीचे, अभिमध्य गुल्फिका (malleolus) के नीचे, जघा के अभिमध्य और नीचे तक तथा पार्ष्णिका मे; और कभी-कभी पार्श्व गुल्फिका के सिरे के नीचे अवघुटिका सधि (subtalar joint) के वाह्य पृष्ठ पर । प्राय स्थानीकृत सूजन होती है; कुछ मे सारे पाव पर शोफ हो जाता है । चलने के समय पाव वाहर को मुड जाते है और जघाये वाहर को घूम जाती है; चाल भद्दी दीखती है । व्यायाम या अधिक समय तक खडे रहने पर लक्षण और भी स्पष्ट हो जाते है, विश्राम से कम हो जाते है । पहले पाव नरम और गतिशील रहते है; किन्तु धीरे धीरे वे कडे होने लगते है और जिस क्षेत्र पर भार पडता है वहा ठेम (corn) या घट्ट (corns) वन जाते है जिनमे पीडा होती है ।

वर्गीकरण (classification)

सपाट-पद के निम्न प्रकार पृथक-पृथक होते है या कई प्रकार एक ही रोगी मे मिले हो सकते है, शैशव; स्थितिज, अन्तर्नत जानु के साथ या विना उसके, अभिघात के पश्चात, जैसे पार्ष्णिका के पिच्चित (crush) अस्थिभग मे; (1) अन्तर्जघास्थि के अन्तर्विवर्तन (internal rotation) और (2) लघु पार्ष्णिकडरा के क्षतिपूरक के रूप मे, अगघातज, जो विशेपकर पोलियो मे मिलती है, पेशी दौर्वल्य, और आकर्षी सपाट पद (spasmodic flat foot)।

लक्षणानुसार रोगियो के तीन वर्ग पाये जाते है : पद आयास (foot strain)—इसका प्रारभ अकस्मात होता है; गतिशील सपाट पद (mobile foot)—स्वय या दूसरे के द्वारा हो सकता है । कठोर सपाटपद अर्थात् स्थिर विरूपता ।

चिकित्सा

चिकित्सा कारण के अनुसार भिन्न भिन्न होगी। किसी विशेष कारण होने पर, जैसे लघु पार्ष्णि कडरा मे, कारण को दूर करना आवश्यक है। शैशव प्रकार मे पाव को नित्य अन्तवर्तन की दशा मे लाने का प्रयत्न किया जाता है और फिर टोमास की मुडी और प्रलवित ऐड़ी (Thomas crooked and elongated heel) उनके जूतो मे लगा दी जाती है जिससे ऐड़ी का भीतरी किनारा ऊपर उठ जाता है और आगे बढ जाता है। कुछ रोगियो मे पाव कठोर होता है और कोई चिकित्सा सफल नही होती।

पेशी दौर्वल्य या स्थितिज दोष से उत्पन्न विरूपता मे विश्राम, चिकित्सकीय व्यायाम, अतिभार को घटाने वाला आहार और उठी हुई एडीयुक्त जूतो के प्रयोग से लाभ होता है। व्यायाम, विशेषकर पाव की लघुपेशियो तथा अन्तर्वर्तक पेशियो का विकास करने वाले होने चाहिये। पदचाप-आश्रयो (supports) का प्रयोग न करना चाहिये।

आकर्षी सपाट पद मे, जहा पाव कठोर हो और विवर्तिकाओ (peronei) का आकर्ष हो, रोगी का सवेदना-हरण करके विरूपता मिटाई जाय और पाव को 12 सप्ताह के लिये प्लास्तर मे रख दिया जाय। इसके पश्चात उचित व्यायाम, मालिश तथा उपयुक्त जूतो का प्रयोग किया जाय।

गुहिकीय पद या नखरपाद (pes cavus, or claw-foot)

इस दशा मे पदतल की अवतलता बढ जाती है जिसका कारण चाप की ऊचाई वढने की अपेक्षा पाव के अग्रभाग (forefoot) का मध्य पदकूर्च, अन्तरापदकूर्च और पदकूर्च-प्रपद (midtarsal, intertarsal and tarsometatarsal) से सधियो पर नीचे को झुक जाना अधिक होता है। यह दशा प्राय अज्ञातहेतुक होती है, किन्तु पोलियो, फ्रेडरिक गतिविभ्रम (Fiedrcich's ataxia), अयुक्त मेरुदड (spina bifida) आदि रोगो के द्वितीयक भी हो सकती है। रोगोत्पत्ति की क्रियाविधि नही मालूम है।

दशा के प्रारम्भ मे कोई लक्षण नही होते, फिर वेदना होने लगती है और भारवहन क्षेत्र मे ठेस या घट्टे वन जाते है।

चिकित्सा

प्रारभिक और हलकी दशा मे पदतल प्रावरणी का कडराछेदन (teno-

tomy) और पार्ष्णिकडरा की लवाई वढ़ाने से विरूपता मिट सकती है। उसके पश्चात विशेष प्रकार के वने जूतो का प्रयोग किया जाय। जब रोग वढ जाने पर अस्थिया भी विरूप हो जाय तो कीलक-पदकूर्चोच्छेदन (wedge tarsectomy) करना आवश्यक है जिसमे कीलक का आधार पदपृष्ठ की ओर रहता है और घुटिका की ग्रीवा और शिर का वहुत सा भाग भी निकालना होता है।

ऊर्ध्व देहशाखा की विरूपताये

कूर्पर (elbow)

वहिर्नत और अन्तर्नत प्रकोष्ठ (cubitus valgus and varus) विरूपताये जन्मजात हो सकती है। इनकी कोई चिकित्सा आवश्यक नही होती। वे अधिकतर अस्थिभग का परिणाम होती है। अन्तर्नत प्रकोष्ठ साधारणतया प्रगडास्थि के अधिस्थूलक अस्थिभग (supracondylar fracture) के कुसयोजन का परिणाम होता है। उसमे वहिर्नत प्रकोष्ठ भी हो सकता है। यद्यपि वह अधिकतर वालको मे मुडक (capitulum) के अस्थिभग होने से अभिवर्ध (epiphyses) के पृथक हो जाने पर उसके पुन स्थापन न करने का फल होता है। ऐसा होने पर विरूपता वढती रहती है और अत्यधिक होकर अंत.-प्रकोष्ठिका-तन्त्रिका के खिच जाने से उसका विलवित अगघात (delayed paralysis) कर देती है।

इन विरूपताओ का सुधार अधिस्थूलक अस्थिच्छेदन (supracondylar osteotomy) द्वारा हो सकता है और केवल अगरूप की उन्नति के लिये किया जाता है।

डुपीट्रन आकुंचन (dupuytren's contracture)

यह दशा करतल प्रावरणी के मोटी होकर सकुचित हो जाने का फल होती है। हेतु अज्ञात है, किन्तु आनुवशिकता तथा वारवार अभिघात उत्पत्ति मे सहायक हो सकते है।

करतलत्वचा मे एक मोटा कठोर पर्वक वन जाता है जो क्रमश. वढता है, अन्य पर्वक भी वन जाते है और त्वचा सिकुड कर उसमे झुरिया पड जाती है। प्रावरणी के सिकुडने मे एक या कई अगुलिया आकुचित (flexed) हो

जाती हैं और कितनी ही बार वे इतनी आकुंचित हो जाती हैं कि उनके सिरे हथेली को छूने लगते हैं।

चिकित्सा

कितने ही सरजी आयोजन किये जा चुके हैं किन्तु पूर्ण सफलता नहीं मिली है। सबसे उत्तम उपाय सम्पूर्ण प्रावरणी का और उससे अंगुलियों में जाने वाले बंधों (bands or slips) का उच्छेदन है, किन्तु रक्तवाहिकाओं और तंत्रिकाओं को क्षति न पहुंचने पायें। त्वचा का अभाव होने पर त्वचारोपण (skin grafting) भी आवश्यक हो सकता है। ऐसे शस्त्रकर्म के परिणाम सन्तोषजनक होते हैं।

ट्रिगर अंगुलि (trigggr finger)

यह उस दशा का नाम है जिसमें करभ अंगुलास्थि संधि (metacarpophalangeal joint) पर आकुंचक कण्डरा-पिधान (flexor tendon

चित्र 143—अधिस्थूलक अस्थिभंग के कारण उत्पन्न अन्तर्नत प्रकोष्ठ की आकृति का एक्सरेचित्र।

sheath) में स्थानिक सकीर्णक अतिवृद्धि (local stenosing hypertrophy) हो जाती है जिसमें आकुंचित अंगुलि के प्रसारण में बहुत बाधा होती

है और गति झटके के साथ होती है। यह दशा एक अंगुलि में परिमित हो या कई अगुलियों मे हो सकती है।

तन्त्रिकीय विकार
(Neurological Disorders)

तीव्रअग्र-पोलियो मेरुरज्जुशोथ (acute anterior poliomyelitis)

यह शैशव अंगघात (infantile paralysis) भी कहा जाता है, क्योंकि रोग विशेषकर वालको ही मे होता है। इसका कारण एक तन्त्रिकाप्रेरक वाइरस होता है जिसकी केन्द्रीय तन्त्रिकातन्त्र पर विस्तृत क्रिया होती है। संक्रमण किस प्रकार पहुँचता है इसका अभी तक ठीक-ठीक ज्ञान नही है। उसकी मुख्य क्रिया मेरुरज्जु पर होती है जिस पर निम्न प्रभाव होते है—अग्र शृंग कोशिकाओ (ant horn cells) तथा उनके समजोतो (homologues) मे व्यपजनन, धूसर पदार्थ का शोथ और उसके साथ वहुरूपी केन्द्रकीश्वेत कोशिकाओ का अत सचरण।

आक्रान्त कोशिकाये जीवविषो की क्रिया द्वारा नष्ट हो जाती है अथवा रक्त-सभरण के वन्द हो जाने से उनका धीरे-धीरे नाश होता है, अथवा कुछ समय तक उनकी क्रिया स्थगित रहती है और क्षति की सीमा के अनुसार वे अल्प या अधिक समय मे वे पुन. स्वस्थ हो जाती है। रोग जहाँ-तहाँ विकीर्ण (sporadic) प्रकार से हो सकता है अथवा महामारी रूप मे फैल सकता है। भारतवर्ष मे महामारी वहुत कम फैली है।

लाक्षणिक प्रावस्थायें (clinical phases)

रोग की तीन प्रावस्थायें होती है, आक्रमण की प्रावस्था, आरोग्य-लाभ की प्रावस्था और अवशिष्ट अगघात (residual paralysis) की प्रावस्था। केन्द्रीय तन्त्रिकातन्त्र मे सक्रमण की रचनात्मक स्थिति के अनुसार आक्रमण प्रावस्था को भी केन्द्रीय प्ररूप (bulbar type), मेरु (spinal) प्ररूप और आरोही (ascending) प्ररूप मे विभाजित किया जा सकता है। अगघात के किसी भी लक्षण के उत्पन्न होने के पूर्व सक्रमण नष्ट हो सकता है। लक्षणो का प्रारंभ और उनकी प्रगति तीव्र अथवा मन्द हो सकती है। तो भी दूसरे सप्ताह के अन्त तक रोग पूर्ण रूप से प्रकट हो जाता है। रोग केवल एक पेशीसमूह को अथवा कुछ ही पेशियों को, अथवा अग के एक भाग को या पूर्ण अग को, अथवा कई अगों को या सारे धड़ को आक्रान्त कर सकता है।

रोग जीवविपरक्तता (toxaemia) और मस्तिष्कावरणक्षोभ (meningeal irritation) के लक्षणों के साथ प्रारंभ होता है। पेशीस्पर्शासहता एक शीघ्र ही प्रकट होने वाला और प्रमुख चिह्न है; संधियों की गतियो मे भी वेदना होती है। प्रमस्तिष्क मेरुतरल मे कोशिकायें और प्रोटीन बढ़ जाती है।

ज्वरयुक्त रोगो के समान लक्षणो के प्रकट होने के पश्चात् प्रायः अंगघात शीघ्र ही प्रारंभ हो जाता है, कभी-कभी अंगघात पहला लक्षण होता है। अंगघात शिथिल (flaccid) प्रकार का होता है; असममित होना उसका अभिलक्षण है तथा उसका वितरण क्षेत्रीय (patchy) होता है। संवेदना का ह्रास नही होता, यद्यपि कुछ अनुकम्पी विकार हो सकते है। अधिकतर मेरुरज्जु का कटि विवर्धन (lumbar enlargement) आक्रान्त होता है, ग्रैव विवर्धन (cervical enlargement) उससे कम ग्रस्त होता है। किन्तु रोग के स्थानिक वितरण का कोई विशेष क्रम नही है।

आरोग्यलाभ की प्रावस्था एक या दो सप्ताह मे आरंभ होती है। पेशी-स्पर्शासहता मे कमी होना आरोग्यलाभ के प्रारंभ का द्योतक है। प्रथम तीन मास मे आरोग्यलाभ द्रुत गति से होता है, अगले एक या दो वर्ष मे उसकी प्रगति मन्द किन्तु निरन्तर होती है। इस अवस्था मे भावी विरूपताओं का रूप निर्धारित हो जाता है।

उपयुक्त चिकित्सा मे दो वर्ष के पश्चा्‌ और अधिक उन्नति की आशा नही की जा सकती। अचिकित्सित रोगियो मे आगे चलकर भी बल-प्राप्ति सम्भव है। अंतिम अवस्था के पहुँचने पर रोगी में जितना पेशी बल रह गया है, उसके द्वारा यथासंभव अधिक से अधिक कार्यक्षमता की उपलब्धि का प्रश्न रह जाता है।

आक्रमण और आरोग्य लाभ की प्रावस्थाओ चिकित्सा

आक्रमण प्रावस्था मे विश्राम, वेदना शमन और विरूपता को रोकने के लिए अत्यन्त साधारण प्रकार के स्प्लिन्ट का प्रयोग चिकित्सा के आयोजन है।

विकलांगता की चिकित्सा (orthopaedic treatment) आरोग्यलाभ की अवस्था से आरंभ होती है। प्रारंभ पर ही आक्रान्त पेशीसमूह के बल का ठीक-ठीक निर्धारण (assessment) करना आवश्यक है। यह पेशी के बल (power) और दुर्बलता की मानक अभिलेखन-प्रणाली (standard system of recording muscle-power and weakness) के अनुसार किया जाता है। चिकित्सा निम्नानुसार होती है।

स्प्लन्ट लगाना

हल्के, सहज मे हट जाने वाले स्प्लटो का उपयोग उत्तम है। स्प्लन्ट से विरुपता रुकती है, उनको इस प्रकार लगाना चाहिये कि घातित या दुर्वल पेशियाँ अपनी गतियो की सीमा की मध्य स्थिति मे रहे। इनसे पेशियाँ खिचती नही। धड की पेशियो के आक्रान्त होने पर रोगी को उत्तम प्लस्तरशैया (plaster bed) मे झुकी हुई (recumbent) स्थिति मे रखा जाय।

नित्य मालिश—यह परिसरी रक्तमचार वढाने के लिये किया जाता है।

नित्य व्यायाम कराना (daily passive movements)—परिचारक नित्य सव सधियो से उनकी पूर्ण गतियाँ करवाता है जिससे वे जुड न जाये।

गतियाँ—जितना शीघ्र सभव हो सके रोगी को स्वय गतियाँ करने को (active movements) उत्साहित करना चाहिए। रोगी श्रान्त न होने पाये। कुछ वल प्राप्त होने पर व्यायाम वढा दिया जाय जिससे वल और वढ़े। इस अवस्था पर जल निमग्न (underwater exercises) व्यायाम लाभदायक हो सकते है। सूक्ष्म गतियो (trick movements) को देखते रहना चाहिए और पेशियो के उपयुक्त प्रयोग को उत्साहित करना चाहिए। रोगी के लिए ऐसे व्यायाम आविष्कृत किये जाये जिनसे पेशियो की सहयोगी या समन्वयकारी गतियो (coordinating movements) को करने की शक्ति वढ़े। अधिक वलवान पेशियो से अतिक्रिया भी न करवाई जाय। व्यायाम सावधानी से क्रमशः वढाये जाये जिससे दुर्वल पेशियो के वल का विकास हो।

अन्तिम परिणाम अवशिप्ट पेशी दौर्वल्य या अगघात की सीमा तथा वितरण पर निर्भर करेगा।

विरूपता के कारण

पोलियो मे (1) अविरोधित (विरोधी पेशियो के अगघात के कारण) पेशियो की अतिक्रिया (over action); (2) घातित (paralysed) पेशियों के सकोच और (3) आँशिक घातित अग द्वारा भारवहन से विरूपता उत्पन्न होती है, पेशीदौर्वल्य के कारण आश्रय न मिलना भी विरुपता का कारण हो सकता है, जैसे पार्श्वकुब्जता (scoliosis) मे। आरोग्य लाभ प्रावस्था मे चिकित्सा समय सावधान रहने से वहुत कुछ विरूपताओ को रोका जा सकता है। किन्तु उस पर भी कुछ विरूपताएँ हो ही जाती है। ये निम्नलिखित है।

पार्श्व कुब्जता (scoliosis)—पीठ या उदर की पेशियो के दौर्वल्य के

कारण होती है, विशेषतया एक पार्श्वी होने पर। इस विरूपता में प्लास्टर या स्प्लिण्ट से आश्रय देना भी कठिन है। मेरुदण्ड की वृद्धि के बन्द हो जाने पर कशेरुका संयुक्ति (spinal fusion) विचारणीय है।

नितंब विरूपताएँ (Hip deformities)—सबसे साधारण विरूपता नितंब का आकुंचन, अपावर्तन और बहिर्विवर्तन है जिसका कारण ऊरु-प्रावरणी तानिका, श्रोणिफलक कटिलम्बिनी (iliopsoas), दीर्घतमा (sartorius) और सम-और्विका (rectus femoris) पेशियों का संकोच होता है। जानु का आकुंचन और गुल्फ का अश्वपाद बहुधा इसके साथ होते हैं। विरूपता मृदु होने पर केवल वितानन (stretching) से लाभ हो सकता है। रोग बढ़ जाने पर सूटार प्रावरणीछेदन (Souttar's fasciotomy) आवश्यक है जिसमें नितंब की आकुंचक पेशियों का अवपर्यस्थि निर्लेपन (subperiosteal stripping) करने से वे नीचे को सरक जाती है।

ऊर्ध्व देहशाखा (अंग)—स्कंध के अतिरिक्त अन्यत्र स्थिर विरूपताएं असाधारण है, उनका कोई विशेष रूप या क्रम नहीं होता। प्रत्येक का उसकी दशा के अनुसार निर्णय करना होता है।

अवशिष्ट प्रावस्था की चिकित्सा

यह रोग की वह अवस्था है जब कुछ बल या शक्ति का ह्रास हो चुका है। अतएव चिकित्सा का उद्देश्य कार्य को उन्नत करना है। तीन प्रकार के रोगी पाये जाते हैं (1) जिनको अब चिकित्सा की आवश्यकता नहीं है; (2) जिनमें शस्त्रकर्म की आवश्यकता नहीं है, केवल व्यायाम और ब्रेसों (braces) से जिनको आवश्यक सहायता मिल सकती है; तीसरे वे जिनमें शस्त्रकर्म से कार्यक्षमता उन्नत हो सकती है। तीसरे समूह के रोगियों में तीन प्रकार के शस्त्रकर्म उपयोगी हो सकते हैं।

विरूपता का सुधार—केवल इसी से कार्यक्षमता उन्नत हो सकती है। अचिकित्सित रोगियों में उससे बल बढ़ सकता है।

कंडरा-प्रतिरोपण (tendon transplantation)—इस शस्त्रकर्म में संधि के चारों ओर की कंडराओं का पुनः संरेखण किया जाता है जिससे शक्ति का संतुलित वितरण (balanced distribution) हो सके। हाथ और पावों में ऐसे शस्त्रकर्म विशेषतया उपयोगी होते है। किन्तु उनको तभी करना उचित है जब शक्ति की स्वतः पुनः प्राप्ति की सम्भावना न रहे।

(a) (b)
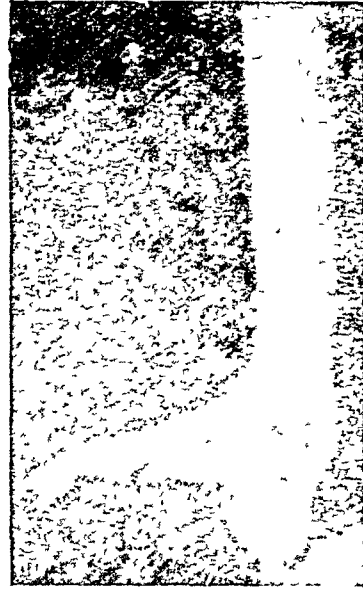
चित्र 144—(a) उन्नत-वहिर्नत (ईक्वाइनो-वारस) टेलिपेस, नितम्ब के आकुचन, अपावर्तन और वहिर्घूर्णन सहित तथा जानु की आकुचन विरूपता (flexion deformity) भी है (पोलियोत्तर), (b) पार्ष्णिका-गुहिका-वहिर्नत विरूपता (calcaneo-cavo valgus deformity) (पोलियोत्तर)

संधिस्थिरीकरण (arthrodesis)—इससे ढीली संधि स्थिर हो जाती है और शल्य उपकरणों का प्रयोग आवश्यक नहीं रहता। यह शस्त्रकर्म पाँव मे बहुत उपयोगी होता है जहाँ उसके साथ कंडराप्रतिरोपण भी किया जा सकता है।

अस्थि की लम्बाई बढाना या घटाना—इस शस्त्रकर्म से अधोशाखाओं की अस्थियो की लम्बाई को बराबर किया जाता है।

यह समझ लेना आवश्यक है कि शस्त्रकर्म आयोजन तभी युक्त है जब उससे कार्यक्षमता के उन्नत होने की आशा हो, अतएव न केवल विरूपता किन्तु समस्त रोगी का पूर्ण विचार करके इसका निर्णय करना चाहिए।

संस्तभी अंगघात (spastic paralysis)

शैशव और बाल्यकाल का सस्तभी, अगघात प्राय. जन्मजात होता है। वह एक या दोनो अगो मे हो सकता है। सबसे अधिक सस्तभी अधरांग घात (spastic paraplegia) रूप पाया जाता है। यह अगघात ऊर्ध्व प्रेरक न्यूरोन (upper motor neurone) प्ररूप का होता है, उसके साथ हीनबुद्धिता (mental deficiency) और एथिटोसी (athetotic) गतियाँ भी हो सकती है। यह दशा अगघात की उग्रता, उसके विस्तार और मानसिक अविकास की सीमा पर निर्भर करती है। ऐसे बालको का परिवर्धन अत्यल्पगति से होता है।

इस दशा की चिकित्सा का आधार बालक का पुन शिक्षण है जिससे वह अपनी पेशियो को शिथिल करना (relaxation) और गतियो का समन्वय करना (coordination) सीखे। जितने भी शस्त्रकर्म है वे तभी उचित है जब वे बालक के पुन शिक्षण मे सहायक हो सके। बालक का मानसिक विकास उत्तम होने पर, चिकित्सा मे सतोषजनक उन्नति हो सकती है।

पृष्ठवेदना

पीठ का दर्द (Backache) या पीठ मे, विशेषकर उसके निचले भाग मे, वेदना अतिसाधारण दशा है। उसके साथ गृध्रसी-तन्त्रिका के मार्ग पर वेदना हो या न हो। लक्षण तीव्र और अकस्मात् हो सकते है, अथवा वे जीर्ण तथा प्रच्छन्न हो सकते है। वेदना मृदु से लेकर दारुण तक हो सकती है जिससे व्यक्ति काम करने मे अशक्त हो जाता है।

इतिवृत्त

रोग के अनेक कारण होते है। रोगी की दशा पहचानने के लिए उसका पूर्ण इतिवृत्त जानना आवश्यक है, वेदना की ठीक स्थिति, रूप (nature); अवधि, प्रारम्भ तथा भोजन करने, मल और मूत्र त्याग करने, आर्त्तव, चलने-फिरने तथा सस्थिति का वेदना पर प्रभाव; इस इतिवृत्त से वेदना किस प्रकार उससे सम्बन्धित है, क्या बल करने, खासने, छीकने संस्थिति बदलने आदि का वेदना पर कुछ प्रभाव पडता है। वेदना किस से बढती या कम होती है, इन सब बातो को जानना आवश्यक है।

परीक्षा

रोगी के वस्त्र उतार कर उसको खडा करके तथा लिटाकर दोनो स्थितियों मे परीक्षा करनी चाहिए। उसकी सम्पूर्ण परीक्षा आवश्यक है न कि केवल वेदना होने वाले भाग की। रोगी का शरीरभार, तापक्रम, नाड़ी और श्वसन का भी लेख रखा जाय। परीक्षा के समय रोगी की सस्थिति, विरुपता, चाल, वेदना की स्थिति, वेदना की अनुभूति की दिशा, मेरुदड की गतियाँ—आकुचन प्रसारण, पार्श्व को झुकने, विवर्तन और नितंव की गति—इन सवका ध्यान-पूर्वक निरीक्षण करना चाहिए। परीक्षा सदा एक क्रम से करनी चाहिए जिससे कोई वात छूटने न पाये।

हृदय, रक्तवाहिकाओ, रक्त दाव, फुप्फुस, उदर, तन्त्रिकातन्त्र, मलाशय और मूत्र की परीक्षा आवश्यक है। विशेप परीक्षाओं मे लेसेग-चिह्न (Leisegue's sign) और जघा के वहि. पृष्ठ पर सवेदी परिवर्तनो की परीक्षा भी सम्मिलित है। (लेसेग चिह्न—जानु को सीधी करके शैया से जंघा को सीधा ऊपर उठाने से गृध्रसी तन्त्रिका के खिचने से वेदना होती है।)

अन्वेपण मे मेरुदड के कई ओर से चित्र लेने आवश्यक हो सकते हैं।

रक्त, मल और मूत्र की सामान्य परीक्षा अवश्य की जाय। अग्र दैहिक रोग के व्यतिरेक के लिये ई० एस० आर० परीक्षण आवश्यक है। कुछ रोगियों में रक्त कैल्शियम, फास्फेट और फास्फेटेज का आकलन तथा मेरुरज्जु-ऐक्सरे चित्र आवश्यक हो सकते हैं।

पीठ के निम्न भाग में वेदना के कारण

पीठ के निम्न प्रदेश मे वेदना के तीन प्रकार के कारण हो सकते हैं; कायिक रोगजन्य; पीठ के निम्न भाग की रचनात्मक दुर्वलता से उत्पन्न और मानसिक कारणो से उत्पन्न होने वाले।

कायिक कारण

इस वर्ग के कारण अस्थिककाल सम्वन्धी अथवा अस्थिककालेतर हो सकते हैं।

अस्थिकंकाल सम्वन्धी कारण ये है . मेरुदड के अस्थिभग तथा अस्थिभग-सधिच्युति; यक्ष्मा रोग; अस्थिमज्जा शोथ; सधिग्राही कशेरुकाशोथ (ankylosing spondylitis), अस्थि-सधि-शोथ, अस्थिमृदुता, द्वितीयक दुर्दम निक्षेप (secondary malignant deposits) विशेपकर स्तन, पुरस्थ,

गृध्रसी वेदना उपस्थित होने पर वह ऊरु के पश्च और पार्श्व पृष्ठो पर, जघापिड मे तथा पाँव के पृष्ठ और पार्श्व ओर तक प्रतीत हो सकती है। खाँसने, वल करने या जघा उठाने या किसी भी क्रिया से जिससे गृध्रसी तन्त्रिका खिचती है, या प्रमस्तिष्कमेरु तरल की दाव वढ़ती है, वेदना वढ सकती है। मेरुदंड के पाँचवे कटि खड (क-5) और प्रथम त्रिक खड (त्रि-1) के तन्तुओ से संभरित (supplied) त्वचा मार्गो मे अतिसवेदिता (hyperaesthesia), न्यून सवेदिता (hypoaesthesia) या वेदनाहीनता (analgesia) हो सकती है। गुल्फ प्रतिक्षेप (ankle jerk) कम हो या अनुपस्थित हो सकता है और पाँव की पृष्ठाकुचनी पेशियाँ dorsiflexors) दुर्वल हो सकती है।

मेरुरज्जुचित्रण से अन्तराकशेरुक चक्रिका के अवकाश मे भरण अपूर्णता (fiffing defect) दिखाई देगी, जो मज्जी केन्द्रक के पीछे हट जाने की द्योतक है।

पहले पेशियो, स्नायुओं और सधियो के वहुत प्रकार के विकृतिजन्य विक्षतिओ (pathological lesions) को पीठ की वेदना का कारण माना जाता था। आधुनिक मत यह है कि समस्त पीठ, एक क्रियात्मक इकाई के रूप मे अकर्मण्य हो जाती है जिसके कारण पेशियों, स्नायु तथा सधियो से सम्वन्धित होते है। जहाँ मज्जी केन्द्रक सरक कर पीछे को हट जाता है वहाँ गृध्रसी तन्त्रिका सम्वन्धी वेदना होती है और मूल क्षोभ (root irritation), न कि मूल सपीडन (root compression), के लक्षण प्रकट होते है।

ऐसे रोगियों मे दैहिक परीक्षा और अन्वेषण से परिवर्धन असगतियों या व्यपजनन के अतिरिक्त, जो वेदना की प्रवृत्ति के कारण हो सकते है, कोई कायिक रोग नही मालूम होता।

चिकित्सा तीन प्रकार से हो सकती है; अचलीकरण (immobilization); चलीकरण (mobilization), शस्त्रकर्म। जव लक्षण तीव्र हों और मूल सम्वन्धी (root irritation) चिह्न उपस्थित हो तो अचलीकरण वाँछित है, जो शैया-विश्राम, मेरुदड आश्रय (ब्रेस या स्प्लिन्ट) या प्लास्तर द्वारा आयोजित किया जा सकता है।

जव मूल संवधी चिह्न उपस्थित न हों, चिर वेदना हो और ऐक्सरे चित्र भी ऋणात्मक हो तो भौतिक चिकित्सा और अगों को चलायमान करना वहुधा लाभदायक होते है। मालिश, व्यायाम, ऊष्मा प्रयोग तथा हस्तकौशल द्वारा उसका आयोजन किया जाता है

19

हाथ की शल्य-चिकित्सा

वी० एन० बालकृष्णराव

हाथ के विकास के कारण मनुष्य ने हस्त-कौशल मे चरम निपुणता प्राप्त कर ली है। औद्योगीकरण की उन्नति तथा विविध कार्यों के लिए हाथों के अधिकाधिक प्रयोग के साथ-साथ इस अंग के अभिघात तथा सक्रमणग्रस्त होने की सम्भावना भी वढ गयी है।

हाथ का निरीक्षण करते समय ध्यान रखना चाहिए कि स्वयं हस्तरोगो के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर विद्यमान विक्षतियाँ भी हाथ मे लक्षण उत्पन्न कर सकती है; उदाहरणत. अग्रवाहु (यथा वोल्कमैन सकोचन, Volkmann's contracture), वाहु व ग्रीवा (यथा अर्व अगघात, Erb's paralyis), तथा मेरु रज्जु (यथा सिरिंगोमायलिया, syringomyelia)। यह भी स्मरणीय है कि कार्निया (cornea) के अतिरिक्त शरीर के किसी अन्य भाग में स्पर्शसवेदना का इतना महत्त्व नही है जितना हाथ मे है।

हाथ की जन्मजात विरूपतायें

हाथ की जन्मजात विरूपताएँ वहुधा पायी जाती हैं। ये प्राय· आनुवंशिक होती है तथा मेण्डेल (mendel) के अप्रभावी (recessive) घटकों के कारण फलित होती है। उत्तरोत्तर पीढ़ियो मे इनका विविध कोटि का आघटन पाया जा सकता हे। पाँव, स्कन्ध, अग्रवाहु, मेरु आदि की विरूपताएँ भी कभी-कभी इनकी सहगामी हो सकती है। अल्पकोटि की विरूपताएँ वहुधा पायी जाती है किन्तु इनके कारण प्राय कोई अयोग्यता नही होती।

प्राय पाई जाने वाली विरूपताएँ वहुअंगुलिता (polydactyly) तथा युक्तांगुलिता (syndactyly) हैं। वहु-अंगुलिता प्रायः एक अतिरिक्त अंगूठे अथवा कनिष्ठिका के पूर्ण या अर्धविकसन के कारण प्रकट होती है। युक्तागुलिता दो या अधिक अगुलियों के परस्पर जुड़ने के कारण होती है; उन्हे पृथक् करके तथा अगरागी दृष्टि से अंगुलिजाल (finger web) पुनर्निर्मित करके त्वचा ग्रापट कर दी जाती है। अन्य सुविदित विरूपताएँ लूतअगुलिता (arachnodactyly) तथा केकडा-नखर हस्त (lobster claw hand) हैं, प्रथम मे अगुलिया पतली और अर्ध-आकुचित होती हैं (मकड़ी हाथ या spider hand) तथा द्वितीय मे अगूठे तथा कनिष्ठिका को छोड़ अन्य तीनों अगुलियाँ अनुपस्थित होती है।

अगूठे की जन्मजात अनुपस्थिति भी सुविदित है। इन सव हस्त विरूपताओं से पीड़ित व्यक्ति प्राय. पर्याप्त हस्त कौशल प्राप्त कर लेते हैं। हाथ की यह अनुकूलनशीलता वास्तव मे विस्मयकारी हैं।

हाथ की अपेक्षाकृत विरल विरूपताएं लघुअंगुलिता (brachydactylia) तथा वृहत्-अगुलिता (megalodactylia) हैं, जिनमें एक या अधिक अंगुलियाँ छोटी या वडी हो सकती है।

विशेप प्रकार के आपरेशनो द्वारा अधिकांश विरूपताग्रस्त हाथों को अधिक उपयोगी वनाया जा मकता है। प्रशिक्षण और पुनःस्थापन (training & rehabilitation) का महत्त्व भी शल्यचिकित्सा से कम नहीं है।

हाथ के अभिघात और संकोचन (Injuries & Contractures of the Hand)

औद्योगीकरण के विकास के साथ-साथ हाथ की चोटों में भी वृद्धि होती जा रही है। ये प्रायः सदलन अथवा कटने के कारण होती हैं तथा कठोर और मृदु, दोनों प्रकार के ऊतकों को क्षतिग्रस्त कर सकती हैं। अंग का उचित भग्न-शेपनिष्कासन (debridement), धूल-मिट्टी और आगंतुक शल्यों का अपहरण तथा प्रतिजीवियो का प्रयोग आवश्यक होता है। अंग को उत्थित करना तथा स्प्लिन्ट प्रयोग द्वारा विश्राम प्रदान करना व संकोचन (contracture) का निवारण करना भी लाभदायक होता है। घाव की पट्टी वार-वार नही वदलनी चाहिए क्योंकि व्यतिकरण द्वारा विरोहण (healing) की अपेक्षा स्थूणक सुरक्षा (stump preservation) की ओर प्रेरित सरक्षी या कंजर्वेटिव चिकित्सासाधन श्रेयस्कर होते हैं, चाहे प्रथम साधन शल्य-चिकित्सक को

आकर्षक प्रतीत हो। उत्तम क्रियात्मक परिणाम की प्राप्ति के लिए दूसरी अथवा तीसरी बार भी आपरेशन आवश्यक हो सकता है। सकोचनो या कट्रेक्चर के निवारण के लिए स्प्लिन्ट तथा त्वचारोपण (skin graftıng) का शीघ्र प्रयोग भी करना चाहिए।

संकोचन (Contractures)

हाथ के सकोचन विविध प्रावरणी अवकाशो (fascıal spaces) और कडरापिधानो (tendon sheaths) के सक्रमण, हाथ की प्रावरणियों (fascıa)और मृदु ऊतको मे कतिपय परिवर्तनो तथा दाह के फलस्वरूप उत्पन्न हो सकते है।

अधिकाँश अभिघातो, दाहो तथा सक्रमणो के विरोहण के पश्चात् विशाल मात्रा मे सिकेट्रिक्स (cicatrix) उत्पन्न हो जाता है, जिसके सकुचन के फलस्वरूप समीपवर्ती क्षेत्रो के ऊतक खिच जाते है तथा भीषण विरूपताएँ उत्पन्न हो जाती है। सिकेट्रिक्स के सकुचन के कारण अग की तत्रिकाएँ सपीड़ित हो जाती है तथा रक्तसभरण, पोपण और लसीका-प्रवाह घट जाता है। मृदु ऊतको पर सतत खिचाव के कारण वहुधा करभ—अगुलास्थि सधियो (metacarpo—phalangeal joints) तथा अगुलियो की लघु सधियो का स्थानभ्रश हो जाता है तथा हाथ के कार्य मे गम्भीर वाधा उत्पन्न हो जाती है।

स्प्लिन्ट तथा ट्रैक्शन के कुशल प्रयोग द्वारा सकोचनो का निवारण किया जा सकता है। सकोचन (कन्ट्रेक्चर) हो गया हो तो रक्त और तंत्रिका सम्भरण को सुरक्षित रखते हुए ध्यानपूर्वक शल्यकर्म द्वारा सिकेट्रिक्स का व्यापक उच्छेद कर देना चाहिए। मुक्त त्वचा ग्राफ्ट (free skin grafts) अथवा अधिक ऊतक हानि की दशा मे, वृतकयुक्त ग्राफ्ट (pedicled graft) की आवश्यकता भी पडती है। चिकित्सा काल की सभी प्रावस्थाओ मे व्रणोपचार भी महत्त्वपूर्ण होता है।

हाथ मे मुख्यत दो प्रकार के सकोचन पाए जाते है डुपीट्रेन सकोचन (Dupuytren's contracture) तथा वोल्कमैन स्थानिक अरक्तता सकोचन (Volkmann's ıschaemıc contracture)।

करतलप्रावरणी आकुंचन (डुपीट्रेन संकोचन Dupuytren's contracture)

करतल प्रावरणी (palmar fascıa) के इस प्रगामी सकोचन का वर्णन

1831 मे डुपीट्रेन ने किया था। इसका आघटन पुरुषों में अधिक होता है। (यौन अनुपात 6 1) तथा आयु प्राय तीसरी-चौथी दशाब्दी के लगभग होती है। यह अवस्था द्विपार्श्वी होती है, तथापि रोग एक हाथ मे दूसरे से पहले आरम्भ हो सकता है।

हेतुकी—सक्रमण, अभिघात, व्यवसाय, प्रवृत्ति (diathesis) आदि अनेक घटक इस दशा के लिए उत्तरदायी ठहराये गए है, किन्तु वास्तविक कारण अज्ञात हे। इस अवस्था मे शरीर के अन्य भागो के तातविक बैण्ड (fibrous bands), उदाहरणत. पादतल प्रावरणी (plantar fascia), का संकुचन भी पाया जा सकता है।

लक्षण एवं चिह्न—हाथ मे थकान, क्लांति और मंद पीड़ा रहती है। अनामिका के सामने हथेली पर एक छोटा पर्वक प्रकट हो जाता है जिसका धीरे-धीरे विस्तार होता रहता है। वमाहानि के कारण करतल प्रावरणी (palmar-fascia) के बैन्ड सुस्पष्ट हो जाते है और त्वचा रूक्ष व स्थूल हो जाती है। पहले अनामिका, फिर कनिष्ठिका तथा कालातर मे अन्य अंगुलिया आकुंचित हो जाती है। अत मे अगुलियो के सिरे दृढतापूर्वक हथेली मे सट जाते हैं तथा पर्याप्त अयोग्यता उत्पन्न हो जाती है। करतल प्रावरणी के बैन्ड स्पर्शानुभव पर मोटे तथा तने हुए प्रतीत होते है।

चिकित्सा—किरणन (Irradiation) द्वारा ततु बैन्ड नरम पड जाते हैं किन्तु पुनरावर्तन प्राय पाया जाता है बैन्डो के पूर्ण उच्छेदन तथा त्वचा के रोपण का परिणाम सतोषपूर्ण होता है।

वोल्कमैन स्थानिक अरक्तताजन्य संकोच
(Volkmann's ischaemic contracture)

यह अवस्था वास्तव मे अग्रबाहु की आकुचनी पेशियों को प्रभावित करती है किन्तु अधिकतम अयोग्यता हाथ मे प्रकट होती है। कलाई (wrist) की प्रसारित दशा मे अगुलिया करभ-अगुलास्थि (metacarpophalangeal) तथा अतराअंगुलि (interphalangeal) सधियों पर आकुचित रहती है; अगुलियो का प्रसारण (extension) केवल कलाई की आकुचित (fissed) स्थिति मे ही सभव होता है।

विकृति—वोल्कमैन संकोचन की उत्पत्ति प्राय. कोहनी के निकट अभिघात के फलस्वरूप होती हे। इस अभिघात का कारण स्थानभ्रंश, प्रगडिका का अधिस्थूलक (supracondylar) अस्थिभग अथवा कसी हुई पट्टी, स्प्लिन्ट या

प्लास्टर का प्रयोग हो सकता है। ऐसी परिस्थिति मे वाहु धमनी के आकर्ष अथवा कफोणिपूर्व खात (antecubital fossa) मे रक्तसग्रह के कारण अग्रवाहु की पेशियो मे स्थानिक अरक्तता (ischaemia), ततुभवन (fibrosis) और सकोचन हो जाता है तथा प्ररूपी विरूपता को जन्म देता है।

चिकित्सा—आरभिक अवस्था मे चिकित्सा का उद्देश्य अस्थिभंग या स्थानभ्रश के पुन स्थापन (reduction) द्वारा अथवा कफोणिपूर्व खात की प्रावरणी के छेदन द्वारा वाहुधमनी ,को दबावमुक्त करना होता है। सुस्थापित विरूपता की चिकित्सा के लिए मध्य अधिकस्थलक (median epicondyle) से आकुचनी-पेशियो का सर्पण किया जाता है (Max Page का आपरेशन) अथवा अगुलियो पर स्प्लिन्ट लगाकर धीरे-धीरे कलाई को प्रसारित किया जाता है ताकि सकुचित पेशिया खिच जाए।

हाथ के सक्रमण

लगभग एक-तिहाई रोगियो मे संक्रमण अस्पष्ट रूप मे आरंभ होता है तथा उसका कारण प्रकट नही होता। अन्य व्यक्तियो मे प्राय. अभिघात का इतिवृत्त (पिन चुभना, खरोच लगना आदि) पाया जाता है। इन सक्रमणो का आघटन मिल मजदूरो, घरेलू नौकरो तथा गृहिणियो मे अधिक होता है।

सक्रामी जीव अभिघातस्थल पर प्रविष्ट होने के पश्चात् एक स्थानीय शोथक्षेत्र उत्पन्न कर देते है।, उत्तरदायी जीवाणु प्राय स्टेफाइलोकाकस आरियस (staphylococcus aureus) होते है। हथेली के दृढ ऊतकों के कारण सक्रमण स्थल पर शोफ उत्पन्न नही हो पाता किन्तु करपृष्ठ पर उपस्थित विच्छिन अवकाशी ऊतक (loose areolar tissu) तथा सघन लसीकावाहिका-जाल के कारण वहा शोफ प्रकट हो जाता है। तनाव के कारण पीडा शीघ्र तथा तीव्र होती है; रोगी को जीवविषरक्तता (toxaemia) हो जाती है। रक्तवाहिकाओ की घनारूता और फलस्वरूप ऊतको के परिगलन का भय भी रहता है। सक्रमण के स्थान पर अग की सरचनात्मक परिस्थिति के अनुसार सक्रमण का एक स्थान से दूसरे स्थान पर अथवा हाथ से अग्रवाहु तक प्रसार हो सकता है। अनुचित दिशा मे किया गया छेदन सक्रमण के फोकस से किसी सक्रमणरहित अतराल मे सक्रमण पहुँचा सकता है तथा इस प्रकार विस्तार मे सहायक हो सकता है।

कुछ सामान्य बातें—यद्यपि भारत मे प्रवल हस्त सक्रमण वहुधा पाया जाता है, पश्चिमी देशो मे इसका आघटन पर्याप्त घट गया है। इसका मुख्य कारण

औद्योगिक संस्थानों में प्राथमिक सहायता स्थलो पर दुर्घटना-उपचार केन्द्रों के माध्यम से रोगी की तुरत देख-भाल तथा एन्टिबायोटिको का शीघ्र प्रयोग है। एन्टिबायोटिको से सक्रमण को स्थानीकृत करने तथा उसका विस्तार रोकने में सहायता मिलती है।

क्लिनिकल अभिलक्षण—कुछ क्लिनिकल अभिलक्षण हाथ के सब सक्रमणों मे उपस्थित होते है। पीडा प्राय. प्रबल होती है; पूय विद्यमान होने पर अत्यधिक पीडा होती है, चीसें मारती हैं। हाथ को नीचे लटकाने पर ऐसा अधिक होता है; तथा सहारा देकर ऊचा उठाने से शांति मिलती है। हाथ में पूय किसी भी स्थान पर हो, करपृष्ठ पर प्राय पर्याप्त शोफ पाया जाता है। अत जब तक वहा पूय की उपस्थिति निश्चित न हो, छेदन नही करना चाहिए। सक्रमण स्थल अत्यन्त पीडायुक्त, स्पर्शासह तथा कठोर होता है। स्पर्श तरग (fluctuation) विद्यमान नही होती। अंगुलियो की गति सीमित और पीडायुक्त होती है, उन्हे अर्धआकुचित स्थिति में रखना चाहिए। टौक्सीमिया के लक्षण (ज्वर, मैली जिह्वा, द्रुत नाड़ी, क्षुधालोप आदि) भी विद्यमान हो सकते है। वही पूय के उपस्थित होने से तनाव के लक्षण और भी तीव्र हो जाते हैं।

वर्गीकरण—हस्त सक्रमणो का विभाजन प्राय. दो वर्गो मे किया जाता रहा है, गौण (minor) तथा बृहत् (major)। गौण सक्रमण के अंतर्गत मज्जा अवकाशो (pulp spaces) का संक्रमण आता है तथा बृहत् सक्रमण के अतर्गत प्रावरणी तलो (fascial planes) और कंडरापिधान (tendon sheaths) का सक्रमण आता है। किन्तु वर्गीकरण की उत्तम विधि हाथ की सरचना तथा तलो के अनुसार सक्रमण की स्थिति पर आधारित है।

(अ) नख-शैय्या सक्रमण (nail bed infection-paronychia run around)

(आ) मज्जा-अवकाश सक्रमण (pulp space infection felon, whitlow)

(इ) कार्बंकल

(ई) प्रावरणी तलो का सक्रमण

१. अगुलिजालअवकाश (web space)

२. अगुष्ठमूल अवकाश (thenar space)

३. करतलमध्य अवकाश (midpalmar space)

४. कनिष्ठामूल अवकाश (hypothenar space)

५. पृष्ठीय अवकाश—अधस्त्वक, अध.कलावितान (subaponeurotic)

(उ) कंडरापिधानो के मक्रमण :

१ तर्जनी, मध्यमा तथा अनामिका का संक्रमण

२. रेडियल वर्सा

:. अलनर वर्सा

उपचार—अग को ऊचा उठाकर रखना और सिकाई करना आवश्यक होता है। इस प्रयोजन के लिए स्लिग या झोली का प्रयोग उत्तम रहता है। आरभिक केसो मे उचित एन्टिवायोटिक की पर्याप्त मात्रा प्रदान की जाय तो पूयनिर्माण से पूर्व ही सक्रमण रुक सकता है। पूयनिर्माण होने पर तुरन्त शस्त्रकर्म आवश्यक होता है। यह शस्त्रआपरेशन थियेटर मे ही करना चाहिए तथा आपरेशन से कुछ घटे पूर्व रोगी को एन्टिवायोटिकछत्र द्वारा सुरक्षा प्रदान करनी चाहिए। शीघ्र विरोहण (healing) के लिए आवश्यक है कि सक्रमित क्षेत्र को भली प्रकार विवृत करके पूय और मलवा पूर्णत. निकाल दिये जाएँ।

छेदन मुक्त रूप से करने के लिए रोगी का व्यापक सज्ञाहरण आवश्यक होता है किन्तु अगुलि के दूरस्थ भाग के सक्रमण के लिए स्थानीय सज्ञाहरण पर्याप्त हो सकता है।

नख-शैय्या संक्रमण (Nail bed infection : paronychia-run-oround)

यह प्राय नख के पार्श्व मे प्रकट होता है। संक्रमण का प्रवेश बहुधा असावधानीपूर्वक नाखून काटने अथवा आधार के समीप त्वचा के छिलने के कारण होता है। मद स्थानीय पीडा के अतिरिक्त लाली तथा तनिक सूजन भी विद्यमान होती है। विक्षति नाखून के दूसरी और विस्तृत होने की प्रवृत्ति रखती है, इसी कारण इसे 'रन एराउड' (run-around) भी कहा जा सकता है।

चिकित्सा—नाखून के आधार पर ऊर्ध्वाधर छेदन (vertical incision) करके पूय निष्कासन के पश्चात् घाव को पेनिसिलिन गौज से हलका पैंक कर देना चाहिए। प्राय यह विधि चिकित्सा के लिए पर्याप्त होती है, किन्तु व्यापक सक्रमण की चिकित्सार्थ नाखून के दोनो पार्श्वो मे छेदन करके नख-आधार का अपहरण आवश्यक हो सकता है।

मज्जा-अवकाश-संक्रमण (Pulp-space infection, felon, whitlow)

व्हिटली के नाम से प्रख्यात हाथ का यह सर्वाधिक आघटिन संक्रमण प्राय: पिन, फास या धातु-कण चुभने के कारण होता है। मध्यस्थ तथा निकटस्थ

करतल-मज्जा-अवकाशो की तुलना मे अन्तस्थ मज्जा अवकाश संक्रमण कही अधिक घटित होता है।

अन्तस्थ मज्जा अवकाश एक सुसीमित, मधुमक्खी के छत्ते के समान रचना-वाला अवकाश है। निकटस्थ और यह एक पटल द्वारा सीमित होते है। इसका विस्तार अतिम अगुलास्थि की एपिफिसिसीय रेखा से अगुलि के करतलीय पृष्ठ की त्वचा तक होता है; दूरस्थ और यह अवकाश नाखून, अतस्थ अगुलास्थि के डायफिसिस तथा उसके करतलीय पृष्ठ की दृढ त्वचा द्वारा सीमित होता है (चित्र १४५)।

इस तग अवकाश मे सक्रमण के फलस्वरूप उत्पन्न शोथ तनावयुक्त होता है। अतस्थ अगुलास्थि की रक्तवाहिकाए डायफिसिस मे प्रविष्ट होने से पूर्व इसी तनावयुक्त अवकाश मे से निकलती है। अत उनके रक्तप्रवाह के रुकने का भय रहता है, उनमे घनास्त्रता उत्पन्न होने से सक्रमण का विस्तार तथा ऊतकों का परिगलन होने लगता है तथा अतस्थ अगुलास्थि का अस्थिमज्जाशोथ उत्पन्न हो जाता है।

चिकित्सा. रोग के प्रारम्भ मे सिकाई, विश्राम, हाथ के उठाकर रखने तथा पेनिसिलिन के उचित प्रयोग द्वारा पूय-निर्माण तथा अस्थि सक्रमण का निवारण किया जा सकता है। पूय या मवाद की उपस्थिति का सकेत सतत प्रस्पदनशील पीड़ा से मिलता है; इस अवस्था में मज्जा-अवकाश के पार्श्व ओर चीरा लगाकर पटलो को तोड़ना आवश्यक होता है। चीरा लगाते समय ध्यान रखना चाहिए कि डायफिसिस के सेप्टम या पटल से निकटस्थ ओर उसका विस्तार न होने पाए, अन्यथा अन्तिम अगुलास्थि के आधार पर स्थित गम्भीर अगुलि आकुचनी (flexor digitorum profundus) का कंडरापिधान सक्रमणग्रस्त हो सकता है। यदि अन्तस्थ अगुलास्थि का अस्थिमज्जाशोथ
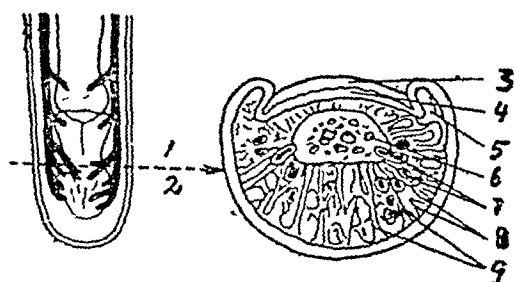
चित्र 145—गूदा या मज्जा-अवकाश के छेदन का तल (level)।

विद्यमान हो तो विविक्ति के अपनयन के लिए तब तक प्रतीक्षा करनी चाहिए जब तक वह पृथक् न हो जाय ।

मध्यस्थ तथा करतलीय मज्जा अवकाशो (midvolar palmer spaces) का सक्रमण अतस्थ मज्जा अवकाश सक्रमण के समान किन्तु उसकी तुलना मे अल्पघटित होता है । चिकित्सा की विधि वही है—पूय के स्थानीकृत होने के पश्चात् दो पार्श्वछेदन (lateral incisions) किये जाते हैं । कडरापिधानो को सक्रमित न करने का ध्यान यहाँ भी रखना चाहिए ।

कॉर्बंकल (Carbuncle)

हस्तप्रदेश मे यह विक्षति अधिकतर हाथ और अगुलियो के अभिपृष्ठस्तर पर पायी जाती है क्योंकि इन स्थानो पर बाल अधिक होते है । यही कारण है कि इसका आघटन पुरुषो मे अपेक्षाकृत अधिक होता है । सक्रमण का कारण पिन चुभना, फास लगना अथवा हाथ की पिछली ओर से नाक पोंछना हो सकता है ।

इन रोगियो का शर्करा के लिए मूत्र परीक्षण अवश्य करना चाहिए ।

चिकित्सा : कार्बंकल की चिकित्सा के लिए क्रास रूपी छेदन उपात तक किया जाता है तथा स्थानीय और दैहिक रूप मे पेनिसिलिन का प्रयोग किया जाता है । शर्करामेह विद्यमान हो तो उसका नियत्रण भी आवश्यक होता है ।

प्रावरणी-अवकाशों का संक्रमण (Infection of fascial spaces)

अंगुलिजालअवकाश (Finger web spaces)

अगुलियो के आधारो के मध्य तीन त्रिभुजाकार जाल-अवकाश (web spaces) होते है जो ढीले, वसामय, अवकाशीऊतक (areolar tissue) द्वारा निर्मित होते है । सक्रमण का कारण प्राय· फास चुभना अथवा त्वचा का अस्वच्छ और निर्जीव होना है; विरल रोगियो मे सक्रमण का विस्तार अनु-कडरिका-नलिका (lumbrical canal) के माध्यम से भी हो सकता है ।

इस अवस्था मे एक अँगुलि के आधार पर स्फीति, और लालीयुक्त क्षेत्र तथा करपृष्ठ पर शोफ पाया जाता है ।

चिकित्सा हाथ को विश्राम, ऊँचा उठाकर रखना और सिकाई करनी चाहिए । जब पूय स्थानीकृत हो जाय तो अँगुलि के आधार पर अनुप्रस्थ छेदन लगा कर अँगुलिजालअवकाश को खोल देना चाहिए । साथ ही पेनिसिलिन का भी प्रयोग करना चाहिए ।

अँगुष्ठ मूल अवकाश (Thenar space)

यह भी करतलमध्य अवकाश (midpalmar space) के समान एक सभाव्य अवकाश है जिसका निदर्शन सर्वप्रथम केनेवल (Kanwel) ने इस क्षेत्र मे द्रव के इजेक्शन द्वारा किया था (चित्र 146)।

अँगुष्ठ मूल अवकाश की सीमाएँ निम्नलिखित है . सामने, करतल प्रावरणी (palmar fascia), पीछे, अँगुष्ठ अभिवर्तनी (adductor pollicis) तथा प्रथम अन्तराशलाकिका (first interosseous)-पेशियाँ, पार्श्व मे अँगुष्ठमूल-उत्सेध (thenar eminence) की पेशियाँ तथा दीर्घ-अँगुष्ठ-आकुचनी (flexor pollicis longus) की कडरा, अभिमध्य और तृतीय करभास्थि (metacarpal bone) से सलग्न पटल, जो इस अवकाश को करतलमध्य अवकाश से पृथक् करता है।

इस अवकाश का सक्रमण पिन चुभने, फास लगने, तर्जनी या अंगूठे का श्लेषकशोथ (synovitis) विस्तृत होने अथवा करभास्थि सक्रमण का प्रसार होने के फलस्वरूप होता है।

अँगूठे और तर्जनी के मध्य का जाल-अवकाश फूल जाता है, करपृष्ठ शोफयुक्त हो जाता है तथा तर्जनी के करतलीय बहिस्तल पर आधार के निकटस्थ और अधिकतम स्पर्शासहता का एक बिन्दु प्रकट हो जाता है।

चिकित्सा करपृष्ठ पर जाल-अवकाश मे अँगुष्ठ और तर्जनी के मध्य एक वक्र छेदन लगाया जाता है।

करतलमध्य अवकाश (Midpalmar space)

यह एक अत्यन्त गहरा अवकाश है जिसकी सीमाएँ निम्नलिखित है: सामने, अँगुलियो की आकुचनी-पेशियाँ तथा अनुकडरिकाएँ (lumbricals); पीछे, तृतीय एव चतुर्थ शलाकातरिका पेशियो पर विद्यमान प्रावरणी, पार्श्व मे, तृतीय करभास्थि से सबद्ध पट या सेप्टम, जो इसे अँगुष्ठमूल-अवकाश से पृथक् करता है, अभिमध्य ओर एक पतला प्रावरणी पट जो अँगुष्ठमूल-उत्सेध (hypothenar eminence) की पेशियों को आच्छादित करता है। दूरस्थ और करतलमध्य अवकाश कतिपय प्रवर्धो के रूप मे अनुकडरिकाओं के सहारे आगे तक फैले होते है। ये प्रवर्धन अनुकडरिका-नलिका (lumbrical canal) कहलाते है।

यह अवकाश बाहर से प्रत्यक्ष सक्रमण द्वारा, मध्यमा, अनामिका और तर्जनी की आकुचनी कडराओ से विस्तार द्वारा अथवा अतरागुलिजाल-

अवकाशो से लब्रीकल-नलिकाओं (lumbrical canals) के माध्यम द्वारा प्रभावित हो सकता है।

करतलमध्य-अवकाश का सक्रमण पीड़ा, करपृष्ठ पर शोथ, प्रसामान्य करतल-अवतलता (palmar concavity) के लोप अथवा वहाँ तनिक उभार के रूप मे प्रकट होता है।

चिकित्सा . हथेली पर तृतीय करभास्थि के स्तर से मध्यवर्ती ओर दूरस्थ हस्तरेखा (distal palmar crease) के समानान्तर एक चीरा लगाया जाता है।

अधःअँगुष्ठ मूल अवकाश (Hypothenar space)

यह एक महत्त्वहीन अवकाश है जो पूर्णत अँगुष्ठ मूल उत्सेध की पेशियो से भरा होता है।

अभिपृष्ठ अवकाश (Dorsal spaces)

अभिपृष्ठ अवकाश दो होते है, किन्तु उनकी सीमाएँ सुनिश्चित नही होती। सक्रमण प्राय अभिघात अथवा त्वचासक्रमण (यथा फोड़े, एक्जीमा) के प्रसार के कारण होता है। स्थानीय शोफ और स्पर्शासहता विद्यमान होती है किन्तु ऊतको के ढीला होने के कारण पीडा तीव्र नही होती। यदि पूय या मवाद
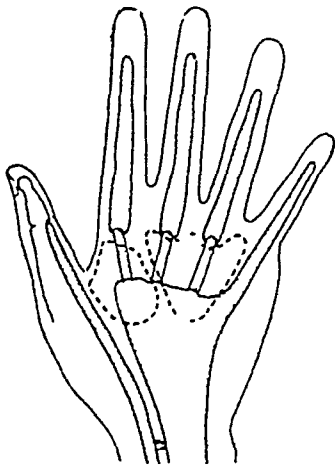
चित्र 146—करतल-अवकाशों और कंडरापिधानो का सबध दिखाया गया है।
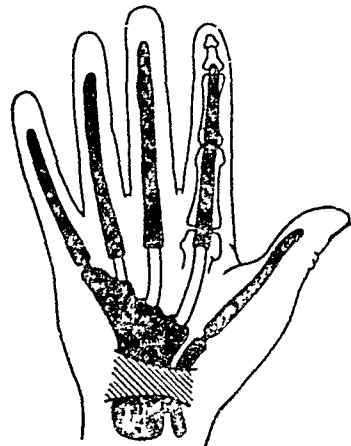
चित्र 147—करतल मे श्लेपक पिधानों का विन्यास।

वन गया हो तो शोथ के सर्वाधिक उत्सेधित स्थल पर ऊर्ध्वाधर छेदन (vertical incision) आवश्यक होता है।

कंडरापिधानो का सक्रमण

प्रावरणी-अवकाश-सक्रमण की तुलना मे कडरा-श्लेपकशोथ कही अधिक गम्भीर होता है क्योकि इसका विस्तार द्रुत गति से होता है तथा अगुलियो की गतिवाधा के रूप मे पर्याप्त अयोग्यता शेप रहती है। तीव्र ज्वर (102-104°) तथा पूतिज सक्रमण के अन्य दैहिक चिह्न विद्यमान होते है।

आकुचनी पेशियो के श्लेपक पिधानो का विन्यास विशेष प्रकार का होता है। तर्जनी, मध्यमा और अनामिका के कडरापिधानो (tendon sheaths) का विस्तार करभास्थियो के शिरो के स्तर नक होता है। किन्तु अगूठे और कनिष्ठिका के कडरापिधान क्रमश रेडियल और अलनर वर्सो से सम्वन्धित होते है। यह विन्यास 80 प्रतिशत रोगियो मे पाया जाता है किन्तु शेप मे रेडियल वर्सा का सम्वन्ध तर्जनी व मध्यमा के कडरापिधानो के साथ पाया जाता है। 85 प्रतिशत व्यक्तियो मे रेडियल और अलनर वर्सा कलाई के स्तर पर परस्पर सम्वन्धित होते है, अत. सक्रमण अगूठे और छोटी अगुलि से एक-दूसरे तक पहुँच सकता है।

तर्जनी, मध्यमा और अनामिका का कंडराश्लेषक शोथ

सक्रमण प्राय वाहर से अगुलिरेखा पर वेधन द्वारा प्रविष्ट होता है अथवा अतस्थ-मज्जा-अवकाश सक्रमण के लिए अनुचित दिशा मे लगाये गये छेदन के कारण फैलता है। अगुलि एकसमान रूप मे फूल जाती है तथा अर्धकुन्चित स्थिति मे रहती है। स्थानीय वेदना विद्यमान होती है तथा अगुलि को सीधा करने का प्रयत्न पीडामय होता है। यदि सक्रमण स्थानीकृत हो जाय तो पूयनिर्माण तथा तदन्तर कडराओ का स्लफीभवन (sloughing) हो जाता है। कडरापिधान के फटने पर सक्रमण का विस्तार अगुष्ठ-अवकाश और करतलमध्य-अवकाश मे भी हो सकता है (चित्र 147 तथा 148)।

चिकित्सा—चिकित्सा शीघ्र करनी चाहिए। एन्टिवायोटिको का प्रचुर परिमाण सक्रमण को फैलने तथा उपद्रव उत्पन्न करने से रोकता है· कलाई और हाथ पर स्प्लिन्ट प्रयोग पीड़ा कम करता है। छेदन मे विलम्ब नही करना चाहिए। छेदन की स्थिति प्राय अगुलि के मध्य पोरवे के पार्श्ववर्ती भाग मे अगुलि की करतलीय रेखा के पीछे रखी जाती है, ताकि विरोहित स्कार

चित्र 148—मध्यमा अंगुलि का कंडरापिधान शोथ ।

(healed scar) अंतरा-अंगुलास्थि-सन्धियो की गति मे बाधा न उपस्थित करे ।

रेडियल बर्सा का संक्रमण

अंगूठा आकुंचित रहता है तथा उसे प्रसारित करना सम्भव नही होता । दीर्घ-अंगुष्ठ-आकुंचनी (Flexor pollicis longus) पर स्पर्शासहता पायी जाती है तथा अंगूठा एकसमान फूला होता है ।

चिकित्सा— आरम्भिक अवस्था मे पर्याप्त मात्रा मे एन्टिबायोटिकों का प्रयोग सफल हो सकता है । यदि परिणाम संतोषप्रद न हो तो छेदन मे विलम्ब नही करना चाहिए । चीरा अंगुष्ठमूल-उत्सेध (thenar eminence) पर वक्र रूप मे लगाया जाता है (चित्र 149) । आकुंचनी उपबन्धी (flexor retinaculum) से इसकी दूरी 1 cm से कम नही होनी चाहिए, यह सावधानी

रखने से अगुष्ठमूल-पेशियो (thenar muscles) के मध्यतन्त्रिका (median nerve) सभरण को भय नही रहता ।
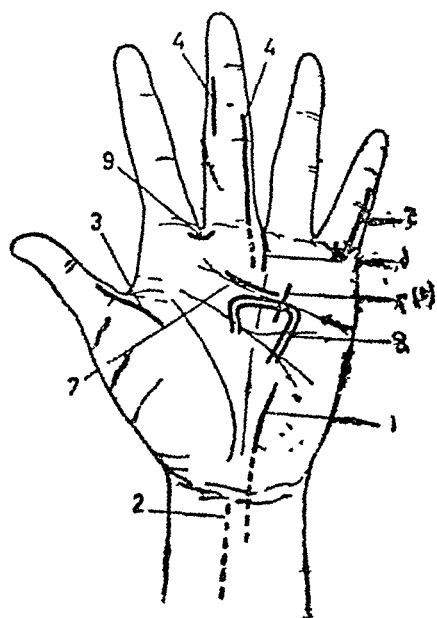
चित्र 149—(1) अन्त: प्रकोष्ठिक वर्सा, (2) पैरोना (perona) के अवकाश (3) वहि प्रकोष्ठिक वर्सा, (4) और (5) अगुलियो के कण्डरापिधान शोथ, (6), (7), (7a) और (8) करतल मध्य अवकाश, (9) अगुलिमध्य मांस-अवकाश सक्रमण के निकास के लिए छेदन दिखाये गये है।

अलनर वर्सा का संक्रमण

हाथ के अभिपृष्ठ वहिस्तल पर, तथा कुछ कम मात्रा मे हथेली पर, स्फीति विद्यमान होती है। करतलमध्य अवकाश सक्रमण के विपरीत इस अवस्था मे हथेली की अवतलता अक्षुण्ण रहती है। छोटी अंगुलि आकुचित रहती है तथा प्रसारण के समय विरोध प्रकट करती है (हुक या अकुश चिह्न)। अधिकतम स्पर्शासहता का विंदु कनिष्ठिका की सधि मे हथेली की दोनों अनुप्रस्थ हस्तरेखाओ के मध्य विद्यमान होता है ।

चिकित्सा—ह्रस्य हस्तरेखा के वक्रण के निकट समान्तर रेखा के किनारे-किनारे छेदन किया जाता है (चित्र 149)। इसेलिन के अनुसार अत:-प्रकोष्ठिका वर्सा का निस्सारण प्रकोष्ठ मे अलना के सामने आकुंचनी कण्डराओ और अवताननी चतुरस्त्रिका के अन्तराल मे करना चाहिए। प्रतिजीवियो (antibioties) की सहायता से प्राप्त परिणाम उत्साहप्रद रहे है। निकृष्ट परिणामों के कारण विकलागता केवल 20 प्रतिशत रही है।

20

अस्थिभंग और संधिच्युति

(Fractures and dislocations)

वी० एन० सिन्हा

अस्थि के आघात

नील (Contusion)

अधस्त्वक् अस्थियो, जैसे अन्तर्जधास्थि मे नील वहुत साधारण है, जिसमे ऊपर की त्वचा अक्षत रहने पर भी आघात पहुच सकता है, जैसा जघा के किसी कठोर वस्तु से टकरा जाने या गिर जाने से होता है। उससे मृदु ऊतको के क्षत हो जाने के कारण उनमे रक्त एकत्र हो जाता है। रक्त के एकत्र होने से त्वचा का रग नीला-सा दीखता है, जिसको 'नील' (bruise or contusion) कहा जाता है। अस्थि के नील से अवपर्यस्थि रक्तगुल्म (subperioesteal *haematoma*) वन सकता है।

अस्थि के नील के लक्षर्ण स्थानिक वेदना, सूजन, स्पर्शासहता और अग की कम या अधिक अकर्मण्यता होते है।

चिकित्सा अंग को विश्राम, शीत उपचार (आघात के पश्चात् तुरन्त) और एक सम्पीडन पट्टी (compression bandage) लगाना है, जिससे सूजन न होने पाये। रक्तगुल्म के सक्रमित होने से एक स्थानिक विद्रधि वन सकती है जिसकी पूर्ण निर्हरण द्वारा चिकित्सा की जाती है। चिकित्सा मे विलव करने से अस्थि मे सक्रमण फैल सकता है।

अस्थिभग (Fractures)

व्याख्या और अस्थिभग के प्रकार

अस्थिभग की व्याख्या की गई है, 'अस्थि की निरन्तरता का भग'।

अस्थिभंग की रेखा

अस्थिभग की रेखा अस्थि के दीर्घ अक्ष के समकोण होने पर अनुप्रस्थ (transverse) होती है, अस्थि मे रेखा के तिर्यक् स्थित होकर दीर्घ अक्ष से 90 अश से कम के कोण वनाने पर वह तिर्यक् (oblique) कही जाती है; अस्थि मे सर्पिल प्रकार से अस्थि होने पर वह सर्पिल (spiral) है—इसमे प्राय एक खड कुछ घूम जाता है।

संवृत (simple) और विवृत (compound) अस्थिभंग

सवृत अस्थिभग मे अस्थि की त्वचा निरन्तर रहती है और अस्थिभग की रेखा का वाह्य (वायुमडल) से सम्पर्क नही होता। इसके विरुद्ध, विवृत अस्थि-भग मे ऊपर की त्वचा या श्लैष्मिक कला फट जाती है और अस्थिभग का वाह्य से सम्पर्क हो जाता है जिससे सक्रमण का भयकर उपद्रव हो सकता है।

प्रत्यक्ष (direct) आघात से त्वचा के फटने से प्रत्यक्ष विवृत अस्थिभग हो सकता है, अथवा अस्थि के टूटने पर भग्न खडो के सिरे त्वचा को वेधकर अप्रत्यक्ष (indirect) विवृत अस्थिभग उत्पन्न कर सकते है जिससे अस्थि के सिरे त्वचा मे होकर वाहर को निकल आते है।
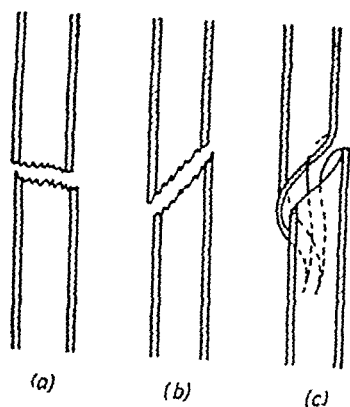
चित्र 150—अस्थिभंगरेखाएँ; (a) अनुप्रस्थ (b); तिर्यक (c), सर्पिल।

प्रत्यक्ष विवृत अस्थिभगो मे वाह्य विदर द्वारा संक्रमण पहुंचने की सभावना रहती है। कुछ स्थितियो मे, जैसे नासास्थियो या आधोहन्वस्थि मे, त्वचा के निरन्तर रहने पर भी श्लैष्मिक कला के विदर द्वारा वाह्य से सम्पर्क हो जाने के कारण उनको विवृत अस्थिभग कहा जाता है।

उपद्रवयुक्त अस्थिभंग

सवृत या विवृत अस्थिभंगो में शरीर की मुख्य संरचनाओं, जैसे रुधिरवाहिनियों

रक्तवाहिकाओ, आशय या संधि को भी क्षति पहुच सकती है। ऐसी दशा मे वह उपद्रवयुक्त अस्थिभग (complicated fracture) कहा जाता है।

पूर्ण और अपूर्ण अस्थिभंग

अस्थि के उसकी सम्पूर्ण परिधि मे टूट जाने को **पूर्णभंग** (complete fracture) कहते हैं जिससे अस्थि के दो भिन्न खड हो जाते है। परिधि के केवल एक भाग के टूटने पर वह अपूर्ण (incomplete) भग होता है।

अन्तर्घट्टित अस्थिभंग (impacted fracture)

यदि आघात के वल के कारण अस्थि का एक भाग दूसरे मे धस जाता है तो वह अन्तर्घट्टित (impacted) अस्थिभग कहा जाता है। प्रकोष्ठास्थि के निम्न प्रान्त, प्रगडास्थि के ऊर्ध्व प्रान्त और ऊर्वस्थि की ग्रीवा मे ऐसे भग वहुत देखे जाते है, एक खड की कठोर प्रान्तस्था की नोक दूसरे खड के मृदु सुषिर भाग मे धस जाती है।

ग्रीनस्टिक या नवशाखाभंग (greenstick fracture)

नवशाखाभग वच्चो मे होता है जिनकी अस्थिया लचकीली या नम्य होती है और मुड जाती है, टूटती नही। (जैसे वृक्षो की नवशाखाओं मे)। अग्रवाहु तथा अक्षक अस्थि मे ऐसे भग साधारण है।

वेणु अस्थिभंग (bamboo or infraction fracture)

यह भग सम्पीडन वल (compression force) के अस्थि के दीर्घ अक्ष मे, कठोर प्रान्तस्था और मृदु सुषिर ऊतक के सगम पर, क्रिया करने से होता जिससे वहा अस्थि कुछ विस्तृत (expansion) हो जाती है। यह अल्पायु के वालको मे वाह्य प्रकोष्ठास्थि के निम्न प्रान्त और प्रगडास्थि के ऊर्ध्व प्रान्त मे होता है।

विदरित अस्थिभंग (fissured fracture)

जव अभिघात से अस्थि पत्रको (lamellae) के रूप मे टूटती है तो वह विदीर्ण अस्थिभग कहा जाता है। यह करोटि, श्रोणि, असफलक आदि चपटी अस्थियों मे होता है।

विखंडित और अवनत अस्थिभंग (comminuted and depressed fracture)

अस्थि के दो से अधिक टुकडे हो जाने से वह विखडित अस्थिभग कहा जाता है। अवनत अस्थिभग मे, जैसा करोटि की अस्थियो मे होता है, अस्थि का वाह्य पत्रक नीचे को दव जाता है।

विकृति (रोग) जन्य अस्थिभंग (pathological fracture)

अस्थि या अन्य तन्त्रो मे उपस्थित विकृतियों के कारण अत्यल्प अभिघात से भी अस्थिभग हो जाते है। ये विकृतिजन्य या स्वतः (spontaneous) अस्थि-भग कहे जाते हे। इनके सामान्य कारण ये होते है (1) जन्मजात दोष या अपूर्णता, जैसे अस्थिभगुरता (fragilitas ossium) और अन्तर्जंघास्थि की कूट-सधिता (pseudoarthrosis) (2) चयापचयरोग जैसे रिकेट्स, अस्थि-मृदुता आदि, (3) कायिक रोग, अतिअवटुता, (4) सामान्य अस्थिसुषिरता (osteoporosis) जैसे वृद्धावस्था या चिर कुपोषणता मे, (5) स्थानिक शोथ जैसे अस्थिमज्जा शोथ मे, और (6) अर्बुद, दुर्दम और सुदम दोनो मे, (प्राथमिक और द्वितीयक मे)।

चित्र 151—अस्थिभगुरता (दुरस्थिजनन) जिससे बहुल अस्थिभग हो गये है।

मोच अस्थिभंग (sprains) जिनको कर्षण (traction) भंग भी कहते है,

स्नायु के अस्थि पर लगे होने के स्थान पर, उनके खिचाव के कारण, अस्थि की चिप्पी के उखड जाने (avulsion या अपदीर्णन) मे होते है। ये जानुसधि के चारो ओर प्राय होते है।

अधिवर्ध का अस्थिभग-वियोजन (fracture seperation of epiphyses)

आघात लगने से बच्चो मे अधिवर्ध (epiphyses) अस्थि से पृथक् हो जाता है, उसके साथ अस्थि का कुछ भाग भी पृथक् हो या न हो।

अस्थि भंग के कारण

प्रत्यक्ष अभिघात (direct violence)

प्रत्यक्ष अभिघात के कारण हुए अस्थिभगो मे अभिघात लगने के स्थान पर ही अस्थि टूटती है, जैसे जघा पर चोट लगने, या उस पर मे गाडी का पहिया निकल जाने से। ऐसे अस्थिभग विवृत हो सकते है।

चित्र 152—अन्तर्जघिका की कूट सधिता (pseudoarthrosis)

अप्रत्यक्ष अभिघात (indirect violence)

चोट लगने के स्थान मे दूर पर अस्थिभग होता है। अभिघात का वल (force) जिस रेखा द्वारा अस्थि के दुर्वलतम स्थान पर पहुचता है उसकी दिशा अभिघात के समय उस अग की स्थिति (position) पर निर्भर करती है। अस्थिभग सदा जहा अस्थि (रचनानुसार) दुर्वल होती है वही होता है। साधारणतया ऐसे अस्थिभग भवृन होते है।

पेशीजन्य अभिघात (muscular violence)

पेशी के अकस्मात सकोच से जान्विका (patella) का या कूर्पर प्रवर्ध (olecranon process) का अस्थिभग हो सकता है। वृद्ध व्यक्तियो मे अति-तीव्र खासी या छीक से पर्शुका का अस्थिभग हो सकता है।

निदान

रोगी का इतिवृत्त, विशेषतया अभिघात का और पूर्व मे कभी दुर्घटना होने का या विरूपता का, ध्यानपूर्वक लेना चाहिए। तव रोगी की परीक्षा करते समय अन्य अगो पर चोट के लक्षण भी देखना उचित है।

स्थानीय परीक्षा मे इन वातो को देखा या किया जाय · आघात वाले अग की दूसरी ओर के अग से तुलना, जिससे असमानता का पता लग जाय; अस्थि-भग के चिह्नो के वोध के लिए परिस्पर्शन करके दोनो ओर के अस्थि-भागो की स्थिति की तुलना, अस्थिभग की ओर अग का मापन करके स्वस्थ अग की की समान मापो से उनकी तुलना, कभी-कभी पर्शुका के अस्थिभग को पहिचानने मे परिश्रवण से सहायता मिलती है।

अस्थिभग का सदेह होने पर सदा ऐक्सरे चित्र अग्रपश्च (antero-posterior) और पार्श्व (lateral) ओर से लिए जाये।

नैदानिक चिह्न

वेदना—अस्थिभग के स्थान पर तीव्र वेदना होती है और अग को हिलाने से और भी वढ जाती है। अग को स्थिर करने या उसके अचलीकरण से वह कम हो जाती है या जाती रहती है। कभी-कभी वेदना अन्यत्रानुभूत (referred) होती है, जैसे मेरुदड के अस्थिभग मे वह उदर मे या निम्न देहशाखाओं मे प्रतीत हो सकती है।

स्थानिक स्पर्शासहता (local tenderness') वहुमूल्य चिह्न है।

स्थानिक सूजन (swelling) प्राय. अस्थिभग के स्थान पर उपस्थित होती है जिसका कारण मृदु ऊतको मे रक्तपरिस्राव और शोफ होते है। कभी-कभी त्वचा पर छाले पड जाते है।

विरूपता (deforonity)

खडो के विस्थापन से उत्पन्न हुई विरूपता अस्थिभग का निश्चयात्मक चिह्न है। किंतु उसकी अनुपस्थिति अस्थिभग को अप्रमाणित नही करती।

अपसामान्य गतिशीलता (abnormal mobility)

अस्थि के किसी भाग की गतिशीलता, जो स्वभावत गतिशील नही होता, अस्थिभग की सूचक है। यद्यपि यह एक मुख्य चिह्न है किंतु इसको अनुभव करने के उद्योग मे अपसामान्य गतियां नही करनी चाहिये, उससे चारो ओर के ऊतक अधिक क्षत हो सकते हैं। अस्थिभग के अतर्घट्टित या अपूर्ण होने पर यह चिह्न नही मिलेगा।

क्रेपिटस (crepitus)—अस्थि के भग्न खडो को, एक-दूसरे के सम्पर्क मे हिलाने से जो कर-कर शब्द होता है वह क्रेपिटस कहलाता है। उपस्थित होने पर वह निश्चियात्मक होता है। अन्य रोगो, जैसे किसी सधि का अस्थिसधि-शोथ, कडराश्लेषक शोथ (tenosynovitis) या अभिघातज वातस्फीति (snrgical emphysema) के कर्कर शब्द से इसका भेद आवश्यक है। अभिवर्ध के पृथक् होने पर क्रेपिटस धीमा और ढका होता है। अतर्घट्टित अथवा अपूर्ण अस्थिभग मे या दोनो खडो के वीच मे मृद् ऊतकपेशी आदि के आ जाने पर क्रेपिटस नही मिलता। उपस्थित होने पर यह चिह्न वहुमूल्य है, किंतु उसको प्रतीत करने के उद्योग से लाभ की अपेक्षा हानि हो सकती है: वेदना होती है और खड विस्थापित हो सकते हैं।

कार्यक्षमता का अभाव (loss of function)—अस्थिभग होने पर अग कार्य नही कर सकता। अतर्घट्टित तथा नवशाखा भगो मे अथवा अग्र वाहु और जघा मे केवल एक अस्थि के टूटने पर यह चिह्न अनुपस्थित होगा।

विरूपता, अपसामान्य गतिशीलता और क्रेपिटस उपस्थित होने पर अस्थिभग निश्चित है। ऐसी दशा मे रोगी की अस्थिभग ही की चिकित्सा प्रारभ कर दी जाय, जब तक ऐक्सरे परीक्षा न हो जाय। यह महत्त्वशाली आदेश है।

अस्थिभग का विरोहण या सुधार (healing or repair)

अस्थिभग होने पर हेवर्सी तत्र की रक्तवाहिकाओ के फट जाने से स्थानिक रक्तगुल्म वन जाता है। पर्यस्थि (periosteum) भी क्षत होती है और रक्तगुल्म के कारण अस्थि पर से कुछ दूर तक पृथक हो जाती है। उसके पश्चात् भग्न खडो के वीच के रक्तगुल्म मे सरचनाये वनने लगती हैं। इसी समय अस्थि के भग्न हुए प्रान्तो से कुछ दूर उनको घेरे हुए पर्यस्थि के नीचे नई अस्थि का एक कालर के समान पिधान (sheath) वन जाता है। यह नवीन वनी हुई अस्थि
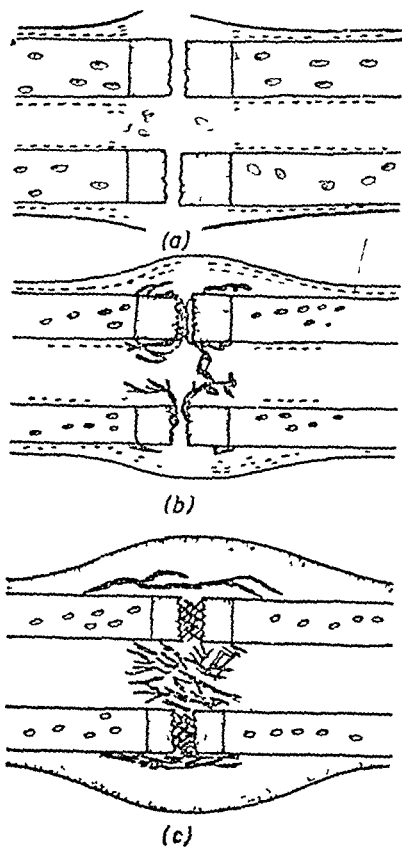
चित्र 153–अस्थिभग मे अस्थिसयोजन की विधि (a) 48 घटे के भीतर पर्यस्थिस्थि (periosteum) और अन्तस्थि (endosteum) की कोशिकाओ का प्रफलन, अस्थिभग के पास की कुछ अस्थि की मृत्यु और, हीमेटोमा का सरचित (organised) होना आरभ हो जाता है; (b) मीजेन्काइम से प्रफलित होती हुई कोशिकाये अस्थिप्रसू और उपास्थिप्रसू कोशिकाओ मे विभेदित हो जाती है; (c) सुपर अस्थि अन्तरावकाश मे वनकर उसको भर देती है, गलित ऊतक के पुनरावशोषण के क्षेत्रो के स्थान मे जीवित अस्थि वन जाती है।

कैलस (callus) कहलाती है जो अस्थिभग के स्थान पर मोटी होती है और उससे बाहर को पतली होती चली जाती है। अस्थिभग पर जहा हैवर्सीतत्र की रक्तसप्राप्ति विच्छिन्न हो गई थी वहां दोनो अस्थिप्रान्त 1 मि. मि. तक नष्ट हो जाते है।

सरचित रक्तगुल्म (organised haematoma) मे काचाभ (hyaline cartilage) उपास्थि के क्षेत्र और तान्तव ऊतक के वनने से वह तान्तव उपास्थिमय (fibrocartilaginous) कैलस मे परिणत हो जाता है। यह अस्थि का पूर्व गामी (precursor) है। पर्यस्थि से जो कैलस वनने लगता है वह अस्थिभग के रक्तगुल्म मे परिसर से फैलना आरभ करता है और अस्थि के दोनो सिरो को जोड़ देता है।

उपद्रव

सामान्य उपद्रव

स्तव्धता (shock) की सीमा रोगी के वय, आघात के समय साधारण

स्वास्थ्य, और टूटी हुई अस्थि पर निर्भर करती है। विवृत और उपद्रवयुक्त अस्थिभगो मे तथा जहा मृदु ऊतक भी क्षत होता है वहा स्तब्धता अधिक तीव्र होती है।

अभिघातोत्तर (post-traumatic fever)—अस्थिभग के पश्चात् 100 फा० तक का हल्का ज्वर होना असाधारण नही है।

ब्रौंकोनिमोनिया (bronchopneumonia)—वृद्ध रोगियो मे पाया जाता है जो चिरकारी कास से ग्रस्त होते है। ऐसे रोगियों को प्लास्तर लगाकर जब शैयारूढ कर दिया जाता है तो उनकी सावधानी से सुश्रूषा करना आवश्यक है। उनको शैया मे तकिये लगाकर विठाना चाहिये; ये प्राणयाम या श्वाससबधी व्यायाम (deep breathing exercises) करते रहे और आवश्यक होने पर उनको समय-समय पर करवट दिलवाते रहा जाय। ऐसे रोगियो को शीघ्र ही टहलाने से यह उपद्रव नही होने पाता।

वसा-अन्तःशल्यता (fat embolism)—यह विरल उपद्रव है जिसका निदान वहुधा मृत्यूत्तर ही होता है। अस्थि-मज्जा से वसा पृथक् होकर रक्त-सचार मे चली जाती है और वृक्क, फुप्फुस या मस्तिष्क मे पहुच कर वहा रोधगलन (infarction) उत्पन्न करती है जिससे स्थानिक वेदना, श्वासकष्ट, नाड़ीगति का तीव्र हो जाना तथा सन्यास (coma) उत्पन्न होते है।

स्थानिक उपद्रव

धमनियो की क्षति सामान्यतया नही होती, किन्तु अस्थिखण्डो के नुकीले सिरे वाहिकाभित्ति को वेध सकते है, अथवा धमनी का आकर्ष (spasm) हो सकता है जिसका कारण वाहिका के अन्त कचुक (inner coat) का विदरण होता है। यह उपद्रव प्रगडास्थि के अधिस्थूलक (supracondylar) के अस्थि-भग और कभी-कभी ऊर्वस्थि के अस्थिभग मे पाया जाता है।

शिराओं की क्षति—से रक्त का परिस्राव होकर रक्तगुल्म वन जाता है।

तंत्रिकाओ की क्षति—परिसरी तत्रिका के अस्थिभग के पास स्थित होने पर अस्थिखडों द्वारा तत्रिका का नील (contusion) या विदरण (laceration)हो सकता है। इसका उदाहरण अधिस्थूलक अस्थिभग मे मध्यम तत्रिका (median nerve) की क्षति, प्रगडास्थि के काड के अस्थिभग मे वाह्य प्रकोष्ठिकातत्रिका की क्षति और वहिर्जघिका के शिर के अस्थिभग मे वाह्य जानुपृष्ठिका तत्रिका (ext. popliteal nerve)की क्षति है। प्रथम वार परीक्षा पर ही तत्रिका की क्षति की सीमा का अनुमान कर लेना चाहिए जिससे आगे चल कर न्यायवैद्यक झझटो मे न फसना पड़े।

संधि का ग्रस्त होना—सधि की तीव्र क्षति या नीललाछन (contusion

bruises) से उसमे रक्त का नि.सरण (effusion) हो सकता है। अस्थिभग-रेखा सधि तक मे विस्तृत हो सकती है जिससे विरोहण के पश्चात् संधिपृष्ठ असम या खुरदरा हो जाता है; अस्थिसधिशोथ और सधि की गतियों का ह्रास हो सकता है। अस्थिभग के साथ सन्धिच्युति एक तीव्र उपद्रव है जैसा स्कन्ध या नितंब सधियो मे प्रायः होता है। ऐसी दशा मे सन्धिच्युति का पुन. स्थापन कठिन होता है और पुन.स्थापन के पश्चात् भी पुनरावृत्ति की बहुत प्रवृत्ति होती है।
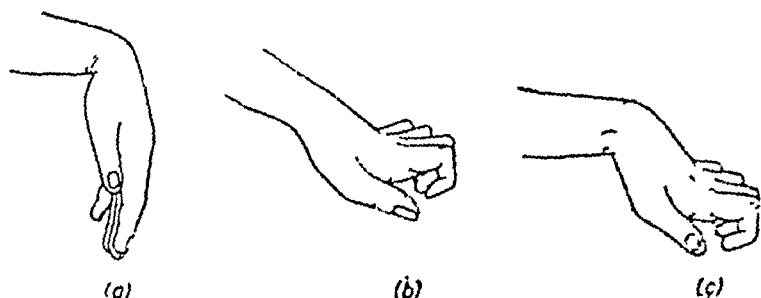
चित्र 154—वौकमैन स्थानिक अरक्तताजन्य प्रसंकोच: (a) मणिबध आकुचित, अगुलिया सीधी, (b) मणिबध प्रसरित, अगुलियां सकुचित, (c) मणिबध तथा अगुलिया आकुचित

विलम्बित उपद्रव

संक्रमण—प्रत्येक विवृत अस्थिभग मे सदूषण (contamination) की सभावना होती है और यत्नपूर्वक चिकित्सा के बिना वह संक्रमित हो जाता है जिससे अस्थिमज्जाशोथ हो जाता है, उसके कारण विरोहण नही होता जिसका परिणाम अस्थिखडो का न जुडना या असयोजन (non-union) होता है। इस कारण जितना शीघ्र सभव हो, क्षत मे से आगन्तुक शल्यों, पृथक् हुए अस्थि के छोटे-छोटे टुकडो और विदीर्ण नष्ट मृदु ऊतको को निकालने के पश्चात् क्षत को शल्यविधियो द्वारा स्वच्छ करके और अस्थि-भगो का उपयुक्त सरेखण (alignment) करने के पश्चात् त्वचा को सीकर विवृत अस्थिभग को सवृत अस्थिभग बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। यह ध्यान रखना चाहिए कि जो अस्थि के टुकड़े पर्यस्थि या पेशी से जुडे हों उनको न हटाया जाय। तत्पश्चात् अग पर प्लास्तर लगाकर उसको उठाकर रखा जाय। सक्रमण के निरोध के लिए प्रतिजीवियो का उपयोग उचित है।

वौकमैन स्थानिक अरक्तताजन्य संकोच (volkman's ischaemic contracture)

यह गम्भीर उपद्रव बालको मे प्रगंडास्थि के अधिस्थूलक (supracondylar)

अस्थिभग अथवा अग्रबाहु की दोनो अस्थियों के टूट जाने पर कसकर स्प्लिन्ट लगाने से होता है। यह दशा प्राय अग्रबाहु की आकुंचन पेशियो मे होती है जहां रक्तसचार के ह्रास के कारण ऊतिपरिगलन (necrobiosis) होने के पश्चात् तन्तुमयता (fibrosis) हो जाती है। उसके कारण पेशिया छोटी हो जाती है और मणिबध और अगुलियो का सकोच हो जाता है।

दशा के गंभीर होने पर तन्त्रिकाये भी ग्रस्त हो सकती है। अग्रबाहु या कूर्पर (elbow) के अस्थिभगों का प्लास्तर करने के पश्चात् वेदना का बना रहना, सूजन, अगुलियो की नीलिमा अथवा उनकी गतियो का ह्रास, ये सब दशाये आसन्न (impending) उपद्रव की सूचक है। सभव हो तो बहि-प्रकोष्ठिका नाडी को देखना चाहिए। इसकी चिकित्सा कसे हुए स्प्लिन्ट या पट्टी को तुरन्त हटा देना, कूर्पर का समकोण तक प्रसारण करना और शिरीय रक्त के लौटने मे सहायता के लिए बाहु को ऊपर उठाकर रखना है। स्थानिक सवेदनाहरण और ताराकार गडिकारोध (block of stellate ganglion) उपयोगी पाये गये है। यदि इस चिकित्सा से लक्षणो मे उन्नति न हो तो दशा बढकर वौकमैन स्थानिक अरक्तताजन्य सकोच ही समझी जाएगी। यदि ऐसा हो तो अग्रबाहु के आकुचन पृष्ठ की गभीर प्रावरणी मे कई छेदन (incisions) किये जाये। प्रत्येक छेदन से रक्तरजित तरल निकलेगा और शोथयुक्त पेशीपिंड छेदनो द्वारा उभर जायेंगे। छेदनो को खुला रखा जाय और अतिपरासारी (hypertonic) लवण विलयन से उनका व्रणोपचार किया जाय। यदि बहि प्रकोष्ठिक नाडी अन्तरुद्ध हो गई है तो प्रगड धमनी का अनावरण (exposure) करके परिधमनी अनुकंपी-उच्छेदन (sympathectomy) किया जाय। परि-धमनी -ऊतक मे 1 प्रतिशत नोवोकेन या प्रोकेन विलयन के अन्तः सचार से आकर्ष (spasm) का शमन होता है। कुछ रोगियो मे प्रगड धमनी के आक्रान्त भाग का अपहरण आवश्यक होता है।

चिरकारी ततुमयता और सकोच के प्रारम्भ हो जाने पर स्प्लिट, दैहिक व्यायामचिकित्सा तथा विविध शस्त्रकर्म-विधियो द्वारा पेशी की लम्बाई बढाने का प्रयत्न किया जाता है;

अस्थिकर पेशीविकृति (myositis ossificans)—कभी-कभी पेशी को आघात लगने और उसमे रक्तस्राव होने के पश्चात् उसमे अत्यधिक अस्थिनिपेक्ष (bonydeposits) के बनने की प्रवृत्ति होती है। रक्तगुल्म मे रक्तसप्राप्ति बढने से और अस्थि के भग्न भागो से शोपित होकर कैल्शियम की मात्रा के भी अधिक हो जाने से, लेरिख (Leriche) और पोलीकार्ड (Policard) के मतानुसार अस्थिकर पेशीविकृति की उत्पत्ति के लिए उपयुक्त दशाये उपस्थित हो जाती है। मालिश या उद्वर्तन से प्रगडिकी पेशी अथवा अग्रबाहु की आकुचक

पेशियो मे नई अस्थि बनने की प्रवृत्ति को विशेप सहायता मिलती है।

कुछ रोगियो मे इस दशा की विशेप प्रवृत्ति होती है। अतएव यह आवश्यक है कि कूर्पर के पास के आघातो मे सब प्रकार के व्यायामो का निपेध किया जाय।

यदि कूर्पर के पास के अस्थिभगो मे प्लस्तर निकालने के पश्चात् गतियो का सीमित हो जाना (limitation) या ह्रास मिले, पेशी मे स्पर्शासहता और आकर्पण के लक्षण मिले तो उसका एक्सरेचित्रण आवश्यक है। चित्र मे अप-सामान्य व्यापक एक्सरे अपारतायें या अस्थि के पत्रक या परत प्रगडिकी (brachialis) या अग्रबाहु की आकुचक पेशियो मे, या कभी-कभी त्रिशिरस्का मे दिखाई दे तो 4-6 सप्ताह तक सधि को प्लास्तर की पश्चकास्ट मे पूर्ण विश्राम देना उचित है। उसके पश्चात् नये एक्सरेचित्र से फिर देखा जाय कि अस्थिपत्रको की छायाएँ पूर्णतया लुप्त हो गई है या नही।

अग को तब तक प्लस्तर मे रखा जाय जब तक छायाओ के पूर्ण लोप से दशा का पूर्ण शमन न हो जाय। यदि 3-4 मास तक ऐसा करने पर भी नवीन अस्थि का शोषण न हो तो पेशीपिंड मे एक अस्थिपिंड बन चुका है और उसका शस्त्रकर्म द्वारा अपहरण करना उचित है। इस अवस्था पर भी गतिया वर्जित है, उनसे अस्थिनिर्माण बढेगा।

रक्तवाहिकाहीन परिगलन (avascular necrosis)

अस्थि के किसी अश की रक्तसप्राप्ति के बन्द हो जाने पर, जैसे ऊर्वस्थि की ग्रीवा के अस्थिभग से उसके शिर का रक्तसचार बन्द हो जाने से, या मणि-बध की नौकाभ अस्थि के निकटस्थ (proximal) भाग मे रक्त न पहुचने से, उस अश का अपूतित परिगलन (aseptic necrosis) हो जाता है।

संधिग्रह (ankylosis of joint)—संधि मे रक्त भर जाने (रक्तसधि, haemarthrosis), सधायक पृष्ठो के नील (contusion), पूतिता (sepsis) और अत्यधिक अचलीकरण (immobilization) से सधि कडी (stiff) हो जाती है। अस्थि-कर्षण (skeletal traction) के अत्यधिक होने से, स्नायुओ के खिचाव के कारण, यही परिणाम होता है।

अस्थि का अभिघातोत्तर शोथ (post-traumatic atrophy of bone)

कुछ रोगियो मे अग के अचलीकरण के पश्चात् अस्थि का विशेष विकैल्सी-करण हो जाता है, त्वचा मे परिवर्तन होने लगते है और परिसरी रक्तसचार मे भी विकार उत्पन्न हो जाते है। हाथ और पावो पर की त्वचा चमकीली और शीतसुग्राही (susceptible to cold) हो जाती है; वह श्याव (cynotic)

हो सकती है। ऐक्सरे मे अस्थि कर्वुरित (mottled) दीखती है जिसका कारण विकैल्सीकरण (decalcification) होता है। इसके साथ वेदना होती है और गतियो का ह्रास हो जाता है। इस दशा का कारण तंत्रिकापोषी प्रभावों को माना जाता है। इसकी चिकित्सा विकिरण-ऊष्मा (rediant), विपर्यास स्नान (contrast bath), हलकी मालिश और अनुकम्पी रोध (sympathetic block) द्वारा की जाती है।

दाव-व्रण (pressure sores)—बहुत समय तक रोगी के शैया मे अचल्ली-करण से अस्थियो के अरक्षित उत्सेधो पर दबाव पड़ने के कारण वसा की त्वचा मे व्रण बन सकते है। कसे हुए स्प्लिन्ट या प्लस्तर से भी अगो मे ऐसा ही हो सकता है। स्प्लिन्ट को ढीला करना, प्लास्तर मे गवाक्ष (window) बनाना और वायु-गद्दियों (air cushions) के प्रयोग से अस्थि-भागो पर के दाव को दूर करने से इसकी चिकित्सा की जाती है। दाव के हट जाने पर व्रण सहज मे भर जाते हैं।

अस्थिसंयोजन के दोष (difects in bony union)

विलंवित संयोजन (delayed union)—यह स्मरण रखना चाहिए कि न केवल भिन्न-भिन्न व्यक्तियो मे उनके वय, शारीरिक स्वास्थ्य तथा चिकित्सा-विधि के अनुसार अस्थि-भग के खण्डो के जुडने के समय मे भिन्नता पाई जाती है, किन्तु एक ही अस्थि के भिन्न भागो के जुड़ने के ममय भी अन्तर पाया जाता है। तो भी प्रत्येक अस्थि-भग के जुड़ जाने का औसत काल मालूम किया गया है। यदि उस काल मे अस्थि नही जुडती तो वह विलवित सयोजन कहा जाता है। इसका अर्थ है कि उपयुक्त स्थानिक और दैहिक चिकित्सा से अब भी सयोजन सभव है। यदि उस पर भी सयोजन नही होता तो वह असंयोजन (non-union) कहलाता है।

असंयोजन—तीन प्रकार का हो सकता हे : **पूर्ण असंयोजन (absolute non-union)**, जहा अस्थि के दोनो खंडो के बीच अन्तर हो, जैसे जान्विका के अस्थिभग मे ; तान्तव असंयोजन (fibrous uon-union), जहा अस्थि के दोनों खडो के बीच घना तान्तव ऊतक बन जाता है। कूटसंधिता (pseudo-arthrosis), खडो के बीच मिथ्या सधि बन जाती है।

असंयोजन के कारण— वृद्धावस्था, दौर्बल्यकारी दशाये तथा अपर्याप्त पोषण असयोजन के मुख्य कारण है। स्थानिक कारण निम्न हैं . **अपर्याप्त पुन-स्थापन (inadequate reduction)**—अस्थिखडो का पूर्ण संधान न होना जो अस्थिह्रास (loss of bone)से, दोनो खडो के बीच पेशी आदि मृदुऊतक के आ जाने अथवा अतिकर्षण के कारण दोनो खडो के दूर हट जाने मे हो सकता

है। अपर्याप्त अचलीकरण (inadequate immobilization)—अस्थिभग मे गति होते रहने से कूट-संधि बन जाती है। उपयुक्त पुन स्थापन और अचलीकरण से प्राय सभी अस्थिभग जुड जाते हैं। अपर्याप्त रक्तसंभरण (poor bloodsupply)—जैसे ऊर्वस्थि की ग्रीवा अथवा मणिबंध की नौकाभ (scaphoid) अस्थि के भग्नों मे, संक्रमण, जिससे तन्तुमयता और रक्तसचार मे बाधा हो जाती है। स्थानीय अस्थिरोग (local bone-disease), जैसे अर्बुद जो मृदम या दुर्दम अथवा प्राथमिक या द्वितीयक हो।

असयोजन की चिकित्सा · अस्थिरोपण (bone grafting)

कारण की चिकित्सा करनी चाहिए। प्राय उत्तम अचलीकरण और क्रमिक कार्य (graduated function) से विरोहण शीघ्र हो जाता है। जब अस्थि-खडो के सिरो पर काठिन्य (sclerosis) हो जाने से असयोजन होता है तो दोनो सिरो पर से नवनिर्मित अस्थि को हटाकर उनको नया बनाकर उनके बीच अस्थिरोपण किया जाता है।
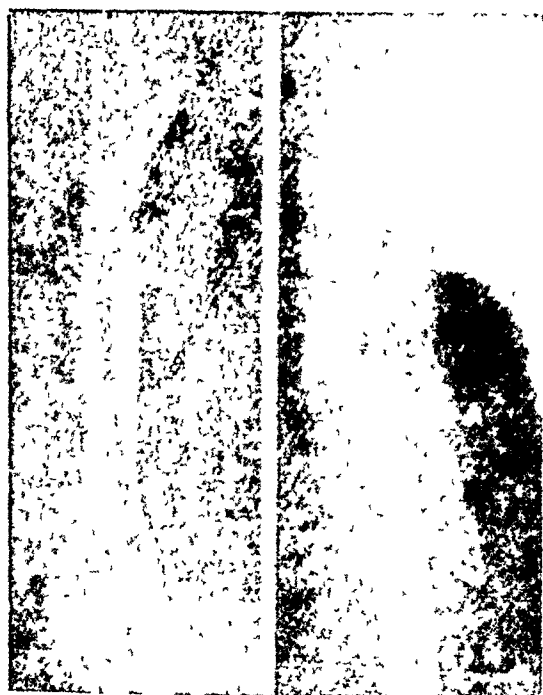
चित्र 155—प्रगंडास्थि के प्रकांड का असयुक्त (un-united) अस्थिभग

अस्थिरोपण की प्रविधि निम्न अनुभूतियो पर निर्भर करती है :

(1) अस्थिकोशिकाएँ, अपने स्थान से हटने पर भी नवीन अस्थि उत्पन्न कर सकती है अर्थात् जीवित अन्तर्जंघास्थि के कुछ भाग को उससे काट कर किसी दूसरी अस्थि मे लगा देने पर वह उस अस्थि का भाग वन जाएगा।

(2) वह अस्थिभाग (निरोप) जीवित रहता है और वृद्धि करता है।

(3) अस्थि निरोप (bone graft) अन्तर स्प्लिन्ट की भाति काम करने के अतिरिक्त एक ढाचा (scaffolding) वना देता है जिस पर कणिका-ऊतक एक सिरे से दूसरे सिरे तक वन सकता है, उससे रासायनिक पदार्थ जैसे केल्सियम फास्फेट और फास्फोरस तथा सयोजी ऊतक कोशिकाएँ भी प्राप्त होती हैं जो अस्थि की पुनरुत्पत्ति मे वहुत भाग लेती है।

(4) निरोप के स्थापित होने और सयोजन के दृढ हो जाने पर रोगी के स्वय गतियो (active movements) के करने मे अस्थि की और वृद्धि होती है ओर आरोपित अस्थि, वुल्फ (Wolff) के नियम के अनुसार, प्राकृतिक रूप ले लेती है। नियम यह है कि कोई भी सरचना कार्य और तदनुसार खिचावो (stresses) के अनुकूल हो जाती है।

चित्र 156—ऊर्विका के ऊर्ध्व प्रान्त का (अवशिखरक) अस्थिभंग

अस्थि-निरोप तीन प्रकार के होते है स्वजातीय (autogenous)—स्वय रोगी ही की दूसरी अस्थि से लिया हुआ ; सजातीय (homgenous)—दूसरे मनुष्य के शरीर से लिया हुआ अस्थि भाग और विजातीय (heterogenous)—दूसरी जाति के प्राणी, जैसे बकरी, के शरीर से लिया हुआ भाग। स्वजातीय निरोप सर्वोत्तम होते हैं।

अस्थि-निरोप निम्नलिखित विधियों से लगाये जा सकते हैं : अन्तःस्थित निरोप (inlay graft), बाह्यस्थित निरोप (outlay graft), स्थूल निरोप (massive graft) जैसे पर्शुका या बहिर्जंघिका का सम्पूर्ण परिच्छेद (section) या श्रोणिफलक शिखा या अन्तर्जंघिका के कांड का भाग ; अन्तरामज्जी कील निरोप (intramedullary peg graft), प्रतिलोमित अस्थिकांडीय स्थूल निरोप (inverted diaphyseal massive graft)।

अस्थि-निरोप की सफलता के लिए पूर्ण अपूतिता (asepsis), अरक्तस्रावता (haemostasis), निरोप का नई स्थिति मे पूर्णतया स्थिर हो जाना और पर्याप्त बाह्य स्प्लिन्टाश्रय, जैसे प्लास्तर की कास्ट या सांचे को पर्याप्त समय तक लगाये रखना, आवश्यक है, जब तक पूर्ण संयोजन न हो जाय वे न हटाये जाये।

कुसंयोजन (malunion)

अस्थि-खडो के सिरो का एक-दूसरे को आंशिक आच्छादित करके या एक कोण बना कर या विस्थापित स्थिति मे, जुडने को कुसंयोजन कहते हैं। अपर्याप्त या अनुपयुक्त पुन स्थापन या ऐसा ही अचलीकरण उसका कारण होते है। अग या अस्थि की लबाई कम हो सकती है, कोण बन सकता है या विवर्तन विरूपता (rotational deformity) हो सकती है। कार्यह्रास न होने पर अल्प विरूपता की कोई चिकित्सा आवश्यक नही है, किन्तु कार्यबाधा उपस्थित होने से विरूपता का सुधार आवश्यक है। कैलस जब तक दृढ रहता है हस्त-कौशल और क्रमिक कर्षण से विरूपता सुधर सकती है। अस्थि-भग के जुड़कर दृढ हो जाने पर शस्त्रकर्म की सहायता लेनी पड़ती है। भारवाही अगो मे 1 इच से अधिक छोटाई या कोण बन जाने पर या अधिक विवर्तन विरूपता होने पर उसका सुधार आवश्यक है।

ऊर्ध्व देहशाखा के अस्थिभग

जत्रुक (clavicle)

जत्रुक के अस्थिभग प्राय सवृत होते हैं। बच्चो मे वे नवशाखा (green stick) प्रकार होते है। वे बाहु के फैले रहने पर या स्कध के बल गिरने से अप्रत्यक्ष अभिघात (indirect trauma) के कारण होते हैं। भग अन्त.प्रान्त, कांड, या बहि प्रान्त मे हो सकता है।
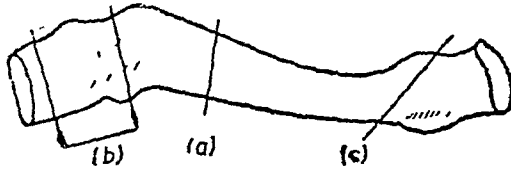
चित्र 157—जत्रुक के अस्थिभग; (a) प्रकाड मे; (b) असकूट प्रान्त पर, (c) उरोस्थि प्रान्त पर (विरल)

जत्रुक के काड के अस्थिभग प्राय वाह्य और मध्य तृतीयाशो के संगम पर होते है। यह अस्थि के दोनो वक्रो (curves) का मिलन स्थान होने से दुर्वल होता है। वाह्य खड गुरुत्व के कारण नीचे को, उर छदिका के खीचने से सामने को,और प्रगडास्थि की द्विशिरस्की खातिका (bicipital groove) मे लगी हुई पेशियो, विशेपतया कटिपार्श्वच्छदिका (latissimus dorsi) द्वारा भीतर को, विस्थापित्त हो जाता है। अन्त -खड उर कर्णमूलिका द्वारा कुछ ऊपर को खिच जाता है और वाह्य खड के नीचे को विस्थापित होने के कारण और भी प्रमुख दीखने लगता है। कुछ रोगियो मे गभीर सरचनाये, अधोजत्रुक शिरा आदि, क्षत हो सकती है।

वाह्य प्रान्त का समलवाभ (trapezoid) और शकुक (conoid) स्नायुओ के लगाव के वीच मे अस्थिभर्ग होता है। स्थानिक वेदना, स्पर्शासहता और सूजन आदि लक्षण उपस्थित होते है। विस्थापन नही होता, अतएव स्कध नही लटकता।

जत्रुक के अन्त प्रान्त का, उसके मोटे और दृढ होने के कारण, अस्थिभंग असाधारण है। वाल्को मे अभिवर्ध (epiphyses) पृथक् हो सकता है।

निदान

रोगी भग की ओर की कूर्पर को अपने दूसरे हाथ पर आश्रित किए रहता है। स्थानिक स्पर्शासहता और क्रैपिटस सहज मे प्रतीत होते हैं। एक्सरे-परीक्षा से निदान निश्चित हो जाता है।

चिकित्सा—त्रिकोणाकार गोफण (triangular sling) मे वाहु को आश्रित कर दिया जाता है। दोनो स्कधो को पीछे को खीचने और वाहु को ऊपर को उठाने से विरूपता का पुन स्थापन हो जाता है। इस प्रक्रिया से वहुत से रोगियों मे अस्थिखड अपने स्थान पर आ जाते है और तव कक्षा (axilla) मे एक कवलिका

या पैड लगाकर अचलीकरण किया जा सकता है, जिससे स्कध पर 15 अश का अपावर्तन बना रहे। स्कध का अचलीकरण उस पर स्वस्तिका पट्टी बांध कर और कक्षा मे कवलिका रख कर किया जा सकता है; प्लास्तर के कडे हो जाने पर बाहु को गोफण मे आश्रित करके रोगी चल फिर सकता है। रोगी के स्कधो के पीछे एक आयताकार स्प्लिन्ट, जो दोनो स्कधो से तीन-तीन इच बाहर निकला रहे, लगाया जा सकता है। उसके बीच मे अन्तरासफलक (interscapular) अवकाश मे एक कवलिका लगा दी जाती है। कक्ष मे रखी हुई कवलिका पर से स्कधो के पीछे से 8 अक के आकार की पैरिस प्लास्तर की पट्टी लगाकर स्प्लिन्ट को स्थिर किया जा सकता है। रोगी बाहु को गोफण मे डालकर चल फिर सकता है। किन्तु रोगी को कठोर शैया (तख्त) पर सोना चाहिए और तकिया भी नीचा हो। अगुलियो को हिलाना और कुहनी को मोडना प्रथम दिन से प्रारम्भ कर दिया जाय। 4-6 सप्ताह तक स्प्लिन्ट लगा रहे। अस्थिभग के जुड जाने पर बाहु का प्रयोग किया जा सकता है। यह विधि बालको के लिए विशेष उपयुक्त है।

बाह्य प्रान्त के अस्थिभगो की चिकित्सा 4 सप्ताह तक आसजी प्लास्तर (adhesive plaster) के स्थानिक प्रयोग और गोफण मे बाहु को रखने से की जाती है।

अन्त प्रान्त के भग्न मे स्थानिक अचलीकरण आसजी प्लास्तर द्वारा किया जाता है जिसकी पट्टी को सामने वक्ष भित्ति पर से प्रारम्भ करके उरोजत्रुक (sternoclavicular) सधि पर से निकालकर स्कध पर होते हुए पीठ पर ले जाकर चिपका दिया जाता है और बाहु को गोफण मे रखा जाता है।

उपद्रव—कुसयोजन प्रायः देखा जाता है जो अपर्याप्त पुन स्थापन और अचलीकरण का परिणाम होता है। साधारणतया उससे कोई अकर्मण्यता या कार्यदोप नही होता। बालको मे विरूपता धीरे-धीरे जाती रहती है। कैलस के स्थान पर वेदनायुक्त पिड बनने या कैलस से गभीर सरचनाओ का सपीडन होने अथवा अगराग (cosmetics) के हेतु शस्त्रकर्म करना आवश्यक होता है। शत्रुक का असयोजन असाधारण है।

अंसफलक (scapula)

काय (body)—यह असाधारण आघात है जो सीधे उसी पर चोट लगने (direct violence) से होता है। असफलककाय का अधोअसपृष्ठिक

(infraspinous) भाग इससे विदरित (fissured) हो जाता है। वहा वेदना, सूजन, और स्पर्शासहता हो जाती है और वाहु अकर्मण्य हो जाती है, अस्थि-खडो के अग्र और पश्च दोनो पृष्ठो पर पेशियों के लगे होने के कारण वे विस्थापित नही होते। साथ ही पर्शुकाओं का भंग हो सकता है। एक्सरे परीक्षा से निदान का निश्चय होता है।
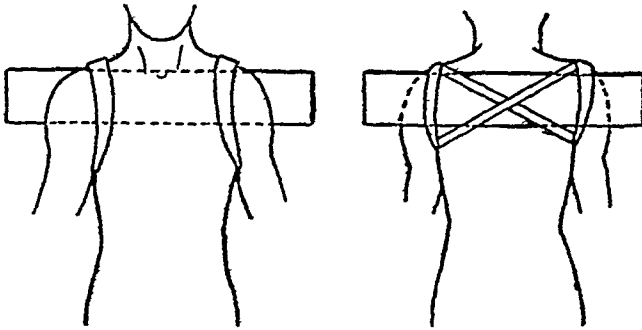
चित्र 158—जत्रुक का अस्थिभंग जिसकी चिकित्सा काष्ठ के स्प्लिन्ट और पैरिस प्लस्तर की 8-आकार की पट्टी लगाकर की गई है।

चिकित्सा—असफलक को वक्षभित्ति पर आसजी प्लास्तर से स्थिर किया जाता है। दो सप्ताह के पश्चात रोगी को स्वय गतिये करने की अनुमति देना उचित है। स्कध की अपावर्तन क्रिया (abduction movements) के समय असफलक की वक्षभित्ति पर पूर्ण गति होने मे 3-6 सप्ताह लग सकते है।

अंसकूट प्रवर्ध (acromion process)

यह असाधारण अस्थिभग है और स्कध के सिरे या सवसे वाहर की नोक पर किसी भारी वस्तु से चोट लगने या स्कध के वल गिरने से होता है। स्थानिक वेदना, स्पर्शासहता और सूजन होते हैं।

चिकित्सा—आसंजी प्लास्तर का स्थानिक प्रयोग और गोफण से कूर्पर को सभालना उसकी चिकित्सा है।

अंसफलक की ग्रीवा (neck of scapula)

यह असाधारण अस्थिभग भी सीधी चोट लगने से होता है। अस्थिभंगरेखा, असफलक भगिका से असगर्त (ग्लिनाइड) खात तक जाती है। पूर्ण भग होने पर वाहु की लम्वाई वढ जाती है, जिसको असकूट की नोक से प्रगडास्थि के

के वाह्य उपार्वुद तक नापा जाता है।

चिकित्सा—दशा वेदनामय होती है; उसकी चिकित्सा वाहु को गोफण मे आश्रित करने से की जाती है। तीव्र दशाओ मे स्कध स्वस्तिका पट्टी लगाई जाती है।

तुण्ड प्रवर्ध (coracoid process)

यह विरल अस्थिभग भी प्रत्यक्ष आघात का फल होता है।

चिकित्सा, गोफण के अतिरिक्त, आवश्यक नही होती।

अंसफलका का गर्तखात (glenoid fossa)

यह अस्थिभग सीधे आघात लगने, स्कधाग्र पर गिरने या स्कंध की सधिच्युति के साथ हो सकता है। गर्त खात मे विदर भग (fissure fracture) हो जाता है। जिनमे सधिच्युति के पुन स्थापन के पश्चात् भी वेदना वनी रहती है और सधिच्युति के फिर से होने की प्रवृत्ति होती है। ऐक्सरे परीक्षा से निदान का निश्चय होता है।

चिकित्सा—स्कध को 4 सप्ताह तक प्लास्तर की स्वस्तिका पट्टी मे, 40 अग के अपावर्तन से वाधकर रखना चाहिए। उसके पश्चात् मालिश आदि भौतिक चिकित्सा तथा सक्रिय (स्वय रोगी द्वारा) व्यायाम कराये जाते हैं। अस्थिसधिशोथजन्य (osteoarthritic) परिवर्तनो मे स्कध का कडा, या अल्पचल (stiff) हो जाना, विलवित उपद्रव हो सकता है।
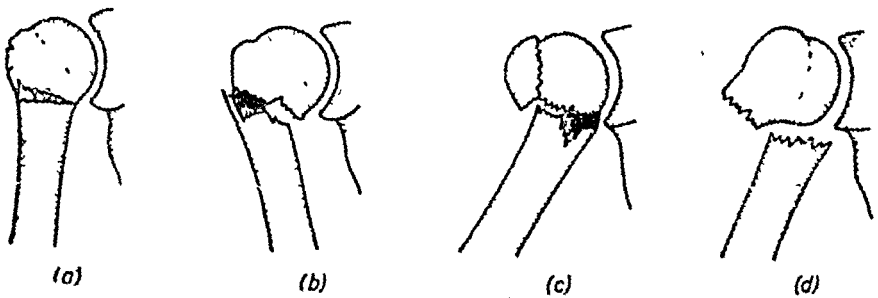
चित्र 159 प्रगडास्थि के ऊर्ध्व प्रान्त के अस्थिभग · (a) अनुप्रस्थ अस्थिभग जिसमे अन्तर्घट्टत के कारण विस्थापन नही हुआ है, (b) अभिवर्तन अस्थिभग अन्तर्घट्टन सहित, (c) अपापर्तन अस्थिभग अन्तर्घट्टन सहित, (d) प्रगडास्थि की ग्रीवा का अनन्तर्घट्टित अस्थिभग जिससे अस्थिखडो का विस्थापन हो गया है।

प्रगंडास्थि का ऊर्ध्व प्रान्त (Upper end of humerus)

प्रगडास्थि के उर्ध्व प्रान्त के भगो का कई प्रकार से वर्गीकरण किया गया है। एक नैदानिक वर्गीकरण, जो चिकित्सा मे उपयोगी पाया गया है, निम्न-लिखित है; ऊर्ध्व प्रान्त का अन्तर्घट्टित (impacted) अस्थिभग; अनन्तर्घट्टित (unimpacted) भग; शिर की अस्थिभग-सधिच्युति, वृहद गुलिका का अप-दीर्णन (avulsion) अस्थिभग; युवनो (adolescents) मे ऊर्ध्व अधिवर्ध (epiphysis) का पृथक्‌भवन।

अन्तर्घट्टित अस्थिभंग (impacted fracture)

इस प्रकार के अस्थिभग वृद्धावस्था मे पाये जाते है और फैली हुई वाहु पर गिरने से होते हैं। अन्तर्वट्टन के कारण, अल्प वेदना होती है, विरूपता नही होती और वाहु को हिलाने से शिर उसके साथ हिलता है।

चिकित्सा—सामान्यतया ऐसे अस्थिभग का विघट्टन (disimpaction) नही किया जाता, विशेपतया यदि अस्थिभग विखडित (comminuted) हो। इन अस्थिभगो की चिकित्सा कक्ष मे कवलिका लगाकर वाहु को गोफण मे आश्रित करना है। स्कध की गतिया शीघ्र ही प्रारम्भ कर दी जाती है। युवावस्था के रोगियो मे विघट्टन करना चाहिए. यद्यपि अस्थिखडो को उपयुक्त स्थिति मे रखना कठिन होता है। अग की कार्यक्षमता की पुन प्राप्ति उद्देश्य होना चाहिए।

अनन्तर्घट्टित अस्थिभंग (unimpacted fracture)

ये अस्थिभग प्राय प्रागडास्थि की शल्यग्रीवा (surgical neck) पर या उसके पास होते है, कभी-कभी निकटस्थ खड का विखडन (comminution) हो जाता है जिसके साथ स्कध की सधिच्युति भी हो सकती है। अपावर्तक पेशियो द्वारा निकटस्थ खड का अपावर्तन (abduction) हो जाता है और नीचे के खड का अभिवर्तन (adduction) होता है जिससे कोणीय विरूपता उत्पन्न हो जाती है। वेदना तीव्र होती है, रोगी वाहु को हिला नही सकता। नापने पर वाहु की लम्बाई कम पायी जाती है। तन्त्रिकाओं और रक्तवाहिकाओ की क्षति अस्थिभग को और भी जटिल (complicated) वना सकती है।

चिकित्सा—सामान्य वेदनाहरण करके वाहु के अपावर्तन के पश्चात् उसका अनुदैर्ध्य दशा मे कर्पण किया जाता है जिस से पुन स्थापन हो जाता है, कक्षा मे हाथ रखकर हस्तकौशल द्वारा खडो को उनकी उपयुक्त स्थिति मे पहुँचा दिया

जाता है। खड का अचलीकरण कठिन है और बाहु का अपावर्तन करके स्कध स्वस्तिका प्लास्तर पट्टी लगाकर सम्पन्न किया जाता है। विरूपता की पुनरा-

चित्र 160 अंगअस्थि के अस्थिभंग; (1) वृहत् गडक, (2) शल्य ग्रीवा; (3) मध्य प्रकाड; (4) अधिरथूल्क; (5) अन्तरा-स्थूल्क; (6) पश्चिंकस्थूलक।
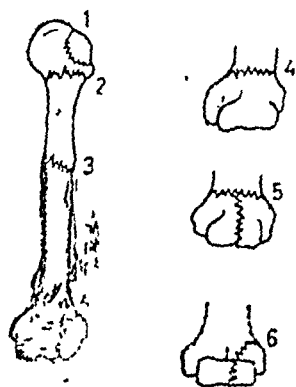
वृत्ति की सम्भावना होने पर रावर्ट जोन्स के अपावर्तन-स्प्लिन्ट को अनुदैर्घ्य कर्षण के साथ प्रयोग किया जा सकता है। जिनमे स्कध की सधिच्युति भी होती है उनमे प्रगड जालिका की क्षति की भी सम्भावना रहती है, अथवा कक्षा मे तत्रिकाओ और रक्तवाहिकाओ पर दवाव हो सकाता है। ऐसे रोगियो मे ऊपर के खडो का नियन्त्रण नही हो पाता जिससे सधिच्युति का पुन.स्थापन करना सर्वोत्तम है।

वृहत् गुलिका (greater tuberosity)—इसका पेशीक्रिया के कारण अपदीर्णन (avulsion)-अस्थिभग हो सकता है। चिकित्सा सरल है; गतियां और व्यायाम शीघ्र प्रारम्भ करने चाहिये।

प्रगंडास्थि का कांड (shaft of the humerus)

प्रगडास्थि के काड के ऊर्ध्वतृतीयाश या निम्न द्वितृतीयाश मे अस्थिभग हो सकता है। अस्थिभगरेखा अनुप्रस्थ या तिर्यक हो सकती है और पेशियो की क्रिया से खड एक दूसरे पर चढ सकते है। अस्थिभग त्रिकोणिका पेशी (deltoid) के निवेश के ऊपर की ओर होने पर ऊर्ध्वखड वृहत् उरश्छदिका (pectoralis major) द्वारा अभिवर्तित हो जाता है और नीचे के खड का त्रिकोणिका अपावर्तन कर देती है। यदि अस्थिभगरेखा, त्रिकोणिका के निवेश के नीचे प्रगडास्थि के निम्नार्ध मे होती है तो उर्ध्व अस्थिखड का अपावर्तन होता है और निम्नखड प्रगडिका (brachialis) और द्विशिरस्का पेशियो द्वारा

ऊपर को खिंचकर अभिवर्तित हो जाता है, जिससे अंग की लम्बाई कम हो जाती है। निदान सरल है और एक्सरे द्वारा प्रमाणित किया जाता है।

कांड के मध्यभाग के अस्थिभग का एक गम्भीर उपद्रव वहि प्रकोष्ठिका-तत्रिका (radial nerve) को क्षति, जो ऐक्सोनविच्छेद, तत्रिका-विच्छेद या तत्रिकाकार्यविच्छेद (axonotmesis, neurotmesis, neurapraxia) हो सकते हैं। यदि तत्रिका केवल छिल जाती है तो लक्षण शीघ्र ही उन्नत हो जाते है। क्षति यदि पूर्ण है और आठ सप्ताह मे भी उन्नति नही होती तो तत्रिका का अन्वेषण आवश्यक है। आरोग्य लाभ के समय मणिवन्ध को पृष्ठाकुचन (dorsiftexion) की स्थिति मे रखना चाहिए।

चिकित्सा—ऊर्ध्व तृतीयाश के अस्थिभगो मे कर्षण और अपावर्तन फ्रेम (abdaction frame) मे स्थिति को वनाये रखना आवश्यक है, या केवल स्लैव प्लास्तर प्रयोग किया जाता है। यदि कोणीय विरूपता को मिटाने मे कठिनाई हो तो शस्त्रकर्म द्वारा पुन.स्थापन आवश्यक हो सकता है।
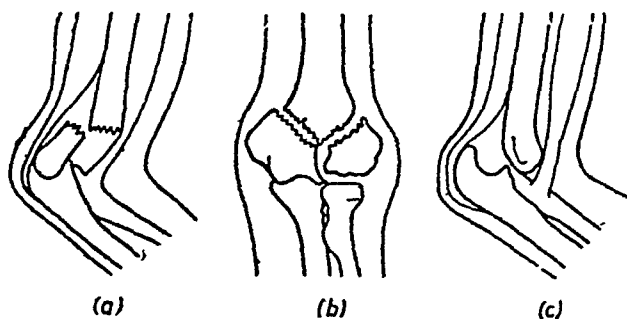
चित्र 161—कूर्पर के चारो ओर के आघात · (a) अधिस्थूलक अस्थिभग; (b) अन्तराम्यूलक अस्थिभग, (c) कूर्पर की पश्च स्थानच्युति।

काड के निम्न तृतीयाश की चिकित्सा सर्वोत्तम प्रकार से कक्षा मे मणिवन्ध तक लगे हुये प्लास्तर से होती है जिसमे एक U-स्लैव कक्षा से कूर्पर प्रवर्ध (olecranon process) के सिरे पर होता हुआ असकूट तक चला जाता है। यह अस्थिखडो की कोणीय विरूपता नही होने देता। आकर्षण (distraction) न होने देना चहिए, उससे असयोजन (non-union) हो सकता है।

प्रगंडास्थि का निम्न प्रान्त (lower end of the humerus)

इस प्रान्त मे ये अस्थिभग होते है . अधिस्थूलक अस्थिभंग (supracondylar);

T या Y आकार के अस्थिभग जो कूर्पर सन्धि मे विस्तृत हो जाते है; पार्श्व स्थूलक का भग जिसमे बालको मे मुडक (capitulum) पृथक् हो जाता है, और अभिमध्य स्थूलक के पृथक् हो जाने वाले अस्थिभग।

कूर्पर सधि के चारो ओर के आघातो मे ठीक-ठीक निदान के लिये पूर्ण और सावाधानी से परीक्षा करना आवश्यक है। कूर्पर के तीनों अस्थिविन्दुओं (वहि स्थूलक, अन्त स्थूलक, कूर्पर प्रवर्ध) की आपेक्षिक स्थिति अत्यन्त महत्त्व की है। कूर्पर सधि भी ग्रस्त है या नही तथा सधि के भीतर नि.सरण (effusion) हुआ है या नही, यह जानना आवश्यक है। कूर्पर का वाहक कोण (carrying angle) भी ध्यान से देखना चाहिए। इस कोण के ह्रास को अन्तर्नत प्रकोष्ठ (cubitus varus) और उसके वढ जाने को वहिनत प्रकोष्ठ (cubitus valgus) कहा जाता है। मध्यमा, वहि प्रकोष्ठिक और अन्त प्रकोष्ठिक तत्रिकाओ के अक्षत (uninjured) होने का भी निश्चय कर लेना चाहिये। अस्थिभग के ओर की वहि प्रकोष्ठिका नाडी को प्रतीत करके उसकी दूसरी ओर की नाडी से तुलना करने से यह वोध हो सकता है।

कूर्पर के अधिस्थूलक (supracondylar) अस्थिभंग

बालकों मे प्रसारण प्रकार(extension type) का अस्थिभग सवसे साधारण है और प्रसारित खुले हाथ पर गिरने से अप्रत्यक्ष अभिघात के कारण होता है। और अस्थिभगरेखा कूर्पर खात मे आरपार नीचे को और सामने को जाती है, नीचे का खड पीछे को और ऊपर को विस्थापित हो जाता है। और ऊपर के खड का निम्न प्रान्त सामने और नीचे को विस्थापित हो जाता है। प्राय: खड के निम्न प्रान्त के अग्र पृष्ठ पर स्थित प्रगडिकी पेशी (brachialis) वाहिकाओं और तत्रिकाओ की रक्षा करती है। किन्तु तीव्र दशाओ मे यह प्रान्त प्रगडिका धमनी और मध्यमा तत्रिका को वेध सकता है।

वाहु की आकृति कूर्पर की पश्च सधिच्युति के समान हो जाती है, किंतु निम्न बातो से दोनो मे भेद किया जा सकता है अधिस्थूलक अस्थिभग मे कूर्पर प्रवर्ध, अभिमध्य और पार्श्व अधिस्थूलको (epicondyles) के सिरो की आपेक्षिक स्थिति नही वदलती, अग्रवाहु की पार्श्व अधिस्थूलक से वहि प्रकोष्ठिका के शर प्रवर्ध की नोक तक की लम्वाई पूर्ववत अपरिवर्तित रहती है, असकूट की नोक से प्रगडास्थि के पार्श्व अधिस्थूलक तक की वाहु की लबाई घट सकती है।
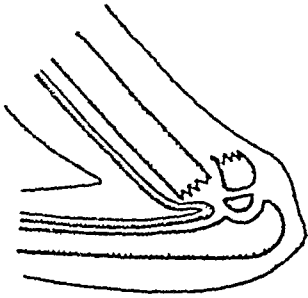
162—अधिस्थूलक अस्थिभग जिसमे अनुचित हस्तव्यापार (manipulation) के कारण प्रगड धमनी पर दबाव पड रहा है ।

साधारणतया निदान कठिन नही होता, किंतु प्रत्येक रोगी मे अस्थिभग-रेखा, प्रकार, विस्थापन आदि जानने के लिए एक्सरे लेना आवश्यक है ।

चिकित्सा—प्रथम सहाय के लिए एक कौलर और कफ (गोफण) स्लिग या लटकन पर्याप्त है (जो गले पर कौलर और मणिबध पर कफ की भाति लगी रहती है) । कोई हस्तकौशल, समस्त आयोजनो को किये विना, न करना चाहिए, और रोगी के प्रतिरोध के विरुद्ध कूर्पर का आकुचन कभी न किया जाय ।

जहा तक शीघ्र हो सके सामान्य सवेदनाहरण कर के अस्थिभग का पुन:-स्थापन किया जाय । पुन:स्थापन मे विलब से वहा की सूजन बढ जाएगी और वौकमैन सकोच का भय भी अधिक हो जाएगा ।

शीघ्र ही कूर्पर पर सूजन होने के पूर्व चिकित्सा करने मे पुन:स्थापन अत्यन्त सहज होता है । कक्षा की ओर से काड का दूसरी ओर से प्रतिकर्षण (countertraction) किया जा सकता है । अनुदैर्घ्य कर्षण अग्रबाहु को कूर्पर से 170 अश के कोण पर खीच कर किया जाता है । दूसरे हाथ के अगुष्ठ से ऊपर के खड के दूरस्थ (निम्न) प्रान्त को पीछे को धकेला जाता है और कर्षण जारी रखा जाता है । पूर्ण पुन स्थापन हो जाने के पूर्व कूर्पर का आकुचन नही किया जाता । बालको मे अचलीकरण आवश्यक है; कफ और गोफण पर्याप्त हो सकते हैं । कूर्पर के पूर्ण आकुचन (न्यून कोण पर) से पुन स्थापन सतोषजनक दशा मे बना रहता है (विस्थापन नहीं होता), किंतु अधिकतम आकुचन, जिससे बहि प्रकोष्ठिक नाड़ी लुप्त न होने पाये, आवश्यक है । यदि न्यून-कोणीय पुन:स्थापन से नाड़ी मे परिवर्तन हो जाते हैं तो अग्रबाहु को समकोण पर रखकर एक उत्तम कवलिकायुक्त पश्च नालीवत् (gutterlike) प्लास्तर स्लैब मे उसका अचलीकरण उचित है । लपेटने की पट्टी को इस प्रकार लपेटा जाय कि उसमे सिलवटे न पडे और बहुत कसी भी न हो ।

चौबीस घंटे तक रोगी की स्वयं देखभाल आवश्यक है, विशेषकर यदि कूर्पर के चारों ओर रक्तगुल्म बन गया हो, अथवा यदि हाथ में रक्तसंचार में बाधा के कोई लक्षण हों, अंगुलियों का सुन्न हो जाना, उनमें झनझनाहट प्रतीत होना, नीला हो जाना या, या बहिःप्रकोष्ठिक नाड़ी का मन्द हो जाना इस दशा के सूचक लक्षण हैं। स्थानिक रक्ताल्पताजन्य संकोच(ischaemic contracture)को रोकने का यह निश्चित उपाय है।

एक बालक का अधिस्थूलक अस्थिभंग जिसमें कूर्पर के चारों ओर सूजन आ गई है।

ऐसे रोगियों को लटका कर या ऊपर को उठाकर, सीधा कर देना उचित है। कभी-कभी अनुदैर्घ्य प्रसारण का प्रयोग भी किया जाता है। रोगी से अंगुलियों की गतियें करवाई जाती हैं। तारकीय नाड़िका का रोध (block) अंग के रक्तसंचार को उन्नत कर सकता है। 24-48 घंटे पश्चात् जब सूजन जाती रहे तो अस्थिभंग का पुनःस्थापन करके प्लास्टर स्प्लिन्ट लगा दी जाए। सूजन अधिक होने पर पुनःस्थापन का उद्योग भयप्रद है, उससे रक्तसंचार में उपद्रव उत्पन्न हो सकते हैं। सूजन के कम होने पर 7-10 दिन पश्चात् दूसरा स्प्लिन्ट या प्लास्टर लगाना आवश्यक हो सकता है। कूर्पर प्रवर्ध द्वारा निरंतर-तान या स्टाइनमान के पिन का प्रयोग साधारण अधिस्थूलक अस्थिभंग में अनुचित है।

प्रगंडास्थि के निम्न प्रान्त (lower end) के T या Y आकार के अस्थिभंग

इनमें अस्थिभंगरेखा दोनों स्थूलकों के बीच में से होती हुई कूर्पर संधि में चली जाती है। दोनों स्थूलक पृथक् हो सकते हैं जिससे कूर्पर चौड़ा हो जाता है और संधियों में रक्त भर जाता है। (haemarthrosis)। सामान्य संवेदनाहरण करके सावधानी से पुनःस्थापन तथा संधि से रक्त का आचूषण और उसके पश्चात अचलीकरण प्रायः सफल होते हैं। उपद्रवयुक्त होने पर शल्य कर्म द्वारा पुनःसंधान आवश्यक हो सकता है। प्लेटों और पेचों का प्रयोग अनुचित है।

प्लास्टर अचलीकरण में कूर्पर को समकोण पर या कुछ अधिक कोण पर भी रखना आवश्यक हो सकता है जिससे स्थूलक पृथक् न हों और उपयुक्त वाहक कोण बना रहे। अस्थि के उन्नेधों पर प्लास्टर को भली भांति ढाल देना बहुत आवश्यक है। रोगी द्वारा किये गये व्यायाम कूर्पर की गतियों को उन्नत करने में लाभदायक होते हैं।

पार्श्व स्थूलक (lateral condyle) के अस्थिभंग, जिनमे बालको मे मुण्डक (capitulum) पृथक हो गया है

यह आघात 12 वर्ष से कम वय वाले बालको मे होता है। पार्श्व स्थूलक मणिबध की प्रसारक पेशियो की अविरोधित क्रिया से 180 अश के कोण पर दो अक्षो मे घूम जाता है जिससे मुण्डक का सधिपृष्ठ अग्र और ऊर्ध्व ओर को घूमता है। असयोजन बहुत होता है जिससे बहिर्नत प्रकोष्ठ (cubitus valgus) विरूपता हो जाती है और अन्त प्रकोष्ठिकातत्रिका के विलबित अगघात (delayed paralysis) का भय हो जाता है।

चिकित्सा—खुले शस्त्रकर्म द्वारा इन अस्थिभगो की चिकित्सा होनी चाहिए और दृढ कैटगट या रेशम से खडो को उपयुक्त प्रकार से स्थिर करना चाहिए। किर्शनर तार का भी कभी कभी प्रयोग किया जाता है। अकेले मुडक का युवाओ मे अस्थिभग हो सकता है और अस्थिखडों के स्थिरीकरण के लिए खुला पुन स्थापन आवश्यक हो सकता है।

अभिमध्य अधिस्थूलक (medial epicondyle) का पृथक् होना या अस्थिभंग

यह आघात बालको और युवनो (adolescents) मे साधारण है। अभिमध्य अधिस्थूलक के अभिवर्ध के अपदारण के होने पर वह कूर्पर के बहिर्नत खिचाव (valgus strain)का प्रतीक है। बालको मे कूर्पर की पश्च-पार्श्व सधिच्युति का यह एक उपद्रव हो सकता है। अपदीर्ण (avulsed) हुए अधिस्थूलक का अत्यल्प विस्थापन सभव है। अथवा पर्यस्थि के कुछ भाग के साथ वह कूर्परसधिरेखा तक विस्थापित हो सकता है।

चिकित्सा—कूर्पर को 3 से 4 सप्ताह तक विश्राम और सधिकार्य की क्रमश पुन प्राप्ति इसकी चिकित्सा है। अत प्रकोष्ठिकातत्रिका के समीप होने से उसका अपसवेदन (paraesthesia) या आशिक घात (paresis) हो सकता है। यदि यह दशा कुछ समय तक बनी रहे तो तत्रिका का स्थित्यतरण (transposition) करना चाहिए। परिणाम बहुत संतोषजनक होते है।

कुछ रोगियो मे अभिमध्य अधिस्थूलक, आकुचक पेशीसमूह के प्रारम्भ या उदयक्षेत्र और अन्त प्रकोष्ठिका तत्रिकासहित, कूर्पर प्रवर्ध (olecranon process) और चक्रक (trochlea) के सधि पृष्ठो के बीच मे विस्थापित हो जाता है। इस दशा को एक्सरे परीक्षा से भी पहिचानना कठिन होता है, इसलिए स्वस्थ ओर के चित्र मे की अस्थियो की, रूपरेखा की भग ओर के चित्र की अस्थि-

किया जाता है। तब एक प्रवल गैल्वेनी उद्दीपन अन्तर्मणिवध आकुचिका (flexor carpi ulnaris) में अन्त प्रकोष्ठिका तत्रिका के प्रेरक विन्दु (motor point of ulnar nerve) पर लगाया जाता है; इससे फसा हुआ अभिमध्य अधिस्थूलक तुरन्त हटकर अपने स्थान पर आ जाता है। इस क्रिया के असफल होने पर शस्त्रकर्म द्वारा खोल कर अभिमध्य अधिस्थूलक को उसकी प्रसामान्य स्थिति मे लाकर स्थिर किया जाता है। अन्त प्रकोष्ठिकातत्रिका का सदा अग्र स्थित्यरण करना उचित है।

वहि:प्रकोष्ठिका (radius)

वहि.प्रकोष्ठिका मे शिर, ग्रीवा, काड और अध प्रान्त मे अस्थिभग हो सकते है। (चित्र 165)

वहि· प्रकोष्ठिका के शिर (head of radius) के भंग

शिर मे निम्न प्रकार के भग पाये जाते है · शिर का ग्रीवा से पूर्ण भग होकर उसका अन्तर्घट्टन (impaction) हो या न हो, चप्पाभग, (chip fracture) जिसमे अस्थि का एक चप्पा टूटकर उससे पृथक् हो या न हो, और शिर का विखडित अस्थिभग।

फैले हुए हाथ पर गिरने से यह भग होता है और वेदना और स्पर्शासहता के अतिरिक्त उत्तानन और अवतानन गतिया विशेपतया सीमित हो जाती है। शिर के पूर्ण अस्थिभग मे शिर काड के साथ नही घूमता।

चिकित्सा—कूर्पर का आकुचन और अग्रबाहु का उत्तानन करके हस्तकौशल से पुन स्थापन करने के पश्चात् प्लास्तर से अचलीकरण किया जाता है। विखडन (comminution) होने पर या जव अस्थिखड दूर-दूर पृथक् हो तो वहि प्रकोष्ठिका के शिर का उच्छेदन करना आवश्यक होता है।

वालकों मे शिरोच्छेदन न करना चाहिए। प्लास्तर अचलीकरण और व्यायाम चिकित्सा पर्याप्त है। पूर्ण वृद्धि हो जाने तक उच्छेदन को स्थगित रखना चाहिए।

वहि·प्रकोष्ठिका के शिर के अभिवर्ध (epiphyscs)का पृथक् होना

यह वालकों मे असाधारण है और हस्तकौशल और प्लास्तर अचलीकरण द्वारा उसकी चिकित्सा करनी चाहिए।

वहि प्रकोष्ठिका-ग्रीवा (neck of radius)

यह साधारण आघात है और ऊर्ध्व अन्तराप्रकोष्ठिक संधि की वलयाकार स्नायु के कारण कोई विस्थापन नही होता। खडो के विस्थापन होने पर उच्छेदन आवश्यक है।

वहि प्रकोष्ठिका का काड (shaft of radius)

अस्थिभग गोल अवतानिका (pronator teres) के निवेश के ऊपर, ऊर्ध्व और मध्य तृतीयाशो के सगम के समीप हो सकता है। निकटस्थ (proximal; ऊपर का) खड का बाहुद्विशिरस्क (biceps brachii) और करोत्तानिका (supinator) द्वारा उत्तानन (supination) हो जाता है और दूरस्थ (distal, नीचे का) खड का गोल अवतानिका और चतुरस्र अवतानिका (pronator quadratus) द्वारा अवतानन (pronation) होता है। अतएव अग्रबाहु का पूर्ण उत्तानन की स्थिति मे, कूर्पर का समकोण पर, आकुचन करके अचलीकरण होना चाहिए।

गोल अवतानिका के निवेश के नीचे अस्थिभग होने पर समकोण कूर्पर और मध्य-उत्तानन (उत्तानन और अवतानन के बीच) स्थिति मे अग्रबाहु का अचलीकरण उचित है।

अस्थिकाड के निम्न तृतीयाश मे, विना अन्त प्रकोष्ठिका के भग के, अस्थिभग असाधारण है और कष्टसाध्य है। इस अस्थिभग से वहि प्रकोष्ठिका के छोटे हो जाने मे निम्न अन्तराप्रकोष्ठ सधि (inferior radioulnar) का आशिक अवसधिभ्रश (subluxation) हो जाता है। अगुठे के कर्षण द्वारा हाथ को अधिकतम भीतर की ओर झुकाकर दूरस्थ खड को खीचने का और हस्तकौशल से पुन स्थापन का प्रयत्न किया जाता है। हस्तकौशल सफल न होने पर शस्त्रकर्म द्वारा पुन स्थापन के सतोषजनक परिणाम होते है। प्लेट और पेचो से आन्तरिक स्थिरीकरण का परामर्श नही दिया जाता। अन्तर्मज्जाकील (intramedullary nail) और परिसरी स्वजातीय अस्थिनिरोप (circumferential autogenous bone graft) से परिणाम उत्तम होते है।

चित्र 165—वहि प्रकोष्ठास्थि के अस्थि-भंग (1) गिर; (2) ग्रीवा, (3) प्रकाड; (4) कौलीज, (5) वहि प्रकोष्ठिका का शर प्रवर्ध।

चित्र 166—अन्त प्रकोष्ठिका के अस्थिभग. (1) कूर्पर प्रवर्ध, (2) प्रकाड का उर्ध्व तृतीयाश जिसके साथ वहि प्रकोष्ठिका के गिर की सधिच्युति हो सकती है। मौन्टेगिया अस्थिभंग, (3) प्रकाड का निम्न भाग, प्रत्यक्ष आघात से; (4) शरप्रवर्ध

अन्त. प्रकोष्ठिका (ulna)

चित्र 166 मे अन्त प्रकाष्ठिका मे होने वाले अस्थिभगो को दिखाया गया है।

कूर्परप्रवर्ध का अस्थिभंग (fracture of olecranon)

कूर्परप्रवर्ध का अस्थिभग कुहनी के वल गिरने से प्रत्यक्ष अभिघात के कारण हो सकता है और कूर्परसंधि भी ग्रस्त हो सकती है। स्थानिक वेदना, सूजन, स्पर्शासहता और कूर्पर की गति करने ‹ी असमर्थता, सधि मे रक्त एकत्र होनेके कारण, हो जाते है। परिस्पर्शन पर दोनो खण्डों के वीच अन्तर प्रतीत होता है। कूर्पर के आकुचन के प्रयत्न से वेदना और दोनो खण्डों के वीच का अन्तर वढ जाता है।

त्रिशिरस्का (triceps) के अकस्मात प्रवल सकोच से भी कूर्परप्रवर्ध का अनुप्रस्थ अस्थिभग हो सकता है। वालको मे वहि प्रकोष्ठिक अधिवर्ध का अपदारण हो सकता है।

चिकित्सा

खडो के पृथक् न होने पर कूर्पर का आकुचन न करना चाहिए, केवल एक प्लास्तर-कास्ट वाहु के मध्य से करभास्थियो के शिरो तक लगाकर 4 सप्ताह तक रखा जाय।

अस्थिखडो के वीच अन्तर होने पर शस्त्रकर्म करके दोनो खंडो को क्रोमिक

कैटगट या ऊरु-प्रावरणी द्वारा जोड़ा जाता है; विटेलियम के पेंच द्वारा जोड़ने मे बहुत सतोषजनक अचलीकरण होता है। त्रिशिरस्का का कण्डरावितान (aponeurosis) अस्थि पर भी दिया जाता है। उसके पश्चात् कूर्पर का प्रसारण करके उसको प्लास्तर-कास्ट मे रखा जाता है। चार से छ: सप्ताह के पश्चात्, जो अस्थिभग के सपिडन (consolidation) पर निर्भर करता है, कूर्पर की गतियें, सक्रिय और निष्क्रिय दोनो प्रारभ करवाई जाती हैं। कभी-कभी केवल स्लिग का प्रयोग किया जाता है। अस्थिखंडो को तार से जोड़ना उचित नही है।

सामान्यतया खड जुड जाते है और भौतिक चिकित्सा आदि से सधि का कडापन भी जाता रहता है। त्रिशिरस्का के कण्डरावितान के खंडों के बीच मे आ जाने से वे असयोजित रह सकते है और उनके बीच मे तान्तव ऊतक बन जाता है। कूर्पर की क्रिया ठीक होने पर कुछ भी करना आवश्यक नही है, नही तो अस्थिनिरोपण किया जाता है।

अन्त.प्रकोष्ठिका का चचुभ प्रवर्ध (coronoid)

यह कूर्पर की पश्च सधिच्युति का उपद्रवरूप हो सकता है। पुन.स्थापन और आकुचन के पश्चात् कूर्पर को तीन-चार सप्ताह के लिए प्लास्तर-कास्ट मे स्थित करना अस्थिभग की चिकित्सा है।

अन्त प्रकोष्ठास्थि के काण्ड के ऊर्ध्व तृतीयांश का अस्थिभंग

यह प्रत्यक्ष अभिघात मे हो सकता है। और यदि वहि.प्रकोष्ठिका नही टूटी है तो विस्थापन नही होता। किन्तु इस आघात मे ऊर्ध्व अन्तराप्रकोष्ठ-सन्धि (sup. radioulnar joint) की प्राय. च्युति हो जाती है, जो मोन्टेगिया (Monteggia) अस्थिभग सधिच्युति कही जाती है। ये दो प्रकार की होती है, एक मोन्टेगिया प्रसारण मे, (Monteggia in extension) जिसमे वहि:-प्रकोष्ठिका के शिर की अग्र स्थानच्युति के साथ अन्त.प्रकोष्ठास्थि के खंडो का पश्च ओर को विस्थापन होता है, जिससे उनके पीछे की ओर उत्तलता बन जाती है; (2) मोन्टेगिया आकुचन मे (Monteggia in flexion) जिसमें वहि प्रकोष्ठास्थि का शिर पीछे की ओर च्युत होता है और अन्त प्रकोष्ठास्थि के खडों के अग्र ओर को विस्थापन होने से अग्र-उत्तलता (anterior convexity) बनती है।
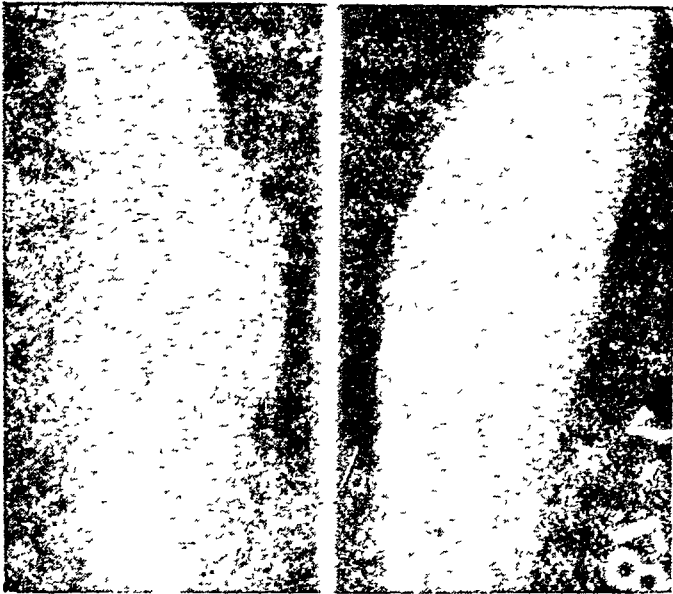
चित्र 167–कूर्पर की अपुन.स्थापित पश्च स्थानच्युति, जिसके साथ अन्त प्रकोष्ठिका के चंचुभ प्रवर्ध, और प्रगडिका के चक्रक के पश्च उपान्त के अस्थिभंग भी हुए हैं।

प्रथम प्रकार का भग्न अधिक होता है, उससे पश्च-अन्तरास्थि-(interosseous) तन्त्रिका क्षत हो सकती है जिसके साथ वहि प्रकोष्ठिका के शिर का विखडित अस्थिभंग भी हो सकता है या उसकी ग्रीवा का भग हो सकता है।

चिकित्सा—वालको मे सवृत पुन:स्थापन का उद्योग करना चाहिए और कूर्पर का आकुचन करके अग्र वाहु का पूर्ण उत्तानन की स्थिति मे अचलीकरण करना चाहिए। कभी कभी अचलीकरण कठिन होता है और अन्त.प्रकोष्ठिका के खडो के वीच कोण वन जाता (angulation) है।

वयस्को मे अन्त प्रकोष्ठिका का विवृत पुन स्थापन अन्तर्मज्जा कील द्वारा करना सर्वोत्तम चिकित्सा विधि है।

अन्त प्रकोष्ठिका का मध्य तृतीयांश या निम्न तृतीयांश

इस प्रकार का अस्थिभग अग्रवाहु पर साक्षात अभिघात से होता है। प्रायः उसके साथ वहि प्रकोष्ठिका का भी अस्थिभग होता है।

कूर्पर को 10 अश पर रखकर अग्रवाहु का अर्धविनत (midprone) स्थिति मे अचलीकरण करना चाहिए। अस्थिसयोजन मन्द हो सकता है और जवतक

एक्सरे द्वारा अस्थिसयोजन की दृढता का निश्चय न हो जाय तब तक अग्रबाहु का विवर्तन न होने दिया जाय।

अग्रबाहु की दोनों अस्थियों का अस्थिभग

सामान्यतया इन स्थितियो मे अस्थिभग होता है—बहि प्रकोष्ठिका के निम्न तृतीयाश और मध्य तृतीयाशो के सगम पर अस्थिभग के साथ अन्त-प्रकोष्ठास्थि के ऊर्ध्व और मध्य तृतीयाशो के सगम पर अस्थिभग; दोनो अस्थियो का मध्य तृतीयाश मे प्राय समान तल पर भग, बालकों मे निम्न या मध्य तृतीयाश मे नवशाखा (green stick)-अस्थिभग।

चिकित्सा

यथासभव अस्थिभग का सामान्य सवेदनाहरण मे सवृत पुनःस्थापन करना चाहिए। उसके पश्चात् अग को बाहु के मध्य से लेकर, करशास्थियो के शिरों तक, खडो का उत्तम स्थिति मे स्थापन करके अग्रबाहु को अर्धावनत रखकर
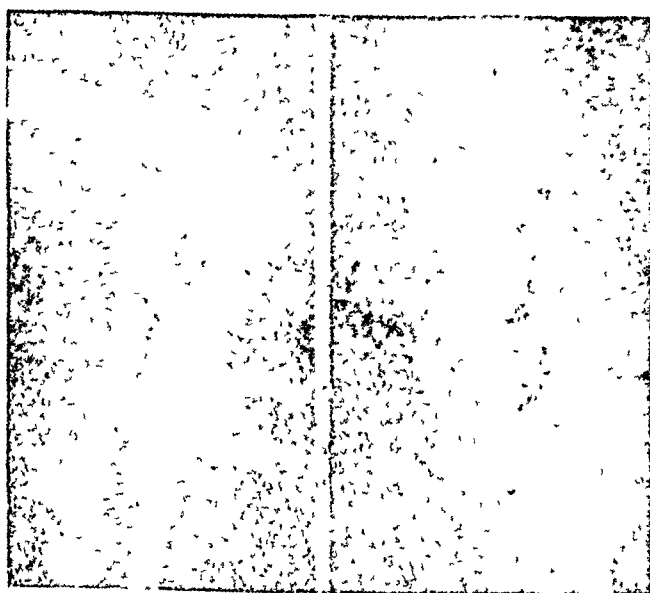
चित्र 168—अन्त प्रकोष्ठिका के ऊर्ध्व तृतीयाश का अस्थिभग जिसके साथ बहि प्रकोष्ठिका के शिर की अगसंधिच्युति भी हुई है।

अग का अचलीकरण करना उचित है। वहि प्रकोष्ठिका के पुन स्थापन पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है।

प्लास्तर की कास्ट मे कूर्पर को 110 अश के प्रसारण पर रखकर उसका अचलीकरण किया जाय। कूर्पर का आकुचन करने के प्रयत्न से अस्थिभंग की अस्थि पर खड मुड जाते हैं, यह ध्यान रखना चाहिए।

अग्रबाहु की दोनो अस्थियो के भग हो जाने पर चिकित्सा का प्रश्न वडा जटिल होता है; शस्त्रकर्म द्वारा प्लेट और पेचो से स्थिर करना आवश्यक हो सकता है। दोनों-वहि· और अन्त.-प्रकोष्ठास्थियो में अन्तर्मज्जी कील लगाकर अथवा स्वजातीय अस्थिनिरोप के पश्चात् 10-12 सप्ताह तक उनके प्लास्तर-कास्ट अचलीकरण से उत्तम परिणाम होते है।

उपद्रव—निम्न लिखित होते है।

अस्थिखडो का कुसयोजन (malunion) जिससे अग्रबाहु की विरूपता और उत्तानन तथा अवतानन गतियो का ह्रास हो जाता है। शस्त्रकर्म द्वारा पुन स्थापन आवश्यक होता है।

दोनो प्रकोष्ठास्थियो के खड एक-दूसरे के खडो से जुड सकते (पार-संयोजन cross-union) है।

खडो का असयोजन (non-union), विशेपतया अन्त.प्रकोष्ठास्थि के के निम्न तृतीयाश के भगो मे देखा गया है। इस कारण इन भगो मे अधिक समय तक अचलीकरण करना चाहिये, जव तक सयोजन का एक्सरे द्वारा और नैदानिक प्रमाण न मिल न जाय।

वौकमैन सकोच कसे हुए प्लास्तर से हो सकता है।

अवतानन और उत्तानन गतियों की पुन: प्राप्ति के लिए सक्रिय (स्वय रोगी द्वारा) गतिये, भौतिक चिकित्सा (physiotherapy) तथा व्यावसायिक चिकित्सा (occupational therapy) आदि आवश्यक हैं।

मणिवंध (wrist)

कोलीज अस्थिभंग (Kolles' fractnre)—यह अस्थिभग खुले हुए, पूर्णतया अवनत हाथ पर गिरने से अप्रत्यक्ष अभिघात के कारण मध्यवय वाले व्यक्तियों मे, वहुधा स्त्रियो मे, होता है। अस्थिभग संवृत होता है, अस्थिभगरेखा प्रायः अनुप्रस्थ होती है। वह प्राय. सदा ही अन्तर्घट्टित होता है, विखडित भी हो सकता है और निम्न लक्षण और चिह्न प्रकट होते हैं। वेदना, सूजन, स्पर्शासहता और विरूपता, जो विशेष प्रकार की होती है और डिनर-फौर्क विरूपता
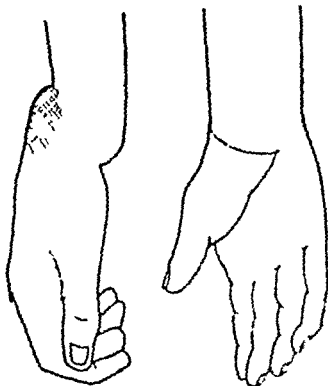
चित्र 169—कोलीज़ अस्थिभग में 'डिनर फोर्क' विरूपता ।

कही जाती है । निम्न अस्थिखड ऊपर को और पीछे को विस्थापित हो जाता है और बाहर को विवर्तित (rotated) या घूमा होता है (चित्र 170) । वहिर्विवर्तन से समपार्श्वी अन्त प्रकोष्ठिक स्नायु (ulnar collateral lig) खिचती है अथवा अन्तः प्रकोष्ठिका के शर-प्रवर्ध की नोक टूट जाती है । इस कारण वहि. और अन्त प्रकोष्ठास्थियो के शर-प्रवर्ध के सिरो की आपेक्षिक स्थिति बदल जाती है । ये दोनो एक ही तल मे स्थित होते हैं, अथवा वहि प्रकोष्ठिका के शर-प्रवर्ध का सिरा अन्तःप्रकोष्ठिका के शर-प्रवर्ध के सिरे से ऊँचा होता है । मणिवन्ध चौडा हो जाता है । अन्त प्रकोष्ठिका के सिर का प्रसामान्य उत्सेध जाता रहता है ।

चिकित्सा

प्रथम सहाय चिकित्सा मे कार (Carr's)-स्प्लिन्ट लगाकर स्लिग मे अग्र-बाहु को रखा जाता है । रोगी को तैयार करने के पश्चात् सामान्य सवेदना-हरण करके हाथ का कर्षण और मणिवध के थोडे से प्रसारण करने से निम्न खड विघट्टित (disimpacted) हो जाता है । फिर भी कर्षण जारी रखते हुए निम्नखड को अभिपृष्ठ ओर से दवा कर मणिवध का करतलकुचन (palmar flexion) किया जाता है (चित्र 171) । दवाव जारी रहता है और हाथ को अन्तःप्रकोष्ठिका की ओर झुका कर (ulnar deviation) रखने के साथ अग्रवाहु का अवतानन किया जाता है । दवाव जारी रखकर और उपर्युक्त क्रिया से पुन स्थापन के पश्चात्, अग्रवाहु के पश्च ओर, करभास्थियो के शिरो से लेकर कूर्पर के दो इन्च नीचे तक प्लास्तर का स्लेव (slab) लगाकर प्लास्तर को करभास्थियो पर और दूसरी करभास्थि के पार्श्व पृष्ठ पर से ढाल कर

करतल पर पहुँचा दिया जाता है'। दूसरा प्लास्तर स्लैव अग्रवाहु के अग्र पृष्ठ पर करतल के मध्य तक लगाते है और प्लास्तर की पट्टी लगाकर प्लास्तर को

चित्र 170—मान्य (classical) कौलीज अस्थिभग। वहि.प्रकोष्ठिका के अध-प्रान्त का अस्थिभग, अन्त:प्रकोष्ठिका के शरप्रवर्ध के अस्थिभग सहित।
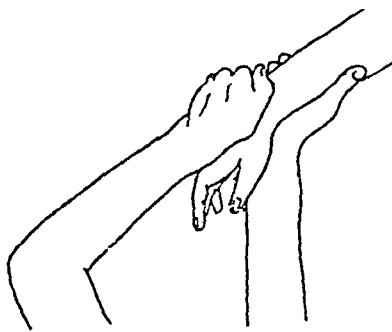
चित्र 171—कौलीज अस्थिभग मे पुन स्थापन के लिए अस्थिखंडो को कुछ समय तक दवाकर रखा जाता है जिससे उन पर दवाव वना रहे।

समाप्त कर देते है।

जव तक प्लास्तर कडा न हो जाय तव तक हाथ को अन्त प्रकोष्ठिका की ओर झुकाये रखना और अवतानन तथा कर्षण भी करते रहना अत्यन्त आवश्यक है। ऐसा न करने से खंडो का पुन. विस्थापन हो जायगा।

मणिवध को उदासीन या मध्य (अवतानन और उत्तानन के वीच) स्थिति

मे रखना चाहिए। किन्तु यदि पुन. विस्थापन की प्रवृत्ति हो तो आवश्यकतानुसार आकुचन करना आवश्यक है। एक्सरे द्वारा जाँच करने के दो-तीन सप्ताह पश्चात् तीव्र आकुचन को कम किया जा सकता है। दो मास मे पूर्ण कार्यक्षमता आ जाती है। चिकित्साकाल मे अगुलियो, अग्रबाहु, कूर्पर और स्कध, की सक्रिय गतियो को प्रोत्साहित किया जाता है।

यदि फिर से विस्थापन हो जाय तो कूर्पर को भी प्लास्तर के भीतर सम्मिलित कर लेने से उत्तम अचलीकरण हो जायगा।

यह स्मरण रखना चाहिए कि कौलीज अस्थिभग के साथ स्कध का भी आघात हो सकता है। अतएव स्कधसधि की ध्यानपूर्वक परीक्षा आवश्यक है।

उपद्रव

पुर्नविस्थापन हो सकता है जिससे कुसयोजन और वेदनायुक्त मणिबंध हो जाते है। युवावस्था मे शस्त्रकर्म द्वारा कुसयोजन को सुधारना आवश्यक हो सकता है। किन्तु वृद्धावस्था और अशक्तों मे भौतिक चिकित्सा और व्यावसायिक चिकित्सा द्वारा ही मणिबध और हाथ को कार्यक्षम बनाया जाता है।

निम्न-अन्तराप्रकोष्ठिक सधि ग्रस्त हो सकती है जिससे उत्तानन और अवतानन की गतियो का ह्रास हो सकता है।

बहिःप्रकोष्ठिका की ओर हाथ का विचलन (radial deviation) कौलीज अस्थिभग का दूसरा उपद्रव है। इस विरूपता मे अन्तःप्रकोष्ठिका का शिर बहुत प्रमुख दीखता है।

अभिघातोत्तर अस्थिदुष्पोषण (osteodystrophy) जिसको सूडेक अस्थिशोष (Sudeck's osteoporosis) भी कहते है, कभी-कभी इस आघात के पश्चात हो जाता है। वेदना बहुत होती है, त्वचा मे वाहिका-प्रेरक (vasomotor) परिवर्तन हो जाते है और एक्सरे द्वारा मणिबध-सधि के चारो ओर अस्थि-शोष दिखाई पड़ता है। विपर्यास स्नान (contrast baths), क्रमशः सक्रिय गतिया और बारम्बार नोवोकेन द्वारा तारकाकार गडिकारोध (stellate ganglion block) इसकी चिकित्सा है।

बहिःप्रकोष्ठिका के परिसरी अस्थिभग (marginal fracture) मे अस्थिखड के अनियमित किनारे से दीर्घ अगुष्ठा प्रसारिका (extensor pollicis longus) की कडरा का विदर (rupture) हो सकता है। कडरा के दूरस्थ-प्रान्त को तर्जनी प्रसारिका (extensor indicis) के अनुभाग (slip) से जोड़कर अगुष्ठ की क्रिया का पुनर्लाभ करना चाहिए।

मणिवंध सुरग (carpal tunnel) मे मध्यमा तत्रिका का सम्पीडन हो सकता है।

स्मिथ अस्थिभंग (Smith's facture)

यह कौलीज भग के विपरीत होता है और करपृष्ठ के वल गिरने से होता है जिससे मणिवध का तीव्र आकुचन हो जाता है। अन्त प्रकोष्ठिका का शिर और वहि प्रकष्ठिका के ऊर्ध्व-खड का निम्न प्रान्त, करपृष्ठ पर प्रतीत होते हैं।

अस्थिभग का मणिवंध की अस्थिच्युति से भेद करना आवश्यक होता है।

मणिवध का आकुचन करके अग्रवाहु को अवतानन की स्थिति मे रखकर अचलीकरण द्वारा चिकित्सा की जाती है।

शौफर अस्थिभंग और वहि प्रकोष्ठिका के शरप्रवर्ध का भंग

मोटरकार को चालू करते समय हैंडिल के पीछे मार देने (backfire) के कारण यह भग होता है। वह अनुप्रस्थ या विखडित हो सकता है और कौलीज भग के एक इच ऊपर होता है। सामने कोण वन जाता है (angulation) और मृदु ऊतको को प्रत्यक्ष अभिघात के कारण तीव्र क्षति पहुच सकती है।

ऐसे भगो मे, कूर्पर को समकोण पर आकुचित करके अग्रवाहु को मध्य-अवतानन (midpronation) की स्थिति मे रखकर मणिवध का अचलीकरण किया जाता है।

वहि:प्रकोष्ठिका के अधिवर्ध का पृथक् होना (seperation of radial epiphyses)

यह असाधारण है। अस्थिभगरेखा अनुप्रस्थ होती है और कौलीज़ भग के समान दीखती है। वहि प्रकोष्ठिा के निम्न खड की अधिवर्धरेखा मणिवधसधि के वाहर होती है। इसकी चिकित्सा के उत्तम परिणाम होते है। विरल वार, इस आघात से वहि प्रकोष्ठिका की वृद्धि रुक जाती है और अन्त प्रकोष्ठिका की अधिक वृद्धि से मणिवध वाहर को ओर हट जाता है जिससे माडेलुग विरूपता (Madelung's deformity) उत्पन्न हो जाती है।

मणिवध की नौकाभ (scaphoid)अस्थि

फैले हुए हाथ के वल गिरने से यह अस्थिभग होता है। नौकाभ अस्थि पर रचनात्मक नस्यमजूषा (anatomical snuffbox) मे वेदना, स्पर्शासहता और

सूजन होते है। मणिबध के प्रसारण मे कठिनाई होती है। दोनो प्रकोष्ठास्थियों के शरप्रवर्धो के सिरे अपने स्थानों पर रहते है। एक्सरे चित्र द्वारा निदान का निश्चय किया जाता है। अग्र-पश्च, पार्श्व तथा तिर्यक, तीनो दिशाओं मे चित्र लेने चाहिएँ (चित्र 172)
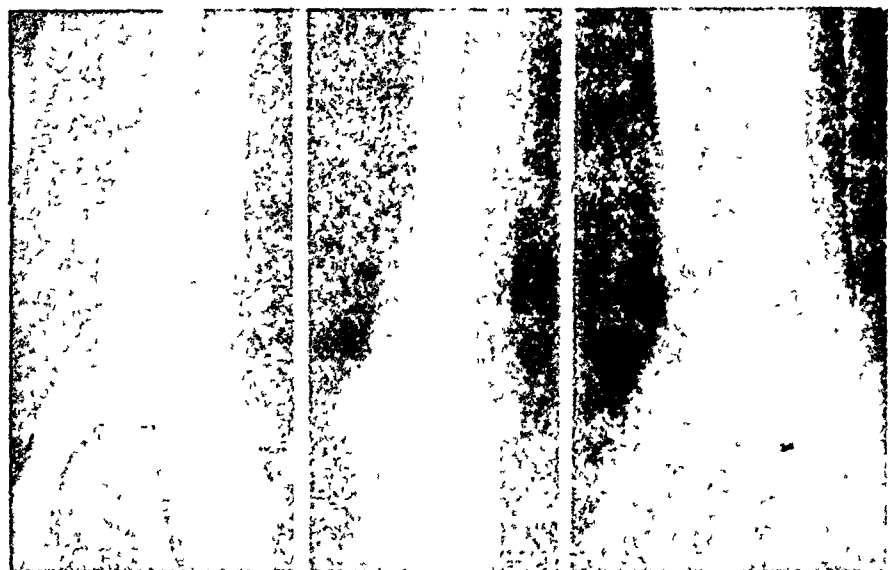
चित्र 172—मणिबध का एक जटिल अस्थिभग जिसको नौकाभ-पार (transcaphoid) कहा जाता है।

चिकित्सा—हाथ का 15 अश का पृष्ठाकुचन और अगुष्ठ का व्यावर्तन (opposition) करके, जैसे वह पानी के गिलास को पकडने के समय रहता है, अचलीकरण करना योग्य है। प्लास्तर बहि॑प्रकोष्ठिकागुलिका से लेकर करपृष्ठ पर करभास्थियो के शिरो तक और करतल की दूरस्थ (distal) अनुप्रस्थ वलि (crease) तक लगाना चाहिए। अगूटे मे प्लास्तर करभ-अगुलि (meta-carpophalangeal)-सधि को ढकने के पश्चात् प्रथम अतरागुलि (interphalangeal)-सधि तक लगाया जाय।

हाथ

करभास्थियाँ (metacorpal bones)

करभास्थियो के अस्थिभग प्रत्यक्ष आघात से होते है ; जिनमे दूसरी,

तीसरी, चोथी और पॉचवी करभास्थियो के कॉडग्रस्त होते है । वेदना, स्थानिक स्पर्शासहता, सूजन तथा हाथ के प्रयोग की अशक्तता, मुख्य लक्षण है । अगुलियों को खीचने या अस्थियो के शिरो को दवाने से वेदना होती है। निदान का एक्सरे द्वारा निश्चय किया जाता है । हथेली में रुई की गेद रखकर या कौकअप प्लास्तर स्प्लिन्ट (cockup plaster splint) द्वारा अचलीकरण किया जाता है । अगुलियों को शीघ्र ही चलाना प्रारम्भ करना उचित है ।

प्रथम करभास्थि के आधार का अस्थिभंग (बेनेट अस्थिभंग)

वैनेट अस्थिभंग सीधे अंगुष्ठ पर आघात लगने से होता है और वौक्सिग करने वालों मे पाया जाता है । प्राय. मणिवध-करभास्थि-सधि की च्युति होती है । करतल पर स्प्लिन्ट लगाकर अथवा हस्तकौशल के पश्चात् प्लास्तर लगाकर उसकी चिकित्सा की जाती है ।

अगुल्यस्थियां

' प्रथम करभास्थि मे प्राय. प्रत्यक्ष आघात से अस्थिकाड का भग होता है । करतल पर स्प्लिट या हस्तकौशल के पश्चात् प्लास्तर, लगाकर इसकी चिकित्सा की जाती है ।

अंगुल्यस्थियों के आधार

दूरस्थ अथवा अतिम अगुल्यस्थि का उसके सिरे पर प्रत्यक्ष आघात से अस्थिभग होता है, जैसे क्रिकेट की गेद पकड़ने मे । हस्त-व्यापार से पुन: स्थापन के पश्चात् एल्यूमिनियम स्प्लिन्ट या प्लास्तरकास्ट मे दो-तीन सप्ताह तक अगुली रखी जाती है ।

उत्तम प्रकार से ढाली हुई कास्ट के प्रयोग से, जो अतिम अंगुल्यस्थि को अतिप्रसारित (hyperextended) और प्रथम अन्तरागुलि (inter-phalan geal)-सधि को 60 अश के आकुचन की स्थिति मे रखे संतोपजनक परिणाम होते है । उच्छेदन और स्नायुओ के सुधार की आवश्यकता विरल होती है ।

अधः शाखा के अस्थिभग

श्रोणि (pelvis)

वास्तविक श्रोणि (true pelvis) अथवा श्रोणि की किसी भी अस्थि का

भग हो मकता है ।

वास्तविक श्रोणि का अस्थिभग तीव्र कुचलने (crushing) वाले आघात से होता है । वह श्रोणि के तिर्यक व्यास में हो सकता है, अर्थात्, एक ओर के गवाक्ष रन्ध्र द्वारा, जिसमे दूसरे ओर की त्रिक-श्रोणिफलक (sacro-iliac)-सधि पृथक् हो जाती है, अथवा अस्थिभग उस ही ओर हो जिस ओर सधि पृथक् हुई है ।

लक्षण और चिह्न—रोगी स्तब्धता की दशा में होता है । हिलाने से उसको वेदना होती है । आघात के स्थानिक चिह्न, नील-लाछन, स्पर्शासिहता, हिलाने से वेदना-वृद्धि आदि, उपस्थित होते हैं । श्रोणिगत आशय भी बहुत बार क्षत हो जाते है । अगुलि परीक्षा द्वारा मलाशय के विदर का व्यतिकरण (exclusion) आवश्यक है (देखो, अध्याय 14, पुरुष जननपथ) । मूत्राशय का
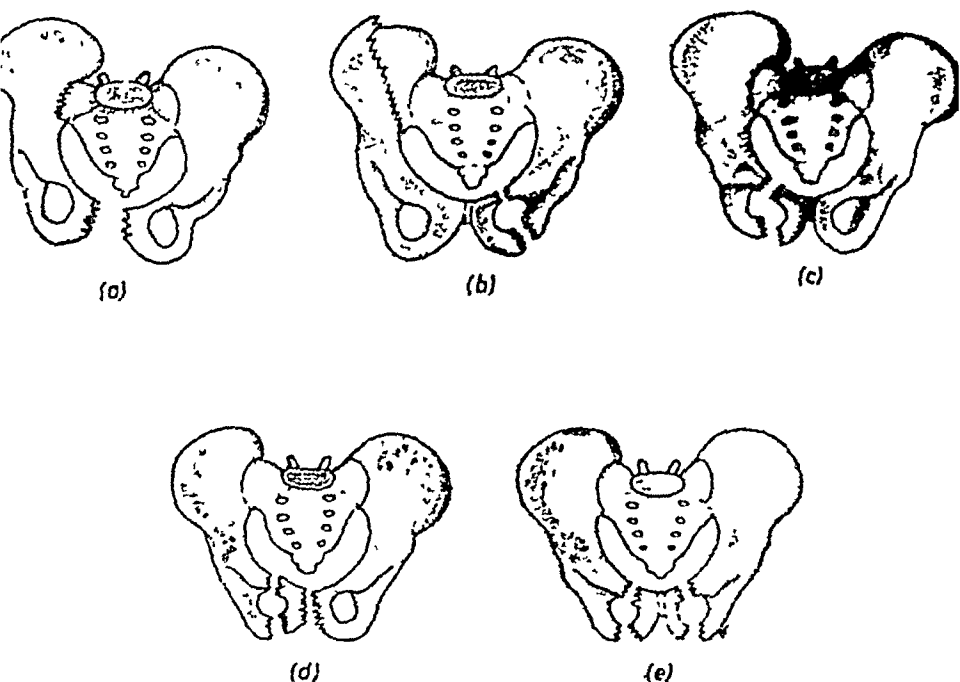
चित्र 173—श्रोणि के अस्थिभंग . (a) तिर्यक व्यास अस्थिभंग जिसमे जघन-सधानिका भी ग्रस्त है ; (b) तिर्यक व्यास अस्थिभग ; (c) एक ही ओर दो स्थानों (places) मे अस्थिभग ; (d) जघन तथा जघन-सधानिका दोनो के अस्थिभंग ; (e) दोनो ओर की जघन-अस्थियो के अस्थिभग ।

भी विदर हो सकता है (देखो, अध्याय 13, मूत्रपथ)।

चिकित्सा—पूर्ण शैयाविश्राम आवश्यक है। मूत्राशय विदर का सन्देह होने पर रोगी को मूत्रत्याग से रोक देना चाहिए। श्रोणि-आघात की चिकित्सा से पूर्व मूत्रमार्ग-विदर की चिकित्सा आवश्यक है। श्रोणि के अस्थिभग की चिकित्सा श्रोणि पर पट्टी लपेट कर दोनो ओर 'वालुका थैलिया' (sand bags) लगाकर की जाती है। यदि आवश्यक हो तो पट्टी पर प्लास्तर की कास्ट भी लगाई जा सकती है। प्राय. ये अस्थिभग भलीभांति जुड जाते है और तीन मास पश्चात् शनै-शनै उन पर भार डालना प्रारम्भ किया जा सकता है। श्रोणि के अस्थिभगो मे विस्थापन दूर करने के लिए (पुन स्थापन) श्रोणि-लटकन (pelvic slıng) या स्लिग का प्रयोग किया जा सकता है। जघन-सधानिका (symphysis pubis) के पृथक् होने पर प्लास्तर स्वस्तिका (plaster spıca) लगाना आवश्यक है।

अस्थियां

श्रोणिफलक (ilium)—शिखा (crets) अथवा फलक या पक्ष (ala), किसी का भी प्रत्यक्ष आघात से अस्थिभग हो सकता है। कोई विस्थापन नही होता। शैया विश्राम तथा श्रोणि पर आसजी प्लास्तर 8 सप्ताह तक लगाकर रखना पर्याप्त है।

कभी-कभी अग्रोर्ध्व श्रोणिफलक कटक (ant. sup ılıac spıne) दीर्घतमा (sartorious) पेशी द्वारा खिचकर पृथक् हो जाता है। ऊरु का आकुचन करके केवल आसजी प्लास्तर का प्रयोग पर्याप्त है।

जघनास्थि (pubic bone)—इस अस्थि का स्वत या अन्य अस्थियो के साथ, अस्थिभग हो सकता है। कभी-कभी प्लास्तर द्वारा अचलीकरण आवश्यक हो सकता है।

त्रिकास्थि (sacrum)—त्रिकास्थि का अस्थिभंग तीव्र प्रत्यक्ष अभिघात के कारण हो सकता है और साथ ही त्रिक नाड़िया भी क्षत हो सकती है जिससे मूलाधार (perineum) सवेदनाहीन हो जाता है। अस्थिखडो के विशेप विस्थापन पर मलाशय स्थित अगुलि द्वारा उनका पुन स्थापन आवश्यक हो सकता है।

अनुत्रिकास्थि (coccyx)—अनुत्रिकास्थि का अस्थिभग नितबो के बल गिरने अथवा प्रसव से हो सकता है। बैठने मे कठिनाई तथा मलत्याग या चलने मे वेदना होती है। स्पर्शासहता और विरूपता के अतिरिक्त मलाशय

द्वारा विस्थापित अनुत्रिकास्थि को प्रतीत किया जाता है। तीव्र अवस्था में शैया-विश्राम चिकित्सा है। मलाशय मे अंगुलि प्रविष्ट करके उसका पुनःस्थापन किया जाता है। तीन-चार सप्ताह मे लक्षण जाते रहते है। वेदना बनी रहने पर 1 प्रतिशत प्रोकेन विलयन का अन्तःसचरण लाभदायक होता है। कभी-कभी कई मास पश्चात् अनुत्रिकास्थि मे वेदना फिर से होने लगती है, (coccydynia)। प्रोकेन के स्थानिक इंजैक्शनो द्वारा सरक्षी चिकित्सा की जाती है। अनुत्रिकोच्छेदन का परामर्श नही दिया जाता।
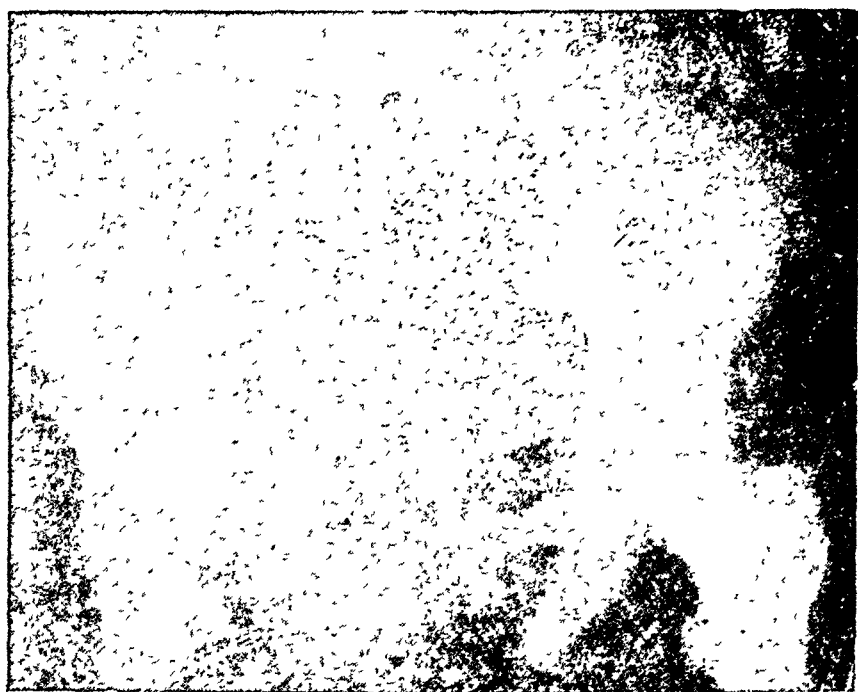
चित्र 174—श्रोणि के बहुल अस्थिभग; नितम्ब के मध्य की ओर सधिच्युतिसहित।

उलूखल (acetabulum)

इसमे दो प्रकार के अस्थिभग होते है : नितब सधि की पश्च संधिच्युति के साथ उलूखल के पश्च ओष्ठ या परिसर का अस्थिभग ; और रोगी के नितब के बल गिरने मे मुख्य उलूखल का अस्थिभग। गिरने की तीव्रता मे उलूखल के तल (floor) के अस्थिभग के साथ ऊर्वस्थि के सिर की पश्च सधिच्युति भी हो सकती है (चित्र 174)। उलूखल के तल की असमानता जानने के लिए सदा

मलाशयपरीक्षा करनी चाहिए।

चिकित्सा—दीर्घ अक्षीय अस्थि कर्षण (long axis skeletal traction), हस्तकौशल (manipulation), और प्लास्तर-अचलीकरण द्वारा चिकित्सा की जाती है।

उर्वस्थि की ग्रीवा

ये आघात सभी वयो के व्यक्तियो मे हो सकते है, किन्तु वृद्धावस्था मे अधिक होते है (चित्र 175)।

वर्गीकरण—ऊर्वस्थि की ग्रीवा मे निम्न अपवर्तन (abduction) और अभिवर्तन (adduction) अस्थिभग होते है (चित्र 176)।
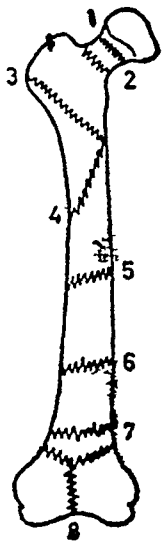
चित्र 175. ऊर्विका के अस्थि-भग . (1) ग्रीवा का अवशीर्ष (subcapital) अस्थिभग, (2) ऊर्विका का अस्थिभग—आधारी, (3) शिखर—कपार, (pertrochanteric) अस्थिभग, (4) प्रकाड के ऊर्ध्व तृतीयाश का सर्पिल अस्थिभग, (5) प्रकाड का अनुप्रस्थ अस्थिभग, (6) काड के निम्नतृतीयाश का अस्थिभग, (7) अधिस्थलक अस्थिभंग, (8) अन्तराशिखरक T-आकार का अस्थिभंग, जिसमे जानुसधि भी ग्रस्त है।

ऊर्वस्थि की ग्रीवा के अपवर्तन अस्थिभंग (abduction fractures)

ये वृहत् शिखरक पर गिरने से और प्राय. अन्तर्घट्टित होते है ; अन्तर्घट्टन दृढ हो या अदृढ। अन्तर्घट्टित अस्थिभगो की चिकित्सा प्लास्तर-अचलीकरण से की जाती है। अल्प वय वालो मे और यदि अन्तर्घट्टन दृढ न हो, तो कितने ही विद्वान् आभ्यन्तर स्थिरीकरण (internal fixation) उत्तम समझते है।

ऊर्वस्थि की ग्रीवा के अभिवर्तन अस्थिभंग (adduction)—अभिमध्य, अध.शिर (subcapital); अथवा पार्श्व, पारग्रीवा (transcevical) और

आधारी (basal) हो सकते है ।

पौवेल (pauwel) का वर्गीकरण

अस्थिभंगरेखा की तिर्यकता के कारण कभी-कभी यह निश्चय करना कि अस्थिभग अभिमध्य है या पार्श्व असम्भव हो जाता है । इस कारण पौवेल ने
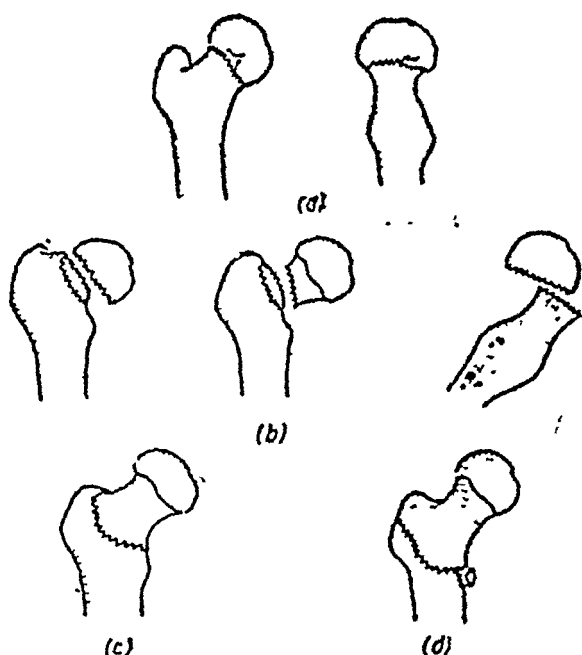
चित्र 176—ऊर्विका के अस्थिभग, (a) अपावर्तन, (b) अभिवर्तन, (c) अन्तराशिखरक और (d) शिखरकपार ।

अस्थिभगरेखा क्षैतिज रेखा के साथ जो कोण बनाती है उसी कोण के अनुसार इन अस्थिभगो का वर्गीकरण किया है तथा भजक बल (shearing force) और गुरुत्व (gravity) की धारणा (concept) का प्रतिपादन करने का भी उद्योग किया है, जो सयोजन मे सहायक या बाधक हो सकते है ।

पौवेल ने अस्थिभगरेखा और क्षैतिज रेखा के बीच के कोण को तीन सवर्गो (category) मे बाटा है—20 से कम अश के कोण, 30-70 अंश के कोण और 70 से अधिक अश के कोण । (चित्र स० 177)

प्रथम सवर्ग मे अपवर्तन अन्तर्घट्टित बहिर्नत प्रकार के अस्थिभग (abduction impacted valgus type fracture) है और दूसरे और तीसरे

संवर्गों में अभिवर्तन अस्थिभग है। प्रथम सवर्ग मे वृहत् कटिलम्वनी पेशी का खिंचाव (pull) अन्तर्घट्टन मे सहायता करता है और यदि गुरुत्व के विघट्टन-कारी वल (dısımpactıng force) का निराकरण किया जा सके तो संतोष-जनक सयोजन अवश्य होगा।
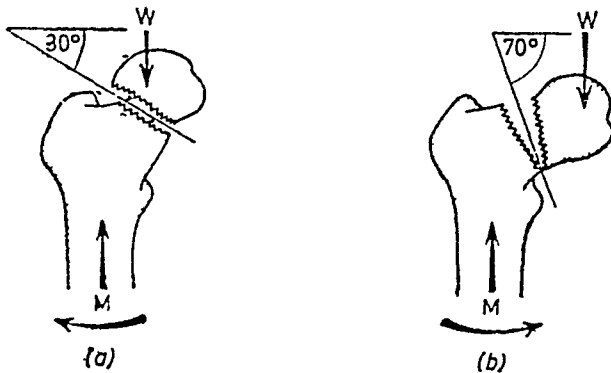
चित्र 177—ऊर्विका की ग्रीवा के अस्थिभगो का पौवेल (Pouwel) का वर्गीकरण, (a) अपावर्तन अस्थिभग ; अन्तर्घट्टन की प्रवृत्ति (b) अभिवर्तन अस्थिभग—कर्तनभार (shearing straın), अस्थिभग रेखा की तिर्यक्ता (oblıquıty) नोट करो।

दूसरे और तीसरे सवर्गो में गुरुत्व और पेशीआकर्ष के विरोधी वल खडो को पृथक् करने मे सहायक होते हैं जिसका परिणाम अस्थिभग मे (खडो का) असयोजन होता है।

चिकित्सा—ऊर्वस्थि की ग्रीवा के अस्थिभगो की सर्वोत्तम चिकित्साविधि आभ्यन्तर स्थिरीकरण (internal fixatıon) है। उनकी चिकित्सा सतत कर्षण (contınous tractıon) से या व्हिटमैन (Whıtman's plaster) प्रकार के प्लास्तर से अचलीकरण से भी की जा सकती है।

आभ्यन्तर स्थिरीकरण स्मिथ-पिटर्सन कील (Smıth Petersen naıl) अथवा उसके किसी रूपांतर द्वारा किया जाता है। इस कील मे तीन ओर से फलक निकले रहते है जो कील के शिर तक जाते है और शिर को घूमने नही देते। अभ्यन्तर स्थिरीकरण के पूर्व सतत कर्षण द्वारा अस्थिखडो के ठीक-ठीक सम्यक् पुन स्थापन का निश्चय कर लेना चाहिए, ऊर्ध्वाधर (vertical) अस्थिभगरेखा को क्षैतिज (horızontal) रेखा वना देना उपयुक्त है जिससे दूरस्थ अस्थिखड से शिर अपेक्षत: वहिर्नत (valgus posıtıon) स्थिति मे

आ जाय और खंड अन्तर्घट्टित हो जायें। यह सामान्य संवेदनाहरण में विकलांग मेज (orthopaedic table) पर ही करना उत्तम है। अग्र-पश्च और पार्श्व दिशाओं में लिए हुए ऐक्सरे चित्रों द्वारा पूर्ण पुनःस्थापन का निश्चय कर लेना अनिवार्य है। कील को प्रविष्ट करने से पूर्व एक मार्ग-दर्शक (guide) तार को भीतर डाला जाता है और उसकी स्थिति का ऐक्सरे द्वारा निश्चय कर लिया जाता है। तब एक कील, जिसके मध्य में समस्त लम्बाई में एक छेद (केन्यूला की भांति) होता है, उस तारपर पहिनाकर उपयुक्त स्थिति में अस्थि में प्रविष्ट की जाती है। कील का आदर्श स्थिति में स्थापन निम्न बातों से जाना जाता है कील अस्थिखंडों को दृढ़ता से पकड़ ले; अस्थिभंग का आदर्श पुन.स्थापन, खंडो का अन्तर्घट्टन और पिन का और्वी अस्थिपट्टिका (calcar femorale) के सम्पर्क में रहना।

क्षतोपजनक चिकित्सा के पश्चात् शीघ्र ही रोगी को चलना-फिरना आरंभ करवाया जाता है।

ऊर्ध्वस्थि की ग्रीवा के भंगों के उपद्रव

शिर का रक्तवाहिकाहीन परिगलन (avascular necrosis of head)

शिर में रक्त मुख्यतया अभिमध्य और्वी परिवेष्टक धमनी (medial femoral circumflex art.) की पश्चोर्ध्व(posterosuperior) और पश्च-अध. (posterior-inferior) शाखाओं से पहुंचता है। ये प्राय अस्थिभंगजनक अभिघात से फट जाती हैं जिससे यह प्रमुख उपद्रव उत्पन्न होता है। ऐक्सरे में यह उपद्रव पास के क्षेत्र की रचना की अपेक्षा शिर की बढ़ी हुई घनता (density) से मालूम होता है। ज्यों-ज्यों दशा बढ़ती है घनता बढ़ती चली जाती है और बड़ी-बड़ी अवोपास्थि-पुटियों (subchondral cysts) के बन जाने के कारण शिर के टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं। कितने ही रोगियों में अस्थिभंग नहीं जुड़ता और दशा के बहुत बढ़ जाने पर ग्रीवा का पूर्ण अवशोषण हो जाता है और एक छोटा काठिन्यकृत (sclerosed) शिर रह जाता है; इस सब का एक अन्तिम परिणाम अस्थिर नितंबसंधि होता है।

असंयोजन (non-union)

अस्थिभंग के अपर्याप्त और अनुचित अचलीकरण का परिणाम यह उपद्रव होता है। कभी-कभी यह कील लगाने से भी हो जाता है।

नितंब का अस्थिसंधिशोथ (osteoarthritis)

अनेक रोगियो मे, उत्तम विरोहण होने पर भी सधि मे परिवर्तन हो जाते है जिनसे सधि मे वेदना होती रहती है ।

चिकित्सा—अस्थिभग के असयोजन की सर्वोत्तम चिकित्सा, जव शिर जीवित रहने योग्य हो, मैकमरे-अस्थिछेदन(McMurry osteotomy) द्वारा है, जो अन्तराशिखरक विकर्मक अस्थिछेदन (ıntetrochanteric defunctionıng osteotomy) है, अथवा अस्थिनिरोपण से की जाती है ।

रक्तहीनताजन्य परिगलन की चिकित्सा इस पर निर्भर करती है कि ऊर्वस्थि के शिर को कितनी क्षति पहुच चुकी है । यदि साथ मे असयोजन भी है तो एक एक्रिलिक या स्टेनलेस स्टील के प्रोस्थीसिस(ऊर्वस्थि शिर) से प्रतिस्थापन-सधिसंधान (replecement arthroplasty) उपयुक्त रोगियों मे किया जा सकता है ।

ऊर्वस्थिका पारशिखरक अस्थिभंग (pertrochanteric fracture of the femur)

पारशिखरक अथवा अन्तराशिखरक अस्थिभग ऊर्वस्थि के उर्ध्व प्रान्त का अस्थिभग है जो शिखरको के क्षेत्र मे होता है । ग्रीवा के भंगो की अपेक्षा ये और भी अधिक वृद्धावस्था वाले व्यक्तियो मे होते हैं । अस्थिभगरेखा तिर्यक होती है जो शिखरक खात (trochanteric fossa) से लघु शिखरक के ऊपर या नीचे काड तक चली जाती है । कितनो ही मे लघु शिखरक अपदारित (avulsed) होकर एव पृथक् अस्थिखड के समान पडा रहता है । आघात शिखरक पर गिरने से होता है । स्थानिक नील-लाछन, अति वाह्यविवर्तन, स्पर्शासहता और वृहद शिखरक के क्षेत्र मे उभार, नैदानिक लक्षण है । इस अस्थिभग के परिणाम-रूप नितव अन्तर्नत (coxavara) हो जाता है तथा विशेष लघुता (shortenıng) उपस्थित हो सकती है ।

चिकित्सा—स्मिथपिटर्सन कीलद्वारा खडो का अचलीकरण किया जाता है तथा ऊर्वस्थि काड के साथ एक प्लेट द्वारा जोड भी दिया जाता है । सतत कर्षण भी, चिकित्सा की एक प्रमुख और उपयोगी विधि है । अतर्जंघिका की गुलिका प्रदेश द्वारा एक पिन डालकर उसके द्वारा अस्थिकर्षण किया जाता है और अग को ब्रौन स्प्लिन्ट के वूलर (Bohler) रूपान्तर मे रखा जाता है ।

ऊर्वस्थि का कांड (shaft of the femur)

इनको ऊर्ध्व तृतीयाश (अवशिखरक, subtrochanterıc), मध्य तृतीयाश

और अध तृतीयाश (अधिस्थूलक, supracondylar) के अस्थिभगों तथा बालकों मे अभिवर्ध के पृथक् होने मे वर्गीकृत किया जा सकता है। अस्थिभग-रेखा अनुप्रस्थ तिर्यक या सर्पिल हो सकती है। अस्थिभग विखंडित हो सकता है।

अवशिखरक भगो में बृहत कटि लम्बनिका (psoas major) पेशी की अविरोधित क्रिया ऊर्ध्व खड का आकुचन, अपावर्तन (flexion) और बाह्य विवर्तन (external rotation) या घूर्णन कर देती है, और बृहत् अभिवर्तिका (adductor magnus) तथा अन्य अभिवर्तिकायें दूरस्थ (निम्न) खड को अभिमध्य ओर खीचती है। ऊर्ध्व खड का नियत्रण कठिन होता है; इस कारण चिकित्साकाल मे पूर्ण सावधान न होने से कुसयोजन परिणाम हो सकता है।

मध्यतृतीयाश के अस्थिभग प्राय. अनुप्रस्थ या तिर्यक होते है। साधारणतया पेशियों के अनुदैर्घ्य दिशा में खिचाव से खड एक दूसरे पर चढ जाते हैं (overriding) किन्तु कोणीय विरूपता बहुत कम होती है।

अधिस्थूलक अस्थिभगो मे जघापिण्डिका (gastrocnemius) की क्रिया से दूरस्थ (निम्न) खड आकुचित हो जाता है। निम्नखंड की तीव्र ऊर्ध्व धारा से जानुपृष्ठ-धमनी क्षत हो सकती है और निकटस्थ (ऊर्ध्व) खंड चतुःशिरस्का (quadriceps) को वेध हो सकता है।

सामान्यतया काड के अस्थिभगो का उत्तम सयोजन हो जाता है। अनुपयुक्त चिकित्सा से पेशियो के प्रबल खिचाव के कारण कोणीय विरूपता या लघुता हो सकती है।

चिकित्सा—निम्नलिखित विधियो से चिकित्सा की जाती है; प्रत्येक विधि का अपना-अपना विशेष लाभ है।
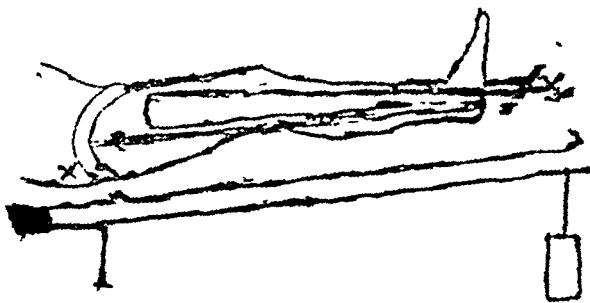
चित्र 178—टोमस जानु स्प्लिन्ट द्वारा त्वचा-कर्षण। शैया का पायता 12 इच लकड़ी के एक ब्लाक पर उठा दिया गया है, सिरहाना नीचा है जिससे शरीर के भार द्वारा प्रतिकर्षण (countertraction) होता रहे।

स्थिर कर्षण (fixed traction) (चित्र स० 178) का अस्थि अथवा त्वचा-कर्षण के साथ टोमस स्प्लिन्ट मे उपयोग किया जा सकता है। टोमस स्प्लिन्ट के ऊपर के घेरे के द्वारा, जो आसनगुलिका (ischial tuberosity) पर दवा रहता है, प्रतिकर्षण (countertraction) हो जाता है। जानु के नीचे एक गद्दी लगाने से ऊर्वस्थि के काड की अग्रवक्रता वनी रहती है। सामान्य सवेदनाहरण करके हस्त-कौशल द्वारा अस्थिभग का पुन. स्थापन करने के पश्चात् अंग का स्प्लिन्ट मे अचलीकरण किया जाता है। यह विधि वालको मे त्वचा-कर्षण के समय विशेष उपयोगी है। कर्षण के वल को, प्रतिदिन रस्सी को ढीला करने या खीचने से, आवश्यकतानुसार घटाया वढ़ाया जा सकता है।

उपयुक्त संतत कर्षण (continuous traction) के लिए जानु के आकुचन के हेतु वोलर-व्रोन स्प्लिन्ट (चित्र 179) अथवा टोमास स्प्लिन्ट जिसमें पिटर्सन फ्रेम (चित्र 180) लगा हो, प्रयोग किया जा सकता है। सतत संतुलित कर्षण (चित्र 181) से अत्यनुत्तम सरेखण प्राप्त किया और वनाये रखा जा सकता है।
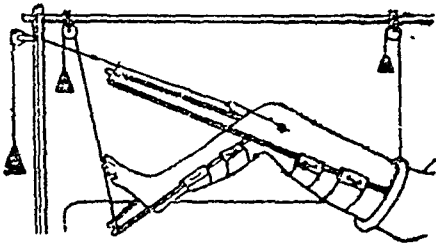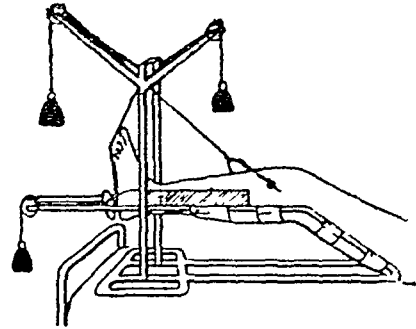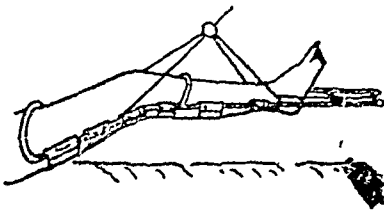
चित्र 179—ऊर्विका के कांड के अस्थिभग; (a) टोमस के जानु-स्प्लिन्ट से, जिसमें जानुधारक अश (kneecage) लगा है, स्थूलकों द्वारा अस्थिकर्षण (skeletal traction); (b) हौजिन स्प्लिन्ट का प्रयोग (c) व्रौन स्प्लिन्ट से, अन्तर्जंघिका के गंडकों द्वारा अस्थिकर्षण, कांड के निम्न तृतीयांश के अस्थिभंग में।
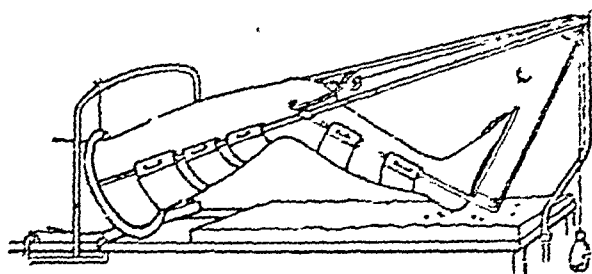
चित्र 180—पिअर्सन रूपांतर (modification) लगे हुए टोमस स्प्लिन्ट द्वारा अस्थिकर्षण।
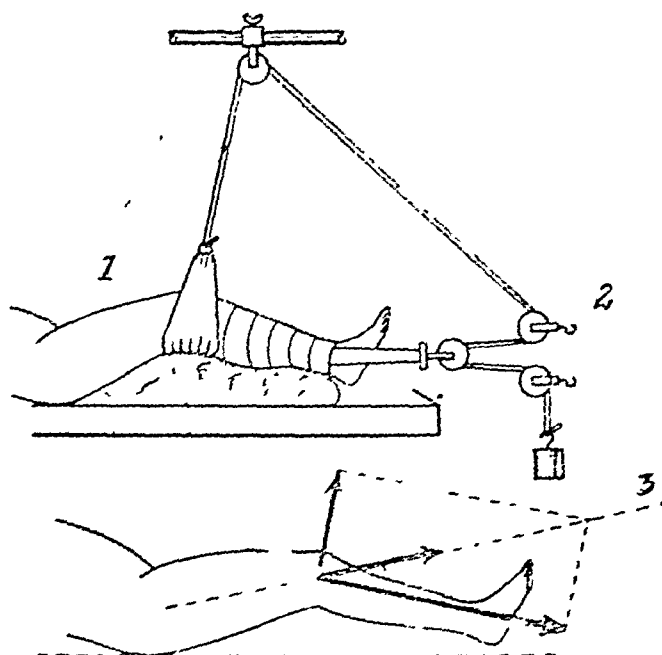
चित्र 181—सन्तुलित कर्षण (balanced traction) की विधि; दो घिरनियों के प्रयोग द्वारा। स्प्लिन्टों की अनुपस्थिति से रोगी की शुश्रूषा सन्तोषजनक होती है।

बालकों में सामान्य संवेदनाहरण करके हस्तकौशल से अस्थिभंग का पुनःस्थापन करने के पश्चात् पेरिस प्लास्टर द्वारा अचलीकरण अत्युत्तम विधि है, या तो प्रारम्भिक चिकित्सा के रूप में या तीन-चार सप्ताह तक स्थिर या संतत कर्षण करने के पश्चात् इसका प्रयोग किया जा सकता है।

विवृत (open) पुन.स्थापन और आम्यन्तर स्थिरीकरण वयस्को में ऊर्ध्व तृतीयांश के अस्थिभंगों की चिकित्सा की सर्वोत्तम विधि है। कुशर (Kuntscher) अन्तरामज्जा-कील (intermedullary nail) अथवा उसका कोई रूपान्तर प्रयोग किया जा सकता है। खंडो को स्थिर करने की पश्चात् रोगी को शीघ्र ही चलाना चाहिए तथा नितव और जानु के व्यायाम कराने प्रारम्भ कर देने चाहियें।

वालको मे उनकी आयु के अनुसार चिकित्साविधि का प्रयोग किया जाता है। वहुत छोटे वच्चो मे व्रायन्ट (Bryant) की कर्पणविधि का प्रयोग किया गया है। इसमे शैया के ऊपर लगे हुए फ्रेम से दोनों अधरागो को लटकाकर इतना ऊर्ध्वाधर कर्पण किया जाता है कि श्रोणि शैया से तनिक उठी रहती है। प्रतिकर्पण (countertraction) स्वय शरीर के भार द्वारा होता है। अधिकतर रोगियों मे अस्थिखडो का प्रसामान्य सरेखण प्राप्त हो जाता है और तीन या चार सप्ताह के पश्चात् पैरिस प्लास्तर से अचलीकरण किया जा सकता है; जव तक सपिडन (consolidation) न हो जाय तव तक उसको लगाये रखा जाता है। अधिक वय वाले वालको मे टोमस स्प्लिन्ट द्वारा स्थिर कर्पण किया जा सकता है।

सामान्य सवेदनाहरण करने के पश्चात् पुन स्थापन करके नाभि से पांव तक प्लास्तर अचलीकरण किया जाता है तथा दूसरी (स्वस्थ) ओर के ऊरके ऊर्ध्व तृतीयाग को भी प्लास्तर मे ले लेते है; इसके सतोपजनक परिणाम होते है।

अधिस्थूलक अस्थिभंग (supracondylar fractures)

अधिस्थूलक अस्थिभगो (चित्र 175, 183) की चिकित्सा वूलर-वौन स्प्लिंट मे अन्तर्जघिका गुलिका द्वारा अस्थि कर्पण करके की जाती है। विवृत पुन स्थापन और प्लेट या कील द्वारा स्थिरीकरण के वहुत सतोपजनक परिणाम हुए है।

अनेकवार जानुसधि कडी हो जाती है, इस कारण उसकी कार्यक्षमता की पुन. प्राप्ति के सवध मे अपना सतर्क मत प्रकट करना चाहिए।

निम्न अधिवर्ध (epiphysis) का पृथक् होना

यह वालको मे होने वाला विरल आघात है; वहुधा उसके साथ जानुपृष्ठ-

वाहिकाओ (popliteal vessels) और पार्श्व जानुपृष्ठतंत्रिका (lateral popliteal nerve) को क्षति पहुच जाती है।
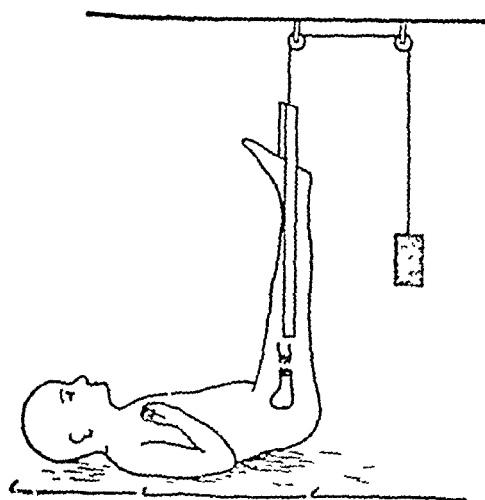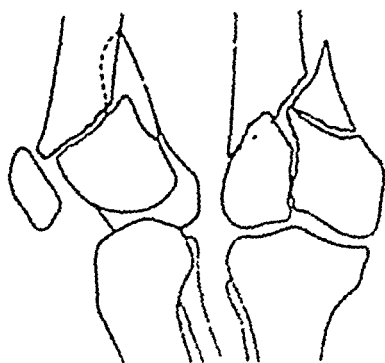
चित्र 182 चित्र 183

चित्र—182 वालकों के ऊर्विका कांड के अस्थिभगो की चिकित्सा के लिए ब्रायन्ट कर्षण (Bryant's traction) विधि : नितम्बो को जिस प्रकार शैया से उठाया गया है वह नोट करने योग्य है

चित्र 183—ऊर्विका के निम्न प्रान्त के अन्तरास्थूलक तथा अधि-स्थूलक अस्थिभग।

चिकित्सा—कर्षण और पुन.स्थापन यथासभव शीघ्र होने चाहिये जिसमे कोथ (gangrene) और जघापेशियों का सकोच (contracture) न होने पाये।

जानुका (patella)

जानुका के अस्थिभग गिरने से प्रत्यक्ष आघात के कारण या वैठे होने पर सीधी चोट लगने से होते है। पूर्ण अस्थिभग मे जानु सधि में निःसरण (effusion) होता है।

चतुःशिरस्का पेशी के अकस्मात सकोच के कारण अप्रत्यक्ष आघात से होने वाले अस्थिभग की रेखा अनुप्रस्थ होती है। यदि खड पृथक् हो जाते है तो चतुःशिरस्का का कडरावितान दोनो के वीच मे आकर असयोजन का कारण होता है।

ये लक्षण हो सकते हैं। रोग के मृदु रूप मे केवल अल्पकालीन शिरचकराना (giddiners) हो सकता है. रोगी कुछ मिनट से लेकर कुछ घटों मे पूर्ण स्वस्थ हो जाते है। वमन हो सकता है। यदि अल्पतम रक्तस्राव भी उपस्थित हो तो रोग, सघट्टन की अपेक्षा अधिक गभीर है।

नील (Contusion), निष्पेष, कुट्टज—ये एक या अधिक हो सकते हैं और किसी भी क्षेत्र मे हो सकते हैं। अभिघात के विपरीत ओर उसी स्थिति मे मस्तिष्क की क्षति 'कौन्ट्रेकूप' (contre coup) क्षति कही जाती है। पृष्ठ पर की क्षति से अघ्राणता (anosmia), अगघात (paralysis) वाचाघात (aphasia), अर्धदृष्टिता (hemianopia) अथवा प्रान्तस्था (केन्द्रजन्य)-अधता (cortical blindness) उत्पन्न होते है। विकृत्यनुसार (pathologically) ऊतको का फटना और रक्तस्राव के सूक्ष्मदर्शी क्षेत्र देखे जाते है।

चित्र 197—दृढतानिकावाह्य रक्तस्राव। दृढतानिका के बाहर रक्त का बडा थक्का स्थित है।

विदारण (Laccrations)—विदारण नील या लाछन के समान ही होते है किन्तु अधिक गभीर होते है।

यह स्मरण रखना चाहिये कि नील लाछन और विदारण के लक्षण, जिनमे वैकृत परिवर्तन होते है, सघट्टन के लक्षणो पर अध्यारोपित हो जाते है।

आरोग्यलाभ के पूर्व कभी-कभी अभिघातज प्रलाप (traumatic delerium) की एक अवस्था होती है जब भ्रान्ति और बेचैनी होती है। नील लाछन और विदारण के होने पर अभिघातज प्रलाप के साथ बहुधा प्रमस्तिष्कक्षोभ या उत्तेजना (cerebral irritability) के लक्षण—शिरोवेदना, चिड़चिडापन, प्रकाश-भीति (photophobia), शिर चकराना, जी मिचलाना, वमन, बेचैनी और आक्षेप (convulsion) भी होते है।

रक्तस्राव (Haemorrhages)—रक्तस्राव केवल बिंदुरूप (petechial) या विस्तृत, एक या अधिक (एकल या बहुल), तत्कालिक या विलंबित हो सकता है। वह दृढ़तानिकाबाह्य (extradural), अवदृढ़तानिकीय (subdural), अवअरकनाइडीय (subarachnoid) अथवा अन्त:प्रमस्तिष्कीय (intra-cerebral) हो सकता है।

तीव्र अधिदृढ़तानकीय या दृढतानिका-बाह्य रक्तस्राव (Acute epidural or extradural haematoma)

रेखाकार अस्थिभग जो शखास्थि की तानिका (मस्तिष्कावरण)-खातिका (meningeal groove) को पार करता है मध्य तानिका-धमनी (middle meningeal artery) को अथवा उसकी किसी शाखा को विदीर्ण कर सकता है जिससे तानिकाबाह्य रक्तस्राव होता है। प्राय: इतिवृत्त अभिलक्षक होता है जिससे निदान किया जा सकता है। शिर आघात से अचेतन हुआ रोगी कुछ समय के लिए चेतना लाभ करता है, किन्तु फिर अचेतन हो जाता है और सन्यास (coma) की दशा हो जाती है। यह चैतन्य रहने का काल चेतना-अन्तराल (lucid interval) कहलाता है और कुछ मिनट से घंटो तक हो सकता है। रोगी को शिरोवेदना हो सकती है। धमनी से रक्त की अतिमात्रा के निकलकर वहाँ एकत्र हो जाने से अवकाश मे स्थित एक प्रसारी (expanding) क्षति के-से, अर्थात् सपीडन (compression) के-से लक्षण उत्पन्न हो जाते है। सम्पीडन से निद्रालुता (drowsiness) के लक्षण होते है जो गम्भीर होकर सन्यास बन जाती है; दूसरे ओर की शरीरार्ध की दुर्बलता बढकर अर्धांगघात (hemiplegia) हो जाती है—दुर्बलता, जो प्राय: मुख पर से प्रारम्भ होती है, ऊर्ध्व शाखा मे फैल जाती है और फिर अधराग को ग्रस्त करती है; आघात की ओर के नेत्र के तारे का विस्फार होने लगता है तथा प्रकाशप्रतिवर्त (light reflex) का ह्रास होता है। प्राय हृदय की मन्दगति (bradycardia) होती है; वमन, बढ़ती हुई रक्तदाब और चीन-स्टोक

श्वसन होते हैं। अर्धांगघात की ओर के गम्भीर प्रतिवर्तो की अभिवृद्धि होती है, गुल्फ अवमोटन (ankle clonus) और अँगुलि चिह्न (toe sign) वढ़ जाते हैं। प्रमस्तिष्क मेरुतरल का तनाव वढ सकता है और वह रक्तरजित हो सकता है।

चिकित्सा—केवल चिकित्सा सर्जरी है और यथासम्भव शीघ्र करनी चाहिए। अवशख अन्वेपण (subtemporal exploration) से रक्त और रक्तातंच (bloodclot) का पता लगता है। आतंच का अपहरण सहज में हो जाता है और रक्तस्राव रोक दिया जाता है।

चिरकालीन दृढ़तानिकावाह्य हीमेटोमा-रक्तगुल्म (chronic extradural haematoma)

जव तानिकावाह्य रक्तस्राव धीरे-धीरे होता है तो सपीड़न के लक्षण और चिह्नो को प्रकट होने मे कई सप्ताह लग जाते है।

अवदृढ़तानिका रक्तस्राव (Subdural haemorrhage)

यह स्मरण रखना चाहिए कि दृढतानिका का वाह्य रक्तस्राव धमनी से होता है, किन्तु अवदृढ़तानिका का रक्त स्राव शिरीय होता है। मस्तिष्क के त्वरण (acceleration) और मन्दन (deceleration)-आघातो से अवदृढतानिका-अवकाश मे फैली हुई शिराये विदीर्ण (tear) हो जाती हैं। अवदृढ़तानिका-रक्तस्राव रेखाकार अस्थिभगो मे दृढतानिका के शिरानालो के फटने से भी हो सकता है। यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि मस्तिप्कप्रान्तस्था के नील लाँछन और विदरणो से भी अवदृढतानिका-अवकाशो (subdural spaces) मे रक्तस्राव हो सकता है।

अवदृढतानिका-रक्तगुल्म तीव्र (acute) और चिरकालीन (chronic) हो सकते है, तीव्र रक्तगुल्म आघात के पश्चात् तुरन्त वन जाते है; चिरकालीन रक्तगुल्म को प्रकट होने मे तीन-चार सप्ताह लगते है।

तीव्र अवदृढ़तानिकारक्तगुल्म (Acute subdural haematoma)—तीव्र अवदृढतानिका-रक्तगुल्म वहुधा विसरित (diffuse) होता है जो दोनो गोलार्धो मे फैला होता है और मस्तिष्क-विदरण (laceration) के कारण होता है। 'कोन्ट्रेकूप' आघात वहुत होते है। निश्चित स्थान निर्धारण वहुत कठिन है। शोफ शीघ्र ही प्रकट होकर अन्त.कपाली दाव और क्रियात्मक अपविन्यास

(functional derangement) को और भी वढा देता है । सर्जरी द्वारा नियन्त्रण प्राय' सभव नही होता ।

चिरकालीन अवदृढतानिकारक्तगुल्म (Chronic subdural haematoma)—चिरकालीन रक्तगुल्म स्पष्ट शिर आघातों से या उनके विना भी हो जाता है । अत.कपाली न्यून दाब (low intracranial pressure) और अक्षिविम्बशोफ (papilloedema) दोनों एक साथ हो सकते हैं । ऐसे रोगियो मे दृष्टि-तन्त्रिका (optic nerve) के पिधान मे रक्तस्राव के कारण अक्षिविंवशोफ होता है । कभी-कभी रक्तगुल्म को निकाल देने के पश्चात् मस्तिष्क फिर नही फैलता जिसका कारण प्राथमिक निर्जलीभवन होता है । ऐसे रोगियो मे कुछ व्यवहारसम्वन्धी परिवर्तन हो जाते हैं जिसका कारण स्वय मस्तिष्क का निर्जलीभवन या उसमे रक्तसंचार का मन्द हो जाना होता है । चिरकालीन रक्तगुल्म के रोगियो मे वहुधा ये दोनो वाते पाई जाती हैं ।

चिरकालीन रक्तगुल्म की उत्पत्ति मे घटनाचक्र रक्तस्राव से आरम्भ होता है जिसके पश्चात् मस्तिष्क का निर्जलीभवन और सकुचन (shrinkage) होता है; इससे दोनो ओर के निलयों (ventricles) का विस्फार होता है। सकुचन का कारण मन्द हुआ मस्तिष्क रक्त सचार है जो कदाचित केन्द्रीय अपविन्यस्त वाहिकातान (centrally deranged vascular tone) के कारण उत्पन्न होता है। विशेपता यह है कि अवदृढतानिका-रक्तगुल्म को उत्पन्न करने वाले ये सव कारण उत्क्रमणीय (reversible) है। यदि हीमेटोमा का शीघ्र ही अपहरण कर दिया जाय तो वे जाते रहते हैं ।

अवअरकनाइड और अन्तः-प्रमस्तिष्क रक्तस्राव
(Subarachnoid and intracerebral haemorrhage)

ये दोनो प्रकार के रक्तस्राव जो शिर के आघातो में होते हैं वास्तव मे मस्तिष्क के विदरण (lacerations) के परिणाम होते हैं । लक्षण और चिह्न आघात के विस्तार तथा शोफ और अन्त.कपाली दाव की उपस्थिति पर निर्भर करते है ।

उपद्रव और अनुगम
(Complicaitions and Sequelae)

शिर आघातो के उपद्रव और अनुगमो का वोध उनकी चिकित्सा के प्रश्न की जटिलता को समझने के लिए आवश्यक है । कितने ही रोगी ऐसे आघातो

से आरोग्यलाभ करने के पश्चात् किसी उपद्रव के ग्रास बने है या किसी अनुगम के कारण सदा के लिए अशक्त हो गये है।

शिर आघातों से उत्पन्न हुई अशक्तताएँ कितने मुकदमो और प्रतिकारों (compensations) का कारण हुई है जिससे उनकी चिकित्सा का प्रश्न और भी जटिल हो गया है।

सारिणी 1

शिर आघातो के उपद्रव और अनुगम

उपद्रव (complications)	अनुगम (sequelae)
रक्तस्राव	स्मृति लोप
दृढतानिकाबाह्य	मस्तिष्क कार्य का स्थायी दोष
अवदृढतानिकीय	अपस्मार या अक्षेप (वायठे)
अवअरकनाइडी	तन्त्रिका विक्षिप्ति (neurosis)
अन्त प्रमस्तिष्कीय	उन्मादी अवसादी विक्षप्ति (psychosis)
अन्त कपाली दाव के वढने से उत्पन्न उपद्रव	आघातोत्तर सलक्षण
	विलंवित वाहिका दुर्घटना
धमनी-शिरीय एन्यूरिज्म	शिर के आघातो के वैकृत अनुगम
करोटि का अस्थिभंग, करोटि की अस्थियो का अस्थिमज्जाशोथ, अभिघातोत्तर अधिदृढतानिका और अवदृढतानिका, विद्रधियें उत्पन्न करने वाला सक्रमण, दृढतानिका के तथा अन्य शिरा-नालो का वनास्र शिराशोथ और मस्तिष्क विद्रधि	प्रमस्तिष्क रक्तसचार का घटना पुटियो का वनना अनुदैर्घ्य शिरानाल के अवरोध के लक्षण
प्रमस्तिष्कमेरु नासास्राव	मस्तिष्क शोप (atrophy)
कपाली वायुपुटी	अधश्चेतक की दुष्क्रिया
स्थानिक मस्तिष्क और तन्त्रिका क्षतियो से उत्पन्न तन्त्रिकीय त्रुटिये	

उपद्रव (Complications)

प्रमस्तिष्कमेरुनासास्राव (cerebro-spinal rhinorrhoea) साधारणतया चालनीवत पट्टिका (cribriform plate) या ललाटवायवीय विवरों की छदि के या उनके द्वारा हुए अस्थिभगों में नासिका से प्रमस्तिष्कमेरुतरल का स्राव होता है। कभी-कभी वह स्वय ही विरोहण से बन्द हो जाता है, किन्तु सक्रमण से मस्तिष्कावरणी शोथ होने के भय के कारण, उसकी प्रतीक्षा नही करनी चाहिये।

कपालवायुपुटी (cranial pneumatocele)—इस दशा मे शिर के किसी ऊतक मे वायु एकत्र हो जाती है। यह (1) वाह्य (external) हो सकती है (अ) जिसमे वायु कपाल पर कडरावितान के नीचे (subgaleal) के अवकाश मे एकत्र होकर शिरोवल्क की विसरित वातस्फीति (diffuse emphysema) उत्पन्न करती है अथवा (आ) वह परिकपाल (pericranium) के नीचे एकत्र हो सकती है, (2) आभ्यन्तर कपाल वायुपुटी मे वायु दृढ-तानिकावाह्य, अवदृढतानिका अथवा अरकनाइड अवकाश मे वायुपुटी बना सकती है। वह मस्तिष्क-ऊतक या उसके निलयों में एकत्र हो सकती है। वायु प्राय. परानासा-वायुविवरो से आती है, न कि कर्णमूल (mostoid) से। करोटि के एक साधारण एक्सरे मे वायु की स्थिति दीख सकती है।

बहुधा विशेष चिकित्सा की आवश्यकता नही होती; वायु का अवशोषण हो जाता है, किन्तु यदि वहा वायु परानासा-वायुविवरो मे वारम्वार पहुंचती है तो प्रमस्तिष्कमेरुद्रव नासास्राव की भांति दृढ तानिका का सुधार करना होगा।

अनुगम

स्मृतिलोप (amnesias)—शिर आघात के पश्चात स्मृतिलोप दो प्रकार का होता है, अभिघातोत्तर और प्रतिगामी।

अभिघातोत्तर स्मृतिलोप (Posttraumatic amnesia)—इसमे रोगी को आघात के पश्चात हुई घटनाओ की स्मृति नही रहती। कभी-कभी वीच मे अल्पकाल के लिये रोगी को स्मरण हो आता है। सवृत आघातों मे इस प्रकार का स्मृतिलोप प्रायः होता है किन्तु भेदने वाले आघातो मे, जैसे गोली लगने मे, नही देखा जाता।

प्रतिगामी स्मृतिलोप (Retrograde amnesia)—आघात के पूर्व हुई घटनाओं की स्मृति का लोप होता है। यह दशा कुछ सेकिंड से दीर्घकाल तक

रह सकती है। प्रतिगामी स्मृतिलोप की अवधि अभिघातोत्तर के अनुक्रमानुपाती (directly proportional) होती है और दोनो मस्तिष्क के आघात के अनुपातिक होते है।

आकर्ष (convulsion)—तीव्र मस्तिष्क-आघातों के पश्चात्, जिनमे मस्तिष्क का नील लाछन और विदरण होता है, आकर्ष होते है जो निम्न दो प्रकार के हो सकते है—

(1) आघात के पश्चात् शीघ्र ही आकर्षो की एक श्रृंखला। समय पाकर ये बन्द हो जाते है, विशेषकर यदि प्रारभ ही से उनकी आकर्षहर (anticonvulsive) औषधियो द्वारा चिकित्सा की गई है। आगे चलकर इन औषधियो की आवश्यकता न भी हो सकती है।

(2) मस्तिष्क-आघात के एक या दो वर्ष पश्चात प्रारभ होने वाले आकर्ष। *आकर्षहर चिकित्सा* से ये रुक जाते है किन्तु उनमे *चिकित्सा बन्द* करने पर पुनः होने की प्रवृत्ति होती है। क्षोभजनक केन्द्र आहत मस्तिस्क-कोशिकाओ का एक क्षेत्र होता है जो प्रमस्तिष्क-तानिका क्षताक (cerebromeningeal cicatrix) के समीप स्थित होता है। अत्यधिकतर रोगियो का औषधि-चिकित्सा से रोगशमन किया जा सकता है, किन्तु कभी-कभी शस्त्रकर्म द्वारा क्षोभजनक क्षेत्र का अपहरण करना पडता है।

उन्मादी अवसादी विक्षिप्ति (Psychosis) तथा तंत्रिका विक्षिप्त (neurosis)—शिर आघात के पश्चात् तत्रिका-विक्षिप्ति प्राय. होती है किन्तु दूसरी दशा विरल है। दोनो दशाये उन रोगियो मे पाई जाती है जिनमे उनकी प्रवृत्ति होती है।

अभिघातोत्तर संलक्षण (Post traumatic syndrome)—शिर के आघात के रोगियों मे से तृतीयाश से कुछ अधिक रोगी एक लक्षणपुज मे ग्रस्त होते है जिसके लक्षण शिरोवेदना, शिर घूमना (घुमेड), अधीरता (nervousness) दृष्टिविकार, श्रवण सम्बन्धी लक्षण, एकाग्रचित होने की असमर्थता, अनिद्रा, चिड़चिडापन, वेचैनी, अतिस्वेदलता, अवसाद या अन्य व्यक्तित्व परिवर्तन होते है। सलक्षण की तीव्रता मे वहुत भिन्नता पाई जाती है। लक्षण आघात के कुछ दिनों से लेकर कई मास पश्चात प्रकट हो सकते है और भिन्न-भिन्न समय तक रह सकते है। वे प्राय भावुक, अस्थिर चित्त वाले व्यक्तियों मे होते है।

शिरोवेदना (headache)—रोगी प्राय मन्द, निर्वंध (persistant) शिरोवेदना की व्यथा वताते हैं अथवा आघात लगने के स्थान से चवक मारने वाली (shooting) वेदना प्रतीत करते है जो पश्चकपाल के नीचे (sub-

occipital) के क्षेत्र से प्रारंभ होकर कपालशीर्ष (vertex) तक और कभी-कभी नेत्र के पीछे तक फैल जाती है। शिरोवेदना अभिघातोत्तर सल्क्षण का एक भाग हो सकती है, किन्तु कभी-कभी मस्तिष्कावरण और क्षतांक के आसजन का फल होती है। कुछ रोगियो मे अरकनाइड के नीचे वायु प्रवेश (subarachnoid insufflation of air) मे लाभ हुआ है। घुमेड़ (dizziness), भ्रमि (vertigo), मचली (nausea) कर्णक्ष्वेड (tinnitus), दृष्टि का धुंधलापन, तारा-विस्फार (mydriasis) और नेत्र मे वेदना का कारण कभी-कभी ग्रीवा का खिचाव (cervical strain) बताया जाता है जो स्वय ऊर्ध्व ग्रैव या सहायिका तन्त्रिका के खिचाव का परिणाम हो सकता है। कुछ रोगियो मे पश्च कपाल (occipital) तन्त्रिका के क्षेत्र मे प्रोकेन के इंजेक्शन से लाभ होता है।

चेतना लाभ करने के पश्चात् जो शिरोवेदना प्रारम्भ होती है वह समय पाकर कम हो जाती है और फिर जाती रहती है। किन्तु कभी-कभी उसके आकर्ष होते रहते है और भावोद्रेक, मानसिक उद्योग, धूप मे चलने या मदिरा-पान से वेदना बढ जाती है। साधारणतया रोगी इस व्यथा मे, आघात लगने के पश्चात 6 मास मे, पूर्णतया मुक्त हो जाता है।

अधीरता (nervousness)---लगभग 80 प्रतिशत मे पाई जाती है। ऐसी दशा के लिए मनोदौर्बल्य (neuresthenia) का शब्द प्रयोग किया जाता है।

घुमेड़ (dizziness)---यह सामान्य लक्षण आघात के पश्चात शीघ्र ही प्रकट होता है और संघट्टन आघातोत्तर लक्षणो मे प्रथम शान्त होने वाला लक्षण है। 75 प्रतिशत रोगियो मे यह पाया जाता है।

दृष्टि-विक्षोभ (Disturbance of vision)---यह 50 प्रतिशत रोगियों मे पाया जाता है। दृष्टि के धुंधलेपन के आक्रमण होते रहते है। किन्तु कुछ समय पश्चात् वे बन्द हो जाते है। दृष्टितन्त्रिका के प्रत्यक्ष आघात से दृष्टि-दोष स्थायी हो जाएगा।

क्लान्तिशीलता (Fatiguability)---क्लान्तिशीलता 80 प्रतिशत रोगियों मे पाई जाती है। साधारणतया उसको दुर्बलता कहा जाता है जो क्षीणदशा (asthenic state) के समान होती है।

शिर के आघात के कुछ वैकृत अनुगम (Pathological sequelae)

पुराने विवृत शिर-आघातो के समीप के विलंबित परिवर्तन---कुछ समय

पश्चात् लक्षणों के पुनः-प्रकोपन (exacerbations) के लिये ही उत्तरदायी हैं। मुख्य वैकृत परिवर्तन, वाहिकाओ की भित्ति की तन्तुमयता (fibrosis) होती है।

तन्तुमयता के कारण मस्तिष्क मे रक्तसचार कम हो जाता है जिससे वहुत वार घनास्रता हो सकती है जिससे प्रमस्तिष्क का रोधगलन (infarction) सभव है।

अभिघातज मस्तिष्कपुटी (Traumatic brain cysts)—ये चिरकालीन और वर्धमान हो सकती है जिससे इनका आकार वढता रहता है। रोगी को आक्षेप हो सकते है और शनै -शनै उसका मानसिक अपह्रास हो सकता है।

पुटी कदाचित रक्तसचार के ह्रास और रक्तस्राव के पश्चात वनती है। पुटी के उपरिस्थ स्थित होने पर यह मृदु तानिकाओ (leptomeninges) को ग्रस्त करती है और ऊपर की अस्थि का अपरदन (erosion) करती है।

शिरानाल अवरोध (venous sinus obstruction)—सवृत शिर-आघातो मे शिरानाल-अवरोध असाधारण नही है। इस प्रकार का अवरोध प्राय: अपूर्ण होता है, उसके कारण शिरानाल द्वारा अवशोपण कम हो जाता है जिससे अन्त कपाली दाव वढ जाती है, उसके लिये प्रमस्तिप्कशोफ उत्तरदायी होता है। अतएव निलयो का विस्फार भी नही होता, किन्तु शिरोवेदना और अक्षिविम्व शोफ (papilloedema) वहुधा तीव्र होते है। शिरानाल मे आने वाली प्रान्तस्था शिराओं की घनास्रता के परिणामस्वरूप प्रेरक अगघात हो सकता है। घनास्रता (thrombosis) मस्तिप्क के पृष्ठ पर की तथा उसके भीतर की शिराओ से रक्तस्राव उत्पन्न कर सकती है। ग्रस्त क्षेत्र मे प्राय प्रेरक सवलन (motor gyrus) होते है जिनसे जघाओ और ऊर्ध्व वाहुओ का अगघात हो जाता है, किन्तु हाथ और आनन का नही होता।

आघातोत्तर-मस्तिष्कशोष (Posttraumatic brain atrophy)—पार्श्व निलय विस्फारित हो जाते हैं। अवअरकनाइड अवकाश वढ सकता है और परिखाओ का विवर्धन हो सकता है। यह दशा प्रान्तस्था-प्रमस्तिप्कशोष (corticocerebral atrophy) कही जाती है।

अधश्चेतक के कार्यो का अभिघातोत्तर विक्षोभ (Posttraumatic disturbance of hypothalamic function)—विस्तृत अतिसवेदिता, आवर्ती अवसामान्य क्षुधा, आवर्ती मनोप्रेरक (psychomotor) वेचैनी, स्वायत्तकार्यो (autonomic functions) का विक्षोभ, वमन, मूत्राशयक्षुव्धता, या वाध्यकारी (compulsive) चर्वण और निगरण, ये लक्षण उपस्थित हो सकते है। स्थूलता

या उदकमेह (diabetes insipidus) न होने पर अधश्चेतक क्षत न समझा जाय। अतएव लक्षण अधश्चेतकी अनुपगों (connections) के विक्षोभ का परिणाम हो सकते हैं।

उपचार (Management)

शिर के आघात के रोगी का उपचार एक आपतकालीन समस्या है और उसका तत्काल उपयुक्त प्रबन्ध आवश्यक है। भरती करने के पश्चात, रोगी की सम्पूर्ण परीक्षा की जाती है, तंत्रिकीय पूर्ण परीक्षायें भी आवश्यक है। आघातो की सीमा को भलीभांति समझ लेना उचित है और एक तंत्रिकीय आधार रेखा (base line) निर्धारित कर लेनी भी अनिवार्य है जिससे रोगी की भावी प्रगति का निश्चय किया जा सके; किसी बढ़ती हुई मानस त्रुटि के (mental deficit) होने पर शस्त्रकर्म किया जा सकता है। शिर की परीक्षा शिरोवल्क के घावो और अस्थिभंगो के लिये की जाती है।

चेतना के स्तर का ठीक निर्धारण (assessment) भी अत्यन्त आवश्यक है जिसको इस प्रकार सामूहित किया जा सकता है; पूर्ण दिक्‌विन्यास या अभिविन्यास (orientation), साधारण प्रश्नो की अनुक्रिया (response); केवल तीव्र आज्ञाओ की अनुक्रिया; केवल वेदनाजनक उद्दीपनो की अनुक्रिया (response to painful stimuli); यह अर्धसन्यास (semicoma) की दशा है; उद्दीपनो से अनुक्रिया का अभाव गंभीर सन्यास, (deep coma) है।

रेटिनोस्कोपी तथा नेत्रतारों (pupils) की समानता (equality) और प्रकाश की अनुक्रिया (light response) के लिये परीक्षा करनी चाहिये। अन्य कपाली तंत्रिकाओ की भी, चेतनाह्रास या लोप की दशानुसार, यथासंभव, परीक्षा की जाती है। शिर, आनन तथा अंगो की सस्थिति (posture) भी देखी जाती है और बाहुओं, टांगो आदि की पेशियो की तान (tone) भी नोट करनी चाहिये। दोनों ओर के गंभीर और उपरिस्थ प्रतिवर्तो की तुलना की जाती है। रोगी द्वारा की हुई स्वत. गतियो को भी नोट किया जाता है। ग्रीवा, अंग, वक्ष और उदर के भी आघात यदि हो, तो देखे जाते है। कर्ण, नासिका, नेत्र और मुख भी रक्तस्राव या करोटि तल के अस्थिभंग से प्रमस्तिष्क मेरु तरल के स्राव के लिये देखने चाहिये। नाड़ी, रक्त-दाब, ताप और श्वसन भी लिख लिये जायें।

सब तीव्र शिर आघातों में एक तत्कालीन स्तब्धता की अवधि होती है जो एक-दो मिनट तक रहती है और इस कारण परीक्षा के समय प्राय. उपस्थित नही

होती । यदि परीक्षा के समय स्तब्धता उपस्थित हो तो रोगी को कोई अन्य आघात होता है जो प्राय वक्ष, आशय या अस्थि के होते है।

सब जैव क्रार्यो (vital functions) का, ताप का भी, पुन-पुन निरीक्षण और अभिलेखन (recording) अत्यावश्यक है। अचेतन रोगियो मे मूत्राशय पर विशेष ध्यान दिया जाता है। अतिताप (hyperthermia) की तत्काल चिकित्सा भौतिक आयोजनों द्वारा करनी होगी। तरल और विद्युद-पघट्यो (fluid & electrolytes) के सन्तुलन का आयोजन अत्यावश्यक है।

शस्त्रकर्म कव किया जाय ?

निम्न दशाओं मे शस्त्रकर्म किया जाता है—

(1) शिरवल्क के घाव

(2) करोटि के वाह्य विवृत अस्थिभग

(3) कतिपय अवनत अस्थिभग। वयस्को मे अधिकतर अवनत अस्थिभग विवृत होते है और इस कारण शस्त्रकर्म आवश्यक होता है। वच्चो के तडाग-अस्थिभगो (pond fractures) मे शस्त्रकर्म आवश्यक नही होता।

(4) दृढतानिकावाह्य अथवा मध्यतानिका धमनी का (middle meningeal haemorrhage) रक्तस्राव।

(5) अस्थायी उन्नति के पश्चात 'तन्त्रिकीय त्रुटि' (neurological deficit) की वृद्धि।

(6) एकपार्श्वी स्थिर विस्फारित (नेत्र) तारा।

(7) जव दशा मे कुछ उन्नति के पश्चात वह फिर से विगड जाय, अथवा मध्य-मस्तिष्क सम्पीडन के लक्षण हो, छिन्न प्रमस्तिष्क दृढता (decerebrate rigidity) अथवा स्थिर विस्फारित तारा हो, तो द्विपार्श्वी अवशखीय विसम्पीडन (bilateral subtemporal decompression) करना फलदायक हो सकता है और यदि सभव हो तो एकत्र हुए रक्त को निकाल दिया जाय।

विशेष विचारणीय

निम्न वाते तीव्र शिरआघातो मे विशेष ध्यान देने योग्य हैं।

वायुमार्ग—वायुमार्गो के खुले हुए या अनवरुद्ध रहने का निश्चय आवश्यक है। वायुमार्गो मे स्रावों या रक्त के जमा होने से रोगी को वल लगाना पड़ता है जिससे अन्तर्कपाली दाव वढती है। तथा आक्सीजन के रक्त मे कम पहुचने से मस्तिष्क मे अल्पाक्सिता (hypoxia) होकर रोगी के मस्तिष्कशोफ को

और बढा देगी। गले से रक्त और स्रावो का चूषण (suction) करके उनको निकाल देना चाहिये। यदि वायुमार्ग को अनवरुद्ध रखने मे कठिनाई हो तो श्वासप्रणाल-छिद्रीकरण (tracheostomy) करने मे कोई सकोच न किया जाय।

अतिताप का नियत्रण (control of hyperpyrexia)—ऊष्मा-नियामक केन्द्र के अपविन्यास से अतिताप (hyperpyrexia) होना साधारण है। इसका नियन्त्रण शीत स्पंजिग, पखा चलाकर, वरफ मलकर या वरफ मे रखकर (ice packing) अथवा शीत वस्तियो (cold enemas) आदि भौतिक उपायो द्वारा किया जाता है। न्यूनताप उत्पन्न करने वाली मशीनो से, जिनमे कवल लगे रहते है और मशीन द्वारा उनका ताप घटाया वढाया जा सकता है, चिकित्सा मे वहुत सहायता मिलती है। उनके द्वारा रोगी को आवश्यक समय तक एक समान ताप मे रखा जा सकता है।

प्रमस्तिष्क शोफ का नियन्त्रण (control of cerebral oedema)—सब ही तीव्र शिरआघातो मे, जहाँ रक्त एकत्र नही भी होता, प्रमस्तिष्क का शोफ हो जाता है। अन्त कपाली दाव की उससे भयकर वृद्धि होती है, कुछ सीमा तक, रोगी को मुँह से मैगनेशियम सल्फेट देकर या अवधारण (retention) एनीमा द्वारा उसका निर्जली करण (dehydrating) करके, प्रमस्तिष्क शोफ का नियन्त्रण किया जा सकता है। अतिपरासारी सुक्रोज विलयन (hypertonic sucrose solution) अथवा 30 प्रतिशत यूरिया विलयन का सावधानी से अन्त.शिरीय प्रयोग लाभदायक होता है।

कुछ विद्वान स्टिराइडों के प्रयोग को लाभदायक वताते है। न्यूनताप (hypothermia) मस्तिष्क शोफ को कम कर सकता है।

मस्तिष्क चयापचय और सामान्य सुश्रूषा—यह पाया गया है कि कोशिका का चयापचय उसके ताप को कम करने से घट जाता है। इस प्रकार न्यूनताप हो जाने पर आक्सीजन की आवश्यकता भी घटती है। चयापचय को घटा देने पर मस्तिष्क-कोशिकाओ को पर्याप्त आक्सीजन न मिलने पर भी वे अधिक समय तक जीवित रह सकती है। वरफ मे रखकर, वरफ मलकर, शीतकारी मशीन आदि से रोगी के ताप को घटाया जा सकता है। लार्गेक्टिल, फेनर्गान और पैथिडीन के मिश्रण से, जिसको 'लाइटिक कौकटेल' (lytic cocktail) कहा जाता है, विना किन्ही दुष्टप्रभावो के, न्यूनताप (hypothermia) उत्पन्न करने मे सहायता मिलती है। तो भी ताप 34 से० से कम न करना

चाहिए। सम्भव है रोगी की चेतना उत्पन्न होने तक उनको न्यूनताप पर रखना पड़े।

पर्याप्त नाइट्रोजन और विद्युत-अपघट्यो के सन्तुलन को व्यवस्थित रखने, मूत्राशय और कोष्ठशुद्धि तथा त्वचा पर विशेष ध्यान देने और संक्रमण के नियन्त्रण को अत्यन्त महत्व का समझने, त्वचा की शुद्धि और सुरक्षा, का महत्त्व पूर्ण रूप से वताना भी कठिन है।

अचेतन रोगीकीस्थिति वहुत महत्त्व की नहीं है, किन्तु समय पर उसकी स्थिति को वदलते रहना चाहिये; शिर को ऊचा करके रखने से अन्तर्कपाली शिरादाव कम करने मे सहायता मिल सकती है।

कटिवेधन (Lumbar puncture)—शिर आघात के पश्चात् निदान के हेतु अथवा चिकित्सा विधि के रूप मे कटिवेधन की उपयोगिता पर मतभेद है। यह सव मानते हैं कि तीव्र शिर-आघात के पश्चात प्रमस्तिष्कमेरुतरल मे कुछ रक्त होता है और अन्त कपाली दाव भी वढ जाती है जिसका कारण रक्तस्राव या प्रमस्तिष्क शोफ हो सकता है या दोनो हो सकते है। अतएव कटिवेधन से किसी अन्य दशा का ज्ञान नही होता। इसके विपरीत, दाव के अकस्मात कम हो जाने से मस्तिष्क का हर्निया अनुमस्तिष्क छदि के छेद (tentorial hiatus) पर अथवा महारन्ध्र (foramen magnum) पर वन सकता है तथा इससे भी अधिक असाध्य क्षति हो सकती है। अतएव शिर के आघात के पश्चात तुरन्त कटिवेधन न करना ही उचित है।

मस्तिष्क और मेरुरज्जु (सुषुम्ना)

सन् 1783 मे ऐलेक्जेण्डर मोनरो ने कहा था कि प्रमस्तिष्क-मेरुरज्जु अक्ष एक 'वन्द वक्स' (closed box) मे स्थित है। उसका विश्वास था कि मस्तिष्क भी शरीर के अन्य ठोस पदार्थो के समान असपीड्य है और वन्द वक्स के भीतर की वस्तु के आयाम (volume) मे कोई परिवर्तन सम्भव नही है। इस कारण कपाल के भीतर रक्त की मात्रा सदा एकसमान रहती है। किल्ली (Killie) ने इस सिद्धान्त का और भी विवर्धन किया। प्रथम वार मागेन्डी (Magendie) ने सन् 1842 मे प्रमस्तिष्क-मेरुतरल का पूर्ण वर्णन किया। पीछे सन् 1846 मे वरो (Burrow) ने प्रमस्तिष्क मेरुतरल को सम्मिलित करके मोनरो और किल्ली के 'वन्द वक्स' सिद्धान्त का रूपान्तरण किया। उसने कहा कि 'करोटि के भीतर के सव अवयवो का, मस्तिष्क, रक्त

और इस सीरम प्रमस्तिष्क मेरु तरल का, परिमाण (या मात्रा) सदा प्रायः एकसमान रहता है। अब हम यह जान गए है कि वह पूर्णतया 'वन्द वक्स' नही है; प्रमस्तिष्क मेरु-रज्जु-अक्ष की रक्तवाहिका नलिकाएँ, मस्तिष्कावरणशिरीय जालिकाएँ और कपाली तथा मेरु तन्त्रिकाओ के रन्ध्र इस वन्द वक्स की लचकीली या नम्य खिडकियाँ है। तो भी क्रियात्मक दृष्टि से मोनरो-किल्ली सिद्धान्त आज भी सत्य है।

अतएव, प्रमस्तिष्कमेरुतरलीय दाव अन्तर्कपाली दाव की द्योतक मानी जाती है।

प्रमस्तिष्कमेरु तरलीय दाव (Cerebrospinal fluid pressure)

निम्न प्रकार से प्रमस्तिष्कमेरुतरलीय दाब बनी रहती है।

धमनी और शिरीय रक्तदाब—मृत्यु के पश्चात्, रक्तवाहिका-वृक्ष के पात के कारण अधोमुख स्थिति मे, प्रमस्तिष्कमेरुतरलीय दाव वायुमडल की दाब से अधिक नही होती। इसी प्रकार, जिन रोगो से उच्च रक्तदाब हो सकती है उनसे प्रमस्तिष्कमेरुतरलीय दाब भी बढ सकती है।

केन्द्रीय तत्रिकातन्त्र की सार-ऊतकी (parenchymatous mateial) वस्तु का आयाम (volome)—रोग की दशा मे इस आयाम मे परिवर्तन हो सकते है। व्यपजनन (degenreation) और शोष से दाव कम हो जाती है। अर्बुदो की उपस्थिति, कणिकागुल्म और परजीवी सक्रमण से अन्तर्कपाली दाव बढ सकती है।

प्रमस्तिष्क मेरुतरल का आयाम—मस्तिष्कावरण के शोथ या प्रमस्तिष्क-मेरुतरल के मार्गो मे अवरोध के समान रोगों की दशाओ मे तरल की उत्पत्ति और उसके अवशोपण का सतुलन बिगड जाता है जैसा जलमस्तिष्क (hydrocephalus) मे होता है।

अन्त.कपाली दाब के बढने के कारण

अतएव निम्नलिखित दशाएँ अन्त कपाली दाव को बढाती है—

(1) जन्मजात जलमस्तिष्क (congenital hydrocephalus) : (क) प्रमस्तिष्कमेरुतरलीय के मार्गो का अवरोध, (ख) प्रमस्तिष्कमेरुतरल के अवशोपण का दोष।

(2) शोथ, मस्तिष्कावरण शोथ (meningitis) और मस्तिष्कावरण-प्रमस्तिष्क-शोथ (meningo-encephalitis) (क) शोथ के कारण प्रमस्तिष्कमेरु-

तरल की उत्पत्ति का बढ जाना; (ख) प्रमस्तिष्कमेरुतरल के घटकों और उसके अवशोषण का अपविन्यास ।

(3) अवकाश पूरकविक्षति (space-occupying lesion); अर्बुद, कणिका गुल्म और परजीवी सक्रमण ।

(4) अभिघातज, नील, विदरण, रक्तस्राव और उनके साथ प्रमस्तिष्क शोफ ।

(5) अन्य कारण, जैसे खाँसने या वल करने से शिरीय रक्तदाव की वृद्धि; शिरानाल-घनास्त्रता, अतिरक्तदाव (hypertension) या हृद्-क्षति अपूर्त्ति (cardiac decompensation)

अन्तःकपाली दाव के बढ़ने के लक्षण

मुख्य लक्षण ये है : शिरोवेदना, वमन और दृष्टि की मन्दता । अन्त.कपाली दाव की वृद्धि के दैहिक और एक्सरे चिह्न निम्नलिखित है .—

(1) अक्षिविम्वशोफ (papilloedema), एक या दोनों ओर ।

(2) छठी तंत्रिका का अँगघात, एक या दोनो ओर ।

(3) रक्तदाव की वृद्धि और उसके साथ मन्द उत्प्लवी नाडी (slow bounding pulse) और गहरे मन्द श्वसन जो आगे चलकर चीन-स्टोक्स श्वसन हो सकते हैं ।

(4) विवर्धित सवलन चिह्न (increased convolutional impressions) और सीवनो का पृथक् होना ।

(5) जतुकास्थि के स्थाणुक प्रवर्धो (clinoid processes) का और कभी-कभी पर्याणिका (sella turcica) की भूमि का तथा वृहद् पक्ष का अपरदन (erosion) ।

अन्त.कपाली अवकाशपूरक विक्षतियां (Intracranial space-occupying)

भारत मे ऐसी विक्षतियो मे 80 प्रतिशत अर्वुद पाये जाते हैं, और शेष 20 प्रतिशत मे (क) कणिका गुल्म (granuloma), जैसे यक्ष्मागुल्म (tuberculoma), (ख) परजीवी सक्रमण, जैसे सिस्टी सरकोसिस और हायटेड पुटिएं, और (ग) मस्तिष्कविद्रधि है ।

मस्तिष्क-अर्वुद (Brain Tumours)

केन्द्रीय तन्त्रिका तन्त्र के रोगो मे अर्वुदों की वहुत संख्या होती है जिसमे से

प्राय: आधे पूर्णतया रोगमुक्त हो सकते है। किन्तु अल्पतम मस्तिष्क-कार्यक्षति के साथ पूर्ण आरोग्य लाभ के लिये शीघ्रतम निदान और उपयुक्त चिकित्सा आवश्यक है।

लक्षण और चिह्न

अर्बुद के लक्षण निम्नलिखित मे से किसी एक या दोनो कारणो से उत्पन्न होते है।

(1) अर्बुद के बढते हुए आकार और प्रमस्तिष्कमेरुतरल के परिसंचार (circulation) मे बाधा होने के कारण अन्त कपाली दाब की वृद्धि।

(2) अर्बुद द्वारा मस्तिष्क-ऊतक का प्रत्यक्ष क्षोभ (direct irritation) तथा विनाश।

क्षोभ के कारण आक्षेप होते है, किन्तु कार्यह्रास मस्तिष्क-ऊतकों के विनाश का परिणाम होता है।

अवकाशपूरक विक्षतियो (space occupying lesions) का मुख्य लक्षण वर्धमान तन्त्रिकीय ग्रस्तता (progressive neurological involvement) है। रचनात्मक स्थिति और विक्षति के रूप या प्रकार के अनुसार लक्षणो मे भेद हो सकता है।

यदि आकर्पो के आक्रमण 20 वर्ष की वय पर प्रारम्भ हो तो उनका कारण अवकाशपूरक विक्षति को समझना चाहिए, जब तक अन्य उनका कारण **प्रमाणित न हो जाय।**

अतएव मस्तिष्क-अर्बुद, विवर्धित अन्त कपाली दाब के लक्षणो—शिरोवेदना, वमन और अक्षिबिंब-शोफ के कारण दृष्टिमन्दता, द्वारा अपने को प्रकट करता है या उससे विकारस्थानिक (focal) लक्षण उत्पन्न होते है।

शिरोवेदना—प्रारम्भ मे शिरोवेदना हल्की, सविराम (intermittent) और प्राय प्रात काल होती है। आगे चलकर वह तीव्र और सतत हो जाती है जिसके जब-तब प्रकोपन (exacerbations) होते रहते है। वह स्थानिक हो या सर्वांग हो, किन्तु कपालशीर्ष मे सबसे अधिक होती है। पश्चखात के अर्बुदों से अवपश्चकपाल (suboccipital) प्रदेश मे वेदना होती है और ग्रीवा कड़ी हो जाती है। फिर भी यह ध्यान रखना चाहिए कि शिरोवेदना का सबसे मुख्य कारण मनस्तन्त्रिका, विक्षिप्ति (psychoneurosis) होती है। शिरोवेदना, जो जागृत अवस्था मे सतत बनी रहती है, जो निद्रा मे या दैनिक कार्यक्रम मे बाधक नही होती, और जिसके ठहर-ठहरकर प्रकोप भी नही होते, वह संभवत.

अवकाशपूरक क्षति के कारण नही है।

वमन—वमन शिरोवेदना के साथ हो या स्वय हो मुख्य लक्षण हो। बहुधा वह प्रक्षेपी (projectile) होता है, मचली (nausea) के साथ नही होता, उससे शिरोवेदना का शमन हो सकता है।

दृष्टि—दृष्टि का अपकर्ष (deterioration) या ह्रास प्राय अक्षिबिंब-शोफ के कारण होता है, किन्तु दृष्टिपथ को ग्रस्त करने वाले अर्बुद खडांश-(दृष्टि) क्षेत्र-दोष (segmental field defects) उत्पन्न करते हैं। इससे प्राथमिक या द्वितीयक दृष्टितन्त्रिकाशोष (optic atrophy) होकर उसका परिणाम पूर्ण अँधता हो सकता है।

निदान

लक्षण और चिह्नो के प्रकट होने का कालानुक्रमिक (chronological) ज्ञान मस्तिष्कीय अर्बुदो के ठीक-ठीक निदान और उनके स्थान के निर्धारण के लिये आवश्यक है। इसके लिये यथार्थ इतिवृत्त और पूर्ण तंत्रिकीय परीक्षा आवश्यक है जिसमे दृष्टिक्षेत्र (visual fields)-परीक्षण, फन्डोस्कोपी और औडियोग्राम (श्रवणलेख) तथा प्रघाणकार्य का परीक्षण (vestibular functions test) भी किये जाँय।

एक्सरे द्वारा निदान

साधारण एक्सरे चित्र—करोटि के साधारण एक्सरे चित्र मे अन्त.कपाली दाब की वृद्धि के निम्न चिह्न पाये जाते हैं :—

(1) सवलन चिह्नो का विस्तार बढ जाता है।

(2) पश्च स्थाणुक प्रवर्धो, पर्याणिका-तल तथा वृहत् पक्ष का विकेल्सीकरण (decalcification)।

(3) सीवनो का पृथक् हो जाना।

अर्बुदो की उपस्थिति से निम्न परिवर्तन होते है—

(1) स्वय अवकाशपूरक विक्षति का कैल्सीकरण (जैसे, पीयूषिकावाहिनी अर्बुद, (craniopharyngioma) औलिगोडैन्ड्रोग्लायोमा, वाहिकार्बुद (angioma), यक्ष्मार्बुद (tuberculoma), सिस्टीसर्कोसिस।

(2) कैल्सीकृत पिनियल या कोराइड-जालिका का अर्बुद से हट जाना।

(3) कपाल मे मस्तिष्कावरण अर्बुद के पास, अस्थि की अतिअध्यस्थिता (hyperostosis)।

(4) पास के अर्बुद के कारण करोटि डिप्लोई (diploae) की वाहिकाओं

के चिह्न बढ जाते है।

(5) आभ्यन्तर श्रवणकुहर, पर्याणिका या दृष्टिनलिका (optic canal) का अर्बुद द्वारा अपरदन।

(6) अन्यत्रस्थित प्राथमिक अर्बुद के स्थलान्तरण का करोटि मे निक्षेप (deposits)

अन्त.करोटि-अवकाशपूरक विक्षति निलयतंत्र, अरकनाइड तंत्र तथा रक्त-वाहिका-तंत्र का विस्थापन करती है और उनकी विरूपता उत्पन्न करती है। इसका अध्ययन निलय और धमनियो मे विपर्यास माध्यमो (contrast media) को प्रविष्ट करके किया जाता है :

निम्न प्रविधियो का प्राय· प्रयोग किया जाता है।

वातमस्तिष्क चित्रण (pneumoencephalography)—इस प्रविधि मे थोडे प्रमस्तिष्कमेरुतरल को निकालकर उसके स्थान मे आक्सीजन प्रविष्ट की जाती है अथवा वायु को कटिवेधन के मार्ग से पहुँचाया जाता है। इनके द्वारा मस्तिष्क के निलयतंत्र (ventricular system) और आधारी कुडों (basal cisterns) का रूप तथा अवअरकनाइड (subarachnoid) अवकाश की गहराई का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। अन्त:कपाली दाब की वृद्धि का सन्देह होने पर इस प्रविधि का उपयोग न करना चाहिये।

मस्तिष्क-निलय-चित्रण (ventriculography)—इस विधि मे आक्सीजन द्वारा प्रमस्तिष्कमेरुतरल का प्रतिस्थापन (replacement) किया जाता है अथवा बर्र (वरमा, burr) द्वारा करोटि मे किये गये छिद्रो मे से सूचिका को निलय मे प्रविष्ट करके उसके द्वारा वायु पहुचाई जाती है।

मायोडिल (Myodil) मस्तिष्कनिलयचित्रण—आक्सीजन के स्थान मे निलयो मे मायोडिल नामक एक्सरे-अपार्य (radioopaque) पदार्थ प्रविष्ट किया जाता है जिसमे कपाल को उपर्युक्त स्थिति मे रखने पर चित्र में तृतीय निलय, कुल्या (aqueduct) और चतुर्थ निलय की रूपरेखा स्पष्ट हो जाती है।

प्रमस्तिष्क वाहिका चित्रण (cerebral angiography)—इस प्रविधि मे एक एक्सरे-अपार्य रजक द्रव्य (dye) के प्रयोग द्वारा अन्त प्रमस्तिष्क वाहिका-वितरण का रेखाचित्र तैयार किया जाता है। ठीक-ठीक समयान्तर पर चित्र लेने से अन्त.प्रमस्तिष्क के रक्तपरिसचार की धमनी-प्रवाह, केशिका-प्रवाह तथा शिराप्रवाह सबधी प्रावस्थाओ (arterial, capillary & venous) का अध्ययन किया जा सकता है। वाहिकाओ का अपने सामान्य स्थान से हट जाना, और रक्तपरिसंचार के अपसामान्य क्षेत्र भी देखे जा सकते हैं (चित्र 199)। यह

प्रक्रिया एन्यूरिज्मो (aneurysms) और धमनी-शिरा (arteriovenous) कुरचनाओ की पहचान के लिए भी उपयोगी है। पूर्ण अन्त.प्रमस्तिष्क रक्तसचार के अध्ययन के लिये दोनो कैरोटिड और कशेरुका धमनियो मे रजक को प्रविष्ट करना होगा। (चित्र स० 200)
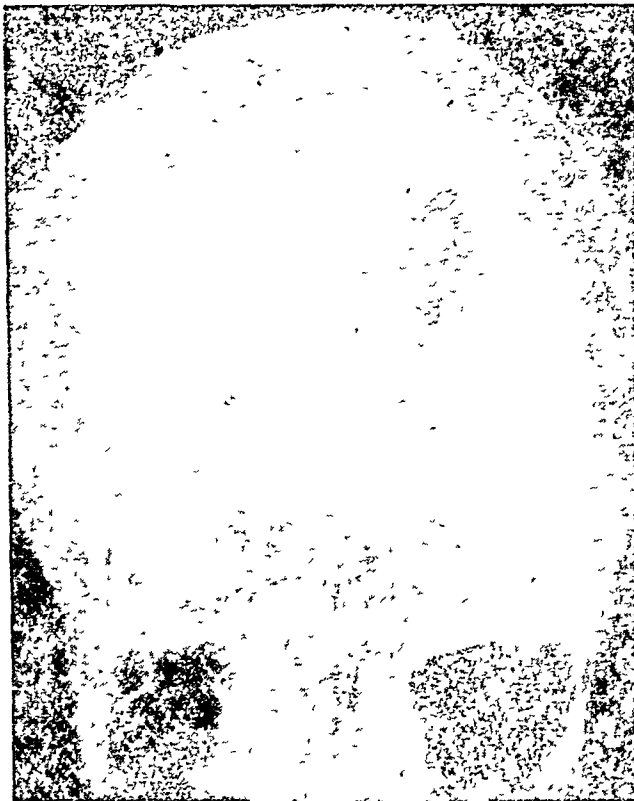
चित्र 198—निलयचित्र (ventriculogram) का अग्र-पश्च दृश्य, जिसमे बर्र (burr) से किये हुए छिद्र दीख रहे है जिनके द्वारा निलयो का वेधन (puncture) किया गया था। दक्षिण निलय विस्थापित और विरूप दीख रहा है जो दक्षिण ललाट खड (frontal lobe) के अर्बुद के कारण उत्पन्न हुए है।

विद्युत-मस्तिष्क-लेखन (electroencephalography)—विद्युत् मस्तिष्क लेख मस्तिष्क की वैद्युत् क्रियाओ का अध्ययन है जिनको शिरोवल्क पर इलैक्ट्रोडो को लगाकर किया जाता है।

अर्बुद ऊतक से अपसामान्य मन्द तरगों के प्रस्फोट (bursts) उत्पन्न हो सकते है अथवा उनसे मस्तिष्क की प्रसामान्य सक्रियता ढक जाती है। उनके विपर्यास मे अपस्मार के वैद्युत विसर्जन (electrical discharges) शूक या

चित्र 199—वाहिकाचित्र (angiogram) का पार्श्वदृश्य जिसमे दक्षिण ललाटखड का अर्बुद दीख रहा है।

चित्र 200—धमनीचित्र जिसमे कैरोटिड-मध्यकर्ण नालव्रण (fistula) दीख रहा है।

स्पाइक अपसामान्यताये (spike abnormalities) होती है ।

वर्गीकरण और अनुपात

(1) **अधिलघुमस्तिष्कछदि (supratentorial)**

(a) मस्तिष्कावरण अर्बुद (meningioma) 10 प्रतिशत, (b) ग्लायोमा (glioma) 40-45 प्रतिशत; (c) वाहिकार्बुद (angioma) (d)

सारणी 2

मस्तिष्क-अर्बुदो का आघटन

प्ररूप	भिन्न भिन्न लेखक	कशिग cushing	ओलिवक्रोना olivecrona	वेलोर vellore
रोगियो की कुल सख्या	567	1977	514	157
ग्लायोमा	59.9 प्र श	43 6 प्र श	54 9 प्र. श	45 2 प्र श.
श्रवण तन्त्रिका के अर्बुद	5 2 „	8 9 „	12 9 „	9.0 „
मस्तिष्कावरण-अर्बुद	16.6 „	18.8 „	16 0 „	17.0 „
पीयूषिका और परा-पीयूषिका अर्बुद	2 8 „	16 7 „	4 0 „	11.4 „
पिनियल अर्बुद	—	—	—	2 0 „
जन्मजात अर्बुद	1 7 „	5.7 „	2 5 „	4 5 „
रक्तवाहिका-अर्बुद	0 8 „	2 0 „	2 9 „	2 6
अकुरार्बुद	0 8 „	—	—	—
कोरडोमा	—	—	—	0 6 „
स्थलान्तरण आक्रमण	11 7 „	4.3 „	3 5 „	7.7 „
मिश्रित	0.5 „	—	3 3 „	—

मस्तिष्क अर्बुदो के आघटन की प्रतिशत मात्रा के विभिन्न लेखकों के अवलोकन की यह तुलना दी गई है ।

पीयूपिकावाहिनी-अर्बुद (craniopharyngioma) 5 प्रतिशत; पीयूपिका अर्बुद (pituitary tumour) 15 प्रतिशत; (c) पिनियलार्बुद (pinealoma) और तृतीय निल्य अर्बुद (third ventricular tumour)

(2) अधोलघुमस्तिष्कछदि (inrfratentorial) (a) मध्यरेखा, जैसे मेडुलोब्लास्टोमा, एपेन्डीमोमा, (b) लघुमस्तिष्कीय, जैसे, तारक कोशिकार्बुद (astrocytoma) (c) लघुमस्तिष्क-पौंस कोण, जैसे तन्त्रिका-तान्तव, अर्बुद (neurofibroma), मस्तिष्कावरण अर्बुद, (d) पौन्सीय अथवा मेरुशीर्षज (pontine or medullary), जैसे ग्लायोमा।

अधिलघुमस्तिष्कछदि (supratenrorial) अर्बुद

ये अर्बुद वयस्कों मे अधिक होते है। प्रान्तस्था को ग्रस्त करने वाले अर्बुदो से तानिक-अवमोटिक (tonicclonic) आक्षेप होते है।

चित्र 201—मस्तिष्क का किरीटी परिच्छेद (coronal section) जिसमे ललाट खड मे एक गहरा स्थित ग्लायोमा दीख रहा है।

ग्लायोमा—ग्लायोमा मस्तिष्क की अवधारक (supporting) कोशिकाओं से निकलते है। ये तारक कोशिकाये (astrocytes), अल्पदन्द्रोनवंध कोशिकायें (oligodendroglia cells) और अन्तरीयक कोशिकायें (ependymal cells) होती है। तारक कोशिकार्बुद श्रेणी IV (astrocytoma grade IV)

(जो ग्लायोब्लास्टोमा मल्टीफार्मी भी कहा जाता है) सबसे दुर्दम होता है, जो इस समूह मे 40-50 प्रतिशत पाया जाता है। अधिकतर ग्लायोमा मुख्यतया ललाट खड तथा पार्श्विका खड मे निकलते हैं (चित्र 201)। इन अर्वुदो के रोगी लगभग 13 मास के जीवित रहते है।

मस्तिष्कावरण अर्वुद (meningioma)—मस्तिष्क के अर्वुदो मे 10-15 प्रतिशत मस्तिष्कावरणार्वुद होते है। उनमे उन प्रदेशो से निकलने की प्रवृत्ति होती है जहाँ अरकनाइड अकुर (villi) पुजित होते हैं। वे मस्तिष्क का सपीडन करके उसको क्षति पहुचाते है; उसको आक्रान्त नही करते। ये अर्वुद सम्पुटित होते हैं। उनको सुदम माना जाता है और शल्यकर्म द्वारा अपहरणीय होते हैं। किन्तु उनकी स्थिति, आकार और वाहिकामयता उनके पूर्ण उन्मूलन मे वाधक हो सकती है। स्थिति के अनुसार उनको इस प्रकार सामूहित किया गया है: (1) उत्तलता (convexity)—इस समूह मे रोगी (seizures) अधिक होते है; (2) परा-अग्रपश्च (parasgittal)—वहुधा सावेदनिक क्षेत्र पर स्थित होते है जिससे सावेदनिक तथा प्रेरक क्रियाये विकृत हो सकती है। (चित्र 202), (3) जतूक कटक (sphenoidal ridge)—इनसे एकपार्श्वी दृष्टिपात (failure of vision) होता है और तीसरी चौथी, पाचवी और उसी ओर
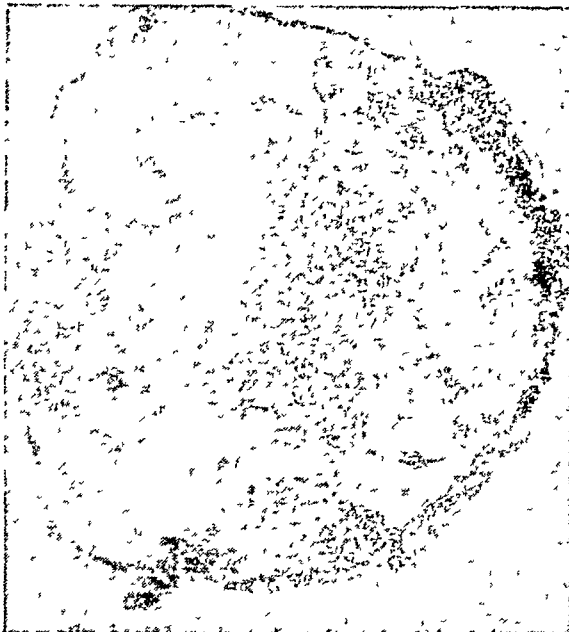
चित्र 202—करोटि का आभ्यन्तर पृष्ठ जो उसके नीचे स्थित मस्तिष्कावरणार्वुद (meningioma) से ग्रस्त है।

की छठी तन्त्रिकाओं का वर्धमान अंगघात (progressive paralysis) होता है। (4) घ्राण खातिका (olfactory groove)—ये वृहत् आकार प्राप्त कर लेते हैं; उनका केवल लक्षण एकपार्श्वी अघ्राणता (anosmia) होता है (वे फौस्टर-केनेडी मलक्षण उत्पन्न करते हैं जिसमें समान ओर का दृष्टितंत्रिका शोप (optic atrophy) और विपरीत पार्श्व का अक्षिबिम्बशोफ होता है); और (5) पर्याणिका मस्तिष्कावरणार्बुद (sellar meningioma)—ये विरल होते हैं, किन्तु पीयूषिका अर्बुदों के समान लक्षण उत्पन्न कर सकते हैं।

पीयुषिका अर्बुद (pituitiary tumours)—पीयूषिका अर्बुद ग्रंथ्यर्बुद (एडीनोमा) होते हैं जो प्रायः वयस्कों में पाए जाते हैं। इनके अधिकतम पाए जाने वाले दो प्रकार हैं, **वर्णक विरागी (chromophobic)** और **ईओसिन-रागी (eosinophil)** ग्रन्थ्यर्बुद। ये पीयूषिका खात में स्थित होते हैं जो कपाल गुहा में पर्याणिका डायाफ्राम द्वारा पृथक रहता है। प्रारम्भिक लक्षण

चित्र 203—मस्तिष्क का अधःपृष्ठ जिससे एक बड़ा पीयूषिका-अर्बुद का अपहरण किया गया है।

शिरोवेदना अन्तःपर्याणिका (intrasellar)-दाव के वढ़ने के कारण होती है और पर्याणिका-डायाफ्राम के फटने पर शान्त हो जाती है, जिससे अर्बुद कपाल-गुहा मे विस्तृत होकर उसपर स्थित अक्षिव्यत्यासिका (optic chiasm) को दवाता है। अतएव जिस क्रम से वयस्क मे लक्षण प्रकट होते हैं—शिरोवेदना, फिर शिरोवेदना का शान्त होना और उसी समय दृष्टिविक्षोभ होना जो प्रायः द्विशंखीय अर्धदृष्टिता (bitemporal hemianopia) होती है (चित्र स० 204) —वह प्राथमिक पीयूपिका अर्वुदों का अभिलक्षक है। वर्धित अन्त कपाली दाव और अक्षिविम्वशोफ उस समय होते है जव अर्वुद इतना वढ जाता है कि उसमे तृतीय निलय मे प्रमस्तिष्कमेरुतरल का प्रवाह रुक जाता है।

वर्णक विरागी (chromophobic) ग्रन्थ्यर्वुद से पीयूपिक-अल्पक्रियता (hypopituitarism) उत्पन्न होती है। किन्तु ईओसिनरागी अर्वुद पीयूपिक अतिक्रियता (hyperpituitarism) उत्पन्न करते है जिससे प्रारम्भिक वयस्कता मे महाकायता (gigantism) होती है और अधिक वय वालो मे एक्रोमेगेली (acromegaly) रोग हो जाता है। यदि अर्वुद पार्श्व ओर को विस्तृत होकर गह्वर शिरानाल (cavernous sinus) को आक्रान्त करता है, तो वहाँ पर उपस्थित कपाली तन्त्रिकाएँ भी ग्रस्त हो जाती है।

पीयूपिकावाहिनी-अर्वुद (craniopharyngioma)—इसको राथके का कोष्ठ-अर्वुद (Rathke's pouch tumour) भी कहते है। यह जन्मजात अर्वुद होता है और व्यत्यासिका-प्रदेश (suprachiasmatic region) मे पाया जाता है। वहुधा वह कैल्सीकृत हो जाता है और दृष्टिक्षेत्रीय दोप तथा अधश्चेतक दुष्क्रियता (hypothalamic dysfunction) उत्पन्न करता है।

अधोलघुमस्तिष्कछदि अर्वुद (infratentroial tumours)

ये अधिकतर वालको मे पाए जाते है। ये तानिक-अवमोटिक प्रकार के ग्रह (tonic-clonic seizure) नही उत्पन्न करते। इनसे 'अनुमस्तिष्कीय दौरे' (cerebellar fits) होते है जिनमे चेतना का लोप, पश्चायाम (opistho-tonos) और शरीर का कड़ापन (rigidity) हो जाता है तथा ऊर्ध्व और अधः देहशाँखाएँ प्रसारित और अन्तर्वर्तित (extended, inverted) हो जाती है। पश्चखातके अर्वुदो का अक्षिदोलन (nystagmus) भी एक साधारण लक्षण हैं।

स्थिति के अनुसार उनका इस प्रकार वर्गीकरण किया जा सकता है।

मध्यरेखा अर्वुद (midline tumours)—इनका अभिलक्षण गतिविभ्रम (ataxia) है जो चलने-फिरने मे कठिनाई से लेकर वैठने तक की पूर्ण
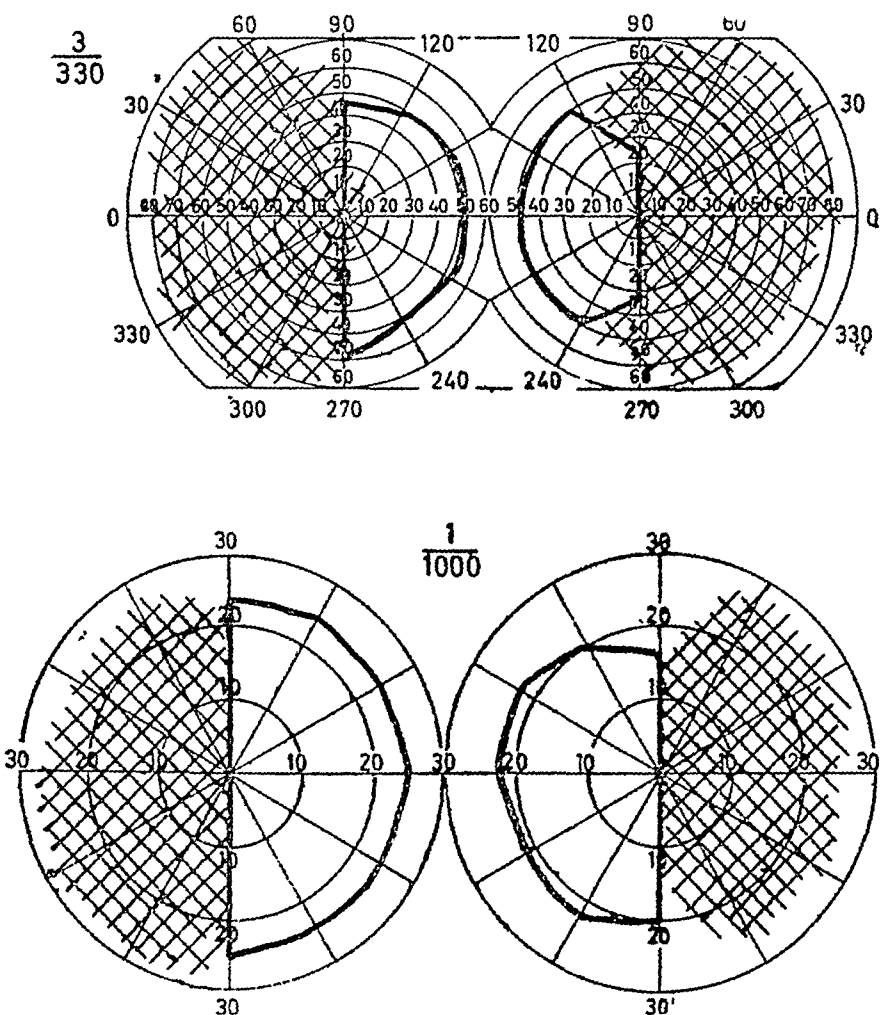
चित्र 204—एक पीयूपिका-अर्बुद के रोगी का परिमापी (perimetric) चार्ट जिसमे द्विशखीय अर्धदृष्टिता (bitemporal hemianopia) दीख रही है।

असमर्थता हो सकती है। इस स्थिति मे मेडुलोब्लास्टोमा अर्बुद अधिक होता है जो अत्यन्त दुर्दम अर्बुद है (चित्र स० 205)। अन्तरीयकार्बुद (ependyomoma) और हीमोएँजियोब्लास्टोमा भी होते है।

अनुमस्तिष्क गोलार्ध के अर्बुद (cerebellar hemisphere tumours)—इनके अभिलक्षण समपार्श्वी (ipsilateral) असमन्वय (समन्वयाभाव, incoordination) और अक्षिदोलन (nystagmus) है। इनका उदाहरण

चित्र 205—अनुमस्तिष्क और मस्तिष्कस्तंभ द्वारा परिच्छेद जिनमे मेडुलाब्लास्टोमा उपस्थित है।
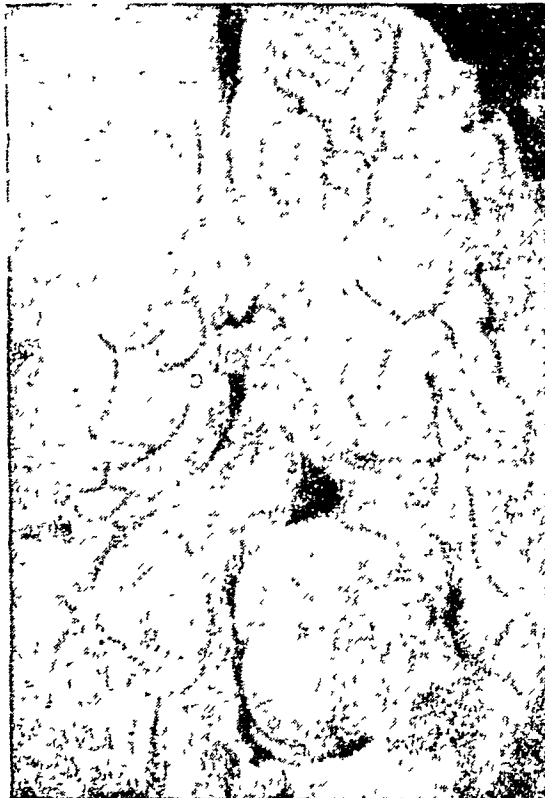
चित्र 206—मस्तिष्क का अध:पृष्ठ जिसमें एक बडा श्रवणतन्त्रिका-अर्वुद दक्षिण ओर है। अनुमस्तिष्क और पौन्स की विरूपता तथा कपाली तन्त्रिकाओ की ग्रस्तता (involvement) नोट करने योग्य है।

चित्र 207—दक्षिण ललाट खड का एक वृहद् यक्ष्मार्वुद ।

लक्षण और चिह्न अर्वुद की स्थिति पर निर्भर करते है। वालकों मे वे पश्च कपाल-खात मे अधिक होते है किन्तु वयस्को मे वे अधिअनुमस्तिष्कछदि-प्रदेश मे अधिक पाये जाते है। वहुधा अनियमित ज्वर का इतिवृत्त मिलता है। शरीर मे अन्यत्र यक्ष्मा रोग के लक्षण न मिलना असाधारण नही है; कुछ रोगियो मे यक्ष्मा केन्द्र स्पष्ट नही होता। विर्वाधित लोहित-कोशिका-अवसादन दर (ई. एस. आर.), धनात्मक दुर्वक्यूलिन परीक्षण तथा एक्सरे द्वारा प्राप्त विर्वाधित अन्त.कपाली दाव के प्रमाण रोग के निदान के लिए आवश्यक है। अचिकित्सित रोगियो मे मस्तिष्क के यक्ष्मार्वुद का कैल्सीकरण विरल है। वयस्को मे अधिअनुमस्तिष्कछदि अर्वुद मे आक्षेपो का प्रधान लक्षण होना असाधारण नही है।

सापेक्ष निदान मे सव ही अवकाशपूरक विक्षतियो का, विशेषकर अर्वुद का, विचार करना आवश्यक है।

चिकित्सा और प्राक्ज्ञान

सर्जरी न करने पर रोग का क्रम प्रगतिशील है। प्रतियक्ष्मा (anti-tuberculous) चिकित्सा से शोथ का प्रक्रम और उससे उत्पन्न शोफ कम हो

जाएगा जिससे रोग के लक्षणों का कुछ शमन होगा, किन्तु अर्बुद के आकार में कोई कमी नही होगी। उससे रोग की प्रगति अवश्य रुक जाएगी, किन्तु अवकाशपूरक विक्षति का निर्मूलन नही होगा।

यक्ष्मार्बुद के एकल होने पर यदि उसका अपहरण सम्भव हो और प्रतिक्षय चिकित्सा शस्त्रकर्म के पश्चात् चार-छ मास तक जारी रखी जाय, तो प्राक्ज्ञान उत्तम है। शस्त्रकर्मोत्तर तत्काल मे रोगी का उपचार ठीक तीव्र यक्ष्माजन्य मस्तिष्कावरणशोथ के रोगी की भाँति करना चाहिए। कई अर्बुद होना असाधारण नही है और ऐसी दशा में प्राक्ज्ञान अत्यन्त प्रतिकूल है। सामान्य यक्ष्मारोग के कम होने पर ही अर्बुदोत्पत्ति कम हो सकती है।

परजीवी संक्रमण
(Parasitic Infections)

दो ऐसे परजीवी सक्रम है जो अवकाशपूरक विक्षति उत्पन्न कर सकते हैं; सिस्टीसर्कस सेल्यूलोजी (cysticercus cellulosae), जो टीनिया सोलियम (Taenia solium) की सिस्टीसर्कस अवस्था है, और एकिनोकोकस ग्रेन्यूलोसस (echinococcus granulosus), जो हाइडेटिड पुटी उत्पन्न करता है। ये दशाएँ वयस्कों मे अधिक पाई जाती हैं, किन्तु बालकों मे भी असाधारण नही है।

सिस्टीसर्कस रुग्णता (Cysticercosis)

यह रोग टीनिया सोलियम के जीवनचक्र मे मनुष्य के मध्यपोषद (intermediate post) हो जाने का परिणाम होता है। पुटी एक, बहु या गुच्छे के रूप मे पुंजित हो सकती है। त्वचा के नीचे बहुत से सिस्टीसर्कसजन्य पर्वकों का मिलना असाधारण नही है। मस्तिष्क मे विक्षतियाँ पश्च खात मे; चतुर्थ निलय में या अनुमस्तिष्क गोलार्धो मे, अथवा अनुमस्तिष्क छदि मे ऊपर प्रमस्तिष्क गोलार्धों के किसी भाग मे या निलयो के भीतर स्थित हो सकती है।

लक्षण और चिह्न इस स्थिति मे स्थित अवकाशपूरक विक्षति के हो सकते है। विक्षति का कैल्सीकरण हो सकता है और उद्दीपनजन्य घटना आक्षेप के रूप मे प्रकट हो सकती है। रक्त तथा प्रमस्तिष्कमेरुतरल मे ईओसिनरागी कोशिकाओ की बहुलता साधारणतया हो जाती है। प्रायः लोहित-कोशिका-अवसादन-दर (ई. एस. आर.) भी बढ जाती है। अन्त कपाली दाब के बढ़ने पर पुटी या पुटियो का अपहरण चिकित्सा है।

हाइडेटिड पुटी (Hydatid cyst)

मस्तिष्क की हाइडेटिड पुटी प्रायः एकल होती है और भारतवर्ष मे असाधारण नही है, क्योकि एकिनोकोकस फीताकृमि-सक्रमण देश के सब भागो मे पाया जाता है। मस्तिष्क की हाइडेटिड पुटी के लक्षण किसी भी अवकाशपूरक विक्षति के लक्षणो के अतिरिक्त कोई विशेष लक्षण नही होते। वे मस्तिष्क के किसी भी भाग मे हो सकती हैं। यदि पुटी का अपहरण न किया जाय तो वह बढती ही जाएगी।

अन्त.कपाली विद्रधियाँ
(Intracranial abscesses)

मस्तिष्क विद्रधि

प्रतिजीवाणुक चिकित्सा के आविष्कार के पूर्व यह साधारणतया होने वाला और घातक रोग था। मस्तिष्क विद्रधि निम्न कारणो से हो सकती है।

(1) का सक्रमण प्रसार मध्यकर्ण और कर्णमूल (mastoid), नासा और समीपस्थ नासावायु-विवर (nasal sinuses), करोटितल तथा शिरोवल्क से हो सकता है, सबसे अधिक मध्यकर्ण से होता है।

(2) करोटि के भेदक घावो (penetrating wounds) और विवृत अस्थि-भगो द्वारा सक्रमित पदार्थ का आरोपण।

(3) शरीर मे दूरस्थ केन्द्रो से, जैसे फुप्फुस के सक्रमण, अन्तर्हृदशोथ, अस्थिमज्जाशोथ, दन्तविद्रधि, अथवा अन्यत्र कही भी स्थित पूतित केन्द्र से, स्थलान्तरण (metastases)। ऐसे सक्रमण-केन्द्र का स्थाननिर्धारण कठिन हो सकता है। अधिकतर स्थलान्तरण द्वारा उत्पन्न विद्रधियाँ कई होती हैं।

विकृति—शिर के समीपस्थ केन्द्रो से मस्तिष्क मे संक्रमण दो प्रकार से फैल सकता है, यद्यपि अधिकतर दोनो मिले रहते हैं।

(1) बीच की सरचनाओ का उत्तरोत्तर सक्रमण। प्रथम अस्थिशोथ का एक छोटा क्षेत्र बनता है जिसके पश्चात् उसके नीचे दृढतानिका पर (अधि-दृढतानिकीय, epidural) विद्रधि बन जाती है जो तानिका को वेधकर भीतर के मस्तिष्क को आक्रान्त करती है। इस प्रक्रिया मे कुछ धमनियों और शिराओ मे घनास्रता हो जाती है जिससे ऊतक शक्तिहीन होकर सक्रमण के और भी वशीभूत हो जाता है।

(2) दूसरा सक्रमण के प्रसार का मार्ग उन शिराओ द्वारा है जो मस्तिष्क

क्षेत्रो से जाकर शिरानालों मे खुलती है । उनके द्वारा प्रतिगामी घनास्रता या पूतित अन्तःशल्य (septic emboli), सक्रमण द्वारा शक्तिहीन हुए ऊतको में सक्रमण के बढने पर उनसे सक्रमण को मस्तिष्क के श्वेत पदार्थ मे पहुँचा सकते है । लक्षण मस्तिष्कशोथ (encephalitis) के-से होते है । उस क्षेत्र मे तीव्र स्रवण (exudation) और श्वेत कोशिकाओ का अन्त'सचरण बहुत बढ जाता है । द्रवण (liquefaction) होने पर परिसारी तन्त्रिबध ऊतक (glial tissue) का प्रचुरोद्भवन होता है और वहाँ रक्तवाहिकाओ की सख्या और उनके आकार मे तथा सयोजी ऊतक मे भी वृद्धि होती है । उनसे विद्रधि की भित्ति या 'सम्पुट' (capsule) बनता है । लगभग एक सप्ताह पश्चात् भित्ति का बनना प्रारम्भ होता है और उसको दृढ होने मे अनुमानतः तीन सप्ताह लग जाते है । सामान्य लक्षण केवल प्रसार काल (period) of extension) मे उपस्थित होत है जिनमे स्थानिक मस्तिष्कशोथ (encephalitis) के लक्षण भी होते है । इस काल मे तीव्र मृदुतानिका शोथ (leptomeningitis) हो सकता है ।

इस प्रकार, ललाट विवर शोथ (frontal sinusitis) से उत्पन्न हुई विद्रधि मस्तिष्क के ललाट खड (frontal lobe) मे स्थित होगी और मध्यकर्ण तथा कर्णमूल से उत्पन्न विद्रधियाँ शख खड या अनुमस्तिष्क मे पाई जाएँगी ।

लक्षण और चिह्न—मस्तिष्क विद्रधि के लक्षण और चिह्न रोग की अवस्था (stage), जीवाणु की प्रबलता (virulence), अन्त कपाली दाब की वृद्धि की सीमा और विद्रधि की स्थिति के अनुसार भिन्न होते है। प्रारम्भ मे वे मृदुतानिकाशोथ (leptomeningitis) और स्थानिक मस्तिष्कशोथ (encephalitis) या प्रमस्तिष्क-शोथ (cerebritis) के समान होते है। ताप उच्च अथवा शूकवत् (spiking) होता है। रक्त श्वेतकोशिकागणना 20,000 प्रति घन मि०मी० या इससे भी अधिक हो सकती है और प्रमस्तिष्कमेरुतरल की परीक्षा पर उसकी दाब में वृद्धि, उसमे प्रोटीनों की अधिकता तथा कोशिकाओ की बहुलता पाई जाती है । कोशिकाओ के प्ररूप भी भिन्न होगे; तीव्र सपूय मृदुतानिकाशोथ की अवस्था मे वे बहुरूपी केन्द्रकी हो सकती है, रोग के बढने पर वे लसीका कोशिकाये हों । मस्तिष्कावरण के क्षोभ (irritation) के चिह्न उपस्थित हो सकते है । अन्त कपाली दाब के बढने पर शिरोवेदना और वमन होते है । अक्षिबिंब शोफ प्रारम्भ ही मे प्रकट हो जाता है और आगे की अवस्थाओ तक बना रहता है। क्षोभ से बढकर सन्यास (coma) हो जाना विद्रधि की तीव्रता और उसके विस्तार पर निर्भर करता है। स्थानीकरण (localization) के चिह्न इस प्रारम्भिक अवस्था मे नही दिखाई देते ।

मस्तिप्क-विद्रधि की उत्तर (later) अवस्था मे जब मृदुतानिकाशोथ का शमन हो जाता है और स्थानिक मस्तिष्कशोथ भी जाता रहता है तथा एक पूर्ण सपुटित विद्रधि बन जाती है तो नैदानिक स्वरूप तथा लक्षण और चिह्न एक अवकाशपूरक विक्षति के से होते है जो विवर्धित अन्त.कपाली दाब के रूप मे व्यक्त होते हैं और उसके स्थानिक चिह्न आक्रान्त क्षेत्र पर निर्भर करते है। यह स्मरण रखना चाहिए कि अधिकतर विद्रधिया ललाट या शख खड मे अथवा अनुमस्तिष्क प्रदेश मे होती हैं; कभी-कभी वे पार्श्विका और पश्चकपाल खडों मे भी पाई जाती है।

मस्तिष्कविद्रधि कई प्रकार से अपने को व्यक्त कर सकती है। कुछ के लक्षण और चिह्न प्रारम्भिक मस्तिप्कावरणशोथ और प्रमस्तिप्कशोथ के लक्षणो के समान होते हैं, अन्य के प्रथम लक्षण अवकाश-समावेशन विक्षति (space occupying lesion) के-से होते हैं। यह भी सभव है कि सक्रमण का कोई भी शारीरिक लक्षण न उपस्थित हो। विकृत्यनुसार निदान (pathological diagnosis) कुछ रोगियो मे, केवल शस्त्रकर्म ही के समय सम्भव होता है।

चिकित्सा—सम्भवत. मस्तिप्क-स्तम्भ (brain stem) के आक्रान्त होने के अतिरिक्त, चिकित्सा सदा सर्जरी द्वारा की जाती है। आदर्श चिकित्सा यह है कि सक्रमण का प्रतिजीवियो (antibiotics) द्वारा निराकरण किया जाय और विद्रधि को भली-भाँति सपुटित होने दिया जाय जिससे उसके चारो ओर एक दृढ भित्ति बन जाय। इसके पश्चात् समस्त विद्रधि का, भित्ति का छेदन किये बिना, अपहरण किया जाय। किन्तु रोगी की दशा के कारण विद्रधि के उपयुक्त अवस्था मे पहुचने तक प्रतीक्षा करना सदा सम्भव नही होता। साधारण निर्हरण (drainage) या कई बार सूचिका वेध से पूय निकाल कर उसमे प्रतिजीवी प्रविष्ट करने तथा प्रतिजीवी के शारीरिक प्रयोग द्वारा चिकित्सा आवश्यक होती है। यह स्मरण रखना आवश्यक है कि मस्तिष्क विद्रधि की प्रारम्भिक अवस्था में शस्त्रकर्म करना निरर्थक है, उस समय सामान्य शारीरिक चिकित्सा और बलदायक आयोजनो पर ही विश्वास करना पडता है।

दृढ़तानिकाबाह्य विद्रधि (Extradural abscess)

दृढतानिकाबाह्य विद्रधि करोटि-अस्थि और दृढतानिका के बीच पूय का सग्रह होती है जो प्राय सपूय अस्थिमज्जा शोथ से उत्पन्न होती है। कभी-कभी मध्यकर्ण रोग अथवा परानासा वायु-विवर-सक्रमण के उपद्रव रूप यह विद्रधि उत्पन्न हो सकती है। उसका दृढतानिका द्वारा प्रसार बहुत देर की

अवस्था तक नहीं होता। करोटि के अस्थिमज्जाशोथ होने पर ऊपर के शिरोवल्क मे सूजन, शोफ और स्पर्शासिहता हो जाती है, जो पौट का फूला हुआ अर्बुद (Pott's puffy tumour) कहा जाता है।

पूय का पूर्ण निर्हरण और रोगग्रस्त अस्थि का अपहरण उसकी चिकित्सा है।

अवदृढ़तानिका विद्रधि (subdural abscess)

अवदृढतानिका विद्रधि दृढतानिका और अरकनाइड के बीच मे पूय का संग्रह है। वह प्राय कर्ण से या वायुविवरो से सक्रमण के प्रसार का फल होती है अथवा वालको मे जीवाणुज मस्तिष्कावरण शोथ का अनुगम होती है। दृढतातिका शिरानालो की घनास्रता का यह सवसे प्रमुख उपद्रव है। लक्षणानुसार गभीर जैवविपरक्तता ज्वर सहित, शिरोवेदना, वमन और अक्षिबिंवशोफ रोग के अभिलक्षक है।

चिकित्सा—तत्काल पूय का निर्हरण और प्रतिजीवियो का उपयुक्त प्रयोग रोग की चिकित्सा है।

रक्तवाहिकाओ की असंगतिया

(Vascular anomalies)

एन्यूरिज्म (aneurysms)

अन्तःकपाली धमनियो—विशेपकर विल्लिस वृत्त (circle of Willis) और उसकी मुख्य शाखाओं—के एन्यूरिज्म जन्मजात माने जाते है; कवकज (mycotic) और धमनी काठिन्यज (arteriosclerotic) स्फीतियां (dilatations) इसका अपवाद है। वयस्कता से पूर्व प्राय: ये लक्षण नही उत्पन्न करते। वे फट सकते है अथवा, उनके आकार मे वृद्धि होकर, वे पास की संरचनाओ को दवा सकते है। अवअरकनाइड रक्तस्रावो मे से अधिकतर एन्यूरिज्म के फट जाने का परिणाम होते है; अवअरकनाइड रक्तस्राव में 50 प्रतिशत रोगियों की मृत्यु हो जाती है जिससे उसकी गभीरता समझी जा सकती है। वाहिका चित्रण (angiography) और सर्जरी की विधियो की उन्नति होने से इन पर अव अधिक ध्यान दिया जाने लगा है।

लक्षण और चिह्न—एन्यूरिज्म स्वत. फटता है और प्राय रोगी के वल करने के पश्चात ऐसा होता है। अकस्मात तीव्र शिरोवेदना, वमन, अवपात

(collapse) और सन्यास (coma) उसके अभिलक्षण है। ग्रीवा का कड़ा (stiff) हो जाना, क्षोभ्यता, ज्वर और मस्तिष्कावरणक्षोभ के चिह्न प्रकट हो जाते है। स्थानीकरण लक्षण अनुपस्थित हो सकते है; लक्षण और चिह्नों मे वहुत भिन्नता संभव है। नेत्र मे वेदना, द्विदृष्टि, एक ओर के नेत्र के तारे का विस्फार, वर्त्मपात (ptosis of eyelid) और पाँचवी तन्त्रिका के आक्रान्त होने के लक्षण साधारणतया पाये जाते है। अन्य चिह्न रक्तातच (clot of blood) द्वारा मस्तिष्क सपीडन की स्थिति पर निर्भर करते है, जो सिल्वियन विदर (sylvian fissure), शख अथवा ललाट खडो और कभी-कभी आभ्यन्तर सपुट (internal capsule) मे स्थित हो सकता है। अचेतना मे वेचैनी से लेकर सन्यास तक भिन्नता पाई जाती है। प्रथम रक्तस्राव से जो रोगी वच जाते है उनमे वार-वार रक्तस्राव होने की प्रवृत्ति होती है जिनमे से किसी वार का रक्तस्राव घातक सिद्ध हो सकता है।

कटिवेधन (lumbar puncture) द्वारा निदान निश्चित किया जाता है, जिससे रक्तमिश्रित प्रमस्तिष्कमेरुतरल निकलता है और पीतरजकता (xanthochromia) कुछ ही घटो मे उत्पन्न हो जाती है। अवअरकनाइडी रक्तस्राव के 60 प्रतिशत रोगियो मे एन्यूरिज्म की ठीक-ठीक स्थिति वाहिका-चित्रण से निश्चित की जा सकती है। यदि एन्यूरिज्म दृष्टिगत नही किया जा सकता तो उसमे पुनः पुन. रक्तस्राव उत्पन्न करने की प्रवृत्ति कम होती है। एन्यूरिज्म लघु या घनास्रित (thrombosed) होने पर नही दिखाई देता।

चिकित्सा—कई एन्यूरिज्म होने पर या कशेरुक धमनी के एन्यूरिज्म होने पर वे शस्त्रकर्मातीत होते है, किन्तु अन्य सव शस्त्रकर्म योग्य हैं। सामान्य कैरोटिड धमनी के ग्रीवा मे वधन (ligation) से आवर्ती रक्तस्राव से यद्यपि कुछ सुरक्षा होता है, किन्तु उससे अर्धांगघात (hemiplegia) और वाचाघात (aphasia) का भय रहता है, विशेपकर वृद्ध व्यक्तियों मे। अन्तर्कपाल मार्ग द्वारा एन्यूरिज्म का अन्तर्रोध (occlusion) करना सर्वोत्तम विधि है। नियन्त्रित न्यूनरक्तदाव (controlled hypotension) और न्यूनताप (hypothermia) की विधि के उपयोग से एन्यूरिज्म पर अन्तर्कपाली (शस्त्रकर्म) सहज और सुरक्षित हो गया है।

धमनी-शिर असंगतिया (arteriovenous anomalies)

ये विक्षतिया, जो वाहिकार्वुद, कुटिल शिराजाल (cirsoids), धमनी-शिरा एन्यूरिज्म (arteriovenous aneurysm) और विरूपताये कहलाती है, सव

जन्मजात विरूपतायें है, और कोशिकाओ का परिवर्धन न होने से उत्पन्न होती है। अधिकतर व्यक्तियो मे उनके लक्षण और चिह्न वय के तीसरे या चौथे दशक मे प्रकट होते है। शिरोवेदना भी हो सकती है। वहुधा ये विरूपतायें अवअरकनाइड रक्तस्राव उत्पन्न करती है, किन्तु कभी-कभी वे अवकाशसमावेशन विक्षतियो की भाति प्रकट होती हैं। आधे रोगियो मे कपाली ब्रूई (cephalic bruit) मालूम हो सकती है।

वाहिकाचित्रण से विक्षति का पता लगने के बाद नियन्त्रित न्यून दाब (hypotension) और प्रशीतन (refrigeration) की सहायता से उसका पूर्ण उच्छेदन उसकी चिकित्सा है।

कैरोटिड गह्वर नालव्रण (caroted cavernous fistula)

आभ्यन्तर कैरोटिड धमनी के अन्तःकपाली भाग और गह्वर शिरानाल के बीच प्राय करोटि के आधार के अस्थिभग से एक नालव्रण बन जाता है। (चित्र 200) लक्षण और चिह्नो मे एकपार्श्वी स्पन्दी नेत्रोत्सेध (unilateral pulsating exophathalmosis), नेत्र-श्लेष्मला शोफ (chemosis), वर्त्मशोफ (oedema of lids) और नेत्रगुहा तथा रेटीना की वाहिकाओं की अतिपूरिता (fullness) मुख्य है। रोग बढ जाने पर नेत्रपेशीघात (ophthalmoplegia) तथा दृष्टि-ह्रास हो सकते है।

सामान्य कैरोटिड धमनी का ग्रीवा मे बधन (ligation) और गह्वर शिरा-नाल से ऊपर आभ्यन्तर कैरोटिड धमनी के अन्त कपाली भाग का भी बधन इस दशा की चिकित्सा है।

तन्त्रिकार्ति (Neuralgia)

त्रिधारा तंत्रिकार्ति (trigeminal neuralgia)

त्रिधारा तन्त्रिकार्ति की हेतुकी अज्ञात है। यह विशेषकर अधिक आयु वालो को होती है, उसके कुछ विशिष्ट लक्षण होते है। वेदना अकस्मात् प्रारभ होती है और कोचने वाले प्रारूप (lancinating type) की होती है। वह पाचवी कपाली तन्त्रिका की एक या अधिक शाखाओ के वितरणक्षेत्र मे अनुभव होती है और उससे बाहर कभी नही फैलती। दूसरे और तीसरे विभाग अधिक ग्रस्त होते है। तीसरा नेत्र विभाग इन दोनो के पश्चात ग्रस्त होता है और अकेला बहुत कम ग्रस्त होता है।

कभी-कभी रोग के आक्रमण का आरम्भ तन्त्रिका-वितरण के किन्ही क्षेत्रों के अल्प सवेदी उत्तेजन से हो जाता है, जिनको 'स्फोटक क्षेत्र' (trigger zones) कहा जाता है। मुह धोने, ठड लगने, वाल वाहने या आहार को चवाने से भी रोग आरम्भ हो सकता है। प्रत्येक आक्रमण अल्पस्थायी होता है और उसका अत भी प्रारंभ ही की भाति होता है, उसके पश्चात् कोई चिह्न नही रहता। आक्रमणों के वीच मे रोगी पूर्णत लक्षणरहित होता है। क्रमश आक्रमणों की आवृत्ति वढती जाती है, किन्तु रोग का विसर्ग (remission) होता रहता है। तन्त्रिकीय परीक्षाओ से कोई त्रुटि नही पता लगती।

चिकित्सा—इस दशा की चिकित्सा मुख्यतया सर्जरी द्वारा होती है; फिनायटोइन सोडियम (phenytoin sodium) से कुछ लाभ रिपोर्ट किया गया है। तन्त्रिकामूलो के वाहर निकलने के रन्ध्रो मे अथवा गडिका (ganglion) मे अलकोहल के इजेक्शन से रोग 6 मास से कुछ वर्ष तक अस्थायी रूप से शात रह सकता है। इस विधि का केवल उन ही रोगियो मे प्रयोग किया जाता है जिनकी शारीरिक दशा अन्त कपाली शस्त्रकर्म के लिये उपयुक्त नही होती। शस्त्रकर्म तन्त्रिका पर या गडिका पर किया जा सकता है।

विसंपीडन शस्त्रकर्म—इसमे त्रिधारा गडिका तक शख मार्ग (temporal route) से दृढतानिका के वाहर से या उसके भीतर (extradurally or intradurally) से पहुँचा जाता है और गडिका को अनावृत (exposed) करके उसपर की दृढतानिका का छेदन (incision) किया जाता है। तव एक वेयोनेट सदश (bayonet forceps) मे रुई के पिचु (cotton swab or strip) को पकड़कर उससे तन्त्रिकाततुओ को हलके से अभिघातित (traumatised) किया जाता है। इस शस्त्रकर्म मे यह लाभ है कि उससे आनन का सवेदन (sensation) वना रहता है।

गंडिकापूर्व परिच्छेदन (preganglionic section)—यहाँ उपर्युक्त मार्ग से गडिका तक पहुचकर गडिकापूर्व तन्तुओ को विभक्त किया जाता है। विभाग विभेदक (differential) किया जाता है क्योकि तन्तु पार्श्व से अभिमध्य ओर को इस क्रम मे स्थित है . अधोहनु (mandibular), ऊर्ध्वहनु (maxillary) और नेत्र-विभाग (opthalmic division)। इसके परिणाम-जो सावेदनिक त्रुटि (sensory deficit) तथा कार्निया पर व्रणोत्पत्ति (यदि नेत्र विभाग विभक्त हुआ है), होती है दोनो कष्टसाध्य उपद्रव हो सकते है।

सांवेदनिक (संवेदी) मूल-विभाग (sensory root division)—सावेदनिक मूल को पौन्स से निकलने पर पश्च खात मे विभक्त किया जा सकता है।

त्रिधारा पथछेदन (trigeminal tractotomy)— मेरुशीर्ष मे त्रिधारा तन्त्रिका के अपरोही पथ का छेदन किया जा सकता है जिससे त्रिधारा वेदना का शमन हो। यह पथ केवल वेदना और ताप संवेदनों का वाहक है; अतएव इसको काटने से स्पर्श संवेदन पूर्ववत् बना रहता है।

जिह्वाग्रसनी तंत्रिकार्ति (glossopharyngeal neuralgia)

इसका रूप त्रिधारा तन्त्रिकार्ति ही के समान है, किन्तु वेदना का अनुभव जिह्वाग्रसनी तन्त्रिका के वितरण क्षेत्र मे होता है। प्रायः आक्रमण का आरम्भ निगरण क्रियाओ से होता है और वेदना टॉन्सिल क्षेत्र और ग्रसनी मे प्रतीत होती है और कान मे फैल सकती है। इसकी चिकित्सा पश्च खात मे नवीं कपाली तन्त्रिका का उच्छेदन है।

विशेष तन्त्रिकीय शस्त्रकर्म
(Special Neurosurgical operations)

मन सर्जरी, मनःशल्यचिकित्सा (Psychcosurgery)

मन शल्यचिकित्सा मे ललाट और शखखडो तथा चेतक (थैलेमस) के संबंध को विच्छिन्न करने के लिये कई प्रकार के शस्त्रकर्म किये जाते हैं जिनकी मानसिक रोगो के शमन के लिये अभिकल्पना (design) की गई है। १९३५ मे मोनिज (Moniz) और लिमा (Lima) ने ललाट-खडछेदन (frontal labotomy) मनोविक्षिप्ति (psychosis) के रोगियो की चिकित्सा के लिये किया था। आगे चलकर फ्रीमैन और वाट्स (Freeman, Watts) ने इस प्रविधि मे कुछ रूपान्तर किया। इस प्रविधि का उद्देश्य पुरोललाट (prefrontal) क्षेत्र का चेतक के अभिपृष्ठ अभिमध्य केन्द्रक (dorsal medial nucleus) तथा अधश्चेतक के साथ संबंध को विच्छिन्न करना था। इस हेतु कई प्रकार की प्रविधियो का आविष्कार किया गया है। हाल ही में चेतक और जालाकार रचना (reticular formation) पर भी त्रिविम स्पर्श (stereotactic) विधियो से शस्त्रकर्म करने का प्रयत्न किया गया है।

अपस्मार (epilepsy) का शस्त्रकर्म

जिन रोगियो मे आकर्षी विकार (convulsive disorders) होते है उनके प्रान्तस्था (मस्तिष्क) के वैद्युत विभव (eletrical potential) का

सावधानी से वैद्युत मस्तिष्कलेखन (electro-encephalography) द्वारा अध्ययन करके अपसामान्य क्षेत्र का पता लगाया जा सकता है। अपसामान्य वैद्युत विसर्जनों (abnormal electrical discharges) के स्थान-निर्धारण के पश्चात् उस क्षेत्र के अपहरण से आक्षेपी विकारों का नियत्रण संभव है। शस्त्र-कर्म के समय वैद्युत प्रान्तस्था लेखन (electrocorticography) द्वारा एब्लेशन (ablation) या अपहरण के लिए क्षेत्र का निश्चित स्थान निर्धारण करने मे सहायता मिलती है। पैनफील्ड (Penfield) और उसके सहयोगियो ने अपने शस्त्रकर्म किये हुए रोगियो मे 60 प्रतिशत को आरोग्यलाभ की रिपोर्ट की है।

शैशव अर्धांगघात (infantile hemiplegia) की शस्त्रकर्म द्वारा चिकित्सा

शैशव अर्धांगघात एक सलक्षण है जो शैशवकाल मे या प्रारभिक बाल्यकाल मे बिना किसी ज्ञात कारण अथवा ज्वर या आक्षेपों के उत्पन्न हो जाता है। अर्धांगघात शनै शनैः कम हो सकता है। किन्तु ऊर्ध्व प्रेरक न्यूरोन विक्षति (upper motor neurone lesion) जीवनभर बनी रहती है। बच्चे के बढ़ने पर निम्न लक्षण प्रकट हो सकते हैं।

(1) अर्धांगघात (hemiplegia), विरूपित सकुचित हाथ और जघा सहित।

(2) आक्षेप, जो औषधि की प्रचुर मात्राओ से भी नियत्रित न हो।

(3) मानसिक अतिमन्दन (marked mental retardation) और व्यपजनन (degeneration)।

चिर रोगियो मे मानसिक अपह्रास निरन्तर रहा है और अदम्य (uncontrollabe) आक्षेप भी रहे हैं। उनमे उस क्षेत्र के, जिसमे विशेष अप-सामान्य वैद्युत विसर्जन (electrical discharges) होते है, पर्शिवक खडोच्छेदन (partial lobectomy) से लेकर गोलार्धोच्छेदन तक किया गया है। गोलार्धोच्छेदन से, जिसमे गोलार्ध का केवल वह भाग जो पुच्छी केन्द्रक (caudate nucleus), पुटामेन और पाण्डुर पिंड (globus pallidus) के अभिमध्य ओर स्थित है उसको छोड दिया जाता है, अपस्मार के आक्रमणो का शमन होता मालूम होता है और प्रेरक अपह्रास (motor deterioration) या सवेदन हानि भी नही होती।

अनैच्छिक (involuntary) गतियों और दृढ़ता (regidity) की शल्य चिकित्सा

आधारी गडक रोगो (basal ganglia diseases) मे, जैसे पार्किन्सन रोग

(Parkinson's disease) कोरियोएथीटोसिस (choreoathetosis), वेलिस्मस (ballismus) और पेशी विरूपी दुस्तानता (dystonia musculorum deforman) मे,अनैच्छिक गतियो और दृढता के शमन के लिये, अनेक प्रयत्न किये गये है। पहिले प्रान्तस्था कर्तन (ablation), पिरामिडि पथपरिच्छेदन (pyramidal tract section) वृन्त मे या ग्रैव प्रदेश मे, तथा आधारी गडिकाओं का विवृत शस्त्रकर्म द्वारा विनाश, ये सब प्रयत्न किये गये थे। फिर, यह मालूम हुआ कि अग्रकोरोइडी धमनी (anterior choroidal artery) के बधन से लक्षणों का शमन होता है। हाल ही मे, पाण्डुर पिंड के अथवा चेतक के अभ्युदर-पार्श्व केन्द्रक (ventrolateral nucleus) के विनाश से उत्साहवर्धक परिणाम हुए है।

मस्तिष्क और मेरुरज्जु की जन्मजात असंगतिया

लगभग 60 प्रतिशत जन्मजात विरूपताओ मे तन्त्रिकातन्त्र, उसके तानिका-आच्छादन, अथवा सपीपस्थ अस्थि सरचनाये ग्रस्त होती है। केन्द्रीय तन्त्रिका-तन्त्र और उसके आच्छादनों की जन्मजात असगतियो मे अयुक्त मेरुदड (spina bifida) और अयुक्त कपाल (cranium bifidum), जन्मजात जल शीर्ष (hydrocephalus), आर्नोल्ड-चियारी विरूपता (Arnold-Chiari malformation), कपाल अस्थिसयोजक (craniosynostosis), प्लेटीबेसिया (platybasia) और त्वक् नाडीव्रण (dermal sinus) है।

अयुक्त मेरुदंड (Spina bifida)

यह मेरु अक्ष (spinal exis) की परिवर्धनीय असगति है और सबसे अधिक पाई जाती है। यह असगति सबसे अधिक कटि-त्रिक (lumbosacral) प्रदेश मे होती है; शेष ग्रैव और उरो प्रदेशो मे होती है। इसका कारण यह है कि भ्रूणावस्था मे मेरुनलिका का मध्य भाग उरो प्रदेश मे बन्द होना प्रारम्भ होता है और कटित्रिक और ग्रैव प्रदेशो मे समाप्त होता है जिससे इन दोनो प्रदेशो मे असगति की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। साधारणतया अयुक्त मेरुदड का कोई नैदानिक महत्त्व नही होता। यह असगति तन्त्रिकीय बहिर्जनस्तर (neural ectoderm) के अन्तर्वलन (invagination) और उपकलीय (epithelial ectoderm) बहिर्जनस्तर से पृथक् होने की खडाशिक अपसामान्यता (segmental abnormality) तथा उसी खडाश के आद्य मध्यजनस्तर के परिवर्धन के कारण होती है। यदि परिवर्धनदोष मध्यजनस्तर से उत्पन्न

सरचनाओ तक सीमित रहता है तो पृष्ठ तक वहिसरण नही होता और तव 'गुप्त अयुक्तमेरुदड' (spina bifida occulta) वनता है। किन्तु यदि उपकलीय और तन्त्रिकीय वहिर्जनस्तर भी सम्मिलित होते है तो मस्तिष्कावरण हर्निया (meningocele) और मेरुरज्जुतानिका हर्निया (myelomeningocele) सहित अयुक्त मेरुदड वनता है। आच्छादनो के पूर्ण अभाव होने पर, जिससे तन्त्रिकीय ऊतक शरीर के पृष्ठ तक उभर आता है, अयुक्त मेरुदड के साथ मेरुदडविदर (rachischisis) भी होता है। मेरुदडविदर के शिशु मृतजात (stillborn) होते हैं या शीघ्र ही मर जाते है।

अयुक्त मेरुदड की उपस्थिति वालो की अपसामान्य वृद्धि, त्वक वाहिकार्वुदमय कुरचनाओ (cutaneous angiomatous malformation), वसा ऊतक का पिंड, अथवा असगति की स्थिति पर की त्वचा को दावने से उसमें गढ़ा पडने से सूचित होती है। अनेक रोगियो मे लक्षणो के न होने पर चिकित्सा की आवश्यकता नही होती। जिन रोगियो मे उसके साथ टरटोमा, तान्तवार्वुद या या वसार्वुद होने से दाव (pressure) के लक्षण होते हैं उनमे सर्जरी की सहायता आवश्यक है। तन्त्रिकीय दोपो के वढते रहने पर क्षति की स्थिति जानने के लिये मेरुरज्जुचित्रण किया जा सकता है।

चित्र 208—कटिमस्तिष्कावरणहर्निया (मेनिंगोसील)।

मस्तिष्कावरण हर्निया (meningocele, मेनिंगोसील)

ये अधिकतर कटिप्रदेश मे पाई जाती हैं (चित्र 208)। उसके पश्चात् वे अवपश्चकपाल या उच्च ग्रैव प्रदेश मे होती हे; मेरुदड के अन्य प्रदेशो मे भी हो सकती है। वह एक चपटा आंशिक उपकलाच्छादित कला (epithelialised membrane) से आवृत पिंड हो सकता है, या एक पतली, सव्रण पारदर्शी (transparent) कला का वृहत् कोश हो सकता है; उसमे वृन्त के समान एक पतला आधार हो अथवा वह प्रसामान्य, त्वचा से आच्छादित मस्तिष्कावरण हर्निया हो। उसमे पारप्रदीपन (transillumination) मे कभी-कभी तंत्रिकातन्तु दीख जाते है। खासने पर सभी मस्तिष्क आवरण हर्नियाओ मे उनपर रखे हाथ को धक्का या आवेग प्रतीत होता है।

तन्त्रिकीय लक्षण, लक्षणो के अभाव से लेकर विक्षति के तल से नीचे प्रेरक, सावेदनिक तथा आशय क्रियाओ की पूर्ण हानि तक हो सकते है। साथ ही जन्म-जात जलशीर्ष होना असाधारण नही है, अन्य अपसामान्यतायें भी हो सकती हैं। यह भी देखा गया है कि मस्तिष्कावरण हर्निया को सुधारने के पश्चात् कुछ रोगियो मे जलशीर्ष हो जाता हैं। अन्य दशाओ के अनुकूल होने पर मस्तिष्कावरण हर्निया तथा मेरुरज्जु-मस्तिष्कावरण हर्निया (myelomeningocele) को शस्त्र कर्म द्वारा सुधारना आवश्यक होता है।

चिकित्सा दोपो का प्लास्तिक सुधार करना है, यह ध्यान रखा जाय कि समस्त तन्त्रिका ऊतक अक्षुण्ण रहे।

अयुक्त कपाल (cranium bifidum)

कपाल की अस्थियो के सयोजनदोपो से मस्तिष्कावरण हर्निया (meningocele) तथा मस्तिष्क की आवरणो सहित हर्निया (encephalomaningocele) हो सकती है; वह सवसे अधिक पश्चकपाल क्षेत्र मे होती है। साथ ही तन्त्रिका ऊतक तथा प्रमस्तिष्कमेरुतरल के प्रवाह पथों की विरूपागताये (malformations) भी साधारण है। विरल अवसरों पर मस्तिष्क हर्निया नासा गुहा और नासाग्रसनी मे प्रवर्धित हो सकती है। मस्तिष्क हर्निया के प्ररूप मेरुदड मे होने वाली विक्षतियो के प्ररूपो के समान है।

मस्तिष्क की अनुत्क्रमणीय हानि (irreversible damage) हुए रोगियों के अतिरिक्त, अल्प वय ही मे शस्त्रकर्म द्वारा मस्तिष्कावरण हर्निया का अपहरण करना उचित है।

जलशीर्ष, जलपाल (Hydrocephalus)

केन्द्रीय तन्त्रिकातन्त्र सामान्यतया प्रमस्तिष्कमेरुतरल मे निमज्जित रहता है, जो आपस मे सबधित कई अवकाशों से भरा हुआ है, ये पार्श्वनिलय, तृतीय निलय, सिलवियन कुल्या, चतुर्थ निलय, वृहत आधारी कुड (basal cisterns) तथा अतिविस्तृत अवअरकनाइड अवकाश है। यह अतिम अवकाश प्रमस्तिष्क और अनुमस्तिष्क गोलार्धो तथा मेरुरज्जु को घेरे हुए है।

प्रमस्तिष्कमेरुतरल के वनने और अवशोषित होने की क्रियाविधि अभी तक ठीक-ठीक मालूम नही है। किन्तु इसमे सन्देह नही है कि उसकी उत्पत्ति का मुख्य स्थान निलयों के भीतर है और उसका अवशोपण के प्रान्तस्था पर आच्छादित पाया अरकनाइड के वाहिकाक्षेत्र द्वारा होता है जो प्रमस्तिष्क के प्रान्तस्था को आच्छादित किये है। प्रमस्तिष्कमेरु तरल के प्रवाह की दिशा निलयो मे से मस्तिष्क के पृष्ठ की ओर को है।

जलशीर्ष मे निलयो का आकार वढ जाता है। अतएव वह प्रमस्तिष्क-मेरुतरल के प्रवाह-मार्ग के अवरोध से उत्पन्न होता है, अथवा प्रसामान्य गति से उसके अवअरकाइड अवकाश मे स्थित अवशोपक क्षेत्र तक पहुचने की असमर्थता का परिणाम होता है।

जन्मजात जलशीर्ष के प्रकार—जन्मजात जलशीर्ष दो प्रकार का होता है, असयोजी और सयोजी।

असंयोजी जलशीर्ष (non-communicating hydrocephalus)—सिलिवियस की कुल्या अथवा चतुर्थ निलय के आधारी कुडो (basal cisterns) मे निर्गम पर, अर्थात् मागेन्डी और लुश्का (Magendie and Luschka) के रन्ध्र मे, अवरोध होता है, जिससे निलयो और मेरुरज्जु के अवअरकनाइड अवकाश के वीच कोई सयोजन या सम्वन्ध नही रहता। कुल्या की अविवरता (atresia) अवरोध का सवसे वडा कारण होता है। अविवरता की भी कई सीमाये या डिग्री हो सकती है। कुल्या उपस्थित ही न हो, अथवा वह अन्तरीयक (ependymal) कोशिकाओ के पिंड में लुप्त हो जाय। एक कला द्वारा कुल्या का अवरुद्ध होना भी सभव है, अथवा कुल्या की दो शाखाये होकर वह समाप्त हो जाएँ। किसी प्रकार से भी प्रमस्तिष्कमेरुतरल के मार्ग मे अवरोध हो, उसका परिणाम अवरोध से पूर्व भाग का विस्फार होता है।

संयोजी जलशीर्ष (communicating hydrocephalus) तव होता है जव प्रमस्तिष्कीय अवअरकनाइड अवकाश का जन्म ही से विकास नही होता

और निलयों तथा मेरुरज्जु के अवअरकनाइड अवकाश के बीच मार्ग का संबंध होता है।

लक्षण और चिह्न—जन्मजात जलशीर्ष में सिर का बढ़ जाना प्रथम स्पष्ट लक्षण होता है (चित्र 209)। यदि गर्भाशयगत अवस्था से जलशीर्ष आरंभ हो जाता है तो बिना सिर का नाश किये प्रसव असम्भव होता है। बहुधा जन्म के समय शिरोवृद्धि ध्यान नहीं आकृष्ट करती, किन्तु प्रसव के कुछ ही मासों में वह स्पष्ट हो जाती है। करोटि सब ही व्यासों में बढ़ती है और शीर्ष (vertex) पर सबसे अधिक बढ़ी दीखती है, माथा गोल और अतिवर्धित तथा सामने

चित्र 209—जलशीर्ष (हाइड्रोकिफेलस)

को निकला हुआ होता है, शङ्खपात लुप्त हो जाते हैं और पार्श्विकोत्सेध पीछे को चले जाते हैं। करोटि-अन्तराल (fontanelles) चौड़े हो जाते हैं और सीवनियां भी चौड़ाकर दूर-दूर हो जाती हैं। अन्तराल ऊपर को उभर जाते हैं जो अन्तःकपाली दाब की वृद्धि का द्योतक है। सिर का आकार इतना विस्तृत हो सकता है कि बच्चा उसको उठा भी न सके। ललाटास्थि के नेत्रगुहा-पट्टों (orbital plates) पर भी इतनी दाब बढ़ जाती है कि वे नीचे को दबकर

नेत्रगोलक को दवाते है जिससे अधोवर्त्म (lower eyelid) तारो (pupils) को ढक लेते है और नेत्र का श्वेत भाग दीखने लगता है। शिर के वाल झड़ जाते हैं; शिरोवल्क की विस्फारित अतिवर्धित अधस्त्वक् शिरायें अग्र अन्तराल (anterior fontanelle) से चारो ओर को जाती दीखती है।

तन्त्रिकीय लक्षण और चिह्नो मे दशा की उग्रता के अनुसार वहुत भिन्नता पाई जाती है। आक्षेप, मानसिक अविकास, अतिक्षोभ (hyper-irritability) अंगो का सस्तभी घात, (spastic paralysis of limbs) वर्धित कडरा-प्रतिवर्त (tenden reflex) और गुल्फ-अवमोटन (ankle clonus), दृष्टि-तन्त्रिकाशोप और अधता, वधिरता, अक्षिदोलन तथा वमन ये सव हो सकते है। किन्तु ये लक्षण तथा चिह्न सदा नही पाये जाते।

शल्य चिकित्सा—शल्य चिकित्सा विधियो को तीन समूहो मे विभक्त किया जा सकता है—

(1) अवरोधी जलशीर्प मे प्रमस्तिष्कमेरु तरल का लघुपथ करण (short circuiting), जिसमे अवरोध के वाहर ही से मार्ग का पुनर्निर्माण किया जाता है। इसके लिये जो विधिया प्रयुक्त हुई है वे निलयकुडछिद्रीकरण (ventriculocisternostomy), तृतीय निलयछिद्रीकरण (third ventriculostomy) और कुल्या का पुनर्नलिकाकरण (recanalization) है।

(2) कोरौइड जालिका को नष्ट करके प्रमस्तिष्कमेरु तरल की उत्पत्ति घटाना।

(3) प्रमस्तिष्क मेरुतरल के मार्ग को वदलकर उसको शरीर की गुहाओं तथा अवकाशो मे और रक्तपरिसंचार मे ले जाना। प्रमस्तिष्कमेरुतरल को शरीर के सव ही अवकाशो मे, जहा भी सभव हो सका है, भेजने का प्रयत्न किया गया है, अधस्त्वक ऊतक, कर्णमूल (mastoid), प्लूरा गुहा, पर्युदर्या-गुहा, गवीनी, डिंव वाहिनी (fallopian tube), अस्थिमज्जा, लसीका महा-वाहिनी, शिरारक्तसचार और हृदय के दक्षिण अलिन्द, इन सव ही का प्रयोग किया गया है। किन्तु इनमे से अधिकतर विधियो का त्याग कर दिया गया है, सवसे सतोपजनक परिणाम निलय-अलिन्द लघुपथ (ventriculo-atrial shunt) मे एकमार्गी कपाटिका (one way valve) के प्रयोग से हुआ है। सव प्रकार के जलशीर्पो मे निलय-अलिन्द लघुपथ की प्रविधि प्रयोग की जाती है जिससे जलशीर्ष के सयोजी और असयोजी वर्गो मे वाटने की भी आवश्यकता नही रहती।

यह स्मरण रखना चाहिये कि जन्मजात जलशीर्ष के वहुत से रोगियो मे,

प्रमस्तिष्कमेरु तरल के अवशोषण की वृद्धि से या उसकी उत्पत्ति के घट जाने से, रोग का स्वत.सरोध हो जाता है। वास्तव मे चिकित्सा का एक मुख्य उद्देश्य इस स्वत.सरोध की पर्याप्त समय तक प्रतीक्षा करना है।

निलयो के अतिविस्तार से मस्तिष्क के सार (मुख्य) ऊतक का ह्रास होता है जिससे मानसिक विकास नही होता और आक्षेप होने लगते है।

आर्नोल्ड-चिआरी विरूपांगता (कुरचना) (Arnold-Chiari malfor nation)

इस विरूपागता मे अनुमस्तिष्क के भाग ऊर्ध्व ग्रैव नलिका मे चले जाते है और मेरुशीर्प लवा हो जाता है तथा उसका मोटन (Kinking) हो जाता है। सभव है यह दशा मेरुरज्जु मस्तिष्कावरण हर्निया (myelomeningocele) के सव रोगियो मे थोडी-वहुत होती हो और जलशीर्ष उत्पन्न करती हो। जलशीर्प की उग्रता विरूपागता के प्रत्यक्ष अनुपात मे होती है।

जलशीर्ष की चिकित्सा से पूर्व इस विरूपागता को सुधारना आवश्यक है। इसी से जलशीर्प का शमन सभव है। जलशीर्ष के द्रुत प्रगति करने पर, विशेपकर मस्तिष्कावरण या मेरुमस्तिष्कावरण हर्नियाओ के सुधार के पश्चात् भी वह यदि वैसा ही वढता रहे, तो उपर्युक्त निर्हरण (drainage) विधियो मे से किसी को प्रयोग करना आवश्यक है।

प्लेटीवेसिया

प्लेटीवेसिया वह दशा है जव महारध्र (foramen magnum) और ऊर्ध्व ग्रैव मेरुदड का पश्चखात में अन्तर्वलन (invagination) होता है जिससे आधारी कोण (basal angle) वढकर 150 अश का हो जाता है।

करोटि के आधार मे एक रचनात्मक दुर्वलता है जो प्राथमिक हो सकती है या अस्थिमृदुता और पेजेट रोग की अथवा अन्य रोगो की द्वितीयक हो। ऊर्ध्वाधर (erect) स्थिति तथा शिर का भार अन्तर्वलन का कारण होते है जिससे महारन्ध्र के चारो ओर की सरचानाओं, निम्न कपाली तलिकाओ, अनुमस्तिष्क और पिरामिडी तथा सावेदनिक पथ का मस्तिष्क-स्तभ पर सपीडन होता है जिससे अनेक लक्षण उत्पन्न होते है। प्रमस्तिष्कमेरुद्रव का भी रोध हो सकता है।

करोटि के पार्श्व एक्सरे चित्रो में दन्ताभ प्रवर्ध, कठिन तालु से महारन्ध्र की पश्च धारा तक खिची हुई रेखा से ऊपर निकला हुआ दिखाई देगा। महारन्ध्रप्रदेश के विसपीडन के लिये शस्त्रकर्म किया जाता है।

चित्र 210—कपालसकीर्णता के एक रोगी की करोटि का अग्रपश्च दृश्य जिसमे कुट्टित रजतपत्र आकृतियाँ (beaten silver appearance), सीवनियो की अनुपस्थिति (आभासी) और अस्थियो का पतला हो जाना दीख रहा है।

कपाल संकीर्णता, (क्रेनियोस्टिनोसिस Craniostenosis)

यह परिवर्धन की एक अपसामान्यता है जिससे करोटि की अस्थिया शीघ्र ही आपस मे जुड जाती है। इससे अन्त कपाली दाव की वृद्धि होती है तथा अन्धता, वधिरता और मानम मन्दता (mental retardation) हो जाती है। शीघ्र ही दशा को पहचान कर उसकी उपयुक्त चिकित्मा न करने से मस्तिष्क को स्थायी हानि पहुँचती है। शस्त्रकर्म मे कपाल अस्थियो को लघु खडाशो मे विभक्त कर दिया जाता है जिससे मस्तिष्क के विवर्धन मे कोई वाधा न पडे।

त्वक् नाड़ीव्रण (Dermal sinus)

यह एक लघु खुला हुआ छिद्र होता है जो प्रमस्तिष्कमेरु अक्ष के परिवर्धन के दोष के कारण, उसके पूर्णतया बन्द न होने से पश्च ओर रह जाता है। यह छिद्र दृढ़तानिका तक पहुँच सकता है और तानिकाओं के बारम्बार शोथ का कारण होता है। उसके अन्त पर एक डरमाइड पुटी हो सकती है।

नाड़ीव्रण का सम्पूर्ण निर्मूलन उसकी चिकित्सा है।

मेरुदंड और मेरुरज्जुपुच्छ की अभिघातज क्षतिया (Traumatic lesions of spinal cord and cauda equina)

मेरुदड के आघातों मे मेरुरज्जु और मेरुरज्जुपुच्छ भी क्षत हो सकती हैं। वे (1) अप्रत्यक्ष आघात (indirect) से क्षत हो सकती है जैसे गिरने से या मोटर दुर्घटनाओ मे; (2) प्रत्यक्ष आघात, जैसे कुचलने से अथवा (3) वेधक (penetrating), आघातो से, जैसे गोली लगने या छुरा भोंकने आदि से क्षत हो सकती है।

आघात से उत्पन्न हुई रोगी की दशा आघात की स्थिति और सीमा पर निर्भर करती है; निम्न ग्रैव प्रदेश के आघात से चतुरागघात (quadriplegia) उरो अथवा ऊर्ध्व कटि प्रदेश के आघात से अधरांगघात (paralegia) और मेरुरज्जुपुच्छ के आघात से निम्न न्यूरोन विक्षति होती है (lower motor neurone lesions)

ये विक्षतिया अग्र या पश्च अस्थिभग संधिच्युति, अन्त: कशेरुक चक्रिका की पश्चच्युति, टूटे हुए फलक खडो के (laminar fragments) दवाव, गोली या वेधने के घावो अथवा मेरुरज्जु और उसके चारों ओर के क्षेत्र में रक्तस्राव से होती है।

आघात के प्ररूप

आघात की उग्रता या सीमा को इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है।

पूर्ण विच्छेद (complete severance)—यह प्राय: अस्थिभग-सधिच्युति या कुचलने वाले आघातो से होता है।

सम्पीडन (compression)—विस्थापित कशेरुका-काय, अस्थि के टुकड़े (fragments), बाह्य शल्य, और अन्त: दृढतानिकीय, दृढ़तानिका बाह्य अथवा, अन्तर्मेरुशीर्ष रक्तस्राव मेरुरज्जु का अग्र संपीडन उत्पन्न कर सकते है।

मेरुरज्जु का नील (contusion)—यह मृदु आघात से होता है।

मेरुरज्जु का संघट्टन (concussion)—यह शब्द सामान्य कार्य के विकृत हो जाने का द्योतक है जिसमे अंग मे कोई रचनात्मक परिवर्तन नही होता। अल्प समय ही मे कार्य फिर पूर्ववत् होने लगता है। सघट्टन से अन्तर्न्यूरोन वस्तु को धक्का पहुँचता है और उसके द्वारा तन्त्रिका-सवेगो का सचालन अनियमित हो जाता है जो विद्युत परिवर्तनो के रूप मे देखा जाता है।

वाहिका परिवर्तन—मेरुरज्जु आघातो मे कोशिका रक्तस्राव और वाहिकाओ मे घनास्रता का वर्णन किया गया है।

मेरुरज्जु आघात की उग्रता या डिग्री कशेरुकाओ के अग्र-पश्च ओर विस्थापित होने तथा उनके विवर्तन (rotation) पर निर्भर करती है। अतिम आरोग्य लाभ मेरुरज्जु की दशा पर निर्भर करेगा। रचनात्मक हानि यत्र तत्र सूक्ष्म रक्तस्राव से लेकर पूर्ण विभाजन तक हो सकती है।

लक्षण और चिह्न

पूर्ण पार परिच्छेदन (complete transection)—इससे उत्पन्न हुए लक्षणो को तीन अवस्थाओ मे वाटा जा सकता है।

मेरुरज्जु स्तब्धता का काल (spinal shock period)—पेशी पूर्णतया शिथिल (flaccid) और अशक्त हो जाती है। उपरिस्थ, गभीर या वैकृत प्रतिवर्त अनुपस्थित होते है। आघात के स्तर से नीचे सवेदनो का पूर्ण नाश हो जाता है। मूत्र-अवधारण (retention) होता है और आन्त्र काम नही करता।

प्रतिवर्त सक्रियता काल (Reflex activity period)—पेशियो की तान मे वृद्धि होती है। अध शाखा के उद्दीपन से नितव का आकुचन और ऊरू जघा और जानु का अभिवर्तन होता है। सामूहिक प्रतिवर्त प्रमुख होते है; वैकृत प्रतिवर्त भी उपस्थित होते है।

प्रतिवर्त कार्यकाल (reflex function period)—धीरे-धीरे प्रतिवर्त कार्य (reflex function) होने लगते है, यदि पेशियो के अभ्यास तथा पुन:क्षमीकरण (rehabilitation) की ओर ध्यान दिया गया है। सामूहिक प्रतिवर्तो के उचित उपयोग द्वारा मूत्राशय तथा मूत्रत्याग पर पूर्ण नियत्रण प्राप्त किया जा सकता है।

अपूर्णविक्षतियां (incomplete lesions)—मेरुरज्जु आघातो के सव रोगियो मे ये तीनो अवस्थाये नही मिलती और उपस्थित लक्षण और चिह्नो की सीमा या उग्रता मे भी वहुत भेद पाया जाता है। अपूर्णविक्षतियो मे प्रसारण प्रकार की गतिया वहुधा उपस्थित होती है जिससे प्रसारण अधरांगघात

(paraplegia in extension) उत्पन्न होता है। इसका कारण कुछ जालक-मेरुरज्जु पथो (reticurospinal tracts) का बचा रहना है। पूर्ण क्षति से आकुचन अधरागघात होता है, क्योकि जालकमेरुरज्जु पथ प्रारम्भ ही से विच्छिन्न होते है।

मेरुरज्जुपुच्छ विक्षतियां (cauda equina lesions)—मेरुरज्जुपुच्छ द्वितीय कटिकशेरुक के तल पर बाहर निकलती है। अतएव इस तल पर के अथवा इससे नीचे के आघातों से तन्त्रिकाओ के निम्न प्रेरक न्यूरोन विक्षतियो (lower motor neurone lesions) के चिह्न उत्पन्न होते है। बहुधा मूत्रत्याग और मलत्याग की असयति (incontinuence) होती है। तन्त्रिका मूल प्रकार की वेदना उपस्थित हो सकती है।

उपचार

तत्काल या आपदकाल आयोजन और शल्य उपचार का आमापन (assessment)—मेरुरज्जु क्षति तथा साथ की अन्य क्षतियो का आमापन और शल्य-स्तब्धता का सुधार प्रथम आवश्यकताये है।

रोगी को ले जाना (transport)—रोगी को स्ट्रेचर पर ले जाने मे रोगी का मेरुदड-अक्ष किसी प्रकार भी न मुडने पाये, टागो का नीचे को, और बाहुओ का शिर सहित ऊपर को, मेरुदड के अक्ष मे, कर्षण करके रोगी के समस्त शरीर को लुढका दिया जाय या एक स्तभ की भाति ले जाया जाय। ग्रैव आघातो मे कर्षण और भी आवश्यक है।

आपद्कालीन शस्त्रकर्म का निश्चय—निम्न दशाये शस्त्रकर्म की अभिसूचक (indications) है।

(1) मेरुरज्जुरोध (spinal block) का प्रमाण, जैसा मेनोमीटर द्वारा मालूम हो सके।

(2) सधिच्युति तथा फलक-अस्थिभग, एक्सरे द्वारा प्रदर्शित।

(3) सधिच्युति जिसमे सधि पृष्ठक (articular facets) अटक जाय।

(4) शल्य (foreign body) की उपस्थिति।

(5) तन्त्रिकीय क्षति की प्रगति का प्रमाण।

कुछ समय तक विलब के पश्चात शस्त्रकर्म निम्न दशाओ मे करना उचित है।

(1) मेरुरज्जुरोध के लक्षण।

(2) लक्षणो मे उन्नति होने के पश्चात फिर अवनति।

शस्त्रकर्म—फलकोच्छेदन और मेरुरज्जु विसम्पीडन किये जाते हैं। इसके साथ ही स्थायीकरण (stabilization) प्रक्रियाये भी की जा सकती है।

ग्रैव मेरुदंड के अस्थिभगों मे उस ही के अक्ष मे क्रचफील्ड (Crutchfield) टौंग या चिमटे से अस्थि-कर्षण (skeletal traction) किया जाता है रोगी को ले जाने के समय 10-15 पौंड का भार लगाकर ग्रीवा को तनी हुई या खिची दशा में रखा जाता है। एक्सरे तथा मेनोमीट्री परीक्षाओ के समय भी रोगी को इसी दशा मे रखना उचित है। यदि मेनोमीट्री से रोध मालूम हो तो मेरुरज्जु का विसम्पीडन किया जाता है।

अधरांगघात की सामान्य सुश्रुषा

मूत्राशय कार्य—प्रारम्भिक अवस्था मे केथिटर से मूत्र निकालना तथा केथिटर को निरन्तर या सविराम निर्हरण के लिए रखना आवश्यक हो सकता है। किन्तु अन्तिम उद्देश्य मूत्राशय को स्वय मूत्रत्याग का अभ्यस्त करना है। मूत्राशयी सक्रमण यदि हो तो उसकी उचित चिकित्सा की जाय।

आंत्र कार्य—प्रारम्भ मे उदर का आध्मान तथा आन्त्रघात और मलाशय सवरणी (rectal sphincter) का आकर्ष, हो सकते है। आध्मान की चिकित्सा आंत्रवायुनली (flatus tube) अथवा अन्तर्जठर-आचूषण (intra gastric suction) से की जाती है। पुर:सरण (peristalsis) के पुन. प्रारम्भ होने और सवरणी के आकर्ष की समाप्ति के पश्चात् उनका अभ्यास प्रारम्भ कराया जा सकता है।

पुनर्क्षमीकरण (Rehabilitation)

तीव्र अवस्था समाप्त होते ही पुनर्क्षमीकरण प्रारम्भ हो जाना चाहिये जिसके लिये भौतिक और मानसिक दोनो प्रकार के आयोजन आवश्यक है। घातित (paralysed) पेशियो की जितनी वृद्धि हो सके की जाय। रोगी को स्पिलन्टो अथवा पहिये वाली कुर्सी की सहायता से चलाने-फिराने के प्रश्न का भी विचार करना चाहिए। रोगी का शारीरिक त्रुटि को मान लेना और उपयोगी जीवन व्यतीत करने की उसकी धारणा उसके पुनर्क्षमता प्राप्त करने मे वहुत सहायक होती है। उपर्युक्तानुसार इन रोगियो को उपयोगी जीवन व्यतीत करने के पुन योग्य न वनाने पर उनमे से कितने ही सामाजिक और आर्थिक हीन दशा मे अन्त होता है। इस प्रकार, अधरागघात के रोगियो की चिकित्सा

नैदानिक रूप

सामान्य लक्षण और चिह्न—

वेदना—तीन प्रकार की वेदना पाई जाती है—मूलक (radicular), पथ (tract) और कशेरुकीय (vertebral)। इनमें से मूलक वेदना सबसे अधिक होती है। इसमे डर्मेटोमो (dermatomes) के वितरणक्षेत्र मे तीव्र चुभन के समान वेदना होती है और छीकने, खाँसने या वल करने से वढ़ जाती है। पथ वेदना क्षत के स्तर से नीचे होती है; वह विसरित जलन के समान वेदना वताई गई है। वह मेरुचेतक-पथ (spinothalamic tract) के ग्रस्त होने के कारण होती है। कशेरुकीय वेदना दाव अपरदन (pressure erosion) से उत्पन्न होती है और गम्भीर मन्द वेदना होती है।

प्रेरक दुर्बलता (motor weakness)—मेरुरज्जु की अवकाशपूरक विक्षति का साधारण लक्षण एक अंग (limb) मे प्रेरक दुर्वलता प्रारम्भ होकर दूसरी ओर के अग मे फैल जाना है। दुर्वलता क्रमश. वढती रहती है।

सांवेदनिक परिवर्तन (Sensory changes)—एक या अधिक सवेदनो के घट या वढ जाने के पश्चात् उनकी पूर्ण सवेदनाहानि हो सकती है। अन्तर्मेरु-शीर्ष विक्षतियों मे सवेदनो का वियोजन (dissociation) हो जाता है, स्पर्श रह जाता है और वेदना तथा ताप सवेदनों का लोप हो जाता है। इसका कारण मेरुचेतक पथ का जहाँ वे एक-दूसरे को पार (cross) करते है, वहाँ से क्षतिग्रस्त होना है। स्पर्श का दोहरा पथ होने से वह वच जाता है।

ब्राउन-सीकर्ड संलक्षण (Brown-Sequard syndrome)—अधिकतर अर्वुदो के मेरुरज्जु के एक या दूसरी ओर होने के कारण प्रेरक दुर्वलता और पश्च स्तम्भ दुष्कार्य (posterior column dysfunction) का एक ओर होना और दूसरी ओर ताप और वेदना सवेदनो की हानि होना असाधारण नही है। यह ब्राउन-सीकर्ड सलक्षण कहलाता है जो मेरुरज्जु के अर्धपरिच्छेदन (hemisection) से हो जाता है।

आशय सम्वन्धी लक्षण—स्वायत्त पथो के ग्रस्त होने से मूत्राशय और मलाशय के सवरणी नियन्त्रण मे परिवर्तन हो जाते है। संस्वेदन विकार, त्वचा में पोषक विकार आदि अन्य स्वायत्त परिवर्तन भी हो सकते है।

प्रादेशिक चिह्न (Regional signs)

महारन्ध्र संरक्षण (Faramen magnum syndrome)—महारन्ध्र प्रदेश के अर्वुद अन्त कपाली और अन्तर्मेरुरज्जु (intracranial, intraspinal) दोनो

मे मेनोमेट्रिक परीक्षणो से पूर्ण रोध उपस्थित मिलना असाधारण नही है और प्रमस्तिप्कमेरुतरल-परीक्षा से फ्रोइन सलक्षण (Froin's syndrome) मिलना भी सम्भव है जिसके विशेप लक्षण (1) पीतरजकता (xanthochromia), (2) प्रोटीन घटक का वहुत वढ जाना, जिससे स्वत आतचन होता है और (3) कोशिकाओ की सख्या मे वृद्धि, है।

अन्तिम अवस्था—अर्वुद इतना वढ जाता है कि वह मेरुरज्जु का सपीडन करके उसका क्रियात्मक (functional) पूर्ण पारपरिच्छेदन कर देता है। इस प्रकार अर्वुद से नीचे प्रेरक, सावेदनिक तथा आशयिक तन्त्रिका-क्रियाओ का लोप हो जाता है।

उपर्युक्त लक्षण और चिह्न वहि.सुपुम्ना (मेरु) अर्वुद के है। अन्त.सुपुम्ना (मेरु) अर्वुद प्रारम्भ ही से मुख्यतया आशयिक और प्रेरक लक्षण उत्पन्न करते है, किन्तु तन्त्रिकामूलवेदना नही होती।

निदान सम्बन्धी प्रक्रियाएँ

मेरुदंड की एक्सरे परीक्षा—अस्थिनाश, अपरदन, अथवा नवीन अस्थि-निर्माण एक्सरे चित्र द्वारा दीखता है। अन्तराकशेरुक रन्ध्रो का वडा हो जाना तन्त्रिकार्वुद का द्योतक हो सकता है।

कटिप्रदेश मे मेनोमीटर द्वारा परीक्षाएँ

क्वेकेन्स्टेड (Queckenstedt) ने यह प्रमाणित किया है कि ग्रैव संपीडन (jugular compression) से, यदि ऊपर कोई रोध न हो, तो कटि-प्रदेश मे प्रमस्तिष्कमेरु तरल की दाव वढ जाती है। इसी सिद्धान्त के उपयोग से ग्रीवा मे क्रमाकित (graduated) ग्रैव (jugular) सम्पीडन की वृद्धि और कटि प्रदेश मे प्रमस्तिष्क मेरुतरल की दाव मे वृद्धि का सम्बन्ध मालूम किया जा सकता है। इसके हेतु एक रक्तदावमापी (sphygmomenometer) की थैली को ग्रीवा पर लपेट दिया जाता है और व्यक्ति को करवट से लिटाकर कटिवेधन करने के पश्चात् उस ही सूचिका मे मेनोमीटर लगा दिया जाता है। रक्तदावमापी की थैली को फुलाकर ग्रीवा पर 10 सैकिंड तक 20-80 मिलीमीटर तक भिन्न-भिन्न दावो को उत्पन्न करने से कटि प्रदेश मे लगे हुए मेनोमीटर मे दाब की वृद्धि का अध्ययन किया जाता है। 10 सैकिंड मे जो वृद्धि हुई है उसको नोट कर लिया जाता है। थैली का पेच ढीला करके दाव को कम करने के पश्चात् प्रत्येक 5 सैकिंड के अन्तर से प्रमस्तिप्कमेरुतरल

की दाव को फिर नोट किया जाता है। साधारणतया वह 10-15 सैकिंड मे प्रसामान्य स्तर पर पहुँच जानी चाहिये। सूचिका के अवअरकनाइड अवकाश में होने पर भी, यदि ऐसा नही होता तो ऊपर रोध है। यदि रोगी के खाँसने या वल करने के साथ मेनोमीटर मे दाव घटती और वढती है तो सूचिका की नोक उपयुक्त स्थिति मे है। पूर्ण रोध होने पर भी यह घटना उपस्थित होती है। इस साधारण नैदानिक विधि से पूर्ण या अपूर्ण रोध मालूम किया जा सकता है।

प्रमस्तिष्कमेरुतरल परीक्षा

प्रमस्तिष्कमेरुतरल का प्रोटीनस्तर रोध के प्रत्यक्ष अनुपात मे वढता है, अर्थात् जितना रोध अधिक होता है प्रोटीन भी उतनी ही अधिक होती है। पूर्ण रोध मे एक फ्रोइन सलक्षण उत्पन्न हो सकता है।

विपर्यास मेरुरज्जु-चित्रण (contrast myelography)

अन्तर्मेरुरोध एक्सरे-अपार्य तैलीय रजक को अन्तर्मेरुवेष्टन-अवकाश (intrathecal space) मे प्रविष्ट करके और मेरुनलिका (spinal canal) मे ऊपर और नीचे को चालित करके, प्रदीप्तिपट पर देखा जा सकता है; मायोडिल या पेन्टोपेक (myodil, pantopaque) ऐसे रंजक हैं। दृढतानिका वाह्यरोध मे रजक ऊपर नही जाता और मायोडिल स्तभ का अनियमित (irregular) अन्त दिखाई देता है जिसकी समता ईधन की लकड़ियो के गड्ढे (bundle of faggot'e appearance) से दी गई है। किन्तु अन्तर्तानिका-अर्वुदो मे स्तभ के शिर पर गोल भरणन्यूनता (filling defect) दिखाई देती है जो शीर्ष कुरूपता (cap deformity) भी कही जाती है।

चिकित्सा

स्थान निर्धारण के पश्चात् फलकोच्छेदन (laminectomy) करने पर अर्वुद का अपहरण किया जा सकता है। अन्तर्तानिका ग्लायोमाओ की गभीर एक्सरे चिकित्सा आवश्यक हो सकती है; कुछ ग्लायोमा एक्सरे सुग्राही (sensitive) होते है।

पौट अधरांगघात (Pott's paraplegia)

पौट अधरांगघात मेरुदड के क्षयरोग से उत्पन्न होता है। यह अव भी

मेरुदड के क्षय का यह सबसे अधिक विकलांगकारी और भयप्रद उपद्रव है। मेरुदड का यक्ष्मा और अधरागघात का सम्बन्ध सन् 1550 मे मालूम था और सर पर्सीवाल पौट (Sir Percival Pott) ने सन् 1779 में उसका वर्णन किया था।

नैदानिक रूप

यक्ष्माजन्य अधरागघात का प्रारम्भ तीन प्रकार से हो सकता है।

(1) यक्ष्मा के ज्ञात रोगी मे अधरांगघात हो सकता है। सबसे अधिक इसी प्रकार से होता है; जिन रोगियो मे विक्षति विरोहित दीखती है उनमें भी अधरांगघात हो सकता है।

(2) अधरागघात रोग का प्रथम लक्षण हो सकता है और केवल अन्वेषण करने पर, विशेषकर ऐक्सरे द्वारा, मेरुदंड के यक्ष्मा का पता चलता है।

(3) मेरुरज्जु के अर्बुदो के समान, रोगी को क्रमश: वर्धमान अधरांगघात हो सकता है, मेरुदंड के रोग का कोई प्रमाण नही होता; ऐक्सरे से भी पता नही चलता। मेरुरोध का पता चल सकता है और विशेष अनुसंधान करने पर ही यक्ष्मा रोग का बोध होता है।

पश्चिमी देशो मे लिखी गई पाठ्य-पुस्तको के अनुसार आधे रोगियों को 10 वर्ष के वय से पूर्व रोग होना है और केवल तृतीयाँश रोगियों को रोग 11 और 33 वर्ष के बीच के वय मे होता है। किन्तु भारतवर्ष मे अधिकतर रोगी 11 और 30 वर्ष के बीच के होते है। मेरुदड के यक्ष्मा के प्रारम्भ और अधरागघात के प्रारम्भ के अन्तरकाल में अत्यन्त भिन्नता पाई जाती है; पहले से उसके सम्बन्ध मे कुछ कहना असम्भव है। कुछ मे रोग अधरांगघात से प्रारम्भ होता है। कुछ मे मेरुदड रोग के प्रारम्भ के कुछ सप्ताह से लेकर कुछ वर्षो पश्चात् अधरागघात होता है। तो भी अधिकतर मे अधरागघात मेरुदड-रोग के प्रारम्भ के 2 वर्ष के भीतर प्रारम्भ हो जाता है।

अधरांगघात की उग्रता तथा प्रगति मे, विकृतिजनक प्रक्रियाओ के अनुसार बहुत भिन्नता हो सकती है। पाँच वर्ष से कम के बालको मे रोग आरम्भ होने पर आवर्तक अधरांगघात (recurrent paraplegia) साधारण है। इसका कारण यह है कि बालकों मे चिकित्सा प्रारम्भ करने पर शीघ्र ही अधरागघात के लक्षणो का शमन होता है और इस कारण अधिकतर अपूर्ण चिकित्सा की जाती है। इस प्रकार, बालकों मे रोग का विनाशकारी क्रम बढता रहता है।

तन्त्रिका सम्बन्धी लक्षण विक्षति की स्थिति पर निर्भर करते है। अधरांग घात उत्पन्न करने वाली क्षति अधिकतर उरो प्रदेश मे स्थित होती है, जिसका विशेप कारण इस स्थिति मे मेरुदड-नलिका का सकुचित होना है जिसमे कशेरुकाओ का अन्य प्रदेशो की अपेक्षा अधिक विनाश होता है और मेरुदड का कोणीकरण (angulation कोणीय विरूपता) हो जाता है। अन्य प्रदेशो मे यक्ष्मा रोग के उपस्थित होने पर भी अन्य कोई क्षति न होना साधारण है। एक्सरे-चित्र रोग की स्थिति तथा क्षति के रूप का ठीक-ठीक ज्ञान करने के लिए अति उपयोगी होता है। विविक्ति (sequestrum) और विद्रधि का पता चल जाता है। मेरुरज्जु चित्रण सपीडन की यथार्थ स्थिति के ज्ञान मे सहायक होता है। मेरुदड के यक्ष्मा रोग मे अधरागघात अधिकतर मेरुरज्जु के यान्त्रिक सम्पीडन का फल होता है, यद्यपि कभी-अभी वह सम्पीडन के विन ही मेरुरज्जु मे हुए वाहिका-परिवर्तनो का परिणाम हो सकता है।

सम्पीड़न के कारण

निम्नलिखित मे से किसी भी कारण से मेरुरज्जु का सपीडन हो सकता है

विद्रधि (abscess)—यह पराकशेरुक विद्रधि के रूप मे उत्पन्न हो‌.। है। सक्रमण कशेरुको की काय मे स्थित होता है। विद्रधि के भीतर की दाव के कारण पूय मेरुरज्जु के दृढतानिका-वाह्य अवकाश मे चली जाती है और वह दृढतानिका के वाहर से मेरुरज्जु का सम्पीडन करके अगघात उत्पन्न करती है। सवसे अधिक यही कारण होता है। यदि पूय किसी अन्य क्षेत्र मे या त्वचा द्वारा वाहर निकल जाती है तो विद्रधि की अपेक्षा दाव कम होने से स्वतः अधरागघात मे उन्नति हो जाती है।

किलाटी वस्तु (caseous material)—स्वय किलाटी पदार्थ अधरांगघात का कारण नही हो सकता। प्रतीपगमन अवस्था (regressive stage) का फल होने के कारण वह मेरुरज्जु को दवा नही सकता। किन्तु किलाटी पदार्थ से उत्पन्न अधरागघात के रोगियों का उल्लेख किया गया है। कितनी ही वार पूय या कणिका ऊतक के साथ किलाटी पदार्थ मिला रहता है और तव दाव (pressure) का कारण हो सकता है।

कणिकाऊतक (granulation tissue)—यक्ष्माजन्य कणिकाऊतक दृढतानिका के वाहर वनकर मेरुदड का सम्पीडन कर सकता है। वह प्राय विस्तृत होता है और दृढतानिका को घेर सकता है। प्रतियक्ष्मा चिकित्सा द्वारा ऊतक के सिकुडने से लक्षणों का कुछ शमन सभव है, किन्तु वहुधा उसके कम

से कम, कुछ भाग का, शस्त्रकर्म द्वारा अपहरण करना होता है।

मेरुरज्जु का यक्ष्मार्बुद (Tuberculoma)—यह एक सघत सम्पुटित पिंड के रूप मे होता है। ऐसे अर्बुद दृढतानिका के भीतर तथा मेरुरज्जु के भीतर भी पाये जाते है। वे अन्तर्दृढतानिका और अन्तर्मेरुरज्जु के अर्बुदो की भाँति अधरांगघात उत्पन्न करते है।

विविक्ती-भवन (sequestration)—अस्थि तथा अन्तराकशेरुकी चक्रिका के विविक्ती-भवन (sequestration) से दृढतानिका और मेरुरज्जु का संपीडन हो सकता है।

कशेरुकाओं की संधिच्युति (dislocation of vertebrae)—वैकृत सधिच्युति अधिक होने पर मेरुरज्जु सम्पीडन कर सकती है।

अस्थिकटक (bony ridge)—मेरुदड के आकुचन से मेरुदडनलिका के तल (floor) मे अस्थिकृत कटक वन सकता है। विलवित प्रारम्भ वाले अधरा-गघात का सवसे साधारण कारण मेरुदंड के अन्तर्वलन (infolding) के कारण मेरुदड की नलिका के तल पर अस्थि के एक नोकीले किनारे (कटक) का वनना होता है। किन्तु अधरागघात का कारण केवल अस्थिकटक नही होता; उसके साथ अन्य लघु कारण, जैसे कणिका-ऊतक का वनना, भी होते है।

शोफ (oedema)—सक्रिय यक्ष्माजन्य विक्षति के चारो ओर शोफ उन्पन्न हो सकता है जो मेरुरज्जु केप्र ाकृतिक कार्य को भग कर सकता है। लघु अभिघात से भी शोफ हो सकता है।

परिदृढ़तानिका तन्तुमयता (peridural fibrosis)—प्रतिक्षय चिकित्सा से दृढतानिका के चारो ओर उपस्थित कणिका-ऊतक के स्थान मे तान्तव ऊतक वनकर मेरुरज्जु का सपीडन कर सकता है। दृढतानिका-वाह्य परिवर्तनो से रक्तपरिसचार मे वाधा पड सकती है जिससे मेरुरज्जु सिकुड़ जाती है। विलवित प्रारम्भ के अधरागघात मे सदा यह परिवर्तन पाया जाता है। समस्त मेरुरज्जु का सकोच होता है और साथ मे शोप (atrophy), विमाय-लिनीकरण (demyelination) और अक्रिस्टलीय अन्तराली परिवर्तन (amorphous interstitial changes) होते है।

प्राक्-ज्ञान (Prognosis)

थोडे वय वाले समूह मे, जिनमे अधरागघात शीघ्र ही प्रारम्भ होता है, अर्थात् अस्थिरोग के प्रारम्भ होने के दो वर्ष के भीतर, उनमे प्राक्-ज्ञान उत्तम होता है। अधिक वय वालो मे, जिनमे रोग देर से प्रारम्भ हो चुका होता है उनमे

मेरुरज्जु मे वाहिकापरिवर्तन (vascular changes) हो जाते है और पूर्ण आरोग्यलाभ सभव नही होता। वयवृद्धि के साथ-साथ मृत्युदर और रोगदर दोनो मे वृद्धि होनी जाती है। दीर्घकालीन, अकस्मात और तीव्र मेरुरज्जु-सम्पीडन का प्राक्ज्ञान अशुभ होता है।

चिकित्सा

यह समझ लेना वहुत आवश्यक है कि पौट रोग और पौट अधरांगघात की चिकित्सा के सिद्धान्त भिन्न है। ऊर्ध्व प्रेरक न्यूरोनो के एक्सोनो और मेरु-रज्जु का पुनर्जनन (regeneration) सभव नही है और सम्पीडन से मेरुरज्जु को स्थायी हानि पहुँच सकती है जिसका फिर सुधार नही हो सकता। सपीडन जितने अधिक समय तक रहेगा मेरुरज्जु को उतनी ही अधिक स्थायी हानि पहुँचेगी। इस कारण प्रत्येक अधरागघात के रोगी को, जिसमे सम्पीडन के लक्षण हो, एक आपदकालीन (emergency) दुर्घटना समझकर मेरुरज्जु के सम्पीडन को जितना शीघ्र हो सके दूर करना चाहिये। साथ ही रोगी को जो रोग है और उसमे जो वैकृत प्रक्रम (pathological processes) हो रहे है उनको भी न भूलना चाहिये। अतएव साथ ही उपयुक्त अचलीकरण और प्रतिक्षय चिकित्सा भी आवश्यक है।

शस्त्रकर्म करने के सम्बन्ध मे वहुत मतभेद है और अधरागघात की चिकित्सा के तीन मुख्य सिद्धान्त है। दीर्घकाल तक प्रतियक्ष्मा चिकित्सा और रोगी की उत्तम सुश्रूषा, उपयुक्त विरोहण के लिये अचलीकरण; और मेरुरज्जु के सम्पीडन को जितना शीघ्र हो सके दूर करना।

विसम्पीडन (decompression) की विधियां

पर्शुका अनुप्रस्थप्रवर्धोच्छेदन (costotransversectomy)—यह विद्रधि के निर्हरण के लिये किया जाता है।

अग्र-पार्श्व विसम्पीडन (anterolateral decompression)—यह विद्रधि के रिक्त करने (evacuation) और किलाटी वस्तु तथा कणिकाऊतक के अपहरण के लिये किया जाता है और मेरुरज्जु को भली-भाति स्पष्ट करके विसम्पीडन को दूर किया जा सकता है।

अग्र विसम्पीडन (anterior decompression)—रोग प्रक्रम जव कशेरुक-काय मे स्थित होता है और पश्च भाग (फलक आदि) रोगमुक्त होते है तो इस प्रविधि से रोग-प्रक्रम को दूर किया जा सकता है। उससे अग्र अस्थि

निरोप भी सभव होता है। साथ ही मेरुरज्जु का उपयुक्त अनावरण करके समुचित विसम्पीडन भी किया जा सकता है।

फलकोच्छेदन (laminectomy)—जब रोगप्रक्रम मुख्यतया फलको मे स्थित होता है और दृढतानिका के भीतर मेरुरज्जु सम्पीडन होने का सन्देह होता है तो भी यह शस्त्रकर्म किया जाता है।

न्यूक्लियस पल्पोसस (मज्जी के केन्द्रक) का हर्नियाभवन या बहिःसरण (Herniation of Necleus Pulposus)

सन् 1943 मे मिक्सटर (Mixter) और बार (Barr) के चिरसम्मत कार्य के पश्चात से मज्जी केन्द्र का हर्निया, अन्तराकशेरुक चक्रिका का भ्रश और ऐसे ही तन्त्रिकामूल सम्पीडन के सलक्षण के द्योतक शब्दो का प्रयोग होता आया है। मेरुदड मे कही पर भी, जहाँ अन्तराकशेरुक चक्रिका हैं, मज्जी केन्द्रक का हर्नियाभवन (herniation वहि सरण) हो सकता है। किन्तु तन्त्रिकामूलीय दाव के लक्षण उत्पन्न करने वाली हर्निया सबसे अधिक चौथे और पाँचवे कटि-कशेरुको तथा पाँचवे कटिकशेरुक और प्रथम त्रिक-कशेरुको के बीच अथवा पान्चवे, छठे और सातवे ग्रैव कशेरुको के बीच होती है।

अन्तराकशेरुक चक्रिका का बाह्य भाग दृढ तान्तव ऊतक का बना हुआ है जो तान्तव वलय (annulus fibrosus) कहलाता है। इसके भीतर मज्जी केन्द्रक (nucleus pulposus) रहता है जो भ्रूण के नोटोकार्ड का अवशेष है। ये दोनो सरचनाये कशेरुक काय के सुषिर भाग (spongy) पर आच्छादित, काचाभ (hyaline), उपास्थिकृत तनुपट्टिकाओ (plates) के बीच मे स्थित होती है। इन सरचनाओ को बार-बार आघात पहुचने या उनके व्यपजनन (degeneration) के निम्नलिखित परिणाम हो सकते है।

(1) तान्तव वलय के एक भाग का दुर्बल हो जाना और स्थानीकृत उभार (localised bulging) का बनना अथवा मज्जी केन्द्रक का हर्निया-भवन।

(2) तान्तव वलय का विदरण (rupture) और मज्जी केन्द्रक का वहि सरण (extrusion) या बाहर निकल जाना।

इन परिवर्तनो से उत्पन्न हुए लक्षण स्थिति और तन्त्रिकातन्त्र पर दाब की सीमा पर निर्भर करेंगे।

कटि चक्रिका विक्षतिया (lumbar disc lesions)

इतिवृत्त—60 प्रतिशत रोगी झुकने और भारी बोझ उठाने अथवा पीठ में चोट लगने से पीठ के निम्न भाग मे अकस्मात वेदना प्रारम्भ होने का इतिवृत्त बतायेंगे। वेदना शनै-शनै पीठ के निम्न भाग मे प्रारम्भ होकर नीचे गृध्रसी तन्त्रिका के वितरण मार्ग मे, ऊरु और जघा मे फैल सकती है। बल करने, खासने, छीक आने आदि मे वेदना बढ जाती है। वह इतनी तीव्र हो सकती है कि रोगी पूर्णतया अशक्त हो जाता है। कोई साधारण लक्षण ज्वर आदि नही होता। रोग के बढने पर ग्रस्त तन्त्रिकामूल के वितरण मार्ग मे सवेदना का ह्रास हो सकता है और उस तन्त्रिकामूल द्वारा सभरित पेशियो की दुर्बलता हो जाती है तथा उनका शोष होने लगता है। स्थूल बहिःसरण (massive protrusion) मूत्र-अवधारण (retention of urine) उत्पन्न कर सकता है।

लक्षण और चिह्न--रोगी ग्रस्त अग का अधिक प्रयोग करता है। खडे होने पर उसका कटि-वक्र (lumbar curve) मिट जाता है, पार्श्व कुब्जता (scoliosis) हो जाती है तथा जानु का थोडा आकुचन और पांव का पदतलाकुचन होता है। परा कशेरुक पेशियो का अत्यधिक आकर्ष हो सकता है तथा वेदना के कारण आकुचन और प्रसारण गतिया सीमित हो सकती है। नितब पेशियो की तान (tone) कम हो जाती है और ग्रस्त ओर का पुटक (gluteal fold) दूसरी ओर के पुटक की अपेक्षा नीचा हो सकता है।

मेरुदड तथा उसके पास के प्रदेश मे तथा गृध्रसी तन्त्रिका के वितरणक्षेत्र मे भी स्पर्शासहना हो सकती है। रोगी के लेटने पर यदि उससे जानु को मोड़े बिना टाग को सीधा उठाने को कहा जाय तो पीठ में और तन्त्रिका के मार्ग मे वेदना के कारण वह गति को पूर्ण करने मे असमर्थ होगा। दूसरे व्यक्ति द्वारा जघा को उठा देने से या पादाभिपृष्ठ आकुचन से वेदना बढ जाएगी। ग्रस्त पेशियो की तान की हानि, उनकी दुर्बलता तथा शोष प्रदर्शित हो सकते है।

साधारणतया होने वाले तन्त्रिकीय परिवर्तनो मे गभीर कण्डरा प्रतिवर्तो की हानि बहुत होती है, विशेषकर गुल्फ प्रतिवर्त की, जब बहिःसरित चक्रिका कटि 5 और त्रिक 1 के बीच स्थित होती है। रोगी ग्रस्त तन्त्रिकामूल के वितरणक्षेत्र मे सज्ञाहीनता (numbness) अनुभव कर सकता है। धीरे से पिन चुभाने या सूक्ष्म स्पर्श से सवेदन-हानि के क्षेत्र को रेखाकित किया जा सकता है।

सैदानिक प्रक्रियायें---मूत्र और रक्त परीक्षाओ मे जिनमे लोहित कोशिका अवसादन दर (ई० एस० आर०) भी सम्मिलित है, कोई अपसामान्यता नही

मिलेगी। त्रिकमेरुदंड के एक्सरे चित्र से चक्रिका-अवकाश का संकोच, अस्थि-संधिशोथ-परिवर्तन, और प्रसामान्य अग्र वक्रता (lardosis) की हानि मालूम हो जाएगी। एक्सरे-अपार्य रंजक को मेरुरज्जु के अवअरकनाइड अवकाश मे प्रविष्ट करके उसके एक्सरे-चित्रण से चक्रिका के हर्निया-भवन से उत्पन्न दोष का पता चल जाएगा।

चिकित्सा

संरक्षी चिकित्सा—तंत्रिका दोषो से रहित रोगियो की चिकित्सा संरक्षी (conservative) विधि मे की जा सकती है जो निम्नानुसार है।

(1) पूर्ण शैया विश्राम। गद्दे के नीचे लकडी के तख्ते लगा दिए जायें जिससे गद्दा झूलने न पाये।

(2) तीव्र वेदना की प्रारम्भिक अवस्था मे तीव्र आकुचन व्यायाम करवाये जाते है। इस व्यायाम के सिद्धान्त को समझ लेना आवश्यक है। रोगी के करवट से लेटकर शिर को झुकाकर आकुचित जानु पर पहुचाने से मेरुदंड का भारहीन (nonweight bearing) तीव्र आकुचन होता है। इससे वेदना कम होती है जिसका कारण कदाचित हर्निया हुई वस्तु की स्थिति मे परिवर्तन होने के कारण सम्पीडन का दूर होना है।

(3) वेदना के कुछ कम होने पर पीठ की पेशियों की उन्नति के लिये प्रसारण व्यायाम सहायक होते हैं।

(4) वेदनाहर औषधियो के प्रयोग और पीठ को सेकने से आराम मिलता है।

तंत्रिकीय न्यूनता (neurological deficit) न होने पर संरक्षी चिकित्सा जारी रखी जाती है। जो रोगी प्रारम्भिक आक्रमण की दशा मे आये उनमे संरक्षी चिकित्सा नियम होना चाहिये।

शस्त्रकर्म कब किया जाय—(1) मेरुरज्जु चित्रण मे एक बड़ी अपूर्णता; (2) तीन सप्ताह तक संरक्षी चिकित्सा करने पर भी असफलता; (3) पेशियो की दुर्बलता और उनका क्षय; (4) सावेदनिक न्यूनता; (5) गभीर प्रति-वर्तो की हानि।

शस्त्रकर्म द्वारा चिकित्सा—व्यपजनित और विस्थापित मज्जी केन्द्रक का दृढतानिका के बाहर ही से अन्तराफलक (inter laminar)-अवकाश द्वारा अपहरण किया जाता है।

ग्रैव हर्नियाभवन (cervical herniation)

ग्रैव प्रदेश में मेरुदंडनलिका के सकुचित होने के कारण मेरुरज्जु उसकी भित्ति के बहुत निकट आ जाती है और दन्तुर स्नायुओं (dentate ligs) के मेरुरज्जु को स्थिर कर देने के कारण कटि प्रदेश की अपेक्षा ग्रैव प्रदेश में लक्षण और चिह्न अधिक स्पष्ट होते हैं। इस प्रकार हर्नियाभवन में न केवल तंत्रिकामूलदाब के किन्तु सम्पीडन के भी लक्षण और चिह्न उत्पन्न होते हैं। वेदना और ग्रीवा का कड़ा हो जाना ग्रैव हर्नियाभवन के प्रथम लक्षण होते हैं। बल करने, छींकने और खांसने से उत्पन्न वेदना स्कंध से हाथ तक फैल जाती है। वेदना की ठीक-ठीक स्थिति और प्रेरक तथा सावेदनिक हानि सम्पीडित तंत्रिकामूल का अनुसरण करेगी।

प्रतिवर्त परिवर्तन स्पष्ट न हों। हाथ की दुर्बलता और त्रिशिरस्का का शोथ असाधारण नहीं है। एक्सरे चित्र में ग्रस्त अन्तराकशेरुक अवकाश का संकुचित होना दीखता है और सामान्य ग्रैव वक्र की हानि भी दृष्टिगोचर होती है। साधारणतया नैदानिक उपलब्धियों से विक्षति की स्थिति का ज्ञान हो जाने पर मेरुरज्जु चित्रण आवश्यक नहीं होता।

चिकित्सा

संरक्षी चिकित्सा—इसमें (1) ग्रैव कर्षण किया जाता है और (2) ग्रीवा पर कालर लगाकर उसकी सक्रियता को घटाया जाता है।

शल्य चिकित्सा द्वारा तंत्रिका का और यदि विस्थापित मज्जी केन्द्रक मेरुरज्जु को दबा रहा है तो उसका भी विसम्पीडन किया जाता है। ग्रैव प्रदेश में कई चक्रिकाओं का केन्द्रीय विस्थापन होकर उनके द्वारा मेरुरज्जु का सम्पीडन असाधारण नहीं है।

चक्रिका का तीव्र स्थूल हर्नियाभवन किसी भी तल पर होकर मेरुरज्जु अथवा मेरुरज्जु पुच्छ का तीव्र सम्पीडन उत्पन्न कर सकता है। ऐसी दशा में आपदकाल की भाँति विस्थापित चक्रिका का तत्काल अपहरण आवश्यक है जिससे तंत्रिकीय कार्य होते रहें।

परिसरीय तंत्रिकातंत्र

आघात

हेतुकी (aetiology)

परिसरीय तन्त्रिकाओ के आघातो को निम्न प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है।

विवृत आघात (open injuries)—ये छुरे आदि को भोकने, गोली लगने या तीव्र विदारण का परिणाम हो सकते है। ऐसे आघातो मे तन्त्रिका-पिधान (nerve sheath) और स्वय तन्त्रिकाएँ समान रूप से ग्रस्त होती है। दीर्घ अस्थियो के कुछ विवृत अथवा सवृत अस्थिभगो मे समीप की तन्त्रिका आघातित अथवा पूर्णतया विभक्त हो सकती है।

नील (contusions)—ये कुचले जाने वाले आघातो या कुण्ठ शस्त्रो के आघात मे होते है। तन्त्रिका की अपेक्षा तन्त्रिकापिधान अधिक क्षत होता है।

सम्पीडन (compression)—अस्थिभग के पश्चात् कैलस के बनने, समीप की सरचनाओ के अर्बुद, सधिच्युतियो, मेरुदड का अस्थिसधिशोथ, ग्रैव पर्शुका, अग्र विषमिका-सम्पीडन (Scalenus anterior compression), शस्त्रकर्मो के असाधारण स्थितियाँ, प्लास्तर कास्ट और पट्टियो की दाव और सवेदनाहरण अथवा सन्यास (coma) में अग के भार की दाब से सम्पीडन की घटनाएँ हो सकती है। ऐसे आघातो मे तन्त्रिका-पिधान नही क्षत होते।

प्रतानन, खींचना (stretching)—सधिच्युतियो मे, जानु के बलात अभिवर्तन से, और प्रसव आघातो मे प्रगड जालिका के खिचने से यह हो सकता है। इन आघातो मे भी तन्त्रिकापिधान का विदीर्ण होना आवश्यक नही है।

विकृति

तन्त्रिका के कट जाने या तीव्र आघात पहुँचने पर उसके दूरस्थ खड मे वालेरियन व्यपजनन (Wallerian degeneration) होने लगता है जिसमे अक्ष दड (axis cylinder) छोटे-छोटे खडो मे विभक्त होकर विघटित हो जाता है, मेदस-पिधान (medullary sheath) मायलिन की बूंदो मे परिणत हो जाता हे और श्वान (Schwann) कोशिकाएँ भक्षक कोशिकाएँ

(phagocyte) बन जाती है जो विघटित पदार्थ का अपहरण करती है। निकटस्थ (proximal) खंड में भी रैनवियर के पर्व (Node of Ranvier) तक ऐसे ही परिवर्तन होते हैं।

सुषाग का पुनर्निर्माण का प्रक्रम भी तत्काल आरम्भ हो जाता है और रक्त से बनी हुई फाइब्रिन द्वारा दोनों खंडों के सिरे आपस में चिपक जाते हैं। श्वान कोशिकाओं की संख्या में वृद्धि होकर वे फाइब्रिन द्वारा बने हुए सेतु में होकर दूसरी ओर जाने लगती हैं। श्वान कोशिकाओं के साथ एक्सोनों (axons) का भी पुनर्जनन होता है और उनकी सक्रियता आघात के पश्चात् एक्सोन के तीसरे सप्ताह में सबसे अधिक होती है। केन्द्रीय (ऊर्ध्व, निकटस्थ) सिरे से अनेक अंकुर निकलते हैं और यदि उनको कोई एण्डोन्यूरियम की रिक्त नलिका मिल जाती है तो वे उसमें नीचे की ओर को उतरते चले जाते हैं और परिसर (periphery) की ओर को 0 5 मि० मी० प्रतिदिन बढ़ते जाते हैं।

उपर्युक्त घटना के अध्ययन से चिकित्सा के कई सिद्धान्तों का पता चलता है: (1) तंत्रिका के खंडों को फिर से जोड़ने का अनुकूलतम समय आघात के पश्चात् तीसरा सप्ताह है; (2) खंडों के सिरों का जितना निकट संधान होगा, पुनर्लाभ (recovery) में उतना ही कम समय लगेगा; (3) एक्सोन या तंत्रिका-पिधान को, रचनात्मक विच्छेद न होने पर, किसी शल्यक्रिया की आवश्यकता नहीं है। प्राक्-ज्ञान अत्युत्तम है।

वर्गीकरण

तंत्रिका-आघातों का निम्न वर्गीकरण किया जा सकता है।

तंत्रिका-कार्यविच्छेद (neurapraxia)—इसमें तंत्रिका का कार्य अस्त-व्यस्त हो जाता है। पिधान और अक्षदंड अक्षुण्ण रहते हैं, किन्तु तंत्रिका-चालन (nerve conduction) जाता रहता है। स्थानिक अरक्तता (ischaemia) कदाचित् उसकी उत्पत्ति में बड़ा भाग लेती है जो तंत्रिका के संघट्ट का परिणाम होती है। टूर्निके से होने वाला अंगघात इसका उत्तम उदाहरण है।

ऐक्सोनविच्छेद (axonotmesis)—में केवल एक्सोनों का विच्छेद होता है; उसके आच्छादन अक्षुण्ण रहते हैं। ऐसे आघात प्रायः सम्पीडन-आघातों में पाए जाते हैं।

आंशिक तंत्रिकाविच्छेद (partial neurotmesis)—में अक्षदंड और

उसके आच्छादनो का अपूर्ण विदरण होता है। वह प्रत्यक्ष आघात अथवा खिंचने से हो सकता है।

पूर्ण तंत्रिकाविच्छेद (complete neurotmesis)—मे तन्त्रिका का, प्रत्यक्ष आघात के कारण, पूर्ण रचनात्मक विभाजन हो जाता है।

तंत्रिका आघात के नैदानिक परिणाम

वे निम्न प्रकार से वर्गीकृत किए जा सकते हैं।

प्रेरक परिणाम

(1) आघातित तन्त्रिका द्वारा सभरित पेशी के ऐच्छिक संकोच की हानि।

(2) पेशी की कोशिकाओ का शोप, उसके पाररेखाकन (cross-striation) का लोप, और व्यपजनित पेशी के स्थान मे तान्तव और वसा-ऊतको का वनना। पेशी जैवोति परीक्षा मे व्यपजनित पेशी, तन्त्रिका और प्रेरक अन्तपदिकाये (endplates) दीखेंगी।

(3) पेशी मे कुछ विद्युत परिवर्तन हो जाते हैं, फेराडी उद्दीपन से कोई अनुक्रिया (response) नही होती और एनोडी समाप्ति (closing) धारा द्वारा उद्दीपन की अनुक्रिया कैथोडी समाप्ति धारा उद्दीपन की अनुक्रिया के समान या उससे अधिक होती है। यह घटना ध्रुवीत उत्क्रमण (polar reversal) कही जाती है।

(4) तन्त्रिका की क्रोनेक्सी वढ जाती है। तन्त्रिका की सामान्य क्रोनेक्सी 0.08 से 0 07 मिली सैकिंड है। रिह्योवेस (rheobase) न्यूनतम विद्युत् धारा वल है जिसको वहुत समय तक लगाने से तन्त्रिका मे अनुक्रिया होती है। द्विगुणित रिह्योवेस का धारावल प्रयोग करने से जितने समय मे अनुक्रिया होती है वह क्रोनेक्सी कहा जाता है।

(5) विद्युतपेशी लेखन (electromyography) अन्वेपण से तंतुविकपन (fibrillation) और अपसामान्य विद्युत् सक्रियता मालूम होगी। सामान्य-पेशी, जव तक वह सकोच नही करती, उसमे विद्युत् परिवर्तन नही होते। ऐच्छिक गति करने पर वह एकल प्रेरक शूक विभव (single motor spike potential) उत्पन्न करती है।

सांवेदनिक परिवर्तन

(1) आघातित तन्त्रिका द्वारा सभरित क्षेत्र संवेदनाहीन हो जाता है, कुछ

समय पश्चात् यह क्षेत्र छोटा हो जाता है जिसका कारण पास के क्षेत्रो का इस क्षेत्र मे आशिक फैल जाना है (overlapping), और उन क्षेत्रो मे इस क्षेत्र मे सावेदनिक तन्तुओ के प्रसार का होना है ।

(2) किसी क्षेत्र मे अनुभूत (referred) वेदना उस क्षेत्र का सभरण करने वाली तन्त्रिका की आशिक क्षति-उत्पादक क्षोभ की द्योतक होती है ।

स्वायत्त तंत्रिकीय परिवर्तन (autonomic changes)

(1) वितन्त्रकित (denervated) क्षेत्र मे अस्वेदलता (anhidrosis) हो जाती है, किन्तु यदि विक्षति आशिक होती है तो अतिस्वेदलता (hyperhidrosis) हो सकती है ।

(2) वाहिका प्रेरक परिवर्तन होते है जिनमे प्रथम वाहिकाविस्फार (vasodilatation) होता है जिसके पश्चात् वाहिकासकीर्णन (vasoconstriction) होता है जो ग्रस्त क्षेत्र के शीत होने (coldness) के लिए उत्तरदायी है ।

पोषण सम्बन्धी परिवर्तन

पोषण सम्बन्धी परिवर्तन उन क्षेत्रो मे होते है जिनका तन्त्रिका सम्बन्ध विच्छिन्न हो गया है । वेदना उपस्थित होने पर परिवर्तन अधिक स्पष्ट हो जाते है । त्वचा की प्रत्यास्थता (elasticty) जाती रहती है, वह पतली, चमकीली, रोमरहित हो जाती है; नख विकृत हो जाते है, व्रण उत्पन्न होने की प्रवृत्ति होती है, कण्डराये छोटी हो जाती है, प्रसकोच (contractures) उत्पन्न हो जाते है और एक्सरे द्वारा दृश्य अस्थिशोष (osteoporosis) हो जाता है ।

नैदानिक निर्धारण या आमापन (clinical assessment)

तन्त्रिका आघात के साथ अन्य सरचनाओ को भी आघात पहुँच सकता है । इस कारण किसी भी आघात की परीक्षा करते समय पास की अन्य तन्त्रिकाओ का भी परीक्षण आवश्यक है जिससे परिसरीय तन्त्रिकाओ के आघात का व्यतिरेक (exclusion) किया जा सके ।

फिर, अन्तिम निदान करने के पूर्व कई बार परीक्षा वहुत आवश्यक है । किसी तन्त्रिका द्वारा सभरित सरचनाओ के कार्य की आशिक हानि तन्त्रिका के आशिक आघात की द्योतक है । तन्त्रिका के पूर्ण विभाजन से उस क्षेत्र के, जिसमे वह वितरित है, प्रेरक, सावेदनिक तथा स्वायत्त सब ही कार्यो की हानि

हो जाएगी। किन्तु यह दशा तन्त्रिका-कार्य-विच्छेद (neurapraxia) या ऐक्सोन विच्छेद (axonotmesis) मे भी पायी जाएगी। अतिसवेदिता या किसी क्षेत्र मे वेदना अथवा तन्त्रिका पर तन्त्रिकार्बुद की उपस्थिति ऐक्सोनविच्छेद का तन्त्रिका कार्यविच्छेद से भेद कर देगी। निदान के निश्चय के लिए विद्युत् परीक्षण आवश्यक हो सकते है, तन्त्रिकाकार्यविच्छेद मे व्यपजनन की प्रतिक्रिया (reaction of degeneration) नही होगी [जिसमे फेराडी उद्दीपन के प्रति अग्राहिता (insensitivity) और ध्रुवीय उत्क्रमण होते है]। तन्त्रिका-विक्षति की पूर्णता जानने के लिये चारो ओर की तन्त्रिकाओ का प्रोकेन द्वारा रोध (blockade) करना आवश्यक हो सकता है। किसी पेशी मे अपसामान्य तन्त्रिकाभरण का सन्देह होने पर यह अनिवार्य हो जाता है।

तन्त्रिका आघात के तल (level) या उसकी स्थिति का ज्ञान वेधन करने वाले आघात या अस्थिभग मे सरल होता है; अन्य मे सावेदनिक तथा प्रेरक कार्यहानि से आघात के तल का अनुमान करना पडता है, जिसके लिये शरीर-रचना का उपयुक्त और पूर्ण ज्ञान अनिवार्य है। तन्त्रिका के एक से अधिक तलो पर आघात होने की सभावना स्मरण रखनी चाहिए।

चिकित्सा

किसी घाव के शोधन (debridement) के समय यदि कोई कटी हुई तन्त्रिका मिले तो उसके दोनो कटे सिरो पर किसी अशोष्य पदार्थ को बाधकर छोड देना चाहिए जिससे उसको आगे चलकर पहचाना जा सके। और तब त्वचा का घाव सीया जा सकता है।

शस्त्रकर्म कब आवश्यक है ?

(1) शोधन के समय कटी हुई तन्त्रिका मिलना।

(2) आघात की स्थिति पर तन्त्रिका मे परिस्पर्शनीय तन्त्रिकार्बुद का होना, जब आरोग्य लाभ न हो रहा हो।

(3) तन्त्रिका की चारों ओर की पेशियो का आहत होना; पेशियो के विरोहण पर तान्तव ऊतक बनकर तन्त्रिका का चारो ओर से सकीर्णन (constriction) कर सकता है।

(4) तन्त्रिका के आघात की स्थिति पर ही मुख्य वाहिका का आहत होना।

(5) एक ही अग मे कई तन्त्रिकाओ का आहत होना।

(6) तन्त्रिका संभरित क्षेत्र में रक्तवाहिका या स्वायत्त विक्षोभो का निर्वध (persistant) होते रहना।

(7) यदि प्रगति, अर्थात्, पुनर्जनन की प्रगति सतोपजनक नही है।

शस्त्रकर्म के लिये इष्टतम समय आघात के तीन या चार सप्ताह पश्चात् है, एक वर्ष से अधिक विलंब होने से विरोहण का अवसर विशेपतया कम हो जाता है।

तंत्रिका-आघात के रोगियो के उपचार के सामान्य सिद्धान्त

(1) यथार्थ रोगनिश्चिति, तथा आहत तन्त्रिकाओ के आघात की स्थिति तथा प्ररूप का सम्यक् ज्ञान आवश्यक है।

(2) शस्त्रकर्म की आवश्यकता का भली-भाँति निर्णय कर लेना चाहिये।

(3) शस्त्रकर्म के लिए इष्टतम समय चुनना चाहिये।

(4) किसी विशेप तन्त्रिका के विरोहण का प्ररूप (type) और उसका प्रतिमान (pattern) जानना आवश्यक है, जैसे, यदि वाह्यप्रकोष्ठिक (radial) तन्त्रिका के प्रेरक कार्य लौट आये है तो सावेदनिक कार्यो की पुनः प्राप्ति के लिये शस्त्रकर्म अनावश्यक है।

(5) रक्तरहित क्षेत्र, यथेष्ठ अनावरण (exposure) और आहत तन्त्रिका का निरीक्षण करके निदान की निश्चिति शस्त्रकर्म के प्रथम चरण है, तव शस्त्रकर्म के शेप चरण इस प्रकार है।

(a) पूर्ण पारपरिच्छेदन (transection) होने पर विभक्त सिरो को तीव्र पत्र से एकसम स्वच्छ काटा जाता है और तव सूक्ष्म रेशम या टैन्टेलम तार से, विना किसी खिचाव के सी दिया जाता है। सीवन न्यूरीलेमाकृत पिधान मे की जाती है।

(b) यदि तन्त्रिका का केवल एक भाग आहत मिले और उसमे तन्त्रिकार्बुद (neuroma) वन गया हो तो केवल उस भाग का उच्छेदन करने के पश्चात् तन्त्रिका को फिर से सी दिया जाय। कभी-कभी जव तन्त्रिका अविकल (intact) हो और उसमे न्यूरोमा (neuroma) न वना हो तो केवल तन्त्रिकामोचन (neurolysis) पर्याप्त है।

(c) यदि तन्त्रिका-ऊतक की हानि हो चुकी है और (1) तन्त्रिका के ऊर्ध्व और निम्न भागो को आसजनो (adhesions) से मुक्त करने, (2) किसी छोटी तन्त्रिका शाखा से जोडने, (3) सधियो के आकुचन से अथवा (4) तन्त्रिका की स्थिति वदलने (transposition) से भी उसको सम्पूर्ण

नही किया जा सकता, अर्थात् तन्त्रिका के दोनो कटे सिरो को नही मिलाया जा सकता, तो तंत्रिकारोपण (nerve grafting) करना आवश्यक होता है। जघा की अधस्त्वक वडी तन्त्रिकाओ मे से किसी से पर्याप्त लवाई का टुकडा काटकर आरोपित किया जा सकता है अथवा कई छोटे-छोटे टुकडे दोनों कटे हुए सिरो के वीच से लगाकर एक केविल सा वनाया जा सकता है। यदि एक ही स्थान पर दो तन्त्रिकाये कट जाये तो अप्रमुख तन्त्रिका से वृन्तक निरोप (pedicle graft) वनाकर प्रमुख तन्त्रिका की पूर्ति की जाती है। जिस तन्त्रिका को सुरक्षित करना है उसका दूसरी तन्त्रिका के कटे सिरे से सयोजन कर दिया जाता है और फिर कुछ समय पश्चात् किसी अप्रमुख तन्त्रिका के पर्याप्त लवाई के भाग का उच्छेदन करके उससे अधिक प्रमुख तन्त्रिका की त्रुटि पूरी की जाती है।

(d) सी हुई तन्त्रिका को रखने की सर्वोत्तम स्थिति पेशियो के वीच का तान्तव-वसा स्तर (fibrofatty plane) है। यदि यह सभव न हो तो कठोर मुडे हुए अस्थि के समान घर्षण क्षेत्रों की अपेक्षा पेशी शैया उत्तम है।

(e) शस्त्रकर्मोत्तर स्पिलन्ट प्रयोग, व्यायाम, मालिश, विद्युत उद्दीपन और पुनरभ्यास (re-education) शस्त्रकर्म ही के समान महत्व के है।

तंत्रिका-आघातो से उत्पन्न होने वाली कुछ प्रमुख नैदानिक दशाये

प्रगंड-जालिका (Brachial plexus)—

प्रगण्डजालिका को गोली लगने, वेधने वाले घावो तथा अत्युग्र अभिपात जैसे मोटर साइकिल दुर्घटनाओ आदि से क्षति पहुच सकती है। वह वास्तव मे जालिका का कर्पण-आघात (traction injury) होता है।

पूर्ण विक्षति (complete lesion)—इसमे समस्त ऊर्ध्व अग (वाहु, अग्र-वाहु और हाथ) मे प्रेरक और सावेदनिक हानि होती है। एक पूर्णतया अनुप-योगी लटकता हुआ अग इसका परिणाम होता है।

अर्व डूशेन की ऊर्ध्व-वाहु-प्ररूप विक्षति (upper-arm-type lesion of Erb-Duchenne)—इस विक्षति मे स्कध का अगघात और शोष होता है, किन्तु हाथ का प्रेरक कार्य वना रहता है, अर्थात् गतिये होती रहती है। यहाँ जिन पेशियो का सभरण ग्रै० 5 और ग्रै० 6 तन्त्रिकाओ से होता है वे ग्रस्त होती है। वाहु (समस्त) शरीरपार्श्व पर अकर्मण्य लटकी रहती है और अभिवर्तित तथा अन्तर्विवर्तित (adducted and internally rotated) हो जाती है। जो पेशीग्रस्त होती है वे ये है · लघु असाभिवर्तिका (teres minor), अध्यंस-

पृष्ठिका (supraspinatus) चतुष्कोणिकाये (rhomboids), अधोअसपृष्ठिका (infraspinatus), त्रिकोणिका (deltoid) बृहत् असाभिवर्तिका (teres major), द्विशिरस्का (biceps) और प्रगण्डिका (brachialis)। तन्त्रिका के सीवन के पश्चात पेशिया फिर कुछ काम करने लगती है, यद्यपि प्राक्-ज्ञान बहुत उत्तम नही होता।

खिमके की अध-बाहु प्ररूप क्षति (lower-arm-type lesion of Khimke)—इस विक्षति मे स्कन्ध कुछ कार्य करता है, किन्तु हाथ का अगघात हो जाता है। जन्म के समय अथवा किसी अन्य आघात के समय स्कध को वलपूर्वक ऊपर को खीच लेने से यह विक्षति होती है। ग्रै० 8 और उ० 1 तन्त्रिकाओ द्वारा सभरित पेशियाँ ग्रस्त होती है, इस कारण अगुलियो और मणिवध की पेशिया अधिक ग्रस्त होनी है। ऊर्ध्वबाहु-प्ररूप की अपेक्षा इस विक्षति मे शस्त्रकर्म के पश्चात् आरोग्यलाभ कम होता है।

वहि प्रकोष्ठिक तंत्रिका (Radial nerve)

इसके उद्भव खडाश ग्रै० 5, ग्रै० 6, ग्रै० 7, ग्रै० 8 और उ० 1 है। यह कूर्पर, मणिवध, अगुलियो और अगुष्ठ सधियो की सबसे वलवान प्रेरक तन्त्रिका है।

वहि प्रकोष्ठिका तन्त्रिका के आघात से मणिवध-पात (wrist drop) होता है। रोगी मणिवध, निकटस्थ अगुल्यस्थियो तथा अगुष्ठ के प्रसारण और करतल के स्तर मे अगुष्ठ का अपवर्तन करने मे असमर्थ होता है। कूर्पर से ऊपर के आघातो मे प्रगडप्रकोष्ठिकी (brachioradialis) के अगघात के कारण प्रसरित अग्रवाहु का उत्तानन नही होता। साधारणतया त्रिशिरस्का बच जाती है क्योकि उसको जाने वाली शाखाये वहुत ऊपर से निकलती है। किन्तु त्रिशिरस्का के ग्रस्त हो जाने पर रोगी कूर्पर का प्रसार नही कर सकता। तन्त्रिका के कूर्पर के नीचे के आघात से त्रिशिरस्का और प्रगण्डप्रकोष्ठिकी दोनो बच जाती है। निम्न आघातो मे अत्यल्प सवेदना-हानि होती है। सब से उत्तम कार्यपुन प्राप्ति वहि प्रकोष्ठिका तन्त्रिका के सीवन से होती है, जिसका कारण उसका शुद्ध प्रेरक तन्त्रिका होना सभव है।

मध्यमा तन्त्रिका (median nerve)

मध्यमा तन्त्रिका ग्रै० 6, ग्रै० 7, ग्रै० 8 और उ० 1 खडाशो से निकलती है। उसकी प्रेरक शाखाये अवतानिकाओ (pronators) और अग्रबाहु मे

आकुंचिकाओ (flexors) को और हाथ मे व्यावर्तिका (opponens) को जाती है। किन्तु इसका सबसे मुख्य कार्य करतल के अधिकतर भाग मे सवेदन शक्ति प्रदान करना है। अतएव मध्यमा तन्त्रिका के आघात मे करतल मे सवेदन की पुन प्राप्ति के पश्चात् फिर शस्त्रकर्म करना आवश्यक नही है।

मध्यमा तन्त्रिका आघात से हाथ की एक प्ररूप (typical) आकृति हो जाती है जिससे मनुष्य का हाथ एप (ape) के हाथ के समान दीखता है। अगुष्ठ अगुलियों ही के समतल स्थित होता है और अगुष्ठमूलोत्सेध (thenar emminence) का लोप हो जाता है।

निम्न अभिलक्षक दोप उत्पन्न हो जाते है।

(1) अगुष्ठ व्यावर्तनी (opponens pollicis) के अगघात से अगुष्ठ का व्यावर्तन नही होता और वह कनिष्ठा (little finger) पर नही पहुच पाता।

(2) मुट्ठी बाधने के प्रयत्न मे तर्जनी प्रसरित रह जाती है जिसका कारण तर्जनी आकुंचिका (flexor indicis) और गभीर आकुंचिका (flexor-digitorum profundus) पेशियो का अगघात होता है। दीर्घ अगुष्ठ आकुंचिका (flexor pollicis longus) के अगघात के कारण अगुष्ठ की दूसरा अगुल्यस्थि प्रसरित रहती है। यह मध्यमा तंत्रिका के कूर्पर से नीचे या अग्र बाहु के ऊर्ध्व तृतीयाश मे आघात का लक्षण है। मणिबंध पर क्षति होने से यह नही होता।

(3) यदि अगुलियो के सिरो को अगुष्ठ के सिरे पर लगाने का प्रयत्न किया जाय तो केवल कनिष्ठा, अनामिका और मध्यमा अगुलियों के सिरे अगुष्ठ के सिरे को स्पर्श कर सकेंगे, तर्जनी का सिरा नही करेगा।

(4) लघु अपवर्तिका (short abductor) के अगघात के कारण अगुष्ठ का करतल के समकोण पर अपावर्तन सभव नही होता।

अगुष्ठ की व्यावर्तन और अपावर्तन गतियां जाती रहती है। मध्यमा तन्त्रिका मे तन्त्रिकार्बुद बनने की और वाहिकाप्रेरक (vasomotor) लक्षण उत्पन्न करने की प्रवृत्ति होती है। अन्त.प्रकोष्ठिक तन्त्रिका की अपेक्षा मध्यमा तन्त्रिका कार्यक्षमता की पुनः प्राप्ति अधिक करती है।

अन्त प्रकोष्ठिक तंत्रिका (ulnar nerve)

यह तन्त्रिका मुख्यतया ग्रै० 8 और उ० 1 खंडांशो से आने वाले तन्तुओ से बनती है। हाथ की लघु पेशियों का तन्त्रिकाभरण (nerve supply) इसका

सबसे मुख्य तन्त्रिका-वितरण है। अतएव यदि इस तन्त्रिका के आघात के पश्चात उसके प्रेरक कार्य की पुनः प्राप्ति हो जाय तो सावेदनिक सभरण के लिये शस्त्रकर्म आवश्यक नही है।

अन्त प्रकोष्ठिक तन्त्रिका के आघात के पश्चात हाथ की आकृति पक्षी के पजे के समान हो जाती है जो इस विक्षति की अभिलक्षक है और नखरहस्त (claw hand) कहलाती है। कनिष्ठा और अनामिका की करभ अगुल्यस्थि (metacarpo-phalangeal) सधियो का अतिप्रसार (hyperextension) हो जाता है और थोडा मध्यमा का भी होता है और साथ ही अन्तरांगुल्यस्थि-सधियो का आकुचन होता है। कडराओ के बीच का स्थान नाली या खातिका के समान दीखता है, विशेषकर तर्जनी और अगुष्ठ के बीच का स्थान। कनिष्ठा-मूलोत्सेध (hypothenar emminence) चपटा हो जाता है और कनिष्ठा अपावर्तित हो जाती है। इससे निम्नलिखित दोष उत्पन्न होते है।

(1) अगुष्ठ और तर्जनी के बीच चपटी वस्तु को पकडने की असमर्थता। अगुष्ठ अभिवर्तिका के अगघात के कारण यह क्रिया अगुष्ठ की आकुचिकाओं की दुर्बल क्रिया से अपूर्ण रह जाती है।

(2) मध्यमा अगुलि (middle finger) की पार्श्व ओर गति करने की असमर्थता, हाथ के अन्य भागो को अचल कर देने पर,

(3) मध्यमा अनामिका और कनिष्ठा अगुलियो के सिरो को आपस मे मिलाने की असमर्थता, जैसे शकु बनाने मे किया जाता है।

(4) कनिष्ठा के उचित प्रकार से अपार्तन करने की असमर्थता।

समस्त कनिष्ठा और अनामिका के अभिमध्य अर्ध भाग की की सवेदन शक्ति नष्ट हो जाती है। यह हानि यद्यपि स्पष्ट होती है, किन्तु वह प्रेरक हानि के समान अशक्तकर नही होती।

तन्त्रिका के सिरो के बीच मे यदि अन्तर अधिक हो तो उसको कूर्पर के अग्र ओर स्थानान्तर करने से अन्तर नही रहता है।

मिश्रित बहिः और अन्तः प्रकोष्ठिका तंत्रिकाओं का अंगघात

प्रक्षेपणास्त्रो (missiles) के घावो मे तथा वेधनक्षतो मे भी यह बहुत होता है। इससे सिमियन और नखरहस्त की मिश्रित विरूपता उत्पन्न हो जाती है। मणिबध और अगुलियो की आकुचक गतिया नही होती, कनिष्ठा की गतियों का सर्वथा लोप हो जाता है और अगुष्ठ केवल करतल के स्तर तक

अपावर्तित और प्रसारित हो सकता है । मध्यमा और अन्त प्रकोष्ठिका तन्त्रिकाओ के संयुक्त क्षेत्र मे सवेदनालोप होता है । ऐसे आघातो मे पोषण सम्बन्धी परिवर्तन भी होते है ।

गृध्रसी तंत्रिका (sciatic nerve)

गृध्रसी तन्त्रिका क० 4 से त्रि० 6 तक के खडाशो से निकलती है । इसके आघात प्राय गभीर आघातो, जैसे नितव सधि की अस्थिभग-सधिच्युति, के साथ होते है । गृध्रसी तन्त्रिका के छिन्न हो जाने पर जानु से नीचे की सव पेशियों का अगघात हो जाता है । और्वी द्विशिरस्का, कण्डराकल्पिका और कलाकल्पिका मे ऊरु मे वहुत ऊपर तन्त्रिकातन्तु आने के कारण प्राय ये पेशी वच जाती है । जघा के सारे वाह्य पृष्ठ पर और समस्त पाव पर, चापतल के ऊपर अन्त.पृष्ठ के अतिरिक्त, सवेदन-हानि हो जाती है । अन्य तन्त्रिकाओ के विपरीत, इसको, सीधे गृध्रिका रन्ध्र तक, जहा से वह निकलती है, दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है जिससे उसकी आशिक सीवन हो सकती है ।

वहिर्जंघिका तंत्रिका (peroneal nerve)

यह तन्त्रिका क 4, क 5, त्रि 1 और त्रि 2 से निकलती है और जानु की क्षति मे इसके आघात का भय रहता है । तन्त्रिका के कट जाने से पांव नीचे को झुक जाता है जिसको पदतलआकुचन (plantar flexion) कहते है । पाव की यह दशा पदपात (foot drop) कही जाती है ।

रोगी पांव की अंगुलियो का आकुचन और प्रसारण तथा पाव का वहिर्वर्तन नही कर सकता । सवेदनहीनता का क्षेत्र जघा के वहि पार्श्व से प्रारम्भ होकर एक सकुचित लम्वी धज्जी के रूप मे पदपृष्ठ पर होकर भीतर की ढाई अगुलियों तक चला जाता है ।

अभिमध्य जानुपृष्ठ, क 4 त्रि० 3 और पश्च अन्तर्जंघिका तंत्रिकायें (medial popliteal nerve, L 4-S3, and posterior tibial nerves)

पदतल का सवेदन इन तन्त्रिकाओ की विशेषता है । सवेदनहीन भारवाहक क्षेत्र को क्षति पहुँचने की वहुत सभावना रहती है । इस कारण इन तन्त्रिकाओ के पुनर्निर्माण का पूर्ण उद्योग करना चाहिये ।

तन्त्रिकाओं के अर्बुद
(Tumours of Nerves)

तन्त्रिकाओं के अर्बुद धारक कोशिकाओं (supporting cells) से निकलते है, उनके एक्सोनों से नही निकलते। उनका निम्न वर्गीकरण किया जा सकता है। तन्त्रिकावरणार्बुद (neurinoma or neurilemmoma); वान रैकलिंघाउसेन का तन्त्रिकातान्तवार्बुद (neurofibroma of von Recklinghausen) और दुर्दम श्वानार्बुद (schwannoma)।

तन्त्रिकावरणार्बुद (Neurilemmoma)

ये अर्बुद श्वान कोशिकाओ से निकलते है; और सुदम' सम्पुटित और प्राय. एकल होते है और नियमत. बहुत बड़े आकार को प्राप्त नही करते। प्रायः तन्त्रिका खिचकर अर्बुद पर फैली हुई दीखती है। यह सबसे अधिक अनुमस्तिष्क-पोंस कोण (cerebellopontine angle) मे होता है जो आठवी तन्त्रिका का अर्बुद या श्रवण तन्त्रिका का अर्बुद कहा जाता है। परितन्त्रिका तन्तु-प्रसू अर्बुद (perineural fibroblastoma) और तन्त्रिकातन्तु अर्बुद (neurofibroma) नाम भी इन अर्बुद को दिए गए है।

वान रेकलिघाउसेन का तंत्रिकातान्तव अर्बुद
(Neurofibroma of von Recklinghausen)

ये प्राय कई-अर्बुद (multiple) तन्त्रिकाओ मे निकलते है। ये सुदम होते है और वृहत् आकार प्राप्त कर लेते हैं। ऐसी ही वैकृत रचना वाले अर्बुद कभी एकल भी होते है। ये एकल प्रकार के अर्बुद गभीर सरचनाओ मे स्थित पाये जाते है और इनका आंशिक अपहरण करने से उनमें दुर्दम हो जाने की प्रवृत्ति होती है। बहुतन्त्रिकार्बुदो के साथ त्वचा पर अनियमित मिलेनिन रजित क्षेत्र बन जाते है।

दुर्दम श्वानार्बुद (malignant schwanoma)

इसको प्राय. तन्त्रिकाजन्य सारकोमा कहा जाता है। सारकोमा शब्द मध्यजनस्तर (mesoderm) की कोशिकाओ से उत्पत्ति का द्योतक है। किन्तु दुर्दम श्वानोमा के लिए यह सत्य नही है। इन अर्बुदों मे से 50 प्रतिशत वान रैकलिघाउसेन रोग के साथ होते है और वे अधिकतर अधरागों की तन्त्रिकाओं मे होते है।

अनुकम्पीतन्त्र के अर्बुद अथवा गडिका-कोशिकीय अर्बुद (Tumours of sympathetic system or Ganglion Cell Tumours)

गंडिका-तंत्रिकार्बुद (Ganglioneuroma)

यह सुदम सम्पुटित अर्वुद वृहत् आकार प्राप्त कर लेता है और प्राय: वक्ष मे या उदर मे स्थित होता है, यह अनुकम्पीतन्त्र की गडिकाओ को कोशिकाओ से निकलता है और द्रुत गति से वृद्धि करता है। समीप की सरचनाओ पर दवाव पडने से लक्षण उत्पन्न होते है। सूक्ष्म रचनानुसार वे सुविभेदित गडिका-कोशिकाओ के वने होते हैं।

तंत्रिकाप्रसू अर्वुद (Neuroblastoma)

गडिका-कोशिकाओ से उत्पन्न दुर्दम अर्वुदो को यह नाम दिया गया है। वे अधिकतर अधिवृक्क की अन्तस्था (adrenal medulla) मे पाए जाते है। अन्य अनुकम्पी गडिका-कोशिकाओ मे भी वे होते है और वहुत शीघ्रता से वढते है। वे अत्यन्त दुर्दम होते है और शीघ्र ही स्थलान्तरण करने लगते है। वे प्राय. केवल वालको मे होते है और कुछ ही मास मे मृत्यु का कारण हो जाते हैं।

तत्रिका-सम्पीडन की विशेप स्थितिया (Entrapment syndrome, कूटबद्धता संलक्षण)

तत्रिका के मार्ग मे कही-कही ऐसा रचनात्मक सरूपण (configuration) होता है कि अल्प अभिघात से भी तत्रिका का सकीर्णन (constriction) हो जाता है। ये कूटवन्धक स्थान (entrapment points) कहे जाते है। इन पर दव जाने से तत्रिका-क्षोभ के कारण कूटवद्धता-सलक्षण (entrapment syndrome) उत्पन्न होता है। विशेष रचनात्मक स्थिति के कारण तत्रिका मे शोथ वना रहता है। इन स्थानो पर प्राय कूटवद्धता (entrapment) हो जाती है क्योकि वहाँ मार्ग या तो अस्थितान्तव सुरग होता है अथवा तान्तव ऊतक द्वारा छिद्र सीमित होता हे जिसके कारण वह नम्य या प्रत्यास्थ (elastic) नही होता। तत्रिका मे शोथ होने के कारण उसका आकार वढ जाता है जव कि मार्ग पूर्ववत् ही रहता है। इससे कूटवद्धता स्थानो पर तत्रिका का सकीर्णन और भी सम्भव होता है। विशिष्ट अभिघात या सक्रमण

कूटवद्धता उत्पन्न करने में कितना भाग लेता है यह ठीक नहीं मालूम हो सकता।

संपीडन के लक्षण तन्त्रिका के घटकों के ग्रस्त होने के अनुसार होते हैं। तन्त्रिका के प्ररूप के अनुसार ये प्रेरक, सांवेदनिक या वाहिकाप्रेरक परिवर्तन हो सकते हैं। दाब का प्रभाव न केवल तन्त्रिका ही पर किन्तु उसके भीतर के रक्तसभरण पर भी पड़ता है।

साधारण कूटवद्धता संलक्षण (Common entrapment syndrome)

मध्यमा तंत्रिका का मणिबंध सुरंग संलक्षण (carpal tunnel syndrome)—मणिबंध सुरंग एक अस्थितान्तव ऊतक-निर्मित नलिका है जिसमें होकर मध्यमा तन्त्रिका तथा आकुंचक कंडराएँ अग्रबाहु से मणिबंध पर होती हुई करतल में जाती हैं। निम्नलिखित में से किसी कारण से तन्त्रिका का वहाँ सम्पीडन हो सकता है।

(1) सबसे साधारण कारण तन्त्रिका का आघात या रक्तगुल्म (हीमेटोमा) बनना, या अस्थि-सन्धिशोथ होना है।

(2) आकुंचक कंडराओं का कज्जलश्लेषक पिधानशोथ (tenosynovitis), जो यक्ष्माजन्य या अविशिष्ट (nonspecific) प्रकार का हो सकता है।

(3) मणिबंध के अग्र ओर की कण्डरापुटी (ganglion) तन्त्रिका का सम्पीडन कर सकती है।

(4) गर्भकाल में भी यह हो सकता है।

सम्पीडन स्थान से नीचे हाथ में अंगुष्ठ, तर्जनी तथा मध्यमा की, और अनामिका अंगुलि के केवल पार्श्वपृष्ठ की संवेदना की हानि हो जाती है, अंगुष्ठ-मूलोत्सेध का क्षय होता है और अंगुष्ठ का व्यावर्तन (opposition) नहीं होता। दूसरा लक्षण वेदना का स्कंध की ओर फैलना है। अभिपृष्ठ-आकुंचन और करतल-आकुंचन दोनों से वेदना बढ़ती है।

आकुंचिका उपबंधनी (flexor retinaculum)को विभाजित करके तन्त्रिका को मुक्त करने से उत्तम परिणाम होते हैं।

अग्रबाहु में मध्यमा तंत्रिका (median nerve in forearm)—सम्पीडन का स्थान (कूटवद्धता-स्थल या स्थान) गोल अवतानिका (pronator) के उपरिस्थ और गभीर शिरों के बीच में है जहाँ तन्त्रिका दोनों के बीच से निकलकर उपरिस्थ अंगुलि-आकुंचिका (flexor digitorum sublimis)के बहि प्रकोष्ठिका से उदय (origin) के नीचे चली जाती है (चित्र 211a)। वौकमैन स्थानिक अरक्तताजन्य संकोच (Volkoman's ischaemic contracture) में यह कभी-

कभी देखा जाता है और मध्यमा तन्त्रिका का ग्रस्त होना इस दशा का कारण हो सकता है।

गोल अवतानिका के दोनो शिरो के बीच मे तन्त्रिका का मोचन (release) इस दशा की चिकित्सा है।

कूर्पर पर अन्त प्रकोष्ठिका तंत्रिका (विलंबित अंत-प्रकोष्ठिका तंत्रिकाघात) [ulnar nerve at the elbow (delayed ulnar nerve paralysis]—यह खिचने (stretching) के कारण होता है, न कि सम्पीडन से, और प्रगडास्थि के अभिमध्य स्थूलक के अस्थिभग के कुसयोजन (malunion) अथवा असंयोजन
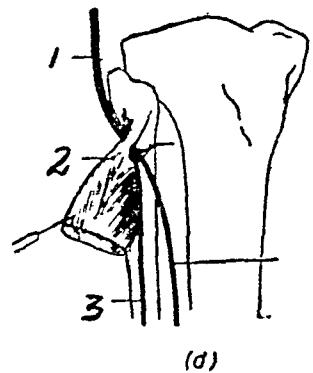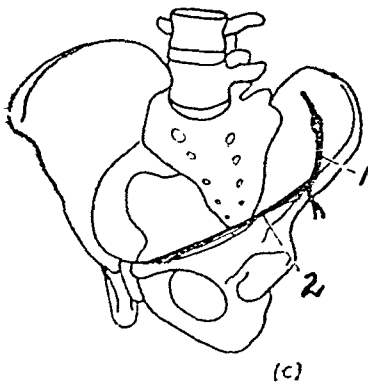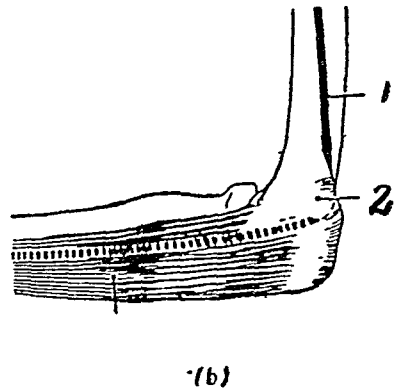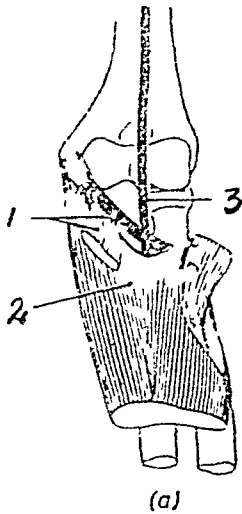
चित्र 211—कूटवद्धता या ऐन्ट्रैप्मैन्ट-सलक्षण (a) अग्रबाहु पर मध्यमा-तन्त्रिका; (b) कफोणि पर अन्त प्रकोष्ठिका तंत्रिका; (c) पार्श्व त्वक् औवीं; (d) बहिर्वर्तिका या पैरोनी तन्त्रिका।

(non-union) का फल होता है जिससे वहिर्नत प्रकोष्ठ (cubitus valgus)-विरूपता उत्पन्न हो जाती है (चित्र 211b)। लक्षण, जो निरन्तर बढते रहते है, करतल मे अन्त प्रकोष्ठिका-तंत्रिका के वितरण क्षेत्र की सवेदनाहानि, हाथ की अन्तस्थ (intrinsic) पेशियो और कनिष्ठामूल उत्सेध की दुर्बलता तथा अन्तर्मणिवध आकुचिका (flexor carpi ulnaris) का क्षय है। कभी-कभी कूर्पर के आकुचन और प्रसारण के समय अन्त प्रकोष्ठिका तन्त्रिका के अभिमध्य अधिस्थूलक के पीछे की खातिका मे से बाहर या भीतर को फिसलते रहने से तन्त्रिका के क्षोभ (irritation) के लक्षण उत्पन्न हो जाते है। इसकी (चिकित्सा) तन्त्रिका का अग्र-स्थित्यन्तरण (anterior transposition) है।

पार्श्विक और्वी त्वक् तंत्रिका (lateral femoral cutaneous nerve)—इस तंत्रिका का सम्पीडन ऊरु मे अग्र-ऊर्ध्व-श्रोणिफलक-कटक (ant. sup. iliac spine) और वक्षणी स्नायु (inguinal lig) के बीच की अस्थि-तान्तव (osseofibrous) सुरग मे होता है जिससे अपसवेदी ऊर्वार्ति (meralgia paraesthetica) की दशा उत्पन्न होती है और ऊरु के सामने के उपरिस्थ सवेदनो का नाश होता हे। सरक्षी चिकित्सा से उन्नति न होने पर तन्त्रिका का मोचन आवश्यक है (चित्र 211c)।

संपीडन के अन्य स्थान—सम्पीडन के अन्य विरल स्थान ये है · अग्रबाहु मे बहि प्रकोष्ठिका तन्त्रिका, मणिवध पर अन्त.प्रकोष्ठिक तन्त्रिका, अध्यसफलक (suprascapular) तन्त्रिका स्कंध मे, गवाक्ष (obturator) तन्त्रिका और बहिर्जंघिका (peroneal) तन्त्रिकाये बहिर्जंघास्थि की ग्रीवा पर।

कुष्ठ मे परिसरीय तंत्रिकाये
(Peripheral Nerves in Leprosy)

कुष्ठ मायकोबैक्टीरियम लेप्रे (Mycobacterium leprae) नामक जीवाणु के कारण होता है। भारतवर्ष मे यह रोग बहुत साधारण है। अनुमान यह है कि 1 प्रतिशत देश की जनता इस रोग से ग्रस्त है। यद्यपि रोग के फैलने और शरीर मे प्रवेश करने के सम्बन्ध मे अभी तक पूरा ज्ञान नही है, यह माना जाता है कि यह मुख्यतया परिसरीय तन्त्रिकाओ का रोग है। उसका प्राकट्य दो विशेष रूपो मे होता है : एक, तन्त्रिका प्रकांड (nerve trunk) को ग्रस्त करके; और दूसरा परिसरीय तन्त्रिकाओ के तन्त्रिकान्तो (nerve endings) के ग्रस्त होने से।

इसके साथ त्वचा तथा श्लेष्मिक कला मे गैन्यूलोमा या कणिकागुल्म (granulomas) वन जाते हैं। कुष्ठ दडाणु सव परिसरीय तंत्रिकाओं मे प्रचुर सख्या मे पाये जाते है; कोई प्रतिक्रिया या स्पष्ट विक्षति न होने पर भी वे तत्रिकाओ में वड़ी सख्या मे उपस्थित मिलते हैं।

विकृति

(1) जीवाणुओं की उपस्थिति के कारण कणिकार्वुदों की उत्पत्ति की प्रतिक्रिया से तान्तव ऊतक वनकर ऐक्सोनो का विपाशन (strangulation) करता है।

(2) श्वान-कोशिकाओ की आधार कला का मोटा हो जाना और नि.स्रावो (exudates) का वनना।

(3) प्रतिक्रियात्मक प्रफलन (reactive proliferation), ग्रस्त तत्रिका के चारो ओर नवीन रक्तवाहिकाओ का वनना और विद्रधि की उत्पत्ति।

(4) गोल-कोशिकाओं का अन्तस्त्वक् अन्त.सरण, जिससे तत्रिकान्त नष्ट होते है।

नैदानिक रूप

उपर्युक्त वैकृत प्रक्रियाओ के कारण निम्न-परिवर्तन पाये जाते हैं।

(1) परिसरीय तत्रिकाओ के क्षत होने से उनपर की त्वचा की सवेदना नष्ट होती है और वह अल्परजित (hypopigmented) हो जाती है।

(2) तत्रिका-प्रकांड के ग्रस्त होने से सावेदनिक, प्रेरक और रक्तवाहिका-प्रेरक (vasomotor) परिवर्तन होते है। यह पाया गया है कि तत्रिका-प्रकाड, अभिलक्षक प्रकार से विशेप स्थितियो ही मे ग्रस्त होते हैं। इस कारण यह प्रस्ताव किया गया है कि परिसरीय तत्रिकाओ के सम्पीडन के समान तत्रिका-प्रकाड की ग्रस्तता के भी विशेप स्थान हैं।

आनन-ग्रस्तता (Facial involvement)

ग्रस्तता की सामान्य स्थितियाँ आनन-तत्रिका मे गण्डचाप (zygoma) पर और शंखास्थि के अश्म भाग (petrous part of temporal) मे होती है। इससे निम्न-प्रेरक-न्यूरोन-प्ररूप आनन अगघात हो जाता है जिससे आनन-तत्रिका का कोई भाग या तत्रिका-प्रकाड ग्रस्त होता है।

ऊर्ध्व अंग की ग्रस्तता (upper limb involvement)

अन्तःप्रकोष्ठिक तंत्रिका (ulnar nerve)—प्रगंडास्थि के अभिमध्य अधिस्थूलक के पीछे की खातिका मे तन्त्रिका मे क्षति होती है जिससे हाथ की लघु पेशियो का अंगघात हो जाता है जिसका परिणाम नखरहस्त (claw-hand) और अन्त प्रकोष्ठिक-तन्त्रिका के वितरणक्षेत्र की असंवेदिता (anaesthesia) होती है।

मध्यमा तन्त्रिका (median nerve)—(1) मणिबंध मुरग मे यह तन्त्रिका सबसे अधिक ग्रस्त होती है जिससे प्ररूपी प्रेरक और सांवेदनिक परिवर्तन होते है।

(2) कूर्पर पर मध्यमा तन्त्रिका गोल अवतानिका के दोनो सिरो के बीच ग्रस्त होती है, किन्तु प्राय पेशी नही ग्रस्त होती। यह इतनी ऊंची स्थित तन्त्रिका-ग्रस्तता कभी-कभी देखी जाती है।

वहिः प्रकोष्ठिक तन्त्रिका (Radial nerve)—यह विक्षति प्रगंडास्थि पर स्थित वहि प्रकोष्ठिक खातिका मे स्थित वास्तव मे तन्त्रिका-प्रकांड का विनाश है। इससे प्ररूपी मणिबंध-पात (wrist drop) तथा अंगुलियो का प्रसारक अंगघात होता है।

अन्त तथा वहि-प्रकोष्ठिक और मध्यमा तन्त्रिकाओ की कई प्रकार से मिश्रित ग्रस्तता हो सकती है, निम्न मध्यमा और उच्च अन्त प्रकोष्ठिक ग्रस्ततायें सबसे अधिक पाई जाती है जिससे दस्ताने के समान हाथ की असंवेदिता और नखर-हस्त हो जाते है।

अधरांग की ग्रस्तता (lower limb involvement)

पार्श्व-जानुपृष्ठतंत्रिका (lateral popliteal nerve)—अधरांगो मे यह तंत्रिका सबसे अधिक ग्रस्त होती है। क्षति वहिर्जंघिका की ग्रीवा पर स्थित होती है। इनसे पांव की पदपृष्ठाकुंचिका (dorsi-flexors) और वहिर्वर्तिका (evertors) पेशियो का अंगघात हो जाता है जिससे पदपात (foot drop) होता है। अंगघात के साथ पश्चअन्तर्जंघिका तन्त्रिका के भी ग्रस्त होने से मोजे के समान असंवेदिता (stocking type anaesthesia) हो जाती है। अपूर्ण क्षतियां बहुत होती है।

पश्च अन्तर्जंघिका तंत्रिका (posterior tibial nerve)—विक्षति आकुंचक उपबंधनी से ऊपर (गुल्फ संधि के स्तर पर) होती है। इससे पांव की लघु

पेशियो का अगघात हो जाता हैं। पार्श्व जानुपृष्ठ तन्त्रिका की क्षति के साथ इस क्षति के होने से सारे पाव का सवेदननाश होता है।

अन्य लक्षण और चिह्न

अल्परजित त्वक-विक्षतियो मे विस्तृत तन्त्रिकान्तहानि शरीर मे कही भी पाई जा सकती है।

तन्त्रिका-ग्रस्तता के साथ, विशेपकर सवेदनहानि मे सतत लघु अभिघात और सभवत पोषक प्रतिक्रियाये, असवेदन के क्षेत्रो मे अत्यन्त क्षति उत्पन्न करती है जिससे व्रणोत्पत्ति, अस्थिओ का अवशोषण तथा त्वचा और सधि-सम्पुट का सकोच होता है और विरूपता उत्पन्न हो जाती है।

चिकित्सा

तन्त्रिका-प्रकाडो की ग्रस्तता की तीव्र अवस्था मे विक्षति कूटवद्धता (entrampment) सलक्षण ही के समान होती है। इस कारण सरक्षी चिकित्सा की जाती है, स्प्लिन्टों के प्रयोग से ग्रस्त भाग को विश्राम देना, ग्रस्तता के स्थान पर ऊष्मा का प्रयोग और तन्त्रिका शोथ के शमन के लिये कोर्टिकोस्टिराइडो को रोगी को देना चिकित्सा के उपाय है। रासायनी चिकित्सा (chemotherapy) इस अवस्था पर वर्जित है। इन उपायो के असफल होने पर शस्त्रकर्म द्वारा तन्त्रिकामोचन करना पड़ेगा। तीव्र अवस्था के शमन के पश्चात् तथा लेप्रोमेटा मे रासायन चिकित्सा की जाती है।

पुनःक्षमता प्राप्ति (rehabilitation)

इसके निम्न उपाय है . सकोचो (contractures) के लिए व्यायाम तथा भौतिक चिकित्सा, सवेदनाहीन अगों की देखभाल के लिये रोगी की शिक्षा, विकलागी आयोजन जैसे कण्डरा-आरोप (tendon transplants), सधि स्थिरीकरण (joint fixation) तथा अगघातो और विरूपताओं के सुधार के लिए अन्य उपाय।

स्वायत्त तंत्रिकातंत्र

तन्त्रिका तन्त्र का वह भाग जो सरल (अरेखांकित) पेशियो, आशयो, हृदय की पेशियो, रक्तवाहिकाओ और ग्रन्थियो को तन्त्रिकाये भेजता है, स्वायत्त

तंत्रिकातंत्र कहलाता है। वह तन्त्रिकातन्त्र के मध्यवर्ती (central) और परिसरीय (peripheral) दोनो भागो मे विद्यमान है। स्वायत्त तन्त्रिका के परिसरीय पथमार्ग (pathways) दो विभागो मे बाटे गये है . एक उरोकटि वहि:प्रवाह (thoracolumbar outflow) या अनुकम्पी तन्त्र (sympathetic system), और दूसरा कपालत्रिक वहि प्रवाह (craniosacral outflow) या परानुकम्पी तन्त्र (parasympathetic system)

इन दोनो की विशेपता इनमे अन्तग्रन्थन सगमो (synaptic junctions) का होना है जो परिसरीय भाग की गडिकाओ मे स्थित है और जिनसे पुरोगडिका (preganglionic) और गडिकोत्तर (postganglionic) ततु निकलते हैं।

अनुकम्पी तंत्र (sympathetic system)

अनुकम्पी वहि.प्रवाह मे, पुरोगडिका ततु मेरुदड के धूसर पदार्थ के पार्श्व शृगों से निकलते है। ये तन्तु उ० 1 से त्रि० 2 तक अभिपृष्ठ-तन्त्रिका-मूलो के साथ मेरुरज्जु से वाहर आते है। अनुकम्पी प्रकाड दो तन्त्रिकीय रज्जुये है जो पृष्ठवश के प्रत्येक पार्श्व ओर, एक-एक, रज्जु ग्रीवा, वक्ष और उदर मे ऊपर से नीचे तक चली गई है। गडिकोत्तर तन्तु कशेरुकीय (vertebral) अथवा पुरोकशेरुकीय (prevertebral) गडिकाओ से रक्तवाहिकाओं के साथ, जिन पर वे एक जाल वना देते है, अथवा मेरुतन्त्रिकाओ (spinal nerves) मे होकर अपने निर्दिष्ट स्थान, हृद पेशियो या ग्रन्थियो मे पहुँचते है। अभिवाही तन्तु (afferent fibres) सावेदनिक है और आशयजनित पीडा उत्पन्न करते है। अभिवाही तन्तु किसी भी तल पर प्रमस्तिष्कमेरु अक्ष मे प्रवेश करते है' किन्तु अपवाही (efferent) तन्तु के साथ उनका प्रवेश आवश्यक नही है। खडाश तल (segmental levels) वहुत कुछ एक-दूसरे को ढके रहते है; कुछ तो पार करके दूसरी ओर के तन्तुओ से सम्वन्ध स्थापित कर लेते हैं।

परानुकम्पी तन्त्र (parasympathetic system)

परानुकम्पी प्रवाह मे भी पुरोगंडिकी और गडिकोत्तर तन्तुओ का ऐसा ही प्रवन्ध है। किन्तु उनमे अन्तर्ग्रन्थन, जिस आशय मे वे जाते है उसके पास ही, या उसके भीतर होता है। परानुकम्पी तन्त्र मे निम्न भाग है।

कपाल वहि:प्रवाह (cranial outflow)—मे वहिश्छद वहि:प्रवाह (tectal outflow) और कन्दवहि प्रवाह(bulbar outflow), दो भाग है। मुख्य कपाली

तंत्रिकाये जिनके साथ परानुकम्पी तंतु जाते है, वे 3, 7, 9 और 10 वीं तंत्रिकायें हैं।

त्रिक बहिःप्रवाह (sacral outflow)—पुरोगण्डिका तन्तु, जो पार्श्व धूसर पदार्थ से निकलते हैं, मेरुरज्जु से त्रि० 3 और त्रि० 4 की अग्रमूलों के साथ निकलते है। वे तंत्रिकाओं से आगे चलकर पृथक हो जाते है और स्वयं तन्त्रिकीय गुच्छों मे सामूहित होकर श्रोणि-तन्त्रिकाओ या हर्षणी तन्त्रिकाओं (nervi erigentes) के रूप में मलाशय के प्रत्येक ओर फैले रहते है। वे श्रोणि-जालिकाओं (pelvic plexus) की गण्डिकाओ मे स्थित कोशिकाओं के साथ अन्तर्ग्रन्थनी सम्बन्ध (synaptic connections) स्थापित करते है अथवा मलाशय और मूत्राशय की भित्तियों मे संगम करते है, जहाँ से गण्डिकोत्तर तंतु प्रारम्भ होकर बृहदान्त्र, मूत्राशय तथा जननेन्द्रियो की रक्तवाहिकाओं को जाते है।

शल्य चिकित्सा सम्बन्धी विचार

निम्न दशाओ मे शस्त्रकर्म द्वारा अनुकम्पी तन्त्रिकाविच्छेदन (denervation) लाभदायक होता है: वाहिकाकर्षजन्य (vasospastic) परिसरीय वाहिका रोग; अतिरक्तदाब (hypertension) को घटाना, और कई प्रकार की आशयिक वेदनाओ के शमन के लिये।

स्वायत्त तन्त्रिकातन्त्र के अनुकम्पी विभाग के उद्दीपन से ऐड्रिनेलीन उत्पन्न होती है जो रक्तप्रवाह द्वारा सब सरचनाओ मे पहुचती है। सारे शरीर पर ऐड्रिनेलीन का वही प्रभाव होता है जो अनुकम्पी तंत्र के उद्दीपन से होता है। यह भी पाया गया है कि अनुकम्पी तन्त्रिका के उद्दीपन से तन्त्रिकान्तो पर सिम्पेथिन (sympathin) नामक पदार्थ बनता है जिसकी क्रिया भी अनुकम्पी उद्दीपन ही के समान होती है। इस प्रकार एड्रिनेलिन और सिम्पेथिन दोनों रासायनिक नियामकों (chemical mediators) के रूप मे रहते है। उसी प्रकार एसिटिलकोलीन परानुकम्पी तंत्र का रासायनिक नियामक है। इस पर विशेष जोर दिया गया है कि स्वायत्त संवेगों के इन रासायनिक नियामकों का क्रियास्थान तन्त्रिकान्तों और सरल पेशी की कोशिकाओ की अनुक्रिया-यंत्रावलि (responsive me[illegible]) के बीच में स्थित है। विशेषता यह है कि स्वयं तन्त्रिका के [illegible] न रासायनिक नियामकों की सुग्राहिता (sensitiveness) न[illegible] न्तु और भी बढ़ जाती है। [illegible]
स्वायत्त त[illegible] से इन वस्तुओं की अनुक्रिया में

कहा गया है कि गंडिकोत्तर-तन्त्रिका-विच्छेद पर तन्त्रिका-प्रभावन-यन्त्रावलि (neuro-effector mechanism) की सुग्राहिता बढ़ जाती है जो पुरोगंडिक तन्त्रिकाविच्छेद पर नही होता। अतएव रक्तवाहिकाओ की मसृण पेशी की अल्पतम सुग्राहिता और तान का अधिकतम ह्रास उत्पन्न करने के लिये अनुकम्पी पथमार्ग को ऊर्ध्व या पुरोगण्डिक न्यूरोन मे विच्छिन्न करना चाहिये।

कटिअनुकम्पी उच्छेदन पुरोगण्डिका और गण्डिकोत्तर उच्छेदन का सम्मिश्रण है। यदि वह पूर्ण नही होता तो अविच्छेदित तन्त्रिकान्त (nondenervated nerve endings) इतना सिम्पेथिन उत्पन्न कर सकते हैं कि उससे विच्छेदित तन्त्रिकान्तो का भी उद्दीपन होता रहे। इस कारण इच्छित फल प्राप्ति के लिये उभय ओर अनुकम्पी उच्छेदन करके पूर्ण तन्त्रिकाविच्छेदन आवश्यक है। ऊर्ध्व अग (बाहु आदि) को अनुकम्पी प्रवाह दूसरी और तीसरी मेरुतन्त्रिका द्वारा होता है। अतएव केवल पुरोगण्डिका अनुकम्पी उच्छेदन ऊर्ध्वांग के लिये पर्याप्त है, जिसको स्मिथविक (Smithwick) विधि से पश्च ओर से किया जाता है इसमे अनुकम्पी शृंखला को छोड दिया जाता है और केवल पुरोगडिका तन्तुओ को काटा जाता है।

परिसरीय वाहिका-विकारों मे अनुकंपी उच्छेदन

रेनोरोग (Raynaud's disease)—रेनोरोग वाहिका-आकर्षजन्य रोग है जो अधिकतर ऊर्ध्व देहशाखा (upper extremity) में होता है। इस कारण पुरोगडिका-उच्छेदन मे उत्तम फल होता है। अनेक बार, एक ही ओर लक्षण होने पर भी उभय पार्श्वी अनुकम्पी उच्छेदन करना होता है, क्योकि कुछ समय पश्चात दूसरी ओर भी लक्षण प्रकट हो जाते हैं।

धमनीकाठिन्यज लोपी परिसरीय धमनीशोथ (Arteriosclerotic obliterative peripheral arteritis)—इस दशा मे अनुकम्पी उच्छेदन इसलिये किया जाता है कि अन्तर्रोधी दशाओ के साथ बहुत से वाहिका-आकर्षी तत्त्व (vasospastic elements) मिले रहते है। वाहिकावेदना (vascular pain) और त्वचा के ग्रस्त होने पर तो अनुकम्पीउच्छेदन और भी आवश्यक हो जाता है, क्योकि वाहिकाओं मे वेदनातन्तु अनुकम्पी तन्त्र ही मे होकर जाते है और अनुकम्पी-उच्छेदन से त्वचा की वाहिकाओ का बहुत विस्फार होता है।

लोपी घनास्र धमनी शोथ (thromboangitis obliterans)—अनुकम्पी उच्छेदन प्रारभिक अवस्था मे लाभदायक हो सकता है, किन्तु उभयपार्श्वी अनुकुपी छेदन और पूर्ण तत्रिका-विच्छेद के महत्त्व को न भूलना चाहिए।

परिसर मे रक्तवाहिका विस्फार अधिक हो जाने तथा वाहिका-आकर्ष दूर होने पर भी पेशी को अधिक रक्त न पहुँचना सभव है। अनुकम्पीच्छेदन के पश्चात् भी खजता (क्लौडीकेशन) असाधारण नही है।

शाखाश्यावता (acrocyanosis)—केवल शाखाश्यवता वाहिका-आकर्ष से होती है और अनुकम्पीच्छेदन के उत्तम परिणाम होते है।

लिविडी रेटीक्युलेरिस (Lividorecticularis)—अनुकम्पी उच्छेदन से लक्षणों का शमन होने पर भी त्वचा पर जो धव्वे वन गये है (motting) वे नही जाते।

अतिस्वेदलता (hyperhidrosis) **और पूतिस्वेदलता** (bromhidrosis)—अनुकम्पी उच्छेदन से लक्षणो के शमन पर रोगी शीघ्र ही अपना व्यवसाय प्रारंभ कर सकता है।

तीव्र धमनी घनास्त्रता (acute arterial thrombosis)—तीव्र धमनी घनास्त्रता मे अनुकम्पी उच्छेदन से वहुत लाभ हो सकता है, क्योकि उससे (१) धमनी आकर्ष दूर होता है, और (2) समपार्श्वी (collateral) रक्तसचार उन्नत होता है।

अनुकम्पी उच्छेदन के साथ अन्त शल्योच्छेदन (embolectomy) भी करने से अत्युत्तम परिणाम होते है।

दाहार्ति, कौसेल्जिया (causalgia)—पुरोगण्डिका अनुकम्पी उच्छेदन से वेदनाशमन होता है।

अतिरक्त दाव (hypertension)

अतिरक्तदाव का शब्द उस समय प्रयोग किया जाता है जव अनुशिथिलन (diastolic) दाव निरन्तर उच्च रहता है, 100 मि० मी० पारा से अधिक रहने पर वह अवश्य ही विकृतिजन्य (pathological) है। प्रकुचनदाव मे भावातिरेक, व्यायाम आदि से परिवर्तन हो सकते है; उनका विकृतिजन्य होना आवश्यक नही है।

अज्ञातहेतुक अतिरक्तदाव (essential hypertension) एक नैदानिक दशा है जिसमे रक्त दाव प्रसामान्य से सदा अधिक रहती है और वृक्क धमनी अथवा अन्त स्रावी या चयापचय के विकारो के कारण नही होती। इस प्रकार की रक्तदाव का हेतु अभी तक ठीक-ठीक नही मालूम हो सका है।

नैदानिक रूप से अतिरक्तदाव दो प्रकार की होती है, एक मुदम (benign)

और दूसरा दुर्दम (malignant) जिसका नैदानिक अभिलक्षण अक्षिबिंब शोफ (papilloedema) होता है।

अतिरक्तदाव की चिकित्सा के समय प्रथम चिकित्स्य कारणों को दूर करना अभीष्ट होना चाहिए; उसके पश्चात् लक्षणानुसार चिकित्सा की जाय। सम्भव है कुछ शल्य-चिकित्स्य दशायें उपस्थित हों जैसे, महाधमनी का समापीड़न (coarctation) और फेकोसाइटोमा (phacochromacytoma)। ऐसी दशायें जैसे गवीनीवृक्क शोथ (pyelonephritis) या स्तवकी वृक्क-शोथ (glomerulo-nephritis) की चिकित्सा औषधोपचार से की जाती है।

वृक्कोच्छेदन से उन रोगियों में लाभ होता है जिनको एक ओर का वृक्क रोग होता है, विशेषकर वृक्क धमनी की संकीर्णता (stenosis) में।

अज्ञात हेतुक अतिरक्तदाव की चिकित्सा में रोग की प्रवृत्ति उत्पन्न करने वाले कारण को दूर करने या शमन करने पर विशेष ध्यान देना चाहिये, जैसे, मानसिक अस्थिरता (nervous disposition), स्थूलता और मधुमेह (diabetes mellitus)। रक्तदावह्रासी (hypotensive) औषधियों से बहुत रोगियों को लाभ होता है। किन्तु यह पाया गया है कि कुछ रोगियों को भयप्रद अतिमात्राओं को लम्बे काल तक प्रयोग कराना आवश्यक होता है।

यह स्पष्ट है कि इन औषधियों का प्रयोग सदा चिकित्सक के निरीक्षण में किया जाय और यह एक आर्थिक प्रश्न भी है। यदि इन औषधियों द्वारा रक्तदाव का उपयुक्त शमन किया जा सके, अथवा यदि उनका कोई शरीर पर हानिकारक प्रभाव हो तो द्विपार्श्वी उरो-कटि-अनुकम्पी-उच्छेदन (bilateral thoracolumbar sympathectomy) ही रोग की प्रगति को विलंबित करने का केवल उपाय है। साधारणतया यह शस्त्रकर्म 50 वर्ष से कम की वय वालों और वृक्कहानि तथा हृद और प्रमस्तिष्कधमनीरोगों से रहित व्यक्तियों में करना चाहिए। शस्त्रकर्म के पश्चात् रक्तदाव सदमक औषधियों का प्रयोग आवश्यक हो सकता है। किन्तु शस्त्रकर्म से पूर्व की अपेक्षा उनकी आल्पमात्रा, वह भी थोडी ही बार, दी जाती है। अतएव अन्य चिकित्सा-विधियों के सहायक के रूप मे अनुकम्पी उच्छेदन का अतिरक्तदाव के शमन के लिए विचार किया जाता है। तो भी अनुकम्पी उच्छेदन के पश्चात् दीर्घकाल तक उन रोगियों को देखते रहने से उनमें हुई उन्नति संतोपजनक नहीं पाई गई है।

कुछ दुर्दम अतिरक्तदाव के रोगियों में उभयपार्श्वी अधिवृक्कोच्छेदन भी किया गया है। किन्तु शस्त्रकर्म का वृहत्त्व (वृहदता) तथा जटिलता और शस्त्रकर्मोत्तर होने वाले उपद्रवों के कारण वह सर्वप्रिय नहीं हुआ है।

अदम्य वेदना (intractable pain) के शमन की शल्यविधियां

यद्यपि अदम्य वेदना के लिए अनुकम्पी उच्छेदन एक चिकित्साविधि है, अन्य विधियों का भी यहाँ सुगमता के लिये वर्णन किया जाता है।

वेदना पथमार्गों की रचना (anatomy of pain pathways)

परिसर से वेदना के उद्दीपन केन्द्रीय तन्त्रिकातन्त्र मे दैहिक (somatic) सावेदनिक तन्त्रिकाओ द्वारा अथवा स्वायत्त (autonomic) तन्त्रिकाओ या दोनो के द्वारा पहुँचते हैं। पहले प्रकार की तन्त्रिकाये दैहिक वेदना और दूसरे प्रकार की आशयिक वेदना उत्पन्न करती है।

दैहिक वेदना परिसर पर अन्तागो (endorgans) द्वारा ग्रहण की जाती है और परिसरी तन्त्रिका के भीतर एक्सोनो द्वारा, अर्थात् पश्च मूल द्वारा मेरुरज्जु के अभिपृष्ठ धूसर पदार्थ मे पहुँचाती है। यहाँ से दूसरा न्यूरोन मेरुरज्जु के पार दूसरी ओर जाकर पार्श्व मेरुचेतक पथ (spinothalamic tract) मे होकर चेतक (thalamus) मे पहुँचता है जहाँ से तीसरा न्यूरोन उसको सवेदनिक प्रान्तस्था (sensory cortex) मे पहुँचता है। कुछ तन्तु चेतक मे पहुँचने से पूर्व जालक रचना मे विसरित हो जाते है। आशयिक वेदना आशयों और रक्त-वाहिकाओ से अनुकम्पी शृखला और पश्चतन्त्रिकामूलो द्वारा मेरुरज्जु के अभिपृष्ठ धूसर पदार्थ मे पहुँचती है। वहाँ से वह अग्र सयोजिका मे रिले हो जाती है और पार्श्व मेरुचेतक पथ द्वारा या उसके पास ही ऊपर को चली जाती है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि वेदना की केन्द्रीय उत्पत्ति हो सकती है। अतएव यह स्पष्ट है कि वेदना तीन प्रकार की होती है (1) दैहिक (somatic); (2) आशयिक (visceral) और (3) मानसिक (psychic) और उपयुक्त पथमार्गो को विच्छिन्न करने से वेदना का शमन हो सकता है।

शस्त्रकर्म-प्रविधियां (surgical techniques)

अनुकम्पी उच्छेदन (sympathectomy)—आशय या रक्तवाहिकाओं में परिमित वेदना के शमन के लिये अनुकम्पी उच्छेदन सर्वोत्तम चिकित्सा है। हृदय, महाधमनी और औदारिक आशयों से उत्पन्न वेदना के शमन मे प्रादेशिक अनुकम्पी उच्छेदन द्वारा तन्त्रिकाविच्छेद करने से बहुत सफलता प्राप्त होती है। किन्तु वैकृत प्रक्रम (pathological process) केवल आशय मे परिमित होना चाहिये। प्रक्रम के दैहिक वेदना क्षेत्र मे प्रसार होने से जो वेदना होगी उसका शमन नही होगा।

परिसरी तंत्रिका का परिच्छेदन (section of peripheral N)—बड़ी परिसरी तन्त्रिकाओं को काटने पर प्रेरक, सावेदनिक तथा स्वायत्त तन्तु सब ही के कट जाने से बहुत अशक्यता हो जाएगी। किन्तु केवल सावेदनिक भाग को, यदि सभव हो तो, काटा जा सकता है, जैसा पाचवी कपाली तन्त्रिका मे हो सकता है।

मेरुचेतक पथछेदन (spinothalamic tractotomy)—इस शस्त्रकर्म मे यह लाभ है कि इसमे दैहिक और आशयिक दोनो प्रकार की वेदनाये जाती रहती है, किन्तु स्पर्श का सवेदन नष्ट नही होता। अवरागों या श्रोणि की वेदना के लिये यह शस्त्रकर्म आदर्श है। दोनो ओर पथछेदन करना उत्तम है। शस्त्रकर्म ग्रैव या ऊर्ध्व उरो प्रदेश मे किया जाता है।

ऊर्ध्व देहशाखा मे वेदना होने पर शस्त्रकर्म मेरुरज्जु शीर्ष मे या प्रमस्तिष्क वृन्त के तल पर करके मेरुचेतक पथ को विच्छिन्न किया जा सकता है।

चेतक तथा प्रान्तस्था पर शस्त्रकर्म (operation on thalamus and cortex)—इन शस्त्रकर्मो का अनिश्चित फल हुआ है।

पुरोललाट खंडछेदन (prefrontal lobotomy)—यद्यपि इस शस्त्रकर्म से वेदनापथमार्ग विच्छिन्न नही होते, वह रोगी की वेदना की प्रतिक्रिया को परिवर्तित कर देता है। किन्तु उसका अन्तिम उपाय समझकर उपयोग करना चाहिये, क्योकि वह व्यक्तित्व का भी परिवर्तन करता है।

अलकोहल के इंजैक्शन—अभिपृष्ठ तन्त्रिकामूलों के लिये परिसरी तन्त्रिकाओं मे अथवा मेरुरज्जु आवेष्टन के भीतर (intrathecally) अलकोहल के इन्जैक्शन उस दशा मे दिये जाते है जब रोगी अन्य किसी क्रिया को सहन करने योग्य नही होता।

स्तन के कार्सिनोमा मे वेदना

यह भली-भाति विदित है कि पीयूषिका-उच्छेदन से स्तन के प्राथमिक कार्सिनोमा अथवा द्वितीयक निक्षेपो का प्रतिक्रमण (regression) होता है और साथ ही वेदना भी कम होती है। किन्तु इसकी क्रिया-विधि का अभी तक ठीक-ठीक ज्ञान नही हो सका है।

22

वक्ष
(Thorax)

ए० के० वसु

वक्षभित्ति (Chest wall)

रचना

वक्षभित्ति पेशी-प्रावरणी-अस्थिनिर्मित सरचना है जिसमें सममित (symmetrical) स्थित पर्शुकाओं के बारह जोडे है जो अन्तरापर्शुकिका (intercostal) पेशियो द्वारा जुडे रहते है। पर्शुकाये पीछे की ओर कशेरुकाओं से और सामने उरोस्थि (sternum) से तथा आपस मे एक दूसरे से सधि करती है। श्वसन के समय पर्शुकाये ऊपर-नीचे को गति करती रहती है।

क्रिया

दृढ वक्षभित्ति के भीतर प्लूरागुहा है जो भित्तिक और आशयिक प्लूरा मे सीमित एक शक्य (potential) अवकाश है। इस गुहा के भीतर की दाब वायुमडल की दाब से कम है और यह ऋणात्मक दाब फुफ्फुसो को सदा बाहर को खीचती रहती है जिससे वे विस्तृत (expanded) रहते है। यदि अभिघात के कारण या शस्त्रकर्म मे प्लूरा खुल जाता है तो वायुमडल की वायु प्लूरागुहा मे खिच आती है, और फुप्फुसपात (collapses) हो जाता है। प्लूरा-गुहा के शस्त्रकर्मों अथवा घावो मे इसका बड़ा भय रहता है। प्लूरा की अन्त.कला

pectus excavatum) है। यह दशा भारतवर्ष मे अधिक नही पाई जाती, किन्तु पश्चिमी देशों से बहुत होती है। उरोस्थि की काय 4 या 5 पर्शुकाओ सहित भीतर कशेरुको की ओर गहरी धस जाती है और सामने एक गहरा गढा या कोटर सी बन जाती है। प्राय बाल्यकाल मे इससे कोई लक्षण नही उत्पन्न होते। किन्तु आगे चल कर यदि विरूपता अधिक या तीव्र हो तो वह श्वसन-अपर्याप्तता (respiratory insufficiency) उत्पन्न कर सकती है।

उपचार

पाँच या छ वर्ष के वय पर इस विरूपता को सुधार देना चाहिये। उरोस्थि के दोनो पार्श्वों मे उपास्थियो को विभक्त करके और उनके अन्य सवधो को भी काटकर उरोस्थि को सामने को उठा दिया जाता है। शस्त्रकर्म के एक मास पश्चात् तक स्प्लिन्टो को प्रयोग करना पडेगा जव उरोस्थि अपनी नई स्थिति मे स्थिर हो जायगी।

आघात (injuries)

पर्शुकाओं के अस्थिभंग (fractures of the ribs)

पर्शुकाओ के अस्थिभग गिरने या सम्पीडन आघातो से जैसे, दो कठोर पृष्ठो के वीच मे आकार कुचल जाने से, होते है। यदि एक या दो पर्शुकाओ का भग हुआ है, आघात केवल एक ही ओर है और प्लूरा और फुफ्फुस अक्षुण्ण है तो कुछ अधिक नही करना है। रोगी को, विशेषकर गहरे प्रश्वास लेने पर, वेदना प्रतीत होती है। किन्तु वह प्राय एक सप्ताह मे जाती रहती है। पहले रोगी से गहरा निश्वास करवा कर वक्ष पर कस कर चिपकने वाले प्लास्तर की पट्टिया लगा कर उसको स्थिर कर दिया जाता था। किन्तु यह वास्तव मे आवश्यक नही है और वृद्ध व्यक्तियो मे भय का कारण हो सकता है।

कुचल जाने वाले आघातो मे पर्शुका का आगे और पीछे दोनो ओर अस्थिभग हो सकता है। इससे वक्षभित्ति अस्थायी (unastable) हो जाती है और जिसको विरोधाभासी श्वसन (paradoxical respiration) कहते है वह उत्पन्न हो जाता है, अर्थात् वक्षभित्ति का भाग प्रश्वास के समय भीतर को खिच जाता है और निश्वास के समय वाहर को उभर जाता है। यह एक भयानक दशा है जिससे रोगी को श्यावता (cyanosis) हो सकती है। इसकी चिकित्सा के लिए वक्षभित्ति के भग्न भाग पर एक रुई की वडी कवलिका

(pad of cotton wool) को रखकर उसको कसकर आसजी (adhesive) प्लास्तर से स्थिर कर दिया जाता है।

पर्शुकाओ के अस्थिभग से प्लूरा और फुप्फुस को आघात पहुंचा सकता है जिससे रक्तवक्ष (haemothorax) हो सकता है। रोगी को खासी के साथ कफ मे रक्त निकलता है और अभिघातज वातस्फीति (surgical emphysema) हो सकती है।

रक्तवक्ष के रोगियो मे रक्त का तुरन्त ही प्लूरागुहा मे आचूपण (aspiration) करने के पश्चात् प्रतिजीवियो के विलयन को प्रविष्ट करना चाहिए। ऐसा न करने से सक्रमण का बहुत भय रहता है। विलम्ब होने पर प्लूरागुहा का अन्वेपण और रक्ततच (blood clot) का अपहरण करना होगा।

भेदक आघात (penetrating injuries)

भेदक आघातो मे प्लूरा गुहा का बाह्य वायुमडल से सम्बन्ध होता है और फुप्फुस पात (collapse) होता है; सक्रमण का भी बहुत भय रहता है। ऐसे रोगियो का तत्काल शस्त्रकर्म आवश्यक है। छेदन को बढाकर गुहा के भीतर सम्भव हानि को जानने के लिए निरीक्षण करना चाहिए और उसको सुधार कर गुहा के निर्हरण (drainage) का प्रबन्ध करके गुहा को बन्द कर देना चाहिए।

उदर-वक्ष आघात (abdomino-thoracic injuries)

यह अधिक गभीर समस्या है। वक्ष के अभ्यन्तरांगों के आघात के अतिरिक्त मध्यच्छदिका प्राय: क्षत हो जाती है और यकृत और प्लीहा भी ग्रस्त होते है। स्तब्धता गाढी होती है । ऐसे रोगियो का, दशा सुधारने के पश्चात्, शीघ्रातिशीघ्र शस्त्रकर्म करना चाहिए।

अर्बुद (Tumours)

पर्शुकाओ तथा अन्तरापर्शुका पेशियो से साधारणतया अर्बुद नही उत्पन्न होते। अस्थ्यर्बुद (osteoma) या उपास्थ्यर्बुद (chondroma) पर्शुकाओं से निकल सकते है, किन्तु अस्थिजन सारकोमा (osteogenic sarcoma) अधिक उत्पन्न होता है। कभी-कभी ये अर्बुद बाहर को वृद्धि न करके भीतर को वृद्धि करते है जिससे वे अन्तर्वक्ष अर्बुद (intrathoracic tumours) समझे जा सकते है। इसके विरुद्ध फुप्फुस का कीर्सिनोमा बढकर वक्षभित्ति को आक्रान्त करता देखा गया है।
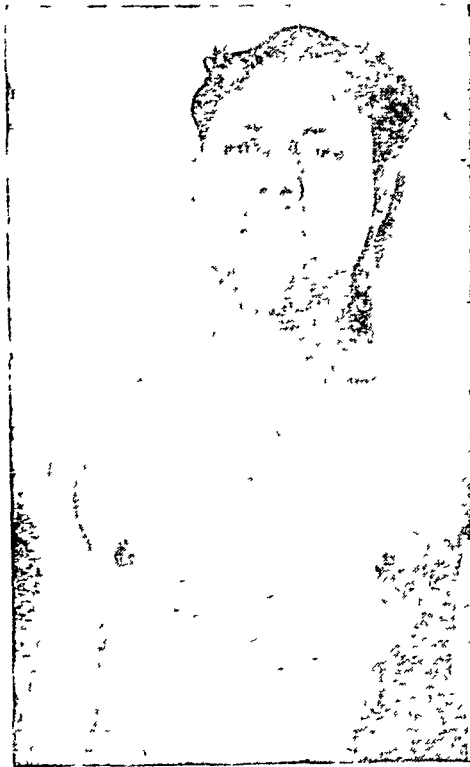
चित्र 212—वक्षभित्ति मे उत्पन्न हुई शीत विद्रधि ।

मध्यस्थानिका के अर्बुद
(Mediastinal tumours)

यद्यपि केवल मध्यस्थानिका मे स्थित अर्वुदो ही को मध्यस्थानिका अर्वुद कहना चाहिए, किन्तु व्याख्या की सरलता के लिए मध्यस्थानिका की सब ही सूजने या अवकाश-पूरक क्षतियाँ इस शीर्षक मे गिन ली जाती है। इस कारण मध्यस्थानिका-अवकाश की पुटिया, लसीका-ग्रथि-विकृतियां (lymphadenopathies) तथा एन्यूरिज्म भी इसी वर्ग मे गिने जाते है। व्याख्या और निदान की सुविधा के लिए मध्यस्थानिका के अर्वुदों को उनके उत्पत्तिस्थान तथा स्थिति के अनुसार निम्न तीन वर्गो मे बाटा गया है (1) ऊर्ध्व मध्यस्थानिका के अर्वुद; (2) अग्र मध्यस्थानिका के अर्वुद और (3) पश्च मध्यस्थानिका के अर्वुद ।

ऊर्ध्व मध्यस्थानिका के अर्बुद (superior mediastinal tumours)

इस वर्ग मे थाइमस ग्रन्थि के अर्बुद, उरोस्थिपश्च गलगण्ड (retrosternal goitre), महाधमनी चाप तथा प्रगडशीर्ष धमनी के एन्यूरिज्म, ऊर्ध्व मध्य-स्थानिका लसीका ग्रन्थियो के समूह की लसीका ग्रन्थि-विकृतिया (lymphadenopathies) जैसे, लसीका ग्रन्थ्यर्बुद (lymphadenoma), लसीका सारकोमा (lymphosarcoma), द्वितीयक कार्सिनोमा आदि गिने जाते है।
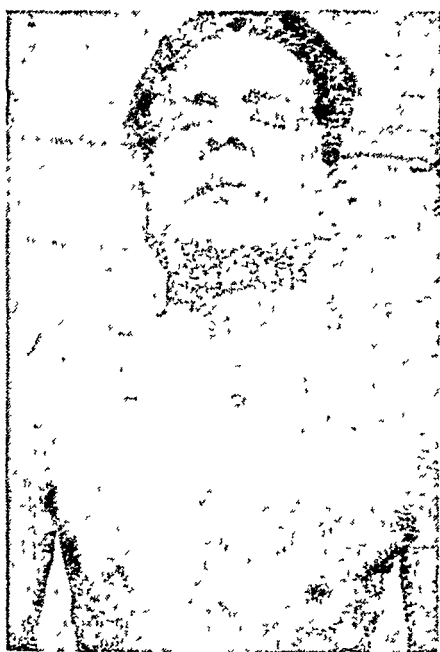
चित्र 213—ऊर्ध्व महाशिरा मे अवरोध के कारण आनन की सूजन और शिराओ का फूल जाना (स्फीति)।

थाइमस ग्रन्थि के अर्बुद (tumours of thymus gland)

थाइमस के अर्बुद कम होते है, वे अत्यन्त दुर्दम होते है और उनका प्राग्ज्ञान प्रतिकूल होता है। उनमे से अल्प प्रतिशत का सबध गभीर पेशी-अवसाद (myasthenia gravis) के साथ होता है, किन्तु दोनो मे क्या सम्बन्ध है, यह सदिग्ध है। गभीरपेशी-अवसाद सामान्य अथवा अल्प अतिविकासी (hyperplastic) थाइमस के साथ भी हो सकता है। इस रोग मे थाइमसोच्छेदन से कुछ रोगियो मे लाभ हुआ है।

चिह्न और लक्षण—ऊर्ध्व मध्यस्थानिका के अर्बुदों में श्वास प्रणाल और श्वसनी पर दबाव पड़ने से खाँसी, घर्घर (stridor) और कष्टश्वास (dyspnoea) उत्पन्न होते हैं ; ऊर्ध्व महाशिरा के दबने से ग्रीवा की शिराएँ और आनन फूल जाते (चित्र 213) हैं और ग्रास प्रणाल के दबाव के कारण निगरण-कष्ट (dysphagia) होता है।

एक्सरे चित्रण (radiography)—एक्सरे-चित्रण से अर्बुद (चित्र 214) और श्वास-प्रणाल तथा ग्रास-प्रणाल की दबाव से उत्पन्न हुई विरूपताएँ दीखती हैं (चित्र 215)।

चिकित्सा—थाइमस के अर्बुद मध्यउरोस्थि-छेदन (midsternal incision) द्वारा निकाले जाते हैं। महाधमनी और प्रगंडशीर्ष धमनी के एन्यूरिज्म जटिल समस्या उपस्थित करते हैं, किन्तु हाल ही में उनका सफलतापूर्वक उच्छेदन किया गया है और उनके स्थान पर वाहिकीय निरोप (vascular grafts) लगाये गये

चित्र 214—वक्ष का पार्श्विक एक्सरे-चित्र जिसमें उरोस्थिमुष्टि (manubrium sterni) या हस्तक के पीछे एक बड़ा थाइमस का अर्बुद स्थित है।

चित्र 215—वेरियम के निगलने पर लिया हुआ एक्सरे-चित्र जो मध्यस्थानिका अर्वुद से उत्पन्न हुई ग्रास प्रणाल की विरूपता को दर्शाता है।

हैं। लसीका ग्रन्थि विकृतियो की चिकित्सा, निदान पुष्टि के पश्चात्, गभीर एक्सरे-प्रयोग द्वारा करनी चाहिए।

अग्र मध्यस्थानिका अर्वुद (**anterior mediastinal tumours**)

उरोस्थि पश्च डरमाइड पुटी अथवा टरेटोमा इसका सब से साधारण उदाहरण है। असाधारण उदाहरण मोरगेग्नी के छिद्र द्वारा मध्यच्छदिका की हर्निया (अग्रपत्रक, xiphoid pr से निकलने वाले तन्तुओ द्वारा) और लसीकाग्रन्थि-विकृतियाँ हैं।

अग्र मध्यस्थानिका के अर्वुद प्राय लक्षण तथा चिह्नहीन होते हैं। जब तक उनका आकार बहुत नही बढ जाता। उस समय वे हृदय पर भार डाल कर हृदय का क्लेश (embarrassment) उत्पन्न कर सकते हैं।(चित्र 216)

पश्च मध्यस्थानिका अर्बुद (posterior mediastinal tumour)

मध्यस्थानिका अर्बुदो मे ये ही सबसे अधिक होते हैं। वे प्राय. तन्त्रिकाजन्य (neurogenic) होते है और पराकशेरुक खातिका (groove or gutter) मे स्थित रहते हैं। वे मटर से लेकर क्रिकेट की गेद तक के आकार के हो सकते हैं और एक से अधिक भी होते है। कुछ अर्बुद पृष्ठवश अन्तराकशेरुक रन्ध्रो द्वारा विस्तृत होकर मेरुरज्जु पर दबाव डालकर तन्त्रिकामूल लक्षण अथवा मेरुरज्जु सम्पीडन के लक्षण उत्पन्न कर सकते हैं। ऊतक रचनानुसार वे तान्तव तन्त्रिका अर्बुद (neurofibroma), गडिका तन्त्रिकार्बुद (ganglioneuroma), तन्त्रिकापिधानार्बुद (nerve sheath tumours) या श्वानार्बुद (schwannoma) हो सकते है।

लक्षण और चिह्न—तन्त्रिकाजन्य अर्बुद बहुत काल तक लक्षणहीन रह सकते हैं। आकार बढ जाने पर वे फुफ्फुस या ग्रास प्रणाल पर दबाव के लक्षण

चित्र 216—पार्श्विक (वक्ष) एक्सरे-चित्र जो एक बृहद् मध्यस्थानिक अर्बुद दिखा रहा है।
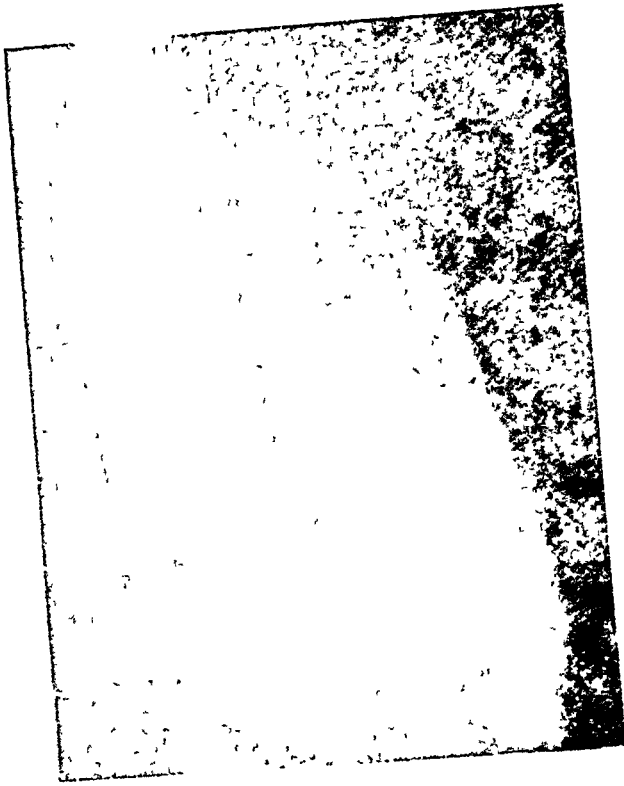
चित्र 217—पार्श्विक वक्ष एक्सरे-चित्र जो एक वृहद् आकार का, पश्च-मध्यस्थानिका मे स्थित, तन्त्रिकाजन्य अर्बुद को दिखा रहा है ।

उत्पन्न कर सकते है । तन्त्रिकीय लक्षण, जैसे तन्त्रिकी मूल लक्षण, अथवा मेरु-रज्जु संबंधी लक्षण जैसे अंगघात अथवा अंगो की अशक्तता, रोग के बढ़ने पर प्रकट हो सकते है ।

एक्सरे चित्रण—अर्बुद पश्च-मध्यस्थानिका मे गोल छाया बनाते है । कभी-कभी इनको फुफ्फुस के भीतर के अर्बुदो या यक्ष्माजन्य छायाओ से पहचानना कठिन होता है ।

चिकित्सा—वक्षछेदन करके अर्बुदोच्छेदन करना सर्वोत्तम चिकित्सा है । अन्य पश्चमध्यस्थानिका अर्बुदो मे कई प्रकार की लसीकाग्रंथि-विकृतियां, ग्रास प्रणाल-विपुटिया (oesophageal diverticula) आन्त्रजन्य या श्वसनीजन्य पुटियें और अवरोही महाधमनी के एन्यूरिज्म होते है । वे अपेक्षत. विरल है ।

प्लूरा के रोग (Diseases of Pleura)

एम्पायीमा, अन्त पूयता (*empyema*)

प्लूरा गुहा मे पूय के एकत्र होने को एम्पायीमा कहते है। वह दो प्रकार का होता है—तीव्र और चिरकारी।

तीव्र एम्पायीमा (*acute empyema*)

यह भी दो प्रकार का होता है: (1) स्ट्रिप्टो-कोकसजन्य (pneumo-coccal) और न्यूमो-कोकसजन्य (pneumococcal)।

स्ट्रिप्टोकोकसजन्य एम्पायीमा—छोटे वालको मे यह वहुत होता है और प्राय: फुफ्फुस के श्वोको-निमोनिया के साथ होता है। अन्य शब्दो मे वह निमोनिया का सहचर या अनुचर है। वच्चे की गभीर दशा होती है, वे जैव-विपाक्त और कष्टश्वासग्रस्त दीखते है। प्लूरागुहा लाल और विसरित शोथयुक्त होती है। तरल पतला और जलीय होता है और रक्तलायी स्ट्रिप्टोकोकसो (haemolytic streptococci) से भरा रहता है।

ऐसे रोगियो का तत्काल शस्त्रकर्म न करना चाहिये, उसमे वहुत मृत्यु होती है। उनकी चिकित्सा विश्राम, आक्सीजन और पेनिसिलिन इजैक्शनो द्वारा करनी चाहिए। प्लूरा गुहा मे एकत्र पूय का आचूपण, आवश्यक होने पर वार-वार, किया जाय और गुहा मे पेनिसिलिन पहुँचाया जाय। रोगी की दशा मे चामत्कारिक उन्नति होती है और वहुतो में और कुछ नही करना पडता। किन्तु कुछ मे पूय स्थानीकृत हो जाती है वह गाढी और सम्पुटित हो जाती है और जैव विपाक्तता वहुत घट जाती है। ऐसे रोगियो का अन्तरापर्शुक मार्ग से पूय को वन्द विधि से अथवा पर्शुका का उच्छेद करके निर्हरण करना चाहिए।

न्यूमोकोकसजन्य एम्पायीमा—यह प्राय: निमोनिया के साथ या निमोनिया के पश्चात् उसके उपद्रव के रूप मे होता है। वह वयस्को मे होता है और डिप्लो-कोकस निमोनी (Dipplococcus pneumonie) के कारण खडीय (lobar pneumonia) निमोनिया से होता है। रोग का प्रारभ प्रच्छन्न प्रकार (insidious) से होता है। निमोनिया होने के कुछ दिन पश्चात् तक रोगी ज्वर से मुक्त रहता है और तव धीरे-धीरे ज्वर फिर लौट आता है। पूय गाढी, क्रीमवत और भली प्रकार स्थानीकृत (localised) होती है।

इस दशा की चिकित्सा मे सर्जन को विचार कर काम करना चाहिये।

पहले पूय का आचूषण कई वार किया जाय और प्रत्येक वार आचूषण के पश्चात् पेनिसिलिन विलयन को प्लूरा गुहा मे पहुचाया जाय। यदि इससे रोग-मुक्ति नही होती तो अन्तरापर्शुक निर्हरण नली और जल-अभेद्य अपवाहिका (waterseal drain) द्वारा पूय को निकाला जाय। यदि पूय अधिक गाढी हो और उपर्युक्त विधि से पूय का उत्तम निर्हरण न हो तो पर्शुका का उच्छेद आवश्यक होगा जिसके पश्चात् वडे आकार की रवड नालिका को लगाया जाय। उसके जोडो (connections) को जल-अभेद्य वनाना आवश्यक है।

प्लूरा गुहा के उत्तम निर्हरण के लिये कुछ नियमो का व्यवहार आवश्यक है। एम्पायीमा की ठीक-ठीक स्थिति निर्धारित की जाय और निर्हरण नली उसके सवसे नीचे के भाग मे, अर्थात् पश्च ओर और नीचे को रखी जाय। पूयसग्रह या गुहिका के छोटी हो जाने के साथ नली की स्थिति भी वदलनी होगी। फिर नली को तव तक न निकाला जाय जव तक फुपफुस के फैलाने से गुहिका लुप्तप्राय न हो जाय। फुपफुसो को फैलाने के लिए धनात्मक श्वसन व्यायाम (positive breathing excercises) करवाने चाहिये। इन आयोजनो को उत्तम प्रकार से न करने से एम्पायीमा चिरकारी हो जाएगा।

चिरकारी एम्पायीमा (chronic empyema)

अधिकतर चिरकारी एम्पायीमा तीव्र एम्पायीमा की उपयुक्त और पर्याप्त चिकित्सा न करने से होता है। उपर्युक्त कारणो के अतिरिक्त (1) विशिष्ट प्रकार के किसी सक्रमण, जैसे यक्ष्मा की प्लूरागुहा मे उपस्थिति, (2) फुपफुस विद्रधि या अर्वुद के समान अन्य रोग की उपस्थिति, (3) गुहिका के चारो ओर के प्लूरा का अतिस्थूल हो जाना और उसके साथ समीपस्थ फुपफुस-भाग का पात (atelectasis) और (4) प्लूरा गुहा मे आगन्तुक शल्य (foreign bodies), जैसे निर्हरण नली की उपस्थिति—ये दशाये भी चिरकारिता का कारण हो सकती है।

चिरकारी एम्पायीमा की चिकित्सा के लिये उसके कारण को दूर करना तथा पूयसग्रह के उत्तम निर्हरण का आयोजन आवश्यक है। अतिस्थूल प्लूरा और अप्रसरित पाती फुपफुस (unexpended atelectatic lung) होने पर वक्षछेदन (thoracotomy) और प्लूरा के दोनो स्तरों का अपहरण, जिससे फुपफुस विस्तृत होकर वक्षभित्ति से मिल जाय, आवश्यक है। उचित प्रकार से करने पर इस शस्त्रकर्म के फल उत्तम होते है। फुपफुस यक्ष्मा मे कृत्रिम वातिल वक्ष (artificial pneumothorax) करने से कुछ रोगियो मे नि.सरण

(effusion) बन जाता है। ऐसा होने पर कृत्रिम वातिल वक्ष को तुरन्त रोक देना चाहिये और शीघ्र ही फुफ्फुस को प्रसारित करने का उद्योग करना चाहिए जिससे प्लूरा गुहा लुप्त हो जाय। प्रतियक्ष्मा औषधियो को पर्याप्त मात्रा मे दिया जाय। यदि फिर भी पात चिकित्सा आवश्यक हो तो थोरेका-प्लास्टी करना उचित है।
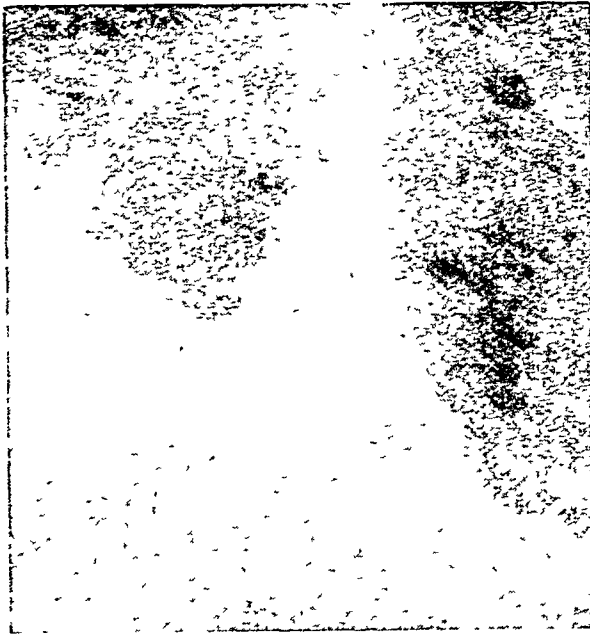
चित्र 218—एक्सरे-चित्र मे चिरकारी अन्त पूयता (एम्पायीमा) दीख रही है।

फुफ्फुस के फिर से न फैलने पर चिरकारी एम्पायीमा की गुहिकाओ को मिटाने के लिये भी थोरेको-प्लास्टी आवश्यक होती है। इसको साधारणतया गुहिका के ऊपर की वक्षभित्ति तक ही सीमित रखा जाता है।

अर्बुद

प्लूरा के प्राथमिक अर्बुद विरल है, केवल एक प्रकार का अर्बुद, प्लूरा का एन्डोथीलियोमा (अन्त कलार्बुद), पाया जाता है, वह भी विरल है। यह एक दुर्दम अर्बुद है जो प्लूरा कला के विस्तृत क्षेत्रो को ग्रस्त करता है और प्लूरा गुहा मे रक्तस्रावी नि.सरण उत्पन्न करता है। चिकित्सा केवल उपशामक (palliative) है और एक्सरे प्रयोग से की जाती है।

द्वितीयक स्थलान्तरण प्लूरा गुहा मे प्राय: फुप्फुस या स्तन के दुर्दम अर्वुदो से होते है। कितनी ही बार प्लूरामे कोई उत्पत्ति न होने पर भी गुहा मे रक्त-स्रावी निःसरण मिलता है जिसमे दुर्दम कोशिकाये होती है। कुछ रोगियो मे अर्वुद का पता नही चलता और प्लूरागुहा मे एकत्र निःसरण रोग का प्रथम चिह्न होता है। ऐसे रोगियो मे प्राक्ज्ञान गभीर होता है।

फुप्फुस (Lungs)

रचना

श्वसनी-वाहिका खंडाश (bronchovascular segments)

श्वसनी-वाहिका खडाश की रचना पर हाल ही मे बहुत काम हुआ है और उसमे प्राप्त ज्ञान ने फुप्फुस की सर्जरी के क्षेत्र को बहुत विस्तृत कर दिया है। यह मालूम हुआ है कि प्रत्येक फुप्फुस अथवा फुप्फुस के खड मे पृथक्-पृथक्
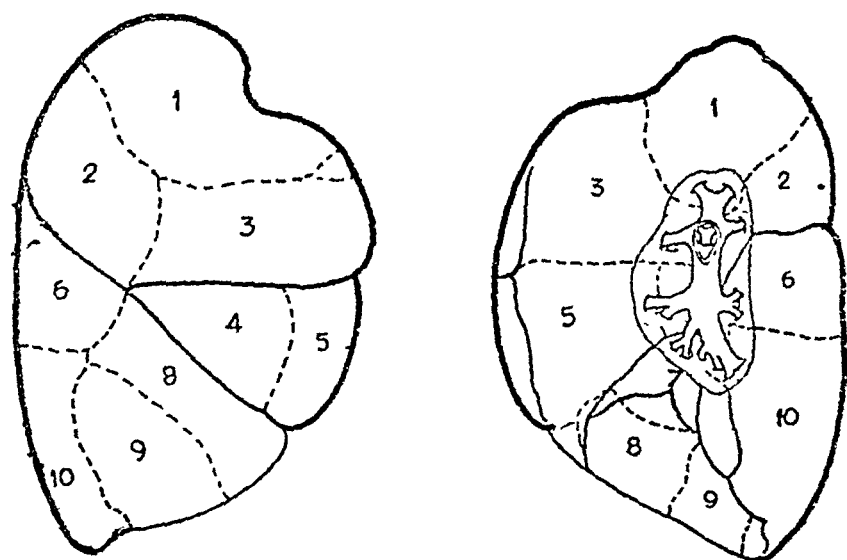
चित्र 219—दक्षिण फुप्फुस के दश खडाश —ऊर्ध्वखड—(1) शिखरीय, (2) अग्र ; (3) पश्च ; (4) पार्श्विक ; (5) अभिमध्य। निम्नखड—(6) ऊर्ध्व , (7) अभिमध्य आधारी ; (8) अग्र आधारी ; (9) पार्श्विक आधारी , (10) पश्च आधारी।

खडाग या सेगमेन्ट होते है । प्रत्येक खडांग मे पृथक् रक्तवाहिकायें और श्वसनी की शाखा आती है और इस प्रकार प्रत्येक खडांश के स्वतन्त्र होने के कारण उसको पृथक् किया जा सकता है तथा उसका उच्छेदन कर देने पर भी शेष फुफ्फुस पूर्ण रहता है ।

दक्षिण फुफ्फुस मे 10 खडाग या सेगमेंट है, तीन ऊर्ध्व खड मे, 2 मध्यखंड में, और 5 निम्न खड मे । वाम फुफ्फुस मे 8 खडांश है । ऊर्ध्व खंड के शिखरीय और पश्चखडाश जुड़े हुए है और उसमे कोई उसमे कोई मध्य आधारी खंडाश (median basal segment) नही है । उनका वितरण और नाम चित्र 219 मे दिखाये गये है ।

श्वसनी वृक्ष का विभाजन और रचना स्वभावत फुफ्फुस के सूक्ष्म खडो के अनुसार है ।

खडाशो मे धमनी और शिरा का वितरण श्वसनिका वितरण का अनुसरण करता है । दो मुख्य शिरायें फुफ्फुस खडो से रक्त ले जाती है, ऊर्ध्व शिरा ऊर्ध्व और मध्य खड और निम्न शिरा निम्न खड से ।

अन्वेषण

फुफ्फुस के भिन्न-भिन्न रोगो के अन्वेषण मे वक्ष के साधारण एक्सरे-चित्र की ठीक-ठीक व्याख्या करना (interpretation) या समझना वहुत महत्त्व का है और उससे वहुत कुछ ज्ञान प्राप्त हो सकता है । उसके अतिरिक्त निम्न विशेष अन्वेषण बहुत बार आवश्यक होते है ।

श्वसनी चित्रण (bronchography)

श्वसनी चित्रण करने की कई विधियाँ है । साधारणतया यह स्थानिक सवेदनाहरण करके किया जाता है । कुछ सर्जन श्वास-प्रणाल तथा श्वसनियो मे केथिटर प्रविष्ट करके एक्सरे-अपार्य (radio-opaque) पदार्थ को प्रविष्ट करते है । अन्य मुद्रिका-अवटु (cricothyroid) कला द्वारा एक चौडी सूचिका से विलयन को प्रविष्ट करेते है । श्वसनियो मे विलयन भरने के लिए रोगी को उपयुक्त स्थिति मे स्थित करना आवश्यक है ।

श्वसनी दर्शन (bronchosc

ब्रौंकोस्क्रोप को श्व ... वसनियो मे प्रविष्ट करके श्वसनियो के मुख्य व ... है और सदिग्ध क्षतियो से ज

परीक्षा (biopsy) के लिए अश काट सकता है।

कफ परीक्षा (sputum examination)

चौवीस घटे के एकत्रित कफ का अपकेन्द्रण (centrifugalization) करके उसमे उपस्थित कोशिकाओ की परीक्षा से वहुत मूचनाये मिल सकती है।

विद्रधि (abscess)

कुछ वर्ष पूर्व इस रोग को भयकर समझा जाता था। इसमे मृत्यु और अशक्तता (morbidity) दोनो ही वहुत होती थी। अब शक्तिशाली प्रतिजीवी औषधियों की उपलब्धि, पूयनिर्हरण की विधियो का उन्नत ज्ञान और फुफ्फुस शस्त्रकर्मो की अपेक्षत निरापदता (safety) ने इस रोग के प्राक्ज्ञान को विश्वासातीत उन्नत कर दिया है।

हेतुकी

फुप्फुस विद्रधि के अधिकतर रोगियो मे मुखगुहा से सक्रमित पदार्थ (शुष्क पूय, सक्रमित रक्तातच आदि) के फुप्फुस के सारऊतक (parenchyma) मे पहुचने से रोग उत्पन्न होता है। सक्रमण का उत्पत्ति स्थान सक्रमित दात या टौसिल हो सकते है; शस्त्रकर्म के समय श्वसनी वक्ष मे सक्रमित रक्तातंच (blood clot) पहुच सकता है। अन्तःशल्य प्राय. रोगी के सोने के समय या शस्त्रकर्मोत्तर काल मे पीठ के वल लेटे होने पर आचूपित होते है, इस कारण विद्रधि प्रायः फुप्फुस के पश्च खडाश मे वनती है।

चिह्न और लक्षण

प्राय रोग तीव्र प्रकार से प्रारभ होता है। रोगी को तीव्र ज्वर हो जाता है और वक्ष मे वेदना होती है। वक्षभित्ति मे स्पर्शासहता हो सकती है और परिश्रवण पर प्लूरा के शोथ के कारण घर्षध्वनि (friction rub) सुनाई दे सकती है। इस समय लिये हुए एक्सरे चित्र मे फुप्फुस शोथ (pneumionitis) दिखाई देता है जो अभी तक पूर्णतया परिमित (circumscribed) नही हुआ है। आगे चलकर फुप्फुस शोथ प्रक्रम का या तो शमन (resolution) हो जाता है या उसका मृद्वीभवन (softening) होकर विद्रधि वन जाती है। साधारणतया विद्रधि किसी श्वसनिका से सयोजित होती है और रोगी के कफ मे दुर्गंधित पूय की प्रचुर मात्रा निकलती है।

कुछ रोगियो मे विद्रधि से सारी पूय निकलने से वह रिक्त हो जाती है और विरोहण होने लगता है। कुछ मे सारी पूय नहीं निकलती और रोग चिरकारी हो जाता है। उसके चारों ओर एक मोटी तान्तव भित्ति वन जाती है जिसका स्वयं पात (collapse) नही होता। चिरकालीन फुप्फुस विद्रधि के वहुत काल तक अविरोहित रह जाने से द्वितीयक उपद्रव उत्पन्न हो सकते हैं—स्थलान्तरित मस्तिष्क विद्रधि का उल्लेख किया गया है; अगुलियो का मुग्दरीभवन (clobbing) साधारण है; तीव्र और आवर्ती रक्तनिष्ठीवन (relapsing haemoptysis) हो सकता है।

निदान—प्रारभिक अवस्था मे एक्सरे से फुप्फुस शोथ का एक विसरित क्षेत्र दिखाई देता है। आगे चलकर यह क्षेत्र घना (consolidation)और सीमित हो जाता है और गुहिका वनती है जिसमे तरल स्तर (fluid level) दिखाई दे या न दे (चित्र 220)। अधिक आयु वालो मे इस दशा को अर्वुद से पहचानना कठिन होता

चित्र 220—फुप्फुस विद्रधि जिसमे गुहिका मे तरल का तल (fluid level) दीख रहा है।

है। प्रचुर दुर्गंधित कफस्राव (expectoration) सापेक्ष रोग-निदान मे सहायक होता है, यद्यपि विद्रधि उसके नीचे या साथ स्थित अर्वुद का उपद्रव हो सकती है। कफ की सावधानी से परीक्षा करके रोगजनक जीवाणु को सूक्ष्मदर्शी और सवर्धन (culture) परीक्षाओ से पृथक् करना चाहिए और उसकी प्रतिजीवियो के प्रति सुग्राहिता (sensitivity) की जाच करके उसके लिए सबसे प्रवल प्रति-जीवी को मालूम करना चाहिए, जिसका प्रयोग जीवाणु के लिए घातक सिद्ध हो। कफ मे दुर्दम अर्वुदो की कोशिकाओं का विशेप कोशिकीय परीक्षा द्वारा व्यतिरेक (exclusion) आवश्यक है।

उपचार—प्रारभिक अवस्था मे उपयुक्त और पर्याप्त चिकित्सा से फुप्फुस के रोगो के अनेक रोगी विना शस्त्रकर्म के आरोग्यलाभ कर सकते है। सबसे प्रवल प्रतिजीवी को पर्याप्त मात्रा मे और पर्याप्त समय तक प्रयोग करवाना आवश्यक है। विद्रधि के निर्हरण के लिए रोगी की शारीरिक स्थिति का उपयोग वहुत सहायक होता है। कभी-कभी ब्रौकोस्कोप द्वारा आचूपण (aspriation) आवश्यक होता है।

विद्रधि की भित्ति मोटी होने और उसके चिरकारी हो जाने पर यह चिकित्सा पर्याप्त नही होती। उस समय सर्जरी आवश्यक होती है जिसका अर्थ है खडाश का अथवा पूर्णखड का उच्छेदन। पहले शस्त्रकर्म द्वारा विद्रधि का वाहर को निर्हरण किया जाता था। इसमे वहुत समय तक रोगी को शैयावद्ध करना पडता था और कभी-कभी श्वसनीप्लूरात्वक नालव्रण (broncho-pleuro cutaneous fistula) वन जाता था। आजकल उच्छेदन के परिणाम इतने संतोपजनक होते है कि निर्हरण शस्त्रकर्म का अव कोई स्थान नही रह गया है, कभी-कभी तीव्र रोग मे जीवन-रक्षक आयोजन के रूप मे उसको अवश्य करना पडता है।

शस्त्रकर्म के समय सवेदनाहारी (anaesthetist) को यह सावधानी करना आवश्यक है कि वह पूय को स्वस्थ फुप्फुस मे न जाने दे। इसके लिए श्वसनी-अवरोधक (bronchial blocker) का उपयोग किया जा सकता है अथवा रोगी को पेट के वल लिटाकर शस्त्रकर्म किया जाय।

अमीवाजन्य विद्रधि (amoebic abscess)

कभी-कभी इस देश मे फुप्फुस मे अमीवाजन्य विद्रधि भी मिलती है। यह फुप्फुस मे दो प्रकार से होती है। अधिकतर रोगियो मे यह यकृत-विद्रधि के सीधे विस्तार से वनती है; वह मध्यच्छदिका को आक्रान्त करके उसको वेधती

(perforates) है और प्लूरा तथा फुप्फुम के सारऊतक (parendyma) को ग्रस्त कर देती है। अधिकतर रोगियो मे श्वसनी-प्लूरा नालव्रण बन जाता है और उनके खामने पर अभिलक्षक 'ऐकवी सौम' (anchovy sauce) प्रकार की पूय निकला करती है। बहुधा दक्षिण मध्यखड ग्रस्त होता है और खड का पात (atelectasis) हो जाता है।

सन्दिग्ध रोगियो मे वातपर्युदर्या (pneumoperitoneum) उत्पन्न करके यकृत विद्रधि और उसके मध्यच्छद प्रसार को एक्सरे चित्रण द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है।

इस दशा की चिकित्सा उरोच्छेदन (thoracotomy) और पाती खड (atelectatic lobe) के उच्छेदन द्वारा की जाती है। यदि यकृत विद्रधि अब भी सक्रिय है तो उसका मध्यच्छदिका के नीचे से पृथक् निर्हरण करना चाहिए। शस्त्रकर्म के पूर्व और उसके पश्चात् भी पूर्ण प्रतिअमीबी चिकित्सा होनी चाहिए।

दूसरे प्रकार की अमीबी विद्रधि, यकृत के विना ग्रस्त हुए, स्थलान्तरण से उत्पन्न होती है, किन्तु वह विरल है। अमीबी विद्रधि का निदान दुस्तर हो सकता है, किन्तु उसका ध्यान रखना चाहिए। सन्देह होने पर इमेटिन देने से अमीबी दशा मे लक्षणो के तत्काल शमन मे रोग का निदान निश्चित हो जाएगा

श्वसनिका विस्फार (Bronchiectasis)

जैसा नाम से स्पष्ट है इस रोग मे श्वसनिकाओ का विस्फार हो जाता है। श्वसनिका-वृक्ष रोमक-स्तम्भाकार उपकला से आस्तरित है और उसकी भित्ति मे प्रत्यास्थ तन्तु, काचाभ उपास्थि और मासपेशी तन्तु होते है। सामान्यतया रोमक उपकला (ciliated epithelium) और श्वसनिका-भित्तियो की प्रत्यास्थता श्वसनिका-स्रावो को बाहर निकालती रहती है जिससे वायुमार्ग स्वच्छ रहते है। यदि किसी भी कारण से भित्तिया क्षत हो जाती हैं तो यह क्रिया उत्तम प्रकार से नही हो पाती और स्राव वहा एकत्र होकर स्थायी विस्फार (dilatations) उत्पन्न कर देता है जिसमे और भी स्राव एकत्र होता रहता है।

श्वसनी-विस्फार दो प्रकार का होता है, (1) लघुकोष्ठकीय (saccular) और (2) तर्कुरूप (fusiform)। कोष्ठकीय प्रकार मे एक स्थान मे भित्ति का एक लघु कोष्ठक (sac) के आकार का विस्फार हो जाता है जिसमे ग्रीवा भी हो सकती है। तुर्करूप विस्फार मे किसी स्थान पर समस्त भित्ति का विस्फार होता है जिसमे उसका आकार तर्कु (spindle) के समान हो जाता है।
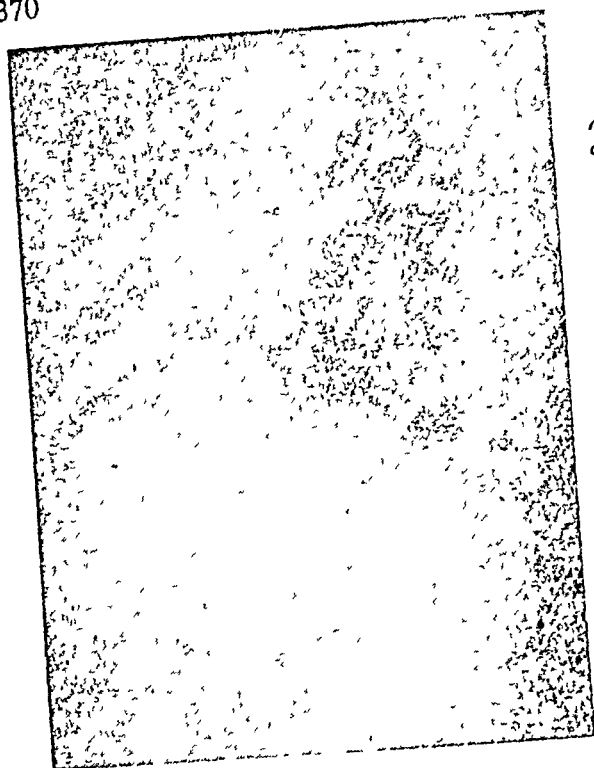
चित्र 221—श्वसनी-चित्र जो फुप्फुस का पुटीरोग (systic disease) दिखा रहा है।

चित्र 222—मध्यखड सलक्षण श्वसनी-चित्र, जिममे दक्षिण फुप्फुस के मध्यखड की श्वसनियो का विस्फार दीख रहा है।
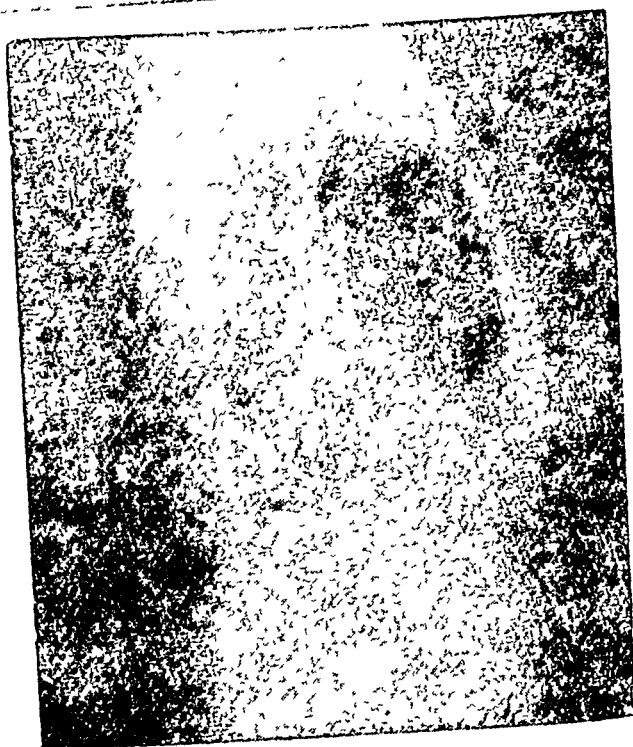
हेतुकी—श्वसनी-विस्फार जन्मजात (congenital) अथवा उपार्जित (acquired) हो सकता है। जन्मजात प्रकार मे श्वसनी-भित्ति का जन्मजात अल्पविकसन (hypoplasia) होता है। वह प्राय. बालको और नववयस्को मे पाया जाता है और एक पूर्ण फुफ्फुस या उसका एक संपूर्ण खंड ग्रस्त हो सकता है। कभी-कभी दूसरा फुफ्फुस भी ग्रस्त होता है, यद्यपि इतना नही। इस दशा को फुफ्फुस का पुटी रोग (cystic disease) भी कहा जाता है, क्योकि समस्त फुफ्फुस मे सूक्ष्म भित्तियो वाली पुटीय गुहिकाये बन जाती है जिससे फुफ्फुस मधुमक्खी के छत्ते की भाति दीखता है (चित्र 221)।

उपार्जित प्रकार का रोग श्वसनीवृक्ष मे कही पर भी अवरोध होने से, जैसे आगन्तुक शल्य, अर्बुद अथवा बाहर से दबाव (अर्बुद आदि) से, उत्पन्न हो सकता है। एक विशेष प्रकार का रोग मध्यखड-सलक्षण (middle lobe syndrome) कहा जाता है (चित्र 222), जो प्राय. मध्यखड की श्वसनी के ग्रस्त होने से उत्पन्न होता है। उसका कारण प्राय मुख्य और मध्यखड श्वसनी के सगम पर स्थित बढी हुई लसीका ग्रन्थियो का दबाव होता है। बहुधा लसीका-ग्रन्थिशोथ का कारण क्षयरोग होता है।

श्वसनी-विस्फार फुफ्फुस के यक्ष्मा के उपद्रव के रूप मे उपस्थित हो सकता है। यह भली-भाति विदित है कि जिन रोगियो मे फुफ्फुसपात का उपद्रव होता है या जिनमे वातिल वक्ष (pneumothorax) करने पर अप्रसरित खड या खडाश रह जाता है उनमे श्वसनीप्रसार-सबधी उपद्रव उत्पन्न हो जाते है।

चिन्ह और लक्षण—श्वसनीविस्फार का मुख्य लक्षण चिरकारी कफ और सपूय स्राव का कफ द्वारा निकलना है। यह कफ प्रात.कालीन खासी के साथ बहुत निकलता है, क्योंकि निद्राकाल मे रात भर विस्फारित श्वसनियो मे वह एकत्र होता रहता है। खासी और कफ निकलने के साथ जब-तब निष्ठीवन (haemoptysis) के आक्रमण भी हो सकते है। कभी-कभी निष्ठीवन ही प्रमुख लक्षण होता है। दीर्घकालीन रोगियो मे रोगी की अगुलियो का मुग्दरी-भवन (clubbing), अरक्तता (anaemia) और चिरकारी जैवविषो के अव-शोषण के अन्य चिह्न भी प्रकट हो सकते है। ज्वर के आक्रमण होते रहना भी सभव है।

फुफ्फुस की परीक्षा पर उसमे परिश्रवण पर बहुत सी राल (rales) मिलेगी जो सकुलन (congestion) का चिह्न है।

निदान—श्वसनी-चित्रण (bronchogarphy) से निदान का समर्थन होगा तथा श्वसनी विस्फार का विस्तार और स्थिति मालूम होगी, जिससे श्वसनी-

विस्फार का क्षेत्र रेखाचित्रण किया जा सकता है। सामान्य एक्सरे-चित्र भी सहायक होता है। उसमे श्वसनी-विस्फार-क्षेत्र दीखेगा और पुटियो का भी अनुमान हो सकता है। श्वसनी-मुखो (openings) की ग्रस्तता (involvement) जानने के लिए तथा अन्तर्श्वसनी क्षतियो के व्यतिरेक (exclusion) के लिए भी ब्रोकोस्कोपी की आवश्यकता होगी।

उपचार—अधिकतर श्वसनी-विस्फार के रोगियो की अन्ततोगत्वा सर्जरी द्वारा चिकित्सा करनी पडती है। रोग की प्रारभिक अवस्था मे, और जहा ऊर्ध्व खड ही ग्रस्त हो, प्रतिजीवियो और सस्थितिज निर्हरण (postural drainage) द्वारा रोगी दीर्घकाल तक लक्षणमुक्त रह सकता है। किन्तु अधिकतर रोगियो को, विशेषकर जिनमे मध्य या निम्न खड ग्रस्त है, शस्त्रकर्म की आवश्यकता होती है, जिसमे एक फुप्फुस का या खड का अथवा खडाश का उच्छेद किया जाता है। द्विपार्श्वी रोगियो मे शस्त्रकर्म करने के निश्चय मे बहुत सावधान होना आवश्यक है और रोग बढ जाने पर उनको छोड देना ही उचित है। जिनमे स्राव अधिक निकलता हो उनको प्रतिजीवियों और सस्थितिज निर्हरण (postural drainage) द्वारा शस्त्रकर्म के लिए तैयार करना आवश्यक है, रोगी के साधारण स्वास्थ्य की ओर ध्यान देना और अरक्तता को शस्त्रकर्म के पूर्व सुधारना भी अनिवार्य है।

अर्बुद (Tumours)

श्वसनीजन्य कार्सिनोमा (bronchiogenic carcinoma)

यह फुप्फुस मे सबसे अधिक होने वाला अर्बुद है। पश्चिमी देशो मे इस रोग की भयकर वृद्धि हुई है। पुरुषो मे सबसे अधिक फुप्फुस ही मे कार्सिनोमा पाया जाता है। भारतवर्ष मे भी यह रोग अधिक होने लगा है, यद्यपि इतना अधिक नही होता जितना योरुप या अमरीका मे। सिगरेट पीने और फुप्फुस कार्सिनोमा की उत्पत्ति के आपसी सबध के सारियकीय प्रमाण (statistical proof) मिल चुके है यद्यपि निश्चित प्रयोगात्मक प्रमाण नही मिले है।

चिन्ह और लक्षण—फुप्फुस का कार्सिनोमा अधिक वय वालो या वृद्धो का रोग है, यद्यपि वह युवावस्था मे भी हो सकता है। स्त्रियो की अपेक्षा वह पुरुषो मे अधिक होता है। मुख्य लक्षण खासी है जिसके साथ स्राव निकले या न निकले; वक्ष मे वेदना हो सकती है अथवा कभी आवर्ती रक्तनिष्ठीवन (haemoptysis) हो सकता है। आगे चलकर स्वर भग (hoarseness of voice) हो

सकता है जो आवर्ती स्वरयंत्र-तन्त्रिका के ग्रस्त होने का द्योतक है ।

यह स्मरण रखना चाहिए कि फुफ्फुस का कार्सिनोमा प्रारभ मे लक्षणहीन हो सकता है और प्रथम लक्षण के प्रकट होने और निदान के बीच औसतन छ. मास का अन्तर होता है । भारतवर्ष मे दुर्भाग्य से, यह अन्त काल और भी अधिक है, बहुत से रोगी इस काल के पश्चात् शस्त्रकर्म योग्य नही रह जाते । कुछ रोगी तब आते है जब प्लूरा मे नि स्राव भर जाता है जो रक्तस्रावयुक्त हो सकता है ।

निदान—एक्सरे-चित्रण महत्त्व का है और उसमे कितने ही चिह्न दीख सकते है । प्रारभिक अवस्था मे कोई छाया न दिखाई दे, किन्तु कुछ रोगियो
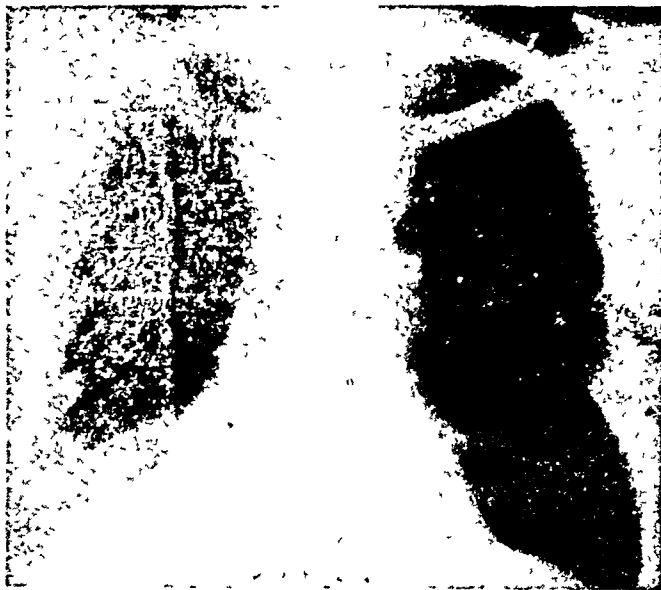
चित्र 223—एक दक्षिण ओर के श्वसनीजन्य कार्सिनोमा के रोगी मे निम्नखड का फुफ्फुमपात (एटीलेक्टेसिस), मध्यस्थानिका दक्षिण ओर को हट गई है ।

मे फुफ्फुसशोथ (pneumonitis) का क्षेत्र दिखाई दे सकता है । मध्यस्थानिका ग्रस्त ओर को खिची हो सकती है (चित्र 223) । यदि मध्यच्छद तन्त्रिका ग्रस्त हो गई है तो मध्यच्छदिका (diaphragm) का उन्नमन (elevation) हो जाता है । अर्बुद को वक्षभित्ति को आक्रान्त करके पर्शुका का अपरदन (erosion) करते देखा गया है । कभी-कभी टोमोग्राफी (tomography) से अर्बुद की

स्थिति का तत्व ठीक-ठीक मालूम हो जाता है।

ब्रोंकोस्कोपी बहुत आवश्यक है और उसके साथ एक दूरदर्शक (टेलेस्कोप) के प्रयोग से 80 प्रतिशत रोगियों में निदान स्पष्ट हो जाता है। बहुतों में अर्बुद दिखाई देगा और जैवोतिपरीक्षा के लिए उसका अंश प्राप्त हो सकेगा। कुछ में अर्बुद न दीखेगा। किन्तु शोफ या स्थान दीखेगा। सिरों में श्वसनियों के स्रावों की दुर्दम कोशिकाओं के लिए परीक्षा करनी चाहिए।

श्वसनिका का एक्सरे-चित्रण प्रत्येक रोगी में आवश्यक नहीं है, किन्तु कभी-कभी उससे सहायता मिलती है। उससे पूर्ण या आंशिक भरण का दोष अथवा श्वसनी की विरूपता दीख सकती है।

कफ और श्वसनीस्रावों तथा आचूषित फुप्फुस तरल की, यदि वह उपस्थित हो तो, सूक्ष्मदर्शक द्वारा परीक्षा से दुर्दम कोशिकाओं की उपस्थिति मालूम हो सकती है, जिससे निदान का निश्चय हो जाता है। उनके अपकेन्द्रित निक्षेपों (centrifugalised deposits) का विशेष विधि (papanicolaou) से रंजन करके परीक्षा की जाती है। 50-75 प्रतिशत रोगियों में यह जांच धनात्मक होती है। अवाप्तियों (findings) को सावधानी से समझना चाहिए।

विकृति—तीन प्रकार के फुप्फुस के कार्सिनोमाओं का वर्णन किया गया है (1) शल्की-कोशिका कार्सिनोमा; (2) स्तंभाकार कोशिका कार्सिनोमा या ग्रंथि-कार्सिनोमा (adenocarcinoma) और लघु या जई (oat)-कोशिका कार्सिनोमा।

शल्की-कोशिका (squamus-cell) कार्सिनोमा सबसे अधिक पाया जाता है और प्रायः हाइलम (द्वार) के पास की बड़ी श्वसनियों में होता है। अर्बुद सुविभेदित (well differentiated) हो सकता है जिसमें अनेक कोशिका-नीड (cell nests) उपस्थित हों या विभेदन अपूर्ण हो। सुविभेदित अर्बुद धीरे-धीरे वृद्धि करते हैं और उनका प्राक्ज्ञान सर्वोत्तम होता है। (चित्र 224)

स्तंभाकार कोशिका (columnar cell) कार्सिनोमा या ग्रंथि-कार्सिनोमा साधारणतया परिसर पर स्थित होता है और ऐसा ही कार्सिनोमा स्त्रियों में साधारण है। यह स्तंभाकार कोशिकाओं का बना होता है जो कोष्ठकों (acinus) के रूप में स्थित होती हैं, ये कोठिकायें श्लेष्मा (mucous) स्राव करने वाली हो सकती हैं। अर्बुद का आकार छोटा हो सकता है, किन्तु उसमें उसकी दुर्दमता
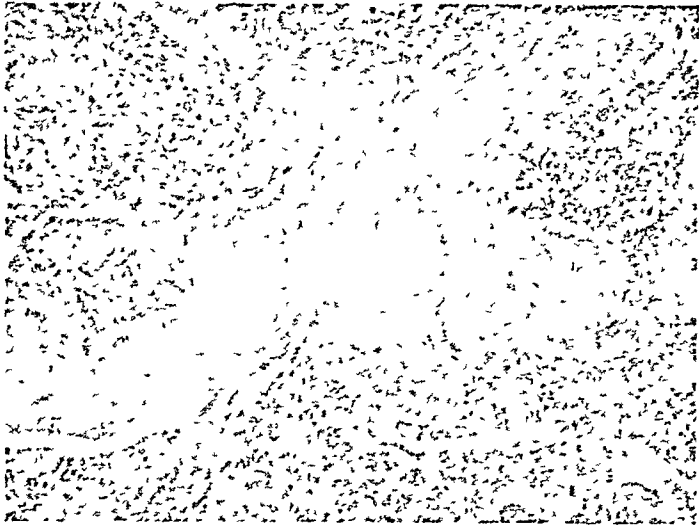
चित्र 224—सुविभेदित गल्कीकोशिक प्ररूप का श्वसनीजन्य कार्सिनोमा

चित्र 225—श्लेष्मा-स्रावी ग्रंथि-कार्सिनोमा
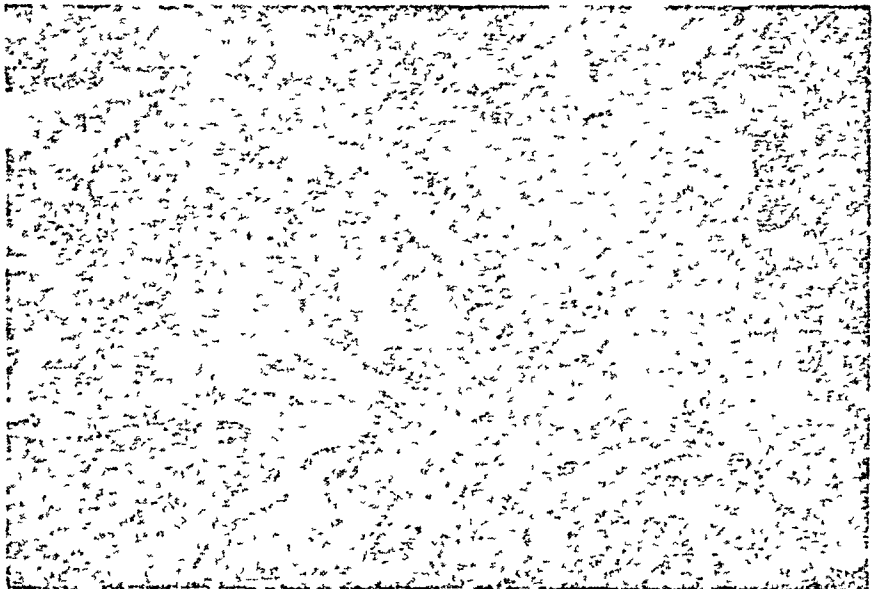
को अल्प न समझना चाहिए। वह शीघ्र ही स्थल्लान्तरण करने लगता है। इसका प्राक्ज्ञान अनुकूल नही है।

लघु या जई कोशिका (loat-cell) कार्सिनोमा मे लघु आद्य (primitive) कोशिकाये होती है (जो सुविभेदित नही होती) और पुजो मे स्थित होती है (चित्र 226)। वह परिसर पर अथवा हाइलम पर पाया जा सकता है। स्थल्लान्तरण अतिशीघ्र होने लगता है। इसका प्राक्ज्ञान सबसे निकृष्ट है।

चित्र 226—अभिभेदित जई-कोशिका (oat-cell) कार्सिनोमा

चिकित्सा—फुप्फुस के कार्सिनोमा की चिकित्सा शीघ्रातिशीघ्र समूलोच्छेदन (extirpation) है; जितना शीघ्र ही यह किया जाएगा उतने ही परिणाम उत्तम होगे। हाइलम के पास स्थित अधिकतर बडे आकार के अर्बुदो मे फुप्फुमोच्छेदन (pneumonectomy)करना उचित है। परिसरीय अर्बुदो की तथा जिन अर्बुदो ने श्वसनी की शाखाओ को ग्रस्त कर रखा है उनकी चिकित्सा खडोच्छेदन (lobectomy) मे की जाती है। अधिक आयु वालो मे, जिनका श्वसन-कार्य उत्तम नही होता, उनमे भी खडोच्छेदन ही उचित है। हाल ही मे, मूलक (radical समूल) फुप्फुसोच्छेदन या मूलक खडोच्छेदन—अर्थात् साथ की लसीकावाहिकाओ, लसीका-ग्रन्थियो, वसा और प्राखवणी के एक साथ अपहरण—का प्रस्ताव किया गया है और उसके परिणाम भी सर्वोत्तम बताये जाते है।

इस सब पर भी, फुप्फुस कार्सिनोमा के 50 प्रतिशत रोगी शस्त्रकर्म योग्य होते है और उनमे से 25-30 प्रतिशत की 5 वर्ष तक जीवित रहने की आशा की जा सकती है।

फुप्फुस कार्सिनोमा मे एक्सरे चिकित्सा का उपयोग सीमित है। अनुच्छेद्य रोगियों मे या जिनमे स्थलान्तरण हो चुका है उनमे कुछ समय के शमन के लिए एक्सरे का प्रयोग किया जा सकता है। आधुनिक अतिवोल्टता (super-voltage) और कोवाल्ट-किरणपुंज (cobalt beam) चिकित्सा से, जिसकी वेधन शक्ति (penetrating power) अधिक होती है, भावी उन्नति की आशा की जा सकती है।

श्वसनी-ग्रन्थ्यर्बुद (bronchial adenoma)

फुप्फुस के कार्सिनोमा को देखते हुए श्वसनी-ग्रथ्यर्बुद (एडीनोमा) अपेक्षत मृदम अर्बुद है। यह थोडी आयु वालो मे होता है और प्राय मुख्य श्वसनिकाओ मे होता है। उसकी उत्पत्ति श्वसनीभित्ति की श्लेष्मक ग्रन्थियो से होती है। उसका एक प्रमुख अभिलक्षण यह है कि उसका केवल थोडा ही भाग श्वसनी के भीतर दीखता है, अधिक भाग श्वसनी-वाह्य होता है और फुप्फुस के सार-ऊतक को आक्रान्त करता है। इस कारण इसकी उपमा हिमखड (iceberg) से दी जाती है जिसका अधिक भाग जल के नीचे रहता है।

चिन्ह और लक्षण

मुख्य लक्षण खासी और आवर्ती रक्त निष्ठीवन (haemoptysis) है।

निदान—एक्सरे-चित्र मे हाइलम के पास छाया हो सकती है। खडाश या खड का पात (atelectasis) भी हो सकता है और मध्यस्थानिका रोगाक्रान्त भाग की ओर हट सकती है। ब्रौंकोस्कोपी मे प्राय अर्बुद दीख जाता है और परीक्षा के समय लिए हुए उसके अश की जाच मे उसकी रचना मालूम हो सकती हैं।

विकृति—अर्बुद लघु तथा गोल कोशिकाओ का बना होता है जो समूहो और पिडो मे स्थित होती है। कोशिकी रचना भी उपस्थित हो सकती है।

चिकित्सा—शस्त्रकर्म द्वारा अर्बुद का समूलोच्छेदन उसकी चिकित्सा है। अधिकतर रोगियो मे एक खड को निकालना होता है क्योंकि, जैसा बताया जा चुका है, अर्बुद किसी बडी श्वसनी मे उत्पन्न होता है और चारो ओर के फुप्फुसी सारऊतक को आक्रान्त करता है। प्रारम्भ मे अर्बुद के छोटे होने पर

श्वसनी छेदन (bronchotomy) द्वारा अर्बुद का उच्छेदन किया जा सकता है और श्वसनी को फिर से सुधारा जा सकता है जिससे खंड बच जाता है। ब्रोंकस्कोप द्वारा अर्बुद को निकालने का प्रयत्न करना उचित नहीं है, उसके द्वारा सम्पूर्ण अर्बुद को निकालना असंभव है।

अर्बुद के अपहरण के पश्चात् प्राक्ज्ञान उत्तम है। अर्बुद का पुनरावर्तन असाधारण है।

हेमार्टोमा (Hamartoma)

हेमार्टोमा यथार्थ में अर्बुद नहीं होता, वह सामान्य ऊतकों का मिश्रण होता है जिसमें ऊतक अनियमित प्रकार से स्थित होते हैं। वह उपकला, पेशी-ऊतक, उपास्थि आदि का बना हो सकता है। उनका फुप्फुसों में उल्लेख किया गया है। वे सूक्ष्म होते हैं और प्रायः परिसरीय भाग में स्थित होते हैं। निकाल देने के पश्चात् उनसे कोई कष्ट नहीं होता। उनका निदान प्राय निकालने के पश्चात् ऊतकपरीक्षा पर होता है।

पुटियें (Cysts)

फुप्फुस में कई प्रकार की पुटियें होती हैं। उनमें निम्नलिखित हैं हाइडे-टिड पुटी, पुटीय श्वसनी-विस्फार या फुप्फुस का पुटी रोग, महापुटी (giant cyst), वातस्फीतिजनित छाले (emphysematous blebs or bullae)।

हाइडेटिड पुटी (Hydated cyst)

इस देश में फुप्फुस की हाइडेटिड पुटी असाधारण नहीं है। कभी-कभी फुप्फुस में एक से अधिक पुटी हो सकती है। रोग को फीताकृमि (tape worm) टीनिया ऐकिनोकस उत्पन्न करता है। मनुष्य टीनिया का मध्य परपोषी या पोषद (intermediate host) होता है अधिकतर रोगियों में रोग प्रथम यकृत में होता है और तब फुप्फुस में होता है, कुछ में केवल फुप्फुस में होता है। पुटी में दो स्तर होते हैं, एक बाहर की फलकित कला (laminated membrane) का और दूसरा भीतर की जनन-उपकला का स्तर। इनके अति-रिक्त पुटी के बाहर का फुप्फुस-ऊतक सघनित (condensed) होकर पुटी का कूट सम्पुट बना देता है। पुटी के भीतर स्वच्छ हाइडेटिड तरल होता है जिसमें हुकलेट (hooklet) होते हैं। पुटी की भित्ति पर अंड सम्पुट (brood cap-sules) लगे रहते हैं, जो भावी कृमियों के शिर होते हैं। और भी कितनी ही संतति पुटी (daughter cysts) हो सकती हैं।

लक्षण—फुप्फुस की पुटियें दीर्घकाल तक लक्षणहीन रह सकती है। बडी होने पर वे वेदना, खासी और रक्त के लक्षण उत्पन्न करती है। कभी पुटी स्ठीवन फट जाती है और किसी श्वसनी से उनका सम्बन्ध हो जाता है। ऐसा होने पर श्वसनी द्वारा पुटी अपने को रिक्त कर देती है। ऐसी पुटिएँ प्राय सक्रमित हो जाती है।

निदान—एक्सरे-चित्र मे एक परिमित गोल छाया दीखती है।

कासोनी (Casoni's test) की जाँच अन्तस्त्वचा (dermis) मे हाइडेटिड तरल की कुछ बूंदे इन्जैक्सन द्वारा प्रविष्ट करके की जाती है। धनात्मक प्रति-क्रिया होने पर 24-48 घण्टे मे लालिमा और शोफ का एक चकत्ता बन जाता है। किन्तु केसोनी जॉच केवल 50 प्रतिशत रोगियो मे धनात्मक होती है और इस कारण पूर्ण विश्वसनीय नही है। रोगी के सीरम से पूरक-स्थिरण जाँच (complement fixation test) के परिणाम अधिक विश्वसनीय होते है। यह 80 प्रतिशत रोगियो मे धनात्मक होती है। रोगियो के परिसरीय रक्त मे ईओसिनरागी कोशिकाओ (eosinophilia) की बहुलता हो जाती है।

चिकित्सा—हाइडेटिड पुटी उन्मूलन के लिए बहुत उपयुक्त है। थोरेकोटोमी (वक्षछेदन) के पश्चात् पुटी को पहिचाना जाता है और उसके चारो ओर के क्षेत्र मे 1 प्रतिशत फारमेलिन मे भीगे हुए गॉज को भर दिया जाता है। पुटी के ऊपर के स्तरो का सावधानी से छेदन (incision) किया जाता है जब तक कि उपकला स्तर सामने नही आ जाता। उसको पहचानने के पश्चात् व्यवच्छेदन (dissection) द्वारा उपकलान्तर का और अधिक अनावरण (exposure) किया जाता है। सवेदनाहरक (anaesthetist) के फुप्फुस के भीतर धनात्मक दाब (positive pressure) को और बढाने से पुटी स्वय पृथक् हो जाती है और वक्षछेदन के क्षत द्वारा स्वय ही बाहर आ सकती है। जो गुहिका रह जाती है उसमे कुछ श्वसनी-छिद्र हो सकते है जिनको बन्द कर देना उचित है। जहा तक सभव हो मैट्रेस सीवन से गुहिका को बन्द कर देना चाहिए।

सक्रमित पुटियो मे खडोच्छेदन करना आवश्यक होता है।

महापुटी (giant cyst)

कभी-कभी एक पुटी इतनी बडी होती है कि वह आधे या और भी अधिक फुफ्फुस के सार-ऊतक को भर देती है। ये पुटी प्राय पतली भित्तियो की बनी होती है और जन्मजात हो सकती है। (चित्र 227)

महापुटियों के लिए खंडोच्छेदन या फुफ्फुसोच्छेदन आवश्यक होता है।

चित्र 227—दक्षिण फुप्फुस में ऊर्ध्व बृहद् आकार की पुटी

फुफ्फुसी यक्ष्मा की सर्जरी

फुफ्फुसी यक्ष्मा की चिकित्सा मुख्यतया विश्राम, साधारण स्वास्थ्य की उन्नति और रासायनी चिकित्सा द्वारा की जाती है। आधुनिक उत्तम यक्ष्मारोधी (antetubercular) रासायनी औषधियों, जैसे स्ट्रिप्टोमायसिन, पास (PAS) और आईसोनियेजिड (isoniazid) के प्रयोग से रोगग्रस्तता बहुत कम हो गई है और बहुत से पूर्णतया रोगमुक्त हो जाते हैं। सर्जरी की आवश्यकता भी बहुत कम हो गई है। यह ध्यान रखना चाहिए कि औषधोपचार सर्जरी के पूर्व, सर्जरी के समय में और उसके पश्चात् भी जारी रहे, जब तक कि रोगी को रोग से पूर्णतया मुक्त न समझा जा सके।

रोग की तीव्र अथवा निस्रावी (exudative) अवस्था में शस्त्रकर्म-चिकित्सा कभी अपेक्षित नहीं है। रोग भलीभाँति स्थिर हो जाने पर सर्जरी का विचार

किया जा सकता है । सर्जरी की प्रक्रियाये जो उपलब्ध है निम्नलिखित है

(1) पात चिकित्सा (collapse therapy)

(अ) कृत्रिम वातवक्ष (artificial pneumothorax),
प्लूराबाह्य वातवक्ष (extrapleural pneumothorax),
कृत्रिम वातपर्युदर्या (artificial pneumoperitoneum),
मध्यच्छद-तन्त्रिका-सदलन (phrenic crush) ।

(ब) थोरेकोप्लास्टी (thoracoplasty)
प्लूराबाह्य सपीडन (extrapleural plombage) ।

(2) फुफ्फुस का उच्छेद (resection of lung)
खडांशोच्छेदन (segmental resection)
कीलक उच्छेदन (wedge resection)
खडोच्छेदन (lobectomy)
फुफ्फुसोच्छेदन (pneumonectomy)
सप्लूराफुफ्फुसोच्छेदन (pleuropneumonectomy) ।

पात चिकित्सा

पात चिकित्सा मे, थोरेकोप्लास्टी और वातपर्युदर्या को आजकल अधिक किया जाता है , कृत्रिम वातवक्ष का उपयोग इधर बहुत कम हो गया है । पूर्ण नियत्रण न होने पर या आवश्यक होने पर वातवक्ष को न निकालने से उससे ऐसे उपद्रव हो जाते है जैसे यक्ष्माजन्य प्लूरा नि सरण (tuberculous effusion) और सकुचित अप्रसरित फुफ्फुस । प्लूराबाह्य सपीडन, जिनमे पर्शुकाओ और अन्त वक्ष-प्रावरणी (endothoracic fascia) के बीच प्लास्टिक अक्रिय पदार्थ रख दिया जाता है, जो कुछ समय सर्वप्रिय रहा था, अब छोड दिया गया है ।

थोरेकोप्लास्टी (thoracoplasty) मे कई ऊर्ध्व पर्शुकाओ का उच्छेदन किया जाता है जिससे मृदु ऊतको के पात होने से रोगयुक्त खडाश का भी पात हो जाता है और इस प्रकार रोग प्रक्रम बन्द हो जाता है । शिखरीय (apical) तथा अवशिखरीय (subapical) पतली भित्ति वाली गुहिकाओ (cavities) के लिए यह बहुत वाछित विधि है ।

चित्र 229—यक्ष्माजन्य ए.पायीमा, फुफ्फुसपात (atectasis) सहित।
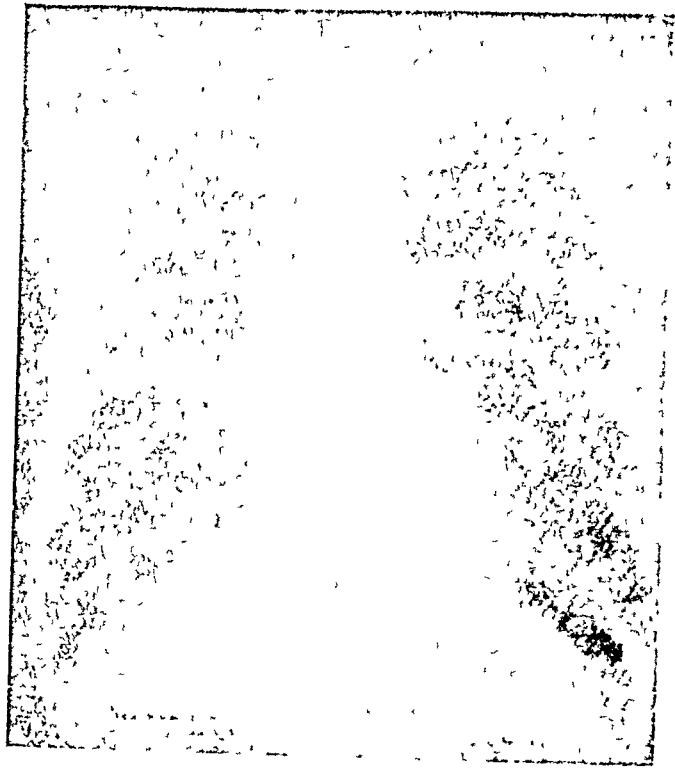
चित्र 228—दक्षिण हाइलम के पास बड़ी स्थूलभित्ति की उच्छेदनयोग्य गुहा।

आजकल थोरेकोप्लास्टी का शस्त्रकर्म दो बार मे किया जाता है। प्रथम बार मे तीसरी पर्शुका का बहुत-सा भाग और समस्त प्रथम और दूसरी पर्शुकाओं को निकाल दिया जाता है, साथ ही फुफ्फुस के शिखर पर लगे हुए प्रावरणी-कृत बंधों को काट कर तथा आसञ्जनों (adhesions) को तोड़ कर उनको मुक्त अथवा चलायमान कर दिया जाता है। यह शिखरमोचन (apicolysis) कहा जाता है। दूसरी बार मे चौथी, पांचवीं और छठी पर्शुकाओं को निकाला जाता है।

उच्छेदन

निम्न दशाओं मे फुफ्फुस का उच्छेदन किया जाता है। मोटी भित्ति वाली बड़ी गुहिकायें, श्वसनी विस्फार सहित गुहिकायें, हाइलम अथवा आधार (base) के पास गुहिकायें (चित्र 228), अनेक गुहिकाओंयुक्त नष्ट फुफ्फुस; यक्ष्माजन्य श्वसनी-विस्फार, और अविस्तारणीय पाती फुफ्फुस (unexpandable ateleceatic lung) सहित एम्पायीमा (चित्र 229)।

खंडोच्छेदन या फुफ्फुसोच्छेदन के पश्चात् प्लूरा गुहा मे कुछ मृत अवकाश (dead space) रह सकता है। इसको उच्छेदनोत्तर थोरेकोप्लास्टी करके लुप्त कर देना चाहिए।

ग्रास प्रणाल (Oesophagus)

रचना

ग्रास प्रणाल एक पेशीकृत नली है जो ग्रीवा मे छठे कशेरुक के सामने स्थित ग्रसनी-ग्रासप्रणाल-संगम (pharyngo-oesophageal junction) से प्रारंभ होकर ग्यारहवे उरोकशेरुक तक चली जाती है और वहां पर उदर मे आमाशय के अभिहृदमुख (cordiac opening) मे मिलती है। युवावस्था मे उसकी लंबाई 25 से० मी० होती है। प्राय समस्त मार्ग मे वह मध्यरेखा मे रहती है, केवल वक्ष के चौथे कशेरुक के तल पर वह कुछ बायीं ओर को मुड़ जाती है और फिर वक्ष के निम्न प्रान्त पर मुड़ती है। उदर मे पहुँच कर वह आमाशय से मिलने के लिए शीघ्रता से वाम ओर को मुड़ जाती है। वह ऊर्ध्व भाग मे श्वासप्रणाल के पीछे रहती है और वक्ष के मध्य मे हृदय के पीछे स्थित है। वक्ष के निम्न भाग मे अवरोही महाधमनी पश्च और उसके संबंध मे रहती है। चौथे उरोकशेरुक पर वाम श्वसनी उसको पार करती है और

वाम ओर श्वास प्रणाल और ग्रास प्रणाल के बीच की खातिका मे आवर्ती स्वरयन्त्र-तंत्रिका (laryngeal nerve) रहती है । लसीका महावाहनी (thoracic duct) प्रारभ मे ग्रास प्रणाल की दक्षिणधारा के पीछे रहती है, किन्तु चौथे उरोकशेरुक पर ग्रास प्रणाल के पीछे से होकर उसकी वामधारा के पीछे आ जाती है और उसी स्थिति मे ग्रीवा तक चढती चली जाती है ।

रक्तसंचार (blood supply)

कई रक्तवाहिकाये ग्रासप्रणाल मे भिन्न-भिन्न तलो पर आती है ग्रीवा मे, अधोअवटुका धमनी (inferior thyroid artery) की शाखाये ; वक्ष मे महाधमनी और अन्तरापर्शुक (aorta and intercostal arteries) धमनियों की शाखाये और उदर मे, अधोमध्यच्छद और वाम जठर धमनियो (inferior phrenic, left gastric arteries) की शाखाये । शिराये, अयुग्मी (azygos), अर्धयुग्मी (hemiazyges) और वाम जठर शिराओ (left gastric veins) मे रक्त ले जाती है ।

तंत्रिकायें (nerves)

वागस और अनुकम्पी तंत्रिकाये ग्रासप्रणाल मे आती है । दोनो वागस ग्रास प्रणाल के मध्य भाग के चारो ओर जालिका (plexus) बनाती है और उसके दोनो ओर से औदरिक भाग मे दो प्रकाड के रूप मे निकलती है ।

संरचना (structure)

ग्रासप्रणाल मे चार कचुक (coats) या स्तर होते है · बाह्य पेशी कचुक मे दो स्तर है—अनुदैर्घ्य और वृत्ताकार । पेशीस्तर के भीतर की ओर अधो-श्लेष्मिक (submucous) कचुक है । श्लेष्मिक कला स्तरित शल्की उपकला (stratified sqaumous epithelium) की बनी है, किन्तु अधस्तम भाग मे स्तभाकार उपकला है । अनेक श्लेष्मल ग्रन्थिया भी उसमे है, सीरमीय आच्छादन नही है । ग्रासप्रणाल की श्लेष्मिक कला असाधारण रूप से दृढ होती है और ग्रास प्रणाल उच्छेदन तथा सम्मिलन (anastomosis) मे सीवन को धारण करने या उसको यथास्थान रखने मे बहुत भाग लेती है ।
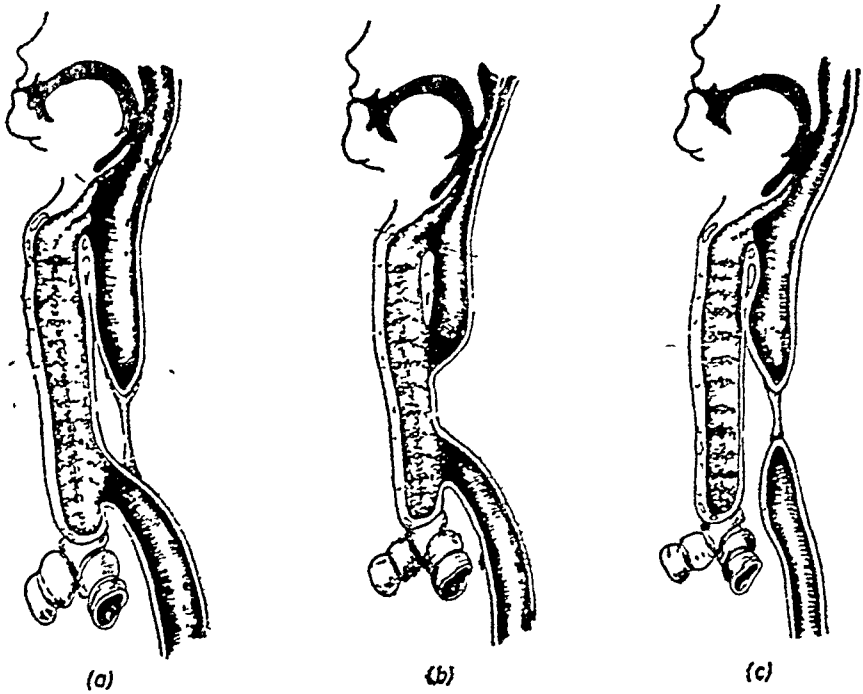
चित्र 230—(a) श्वासप्रणाल-ग्रासप्रणाल का सामान्यतम प्ररूप ;
(b) ग्रासप्रणाल के दोनो प्रान्त श्वासप्रणाल से सयोजन कर रहे हैं ;
(c) दोनों प्रान्त अध है और एक तान्तव रज्जुक से जुड़े हैं ।

श्वासप्रणाल-ग्रासप्रणालीय नालव्रण (tracheo-bronchial fistula)

यह जन्मजात अपसामान्यता है जिसमे ग्रासप्रणाल के ऊर्ध्व तृतीयाश और निम्न द्वि-तृतीयांश के सगम का अपवर्धन (maldevelopment) होता है। इस सगम पर, जो वक्ष मे श्वासप्रणाल के पीछे स्थिर होता है, या तो ग्रास-प्रणाल पूर्णतया समाप्त हो जाता है या उसमे एक निकोचन (stricture) होता है। साथ ही श्वास और ग्रासप्रणालो के वीच एक जन्मजात मार्ग या नालव्रण होता है। प्राय निम्न चार प्रकारो का वर्णन किया जाता है।

(1) जहा ऊर्ध्व ग्रासप्रणाल श्वासप्रणाल से सयोजन करता है और निम्न ग्रासप्रणाल एक अंध नली या थैली के समान रह जाता है।

(2) जहां ऊर्ध्व ग्रासप्रणाल का अन्ध अन्त होता है और निम्न ग्रासप्रणाल का श्वास प्रणाल मे संयोजन होता है। (चित्र 230 a)

(3) जहा ग्रासप्रणाल के दोनो भाग पृथक्-पृथक् श्वासप्रणाल से सयोजन करते है। (चित्र 230b)

(4) जहा दोनो भागो का अध अन्त होता है और वे एक तान्तव रज्जुका से जुडे होते है (चित्र 230c)। इन चारो प्ररूपों मे से दूसरा प्ररूप सबसे अधिक होता है, 75 प्रतिशत मिलता है।

चिह्न और लक्षण

यदि नवजात शिशु माता के दूध का चूषण (sucking) और निगरण न कर सके और प्रत्येक वार स्तनचूषण करने के उद्योग से खांसी आने लगे तो श्वास और ग्रास प्रणालो के वीच के नालव्रण का सन्देह करना चाहिए। एक साधारण एक्सरे-चित्र मे उदर मे गैस की छाया न होगी, किन्तु सदा ऐसा नही होता। निदान की पुष्टि के लिए एक केथिटर से ग्रासप्रणाल मे लिपियोडोल (lipiodol) को डालने के पश्चात् लिये हुए एक्सरे-चित्र मे अधनली या थैली की रूपरेखा और श्वासप्रणाल से सयोजन दिखाई देगे। उसके पश्चात् आचूषण करके लिपियोडोल को निकाल लेना चाहिए। वेरियम कभी प्रयोग न करना चाहिए।

यदि अपसामान्यता का सन्देह हो तो मुह से दूध पिलाने का प्रयत्न वन्द कर देना चाहिए और तुरन्त शस्त्रकर्म द्वारा सुधार का आयोजन करना चाहिए। शस्त्रकर्म मे असफलता के वहुत कुछ कारण शिशु को वलात् दूध पिलाने का प्रयत्न और शस्त्रकर्म मे विलव होते है। इस विलव से फुफ्फुस के गभीर उपद्रव उत्पन्न हो सकते है और वह शस्त्रकर्म की असफलता का कारण होता है।

शस्त्रकर्म—शस्त्रकर्म से पूर्व और पश्चात् का क्रम किसी वाल-चिकित्सा-विशेषज्ञ की सहायता से निर्धारित और सम्पन्न करना चाहिए। शस्त्रकर्म जितना शीघ्र हो सके उत्तम है। पहिले स्थानिक सवेदनाहरण मे प्लूरावाह्य अन्वेपण किया जाता था। किन्तु अव सर्जन सामान्य सवेदनाहरण का उपयोग करते है और दक्षिण और चौथे पर्शुकान्तराल (intercostal space) मे पश्च-पार्श्व वक्षछेदन (postero-lateral thoracotomy) करते है। प्लूरा को खोलकर और ग्रासप्रणाल का ऊर्ध्व विस्फारित भाग शीघ्र अनावृत किया जाता है। ऊर्ध्व या अधोभाग का श्वासप्रणाल से यदि कोई सयोजन होता है तो उसे काट दिया जाता है, श्वासप्रणाल मे इससे जो छिद्र हुआ है उसको बन्द किया

जाता है और ग्रास-प्रणाल के दोनो सिरो को छोरसम्मिलित (end to end anastomosis) करके जोड़ दिया जाता है ।

प्रारम्भ ही मे निदान करने और सवेदनाहरण और शस्त्रकर्मोत्तर सुश्रूषा की उन्नत विधियो की सहायता से गत वर्षो मे अनेक सफलताये प्राप्त हुई है ।

जन्मजात लघु ग्रासप्रणाल (congenital short oesophagus)

यह दूसरी जन्मजात अपसामान्यता है जिसमे ग्रासप्रणाल का परिवर्धन अपूर्ण होता है और आमाशय के अभिहृद्भाग तथा ग्रासप्रणाल का संगम वक्ष-गुहा के निम्न भाग मे स्थित होता है । ग्रासप्रणाल की लघुता के साथ संगम पर की मवरणिका (sphincter) भी कार्यक्षम नही होती और इस कारण रोगी आवर्ती प्रत्यावाही ग्रासप्रणाल-शोथ (regulurgitant oesophagitis) से ग्रस्त हो सकता है । उसको हृद्-दाह तथा उरोस्थि के पीछे वेदना प्रतीत होती है और आगे चलकर वहा निकोचन (stricture) हो सकता है ।

अदुर्दम निकोचन (non-malignant stricture)

ग्रासप्रणाल के अदुर्दम निकोचन जन्मजात अथवा उपार्जित हो सकते हैं । जन्मजात निकोचन श्वासप्रणाल और ग्रासप्रणाल के वीच के उपर्युक्त नालव्रण के साथ हो सकता है । एक-दूसरे प्रकार का निकोचन जन्मजात कलाकृत-कपाटिकाओ (membranous valves) के कारण होता है जो ग्रासप्रणाल की अवकाशिका (lumen) के भीतर स्थित होती है । ये ग्रासप्रणाल वूजी या यूसोफेगोस्कोप की सहायता से सहज मे फट जाती है । वे प्राय: लघु ग्रास-प्रणाल के साथ होती हैं ।

उपार्जित ग्रासप्रणालीय निकोचन असावधानी से यूसोफेगोस्कोप के प्रयोग का परिणाम हो सकता है अथवा आगन्तुक शल्य को, जैसे लगे हुए कृत्रिम दात को, निगलने से होता है । भारतवर्ष मे वह अधिकतर अम्लो के पी जाने से होता है , यह दुर्घटना यहा वहुत होती है ।

दाहक अम्लो या क्षारो को पीने पर उनके द्वारा हुई क्षति को तुरन्त दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए । एक मध्यम आकार की आमाशय नलिका को प्रविष्ट करके ग्रासप्रणाल और आमाशय को वार-वार उपयुक्त शामको या प्रत्याम्लको या प्रतिक्षारो से प्रक्षालन कराना चाहिये । रोगी को शामक औष-धियाँ और स्थानिक सवेदनहारी चूपिकाये (lozenges) देनी चाहिये; प्रारभ ही से ग्रासप्रणाल का नियमित रूप से विस्फार करना उचित है जिसके लिए
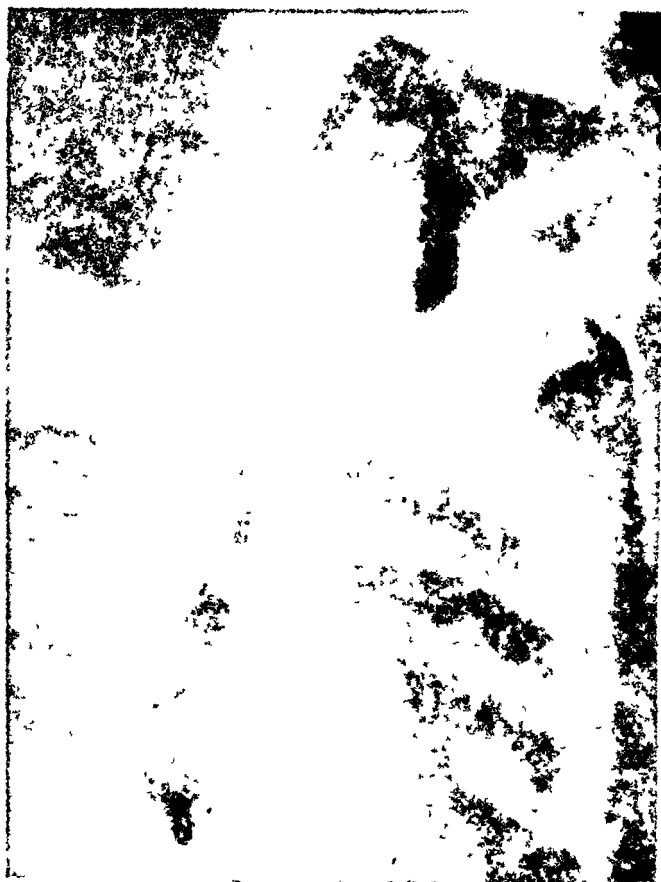
वृहदान्त्र (colon) की सहायता से नया ग्रास-प्रणाल वनाना आवश्यक होता है (चित्र 231)। साधारणतया मध्यान्त्र को चुना जाता है। किन्तु निकोचन के उच्चस्थित अर्थात् ग्रसनी-ग्रासप्रणाल-सगम के पास स्थित होने पर वृहदान्त्र का उपयोग करने से उत्तम परिणाम होते है। एक पृथक्कृत वृहदान्त्रपाश (isolated loop of colon) की वाहिकामयता (vascularity) मध्यान्त्र की अपेक्षा उत्तम वनी रहती है।

इस शस्त्रकर्म मे मध्यान्त्र या वृहदान्त्र के एक पाश को (प्राय. दक्षिण वृहदान्त्र के) उदर ही मे वृहदान्त्र के दोनो सिरों को काट कर और कटे सिरो को जोडने से आत्र की निरतरता को फिर से पूर्ण करके तैयार किया जाता है। मध्यान्त्रपाश को कई मध्यान्त्र-वाहिकाओ को (प्राय. तीन) विभक्त करके तैयार किया जाता है। किन्तु किसी वडी धमनी द्वारा पाश का रक्तसचार
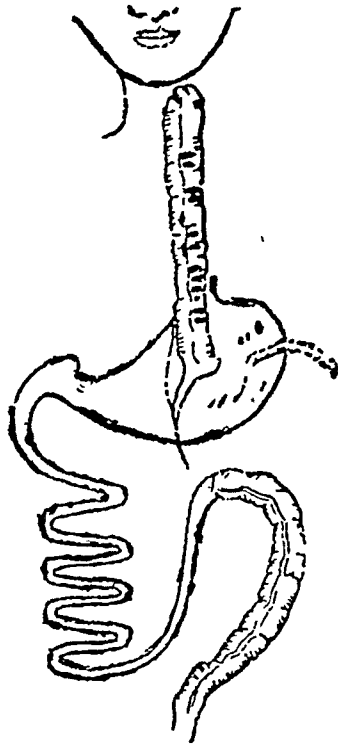
चित्र 232—ग्रासप्रणाल-वृहदान्त्र-जठरसंधान।

वनाये रखना आवश्यक है। वृहदान्त्र-पाश के रक्तसचार के आधार रूप एक मुख्य वृहदान्त्र-धमनी को सुरक्षित रखा जाता है; परिसरी (marginal) धमनी को सावधानी से वचाया जाता है। इस पाश को उरोस्थिपश्च अवकाश मे (जिसको व्यवच्छेदन द्वारा इसी समय मे वनाया गया है) होकर ग्रीवा मे

पहुँचाया जाता है। ग्रासप्रणाल को ग्रीवा से पृथक् करके विभाजित कर देते है। निम्न प्रान्त को सीवन लगाकर बन्द कर दिया जाता है और वक्ष ही मे एक अधनलिका या थैली के रूप मे छोड दिया जाता है। तत्पश्चात् ग्रासप्रणाल के ऊर्ध्व प्रान्त का (upper end) मध्यान्त्र या वृहदान्त्र-पाश से छोर-सम्मिलन (end to end) या छोर-पार्श्व सम्मिलन (end to-side anastomosis) किया जाता है और मध्यान्त्र या वृहदान्त्र पाश के निम्न प्रान्त को आमाशय मे आरोपित किया जाता है। (चित्र 232) कुछ सर्जन आमाशय को बीच में ही छोड़कर, ग्रासप्रणाल को सीधा मध्यान्त्र (oesophago-jejuno plasty) से जोड देते है। बालकों मे ऐसा नही करना चाहिए। आमाशय को छोड़ देने से वे पोषण का स्वांगीकरण नही कर पाते जिससे उनकी वृद्धि नहीं होती।

विपुटी, अपवर्त (Diverticula)

ग्रासप्रणाल मे विपुटिया असाधारण है। वे पेशीकंचुक के दुर्बल स्थानो द्वारा निकली हुई श्लेष्मिक कला की हर्निया होती है। दो प्ररूपों का वर्णन किया गया है। ग्रासप्रणाल के भीतर दाब बढने से उत्पन्न नोदन(pulsion)-विपुटिया; और कर्षण (traction)-विपुटिया, जो ग्रासप्रणाल की भित्तियो के आसजनो द्वारा कर्षण से उत्पन्न होती है।

नोदन-विपुटी का सबसे उत्तम उदाहरण वह है जिसको ग्रीवा की ग्रसनी थैली (Pharynegal pouch) कहा जाता है। यह प्राय अधिक आयु वालो मे होती है। निगरण की क्रियाविधि के विकृत हो जाने से और निम्न संकीर्णिका पेशी (inferior constrictor) के ऊर्ध्वतम वृत्ताकार तंतुओ और निम्नतम तिर्यक ततुओ के बीच मे, ग्रासप्रणाल की भित्ति मे एक त्रिकोणाकार क्षेत्र की दुर्बलता के कारण, श्लेष्मिक कला इस दुर्बल अवकाश द्वारा बाहर को उभर आती है। धीरे-धीरे उभार बढता जाता है जो अन्त मे विपुटी बन जाता है। ज्यो-ज्यो विपुटी बढती है त्यो-त्यों उसका मुख भी बडा होता जाता है और अन्त को ग्रसनी की अवकाशिका के सम्मुख आ जाता है तथा ग्रासप्रणाल द्वारा एक ओर को विस्थापित हो जाता है। रोगी का निगरण-कष्ट (dysphagia) बढता जाता है। ग्रीवा मे, प्राय. बायी ओर कुछ भी खाने के पश्चात् एक पिण्ड दीखने लगता है और खाये हुए आहार को ग्रासप्रणाल मे भेजने के लिए उसको दबाना पडता है।

शल्य चिकित्सा (surgical treatment)

ग्रीवा मे वाम ओर छेदन करके विपुटी को अनावृत किया जाता है और व्यवच्छेदन द्वारा अन्य सरचनाओ से उसको पृथक् करके उसका पूर्ण उच्छेदन

चित्र 233—वेरियम निगरण से जठरागम अशिथिलता (achalasia cardia) के कारण अतिवर्धित ग्रासप्रणाल का विस्फार (hyhertrophied and dilated) दिखाई दे रहा है

कर दिया जाता है। उसके पश्चात् ग्रास-प्रणाल मे विपुटी के मुख को दो स्तरों मे सीवन लगा कर वन्द किया जाता है।

अभिहृद्-जठर-आशिथिलन (achalasia cardia) अथवा अभिहृद्-जठर-आकर्ष (cardiospasm)

यह वृहदान्त्र के हिर्शस्प्रुग (Hirshschsprung) रोग के समान है। 20

और 30 वर्ष के बीच की अतिभावुक स्त्रियो मे यह रोग अधिक होता है और रोग पर भी मानसिक प्रभाव वहुत होता है। रोगियों को आहार के निगलने मे कष्ट होता है जो निरन्तर बढता रहता है। आहार ग्रासप्रणाल के निम्न भाग मे अटकता-सा प्रतीत होता है और तरल वस्तुओं को ठोस वस्तुओ की अपेक्षा निगलना और भी कठिन होता है। अन्त मे ग्रासप्रणाल वहुत विस्फारित हो जाता है, उसकी अतिवृद्धि (hypertrophy) होती है और वह कुटिल (tortus) हो जाता है (चित्र 233)।

रोगियो को दुर्गंधित (आहार) प्रत्यावहन होता रहता है और कभी-कभी उसके श्वसनी मे चले जाने से फुफ्फुसीय उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं। वेरियम को खिलाकर एक्सरे-चित्र लेने पर मध्यच्छदिका में ग्रासप्रणालद्वार (oesophageal hiatus) तक विस्फार मीमित दीखता है, औदरिक ग्रासप्रणाल प्रसामान्य होता है।

हेतुकी—इस दशा का कारण अज्ञात है। अनुकंपी और परानुकपी तंत्रों की क्रियाओ का असन्तुलन उसका कारण कहा गया है, यद्यपि उसके कोई प्रमाण नही हैं, ग्रासप्रणाल के वृत्ताकार पेशीतन्तुओं का आकर्ष भी कारण वताया गया है। कुछ का अनुमान है कि ग्रासप्रणाल की भित्ति मे कुछ जालिकाओ का अजनन (agenesis) इसका कारण है।

चिकित्सा—कुछ रोगियो को ग्रासप्रणाल का वूजियो (bougies) से विस्फारण करने से लाभ होता है, विशेपकर पारदभरी रवड़ की नलियों द्वारा विस्फारण से। किन्तु अधिकतर रोगियों मे शस्त्रकर्म करना होता है। शस्त्रकर्मविधि, जिससे सवसे अधिक लाभ होता है अति सरल है—ग्रासप्रणाल के अध:प्रान्त के अतिवर्धित पेशीतन्तुओ का छेदन, (पेशीछेदन myotomy), जिसका कितने ही वर्ष पूर्व हेलर ने वर्णन किया था। ग्रासप्रणाल के अध-प्रान्त को मध्यच्छदिका से दो इच ऊपर और एक इंच नीचे तक पृथक् करके उसके दोनो पेशीस्तरो मे लम्वा; रेखाकार छेदन इतना गहरा किया जाता है कि छेदन द्वारा श्लेष्मिककला उभर आती है और वाहर को निकलने लगती है (वह काटी नही जाती)। इससे सतोपजनक रोगशमन होता है।

कार्सिनोमा

ग्रासप्रणाल का यह सवसे भयकर रोग है और दुर्भाग्य से वह हमारे देश मे वहुत होता है। वह ग्रासप्रणाल के ऊर्ध्व, मध्य और निम्न तृतीयांशो मे कही भी हो सकता है। किन्तु सवसे अधिक मध्य तृतीयाश मे और उसके पश्चात्

निम्न तृतीयाश मे होता है। कार्सिनोमा शल्की उपकलार्वुद प्रकार का होता है। किन्तु बहुत नीचे के भाग में वह स्तम्भाकार कोशिकाकृत एडिनोकार्सिनोमा हो सकता है। प्राय. ये एडिनोकार्सिनोमा आमाशय के अभिहृद्-प्रान्त से यहां फैलते हैं।

लक्षण और चिह्न—45 वर्ष से ऊपर के वय वालो मे यह रोग होता है। निगरण-कष्ट (dysphagia) उसका सबसे प्रमुख लक्षण है। प्रथम साधारण कष्ट होता है और रोगी को ग्रास आहारमार्ग मे कही अटकता प्रतीत होता है जो कुछ घूट जल पीने से नीचे चला जाता है। किन्तु निगरण-कष्ट बढता जाता है।

दुर्भाग्य से, प्रथय लक्षण प्रकट होने के 6–12 मास पश्चात् रोगी चिकित्सा के लिए आता है ; तब तक अर्वुद ग्रासप्रणाल की भित्ति मे दूरतक फैल चुकता है और भित्ति के बाहर की सरचनाओ को भी आक्रान्त कर देता है। इसी कारण अर्वुदोच्छेदन के परिणाम सतोषजनक नही होते।

बेरियम को खिलाने पर लिए हुए एक्सरे-चित्र मे अवरोध का स्थान दीखता है और अभिलक्षक मूषकपुच्छ-आकृति (rat tailing appearance) बेरियमरोध के स्थान पर दिखाई देती है। इसका कारण असम, व्रणयुक्त, अर्वुदाक्रान्त, विक्षति होती है।

कार्सिनोमा को यूसोफेगोस्कोप से भी देखा जा सकता है और उसके द्वारा अर्वुद के अश को काट कर उसकी जीवोतिपरीक्षा से निदान की पुष्टि की जा सकती है।

अर्वुद भित्ति मे अन्त.सचरित होकर ऊपर की ओर, नीचे की ओर, और चारो ओर के ऊतको मे भी फैलता है। वह लसीका-वाहिकाओ द्वारा भी प्रादेशिक लसीका-पर्वो मे प्रसार करता है, किन्तु रक्त-प्रवाह द्वारा बहुत कम फैलता है।

चिकित्सा—सर्वोत्तम चिकित्सा ग्रासप्रणाल का उच्छेदन और प्रणाल का पुनर्निर्माण है जिसको आमाशय को वक्ष मे खीच कर और ग्रासप्रणाल-जठर-(oesophago-gastric anastomosis) सम्मिलन द्वारा सम्पन्न किया जाता है। शस्त्रकर्म अयोग्य रोगियो को, जिनमे अवुद की स्थिति के कारण अथवा रोग के अतिविस्तृत हो जाने से शस्त्रकर्म नही हो सकता, एक्सरे-किरणन का परामर्श दिया जाता है।

निम्न तृतीयाश ग्रासप्रणाल के कार्सिनोमा के लिए वाम वक्षगुहा को खोलकर ग्रासप्रणाल को महाधमनी की चाप तक चालित (mobilised)

किया जाता है। मध्यच्छदिका का विभाजन करके स्थलान्तरणों के लिए यकृत की परीक्षा की जाती है। और तब वाम जठर (left gastric), वाम जठर-वपा (left gastro-epiploic), लघु जठर (short gastric) और दक्षिण जठर-वपा धमनी की अनेक वपा (omental) शाखाओं को विभक्त करके आमाशय को चालित करना होता है; आमाशय में केवल दक्षिण जठर-वपा और दक्षिण जठर धमनिया रह जाती हैं। तब आमाशय को वक्ष में ले जाया जाता है। ग्रासप्रणाल को अर्बुद की परिस्पर्शनीय सीमा के दो इञ्च ऊपर और आमाशय को अभिहृद् भाग
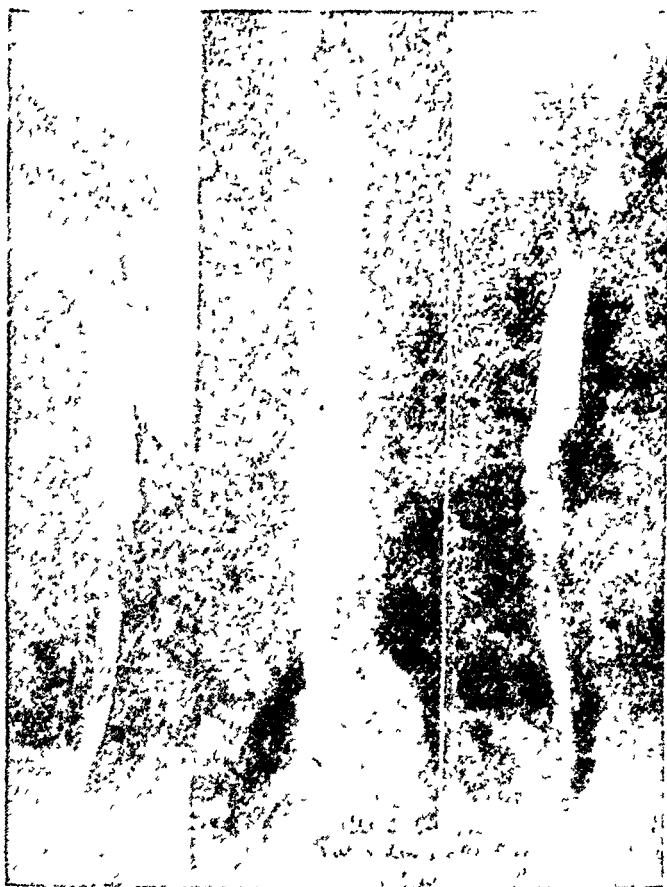
चित्र 234—ग्रासप्रणाल के कार्सिनोमा के, बेरियमनिगरण के पश्चात् लिये चित्र में प्ररूपी भरण-अपूर्णतायें दीख रही हैं।

(cardia) के नीचे विभक्त किया जाता है। अर्बुद को निकाल देते हैं और तब ग्रासप्रणाल-जठर-सम्मिलन करने से नालका का सातत्य फिर से स्थापित करते

है। मध्यच्छदिका को आमाशय के पास सी दिया जाता है। यदि यकृत और उदर ग्रन्थियो मे विस्तृत स्थलान्तरण हो चुका है तो शस्त्रकर्म रोक दिया जाता है। यदि स्थलान्तरण अल्प हो और अन्य भाँति से रोगी शस्त्रकर्म के योग्य हो तो उच्छेदन और सम्मिलन करना चाहिये, उससे रोगी, जब तक जीवित रहेगा, खा पी सकेगा।

मध्य या ऊर्ध्व तृतीयाँश ग्रासप्रणाल के कार्सिनोमा मे शस्त्रकर्म बॉई ओर से किया जाता है और महाधमनी का चालन भी करते है। किन्तु बहुत से सर्जन दक्षिण ओर से शस्त्रकर्म करना पसन्द करते है क्योकि वाम ओर से महाधमनी-चाप का विधान कठिन होता है।

दक्षिण ओर से शस्त्रकर्म करने पर प्रथम उदर को खोला जाता है और स्थलान्तरणो की परीक्षा की जाती है। उनके न होने पर उपर्युक्तानुसार आमाशय को चालित किया जाता है और मध्यच्छदिका के दक्षिण पाद का आंशिक विभाग करके ग्रासप्रणाल के छिद्र को चौड़ाया जाता है। तब पाचवी या छठी पर्शुका-शैया द्वारा वक्ष का पार्श्विक वक्षछेदन (lateral thoracotomy) करके वक्ष को खोला जाता है। तापश्चात अयुग्मी शिरा को दो बँधनो (ligatures) के बीच विभक्त करने के पश्चात मध्यस्थानिक प्लूरा मे छेदन लगा कर समस्त उरो ग्रासप्रणाल को स्पष्ट किया जाता है और अर्बुद का उच्छेदन, उपर्युक्तानुसार, करके ग्रास प्रणाल-जठर-सम्मिलन कर देते है।

अतिवोल्टता (high voltage) एक्सरे-चिकित्सा शस्त्रकर्मातीत रोगियो मे विशेष लाभदायक पाई गई है और प्रथम बार देखने पर जो रोगी शस्त्रकर्म की अवस्था को पार करचुके मालूम हो उनको ऐसी चिकित्सा का एक बार लाभ उठाने का अवसर देना चाहिए। जहा सर्जन शस्त्रकर्म करके अर्बुद का अनावरण कर चुकने के पश्चात् अर्बुद को उच्छेदन योग्य न पाये, वहाँ उसके अर्बुद के ऊपरी और नीचे के प्रान्तो पर चांदी के क्लिप लगाकर वक्ष को बन्द कर दे, जिससे एक्सरे-चिकित्सक को जिस क्षेत्र का एक्सरे-किरणन करना है, उसको जानने मे सहायता मिले।

रोग के अस्थायी शमन के लिए नम्य, गम-ईलास्टिक बूजियो द्वारा, यूसोफैगोस्कोप से देखकर, ग्रासप्रणाल का विस्फार और अर्बुद द्वारा मार्ग बनाने के लिए उसमे होकर धातु के या गमईलास्टिक केथिटर को प्रविष्ट करके वही छोड़ दिया जाता है जिससे रोगी को आहार दिया जा सके। ये विधियाँ भयरहित नही है; विस्फारण के उद्योग के समय ग्रासप्रणाल का केथिटर से सहज ही मे वेधन (perforation) हो सकता है जिससे मध्यस्थानिका-शोथ (mediastinitis) और एम्पायीमा उपद्रव उत्पन्न हो सकते है। रेडियम का भी प्रयोग किया गया

है और शस्त्रकर्म में अनुच्छेदीय (unresectable) अर्वुदो के मिलने पर उनमे रेडोन वीज (radon seeds) अरोपित किये गये हैं। रोग के वहुत वढ जाने पर तथा जिन रोगियों की दशा दीर्घकालिक क्षुधार्तता से हीन हो चुकी है उनमे जठरछिद्रीकरण आवश्यक हो सकता है जिससे रोगी को आहार दिया जा सके।

प्राक्ज्ञान—अधोतृतीयाश के अर्वुदों मे, जिनका शीघ्र ही निदान तथा उच्छेदन कर दिया गया है, 25 प्रतिशत रोगी 5 वर्ष का आरोग्य लाभ प्राप्त करते हे (शस्त्रकर्म पश्चात् 5 वर्ष तक जीवित रह सकते हैं)। मध्यतृतीयाश और ऊर्ध्व तृतीयाश के अर्वुदो का प्राक्ज्ञान अत्यन्त प्रतिकूल है और अनेक विद्वान उनके लिए एक्सरे-चिकित्सा द्वारा शमन का परामर्श देते है।

23

हृदय, परिहृद् और रक्तवाहिकायें
(Heart, Pericardium and Blood Vessels)

पी० के० सेन

हृदय

विषयप्रवेश

द्वितीय विश्व महासंग्राम के पश्चात्काल मे हृदय-सम्बन्धी सर्जरी की आश्चर्यजनक प्रगति इस युग की चिकित्सासबधी एक वृहत् विशेपता कही जा सकती है। इससे पूर्व हृदय सर्जन की छुरिका से पूर्णतया सुरक्षित रहा था, किन्तु द्वितीय महासग्राम के पश्चात् सर्जरी के इस क्षेत्र मे बडे महत्त्व के अन्वेपणो ने समस्त हृद्रोग-चिकित्सा मे सर्जरी के लिये एक विशेष स्थान वना दिया।

हृदय की सर्जरी की प्रगति मे, और हृदय के रोगो मे सर्जरी कहा तक उपयोगी हो सकती है, इसको ठीक समझने के लिये अनेक नई नैदानिक विधियो का आविष्कार किया गया है और कार्यात्मक दृष्टि से हृदय की रचना प्रसामान्य और वैकृत, दोनो का अध्ययन हुआ है।

रचना

वास्तव में हृदय एक पंप है जो रक्त को केवल एक दिशा में भेजता है— अर्थात् हृदय आगे की ओर दो मार्गो मे रक्त को भेजता है, जिनको लघु या

फुप्फुसीय रक्त-परिसचरण (pulmonary or lesser circulation) और वृहत् या सार्वदैहिक (greater or systemic circulation) परिसचरण कहा जाता है; हृदय को इन दोनो का इस प्रकार सतुलन करना पड़ता है कि रक्त का प्रवाह अग्र ओर जारी रहे। दोनो मार्गो मे अग्रप्रवाह की गतिदर (rate of flow) बनाये रखने मे कई कारण भाग लेते है। निलय (ventricle) का सकोच, जिसके तन्तु उसकी कार्यक्षमता को सपूर्ण करने के लिये अद्भुत प्रकार से विन्यस्त (arranged) है, रक्त को आगे को प्रवाहित करने वाला वल प्रदान करता हे। हृदय की कपाटिकाओ की रचना और भी जटिल है। अर्धचन्द्र कपाटिकाओ और अलिन्द-निलयी कपाटिकाओ की रचना उनके कार्य के अनुसार भिन्न है। अलिन्दनिलयी कपाटिकाये अकुरक पेशी (papillary muscle) और कडरारज्जुओ (cordae tendinaee) द्वारा नियन्त्रित होती हैं जिससे निलयो के भर जाने पर रक्त-अलिन्द मे नही जा सकता।

हृदय की पेशी एक तान्तव ढाँचे पर लगी हुई है जिसपर अलिन्द-निलयी कपाटिकाये और अन्तर्गम (inlet) और वहिर्गम (outlet) वाहिकावलय (vascular rings) भी लगे रहते है (चित्र 235)। अलिन्द-निलय कपाटिकाये केवल रक्त के अग्र ओर प्रवाह ही मे भाग नही लेती, वे निलयो मे रक्त पहुचाने वाले कोष्ठो (अलिन्दो) के द्वारो का भी काम करती है जिनमे रक्त भरता रहता हे।
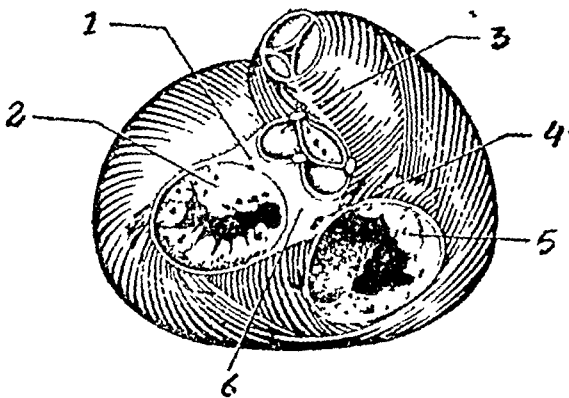
चित्र 235—हृदय की पेशी-तान्तव सरचना (musculo-fibrous structure) और उसकी कपाटिकाओ की आपेक्षिक स्थिति का एक आरेख।

विकृति

हृद्रोगों की विस्तृत विकृति की व्याख्या इस पुस्तक के क्षेत्र के वाहर है । उसके लिये विद्यार्थी को किसी हृद्रोग की अथवा कायचिकित्सा की पुस्तक का अध्ययन करना चाहिये । तो भी, हृदय-सर्जरी की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि हृद्रोग वह है जो हृदय के पम्प की मोटर, अर्थात् हृत्पेशी (myocardium) और कपाटिकाओ (valves) मे विकार उत्पन्न कर दे, जिसमे रक्तप्रवाह मे अवरोध, अनियमितता या अपसामान्यता आ जाय । कपाटिका की सकीर्णता (stenosis) एक प्रकार का अवरोध है जिससे कपाटिकीय प्रत्यावहन (valvular regurgitation) होने के कारण रक्त विपरीत दशा मे प्रवाहित होता है और रक्त के अग्र ओर प्रवाह मे वाधा होती है तथा निकटस्थ ओर प्रतिरोध (resistance) और दाव (pressure) उत्पन्न होती है । अन्य विक्षतिया (अधिकतर जन्मजात) रक्त के अपसामान्य मार्गो से सम्वन्धित है, वे हृदय के भीतर हो या वाहर, तथा कपाटिका विक्षतियो के सहित हो या उनके विना हो । प्राय विकृति सव कारणो से उत्पन्न विक्षतियो का मिश्रण होती है । अवरोध केवल रक्त के वाहर निकलने के क्षेत्र मे ही नही होता, किन्तु समस्त परिसचरण-क्षेत्र मे हो सकता है [अन्तर्वाह (inflow) मे, जैसे सकीर्णक परिहृद्शोथ मे, या वहिर्वाह मे, जैसे फुप्फुसी हृदय (cor pulmonale) मे] ।

विशेष अन्वेषण

हृद्रोगो की ठीक-ठीक रचनात्मक निदान की आवश्यकता से गत कुछ वर्षों मे विशेप अन्वेषणो की विधियो का अनुसधान किया गया है । इनमे सवसे मुख्य एक्सरे-चित्रण मे हुआ है । मानक प्रविधियो, जैसे प्रतिदीप्ति दर्शन (fluoroscopy), टेलीरेडियोग्राफी (7 फुट की दूरी से एक्सरे-चित्रण, जिससे किरणो के समानान्तर होने के कारण हृदय की प्राकृतिक माप की छाया वनती है) तथा काइमोग्राफी (जो हृदय की धाराओ—borders—की गति को मापती है), के अतिरिक्त अत्यन्त महत्त्व का वाहिकाहृद्-चित्रण (angiocardio-graphy) का अनुसधान है ।

वाहिकाहृद्-चित्रण (angiocardiography)—इसकी प्रविधि अन्त.शिरीय (intravenous) या प्रत्यक्ष (direet) हो सकती है । एक कार्वनिक आयोडीन-युक्त एक्सरे-अपार्य वस्तु, जैसे यूरोपेक (uropaque) को वाहिका-वोलस (vascular bolus) के रूप मे एक इजैक्शन सिरिंज से द्रुतगति से प्रविष्ट

किया जाता है और इस एक्सरे-अपार्य वोलस के हृत्कोष्ठो द्वारा मार्ग का अनुसरण एक एक्सरे कैमरे से किया जाता है जिसमे एक्सरे फिल्मो का वडी द्रुत गति से अनावरण (exposure) का प्रवन्ध रहता है। अतएव हृत्-चक्र (cardiac cycle) की भिन्न-भिन्न अवस्थाओ मे हृदय के कोष्ठों और वडी वाहिकाओ का दर्शन हो जाता है जिससे हृदय की रचना और उसके कार्य का पता चलता है। प्रत्यक्ष वाहिका-हृत्चित्रण मे वाहर से या तो एक हृत्कोष्ठ का या किसी वृहत् वाहिका का वेधन करके उसमे अपार्य वस्तु प्रविष्ट की जाती है। साधारणतया यह अध्युरोभगिका (suprasternal notch) या वक्षभित्ति द्वारा किया जाता है।

हृदय मे केथिटर-प्रवेशन (cardiac catheterization)—एक वारीक एक्सरे-अपार्य केथिटर को उपयुक्त शिरा, [प्रतिकफोणि (antecubital) शिरा, अध:शाखा शिरा (saphenous v.) और्वी शिरा और कभी-कभी ग्रीवा शिरा (jugular v.)], द्वारा प्रतिदीप्तिपट (fluorscopic screen) पर देखकर उसकी गति का नियन्त्रण करते हुए, हृदय मे पहुचाया जाता है। भिन्न-भिन्न कोष्ठों और वाहिकाओ से गैसो के विश्लेषण के लिये प्रतिदर्श (samples)
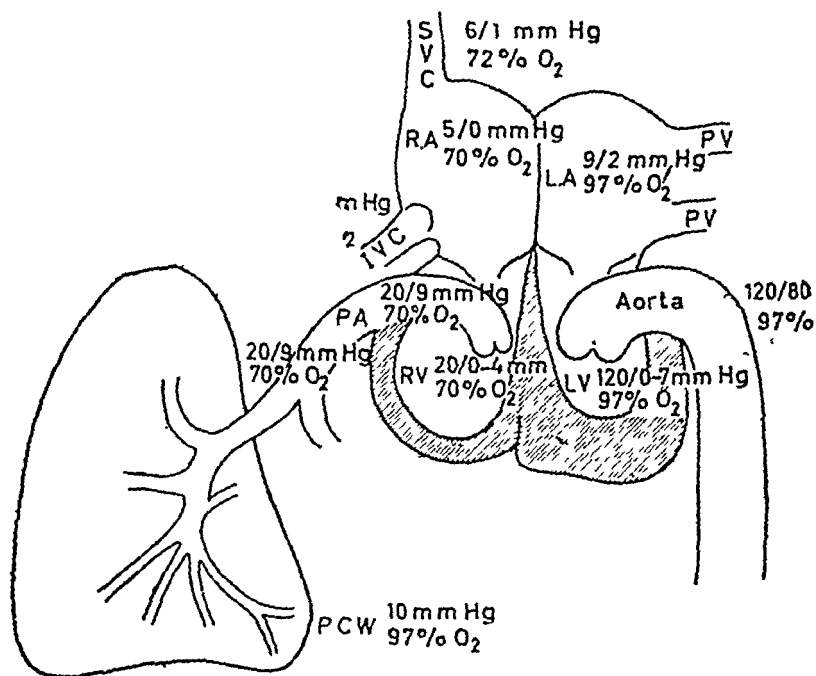
चित्र 236—हृद्-केथीटर अकों (data) का औसत मूल्य।

एकत्र किये जाते है और वहा की दाबो को केथिटर द्वारा एक सुग्राही (sensitive) विद्युतदाबमापी (electromanometer) से मापा जाता है (चित्र 236)। इस प्रकार प्राप्त आंकड़ो या उपात्तो (data) से अपसामान्यताओ, अवरोध, पार्श्वपथ (shunts) और विकारो का निदान किया जाता है। हृत्कोष्ठो को दृष्टिगत (visualisation) करने के लिये केथिटर द्वारा उनमें एक्सरे-अपार्य आयोडीनयुक्त रजक को प्रविष्ट कर सकते हैं। यह वरणात्मक वाहिकाहृद्-चित्रण (selective angiocardiography) कहा जाता है।

हृदय का विराम
(Cardiac Arrest)

अकस्मात् हृद्-विराम एक ऐसा उपद्रव है जो 1000 मे से लगभग 1 रोगी मे शस्त्रकर्म मेज पर होता है। उसका कारण स्पष्ट नही होता, किन्तु कुछ सुविदित कारण अनाक्सिता (anoxia), हृत्पेशी रोग, जैवविष और विषैली औषधियां, रक्त परिसचार का अकस्मात घट जाना, जैसा गभीर स्तव्धता मे होता है, या तीव्र फुप्फुसी अन्तःशल्य (pulmonary embolus) हैं।

कार्यात्मक दृष्टि से हृद्-विराम दो प्रकार का होता है। निलय की हृत्पेशी पूर्ण अप्रकुचन (asystole) की अवस्था मे रह जाय, या वह तन्तु-विकपन (fibrillation) की दशा मे हो। तन्तुविकम्पन का परिणाम यह होता है कि हृदय का रक्त को पप करने का काम वन्द हो जाता है। यद्यपि हृत्पेशी के तन्तु कुछ सकोच करते है, जिसकी समता थैले मे भरे कृमियों से दी गई है, किन्तु सम्पूर्ण फल यही होता है जैसे हृदय रुक गया हो। वाह्य आकृति और नैदानिक लक्षण वसे ही होते है। नाड़ी अकस्मात् वन्द हो जाती है, वर्णहीनता हो जाती है, हृद्-ध्वनि न प्रतीत होती है, न सुनाई पडती है और रक्तदाव मापी भी नही जा सकती। नेत्र के तारे सामान्य हों या विस्फारित हो।

चिकित्सा

हृद्-विराम मे समय अत्यन्त महत्त्व का है। रक्त-परिसचार की पुनरावृत्ति अत्यल्प समय मे, चार मिनट मे, हो जानी चाहिये। इससे अधिक समय मे आक्सिजन के अभाव से मस्तिष्क की अमुधार्य क्षति हो जाती है।

औषधि द्वारा चिकित्सा—यह मुख्यतया एड्रिनेलीन, 20,000 मे 1, अन्तर्हृद्-इंजैक्शन, अन्तर्धमनी-रक्ताधान (interarterial transfusion) द्वारा धमनी-रक्तसंचार मे दाब उत्पन्न करने और किसी कृत्रिम गतिकारक (pace-

maker) से हृदय की तन्त्रिकापेशी-यन्त्रावलि (neuromuscular mechanism) के उद्दीपन द्वारा की जाती है। किन्तु इस प्रकार की चिकित्सा के परिणाम उत्साहवर्धक नही हुए है और उसके द्वारा आरोग्यलाभ की सख्या अतिन्यून है।

शल्य चिकित्सा—सबसे अधिक आशाजनक होती है; उसमें वक्षगुहा को तत्काल खोलकर, हाथ से हृदय का क्रमवद्ध (ताल या लयवद्ध, rhythmic) सम्पीडन किया जाता है जिससे रक्त सचार का वेग उत्पन्न होकर मस्तिष्क को इतना रक्त मिल जाय कि मस्तिष्क की असुधार्य क्षति न होने पावे। शस्त्रकर्म के समय विषैले सवेदनाहर पदार्थो और अनाक्सीयता से हृदयविराम सबसे अधिक होता है। इस कारण हृदयविराम की चिकित्सा की पूर्ण सज्जा या आयोजन सदा आपरेशन थियेटर मे तैयार रहने चाहिये। साथ मे आपरेशन थियेटर के प्रत्येक कर्मचारियो को उस आपद्-समय जो काम करना होगा उसका अभ्यास कराते रहना चाहिये। उनकी समय-समयपर हृदय-विराम की चिकित्सा सम्बन्धी ड्रिल कराते रहना उचित है।

हृदय-विराम का तत्काल निदान सफलता की कुजी है। अकस्मात् पीतवर्णता, नाडीस्पन्दन और रक्तदाब की अनुपस्थिति तथा हृदयध्वनि के न सुनाई देने से इसका निर्णय किया जा सकता है। जहाँ विद्युत्-हृद्-लेखन (electrocardiogram) चल रहा हो, जैसे हृदय के शस्त्रकर्मो मे, वहां रेखाओं की अनुपस्थिति से या निलयतन्तु-विकपन उत्पन्न होने से निदान स्पष्ट हो जाता है।

निदान निश्चित होते ही चौथे पर्शुकान्तराल मे अन्तरापर्शुक छेदन लगाकर हृदय का तत्काल अनावरण किया जाता है। यदि इससे पूर्ण अनावरण नही होता तो चौथी पाचवी पर्शुक-उपास्थियो को विभक्त कर दिया जाता है और शीघ्र ही हाथ को प्रविष्ट करके अगुष्ठ और चारो अगुलियो के वीच पकड कर हृदय का, विशेपकर वाम निलय का, इतना सम्पीडन, प्रति मिनट 80 वार, किया जाता है कि उससे कैरोटिड धमनियो मे नाड़ी-स्पन्दन प्रतीत होने लगे। उसको जारी रखा जाता है। सवेदनाहारक (anaesthetist) अपनी अगुलियो को ग्रीवा मे कैरोटिड धमनियों पर रखता है। और श्वासप्रणाल मे नलिकाप्रवेशन (intubation) करता है, यदि पहिले ही उसमे अन्त श्वासप्रणालनली (intratracheal tube) नही लगा दी गई है। 100 प्रतिशत आक्सीजन द्वारा धनात्मक सवातन (positive ventilation) रखा जाता है। साथ ही रक्तदाव-वर्धक (pressor) औपधियो (जैसे नोरवड्रिनेलिन) को अन्त शिरीय

मार्ग द्वा । विन्दुक विधि (drip-method) से देना प्रारम्भ किया जाता है। यदि रक्तहानि अधिक हुई है तो रक्ताधान (blood transfusion) आवश्यक हो सकता है।

जब हृदय की क्रिया फिर से प्रारम्भ हो जाती है और नाडी ग्रीवा मे भली-भाति प्रतीत होने लगती है तो घाव मे जिन स्थानों से रक्त निकल रहा है उनको बन्द किया जाता है और वक्षक्षत को स्तरों मे सीवन करके बन्द कर देते हैं तथा प्लूरा गुहा मे एक निर्हरण नलिका को रखकर उसके भीतर, जलाभेद्य करके, डुबो दिया जाता है (under water seal)।

यदि निलय का अप्रकुचन न होकर तन्तु विकम्पन होता है, तो अल्पस्थायी 1/10 सेकिंड के विद्युत् प्रघात (electric shocks), विशेष विद्युत्-अवरोधी (insulated) इलेक्ट्रोडो द्वारा, लगाये जाते हैं और विद्युतधारा की वोल्टता 80 से 220 तक रखी जाती है। एड्रिनेलीन 20,000 मे 1 की, 1-5 मिलि. की मात्रा का अन्तर्हृद्-इन्जैक्शन दक्षिण या वाम निलय मे दिया जा सकता है और हृदय की मालिश करके उसकी तान वढाने के पश्चात् विद्युत् प्रघातो का उपयोग किया जाता है। समस्त प्रक्रिया के समय मे फुप्फुस का पर्याप्त संवातन और उपयुक्त रक्तदाव वनाये रखना वहुत आवश्यक है। साधारणतया 110 वोल्ट के एक या दो प्रघात हृदय की लय को फिर से ठीक कर देने को पर्याप्त होते है, किन्तु कभी-कभी इससे भी अधिक वोल्टता के कई प्रघात आवश्यक होते है।

प्राक्ज्ञान

हृदय के विराम के पश्चात् जितना शीघ्र उपर्युक्त चिकित्सा प्रारम्भ की जाएगी उतना ही पुनर्जीवन-प्राप्ति का अवसर अधिक होगा। यदि विराम होने के 3 मिनट के भीतर हृदय का हाथ से सपीडन हो जाता है तो, हृत्पेशी के रोगग्रस्त न होने पर, प्राय. हृदय की उत्तम क्रिया होने लगती है। तो भी मस्तिष्क रक्तसचार के पुनः प्रारम्भ होने से पूर्व मस्तिष्क को कितनी क्षति पहुची है, इसपर जीवन निर्भर करता है। इस तथ्य का ज्ञान और तत्काल चिकित्सा का आयोजन हृदय के पुनर्जीवन के लिये आवश्यक है। यह वता देना आवश्यक है कि यह प्रक्रिया एक नवशिक्षित (अकुशल) सर्जन भी कर सकता है; जो सर्जरी का अभ्यस्त नही है वह भी इसको करने मे समर्थ होता है। कई ऐसे उल्लेख पाये जाते है जहाँ सवेदनाहारक और गृह-चिकित्सको (house physicians) ने यह प्रक्रिया करके रोगी की जीवनरक्षा की है।

जन्मजात हृदयरोग
(Congenital heart disease)

जन्मजात हृद्रोग दो प्रकार का होता है, अश्यावी (acyanotic) और श्यावी (cyanotic)। यह वर्गीकरण केवल नैदानिक है, किन्तु प्रयोगात्मक दृष्टि से उपयोगी है। अश्यावी वर्ग मे कई दशाओ के लिये शल्य चिकित्सा अब मान्य हो गई है। इनमे विशेष महत्त्व की खुली हुई धमनी-वाहिनी है।

खुली हुई धमनी-वाहिनी (patent ductus arteriosus)

धमनीवाहिनी (बोटाली वाहिनी, ductus Botalli) अन्तर्गर्भाशयी जीवन मे खुली रहती है और उसके द्वारा दक्षिण अलिन्द से आये हुए रक्त का अधिकतर भाग अवरोही महाधमनी मे होकर दैहिक रक्त-परिसचार मे चला जाता है, वह फुप्फुस मे नही जाता। उस समय फुप्फुस अविस्तृत रहते है, वे श्वसनक्रिया नही करते। अतएव उनमे वायु सचार न होने से वे विस्तृत भी नही होते। श्वसनक्रिया केवल मातृअपरा (maternal placenta) द्वारा होती है। इस कारण दक्षिण निलय के रक्त का धमनीवाहिनी द्वारा अवरोही महाधमनी मे चला जाना आवश्यक होता है। जन्म के पश्चात् श्वसनकार्य प्रारम्भ होने पर फुप्फुस फैल जाते है और फुप्फुसवाहिका-प्रतिरोध (pulmonary vascular resistance) परिसरीय (peripheral) वाहिका प्रतिरोध से भी कम होता है। इससे रक्त अपने प्रसामान्य मार्गों से जाने लगता है और धमनीवाहिका द्वारा जाने वाले रक्त की मात्रा घटती जाती है और अन्त मे उधर से रक्त जाना बन्द हो जाता है। प्राय. जन्म के पश्चात् एक सप्ताह के भीतर धमनीवाहिनी बन्द हो जाती है।

जन्म के पश्चात् धमनीवाहिनी के लोप के प्रक्रम का अभी तक ठीक-ठीक ज्ञान नही है। किन्तु कुछ मे उसका लोप नही होता, वह खुली रह जाती है और फुप्फुमीय तथा दैहिक रक्तपरिसचारो के बीच पार्श्वपथ (shunt) की भाति काम करती है। प्रारम्भ मे इस पार्श्व या लघुपथ द्वारा रक्त प्रवाह वाम से दक्षिण ओर को होता है क्योकि दैहिक क्षेत्र मे फुप्फुमीय धमनी की अपेक्षा चार या पाँच गुणा अधिक प्रतिरोध होता है। इससे फुप्फुस की वाहिकाओं मे परिवर्तन होने लगते है। उनके अन्त.कचुक (intima) और मध्यकचुक (middle coat) मोटे हो जाते है और अन्त को वाहिकाये लुप्त हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप फुप्फुसीय प्रतिरोध बढता है, प्रथम वह दैहिक प्रति-

रोध के बराबर होता है और फिर उससे भी बढ़ जाता है जिससे लघुपथ दक्षिण से वाम को काम करने लगता है और परिसरीय श्यावता उत्पन्न होती है। उसके द्वारा जाने वाले रक्त की मात्रा बढती जाती है, 1 से 8 लिटर प्रतिमिनट तक रक्त खुली धमनीवाहिनी द्वारा दक्षिण से वाम ओर को प्रवाहित हो सकता है, साधारणतया 1-4 मि० लि० तक पार्श्वपथ से जाता है।

उपद्रव और लक्षण तथा चिह्न

खुली हुई (patent) धमनी वाहिका के ये उपद्रव होते है; फुप्फुसीय अतिरक्तदाव (pulmonary hypertension), वाम निलय की अतिवृद्धि (left ventricular hypertrophy), अवतीव्र जीवाणुज अन्त-हृद्-शोथ (subacute bacterial endocarditis), धमनीवाहिनी की स्थिति मे एन्यूरिज्म का बनना और धमनीवाहिनी या पास की महाधमनी का फट जाना—विदरण (rupaure)। कुछ समय तक यह दशा लक्षणहीन रह सकती है, किन्तु यदि वाम से दक्षिण का लघुपथ बडा है तो बालक के नवयुवक होने तक लक्षण प्रकट हो जाते है। प्राय. उपर्युक्त उपद्रवो मे से किसी के लक्षण दीखने लगते है, सबसे अधिक वृद्धि (growth) का रुक जाना, हृदय धडकना (palpitation), शिर चकराना (giddiness), तनिक से श्रम से सास उखड़ना (breathlessness) या ज्वर होते है।

निदान

अधिकतर रोगियो मे खुली (patent) धमनी वाहिनी का निदान कठिन नही होता। अभिलक्षण मर्मर-ध्वनि, जिसकी समता सतत मेशीनरी-प्ररूप (machinery type) मर्मर से दी गई है और जिसमे प्रकुचन मर्मर बढ जाती है, 80 से 90 प्रतिशत रोगियो मे सुनाई देती है। फुप्फुसीय अतिरक्तदाव के प्रारम्भ होने पर अभिलक्षक मर्मर बदल जाती है और कई प्रकार की प्रकुचन मर्मर सुनाई पडने लगता है; कभी-कभी, यद्यपि अत्यन्त विरल बार, कोई मर्मर नही होती।

जिन रोगियो मे रोग बढ चुका है उसमे वाम निलय की वृद्धि के नैदानिक प्रमाण मिल सकते है और एक्सरे द्वारा फुप्फुसीय धमनी की प्रमुखता और वाम निलय का कुछ विवर्धन (enlargement) दिखाई देता है (चित्र 237)। प्रदीप्ति पट द्वारा परीक्षा पर फुप्फुसीय वाहिकाओ का विवर्धित स्पन्दन, जिसको द्वार नृत्य (hilar dance) कहा गया है, इस रोग के कितने ही

रोगियो मे देखा जाता है। किन्तु वह मुख्यतया फुप्फुसी धमनी की विस्तृत नाडी-दाब (pulse pressure) पर निर्भर करता है और अन्य दशाओ, अलिन्द या निलय के पटो (septa) के दोषों (defects) आदि मे भी उपस्थित मिल सकता है। निदान का निश्चय करने और पार्श्वपथ (shunt) की स्थिति जानने के लिये और भी अन्वेषण, जैसे हृदय मे कैथिटर प्रवेशन और वाहिकाचित्रण, कभी-कभी आवश्यक होते है। खुली धमनी-वाहिनी की सामान्य स्थिति के पास वाम फुप्फुसी धमनी मे धमनीकृत अर्थात् धमनीवत् आक्सीजन युक्त रक्त मिलना निदान को नियमतः निश्चिय कर देता है।

चित्र 237—तीस वर्ष की एक स्त्री का एक्सरेचित्र जिसको खुली धमनीवाहिनी (patent ductus arteriosus) थी। फुप्फुसी धमनी बहुत प्रमुख है। फुप्फुस के वाहिकाचिह्न (vascular markings) अतिशयित (exaggerated) है। प्रदीप्तिपटदर्शन (fluoroscopy) पर द्वार या हाइलसी नृत्य (hilar dance) दीखता था।

यह अन्वेषण कुछ ही रोगियो मे आवश्यक होता है। कोरीगन प्ररूप (corrigan-type) नाड़ी और विस्तृत नाडीदाव की उपस्थिति प्राय: वाम से दक्षिण ओर जाने वाले वृहत् पार्श्वपथ वाली धमनीवाहनी मे पाई जाती है। फुप्फुसीय अति रक्तदाव होने पर दक्षिण निलय का भी विवर्धन होने लगता है। ऐसे लघुपथो मे से 2 प्रतिशत वहा होते है जिसको महाधमनी-फुप्फुसी गवाक्ष (aortopulmonary window) कहते हैं। वह महाधमनी और फुप्फुसी धमनी के वीच, जहा वे निलयो से निकलती है, एक मार्ग या सयोजन है। ऐसे गवाक्ष प्ररूप मे कोई लम्वाई नही होती है (दोनो के वीच केवल द्वार या छिद्र होता है) जिससे सामान्य प्रकार की धमनी-वाहिनी की अपेक्षा कही वडा पार्श्वपथ वनता है।

शल्य चिकित्सा

शस्त्रकर्म द्वारा खुलीधमनीवाहिनी को प्रथम रोवर्ट ग्रौस (Robert Gross) ने सन् 1938 मे सुधारा था और एक 8 वर्ष के वालक मे उसका वधन किया था। उस समय से सहस्रो खुली वाहिनियो की शल्यचिकित्सा की गई है जिसमे 1-2 प्रतिशत मृत्यु हुई है। सर्जनो और हृद्रोगी चिकित्सकों मे इस वात पर अव मतैक्य है कि खुली धमनीवाहिनियो का निदान हो जाने पर उनको वन्द कर देना चाहिये, जव तक कोई वात उसके विपरीत न हो।

धमनीवाहिनी कव वन्द न की जाय (contraindications)?

(1) यदि धमनीवाहिनी उलटी हो जाय, अर्थात् फुप्फुसीय अतिरक्तदाव के कारण और विर्वाधित फुप्फुसीय वाहिकाप्रतिरोध के कारण पार्श्वपथ दक्षिण से वाम ओर को सवहन करे।

(2) जव खुली धमनीवाहिनी फेलो की चतुर्दिकृति (Fallot's tetrology) या अन्य श्यावी हृद्विकार आदि हृदय के परिवर्धनात्मक दोष (developmental defect) की सुधारक असगति (corrective anomaly) के रूप मे उपस्थित हो।

(3) जव अत्यन्त दुर्वलता हो।

(4) वय की परमावधियो (extremes of life) पर।

किन्तु उपर्युक्त निषेधात्मक दशाये अपेक्षत महत्त्व की नही है। शस्त्रकर्म से पन्द्रह वर्ष से कम की वय वाले वालको मे अधिक वय वालो की अपेक्षा वहुत कम मृत्यु होती है। 30 वर्ष से अधिक वय के व्यक्तियो की मृत्युए तो

निश्चित ही अधिक होती है; पाच-दस प्रतिशत तक होती है।

प्रविधि—खुली हुई धमनीवाहिनी को वन्द करने की दो प्रविधियां है—वन्धन (ligation) और विभाजन (division), दोनों मे से कौन उत्तम है, इस पर मतभेद है। वधन सरल है, किन्तु उसमे नलिका के फिर वन जाने (recanalisation) की सम्भावना रहती है। विभाजन मे रक्तप्रवाह तथा अन्य शस्त्रकर्म की आपदाओ से अधिक मृत्यु होती है, किन्तु उसके पश्चात् नलिका वनने की कोई सम्भावना नही रहती। साधारणतया, यह प्रस्ताव किया गया है कि चौडी वाहिकाओ का विभाजन करना चाहिये और लम्वी पतली वाहिकाओ का वन्धन किया जाय। वधन दोनों सिरों पर किया जाता है और वीच मे सम्भव होने पर एक पारवधन (transfixation) वधन भी लगाया जाता है। उपद्रवरहित खुली धमनीवाहिका के वधन के पश्चात् हृद्वाहिका रक्तपरिसचरण प्रसामान्य हो जाता है, विशेपकर, यदि शस्त्रकर्म फुप्फुसीय अतिरक्तदाव के प्रारम्भ होने के पूर्व किया गया है।

महाधमनी फुप्फुसीय गवाक्ष(aortopulmonary windows) की चिकित्सा—यद्यपि क्रिया की दृष्टि से यह खुली धमनीवाहिका ही के समान है, किन्तु उसको वन्द करने मे सर्जन को पूर्णतया भिन्न प्रक्रियासम्वन्धी समस्याओ का सामना करना पडता है। उसके लक्षण और उपद्रव ठीक धमनीवाहिनी ही के समान है। किन्तु ठीक-ठीक निदान हृदय मे केथिटर प्रविष्ट करने से तथा वाहिकाहृद्चित्रण ही से हो सकता है और वह भी सदा नही।

महाधमनी पर के दोषो (aortic septal defects) को वन्द करना सहज नही है। तो भी वन्द (closed) और खुली (open) दो विधियो से वह किया जाता है। वन्द विधि मे दोनों ओर दो क्लैम्प लगाकर दोनो और विच्छिन्न टाके (interrupted sutures) लगाना सम्भव है। अथवा, न्यूनताप (hypothermia) करके या फुप्फुस-हृदय-मशीन (heart-lung machine) द्वारा द्रव-निवेशन (perfusion) करके फुप्फुसीय धमनी को खोलकर त्रुटि को भीतर से सीकर वन्द किया जाता है। इस दशा मे प्राक्-ज्ञान उत्तम नही है।

महाधमनी का समापीडन (coarctation of the aorta)

रचनात्मक प्रकार (anatomical varities)—

ये दो है—एक वयस्क (adult) प्रकार और दूसरा शैशव (infantile) प्रकार। यह महाधमनी और धमनीवाहिनी अथवा धमनीस्नायु (lig. arteri-

osum) के सगम पर स्थित होता है। यह समापीडन वास्तव मे महाधमनी की सकीर्णता या स्टिनोसिस है और जन्मजात प्रकार ही वास्तविक समापीड़न है। महाधमनी की सकीर्णता महाधमनी शोथ (aortitis) आदि अन्य कारणों से भी हो सकती है, किन्तु उनका विवेचन यहा नही किया गया है। वहुत संभव है कि समापीड़न की जन्मोत्तर-उत्पत्ति उसी प्रक्रम से होती हो जिससे खुली धमनीवाहिनी का लोप होता है।
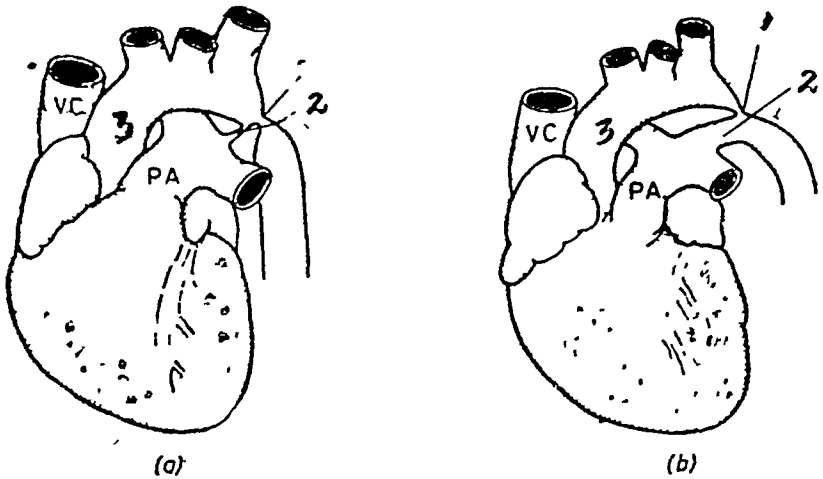
चित्र 238—महाधमनी का समापीडन (coarctation). (a) वयस्क प्ररूप; (b) शैशव प्ररूप।

वयस्क प्रकार—सवसे अधिक पाया जाने वाला वयस्क या वाहिन्योत्तर (postductal) प्रकार का समापीडन है जिसमे अधोजत्रुक धमनी के ठीक आगे या धमनीस्नायु के सम्मुख अथवा धमनीस्नायु (ligamentum arteriosum) के कुछ आगे महाधमनी मे सकीर्णता होती है (चित्र 238a)। इस प्रकार मे श्यावता नही होती और समापीड़न से ऊपर (समापीडन के पूर्व) रक्तपरिसचार मे अतिरक्तदाव होती है। समापीडन के आगे रक्तसचार कम हो जाता है और उदर तथा जघा की धमनियो मे नाडी स्पन्दन नही होता या वहुत कम होता है।

शैशव प्रकार (infantile type)—शैशव या वाहिनीपूर्व (preductal) प्रकार मे धमनीवाहिनी के पूर्व महाधमनी का सकीर्णन होता है (चित्र 238b)। अतएव धमनीवाहिनी अनाक्सीजनित (unoxygenated) रक्त को फुप्फुसी धमनी से समापीड़ित महाधमनी के दूरस्थ भाग मे भेजती है, जहाँ रक्तदाव वहुधा

फुप्फुसीय धमनी की अपेक्षा कम होती है। इससे शरीर के ऊर्ध्व भाग मे अतिरक्तदाव और श्यावना और निम्न भाग मे रक्तदाव और नाड़ीस्पन्दन की न्यूनता उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार की श्यावता, जो सापेक्षिक श्यावता (differential cyanosis) भी कही जाती है, इस दशा की अभिलक्षक निदानात्मक है।

नैदानिक रूप

ज्यो-ज्यो बच्चा बढता है त्यो-त्यो उसके समपार्श्वी रक्तसचरण (collateral circulation) का भी परिवर्धन होता है जो वयस्कता के पश्चात् के रोगियों मे भली-भाति प्रकट होता है और असफलक के चारो ओर तथा वक्ष के अग्र ओर बहुत स्पष्ट दीखता है। वहा असफलक (scapular), अनुप्रस्थ ग्रैव (transverse cervical), आभ्यन्तरस्तन (internal mammary) धमनियाँ तथा कक्ष धमनी (axillary) और अन्तरापर्शुक (intercostal) धमनियो की शाखायें इस दशा मे भाग लेती है। यह समपार्श्वी रक्त सचरण की अभिवृद्धि उन कई लक्षणो [दृश्य नाडीस्पन्दन और पृष्ठमर्मर, (surface murmur)] के लिये उत्तरदायी होती है जो महाधमनी के समापीडन के रोगियो में पाये जाते है।

महाधमनी की सकीर्णता से रक्त परिसचरण के ऊर्ध्व भाग मे उत्पन्न हुई अतिरक्तदाव उत्क्रमणीय प्रकार (reversible type) की होती है जो आगे चलकर वृक्क की स्थानिक अरक्तता के कारण, स्थायी प्रकार की दैहिक अतिरक्तदाव हो जाती है। वृक्क अरक्तता और अतिरक्तदाव से वृक्क और दैहिक धमनियों (arterioles) मे अनुत्क्रमणीय (irreversible) परिवर्तन हो जाते है जो दुर्दम अतिरक्तदाव (malignant hypertension) के रूप मे प्रकट होते हैं। वाम निलय मे विशेष अतिवृद्धि होती है तथा प्रमस्तिष्क, हृदय की तथा अन्य दैहिक रक्तवाहिकाओ मे भी परिवर्तन हो जाते हैं जो एथीरोस्क्लिरोसिस के अभिलक्षक है।

महाधमनी के समापीडन से प्रथम अतिरक्तदाव सम्बन्धी लक्षण उत्पन्न होते हैं और तत्पश्चात हृदय और वाहिकाओं तथा प्रमस्तिष्क में हुए परिवर्तनो से सम्बन्धित लक्षण दिखाई देते है। शरीर के निम्नार्ध भाग में अल्परक्तता के कारण सविरामी खजता (क्लौडीकेशन) और निम्न अंगों की शीतता (coldness) हो जाती है। बहुत वार शरीर के ऊर्ध्व भाग की अधिक वृद्धि

होती है और उदर तथा नीचे के भागो की वृद्धि कम होती है। परीक्षा पर समपार्श्वी रक्तपरिसचरण के प्रमाण उपस्थित पाये जाते है और उरोस्थि तथा असफलक के पास के क्षेत्रो मे कुटिल (tortous) वाहिकाओ के गुच्छो मे नाड़ीस्पन्दन दिखाई देता है और प्रतीत होता है। परिश्रवण पर, एक प्रकुचन मर्मर मिलती है जो सामने की अपेक्षा पीठ मे असफलक के वाई ओर अधिक स्पष्ट सुनाई देती है। पर्शुकान्तरालो मे भी कुटिल शिराये दीखती और प्रतीत होती है।

एक्सरेचित्रण से हृदय का, विशेषकर वाम निलय का, विवर्धन (enlargement) दीखता है, अनेक वार पर्शुकाओं के आभ्यन्तर पृष्ठो का अपरदन भी दिखाई देता है जो अन्तरापर्शुक धमनियो और उनकी समपार्श्वी वाहिकाओ के विवर्धन से होता है। यह अपरदन वच्चो मे तथा प्रथम और द्वितीय पर्शुकाओ मे नही दीखता।

निदान

इस दशा का निदान केवल नैदानिक परीक्षा से किया जाता है, यद्यपि अधरांगो मे नाडीस्पन्द की अनुपस्थिति और प्रगड धमनी मे अतिरक्तदाव से महाधमनी की घनास्रता (thrombosis) और उसके कुछ अन्य रोगो का भी सन्देह हो सकता है। इस कारण अन्य अन्वेपण भी आवश्यक है जिनमे सवसे मुख्य महाधमनी चित्रण (aortography) है।

अनुपचरित रोगियो मे प्राक्ज्ञान

महाधमनी सम्पीडन के लगभग चतुर्थांश रोगियो को जीवन के अन्त तक रक्तसचारी कष्ट के कोई लक्षण नही होते। शेप मे से तृतीयाँश की अति-रक्तदाव और तत्सम्वन्धी कारणो, जैसे हृद्वाहिका तथा प्रमस्तिष्कीय दुर्घटनाओ, से मृत्यु होती है। तृतीयाँश की मृत्यु अवतीव्र जीवाणुजन्य अन्तर्हृद्-शोथ (subacute bacterial endocarditis) या धमनी शोथ (angitis) से होती है और शेष तृतीयाँश वाहिकाओ के फटने या समापीड़न पर या उससे पूर्व एन्यूरिज्म वन जाने से मरते है। अतएव ऐसा दीखता है कि समापीडन के 25 प्रतिशत रोगी उपयोगी वय तक जीवित रहते है शेष 75 प्रतिशत की जीवनयात्रा प्राय प्रथम तीन दशको मे ही समाप्त हो जाती है।

शल्यचिकित्सा

महाधमनी के समापीड़न की चिकित्सा मुख्यतया शस्त्रकर्म द्वारा होती है और समापीड़ित भाग का उच्छेदन करके छोर-सयोजन (end-to-end anastomosis) द्वारा वाहिका की निरन्तरता का पुनर्निर्माण कर दिया जाता है। यह तभी हो सकता है जब समापीडित भाग छोटा होता है और उसको काटकर निकाल देने पर दोनो छोर या प्रान्तो को मिलाना कठिन नही होता। जब दोनो के बीच का अन्तर अधिक होता है तो प्रतिस्थापन (replacement) आवश्यक होता है, किन्तु अभी तक महाधमनी के खडांग के प्रतिस्थापन के लिए उपयुक्त पदार्थ नही मिल सका है। (चित्र 239)
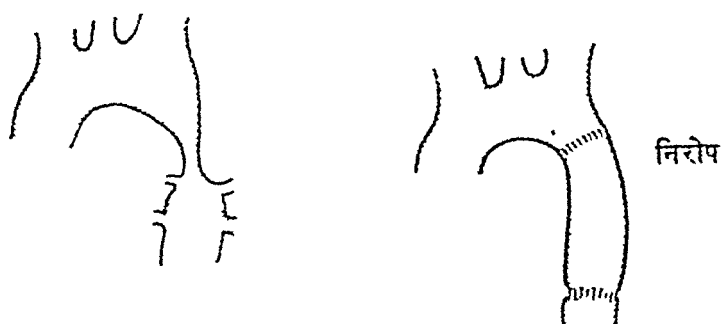
चित्र 239—महाधमनी के समापीडन के उच्छेदन के पश्चात सजातीय निरोप (homograph) अथवा सिन्थेटिक निरोप को उसके स्थान पर लगाना।

समनिरोप (homografts)—मृत्यु के पश्चात यथासम्भव शीघ्र मृतक शरीर से लिए हुए निरोप को तत्काल आरोपित करना या उसको किसी पोषक माध्यम (nutrient medium) मे रेफ्रीजरेटर मे सुरक्षित रखकर, या हिमीकरण—शुष्क-कृत (freeze-dried) करके आरोपित करने से सफलता हुई हैं। कुछ प्लास्टिक वस्तुओ, जैसे डैक्रोन, ओलेनि, नायलोन या टेफ्लोन का भी अनेक सर्जनो ने सफलतापूर्वक उपयोग किया है। अनेक सर्जनो द्वारा प्राप्त अनुभव का यह बहुमत निष्कर्ष है कि सम-निरोपो की अपेक्षा प्लास्टिक वस्तुएँ उत्तम है। सम-निरोप रोगी के शरीर मे आगन्तुक शल्य की भाँति काम करते हैं और जिस स्थान पर लगाए जाते हैं वहाँ कुछ प्रतिक्रियात्मक परिवर्तन उत्पन्न करते हैं जो अन्त में एन्यूरिज्म का रूप ले लेते है और

विदरित (ruputred) हो जाते है । अनेक वार समनिरोपो का कैल्सीभवन हो जाता है ।

धमनी पार्श्वपथ (arterıal bypath) वनाने की विधि मे, जिसको डेवेके (DeBeckey) ने परमोन्नत करके सम्पूर्ण या अचूक (perfect) वनाया था, ऐसी दशाओं मे जहाँ महाधमनी के समापीड़ित भाग का उच्छेदन अत्यन्त कठिन या असम्भव होता है, डैक्रोन की वुनी हुई नली को समापीडित भाग के महाधमनी के पार्श्व मे ऊपर और नीचे छिद्रो को वनाकर उनपर सी दिया जाता है । इससे रक्त इस नली मे से जाने लगता है और रक्तपरिसचरण अपनी प्रसामान्य दशा को प्राप्त कर लेता है ।

विलम्बित रोगियो मे, जिनके वृक्को मे अनुत्क्रमणीय (irreversıble) परिवर्तनो के हो जाने के कारण अतिरक्तदाव हो जाती है जो महाधमनी का शस्त्रकर्म करने से उन्नत नही हो सकती, अन्य शल्यविधियो की, जैसे वक्ष कटि अनुकपी उच्छेदन (thoracolumbar sympathectomy) या उभयपार्श्वी अवपूर्ण अधिवृक्कोच्छेदन (bılateral subtotal adrenalectomy) की सलाह दी जाती है ।

शस्त्रकर्मो का परिणाम—वृक्कग्रस्तता के कारण अतिरक्तदाव उत्पन्न होने से पूर्व वालको मे शस्त्रकर्मो के परिणाम साधारणतया अत्युत्तम होते हैं । सव प्रकार के समापीडन के रोगियो को गिन लेने पर भी शस्त्रकर्मो से 10 प्रतिशत से अधिक मृत्यु नही होती, और उपद्रवरहित रोगियो मे तो और भी कम होती है ।

महाधमनी-वाहिकावलय (Aortic vascular rings)

महाधमनी-चाप और उसकी समपार्श्वी वाहिकाओ (collaterals) के परिवर्धन की असगतियो (anomalıes) से वे नैदानिक असगतियाँ वन जाती है जिनको वाहिकावलय (vascular rıngs) कहते है । उसको वाहिका वलय तव ही कहते है जव वह श्वास और ग्रास प्रणालो को पूर्णतया घेर लेती है । किन्तु अपूर्ण वलय भी लक्षण उत्पन्न करते है । अतएव उनके दो प्रकार माने जाते है—पूर्ण और अपूर्ण । इनमे सव से अधिक पाई जाने वाली दशा दोहरी (double) महाधमनी-चाप है जो नवजातो या शिशुओ मे नैदानिक रूप मे पाई जाती है । वहुधा उसके साथ स्वय महाधमनी-चाप की कोई असंगति होती है । चाप दक्षिण ओर होती है और प्राय. दक्षिण महाधमनीचाप को वाम फुप्फुसी धमनी से जोडती हुई खुली धमनी-वाहिका (patent ductus arterıosum) होती है जिससे वाहिकावलय पूर्ण हो जाता है (चित्र 240)।

कभी-कभी वाम अधोजत्रुक (left subclavian) धमनी दक्षिण ओर से निकलती है और ग्रासप्रणाल के पीछे होती हुई जाती है जिससे ग्रासप्रणाल अधोजत्रुक-धमनी और महाधमनीचाप के बीच में सम्पीडित (compressed) हो जाता है। इस प्रकार की असगति ग्रासप्रणाल में हल्का अवरोध उत्पन्न करती है (dysphagia lusoria)
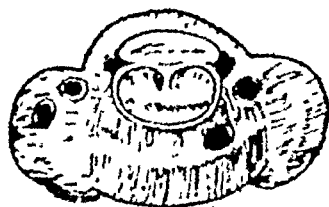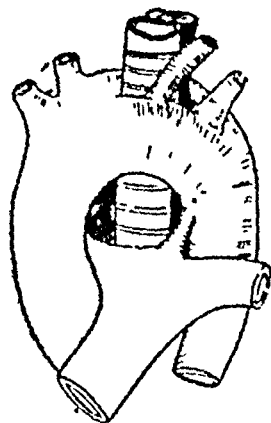
चित्र 240—दोहरी महाधमनी-चाप जिससे ग्रासप्रणाल और श्वास-प्रणाल का सम्पीडन हो रहा है।

निदान

नवजात या शिशु में यह असगति निश्वसन-कष्ट (expiratory dyspnoea), पर्शुकान्तरालो का भीतर को खिचना (intercaostal recession) तथा अन्य सहवर्ती असगतियो के लक्षणो द्वारा अपने को प्रकट करती है, जैसे, श्वासप्रणाल-श्वसनी या ग्रासप्रणाल की असंगतिया। नवजात या शिशुओ में श्वसन के कष्टों की चिकित्सा करते समय इस दशा का सदा ध्यान रखना चाहिये, विशेषकर यदि पर्शुकान्तराल भीतर को खिचते हो। एक साधारण ऐक्सरे चित्र में महाधमनीचाप की एक असगति दिखाई दे जाएगी जो बहुधा दक्षिण ओर होती है। और प्रदीप्तिपटपरीक्षा (fluorscopic examination) पर बेरियम निगरण (बेरियम अवलेह को निगलना) से ग्रासप्रणाल के पश्च ओर एक स्पन्दनयुक्त (pulsatile), खाच (cut out) की रूपरेखा दीखेगी जो वाहिकावलय के पश्चभाग की प्रतीक होती है।

चिकित्सा—

चिकित्सा का उद्देश वाहिकावलय का अथवा धमनी-वाहिका या धमनी-

स्नायु का विभाजन है, यदि ये उपस्थित हो और दाव रहे हो। साधारण ऐक्सरे चित्र मे श्वासप्रणाल का सपीड़न स्पष्ट दीखता है। यदि अधोजत्रुक धमनी महाधमनीचाप के दक्षिण भाग से निकल कर कष्ट का कारण बन रही हो तो केवल धमनी का विभाजन पर्याप्त है; कभी-कभी अधोजत्रुक धमनी का महाधमनीचाप मे पुन आरोपण (reimplantation) सभव होता है और किया जाता है।

ऐसे शस्त्रकर्म संकटरहित नही होते; उनमे सकट (risk) का बहुत अवसर होता है और अन्य असंगतियो के उपस्थित होने पर, उदाहरण के लिये, निलय पट दोष (ventricular septal defects) या ग्रास प्रणाल की अविवरता (atresia)—सकट और भी बढ जाता है। जो भी हो, उपद्रवरहित रोग मे सफल शस्त्रकर्म के पश्चात् प्राक्ज्ञान उत्तम होता है।

जन्मजात फुप्फुस (धमनी)-संकीर्णता (congenital pulmonary stenosis)

यह बडा रुचिकर विषय है, क्योकि वह अकेले या अन्य असगतियों के साथ, सबसे अधिक पाया जाने वाला जन्मजात दोष है। 'शुद्ध' फुप्फुस सकीर्णता अपेक्षत. असाधारण दशा है, किन्तु अन्य दोषो के सयोग मे सबसे अधिक पाया जाने वाला जन्मजात हृद्रोग है। श्यावी (cyanotic), 'नीले शिशु' प्रकार के हृद्रोग मे कुछ फुप्फुसीय सकीर्णता सदा रहती है। फुप्फुसी धमनी के रक्तप्रवाह मे तीन स्थितियो में सकीर्णता मिल सकती है—कपाटिका प्ररूपी (valvular),
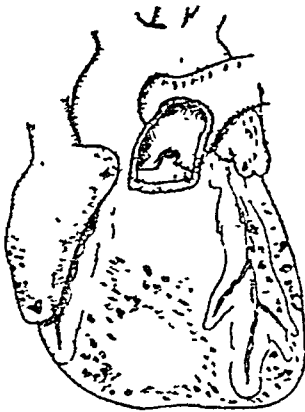
चित्र 241—जन्मजात कपाटिका-प्ररूपी फुप्फुसी सकीर्णता।

कीपीय या इनफडीबुलीय (infundibular), और स्वय फुप्फुसी धमनी मे। अनेक बार इनका संयोग भी पाया जाता है। यदि निलय या अलिन्दपटों के

दोष, या किसी अन्य असगति, के बिना ही फुप्फुसी सकीर्णता उपस्थित होती है तो वह अश्यावी प्रकार (acyanotic type) की होती है, जिसको शुद्ध फुप्फुसी सकीर्णता का नाम दिया है, यह अपेक्षत कम होती है। आधुनिक निदानात्मक विधियो द्वारा, जैसे हृदय मे केथिटर प्रवेशन और वाहिकाहृद् (angiocardio graphy)-चित्रण से फुप्फुसी सकीर्णता का निदान पहले की अपेक्षा अधिकाधिक हो रहा है। उनमे अधिकतर कपाटिकीय (चित्र 241) होती हैं; लगभग तृतीयाश रोगियो मे कीपीय (infundibular) सकीर्णता पाई जाती है।

फुप्फुसी धमनी की अविवरता बहुत असाधारण असगति है और धमनी के निकटस्थ भाग या दूर की शाखाओ मे हो सकती है। अत्यधिक अविवरता होने पर तीव्र श्यावता होती है, उसमे जीवन केवल अन्य असगतियो, अलिन्दपट दोष, और खुली धमनीवाहिनी, के कारण बना रहता है। रोग का यह प्ररूप आयेरजा (Ayerza's) कहा जाता है।

फेलो की चतुर्विकृति (Tetralogy of Fallot)

यह हृदय के जन्मजात दोषो का एक संयोग है जिसमे निलयपट दोष, फुप्फुसी सकीर्णता और महाधमनी दक्षिण ओर स्थित होती है तथा दक्षिण निलय की अतिवृद्धि होती है। श्यावता, अगुलियो का मुग्दरवत् हो जाना (clubbing), शारीरिक वृद्धि न होना और बार-बार श्वाससम्बन्धी सक्रमण होना इस दशा के अभिलक्षण है। जन्म के समय बच्चा श्यावी हो सकता है, किन्तु साधारणतया जन्म के कुछ मास पश्चात् श्यावी (cyanosed) होता है। श्रम करने पर बैठ जाने का बहुधा इतिवृत्त मिलता है। यह इस दशा का अभिलक्षण है और अनेक बार निदान का कारण होता है। पुरोहृद्-प्रदेश मे प्रकुचनी मर्मर, (systolic murmur) मिलती है और ऐक्सरे पर फुप्फुस मे वाहिकाओ के चिह्न अस्पष्ट होते है (चित्र 242)।

अधिकतर जन्मजात श्यावी हृद्रोग फैलो समूह मे गिने जाते हैं, किन्तु उन क्षतियों मे कितनी ही श्रेणियो (grades) की विभिन्नतायें पाई जाती हैं।

शल्यचिकित्सा

फैलो की चतुर्विकृति की आदर्श चिकित्सा समस्त दोषों को देखकर सुधारना है, जिसके लिये हृदय-फुप्फुस-मशीन का प्रयोग और हृदय का विराम आवश्यक है, अर्थात् निलयपटों के दोष का सुधार और फुप्फुसी संकीर्णता को दूर किया जाता है। यह कपाटिकाओ के पास या इनफन्डीवुलम पर हो सकता

है; अधिकतर फैलो-चतुर्विकृति के रोगियों मे वह इनफडीवुली स्तर पर होता है ।
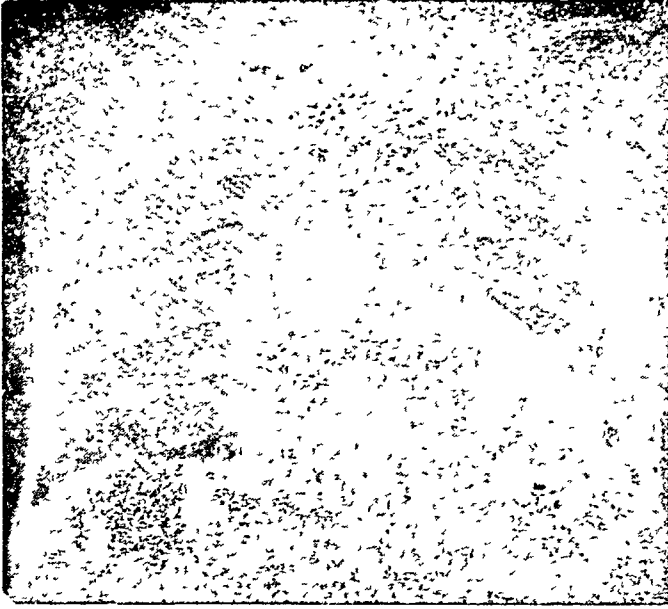
चित्र 242—फैलो के चतुष्क (Fallot's tetralogy) का एक्सरे-चित्र । बूट के आकार का हृदय, फुप्फुसी कोण (pulmonary conus) के प्रदेश की अवतलता (concavity) और फुप्फुसी रक्त-वाहिकता (vascularity) का ह्रास नोट करने योग्य है ।

अभी तक हृदय को खोलकर शस्त्रकर्म करने का प्रचार नही हुआ है और उसमे सकटो की सम्भावना भी अधिक होने से अब भी पुराना 'पार्श्वपथ'-(shunt) शस्त्रकर्म ही अधिक किया जाता है । इसमे प्राय वाम अधोजत्रुक (left sub-clavian) और वाम फुप्फुसी धमनी के वीच मे एक पार्श्वपथ वना देते है (ब्लालौक-टौसिग पार्श्वपथ) । शिशुओ और पाच वर्ष से कम की वय के वालको मे वाम फुप्फुसी धमनी और महाधमनी के वीच लघुपथ, विशेष संधरो (clamp) का उपयोग करके, वनाया जा सकता है (पौट्स स्मिथ पार्श्वपथ) । इस प्रकार के शस्त्रकर्म से रोगमुक्ति नही होती, किन्तु श्यावता जाती रहती है और हृदय की दशा तथा साधारण लाक्षणिक दशा वहुत उन्नत हो जाती है । इससे अन्तर्हृद् दक्षिण-से-वाम पार्श्वपथ का, हृद्वाह्य (extracardiac) वाहिनी प्ररूप (ductus type) का, कृत्रिम वामसे-दक्षिण लघुपथ वनाने से, सतुलन

होता है। किन्तु इससे हृदय पर का भार बढ़ जाता है। इस कारण फैलो की चतुर्विकृति की उपयुक्त चिकित्सा संभव या उचित न होने पर ही इसको किया जाता है। ऐसे 'पार्श्वपथ'-शस्त्रकर्मों के लिये 5 से 15 वर्ष के बीच की वय उपयुक्त है। इन पार्श्वपथ-शस्त्रकर्मों में 10 प्रतिशत की मृत्यु होती है। और खुले शस्त्रकर्म द्वारा सुधार में 25-30 प्रतिशत रोगी मरते हैं। केवल फुप्फुसी सकीर्णता (कपाटिकीय या इनफंडीबुलीय—valvular or infundibular) के शमन के लिये प्रत्यक्ष क्रियाविधि (direct procedure) के शस्त्रकर्म करना, यदि सफलतापूर्वक किया जाय तो लघुपथ-शस्त्रकर्मों की अपेक्षा उत्तम है, किन्तु उसमें मृत्युदर अधिक है।

श्यावी हृद्रोग जो अधिक नहीं होते

ऐसे दो रोग सर्जरी से सम्बन्ध रखते हैं। त्रिकपर्दी अविवरता (tricuspid atresia) में शिरीय रक्त दक्षिण अलिन्द से वाम अलिन्द में खुले हुए अंडाकार रन्ध्र (patent foramen ovale) या अलिन्द पट के दोष या त्रुटि द्वारा चला जाता है, और या तो वाम निलय में निलयपट की त्रुटि के द्वारा दक्षिण निलय में जाता है या फुप्फुसी अविवरता (pulmonary atresia) होने पर वह खुली धमनी वाहिनी (patent ductus anteriosus) या श्वसनी समपार्श्वी रक्त-परिसंचरण (bronchail collateral circulation) में होता हुआ फुप्फुसों में पहुँचता है। वाम अक्ष-विचलन (left axis deviation) और वाम निलय-अतिवृद्धि से, जो विद्युत्हृद्लेखन (electrocardiogram) से व्यक्त होते हैं, इस दशा का निदान हो जाता है। ब्लालौक (*Blalock*) प्ररूप के पार्श्व के द्वारा इस दशा की चिकित्सा की जाती है।

वृहद् वाहिकाओं का आस्थिति-अंतरण (transposition of the great vessels)—इस दशा में महाधमनी दक्षिण निलय से निकलती है और फुपफुसी धमनी का उदय वाम निलय से होता है। यह दशा सर्जरी के लिये एक सतत अभिग्रह है; इसकी संतोपजनक चिकित्सा का अभी तक आविष्कार नहीं हुआ है।

पट के दोष (septal defets)

इनको आधुनिक नैदानिक विधियों के, जैसे हृदय में कैथिटर प्रवेशन के, प्रचलित होने के पश्चात् हृदय के जन्मजात दोष स्वीकार किया गया है और अब उनको सर्वसम्मति से हृदय की अतिसाधारण परिवर्धनसम्बन्धी असंगतियां

माना जाता है। एक ही दोष हो सकता है या कई दोष एक साथ उपस्थित हो सकते हैं। वे केवल अलिन्द या निलय मे हो, या दोनो मे हो।
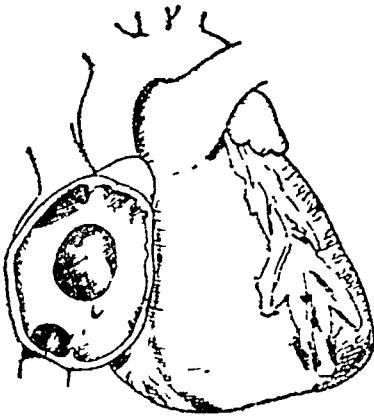
चित्र 243—द्वितीयक रन्ध्रप्ररूपी अन्तरालिन्दी पटदोष।

अलिन्द के पटदोष (atrial septal defects)

अलिन्द के पटदोष दो प्रकार के हो सकते है, प्राथमिक द्वार (ostium primum) या द्वितीयक द्वार (ostium secundum)। द्वितीयक प्रकार 90 प्रतिशत पाया जाता है और द्वितीयक पट (septum secundum) का परिवर्धन न होने से उत्पन्न होता है। यह प्राय: आन्तरिक पट के ऊर्ध्व भाग मे एक छिद्र होता है (चित्र 243)। कभी-कभी कई छिद्र भी होते है और साथ ही अन्य दोष, जैसे फुप्फुसी सकीर्णता अथवा निलयपटदोष भी उपस्थित हो सकते है।

अलिन्ददोष से अलिन्द का वाम-से-दक्षिण लघुपथ उत्पन्न हो सकता है जिससे फुप्फुसी रक्तप्रवाह बहुत बढ जाता है। फुप्फुसी अतिरक्तदाब प्राय: वय के प्रथम तीन दशको मे उत्पन्न होती है। अलिन्दपटदोष का निदान हृद्-केथिटर के प्रवेशन द्वारा होता है जो इस दशा के ज्ञान के लिये बहुत आवश्यक है।

फुप्फुसी शिरा और महाशिरा दोनों की असगतिया सहवर्ती (coexist) हो सकती हैं और केवल हृद्केथिटर के प्रवेशन से पहिचानी जाती है।

चिकित्सा खुली या बन्द शस्त्रकर्मविधि द्वारा दोष को बन्द करना है। कितनी ही अद्‌भुत बन्द-शस्त्रकर्मविधिया निकाली गई है जिनमे बेली की अलिन्द पटसीवन (atrio-septopexy) और सौन्डरगार्ड (Sondergaard) का सर्कमेल्यूजन (circumelusion) शस्त्रकर्म अन्य की अपेक्षा उत्तम है। तो भी सर्वोत्तम शस्त्रकर्म खुली प्रविधि से, देखकर, न्यूनताप (hypothermia)

मे या फुप्फुस-हृदय मेशीन की सहायता से, दोष को मिटाना या छिद्र को बन्द करना है। द्वितीयक प्ररूप दोष के लिये न्यूनताप-प्रविधि (hypothermia-technique) पर्याप्त है। रोगी के शरीर के ताप को लगभग 30 सेन्टी० तक घटाकर महाशिरा का 4 मिनट तक बिना किसी भय के अन्तरोध किया जा सकता है। इतने समय मे दक्षिण अलिन्द को खोलकर दोष सुधारा जा सकता है।

प्राथमिक छिद्र (ostium primum) रचनात्मक और क्रियात्मक दृष्टि से निलयपट दोष के समान है। इसके लिये हृदय-फुप्फुस मशीन की आवश्यकता होती है जिसकी सहायता से छिद्र (दोष) पर प्लास्टिक पदार्थ इवाल्लोन, स्पंज (Ivalon sponge) लगाकर उसको बन्द किया जाता है।

निलयपट-दोष (ventricular septal defects)

यह दोष सबसे अधिक निलयपट के ऊर्ध्व या कलाकृत (membranous) भाग मे पाया जाता है। यह भी अलिन्द पट दोष के समान, वाम-से-दक्षिण लघुपथ (left-to-right shunt), किन्तु निलयतल पर (ventricular level), उत्पन्न करता है और इससे, आगे चलकर, निलय अतिवृद्धि भी होती है। फुप्फुसीय अतिरक्तदाब के उत्पन्न होने पर लघुपथ उलट जाता है जिससे श्यावता होती है। निलयपट दोष से कभी-कभी प्रारम्भिक बाल्यकाल मे कोई लक्षण नही होते या अतिमृदु लक्षण होते हैं; किन्तु कभी-कभी वह अतिशीघ्रता से, शिशु तक मे, तीव्र लक्षण उत्पन्न कर देता है। साधारणतया 20 वर्ष के वय तक तीव्र फुप्फुसी अतिरक्तदाब और हृदय के आयास (strain on heart) के लक्षण दीखने लगते है।

निलयपट दोष अकेले हो सकते हैं अथवा इन दोषो के साथ अन्य असगतिया भी हो सकती हैं, जैसे फुप्फुसी संकीर्णता।

चिकित्सा—निलयपट दोषो को गभीर फुप्फुसी अतिरक्तदाब उत्पन्न होने के पूर्व ही बन्द करने के आयोजन करने उचित है। इसका सर्वोत्तम उपाय, हृदय-फुप्फुस मशीन की सहायता से हृदयछेदन (cardiotomy) करके इवालोन (Ivalon) का एक टुकडा दोष (छिद्र) के चारो ओर उत्तम प्रकार से सी देना है।

उपार्जित हृदयरोग
(Acquired Heart Disease)

रूमेटिज्म (आमवात)-जन्य कपाटिका रोग सबसे अधिक होने वाला उपार्जित हृद्रोग है। भारतवर्ष मे यह समस्त हृद्रोगों मे 25 6 प्रतिशत रूमेटी ज्वर (rheumatic fever) के कारण होता है और इनमे मुख्य-द्विपर्दी सकीर्णता (mitral stenosis) है जिससे 69 प्रतिशत हृद्रोगो के रोगी ग्रस्त होते हैं।

द्विकपर्दी संकीर्णता, माइट्रलस्टिनोसिस

रूमेटी सक्रमण हृदय को कई प्रकार से ग्रस्त कर सकता है ; मुख्यतया वह अन्तर्हृद् (endocardium) को आक्रान्त करता है और प्लास्टिक अन्तर्हृद्शोथ (endocarditis) उत्पन्न करता है जिससे कपाटिकाएँ जुड़ जाती (fusion) हैं, और उनसे सम्बन्धित अन्य रचनाएँ, जैसे कंडरारज्जु (chordae tendineae) और अकुर पेशियें (papillary muscles) विरूप (deformed) तथा छोटी हो जाती हैं । उससे विसरित-हृत्पेशी-शोथ (diffuse myocarditis) और फाइब्रिनी परिहृद्-शोथ (fibrinous pericarditis) भी उत्पन्न होते हैं जिससे आसंजक परिवर्तन (adhesive changes) हो जाते है। अन्य कपाटिका-रोगो की अपेक्षा सर्जनो का ध्यान इस रोग की ओर सबसे अधिक आकृष्ट हुआ है ; इतिहास की दृष्टि से भी इसी रोग की सर्जरी का सबसे पहले विकास हुआ था।

द्विकपर्दी कपाटिका मे दो अन्तर्हृद् पत्रक होते हैं, एक बडा अग्रपत्रक (leaflet) अथवा महाधमनी पत्रक (aortic leaflet) और दूसरा छोटा पश्च या भित्तिक (mural) पत्रक। अग्र पत्रक समस्त कपाटिकाक्षेत्र का द्वितृतीयाश भाग है और पश्च पत्रक केवल एक तृतीयाँश ।

द्विकपर्दी संकीर्णता मे कपाटिकाओ के सिरे एक-दूसरे पर आच्छादित होकर जुड़ जाते हैं और बीच मे बटन के छेद (कोट मे) के समान एकछिद्र रह जाता है (चित्र 244)। कपाटिका-क्षेत्र वयस्क मे चार-छ से० मी० आंका गया है। जब द्विकपर्दी कपाटिका सकीर्ण होकर समस्त क्षेत्र का पचमाश रह जाती है तो तीव्र लक्षण प्रकट हो जाते है। यह क्रान्तिक क्षेत्र (critical area) कहा जाता है जिसका वर्णन ब्रोक (Brock) ने किया है; यह 1 से 1.5 से० मी० तक होता है।
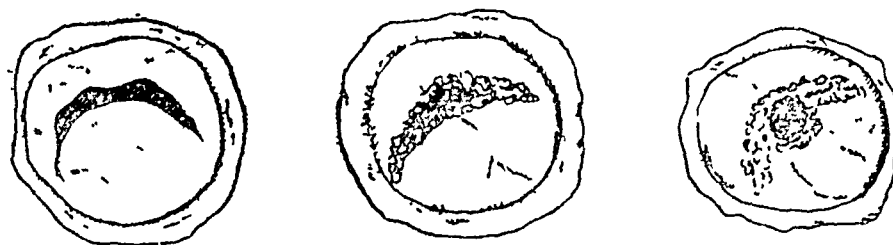
चित्र 244—एक प्रसामान्य द्विकपदी (माइट्रल) कपाटिका की, रूमेटी कपाटिकाशोथ के कारण, वढती हुई सकीर्णता (तीसरे चित्र मे एक छिद्र रह गया है) का आरेखी चित्रण। सगलन या सयुक्ति 'ब्रोक के सकट स्थलो' (Brock's critical points) पर होती है जो कण्डरारज्जुओ—(chordae tendinae) के निवेशन-स्थान है।

रूमेटी द्विकपर्दी सकीर्णता की हेतुकी असदिग्ध है। किन्तु जव सकीर्णता जन्मजात होती है तो सन्देह हो सकता है। तो भी रूमेटिज्म का इतिवृत्त 50 प्रतिशत से अधिक रोगियो मे नही मिलता। भारत मे रूमेटी रोग पश्चिमी देशो की अपेक्षा कम वय वालो को होता है। यहाँ सर्जन के पास आने वाले द्विकपर्दी सकीर्णता के रोगी प्राय. 20 वर्ष से कुछ कम या अधिक वय वाले होते है। धड़कन, श्रम करने पर श्वासकष्ट, प्रवेगी निशीय श्वासकष्ट (paroxysmal nocturnal dyspnoea) और सकुलनजन्य दक्षिण हृत्पात (congestive right-sided heart failure) के दौरे उन रोगियो के मुख्य लक्षण होते है जो सर्जन की सहायता के लिए उसके पास आते है।

निदान और शस्त्रकर्म सूचक दशाएँ

स्वय द्विकपर्दी सकीर्णता का निदान सरल होता है, किन्तु सम्वन्धी कपाटिकाएँ क्षत है या नही और यदि है तो कपाटिका अक्षमता कितनी है, यह जानना अत्यन्त महत्त्व का (और वहुधा कठिन) है। चिकित्सा का क्रम इन्हीं वातो पर निर्भर करता है।

इस वात पर अव सभी सहमत है कि द्विकपर्दी सकीर्णता मे, जो लक्षण उत्पन्न करती है, शल्यचिकित्सा आवश्यक है। लक्षणरहित रोगियो को अथवा जिनमे अत्यल्प लक्षण प्रकट होते है, उनको शल्य चिकित्सा की सलाह न देनी चाहिए, वे वहुत काल तक विना किसी कष्ट के चलते रहते है। किन्तु यदि रोगिणी गर्भवती हो या रोगी को भारी वोझ उठाने पडते हो तो

लक्षणों के अल्प होने पर भी शस्त्रकर्म का आदेश देना योग्य है। शस्त्रकर्म का किसी वय मे भी निषेध नही है। किन्तु नवयुवावस्था रोग की सक्रियता की द्योतक है और यदि टौंसिलशोथ, सधिवेदना या कोरिया (chorea) के आक्रमणो से रुमेटिजम की सक्रियता का तनिक भी सन्देह हो तो रोगी के उससे पूर्णतया मुक्त हो जाने तक शस्त्रकर्म स्थगित कर देना चाहिए। अन्तः-शल्यता शस्त्रकर्म की निषेधक नही है। वास्तव मे वह एक ऐसी दशा है जहाँ सर्जरी आदेशक (mandatory) है।

द्विकपर्दी सकीर्णता के बढ जाने पर एक और उपद्रव, अलिन्द-विकम्पन (atrial fibrillation), उत्पन्न हो जाता है। द्विकपर्दी अक्षमता या माइट्रल प्रत्यावहन (mitral incompetence or regurgitation) की अनुपस्थिति मे, अलिन्दी विकम्पन गभीर द्विकपर्दी क्षति का सूचक है जिसमे अलिन्द की भित्ति वितानित (stretching) हो गई है। यह भी सर्जरी की आवश्यकता की द्योतक है।

शल्य चिकित्सा

द्विकपर्दी कपाटिकाओ के सुधार के लिए वाम अलिन्द-उत्कोष्ठ (left atrial appendage), द्वारा वहाँ तक पहुँच जाता है। साधारणतया वाम
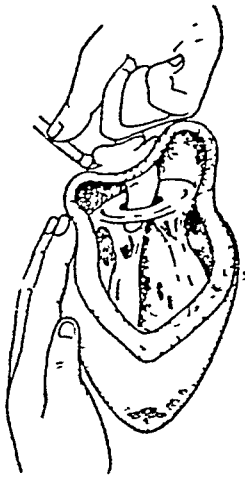
चित्र 245—वाम अलिन्द द्वारा अगुलिप्रवेश से सकीर्णित द्विकपर्दी कपाटिका के भग की प्रविधि, आरेखी चित्रण द्वारा दिखाई गई है।

ओर वक्षछेदन के लिए पाँचवाँ या चौथा अन्तराल चुना जाता है और कभी-कभी वृद्ध रोगियो मे पाँचवी पर्शुका का उच्छेदन करके उसकी पर्शुका-शैया से वक्ष मे प्रवेश किया जाता है। फुफ्फुस को गॉज़ से हटाने के पश्चात् मध्यच्छद

तन्त्रिका (phrenic nerve) के अग्र ओर (दाहिनी पश्च ओर) परिहृद् को खोलकर वाम अलिन्द-कोष्ठ में प्रवेश साधारणतया उपांग (appendage or auricle) के द्वारा किया जाता है और रक्तस्राव को रोकने के लिए कोष्ठक संधर (auricular clamp) और बटुआसीवन (pursestring suture), रुमेलटूर्निके (Rumel tourniquet) या पाश (snare) का प्रयोग किया जाता है। सांकुच द्वार (natral orifice) को जिस विधि से बढ़ाया जाता है उसको संयोजिका विभाग (commissural divison) या संयोजिका भग (commissural fracture) कहते हैं। केवल अंगुलि से विदारण (split) किया जा सकता है (चित्र 245), अथवा अलिन्द या निलय की ओर से छुरिका या विस्फारक (dilator) द्वारा हो सकता है। उसके लिए कितने ही विस्फारकों और छुरिकाओं का आविष्कार किया गया है। बेली की गिलोटीन छुरिका (Bailey's guillotine knife) और टब का विस्फारक (Tubb's dilator) अत्युत्तम है।

शस्त्रकर्म का उद्देश्य संयोजिका (commissure) का विदर या भग उत्पन्न करना है जिससे कपाटिका का एक पत्रक मुक्त होकर स्वतन्त्र गति करने लगे, उसकी कंपन प्रकार की कपाटिका (flutter-type valve) के समान क्रिया होती रहे। इस दृष्टि से पश्चकपर्द (भित्तिक) की अपेक्षा अग्र कपर्द (महाधमनी) बहुत अधिक महत्त्व पूर्ण है। यदि अवकपाटिका (sub-valvular) संरचनाएँ, अंकुरपेशियाँ और कण्डरारज्जुकाएँ, भी जुड़ गई हो तो उनको भी अंगुलियों या शस्त्रों द्वारा मुक्त किया जा सकता है। यह सदा सरल नहीं होता, किन्तु बहुत बार संयोजिकाछेदन (commissurotomy) के पश्चात् इस प्रकार के आयोजनों द्वारा कपाटिका की क्रिया उन्नत हो सकती है। कपाटिका के छिद्र को उसके प्राकृतिक आकार तक बढ़ा देना बहुधा संभव नहीं होता, किन्तु कपाटिका को अधिकतम (जोड़ों से) मुक्त करने और कपाटिका क्षेत्र को अधिकतम विस्तृत करने के बिना संतोषजनक परिणामों की आशा नहीं की जा सकती। अनेक बार केवल एक संयोजिका, प्राय. अग्रसंयोजिका, का भग सम्भव होता है, किन्तु यदि उससे कपाटिकाओं के कपर्द भली भाँति चलायमान हो गए हैं तो परिणाम उत्तम होते हैं।

संयोजिकाछेदन के पश्चात् अलिन्द का क्षत सी दिया जाता है। इसमें यह ध्यान रखना चाहिए कि विपाशन न करने वाले (non-strangulating) टाँके लगाए जाएँ और शस्त्रकर्मोत्तर भित्तिक घनास्रता (post-operative mural thrombosis) भी न होने पाए। इसका एक अत्युत्तम उपाय वाम

अलिन्द उत्कोष्ठ (left auricular appendage) का उच्छेदन करना है जिससे वहाँ घनास्रता बनने का कोई अवसर ही न रहे।

कभी-कभी द्विकपर्दी कपाटिका तक पहुँचने के लिए अन्य मार्गो का अनुसरण किया जाता है, विशेपकर जब अलिन्द उत्कोष्ठ छोटा या तन्तुमय (fibrosed) हो जाता है और उसमे अगुलि प्रविष्ट नही हो पाती। तब वाम ऊर्ध्व या अधोफुप्फुसी शिराओ का उपयोग किया जाता है अथवा सीधे वाम अलिन्द-भित्ति द्वारा पहुँचा जाता है। बेली (Bailey) अब अन्तरालिन्दी खातिका (interatrial groove) मे भित्ति का छेदन करके सीधा वाम अलिन्द मे वक्ष के दक्षिण ओर से पहुँचता है, वह इस ही मार्ग का परामर्श देता है। उसका कथन है कि इस विधि से पश्च सयोजिका तक पहुँचना सरल होता है, वाम ओर उसको विभाजित करना कठिन होता है।

शस्त्रकर्मोत्तर उपद्रव

शुद्ध द्विकपर्दी सकीर्णता के रोगियो मे अत्यल्प उपद्रव होते है जिनमे सामान्य हृदय की अतालताएँ (arrhythmias), विशेपकर अलिन्द और निलय के विकपन (fibrillation), अन्तर्हृद् शोथ (endocarditis) और शस्त्रकर्मोत्तर फुप्फुसी उपद्रव मुख्य हैं · फुप्फुस के मुख्य उपद्रव फुप्फुसपात (atelectasis), निमोनिया और प्लूरा नि स्राव (effusion) होते हैं। एक उपद्रव, जो सयोजिकाछेदन के पश्चात् असाधारण नही है वह सयोजिकाछेदन सलक्षण (commissurotomy syndrome) है जिसमे रोगी को हल्का ज्वर, हृत्क्षिप्रता, एक्सरेचित्र मे हृदय की विवर्धित छाया और सकुलनजन्य हृद्पात के लक्षण होते है। सम्भवत उसका कारण अभिघातज परिहृद्शोथ (traumatic pericarditis) होता है, न कि रूमेटी रोग का पुन सक्रियकरण जैसा रोग के प्रथम वर्णन के समय समझा गया था।

सर्जरी के परिणाम

रोगियों को चुनाव के अनुसार शस्त्रकर्मो के परिणामो मे भिन्नता पाई जाती है, तो भी ससारभर के आँकड़ो के देखने से पता चलता है कि सब देशो मे परिणाम बहुत कुछ समान हैं। सबसे उत्तम परिणाम शुद्ध द्विकपर्दी सकीर्णता के उन रोगियो मे हुए है जिनमे फुप्फुसी अतिरक्तदाब की अल्पतम वृद्धि हुई थी। लगभग 60 प्रतिशत रोगियो को बहुत लाभ होता है और बहुत कुछ, अपनी पूर्व दशा को पूर्णतया पुन. प्राप्त कर लेते है। 20 प्रतिशत मे

output) मे ह्रास के होते है। रोगी हृदशूल या सिन्कोपी (syncope), वर्धमान विश्रान्ति (progressive fatigue) और श्रम करने पर श्वासकष्ट के आक्रमणों की व्यथा, बताते है। वाम निलय के विवर्धन के नैदानिक, एक्सरे और विद्युत-हृदलेखी प्रमाण उपस्थित होते है और आधार पर प्रकुचनीमर्मर मिलती है जो ग्रीवा की वाहिकाओ मे चालित होती है। महाधमनी अपर्याप्तता के साथ सकीर्णता का होना और उसके विस्तार का ज्ञान बहुत आवश्यक है।

सर्जरी के परिणाम शुद्ध महाधमनी-सकीर्णता मे अथवा जिनमे अपर्याप्तता अल्पतम होती है उनमे, सबसे उत्तम होते हैं। कैथीटर-प्रवेशन अथवा हृदय के वाम ओर का वेधन (puncture) न केवल निदान की निश्चिति के लिए किन्तु महाधमनी-कपाटिका पर दाव-प्रवणता (pressure gardient) के ज्ञान के लिए भी अत्यन्त उपयोगी है। 60 मिमी० पारे की अथवा इससे अधिक प्रवणता सर्जरी की आवश्यकता की द्योतक है। 60 मिमी० पारे से कम की प्रवणता के रोगियो को निरीक्षण के लिए तब तक छोडा जा सकता है जब तक वाम निलयदाव की वृद्धि न हो।

शल्य चिकित्सा

महाधमनीकपाटिका तक वाम निलय या महाधमनी द्वारा पहुँचा जाता है। बेली के तीनफलको वाले (tribladed) विस्फारको या ब्रोकप्रख्प (Brock-type) द्वि-फलक विस्फारको के निलय द्वारा प्रयोग का अब त्याग किया जा रहा है। और विवृत-पारमहाधमनी-विधि अपनाई जा रही है। यह परिहृद् के एक नलीनिरोप (tubegraft of pericardium) द्वारा या एक डैक्रोन नली को आरोही महाधमनी पर लगाकर उसके द्वारा अगुलि या विस्फारक को प्रविष्ट करके, बिना देखे हुए भी किया जा सकता है। किन्तु विवृत-हृदय-शस्त्रकर्म-प्रविधि से, न्यूनताप (hypothermia) या हृदय-फुप्फुस-मेशीन का प्रयोग करके, कपाटिका का सुधार सर्वोत्तम है। महाधमनी-सकीर्णता के शस्त्रकर्म द्वारा सुधार के समय कपाटिका की अपर्याप्तता उत्पन्न कर देने की सम्भावना बहुत अधिक होती है जो केवल दृष्टिगत सर्जरी करने से बचाई जा सकती है। तीनों सयोजिकाओ का विभाजन ही उपयुक्त प्रतीत होता हे, यद्यपि कितनी ही बार दो सयोजिकाओ के विभाजन के भी उत्तम परिणाम होते है।

शस्त्रकर्म के परिणाम

महाधमनी की शल्य चिकित्सा किये हुए रोगियो मे 10 प्रतिशत की मृत्यु होती है। सतोपजनक सयोजिकाविभाजन से 80 प्रतिशत रोगी आरोग्यलाभ करते है। द्विकपर्दी सकीर्णता के भी उपस्थित होने पर प्रथम महाधमनीक्षति को सुधारा जाता है; उसके पश्चात् द्विकपर्दी संकीर्णता को सुधारते है। प्रायः दोनो क्षतियों का एक ही शस्त्रकर्म मे सुधार कर दिया जाता है।

महाधमनी-प्रत्यावहन (aortic regurgitation)

महाधमनी-प्रत्यावहन वहुत होता है और यह कपाटिकाओ का एक गभीर रोग है। यह रूमेटिज्म, सिफिलिस, एथीरोस्क्लिरोसिस या जीवाणुज अन्तर्हृद्-शोथ के कारण हो सकता है।

तीव्र महाधमनी-प्रत्यावहन हृद्-शल्यचिकित्सक के लिये एक वडा अभिग्रह (challenge) है, अभी तक इस दशा की किसी सतोपजनक चिकित्सा का अविष्कार नही हुआ है। इसके लिये कई विधिया निकाली गई हैं; उनमें सर्वोत्तम हुफनागेल (Hufnagel)-कपाटिका को लगाना है, जो अप्रतिकारी (non-reactive) प्लास्टिक पदार्थ की वनी हुई कन्दुक-कपाटिका (ball valve) होती है और केवल एक ही दिशा मे रक्त को प्रवाह करने देती है। उसको महाधमनीचाप से आगे महाधमनी का छेदन करके प्रविष्ट किया जाता है और विशेप प्लास्टिक के स्थिरकारी वलयो (rings) और सीवन द्वारा लगाया जाता है। शस्त्रकर्म को अतिन्यूनताप (hypothormia) मे किया जाता है जिससे महाधमनी पर सधर (clamps) लगाने से मेरुरज्जु की स्थानिक अरक्तता (ischaemia) हो जाने पर भी उसको क्षति न पहुँचे। हुफनागेल-कपाटिका यद्यपि महाधमनी मे रक्त को अग्रसर करने का अत्युत्तम काम करती है तथापि वह मस्तिष्क अथवा हृद्-परिसचरण (cerebral or coronary circulation) का अनुशिथिलन-रक्तदाव (diastolic blood pressure) नही वढाती, जिससे रोगी के जो अत्यन्त मार्मिक रोगग्रस्त क्षेत्र है, उनको लाभ नही पहुचता। अन्य प्रकार के शस्त्रकर्म भी किये गये है जिनमे टैन्टप्ररूप (tent type) भाग, या परिहृद् से वनाई हुई फ्लैप-कपाटिकाये (flap valves) या अन्य प्लास्टिकपदार्थ-कृत भाग लगाये गये हैं। ये कर्मविधियां अभी प्रयोगावस्था ही मे है और उनका नैदानिक प्रयोग अभी तक सतोपजनक और भयरहित नही प्रमाणित हुआ है।

कारोनरी हृद्रोग (coronary heart disease)

कारोनरी हृद्रोग की शल्य चिकित्सा नई नही है। सन् 1930 मे हृत्पेशी के पुन रक्तसचरण का उद्योग किया गया था। और इस सम्बन्ध मे ओ'शौगनेशी (O' Thaughnessy) का अद्भुत कार्य आज भी अन्वेषको के लिये पथप्रदर्शक है। रक्तसभरण को उन्नत करने के लिये किए गए भिन्न-भिन्न शस्त्रकर्मों का विस्तृत वर्णन इस पुस्तक से वाह्य विषय है; यहा केवल उनके सिद्धान्तो को अकित किया गया है।

(1) अन्तराहृद्धमनी जालिकाओ (intercoronary plexuses) को विस्तृत करने के उद्योग। ओशौगनेसी द्वारा आविष्कृत हृद-वपामीवन (cardio-omentopexy) अन्य आधुनिक नवीन अविष्कारो का पुरोगामी था, उदाहरण-रूप उर.-छदिका पेशी को हृदय के अनावृत पृष्ठ पर लगाना, जो उसी के सिद्धान्तानुसार किया गया।

(2) परिहृद् कोश के भीतर क्षोभ उत्पन्न करने वाले पदार्थों को प्रविष्ट करना जिसमे परिहृद और हृदय के वीच आसजन वन जाये।

(3) आभ्यन्तर-स्तनधमनी (internal mammary a) को हृत्पेशी में आरोपित करना।

(4) आभ्यन्तर-स्तनधमनी का वधन करके हृद्वाह्य रक्तसचार को अन्तर्हृद् रक्तसचार वनाना। परिहृद्-मध्यच्छद (pericardio-phrenic) धमनी (जालिका मे भाग लेने वाली एक धमनी) दूसरे पर्शुकान्तराल में आभ्यन्तर स्तनधमनी के वधन से दक्षिणहृद्धमनी (right coronary a.) से सम्मिलन करने लगती है।

(5) हृद्-शिरानाल (coronary venous sinus) का धमनीकरण (arterialisation), आरोही महाधमनी और हृद्शिरानाल को एक वाहिका-निरोप (vascular graft) द्वारा जोडने और हृद्शिरानाल का आशिक अन्तर्रोध करने से।

दो और आयोजन भी गत वर्षो मे किये जा चुके है, एक सम्पूर्ण अवटु-कोच्छेदन (total thyroidectomy) जिससे आधारी चयापचयदर (basal metabolic rate) के कम हो जाने से हृदय का कार्यभार (work load) कम हो जाता है, इससे हृद्शूल के लक्षण घट जाते है। दूसरा आयोजन दूसरी, तीसरी और चौथी उरोतन्त्रिकाओ और आठवी ग्रैव तन्त्रिका और शृखला का उभय पार्श्वी अनुकपी उच्छेदन (sympathectomy) है। यह केवल हृद्वेदना-तंतुओ का अवरोध करके हृद्शूल के लक्षणो को दूर या कम करता है। इन

दोनो आयोजनो को अब नही किया जाता ।

सर्वोपरि यह कहा जा सकता है कि कारोनरी हृद्रोग के लिये हृद्शल्य चिकित्सा अभी तक किसी संतोषजनक आयोजन का आविष्कार नही कर सकी है । हाल ही में वेली और उसके सहायकों ने हृद्वाहिकाओं पर कुछ शस्त्रकर्म किये है और घनास्त्रयुक्त अन्तर्धमनी-उच्छेदन (thromboendarterectomy) से लाभ रिपोर्ट किया है ।

हृद्रोध
(Heart block)

कुछ प्रकार के हृद्रोधो के लिये, जो कारोनरी हृद्रोगो या विसरित हृद् विकृति (diffuse myocardial pathology) से उत्पन्न होते है, कृत्रिम इलैक्ट्रानिक गतिप्रेरक (electronic pacemaker) का प्रयोग एक नया आविष्कार है । सूक्ष्म धातुकृत इलैक्ट्रोड हृदय मे आरोपित कर दिये जाते है और एक विशेष इलैक्ट्रो-निक सर्किट (परिपथ) द्वारा, जो अत्यन्त लघु ट्रांजिस्टरों का बना होता है और वास्तव मे एक लघु ऐम्प्लीफायर है, तालबद्ध उद्दीपन (rhythmic stimuli) शिरानाल-अलिन्द (sino-atrial) और अलिन्द-निलय पर्वो (atrioventricular nodes) में भेजे जाते है । यह रोगी के हृदय मे लगा रहता है । इसके परिणामो की अत्यन्त सन्तोषजनक रिपोर्ट की गई है; जिन रोगियो मे कोई आशा नही थी उनका जीवनकाल प्रलम्बित हो गया और हृदय की कार्यक्षमता बढ गई ।

विवृत हृद्सर्जरी
(Open heart-surgery)

हृद्रोगो का विषय हृदय को खोलकर और देखकर शस्त्रकर्म करने का कुछ उल्लेख किये बिना अपूर्ण रह जाता है । कपाटिकाओ पर ठीक-ठीक प्रक्रिया, पटदोषो का सुधार और अवरोधो का अपहरण तभी सम्भव हो सकते है जब सर्जन को शस्त्रकर्म के लिये पर्याप्त समय मिल सके और वह देखकर शस्त्र कर्म कर सके । अभी इस प्रश्न को हल करने की दो विधिया प्राप्त है, एक ताप-न्यूनता (hypothermia) करके हृदय मे आने वाले (और जाने वाले) रक्त का अन्तर्रोध, और दूसरे हृदय-फुप्फुस-मेशीन का प्रयोग करके पूर्ण हृद्-फुप्फुसी पार्श्वपथ बना देना ।

तापन्यूनता (hypothermia)

तापन्यूनता का प्रथम बार सन् 1950 मे विगेली ने सर्जरी मे प्रयोग किया था। गाढ संवेदनाहरण या पेशी को शिथिल करने वाले (relaxant) पदार्थो के प्रयोग से वाह्य शीनकरण की नियततापी (warm blooded) प्राणियो में होने वाली अनुक्रिया (response) को मिटा दिया जाता है। शरीर को वर्फ के जल मे डुवा कर या शरीर को ठडे कम्वलो से लपेटकर उसका ताप घटाया जाता है जव तक कि शरीर के तापनियन्त्रण की क्रियाविधि वदलकर शीत-निष्क्रियता (hibernating)-काल के जन्तु की क्रियाविधि के समान नही हो जाती। प्रत्येक सेन्टीग्रेड डिग्री ताप के घटने से आधारी चयापचय दर (basal metabolic rate) 7 प्रतिशत घट जाती है। ऐसी दशा मे जव ताप और चयापचय दोनो घट जाते है तो दोनो महाशिराओ मे कुछ समय के लिये अन्तर्रोध किया जा सकता है जिससे हृदय-कोष्ठ रिक्त हो जाते हैं। तव हृदय से वहि प्रवाह को रोकने के लिये फुप्फुमी धमनी और महाधमनी पर सधर लगा दिये जाते है जिससे वायु-अन्त शल्यता (air embolism) न होने पाये। तव हृदय को खोलकर कुछ समय तक दृष्टिगत सर्जरी, मस्तिष्क को हानि पहुँचाये विना, की जा सकती है। मस्तिष्क की आक्सीजन की माग भी शरीर की मांग के साथ घट जाती है।

ताप-न्यूनता से भयकर हृद्‌विकारो के होने की सम्भावना रहती है, जैसे, निलय-विकपन। इस कारण सामान्य प्रकार के विवृत हृद्‌शस्त्रकर्मो मे न्यून-ताप मे शरीरताप को 29 से० से कम न घटाना चाहिये।

शरीरवाह्य रक्तपरिसंचरण (extracorporeal circulation)

हृदय-फुप्फुस-मेशीन का गिव्वन (Gibbon) ने आविष्कार किया था। अव सव ही देशो के आविष्कर्त्ताओ ने उसका वहुत परिष्कार किया है। उसमे रक्त-पम्प [(सिमामोटर या घूर्णनी (rotory) प्ररूप] होता है और रक्त को आक्सीजन देने के लिये एक कृत्रिम फुप्फुस होता है। आक्सीजन देने वाले यन्त्र (oxygenetors) कितनी ही प्रकार के होते है और प्रत्येक मे उनके गुण और अवगुण होते है। वक्ष को खोलकर महाशिराओं मे केनूलाओं (canulae) को लगाकर हृदय और फुप्फुस के वाहर ही से सारा रक्त कृत्रिम फुप्फुस मे भेज दिया जाता है और आक्सीजनयुक्त रक्त को किसी दैहिक धमनी जैसे द्वारा, और्वी धमनी द्वारा, महाधमनी मे पम्प कर दिया जाता है।

जिन विवृत हृद्-शस्त्रकर्मो में वहुत समय लगता है उनसे हृद्‌घातकारी

(cardioplegic) विलयन (पोटासियम साइट्रेट) को महाधमनी मे प्रविष्ट करके कारोनरी परिसंचरण मे उसका द्रवनिवेशन (perfusion) किया जाता है जिससे हृदय का सरोध या विराम (arrest) हो जाता है। हृदय-फुप्फुस-मेशीन द्वारा शरीर मे आक्सीजनयुक्त रक्त का निवेशन करते रहने से हृदय को एक घटे तक विराम अवस्था मे रखा जा सकता है। कभी-कभी इस विधि के साथ तापन्यूनता का भी उपयोग किया जाता है। इस प्रकार कृत्रिम अनुशिथिलन-सरोध (artificial diastolic arrest) करके हृद्छेदन (cardiotomy) और अन्तर्हृद्-दोषो का सुधार सरल हो जाता है और जटिल असगतियो को भी सुधारा जा सकता है। किन्तु हृदय-फुप्फुस-मशीन के उपयोग के लिये अत्युत्तम प्रथम श्रेणी के सगठन की आवश्यकता होती है और इस कारण उसका प्रयोग केवल सुव्यवस्थित केन्द्रो ही मे सीमित है।

परिहृद्

किसी अन्य सीरमी गुहा (serous cavity) के समान परिहृद् मे, सीरमी, सीरम-पूययुक्त अथवा रक्तस्रावी तरल एकत्र हो सकता है।

हृद् टैम्पोनाड (curdiac tamponnade)

यह दशा हृदय की वेधक क्षतियो या हृदय के शस्त्रकर्मो मे मिलती है। परिहृद्कोश मे तरल के शीघ्रता से एकत्र होने से हृदय पर दवाव पडता है जिससे अनुशिथिलन अवस्था (diastole) मे कोष्ठ भरने नही पाते। स्तब्धता के समान दशा, शिरा रक्तदाव की वृद्धि और धमनी-रक्तदाव का ह्रास इस दशा के सूचक लक्षण है। हृद्-अननुनादी क्षेत्र (cardiac dullness) वढ़ जाता है और हृद्ध्वनि मन्द हो जाती है। प्रतिदीप्ति पट द्वारा देखने से हृदय की छाया प्रसामान्य या विवर्धित दीख सकती है जिसमे मन्द स्पन्दन होते है। परिसरी नाडी दुर्वल और विरोधाभासी (paradoxical), अर्थात् प्रश्वास मे दुर्वल, होती है।

चिकित्सा

परिहृद् के आचूषण (aspiration) से तत्काल शमन होता है। यदि लक्षणो की पुनरावृत्ति हो तो परिहृद् का अन्वेपण आवश्यक है।

परिहृद् का आचूपण, एक सूचिका को उरोस्थि-पत्रक (xiphoid process)

के पार्श्व से ऊपर तथा पीछे की दिशा मे, त्वचा से 45 डिग्री कोण पर, प्रविष्ट करके, किया जा सकता है। इसमे प्लूरा या कारोनरी वाहिकाओं के क्षत होने का भय नही होता।

तीव्र परिहृद्-शोथ (acute pericarditis)

तीव्र परिहृद्-शोथ रूमेटिज्म या वाइरस के कारण होता है, अथवा वह पूतिजीवरक्तता (septicaemia), पूयरक्तता (pyaemia), निमोनिया अथवा एम्पायीमा का उपद्रव हो सकता है। लक्षण अल्प होते हैं जैसे ज्वर, हृत्-क्षिप्रता, श्वास-अल्पता या लघुश्वासता और उरोस्थिपश्च-वेदना। प्रारम्भ मे घर्षण ध्वनि (friction rub) सुनाई दे सकती है। तरल की अतिमात्रा के एकत्र हो जाने पर वेदना जाती रहती है। किन्तु नि सरण के फाइब्रिनी होने पर हल्की

चित्र 246—यक्ष्माजन्य सकीर्णक परिहृद्शोथ। परिहृद् अत्यन्त स्थूल हो गया है। स्थूलभूत अधिहृद्-स्तर (thickened epicardial layer) भी दीख रहा है।

चित्र 247—संकीर्णक परिहृद्शोथ। परिहृद् का कैल्सीभवन देखो।

वेदना दीर्घकाल तक बनी रह सकती है। अतिद्रुत तरल संग्रह से हृदय का टेम्पोनाड हो सकता है। एक्सरे-परीक्षा से एक बड़ी नाशपाती के आकार की हृदय की रूपरेखा दिखाई देती है और विद्युत् हृद्लेख मे एस० टी० खंडांश का उन्नयन दिखाई देता है।

चिकित्सा

सरक्षी-आचूषण-चिकित्सा और प्रतिजीवियों के प्रयोग से बहुधा सफलता होती है। आचूषण के पश्चात् कोई उपयुक्त प्रतिजीवी परिहृद्कोष मे इजैक्शन द्वारा प्रविष्ट किया जा सकता है। यदि कई बार आचूषण करने पर भी सफलता नही होती तो परिहृद् का निर्हरण (drainage) आवश्यक है।

चिरकालीन संकीर्णक परिहृद्शोथ—पिक का रोग
(chronic constrictive pericarditis—Pick's disease)

इस रोग का सबसे बड़ा कारण यक्ष्माजन्य परिहृद्शोथ (tuberculous pericarditis) होता है (चित्र 246, 247)। कभी-कभी सपूय (purulent)

परिहृद्शोथ अथवा परिहृद् में आघातजन्य रक्तस्राव से भी रोग हो जाता है। परिहृद् मोटा पड़ जाता है और उसका कैल्सीकरण हो सकता है। दृढ़ अप्रत्यास्थ (inelastic) परिहृद्महाशिरा या निलयों को दबाकर उनको भली-भांति नही भरने देता। इस चिरकारी हृद्संपीडन के लक्षण हृदय का प्रसामान्य या कुछ विवर्धित होना, शिरा-रक्तदाब की वृद्धि, यकृत का विवर्धन और जलोदर (ascites) हैं। ग्रीवा शिरायें रक्तसंकुलित होती हैं और फुप्फुस में निःस्राव उपस्थित हो सकता है। रक्तदाब न्यून होती है; नाड़ी का आयतन भी न्यून होता है। प्रतिदीप्ति पट में हृत्-स्पन्दन कम या अनुपस्थित होते हैं और काइमोग्राम से तरंगण (undulations or excursion) कम होने का निश्चय होता है। अनेक बार परिहृद् का कैल्सीभवन दीखता है।

चिकित्सा

चिकित्सा का केवल उपाय शस्त्रकर्म द्वारा संकीर्णक परिहृद् का अपहरण है। इससे शिराओं और हृदय पर की दाब दूर हो जाती है और हृत्कोष्ठों में रक्त सामान्य प्रकार से भरने और उनसे निकलने लगता है।

रक्तवाहिकायें

शिरायें (veins)

शिरायें रक्त को लौटाकर हृदय में लाने वाली नलिकायें हैं। धमनीरक्त के कोशिका-शैया (capillary bed) में प्रवाह करने के पश्चात् अवशिष्ट बल (residual force) शिराओं में रक्त के प्रवाह के लिये उत्तरदायी होता है। श्वसन की चूषणक्रिया, (sucking) कंकाली पेशियों का संकोच, और शिराओं में कपाटिकाओं की उपस्थिति, ये सब भी प्रवाह में सहायक होते हैं। अधरांगों की शिराओं में रक्तप्रवाह गुरुत्व के विरुद्ध दिशा में होता है।

शिरा का पेशीकंचुक धमनी के पेशीकंचुक से पतला होता है। वह न दृढ ही होता है और न संकोच ही कर (contractile) सकता है। इस कारण शिरा में प्राय आकर्ष नही होता। शिरा में रक्तदाब बढ़ने से वे सहज ही में विस्फारित हो जाती है और रक्तदाब के बहुत समय तक बढे रहने से शिरा का पेशीकंचुक पतला होकर फैल जाता है; उसकी तान (tone) भी जाती रहती है। जिससे शिरायें कुटिल (tortuous) हो जाती हैं और फूल जाती हैं। उदर, वक्ष और कपाल की शिराओं में कपाटिकायें नहीं होती।

अगो की शिराओं मे कपाटिकाये होती है और वे इस प्रकार स्थित होती है कि वे रक्त को केवल हृदय ही की ओर प्रवाह करने देती है, विरुद्ध दिशा मे नही । मुख्य शिराओ मे कपाटिकाये अनियमित प्रकार से स्थित हैं, किन्तु प्राय वे उपरिस्थ और गभीर शिराओ के सगम पर स्थित होती है ।

अधरांगों की शिरायें (veins of lower limbs)

अध.शाखा मे शिराओ के दो समूह है · (1) उपरिस्थ या अध.शाखीय (saphenous system) शिरा तत्र, जो त्वचा और प्रावरणी के वीच स्थित है और अनाश्रित है, और (2) गभीर या और्वी (femoral) तत्र जो प्रावरणी अवकाशो मे और पेशियो के वीच स्थित है ।

दोनो तन्त्र दो स्थानो मे आपस मे सयोजित है, वृहत अध शाखीय शिरा (greater saphenous v.) और और्वी शिरा (femoral vein) अडाकार खात (fossa ovalis) मे सगम करती है, और लघु अध शाखीय शिरा (lesser saphenous v.) और जानुपृष्ठ-शिरा (popliteal vein) का सगम जानुपृष्ठ-खात मे होता है । दोनो शिराओ के बीच मे अन्य सयोजी शिरायें भी है और उनमे कपाटिकाये है ।

जघा की गभीर शिराये धमनी के साथ रहती है ।

साधारणतया खडे होने पर अध शाखा मे शिरीय रक्तदाव सवसे अधिक होती है और जघा को ऊपर को उठा देने पर न्यूनतम हो जाती है । कपाटिकाओ के अक्षम होने से खडे होने पर दाव सामान्य की अपेक्षा अधिक हो जाती है ।

अपस्फीत शिरायें (varicose veins)

विस्फारित (dilated) और कुटिल (tortuous) शिरा अपस्फीत शिरा कही जाती है । यह दशा साधारणतया अध शाखा मे होती है किन्तु ग्रास-प्रणालजालिका (oesophageal plexus), मलाशयी (haemarrhoidal), तथा शुक्रवहा (spermatic) शिराओ मे भी पाई जाती है ।

हेतुकी

अपस्फीत दशा का मुख्य कारण उपरिस्थ और गभीर शिराओं के सयोजनो पर स्थित कपाटिकाओ की अक्षमता होती है जिससे उपरिस्थ शिराओ मे रक्त अधिक दाव से भरता है । कारण के अनुसार अपस्फीत शिराये प्राथमिक

या द्वितीयक हो सकती है। प्राथमिक प्रायः [illegible] में होती है और शिराओं की भित्ति तथा कपाटिकाओं की दुर्बलता उसका कारण मानी जाती है। दुर्बलता आनुवंशिक हो सकती है; अपस्फीत शिराओं को बहुधा परिवारों में होते देखा जाता है। द्वितीयक अपस्फीत शिरायें गभीर शिराओं में अवरोध होने के कारण उपरिस्थ शिराओं में रक्तभार के बढ़ने से होती हैं। गभीर शिराओं का अवरोध उनमें घनास्रता (thrombosis) होने से उत्पन्न हो सकता है अथवा उन पर बाहर से भार पड़ने से, जैसे, गर्भिणी स्त्रियों या श्रोणि के अर्बुद से उनमें रक्तप्रवाह अवरुद्ध हो सकता है।

जिन व्यवसायों में अधिक खड़ा होना पड़ता है उनमें अपस्फीत शिराओं की प्रवृत्ति हो जाती है।

विकृति

सूक्ष्मदर्शन द्वारा देखने से विस्फारित, कुटिल, मोटी हुई शिराओं की भित्तियों में पेशी-अतिवृद्धि तथा [illegible] और दोनों साथ-साथ दिखाई देते हैं। उनमें विस्तृत तन्तुमयता और कभी-कभी घनास्रता के निशान दीखते हैं।

लक्षण

अल्पतम अपस्फीति वाले रोगियों में उग्र लक्षण हो सकते हैं, जब कि स्पष्ट कुटिल शिरा के रोगियों में कोई लक्षण न हों। प्रारम्भिक लक्षण अंगों में श्रम तथा वेदना का अनुभव है। और खड़े रहने के पश्चात् भारीपन मालूम होता है। अतिस्फीत शिराओं के क्षेत्र में तीव्र वेदना हो सकती है।

निदान

दैहिक रोग, परिसरीय वाहिकारोग अथवा उदर के अर्बुदों को पहचानने के लिये पूर्ण शारीरिक परीक्षा आवश्यक है। रोगी को खड़ा करके उत्तम प्रकाश में उसकी परीक्षा की जाय जिससे अपस्फीत शिराओं की स्थिति और उनका विस्तार मालूम हो सके। अक्षम (incompetent) कपाटिकाओं की स्थिति और गभीर शिराओं का अनवरोध (patency) जानना भी आवश्यक है।

ट्रेन्डिलिनबर्ग-जांच (Trendelenburg test)—इससे अक्षम कपाटिका की स्थिति मालूम की जाती है। रोगी को बिठा या लिटाकर टांग को श्रोणि से ऊपर उठाया जाता है जिससे गुरुत्व से उपरिस्थ शिरायें रिक्त हो जाती हैं। परीक्षक अपनी अंगुलियों से या टूर्निके द्वारा अण्डाकार खात को दबाये रखता है

और रोगी को खड़ा कर दिया जाता है। यदि अध.शाखा-और्वी (sapheno-femoral) कपाटिका अक्षम है तो एक या दो मिनट तक शिराये रिक्त रहेगी और तब नीचे से ऊपर को भरना प्रारम्भ करेगी। नीचे की ओर से द्रुत गति से भरना संकीर्णता (constriction) से नीचे की वेधक शिराओं (perforating veins) की अक्षमता का द्योतक है। टूर्निके को नीचे के तलों (levels) पर लगाकर इस प्रयोग को कई बार करने से अक्षमता की अन्य स्थितिया भी मालूम हो सकती है (चित्र 248)।
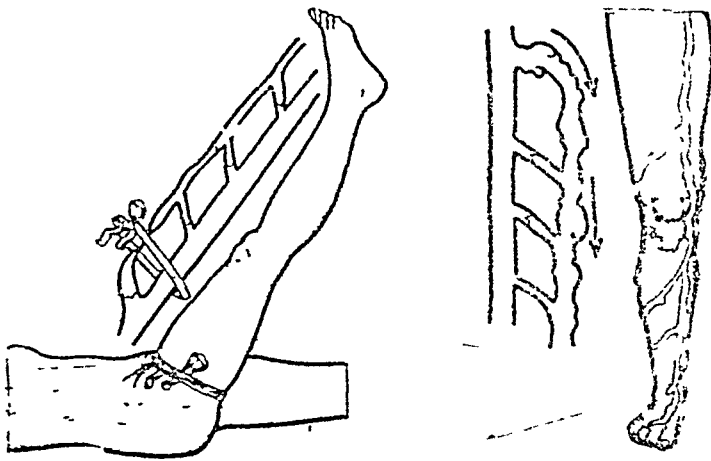
चित्र 248—अपस्फीत शिराओ मे ट्रेन्डिलिनबर्ग-परीक्षण।

पर्थे की जांच (Perthe's test)—गभीर गिरातन्त्र की क्षमता या अनवरोध को मालूम करने के लिये यह जाच की जाती है। अध शाखा-शिरा-कांड को टूर्निके द्वारा सम्पीडित कर दिया जाता है और रोगी को टहलाकर जघा का व्यायाम कराया जाता है। यदि गभीर शिराओ मे कोई अवरोध नही है तो अपस्फीत शिराये नही फूलती, व्यायाम से रक्त गभीर शिराओ मे चला जाता है। किन्तु गभीर शिराओ मे अवरोध होने पर अपस्फीत शिराये फूल जाती है और रोगी वेदना अनुभव कर सकता है।

उपद्रव

अपस्फीत व्रण (varicose ulcer)—गुल्फिकाओ (malleoli) के ऊपर जघा के निम्न भाग मे अपस्फीत व्रण साधारणतया वन जाते है। व्रणो के वनने के पूर्व यहा की शिराओ मे रक्त भरा रहता है (स्थितिकता), इससे त्वचा मे

भूरे मे रंग की वर्णकता (pigmentation) हो जाती है और तंतुमयता होकर त्वचा पतली पड़ जाती है, कभी-कभी वहां विस्कारी शोफ होता है जो संध्या को अधिक हो जाता है। यह माना जाता है कि गुल्फिकाओं के ऊपर के क्षेत्र मे त्वचा के अल्प रक्तसंचरण के कारण व्रण होता है और उसके नीचे की शिराओं का परिशिराशोथ (periphlebitis) त्वचापोषक रक्तसंचार को और भी बन्द कर देता है। ऐसे त्वचाक्षेत्र पर अभिघात से उत्पन्न क्षोभ के कारण त्वचावस्तु के गलने से व्रण बन जाता है जिसका शीघ्र विरोहण नहीं होता। अपर्याप्त चिकित्सा के पश्चात् प्रत्येक बार व्रण के पुनरावर्तन से नया तान्तव ऊतक बनता है जिससे व्रण की तन्तुमयता बढ़ती चली जाती है और ऊतकों की दुर्बलता भी बढ़ती रहती है जिससे वहां नये व्रण बनने की प्रवृत्ति होती है।

अपस्फीत शिराओं का विदर (rupture)—यह बिना किसी चेतावनी के अकस्मात हो सकता है। जिससे वेदनाहीन रक्तस्राव हो सकता है। अंग को ऊँचा उठाकर और कस कर पट्टी (pressure bandage) बांधने से रक्तस्राव को रोका जा सकता है।

घनास्रयुक्त शिराशोथ (thrombophlebitis)—यह उपद्रव बहुत होता है। इसका कारण वहां रक्त का जमा रहना और अभिघात होते हैं, संक्रमण इतना भाग नही लेता। उससे वेदना, लालिमा और शिरा पर की त्वचा का मोटापन या दृढ़ता होते हैं।

त्वक्-शोथ (dermatitis)—वहां की त्वचा चर्मवत (leathery), शल्काच्छादित (scaly) और विवर्णित हो जाती है अथवा शोथयुक्त हो सकती है जिसमे खुजली होती रहती है। व्रण और घनास्रयुक्त शिराशोथ जंघा के निम्न तृतीयांश मे होते हैं।

चिकित्सा

कारण, मालूम होने पर, दूर किया जाय। अनुग्र रोग मे प्रत्यास्थ (elastic) मोजा या अंगूठे से ऊरु तक क्रेप की पट्टी लगाने से उपरिस्थ शिराओं के सम्पीडन से लाक्षणिक शमन होता है।

इंजैक्शन चिकित्सा—इसमे काठिन्यकर विलयन (sclerosing solution) को शिरा मे प्रविष्ट किया जाता है जिससे अन्तःकंचुक (intima, inner coat) क्षत हो जाता है और वहां दृढ घनास्रता होने के पश्चात् तन्तुमयता (fibrosis) हो जाती है। यह कृत्रिम घनास्र (thrombus) बड़ा सलग्नशील

(tenacious) होता है और उसके पृथक होकर रक्त मे प्रवाहित होने का वहुत कम अवसर रहता है। रोगी को खड़ा करके, विना टूर्निके लगाए इंजैक्शन दिया जाता है। अधस्त्वक्-ऊतक मे विलयन लीक न होने पाए, नही तो उससे तीव्र विक्षोभ होगा जिससे वहाँ की त्वचा तक गल सकती है। प्रति-सप्ताह इंजैक्शनो को दोहराया जाता है। इन विलयनो का प्रयोग किया जा सकता है—अतिपरापसारी ग्लूकोज (hypertonic glucose) मोनो-एथायलोलेमीन ओलियेट (एथमोलीन), सोडियम सैलीसिलेट, क्विनीन यूरीथेन और सोडियम मोरूएट (Sodium morrhuate)। अध.शाखा और्वी (sapheno-femoral) या सयोजी कपाटिकाओ के अक्षम होने पर इजैक्शन चिकित्सा काम नही करती। वाह्य अध शाखा की अपस्फीतियो (external saphenous varices) मे या जव थोड़ा ही शिराक्षेत्र ग्रस्त हो और ट्रैडिलिन वर्ग जाँच से कपाटिकाएँ सक्षम पाई जाएँ तो भी इंजैक्शन चिकित्सा से लाभ होता है।

शल्य चिकित्सा—इसमे अध शाखा-शिरा और और्वी शिरा के सगम पर वधन करके उसको विभक्त किया जाता है। जितनी सहायिकाएँ अध.-शाखा-शिरा मे जा रही हो, उन मभी का वधन और विभाजन आवश्यक है। उसके पश्चात् शिरा को वक्षण से गुल्फ (ankle) तक पृथक करके निकाल दिया जाता है। उससे सम्वन्धित अन्य अपस्फीत शिराओ को पृथक-पृथक छेदन द्वारा निकालना भी आवश्यक है। तीव्र घनास्री शिराशोथ होने पर इजैक्शन या शल्य चिकित्सा न की जाय।

शिरीय घनास्रता (Venous thrombosis)

शिरा मे रक्त की घनास्रता एक उग्र दशा है। उसके तीन मुख्य कारण होते है: (1) रक्त की आतचनता (coagulability) का वढ जाना जो अभिघात के पश्चात् या अरक्तता (anaemia) के कारण होती है; (2) रक्त के प्रवाह का धीमा हो जाना, जो हृद्रोग, निर्जलता या दीर्वकालीन अचली-करण से हो सकता है, और (3) शिरा के अन्त.कचुक का अभिघात या सक्रमण से क्षत होना।

शिरा, घनास्रता के अतिरिक्त-शोथ (भिन्न-भिन्न डिगरी का) हो सकता है जिससे लक्षणहीन शिराघनास्रता (phlebothrombosis) या पूतित घनास्र-युक्त शिराशोथ होना सभव है।

शिराघनास्रता, (Phlebothrombosis) या *bland thrombosis* सौम्य घनास्रता

शिराघनास्रता मे शोथ सदा अनुग्र (mild) होता है, रक्त-आतञ्च (clot) भी नरम होता है तथा शिराभित्ति से विच्छिन्नतया लगा रहता है। साधारणतया वह जघापिड (calf) की गम्भीर शिराओ मे बनना प्रारम्भ करता है, कभी-कभी अन्य शिराओ मे भी बनता है और ऊपर की ओर बढ़ता रहता है, तथा मुख्य शिराओ मे विस्तृत हो सकता है; वह महाशिरा तक विस्तार कर सकता है। इस घनास्र का एक अश टूट कर फुप्फुसो मे पहुँचकर फुप्फुसी अन्त शल्यता (embolism) उत्पन्न कर सकता है।

आधुनिक चिकित्सा तथा निदान सम्बन्धी प्रगतियो के होने पर भी शिरा-घनास्रता, घनास्रयुक्त शिराशोथ तथा फुप्फुसी अन्त शल्यता मे कोई कमी नही हुई है।

लक्षण और चिह्न—शल्य और कायरोगो, दोनों, मे यह दशा होती है। कोई भी लक्षण न हो, प्रथम लक्षण फुप्फुस अन्त शल्यता हो सकती है; बहुत से फुप्फुसी अन्त शल्य (pulmonary emboli) स्थूल (massive) होते हैं और उल्लाघता काल (convalescence period) मे घातक प्रमाणित हो सकते है। अधिकतर रोगी को पाँव मे दर्द होना और जघा मे भारीपन तथा उसका कडा होना, ये लक्षण और चिह्न प्रतीत होते है। हल्का ज्वर, जघापिड में भारीपन तथा कुछ उष्णता हो सकती है। जानु का प्रसार करने पर पाँव के पदपृष्ठ-आकुचन से जघापिड मे पीड़ा (होमेन्स चिह्न) होती है। पाँव, गुल्फ और जघा पर हल्का शोफ हो सकता है। लोहित-कोशिका-अवसादन-दर (E. S. R.) बढ सकती है। शस्त्रकर्म के पश्चात् इस दशा की सम्भावना का ध्यान रखना चाहिए और यदि निदान हो जाय तो शीघ्र ही चिकित्सा प्रारम्भ करनी चाहिए।

घनास्रयुक्त शिराशोथ (thrombophlebitis)

इस दशा मे घनास्र बनने के अतिरिक्त शिरा का और उसके चारो ओर की सरचनाओ का तीव्र शोथ होता है। यह दशा विशेषतया प्रसव या सक्रमण-सम्बन्धी शस्त्रकर्म के पश्चात् होती है और प्राय शस्त्रकर्म या प्रसव के पश्चात् 5 से 15 दिनो मे उत्पन्न होती है। कभी-कभी बिना किसी प्रवर्त्तक कारण के रोग उत्पन्न हो जाता है। ऐसा अधस्त्वक् घनास्र-शिराशोथ होने पर उदर मे किसी दुर्दम रोग के होने की सम्भावना का ध्यान रखना चाहिए, विशेषकर

अग्न्याशय की काय और पुच्छ के दुर्दम रोग का।

लक्षण और चिह्न—उपरिस्थ घनास्त्रशिराशोथ से लालिमा, स्थानिक ऊष्मा, वेदना, ज्वर, द्रुत नाडी, लोहिताणु अवसादन-दर की वृद्धि और श्वेत कोशिका-वहुलता (leucocytosis)—ये सव उत्पन्न होते है। गभीर शिराओ की घनास्त्रता को मालूम करना कठिन हो जाता है, वे केवल शारीरिक लक्षण उत्पन्न करती है, स्थानिक लक्षण नही होते।

रोगक्रम और उपद्रव

पूर्ण आरोग्य लाभ—कुछ समय मे पूर्ण रोगशमन हो जाता है; कुछ मे ग्रस्त अंग मे कुछ समय तक शोफ वना रहता है, किन्तु वह भी अन्त मे शान्त हो जाता है। घनास्र-शिराशोथ के एक आक्रमण से और आक्रमण होने की, विशेपकर शस्त्रकर्म के पश्चात्, प्रवृत्ति उत्पन्न होती है।

चिरकालीन शिरा-अपर्याप्तता—वहुत वार घनास्रता का प्रथम लक्षण वेदनायुक्त श्वेत-जघा (white leg) होती है जो प्रसव या शस्त्रकर्म के पश्चात् शैया से वाहर निकलने पर उत्पन्न होती है। इसका पूर्ण शमन हो सकता है या वह आजीवन वनी रहे, अथवा दशा और वढ कर शिरारोध (venous blockage) उत्पन्न कर सकती है जिससे द्वितीयक अपस्फीत शिराये वन जाती है और जघा के निम्न भाग मे रक्त रुक जाता है। त्वचा पतली और चमकीली हो जाती है और तनिक से आघात से चिरकारी व्रण तथा सक्रमी त्वक्-शोथ हो जाते है। लसीका-अवरोध होने से त्वचा मोटी हो सकती है और उसकी अत्यन्त वृद्धि से श्लीपद (elephantiasis) तक हो जाता है।

फुप्फुसी अन्तःशल्यता (pulmonary embolism)—विना किसी चेतावनी के शिराघनास्रता का अनुसरण फुप्फुसी अन्त शल्यता कर सकती है। लघु फुप्फुसी अन्त शल्यता रोधगलन (infarction) उत्पन्न करती है, लगभग 20-25 प्रतिशत मे प्रथम अन्त.शल्य (embolus) घातक होता है। फुप्फुसी अन्त शल्यता होने पर वक्ष मे अकस्मात तीव्र सकीर्णक (दवोचती हुई सी) वेदना होती है, श्वास लेने मे वेदना होती है और स्तव्धता तथा श्यावता हो जाती है। रक्तनिष्ठीवन (haemoptysis) या रक्तमिश्रित झागदार कफ निकलता है। परीक्षा करने पर स्थानिक स्पर्शासहता और प्लूराघर्षण (rub) प्रतीत होती है। एक्सरे मे रोधगलन-सूचक छाया दिखाई दे सकती है। स्थूल या अति अन्त शल्यता से कुछ मिनट मे मृत्यु हो सकती है अथवा रोगी कई घटे

तक स्तब्धता की दशा मे रह सकता है। स्थूल फुप्फुसी अन्त.शल्यना मुख्य फुप्फुस-धमनी का रोध करने के कारण प्राय: घातक होती है। कुछ सफल फुप्फुसी अन्त.शल्योच्छेदन शस्त्रकर्मों की रिपोर्टें मिली है।

स्थूल या वहु घनास्रता (massive thrombosis)—यह विरल दशा है जिसमे जघा की प्राय सब ही शिराओ का अन्तर्रोध हो जाता है जिसमें जंघा मे गहरी श्यावता (cyanosis) हो जाती है; वह सूज जाती है और अत्यन्त वेदनायुक्त हो जाती है। यह सब कुछ ही घटों मे हो जाता है। तीव्र स्तब्धता हो सकती है और अग का कोथ (gangrene) हो सकता है।

चिर-शिरा-अपर्याप्तता से शिराशोथोत्तर जंघा (post-phlebitic leg *from chronic venous insufficiency*)—इन रोगियो को खड़े होने पर वेदना होती है और शोफ हो जाता है; त्वचा की विवर्णता हो या न हो। उनको गुल्फ या जघा के निम्न भाग पर अभिघात से बचना चाहिये। बहुत समय तक खडे होने से दशा बढ जाती है; बैठने की दशा मे भी जंघाओ को उठाकर रखना चाहिये। प्रत्यास्थ मोजो (elastic stockings) का प्रयोग उपयोगी है।

चिकित्सा

रोगी मे शिराघनास्रता होगी या नही इसे पहले जानने की कोई विधि नही है। स्तब्धता न होने देना, रक्त-पुनराधान (replacement), कसकर पट्टी न बाधना जिससे रक्त प्रवाह रुकने न पाये, उदर-आध्मान को रोकना और शीघ्र ही रोगी को चलाना रोग को रोकने के उपाय है। जिन रोगियों मे घनास्रता का इतिवृत्त मिले उनको शस्त्रकर्म के पश्चात् आतचनरोधी (anti-coagulants) औषधियों के प्रयोग का सब ही विद्वान परामर्श देते हैं। यदि जघा की गभीर शिराओ की घनास्रता का निदान हो जाय तो जघाओ पर, पादागुलियों से लेकर ऊरुमूल (groin) तक प्रत्यास्थ पट्टी लगा दी जाय और आतचन-रोधी चिकित्सा प्रारम्भ की जाय। यदि आतचनरोधी चिकित्सा पर भी घनास्रता हो जाय तो अध शाखा और और्वी शिराओ के सगम से नीचे और्वी (femoral) शिरा का बन्धन (ligation), दोनो ओर करना चाहिये। तीव्र घनास्री शिराशोथ में प्रतिजीवियो के प्रयोग से सक्रमण का नियन्त्रण होता है।

स्थूल घनास्रता की चिकित्सा जघा को ऊपर को उठा देना, आतचनरोधी औषधियो का प्रयोग तथा स्तब्धताशमन है।

धमनियां (arteries)

धमनियें और धमनिकायें (arterioles) रक्त को हृदय से केशिकाओं तक ले जाने वाली नलिकायें हैं और रक्तदाव (blood pressure) के नियमन मे मुख्य भाग लेती है। प्रसामान्य धमनियाँ दृढ नलिकायें हैं जिनमें विस्तृत होने की अथवा चौड़ने की वहुत शक्ति होती है। धमनियो मे प्रत्यक्ष उद्दीपनों, जैसे आघात या शीत अथवा अनुकम्पी सक्रियता, के फलस्वरूप आकर्ष या सकुचन हो जाता है। वडी धमनियो की अपेक्षा छोटी धमनियो तथा धमनिकाओ के आकार मे अधिक परिवर्तन होता है; वड़ी पेशियो में रक्त पहुँचाने वाली धमनियो की अपेक्षा त्वचा, अधस्त्वक-ऊतकों और आशयों को रक्त पहुचाने वाली धमनियों के आकार मे अधिक परिवर्तन सभव है।

अधिकतर धमनी-रोगों मे, धमनी-अवकाशिकाओ (lumen) के सकीर्ण हो जाने के कारण अथवा धमनी-आकर्ष के कारण, अगो मे पहुंचने वाले रक्त की मात्रा घट जाती है। रक्तवाहिका-अपर्याप्तता का, उत्तम प्रकार से लिये हुए इतिवृत्त से तथा पूर्ण शारीरिक परीक्षा द्वारा निदान सहज मे हो जाता है। डाइविटीज मेलिटस, अतिरक्तदाव अथवा धमनीकाठिन्य (arteriosclerosis) है या नही, इसका ठीक निश्चय कर लेना चाहिये। रोग का प्रारम्भ और उसकी प्रगति, व्यायाम अथवा विश्राम से कोई परिवर्तन होता है या नही, लक्षण सदा एक समान रहते हैं या समय-समय पर प्रकट होते हैं, ये सव वाते भली-भाति मालूम कर लेनी चाहिये।

धमनी-अपर्याप्तता के लक्षण ठंडे हाथ-पांव, पीतवर्णता और श्यावता (pallor and cyanosis) अति स्वेदलता, तथा कभी-कभी झनझनाहट (tingling), है। हाथ तथा पावो की अगुलियो पर व्रण वन सकते है तथा उपरिस्थ कोथ के परिमित क्षेत्र वन जाते है, विस्तृत कोथ विरल है। चिरलोपी रोग (chronic obliterative) के लक्षण, श्रम और विश्राम, दोनों दशाओं मे समान रहते है। सविरामी खजता अनुभव होती है, अर्थात् कुछ दूर चलने पर, रोगी की टागो मे ऐंठन होने लगती है जो विश्राम से शीघ्र शात हो जाती है, किन्तु चलने पर फिर होती है।

परीक्षा

रोगी की शरीरिक परीक्षा करते समय हृदय और रक्त-वाहिकाओ की दशा का ज्ञान करना आवश्यक है। ऊर्ध्व और अधरांगो की परीक्षा से पेशियों का शोथ (atrophy) तथा त्वचा, नख और वालो मे शोषी परिवर्तन मालूम

हो सकते हैं। त्वचा की दशा, वह सामान्यतया गीली है, या शुष्क अथवा अतिआर्द्र है, और उसका वर्ण सामान्य, पीत या लाल है, देखनी चाहिये। यदि जंघा बाहु को हृदय के तल से ऊपर उठाने से वह रक्तहीन या पीली हो जाती है और हृदय से नीचे ले जाने में सकुलित (रक्ताधिक्यमय) हो जाती है तो रोगी को अन्तर्रोधी-धमनी रोग (occlusive arterial disease) है। व्रणों की उपस्थिति तथा उपरिस्थ गभीर कोथ के क्षेत्र भी देखने चाहिये। अंग के ताप और दोनों ओर की नाडी में यदि कोई अन्तर हो, तो वह भी प्रतीत करना चाहिये। धमनियों की दशा भी प्रतीत करने योग्य है; वे मृदुल, सम्पीड्य और दृढ (firm) हैं या वे कठोर हैं और उनमें माला के दाने से प्रतीत होते हैं। एन्यूरिज्म या धमनी-शिरा-नालव्रण को भी थ्रिल (thrill) या स्पर्शतरंग द्वारा खोजना चाहिये।

निदान के आयोजन

जैसा पहले बताया जा चुका है कितने ही अन्तर्रोधी-धमनी-रोगों में कुछ वाहिका-आकर्ष भी होता है, वाहिका-आकर्ष तथा वाहिकाविस्फारण कितना हो सकता है इसका आकलन भी आवश्यक है। निम्नलिखित में से किसी विधि से यह किया जा सकता है।

अनुकम्पीरोध (sympathetic block)—सबसे विश्वसनीय विधि प्रोकेन द्वारा अनुकम्पीरोध उत्पन्न करना है जो मेरुमंवेदना-हरण (spinal anaes-thesia) से या परावर्शेरुक रोध (paravertebral block) द्वारा उत्पन्न किया जा सकता है। वाहिका-विस्फार से गरमी प्रतीत होती है और वर्ण बदल जाता है। अनुकपी रोध के कारण स्वेद निकलना बन्द हो जाता है और त्वक्-प्रतिरोध (cutaneous resistance) बढ जाता है।

प्रतिक्रियाजन्य अतिरक्तता (reactive hyperaemia)—यह एक सरल परीक्षण है जिससे केशिका-रक्तसचार की पर्याप्तता का कुछ बोध किया जा सकता है। अग्र बाहु या जंघा में रक्तदाबमापी (sphygmomanometer) के कफ (थैली) को लगाकर उसके वायु से फुलाने से रक्तसंचार को 3-5 मिनट तक बन्द कर दिया जाता है। दाद को हटा देने पर रक्तसचार लौट आता है जिससे उत्पन्न हुई त्वक्-लालिमा के प्रकट होने की त्वरता (rapi-dity) और चमक देखी जाती है। वर्ण का धीरे-धीरे लौटना केशिकाओं की अपर्याप्त क्रिया का द्योतक है। इसी प्रकार अन्य बडी धमनियों के समपार्श्वी रक्तसंचार की भी परीक्षा की जा सकती है (Matta's test)।

शरीर को तप्त करना—इस अन्वेषण का आधार शरीर को ऊष्मा पहुंचाने से प्रतिवर्त द्वारा जो विस्फार (reflex dilation) होता है उसका आकलन है। रोगी को किसी अचालक (non-conductor) पदार्थ के बने हुए कक्ष (chamber) मे बिठाया जाता है किन्तु शिर, कलाई और गुल्फ कक्ष से बाहर निकले रहते हैं। कक्ष को पूर्णतया अभेद्य बना कर उसके भीतर का ताप 50 से० बढाया जाता है और एक विद्युत थर्मामीटर से परिसरीय रक्तसचार पर प्रभाव नापा जाता है।

विशेष अन्वेषण—निम्न प्रक्रियाओ से निदान का निश्चय तथा चिकित्सा-क्रम का निर्धारण किया जा सकता है।

(1) दोलनमापी (oscillometer) से एक मुख्य धमनी के स्पन्दन (pulsation) के गुण (quality) का वस्तुनिष्ठ-मापन (objective measurement) हो सकता है।

(2) त्वचा के ताप को मापने के लिए ताप वैद्युत-युग्म (thermocouple) प्रयोग किया जा सकता है।

(3) किसी भाग द्वारा प्रवाहित होने वाले रक्त का आकलन शिरीय अन्तर्रोधी प्लेथिस्मोग्राफी (venous occulusive plethysmography) द्वारा किया जा सकता है।

(4) जिस गति से रेडियोएक्टिव सोडियम इन्जैक्शन के स्थान से लुप्त हो सकता है वह गति उस भाग के रक्तप्रवाह पर निर्भर करती है।

(5) धमनी-एक्सरे-चित्र मे धमनीवृक्ष की रूपरेखा दीखती है; वह अन्तर्रोध की स्थिति का निश्चय करने तथा उससे आगे के रक्तसचार की दशा का ज्ञान कराने के लिये बहुत उपयोगी है।

अंग की स्थानिक अरक्तता (ischaemia of limb) की चिकित्सा—हृदय से ऊपर उठाने पर यदि अग का रक्तसचार अतिक्षीण हो जाय तो अग को हृदय से नीचा रखना चाहिये। उसको आघातो से बचाना बहुत आवश्यक है। पाव की अगुलियो पर ओढने के वस्त्रो के भार से भी उनमे कोथ प्रारम्भ हो सकता है। इन पर रुई लपेटकर उनको एक दूसरे से पृथक रखने का प्रयत्न करना चाहिये; उन पर स्थानिक ताप का कभी प्रयोग न किया जाय।

अग के रक्तसंचार को उन्नत करने का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये। किसी यान्त्रिक-अवरोध की उपस्थिति पर उसको दूर करना रक्तप्रवाह को बढाने का सर्वोत्तम उपाय है। घनास्रता हो जाने पर घनास्र को निकाल देने से रक्त-प्रवाह पुनः होने लगता है, अथवा घनास्रयुक्त धमनी-खडोच्छेदन करके धमनी-

निरोप (graft) किया जाय। धमनी में अन्तर्रोध न होने पर प्रादेशिक अनुकम्पी उच्छेदन रक्तप्रवाह को वढाने का अत्युत्तम साधन है। इससे वाहिकाओं का अधिकतम विस्फार होता है और खुली हुई धमनियो में रक्त का प्रचुर प्रवाह होने लगता है। स्वायत्त तन्त्र की रोधी औपधिया (autonomic blocking agents), जैसे प्रिस्कोलीन (priscoline) का अति रक्तात्पता वाले अग पर कोई प्रभाव नही होता, किन्तु वाहिका-आकर्षी (vasospastic) दशाओ पर होता है, विशेपतया यदि वे तीव्र न हो।

वगर (Buerger) के व्यायाम अग में रक्तसंचार वढ़ाने के लिये उपयोगी होते है। इन व्यायामो मे अग को हृदय से ऊपर तक उठाकर रखा जाता है जव तक वह पीला दिखाई नही देता, और तव उसको हृदय से नीचा लटका कर रखा जाता है जव तक उसमे लालिमा न प्रकट हो जाय। यह क्रिया कई वार की जाती है, जव हाथ लटका रहता है तो पाव तथा गुल्फ या कलाई और हाथ से व्यायाम करवाया जाता है।

वाहिकाकर्ष रोग (vasospastic disease)

भिन्न-भिन्न व्यक्तियो मे वाहिका-प्रेरक तान (vasomotor tone) मे भिन्नता पाई जाती है। जिनमे तान अल्प होती है उनमें अंग की ऊष्ण रहने की प्रवृत्ति होती है और शीत से वह धीरे-धीरे ठडा होता है, उत्तम तान वालो के हाथ और पाव प्राय ठडे रहते हैं और शीत से शीघ्र ही और भी ठडे हो जाते है।

रेनो का रोग (Raynaud's disease)—यह वाहिका-आकर्ष की (vasospastic)दशा है जो नवयुवतियो मे प्राय दोनों ओर की ऊर्ध्व शाखाओ मे शीत लगने पर सममित (symmetrical) प्रकार से होती है। उसमे अगुलिधमनियो का आकर्ष होता है। साधारणतया अग का रक्तसचार प्रसामान्य होता है, यद्यपि हाथ ठडे हो सकते है। आक्रमण शीत लगने, जैसे ठंडे जल से स्नान करने अथवा मानसिक उद्धिग्नता से हो सकते है। ग्रस्त अगुलियां श्वेत या नीली और सुन्न हो जाती है। उष्ण कमरे मे लौटने पर फिर हाथों का रक्तसचार वढ जाता है और वे ऊष्ण हो जाते हैं जिससे रोगी को वेचैनी प्रतीत होती है। रोग धीरे-धीरे वढता जाता है जिससे अगुलियो पर वेदनायुक्त व्रण वन सकते है और उपरिस्थ ऊतकगलन (superficial necrosis) हो सकती है। कुछ रोगियों मे साथ ही त्वचाकाठिन्य (sclerodermia) भी हो जाता है। परीक्षा पर रक्तसचरण प्रसामान्य मिलता है और परिसरीय स्पन्दन

भी सामान्य होते है । अगुलियो के सिरे लम्बे, आगे को पतले होते हैं और व्रण-युक्त हो सकते है ।

रेनो घटना (Raynaud's phenomenon)—रेनो रोग के समान आक्रमण कभी-कभी देखे जाते है जिनका कारण लोपी धमनी-रोग (obliterative arterial disease), धमनी काठिन्य, लोपी घनास्रशिराशोथ (thromboangitis obliterans) या कोई सम्पीडन-संलक्षण (comperessive syndrome), जैसे ग्रैव पर्शुका, होते है ।

शाखाश्यावता (acrocyanosis)—दूसरी वाहिकाकर्षी दशा है जो नवयुवतियों मे होती हैं; हाथ ठडे, श्याव और अत्यार्द्र रहते हैं । ठड लगने से यह दशा और वढ जाती है ।

चिकित्सा

वाहिकाकर्ष के रोगियों को ठड से वचाना चाहिये; शीत काल मे वे गरम वस्त्रो को पर्याप्त प्रकार से पहनकर अपनी शीत से रक्षा करे । मृदुरोग होने पर गडिका-रोधन (ganglion blocking) द्वारा रोगियो की सहायता की जाती है; इसके लिये प्रिस्कोलिन (priscoline) उपयोगी है । तीव्र रोग की चिकित्सा अनुकम्पी उच्छेदन द्वारा की जाती है ।

धमनी की जड़िमा (Arterial stupor)

कभी-कभी किसी मुख्य धमनी के समीप आघात लगने से धमनी के एक खडाँश का आकर्ष हो जाता है । इस दशा को धमनी-जडिमा (धमनी खडाश आकर्ष) कहते है । आकर्ष के कारण धमनी का ग्रस्त भाग इतना सकीर्ण हो जाता है कि उसमे से अत्यल्प रक्त निकलना भी कठिन होता है जिससे आगे के अग की स्थानिक अरक्तता हो जाती है और कोथ तक हो सकता है ।

चिकित्सा—प्रादेशिक अनुकम्पी उच्छेदन, प्रोकेन-रोध, या मेरु अथवा-सामान्य सवेदनाहरण है । इसके असफल होने पर, धमनी का अनावरण करके उसके वहि:कचुक को हटाने के पश्चात् धमनी के ग्रस्त खड पर प्रोकेन विलयन डालने से आकर्ष दूर हो सकता है ।

धमनियो का जैव अवरोध (organic obstruction of arteries)

धमनी-अन्तःशल्यता (arterial embolism)—धमनी-अन्त शल्यता एक अकस्मात् होने वाला धमनी का अन्तर्रोध है । वह रुमेटी हृद्रोग, हृत्पेशी रोध-

गलन (myocardial Infarction) के रोगियों मे, या जिनमे महाधमनी के धमनी-काठिन्य (arteriosclerosis) के क्षेत्रों में या एन्यूरिज्म-कोशो में घनास्र वन रहे हों, उनमे होता है। अन्त·शल्य (embolism) के अंग में पहुँचने पर अग में अकस्मात तीव्र वेदना का होना, अग का ठडा हो जाना और सुन्न पड़ जाना उसके लक्षण है (वृक्क, मस्तिष्क, आन्त्रयोजनी या अन्य भागो के अन्तः-शल्य का यहा विचार नही किया जा रहा है)। परीक्षा पर अग का, अवरोध से नीचे का भाग ठडा तथा श्यावतायुक्त और अतिसवेदी (hyperaesthetic) मिलेगा; उसका अगघात हो सकता है। अन्त.शल्य (embolis) साधारणतया जहा धमनी विभक्त होकर छोटी हो जाती वहाँ पहुंचकर स्थित हो जाता है। अग की शीतलता, विवर्णता, सुन्न दशा और धमनी-स्पन्दता के तल (level) से अन्तःशल्य की स्थिति का ठीक-ठीक ज्ञान हो सकता है।

चिकित्सा की सफलता रोग के शीघ्र निदान और अन्तःशल्योच्छेदन तथा आतंचनरोधी औपधियो के प्रयोग पर निर्भर करती है। अन्तःशल्योच्छेदन, शल्य से आगे की धमनी मे घनास्र वनने से पूर्व ही कर देना चाहिये। आगे के समस्त धमनी-कक्ष मे कुछ ही घटों से लेकर 48 घटे में रक्त का आतच (घनास्र) वन सकता है।

जीर्ण लोपी रोग (chronic obliterative disease)

लोपी धमनीकाठिन्य (arteriosclerosis obliterans)—यह सवसे अधिक होने वाली चिरकारी वाहिकालोपी दशा है जो वृद्ध व्यक्तियों में पाई जाती है, विशेपतया मधुमेहग्रस्त व्यक्तियो मे। रोग समस्त शरीर मे व्याप्त हो सकता है, अथवा धमनीकांडों के लघुखडों मे सीमित हो। ऊर्ध्व शाखा की अपेक्षा रोग अध शाखा मे अधिक होता है।

लोपी घनास्रयुक्त वाहिकाशोथ (thromboangiitis obliterans)

यह धमनियो और शिराओं का एक शोथयुक्त लोपी रोग है, किन्तु लोपी धमनीकाठिन्य मे कम होता है। यह विशेपतया 40 वर्ष से कम वय वाले केवल युवको मे होता है। वह प्रायः अध.शाखा की वाहिकाओ के खडाशो को ग्रस्त करता है, यद्यपि आशय सम्बन्धी रक्तवाहिकाओ मे भी कभी-कभी पाया जाता है।

हेतुकी

इस रोग का कारण अज्ञात है, किन्तु तम्बाकू के उपयोग से इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध प्रतीत होता है। रोग सबसे अधिक पुरुषो मे होता है। स्त्रियों मे ईस्ट्रोजनो का वाहिकाविस्फारक प्रभाव उनकी इस रोग से कुछ रक्षा करता प्रतीत होता है। अनेक बार उपरिस्थ परिभ्रमी घनास्र-शिराशोथ (superficial migratory thrombophlebitis) का इतिवृत्त मिलता है। इस दशा मे प्रायः दो कारक तत्व उपस्थित होते है, धमनी और शिराओं की भित्तियों का मोटा हो जाना और उनमे शोथमय परिवर्तन, जिनके बढने से अवकाशिका सकीर्ण हो जाती है, तथा वाहिका का आकर्ष।

लक्षण और चिह्न—रोगी सविरामी खजता (claudication) की व्यथा बताते है, अथवा उनको विश्राम के समय वेदना होती है। पदाँगुलियो और पाव पर उपरिस्थ व्रण बन सकते हैं अथवा गभीर कोथ तक हो सकता है। साधारणतया व्रण धमनीकाठिन्यजन्य व्रणो की अपेक्षा अधिक वेदनायुक्त होते हैं। परीक्षा पर परिसीय स्पन्दन का ह्रास प्रतीत होता है। इस दशा का जानु-पृष्ठ-धमनी की धमनीकाठिन्य से उत्पन्न हुई घनास्रता से भेद करना आवश्यक है। और्वी-धमनी-चित्रण द्वारा अवरुद्ध या लुप्त खडाश के स्थितिनिर्धारण मे सहायता मिलती है और अन्त्य शाखाओ की दशा भी मालूम हो जाती है।

चिरकारी लोपी रोग की चिकित्सा

तम्बाखू का प्रयोग पूर्णतया वर्जित होना चाहिये, विशेपकर लोपी घनास्री वाहिकाशोथ के रोगियो को। रोगी को पाँवो की त्वचा पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है; लघु क्षतियो, जैसे ठेक (callosities), विदर (fissures), छाले अथवा व्रणो, से बढकर अगहानि तक हो सकती है। यदि खजता अशक्तकर हो और अन्वेपण से मुख्य धमनी के खडाश का अन्तर्रोध मालूम हो तो घनास्र-अन्त धमनी-उच्छेदन (thromboendarterectomy) करना उचित है अथवा धमनी-निरोपण (arterial grafting) से रक्तसचार का पुनर्निर्माण किया जा सकता है। यदि और्वी धमनी तथा जानुपृष्ठ-धमनी और उसकी शाखाये ग्रस्त हो तो अनुकम्पी उच्छेदन खजता के शमन और रक्तसचार के सुधारने का केवल साधन है।

कोथ होने पर अगोच्छेदन (amputation) आवश्यक है। अनुकम्पी उच्छेदन के पश्चात भी यदि पांव के दूरस्थ भाग में वेदना बनी रहे तो जघा

की सवेदी तन्त्रिका को कुचलने (crushing) से वेदना कम हो जाएगी। किन्तु यह क्रिया सतोपजनक नही है।

चित्र 249—अधोजत्रुक धमनी का ग्रैव पर्शुका द्वारा सम्पीडन।

ग्रैव पर्शुका तथा अग्रविषमिका संलक्षण

(cervical rib and scalenus anterior syndrome)

पर्शुक-जत्रुक (costoclavıcular)-संलक्षण, ऊर्ध्व उरोनिर्गम (upper thoracıc outlet)-सलक्षण, उरो-अन्तर्गम (throracıc inlet)-सलक्षण और पर्शुका दाव सलक्षण इन सव नामों से इस रोगपुज को पुकारा जाता है। इस लक्षणपुज मे प्रगड (तन्त्रिका)-जालिका के सम्पीडन के और ऊर्ध्व शाखा की वाहिका की अपर्याप्तता के दोनो के लक्षण मिले रहते है।

5 प्रतिशत जनता मे अतिरिक्त ग्रैव पर्शुकाये (accessory cervıcal rıbs) उपस्थित होती है। वे प्राय सातवे ग्रैव कशेरुक से निकलती है और दोनो ओर हो सकती है; किन्तु केवल एक ही ओर होने पर, वे अधिकतर दक्षिण ओर होती है। अतिरिक्त पर्शुका एक लघु, चौडे, मुक्त प्रान्त वाली पर्शुका से लेकर पूर्ण, प्रथम उरोपर्शुका से सधि करने वाली पर्शुका हो सकती है। कभी-कभी एक लघु अस्थिकृत पर्शुका एक तान्तव वध द्वारा प्रथम पर्शुका की विपमा गुलिका (scalene tubercle) से जुडी होती है। कई बार पर्शुका के स्थान मे केवल तान्तव वध उपस्थित होता है।

जहा प्रगंड जालिका का अधिमध्य प्रकांड, प्रथम उरोतन्त्रिका, वाहु की अनुकपी तन्त्रिकाओं, और अधोजत्रुक धमनी (subclavian art.) के साथ ग्रीवा से कक्ष (axılla) मे जाते है वहां उनको एक सकुचित त्रिकोणाकार अवकाश मे होकर निकलना पडता है जो अग्र ओर अग्र विषमिका (scalenus ant.) पेशी से और पश्च ओर मध्य विषमिका (scalenus medıus) तथा ग्रैव पर्शुका से सीमित है, (जिसका अस्थिविकास हो चुकता है या उसके स्थान मे एक तान्तव ऊतक का एक वध रहता है) (चित्र 249)।

प्रगड जालिका में चौथी ग्रैव तन्त्रिका के मूल से वहुत से तन्तु आकर मिल सकते है और उसको पुरो-स्थिरीकृत (pre-fixed) माना जा सकता है; ऐसे रोगियो मे ग्रैव पर्शुका उपस्थित हो सकती है। कितनी ही वार, किन्तु उपर्युक्त से कम, पचम मूल जालिका मे नही मिलती, किन्तु प्रथम और द्वितीय मूल का अंश अथवा समस्त उरोमूल जालिका मे मिलती हैं जो उस समय पश्च-स्थिरीकृत (postfixed) कही जाती है।

लाक्षणिक रूप

कितने ही व्यक्तियो में जिनमे ग्रैव पर्शुका होती है उनमे कोई लक्षण नही होते। कितनो ही मे वे युवन (adolescence) अवस्था अथवा मध्य वय तक प्रकट नही होते। कदाचित इसका कारण स्कंध मेखला की पेशियों की तान (tone) का ह्रास होता है जिससे स्कध नीचे को और आगे को लटकने लगता है। इस स्कंधमेखला के आगे को लटकने से पर्शुका पर होकर जाने वाली सरचनाये खिचती है और अग्र विषमिका की कडरा भी पर्शुका पर खिंचकर तन जाती है जिससे दोनों के वीच की संरचनाओं का सम्पीडन होता है। लक्षण दक्षिण ओर अधिक स्पष्ट होते है, क्योकि दक्षिण वाहु का अधिक उपयोग किया जाता है।

लक्षण और चिह्न

अधिजत्रुक (supraclavicular)-प्रदेश में उभार हो सकता है। अधोजत्रुक धमनी मे त्रुई, थ्रिल या असामान्य स्पन्दन दीख अथवा प्रतीत हो सकता है। दोनो वहि.प्रकोष्ठिक नाड़ियों मे अन्तर होता है। शिर के कर्षण या उन्नमन से और ग्रीवा के विवर्तन से उधर की वहि प्रकोष्ठिका नाड़ी लुप्त हो जाती है। लक्षण और चिह्नों का कारण तन्त्रिका और रक्तसंभरण की अस्तव्यस्तता होती है।

वाहिकाप्रेरक (vasomotor)—शीत का प्रभाव शीघ्र होता है; वाहिका-प्रेरक विक्षोभ (vasomotor dısturbances) भी आक्रान्त करते है। लाल, शोपित (atrophıed) त्वचा असाधारण नही है, हाथ ठडे होते हैं; उनकी त्वचा पर नीलाभता (lıvidıty) और चितकवरापन (mottlıng) हो सकता है। रेनो रोग के समान आक्रमण भी हो सकते है।

सांवेदनिक (sensory)—वेदना सामान्य लक्षण है जो प्रत्येक समय अभि-त्वक् (medıal cutaneous), अन्त:प्रकोष्ठिक (ulnar), और मध्यमा (medıan) तन्त्रिकाओ के वितरणक्षेत्रों मे बनी रहती है। वह मूल या परि-सरीय वितरण का अनुसरण नही करती, न वह मूलवेदना के समान कौचने वाली (lancınatıng) होती है। बहुधा, वह रात्रि को बढ जाती है और स्कध के पीछे छोटे-छोटे तकियो को लगाने से कम हो जाती है। परा-सवेदिता (paraesthesıa), पिन और सुई चुभने के समान सवेदन, झन-झनाहट या दाह का प्रतीत होना, ये सवेदनायें वेदनाक्षेत्र मे प्रतीत हो सकती है।

प्रेरक (motor)—अन्त प्रकोष्ठिक तथा मध्यमा तन्त्रिकाओ द्वारा सभरित पेशियो मे दुर्वलता या उनका अगघात होता है। प्राय: अगुष्ठमूलोत्सेध-(thenar emminence) तथा हाथ की अतस्थ (intrısic) पेशियां ग्रस्त होती है अथवा मध्यमा तन्त्रिका के सम्पीडन के लक्षण उत्पन्न होते है, जैसे मणिवध-सुरग-सलक्षण (carpal tunnel syndronie) मे होते है। प्रेरक अगघात निम्न न्यूरोन (lower motor neurone) प्रकार का होता है जिसके साथ शोष (atrophy), व्यपजनन (degeneratıon) के विद्युत चिह्न, शिथिलता (flaccı-dıty), और प्रतिवर्तो (reflexes) की हानि होती होती है। एक्सरे द्वारा निदान का निश्चय किया जाता है।

सापेक्ष निदान (differential diagnosis)

कितनी ही दशाओ का व्यतिरेक (exclusıon) आवश्यक है। मणिवध-सुरग सलक्षण, अन्य प्रगड-जालिका-क्षतिया, ग्रैव चक्रिका-क्षतिया (cervıcal dısc-lesıons), ग्रैव प्रकाड अर्बुद, स्कध की अस्थिसधि-विकृतिया (osteoar-thropathy), पेशीशोषी पार्श्वकाठिन्य (amyotrophic lateral sclerosıs), वर्धी मरुपेशी शोष (progressive spinal muscular atrophy) और सिरिंगोमायलिया (syringomyelia) का विभेदन आवश्यक हो सकता है।

चिकित्सा

बहुत से रोगियों मे अग्र विषमिका पेशी का छेदन करने से लक्षणों का शमन हो जाता है । कभी-कभी ग्रैव पर्शुका का अपहरण करना आवश्यक होता है । यदि पेशीछेदन के पश्चात् भी लक्षण बने रहते हैं तो ऊर्ध्व शाखा का पुरोगडिका-अनुकंपी तन्त्रिकाविच्छेद (pre-ganglionic sympathetic denervation) लक्षणों के शमन मे सहायक हो सकता है, विशेषकर वाहिका प्रेरक-विक्षोभ मे ।

एन्यूरिज्म

एन्यूरिज्म के प्रकार—

एन्यूरिज्म एक खोखली थैली होती है जिसमे रक्त भरा रहता है और जो सीधी एक धमनी की अवकाशिका से जुड़ी होती है । एन्यूरिज्म तीन प्रकार के होते है ।

यथार्थ एन्यूरिज्म (true aneurysm)—यह धमनी भित्ति के विस्तार से बनता है और थैली धमनी की भित्ति ही की बनी होती है । यह (1) तर्कुरूप (fusiform) हो सकता है । जब समस्त धमनी-अवकाशिका और भित्ति का समान रूप से विवर्धन (enlargement) और विस्तार (expansion) होता है; (2) कोष्ठकीय (saccular) प्रकार मे वाहिका के केवल एक ओर विवर्धन होता है ।

अयथार्थ एन्यूरिज्म (false aneurysm)—अभिघात या सक्रमण के कारण धमनी भित्ति के फट जाने से जो स्पन्दनयुक्त हीमेटोमा बनता है उससे यह एन्यूरिज्म उत्पन्न होता है । एन्यूरिज्म का कोश पूर्णतः परिवाहिका-ऊतकों का बना होता है ।

विदारक एन्यूरिज्म (dissecting aneyrusm)—इस दशा मे एन्यूरिज्म मे एकत्र हुआ रक्त, धमनी के पेशीकंचुक के बहिः और अन्त. स्तरो के बीच परिस्रवण कर जाता है (extravasates) जिसका कारण मध्य कचुक (पेशी कचुक) का व्यपजनन होता है । रक्त वाहिका में दूर तक फैल जाता है और धमनी का विदर करके फिर उसमे आ सकता है या वाह्य कंचुक को फाड़कर तीव्र रक्तस्राव का कारण होता है ।

हेतुकी और विकृति-उत्पत्ति (pathogenesis)

एन्यूरिज्म जन्मजात, अभिघातज, कवकी (mycotic) या अपदरण

(erosion) से उत्पन्न हो सकता है।

अधिकतर जन्मजात, कवकी और अपरदन एन्यूजिज्म, कोष्ठिकीय होते हैं। अभिघात या विदर के कारण रक्त समीप के ऊतकों में परिस्रवित हो जाता है और उसके जमने से जो घनास्र (thrombus) बनता है वह परिसर पर सम्पीडित हो जाता है तथा घने तान्तव ऊतक का एक कोष बन जाता है। कोश का मध्य अवकाश धमनी की अवकाशिका से सयोजित होता है और अन्तर्कला से आस्तरित रहता है।

कवकी एन्यूरिज्म धमनी की अवकाशिका मे संक्रमित अन्त.शल्य (embolus) के पहुचकर रुक जाने से बनता है। सक्रमण धमनी की भित्ति में फैलता है जिससे वहाँ स्थानिक अरक्तता (ischaemia) होकर अपरदन होता है। भित्ति के वाहर के सक्रमण से भी भित्ति क्षत हो सकती है जिससे अपरदन एन्यूरिज्म वन सकता है।

धमनी काठिन्य और सिफिलिस से रोगो मे रोगग्रस्त धमनी की भित्ति का वर्धी विस्फार (progressive dilatation) होता चला जाता है अथवा अन्तः-कचुक का स्थानिक भंग (disruption) होता है जिससे भित्ति का दुर्वल भाग वैलून के समान फैलता और विस्तृत हो जाता है। यदि धमनी की पूर्ण परिधि ग्रस्त होती है तो तर्कुरूप एन्यूरिज्म उत्पन्न होता है; किन्तु भित्ति के केवल एक भाग के ग्रस्त होने से कोष्ठिकीय एन्यूरिज्म वन जाता है।

आरोही महाधमनी के एन्यूरिज्म अधिकतर सिफिलिस के कारण होते हैं। अवरोही उरोमहाधमनी और समस्त औदरिक महाधमनी के प्राय. सव ही एन्यूरिज्म धमनीकाठिन्य से उत्पन्न होते हैं। महाधमनी के विदारक एन्यूरिज्म व्यपजनक (degenerative) होते हैं। परिसरी एन्यूरिज्म अभिघातज, सिफिलिसी, धमनीकाठिन्यज या कवकी होते हैं। अन्त.कपाली एन्यूरिज्म मुख्यतया जन्मजात होते हैं।

लक्षण

रोगी पूर्णतया लक्षणहीन हो सकते हैं अथवा उनको एक स्पन्दनयुक्त पिंड का अनुभव हो सकता है। परीक्षा पर सूजन या उभार मे प्रसारी (expansible pulsation) स्पन्दन प्रतीत होता है। एन्यूरिज्म से ऊपर (निकटस्थ) धमनी के सम्पीड़न से उसका आकार घट जाता है और वह सम्पीड्य हो जाता है। ऐन्यूरिज्म के नीचे धमनी को दवाने से वह और तन जाता है उसमे थ्रिल प्रतीत हो सकती है और परिश्रवण पर व्रुई सुनी जा सकती है।

घनास्रता होने से एन्यूरिज्म का आकार रक्तप्रवाह के रुक जाने के कारण, और भी बढ़ जाता है और उसमे स्थानिक अरक्तता भी हो जाती है। समीप की सरचाओ पर दाब पड़ने के लक्षण प्रमुख हो सकते हैं। शिराओ के दबने से दूरस्थ भाग में शोफ प्रकट हो जाता है और तंत्रिकाओं पर दबाव पड़ने से सवेदन परिवर्तित हो जाते हैं। दूरस्थ भागों मे नाडीस्पन्दन विलंबित और उसका आयाम घट जाता है।

वक्ष का एन्यूरिज्म कशेरुकाओं के अपरदन से अथवा तन्त्रिकामूलों पर दबाव के कारण वेदना उत्पन्न कर सकता है। श्वासप्रणाल, श्वसनी, ग्रास-प्रणाल आदि पर दबाव के लक्षण हो सकते है। उसको एक्सरे-परीक्षा से
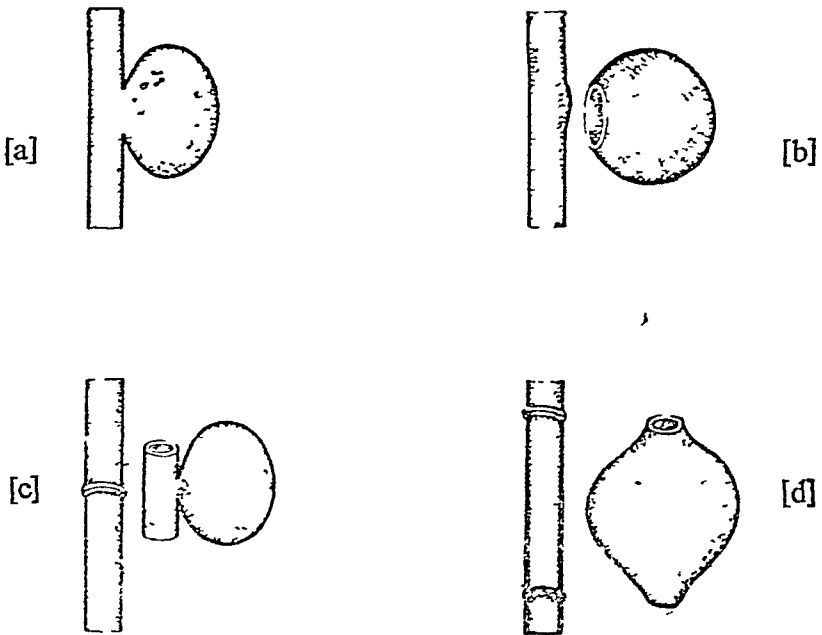
चित्र 250—एन्यूरिज्म की चिकित्सा।

(a) Saccular aneurysm—कोशकीय एन्यूरिज्म
(b) Excision and lateral suture—उच्छेदन तथा पार्श्विक सीवन
(c) Excision and end-to-end anastomosis—उच्छेदन और छोर-सम्मिलन
(d) Fusiform Aneurysm—तर्क्वाकार एन्यूरिज्म
Excision and grafting—उच्छेदन तथा निरोपण

प्रतिदीप्ति पट द्वारा पहचाना जा सकता है। उदरान्तर एन्यूरिज्म से मूल वेदना (root pain) उत्पन्न हो सकती है और जठरान्त्र विकार या गवीनी पर दबाव उत्पन्न हो सकते है। उसको स्पन्दनयुक्त पिंड होने से सहज मे पहचाना जाता है। कपाल मे होने से उससे शिरवेदना, नेत्रघात (ophthalmoplegia) और स्थितिज तन्तिकीय चिह्न उत्पन्न होते है।

एन्यूरिज्म मे क्रमश· रक्त-आतंचन होने से उसकी स्वत. रोगमुक्ति (spontaneous cure) हो सकती है। एन्यूरिज्म का कभी-कभी सक्रमण हो जाता है; और एक लघु लीक अथवा अकस्मात विदार घातक हो सकता है।

चिकित्सा

चिकित्सा एन्यूरिज्म के आकार और उसकी स्थिति पर निर्भर करती है। यदि वह परिस्पर्श्य हो तो शस्त्रकर्म से पूर्व वहाँ के समपार्श्वी रक्तसचार (collateral circulation) का निश्चय कर लेना उचित है। मुख्य धमनियों के एन्यूरिज्म की इस प्रकार चिकित्सा करनी चाहिये जिससे उस धमनी से फिर से रक्त प्रवाह होने लगे (चित्र 250)।

कुछ कोष्ठिकीय एन्यूरिज्मो मे एन्यूरिज्म का उच्छेदन और धमनी की भित्ति के छिद्र या दोष को बन्द करना संभव होता है। एन्यूज्मि का उच्छेदन और धमनी मे निरोप (graft) लगाना आदर्श चिकित्सा है; वक्ष और औदरिक महाधमनी मे यह विधि हाल ही मे प्रयुक्त हुई है। उच्छेदन सभव न होने पर एन्यूरिज्म से ऊपर (हृदय की ओर) धमनी-बन्धन मे उसमे रक्तप्रवाह की गति घटाई जा सकती है जिससे रक्त का आतचन अधिक हो। जहा निकटस्थ बधन न हो सके, वहा इसी उद्देश्य से दूरस्थ (distal) बधन किया जाय। उपर्युक्त सब विधियो के सभव न होने पर एन्यूरिज्म कोश मे आगन्तुक शल्य, जैसे तार, को प्रविष्ट करने अथवा एन्यूरिज्म पर केलोफेन लपेटने से रक्तातचन और तन्तुमयता हो सकते है, किन्तु ये आयोजन सतोषजनक नही है।

अन्तर्रोधी वाहिका-रोगो और एन्यूरिज्म की चिकित्सा मे धमनी-निरोपण-प्रक्रिया का प्रयोग निरन्तर बढ रहा है। तुरन्त के अथवा हिम-शुष्कीकृत (freezedried), धमनी-समनिरोपो (homo-grafts) का विस्तृत प्रयोग किया गया है। कुछ सर्जन अब डैक्रोन या टेफ्लोन का बना हुआ प्लास्टिक भाग लगाना पसन्द करते है।

धमनी-सिरा नालव्रण (arterio-venous fistulas)

धमनी-शिरा नालव्रण धमनी और शिरा के बीच अपसामान्य मार्ग या संयोजन है। अधिकतर नालव्रण भेदक (perforating) आघातों का परिणाम होते है। वे किसी निम्न रूप के हो सकते हैं।

एन्यूरिज्मी वेरिक्स (aneurysmal varix)—धमनी और शिरा के बीच सीधा सयोजन वन जाता है जिसमे शिरा चौडी और अपस्फीत हो जाती है। कभी-कभी वह जन्मजात होता है और उससे अग की अतिवृद्धि हो सकती है।

अपस्फीत एन्यूरिज्म (varicose aneurysm)—इसमे धमनी और शिरा के वीच एन्यूरिज्मी कोश होता है। एन्यूरिज्म सगठित रक्तातच (organised clot of blood) और सहनित कोशिकी ऊतक का वना होता है।

सिरसाइड एन्यूरिज्म (cirsoid aneurysm)—इस दशा में धमनी और शिरा के वीच कई सयोजन वन जाते है और समीप की धमनी और शिरा का विशेष विस्फार हो जाता है। वह विशेषकर शिरोवल्क मे होता है।

वाहिका-अर्वुदों में धमनी-शिरा नालव्रण—उदाहरणत. रक्तार्वुदों आदि मे।

लाक्षणिक रूप

कोई भी लक्षण न हों और रोग का पता केवल अन्य कारणों से शरीर की परीक्षा करने पर लगे; अथवा रोगी को केवल भनभन का-सा अनुभव हो, या वह उस प्रदेश मे थ्रिल प्रतीत करे। कभी-कभी अग के वर्ण या ताप में परिवर्तन से उस ओर ध्यान आकर्पित होता है। कुछ रोगी तव आते हैं जव उग्र हृदय-संवधी चिह्न प्रकट होते हैं।

परीक्षा करने पर सूजन या उत्सेध मिले या न मिले। नालव्रण के प्रदेश मे केवल थ्रिल प्रतीत हो और मर्मर सुनाई दे। यदि नालव्रण को क्षणिक वन्द किया जा सके तो प्रकुचनी और अनुशियल रक्तदाव के वढने के साथ नाड़ी मन्द हो जाती है। (निकोलोडोनी—वैनहम घटना)। अंग का ताप विशेपतया अधिक रह सकता है, किन्तु कभी-कभी हाथ और पांव शीत, पीतवर्ण और श्याव हो जाते है। नालव्रण से आगे (दूरस्थ) नाडी दूसरे ओर की अपेक्षा दुर्वल हो सकती है।

हृदय पर कार्यभार वढ़ जाने से समय पाकर हृदय का विवर्धन हो जाता है और विस्फार (dilatation) होकर अन्त को हृत्पात (cardiac failure) होता है।

चिकित्सा

धमनी-शिरा नालव्रण स्वतः वन्द नही होते । उनके कारण उस प्रदेश की शिराओ का तथा उससे ऊपर (निकटस्थ) धमनी का विस्फार वढता रहता है और अन्त को हृदय का विस्फार हो जाता है ।

इस दशा की चिकित्सा शल्यकर्म द्वारा उच्छेदन और धमनी का छोर-सम्मिलिन (end-to-end anastomosıs) करके उसका पुर्ननिर्माण है; आवश्यक होने पर धमनी-निरोप किया जाता है। पतिणाम वहुत सतोपजनक होते है ।

24

लसीका-तंत्र

ए० वी० मुदलियार

तीव्र लसीकावाहिका-शोथ
(Acute lymphangitis)

तीव्र लसीकावाहिका-शोथ लसीका-वाहिकाओ के स्ट्रेप्टोकाकस (strepto-coccus) या स्टेफाइलोकाकस (staphylococcus) आदि सूक्ष्मजीवो द्वारा सक्रमणग्रस्त होने के कारण होता है। ये प्राय. क्षतों (wounds) या त्वचा के अपघर्षण आदि से प्रविष्ट होते है; पूतियुक्त रोगी का आपरेशन करते समय या मृतऊतिपरीक्षा (necropsy) करते समय अगुलि के सूचका-आघात के फलस्वरूप भी प्राय: तीव्र लसीकावाहिका-शोथ हो जाता है। यह रोग अधिकतः हाथो या पैरो मे होता है।

लक्षण और चिन्ह

इस अवस्था मे निम्नलिखित लक्षण एव चिह्न पाये जाते है : (1) उपरिस्थ लसीकावाहिकाएं (superficial lymphatics) शाखा अग मे नीचे से ऊपर की ओर जाती हुई तरगरूपी लाल रेखाओं के रूप मे दृष्टिगोचर होती है; (2) त्वचा स्पर्शासह (tender), लाल और शोफयुक्त होती है, (3) यदि सक्रमण गभीर हो तो लाल रेखाए नही होती किंतु अग शोफयुक्त होता है तथा दवाव द्वारा उसमे गर्तन (pitting) उत्पन्न किया जा सकता है; (4) प्रादेशिक लसीका-पर्व विवर्धित, पीड़ायुक्त एव स्पर्शासह होते है। इनके अतिरिक्त दैहिक लक्षण भी पाये जाते है, यथा ज्वर, कपकपी, प्रलाप (delirium), अरुचि, मतली, वमन आदि। कुछ रोगियो मे लसीका-पर्व सक्रमण का विस्तार रोकने मे सफल होते है—ये पर्व विवर्धित, पीड़ायुक्त तथा स्पर्शासह हो जाते है तथा उचित चिकित्सा

के अभाव में उनमें पूयोत्पत्ति भी हो सकती है। यदि फिर भी रोग की उपेक्षा की जाए तो पूतिरक्तता (septicaemia) जैसी घातक स्थिति उत्पन्न हो सकती है।

पुन -पुन संक्रमण के फलस्वरूप लसीकावाहिकाएँ अवरुद्ध हो जाती है तथा फलस्वरूप अंग में शोफ (oedema) हो जाता है।

चिकित्सा

अंग को विश्रामयुक्त, ऊंचा उठाकर (elevated) तथा कोष्ण (warm) रखना चाहिए। इस अवस्था के लिए उत्तरदायी संक्रमण फोकस (focus of infection) की चिकित्सा भी आवश्यक होती है। रोगी को उपयुक्त एंटीबायोटिक (antibiotic) देने चाहिएँ तथा विद्रधि बन जाए तो उसका छेदन और निकास (incision and drainage) करना चाहिए।

चिरकारी लसीकावाहिका-शोथ (Chronic Lymphangitis)

यह अवस्था तीव्र लसीकावाहिका-शोथ की अनुगामी हो सकती है अथवा पुन. पुनः संक्रमण के फलस्वरूप उत्पन्न हो सकती है। निम्नलिखित रोगों का पुनरावर्ती आक्रमण (recurrent attack) भी इसका कारण हो सकता है—एरिसिपेलास (erysipelas); फाइलेरिया ((filaria); यक्ष्मा ; रतिरोग (venereal disease)—उदाहरणत सिफिलिस व लिम्फोग्रेन्युलोमा (lymphogranuloma)।

उष्ण कटिबन्धों में चिरकारी लसीकावाहिका-शोथ के लिए सर्वाधिक उत्तरदायी फाइलेरिया है। चिरकारी संक्रमण के फलस्वरूप लसीकावाहिकाओं में शनैः-शनै. रोध उत्पन्न हो जाता है तथा लसीकास्तम्भन के कारण शोफ प्रकट हो जाता है। शोफ के कारण अंग की क्रिया में बाधा पड सकती है।

रोग की चिकित्सा के लिए संक्रमण का उन्मूलन आवश्यक होता है।

लसीकाशोफ (Lymphoedema)

लसीकाशोफ जन्मजात (congenital) या उपार्जित (acquired) हो सकता है। उपार्जित लसीकाशोफ के विविध कारणों में से निम्नलिखित मुख्य हैं—अभिघात, संक्रमण, अर्बुद, बाहरी दबाव तथा कतिपय उष्ण कटिबन्धीय रोग (tropical diseases)।

जन्मजात लसीकाशोफ

यह दो प्रकार का होता है : प्रथम, आनुवशिक (hereditary) या पारिवारिक (familial) प्ररूप अथवा मिलरॉय का रोग (Milroy's disease) तथा, द्वितीय, साधारण जन्मजात लसीकाशोफ (simple congenital oedema) ।

मिलरॉय का रोग

यह एक जन्मजात पारिवारिक रोग होता है जिसमे जन्म से ही एक या दोनो निम्न शाखा-अगों का चिरस्थायी शोफ विद्यमान होता है । इस अवस्था मे कोई दैहिक लक्षण नही होते तथा आयु-अवधि कम नही होती ।

साधारण प्ररूप

इस अवस्था मे एक शाखा-अग जन्म से ही फूला होता है तथा ज्यों-ज्यों शोफ मे वृद्धि होती है, त्वचा मोटी और वलियुक्त (rugose) हो जाती है । लसीका-वाहिकाएं विस्फारित हो जाती हैं तथा इस प्रकार अधस्त्वचा-वसा का स्थान लसीका-अवकाश (lymph space) ले लेते हैं । धीरे-धीरे ततुप्रसूओं (fibroblasts) के प्रफलन के कारण ततुमयता (fibrosis) होती रहती है तथा त्वचा और अधस्त्वचा के ऊतक मोटे पड जाते है ।

अभिघातोत्तर लसीकाशोफ (Post-traumatic lymphoedema)

यदि लसीकावाहिकाए अभिघातग्रस्त हो जाए अथवा प्रवल स्कार-निर्माण द्वारा प्रभावित हो तो लसीकाशोफ उत्पन्न हो सकता है । कक्ष (axilla) या वक्षण (groin) के लसीका-पर्वो के उन्मूलक उच्छेद के पश्चात् भी सम्वन्धित शाखा-अंग लसीकाशोफ से प्रभावित हो सकते है । अभिघातोत्तर लसीकाशोफ की चिकित्सा में विश्राम, हलकी मालिश तथा अंग के उत्थान द्वारा सहायता मिलती है । एलास्टोक्रेप (Elastocrepe) पट्टी का प्रयोग भी इस सम्वन्ध मे लाभदायक होता है ।

शोथयुक्त लसीकाशोफ (Inflammatory lymphoedema)

लसीकावाहिका-शोथ के पुनरावर्ती आक्रमणो के फलस्वरूप वाहिका-अवरोध और लसीका-स्तम्भन उत्पन्न हो सकता है; प्रभावित अग धीरे-धीरे फूलता जाता है तथा इस शोफ के स्थायी होने की सम्भावना रहती है ।

चिकित्सा

रोग की आरम्भिक अवस्था मे रसायनी चिकित्सा (chemotherapy) या एंटीवायटिको का प्रयोग किया जाता है। प्रभावित अग पर ग्लिसरीन मे 10% इक्थ्योल (10% ichthyol in glycerine) का लेप करके दृढ पट्टी बाध दी जाती है। शोथ के ठीक होने के पश्चात् हल्की मालिश तथा तदनतर एलास्टो-क्रेप पट्टी का प्रयोग किया जाता है।

अर्बुद के कारण लसीकाशोफ

अर्बुद के स्थानीय दवाव के फलस्वरूप लसीकावाहिकाओं का प्रवाह रुक सकता है। लसीकावाहिकाओं मे दुर्दम अर्बुद कोशिकाओं के स्थापन के फल-स्वरूप भी उनका अवरोध उत्पन्न हो सकता है। स्तन-कैंसर के रोगियो मे कक्षीय पर्व (axillary nodes) अवरुद्ध होकर ऊर्ध्व शाखाअग का शोफ उत्पन्न कर सकते है। उन्मूलक स्तनोच्छेद (radical mastectomy) के पश्चात् शल्योत्तर ततुमयता (fibrosis) के कारण भी क्षेत्रीय लसीकावाहिकाएं अवरुद्ध हो सकती हैं। अर्बुद के किरणन के फलस्वरूप भी तंतुमयता और स्कार-निर्माण की सभावना होती है। लसीका-प्रवाह रुकने के कारण शाखाअगों मे तीव्र पीड़ा और प्रवल शोफ उत्पन्न हो जाता है तथा रोगी अंग-सचालन मे असमर्थ होता है।

उष्ण कटिवधीय या परजीवी-लसीकाशोफ (Tropical or parasitic lymphoedema)

उष्ण कटिवधो मे फाइलेरिया-जन्य लसीकाशोफ प्राय. पाया जाता है। ऐसा टाग, वृषणकोश, वाहु और कभी-कभी स्तन मे होता है। लसीकावाहिकाओं का अवरोध सर्वप्रथम शोथ के कारण तथा कुछ समय पश्चात् फाइलेरिया कृमियो के कारण होता है। इस अवस्था में त्वचा और अवस्त्वचा के ऊतक स्थूल हो जाते है तथा अंग कठोर, गर्तनरहित शोफ (non-pitting oedema) के कारण स्फीतियुक्त हो जाते है। त्वचा का रूप हाथी की त्वचा के समान दिखने के कारण इस दशा को प्राय श्लीपद (elephantiasis) कहा जाता है।

विविध कारण

इस शीर्षक के अतर्गत निम्नलिखित अवस्थाओं की गणना की जा सकती है: लिम्फेडीमा प्रीकोक्स (lymphoedema praecox); शिरास्तम्भन-जन्य लसीका-

शोफ, घनास्रशिराशोथ (thrombophlebitis) के फलस्वरूप तथा शल्यकर्म या प्रसव के पश्चात् होने वाला लसीकाशोफ, एक्सरे या रेडियम-जन्य शोफ।

लिम्फेडीमा प्रीकोक्स (lymphoedema praecox) अधिकतर 9-25 वर्ष की कन्याओ मे पाया जाता है। यह रोग प्राय एकपार्श्वी होता है तथा निम्न शाखाओ मे होता है। धीरे-धीरे वर्धित होकर यह उदर के निम्न भाग को भी प्रभावित कर सकता है। इसका कारण लसीकावाहिकाओ का अल्पविकसित होना है।

चिकित्सा

लसीकाशोफ की सतोपप्रद चिकित्सा सभव नही होती। लसीकावाहिका-सधान (lymphangio plasty) का आपरेशन भी यदि सफल हो तो उसका प्रभाव केवल कुछ मास तक रहता है। इस आपरेशन मे अधस्त्वचा-ऊतक और गभीरस्थ ऊतको के मध्य रेशम या नाइलोन के धागे इस आशा से प्रविष्ट किए जाते है कि प्रसामान्य गभीरस्थ ऊतको द्वारा द्रव का अवशोषण सम्भव हो सके।

तीव्र लसीकापर्व-शोथ (Acute lymphadenitis)

तीव्र लसीकापर्व-शोथ प्राय लसीकावाहिका-सक्रमण का अनुगामी होता है। पर्व विवर्धित, पीडायुक्त और स्पर्शासह (tender) हो जाते है। यदि सक्रमण नियत्रित हो जाए तो लसीकापर्वो का शमन (resolution) और ततुमयता (fibrosis) हो जाती है, अन्यथा पूय हो जाती है।

चिकित्सा

सक्रमण के नियत्रण एव विस्तार को रोकने मे रासायनी चिकित्सा व एटीबायोटिको (antibiotics) का प्रयोग तथा अग की सिकाई और विश्राम सहायक होता है। यदि विद्रधि बन जाए तो उसका छेदन एव निकास (incision and drainage) करना होता है।

चिरकारी लसीकापर्व-शोथ (Cronic lymphadenitis)

यक्ष्मज लसीकापर्व-शोथ

यह रोग व्यस्को की अपेक्षा बच्चो मे अधिक पाया जाता है तथा प्राय. अपास्चुरीकृत (unpasteurised) दूध पीने, अस्वच्छ वातावरण मे रहने या तपेदिक के रोगी के निकट सम्पर्क मे आने के कारण होता है। सर्वप्रथम ग्रीवा

के लसीकापर्व, विशेषत ऊर्ध्व गभीरस्थ ग्रीवापर्व (upper deep cervical nodes) प्रभावित होते है। सक्रमण का प्रवेश प्राय. टासिलो तथा कभी-कभी ग्रसनी या नासाग्रसनी (nasopharynx) के मार्ग से होता है।

इस अवस्था को प्राय प्राथमिक सम्मिश्र (primary complex) का नाम दिया जाता है। इसका तात्पर्य है कि रोगी के शरीर मे यक्ष्मा का प्रथमिक फोकस विद्यमान है जिसके कारण प्रादेशिक लसीकापर्व विवर्धित हो गए है। कुछ रोगियो मे फुफ्फुस से सक्रमण का विस्तार होने के कारण मध्यस्थानिका पर्व (mediastinal nodes) तथा निम्न गभीरस्थ ग्रीवापर्व (lower deep cervical nodes) भी प्रभावित हो जाते है।

उदर मे आत्रयोजनी-पर्व (mesenteric nodes) यक्ष्माग्रस्त हो सकते है। यक्ष्मा के दडाणु उन तक आत्रभित्ति मे होकर पहुच सकते है अथवा आत्र मे विद्यमान यक्ष्मज व्रणो से विसरित हो सकते है। यदि पर्वो तक जीवाणुओ का विस्तार लसीकावाहिकाओ द्वारा हो तो सर्वप्रथम पर्वो के कार्टेक्स (cortex) मे यक्ष्मिका (tubercles) प्रकट होती है, रक्त-विस्तार की दशा मे सर्वप्रथम लसीकापर्वो का मेडुला (medulla) प्रभावित होता है।

विकृति (pathology)

लसीकापर्वो मे प्रथम परिवर्तन सकुलता (congestion) तथा शोफ के रूप मे होता है। तत्पश्चात उनमे अतिविकसन (hyperplasia), किलाटीभवन (caseation) या तंतुमयता (fibrosis) आदि परिवर्तन हो जाते है। अतिविकसन के फलस्वरूप पर्वो का आकार बढ जाता है किन्तु वे सुस्पष्ट रहते है और किलाटीभवन नगण्य अथवा विल्कुल नही होता। किलाटी प्ररूप (caseating form) प्रायः बच्चो तथा युवा वयस्को मे पाया जाता है। इस अवस्था मे अनेक यक्ष्मिकाये (tubercles) सलीन हो कर विद्रधि का रूप ले लेती है। यदि यह 'शीतल विद्रधि (cold absscess) फट जाये तो साइनस (sinus) बन जाता है। प्रभावित पर्व परिपर्व-शोथ (periadenitis) के कारण परस्पर ससक्त (matted) हो जाते है। जिन पर्वो मे ततुमयता की क्रिया होती है उनमे किलाटी परिवर्तन नही पाया जाता तथा वे सिकुड जाते है।

नग्न-नेत्र परीक्षण (naked eye examination) द्वारा विकृत पर्व का रग धूसर प्रतीत होता है तथा परिच्छेदन पर उनमे पीतवर्ण के धब्बे पाये जाते है जो परिगलन (necrosis) तथा किलाटीभवन (caseation) के फलस्वरूप उत्पन्न होते है। सूक्ष्मदर्शी-परीक्षण पर प्रारूपिक यक्ष्मिकाएँ (tubercles) देखी

जा सकती है जिनमे परिसरीय केन्द्रक-रूपी महाकोशिकाएँ (giant cells) तथा किलाटी स्थल विद्यमान होते है ।

क्लिनिकल अभिलक्षण

पर्व आरम्भ मे सुस्पष्ट होते है किन्तु परिपर्व-शोथ (periadenitis) के कारण ससक्त (matted) होकर त्वचा से आसजित हो जाते है । कालातर मे किलाटीभवन के कारण त्वचा से आसजित इन पर्वो मे मृदुता तथा स्पर्शतरग (fluctuations) उत्पन्न हो जाती है, इनके ऊपर स्थित त्वचा पतली होकर फट जाती है तथा एक साइनस (sinus) या व्रण (ulcer) वन जाता है । यदि इसमे द्वितीयक सक्रमण (secondary infection) विद्यमान हो तो विरोपण मे विलम्ब पडता है ।

जव पर्व मे विद्रधि उत्पन्न होती है तो वह गभीर प्रावरणी (deep fascia) को छिद्रित करके त्वचा के नीचे स्थित हो सकती है । यह स्थिति प्राय ग्रीवा मे पाई जाती है तथा कालर-स्टड विद्रधि (collar-stud abscess) कहलाती है । इसका तीव्र विद्रधि के रूप मे मिथ्या निदान सभव होता है, किंतु स्मरणीय है कि इस अवस्था मे दृढीभवन (induration) तथा तीव्रशोथ (acute inflammation) के चिन्ह अनुपस्थित होते है ।

कुछ दशाओ मे पर्वो का कैल्सीभवन (calcification) भी हो सकता है । ऐसा अधिकतर आत्रयोजनी (mesentery) के मूल तथा मध्यस्थानिका (mediastinum) मे पाया जाता है ।

इस रोग से सम्बद्ध दैहिक लक्षण प्रवल नही होते । आरभ मे केवल किंचित अरुचि, सध्यामय ताप-वृद्धि तथा क्षुधा का ह्रास पाया जाता है । निदान प्राय लक्षण और चिन्हो पर ही आधारित होता है । रोग के अतिविकसित-प्ररूप (hyperplastic variety) मे शरीर मे व्यापक लसीकापर्व-वृद्धि हो जाती है तथा ऐसी स्थिति मे निदान के लिए जीवोतिपरीक्षा द्वारा होजकिन के रोग Hodgkin's disease) की सभावना का व्यतिरेक आवश्यक होता है ।

प्राग्ज्ञान (prognosis)

आधुनिक प्रतियक्ष्मा-चिकित्सा द्वारा इस रोग का उचित नियत्रण सम्भव हो गया है, तथापि शिशुओ मे यक्ष्मज तानिकाशोथ (tuberculous meningitis) व ग्रसनीपश्च विद्रधि (retropharyngeal abscess) नामक उपद्रव हो सकते है ।

चिकित्सा

सामान्य स्वास्थ्य की वृद्धि के लिए पौष्टिक भोजन—अडे, ट्यूबरकुलिन परीक्षित दूध (tuberculin tested milk), कॉड्लिवर तेल (cod liver oil), संतरे का रस, विटामिन आदि—तथा सूर्य के प्रकाश का सेवन लाभदायक रहता है।

रोग की चिकित्सा का मुख्य आधार स्ट्रेप्टोमाइसिन (streptomycin), आइसोनिकोटिनिक एसिड हाइड्रेजिड (isonicotinic acid hydrazid) तथा पेरा-एमाइनोसेलिसिलिक एसिड (para-aminosalicylic acid) आदि प्रतियक्ष्मा औषधे है।

प्रफलन (proliferative) या अतिविकसन (hyperplastic) प्ररूपी यक्ष्मज पर्वशोथ की चिकित्सा मे एवसरे उपचार भी लाभदायक कहा जाता है।

स्थानीय चिकित्सा का मुख्य अग रोगग्रस्त भाग को विश्राम प्रदान करना है—उदाहरणत ग्रीवा-पर्व-वृद्धि के रोगियो मे मिनर्वा कालर (Minerva collar) का प्रयोग।

पर्व मे शीतल विद्रधि (cold abscess) बन जाए तो चूपण (aspiration) अथवा लघु स्टैब-छेदन (stab incision) द्वारा पूय का निष्कासन करना चाहिए। यदि पूय गाढी हो और चूपण असफल रहे तो लगभग एक सेंटीमीटर आकार के स्टैब-छेदन (stab incision) मे से विद्रधि-अतर्वस्तु निष्कासित की जा सकती है। तत्पश्चात् छेदन को एक टाका लगा कर सी देना चाहिए, ताकि उसमे द्वितीयक सक्रमण प्रविष्ट न हो पाए।

शल्यचिकित्सा

यदि पर्वो का एक ही वर्ग विवर्धित हो तो उनका उच्छेदन करने तथा प्रतियक्ष्मा औषधो का प्रयोग करने से रोग समाप्त हो सकता है। यदि दोनो ओर के पर्व, विशेषत. निम्न गभीर ग्रीवापर्व (lower deep cervical nodes) विवर्धित हों तो आपरेशन अनुपयुक्त रहता है तथा केवल सरक्षी चिकित्सा (conservative treatment) उचित होती है। यदि साइनस विद्यमान हो तो दैहिक प्रतियक्ष्मा चिकित्सा के साथ ही उनमे स्ट्रेप्टोमाइसिन या P A S. का विलयन प्रविष्ट करना भी लाभदायक होता है।

सिफिलिसी लसीकापर्व-शोथ

जननागी-शैंकर वाली प्राथमिक सिफिलिस मे वक्षण पर्वो (inguinal

glands) का पीडा रहित विवर्धन पाया जाता है। द्वितीयक सिफिलिस मे पर्व-विवर्धन व्यापक होता है तथा पर्व पीड़ारहित, स्पर्शसह (nontender), प्रत्यास्थ (elastic), मुस्पप्ट एव पूर्णतया चल (freely movable) होते है। इन पर्वो का भजन नही होता। इनके अतिरिक्त द्वितीयक सिफिलिस के अन्य चिह्न (त्वचा रैश, skin rash, आदि) तथा घनात्मक वासरमैन (Wassermann) और कान (Kahn) परीक्षण भी पाए जाते है। तृतीय अवस्था मे पर्वो मे गमा (gumma) वन सकता है।

प्रतिसिफिलिसी चिकित्सा इस रोग को पूर्णतः समाप्त कर देती है।

लसीका ऊतक के अर्बुद (Tumours of Lymphoid Tissue)

लसीका ऊतक के अर्बुदो का विकृति-ज्ञान अभी अधूरा है, अतः उनका वर्गीकरण करना कठिन है। इन्हे प्राय रेटिकुलोसेज़ (reticuloses) कहा जाता है, जिसका अर्थ है कि कूपको (follicles), अन्तस्था (medulla) अथवा साइनसो (sinuses) का रेटिकुलम (reticulum) प्रफलित हो गया है। रेटिकुलम का प्ररूप इस वात पर निर्भर होता है कि अर्बुद की प्रधान कोशिका क्या है। तदनुसार रेटिकुलोसिसो (reticuloses) को मेडुली (medullary), फालिकली (follicular) तथा साइनसी, इन तीन वर्गो मे विभाजित किया जा सकता है। इनमे निम्नलिखित अवस्थाए विवर्धित लसीका-पर्वो के सापेक्ष निदान (differential diagnosis) की दृष्टि से मुख्य है।

कूपीय लिम्फोमा (Follicular lymphoma)

इस अवस्था मे प्रभावित पर्व की समस्त वस्तु मे अनेक अर्बुदीय पर्वक (nodules) वन जाते है। लसीका-अर्बुदों मे यह सवसे अधिक विभेदित (differentiated) प्ररूप है।

कूपी लिम्फोमा 25 से 40 वर्ष की आयु के मध्य होता है तथा पुरुषो में अधिक पाया जाता है। लसीकापर्व होजकिन के रोग के समान ही सुस्पप्ट होते है तथा उनकी गाढ़ता (rubbery consistency) रवड़ के समान होती है। उनका विवर्धन स्थानीय अथवा व्यापक हो सकता है तथा साथ ही प्लीहावृद्धि (splenic enlargement) भी पाई जाती है। विक्षेप (Metastases) प्राय यकृत, फुफ्फुस, ककाल तथा वृक्क मे पाए जाते हैं। रक्त मे प्रगामी अरक्तता progre ... naemia) तथा श्वेतकोशिकान्यूनता (leukopen ... प परिवर्तन नही होता।

यदि लिम्फोमा स्थानीकृत हो तो उनका उच्छेदन किया जा सकता है।

होजकिन का रोग (Hodgkin's disease)

यह मेडुली रेटिकुलोसेज (medullary reticulosis) का एक प्रकार है।

हेतुकी

यह रोग प्राय 20 से 30 वर्ष की आयु के मध्य होता है। दोनो लिंग इसमे प्रभावित हो सकते है किंतु पुरुषो मे अधिक होता है। इस रोग का हेतु अज्ञात है, यद्यपि समय-समय पर विभिन्न कारण सुझाए गए है, यथा वायरस (virus), स्पायरोकीट (spirochaete) अथवा पक्षि-यक्ष्मा (avian tuberculosis) द्वारा सक्रमण।

नैदानिक अभिलक्षण

ग्रीवा, कक्ष तथा वक्षण के लसीकापर्व विवर्धित हो जाते है तथा वे सुपृथक (discrete), प्रत्यास्थ (elastic), रबड़-गाढता रूपी (rubbery in consistency), पीडारहित और मुक्तचल (freely mobile) होते है। उनका कटा हुआ तल धूसर (grey) रग का और मछली के मास के समान दीखता है तथा उसके समाग पृष्ठ (homogeneous surface) पर परिगलन (necrosis) के पीताभ धब्बे पाए जा सकते है। आमाशय, आत्र, वृक्क आदि अन्य अनेक अगो के लसीका-ऊतक मे भी उपर्युक्त परिवर्तन पाए जा सकते है। यकृत व प्लीहा की भी तनिक वृद्धि हो सकती है। कुछ रोगियो मे उदरीय पर्व (abdominal nodes) भी परिस्पर्श्य (palpable) होते है।

होजकिन के रोग मे पर्ववृद्धि के कारण दवाव-लक्षण (pressure symptoms) उत्पन्न हो सकते है। ग्रीवा मे महावाहिकाओ पर दवाव पड सकता है तथा मध्यस्थानिका मे ग्रासप्रणाल तथा श्वासप्रणाल अर्बुद द्वारा विस्थापित हो सकते है। उदर मे यकृत के हाइलम (hilum) पर वर्धित पर्वो का दवाव पड सकता है तथा इस प्रकार पित्तनलियो के तथा प्रतिहारिणी शिरा (portal vein) के अवरुद्ध होने से जलोदर (ascites) हो सकता है।

पर्व के सूक्ष्मदर्शी परीक्षण पर पाया जाता है कि कूपी प्रारूप (follicular pattern) लुप्त हो गया है तथा जालिका-अत कला तत्त्वो (reticulo-endothelial elements) का अतिविकास हो गया है। जैसे-जैसे रोग वर्धित होता है, कोशिकाएं बहुलरूपता प्रदर्शित करने लगती है तथा लसीका-कोशिकाए,

लसीकाप्रसू (lymphoblastes), वृहत् एककेन्द्रक (mononuclear) कोशिकाएं और रीड-स्टर्नवर्ग कोशिकाए (Reed-Sternberg cells) देखी जा सकती है। ये अंतिम कोशिकाए होजकिन के रोग की निदानात्मक होती है। इनमे प्राय: दो केन्द्रक होते है जिनमे एक की आकृति दूसरे के दर्पण प्रतिबिम्ब के समान होती है, अत. इन कोशिकाओं को दर्पण-प्रतिविम्ब-महाकोशिका (mirror image giant cells) भी कहते है। लसीकाभ (lymphoid) और जालिकाभ (reticular) अर्बुद तत्वो के अतिरिक्त प्लाजमा कोशिकाए, इयोसिनोफिल (eosinophil) तथा बहुरूपकेन्द्रकी (polymorphonuclear) कोशिकाए भी पाई जाती है।

होजकिन के रोग मे पर्व विवर्धन के अतिरिक्त एक विशेष प्रकार का पुनरावर्ती (relapsing) ज्वर भी होता है जिसे पेल-एब्सटाइन सलक्षण (Pel-Ebstein syndrome) कहते है। यह इस रोग मे विशिष्ट रूप से पाया जाता है। इसमे रोगी को कुछ दिन दोलनीय ताप (swinging temperature) रहता है तथा तत्पश्चात् लगभग एक सप्ताह या इससे अधिक काल तक वह ज्वर-रहित रहता है। रक्त मे इयोसिनोफिलरक्तता (eosinophilia) तथा कालातर मे द्वितीयक अरक्तता (secondary anaemia) पाई जाती है।

होजकिन के रोगियो मे उत्तरकाल मे अस्थि-परिवर्तन भी पाए जाते है। ये मुख्यत कशेरुक, उरोस्थि, पर्शुका, करोटि तथा लम्बी अस्थियो मे होता है। इनके कारण प्रबल पीडा होती है तथा अर्बुद-विक्षेपो के कारण वैकृत अस्थि-भग (pathological fractures) भी हो सकता है। विकिरणी चित्रो (radiographs) मे ये बहु मज्जार्बुद (multiple myeloma) के समान छिद्रित रूप (punched out appearance) प्रदर्शित करते है।

निदान

रक्तपरीक्षण द्वारा इयोसिनोफिलरक्तता (eosinophilia) व द्वितीयक अरक्तता (secondary anaemia) प्रकट होती है। एक्सरे-चित्रण द्वारा मध्य-स्थानिका पर्वो की वृद्धि पाई जा सकती है। निदान की पुष्टि के लिए जीवोति-परीक्षा (biopsy) की जाती है।

होजकिन के रोग को अन्य कुछ ऐसी दशाओ से विभेदित करना आवश्यक होता है जिनमे लसीकापर्व विवर्धित होते है। इनके उदाहरण चिरकारी लसीकापर्वशोथ (chronic lymphadenitis), लसीकी श्वेतकोशिकारक्तता (lymphatic leukaemia), सार्कोइडोसिस (sarcoidosis) तथा कार्सिनोमा-

विक्षेप (carcinomatous metastases) है।
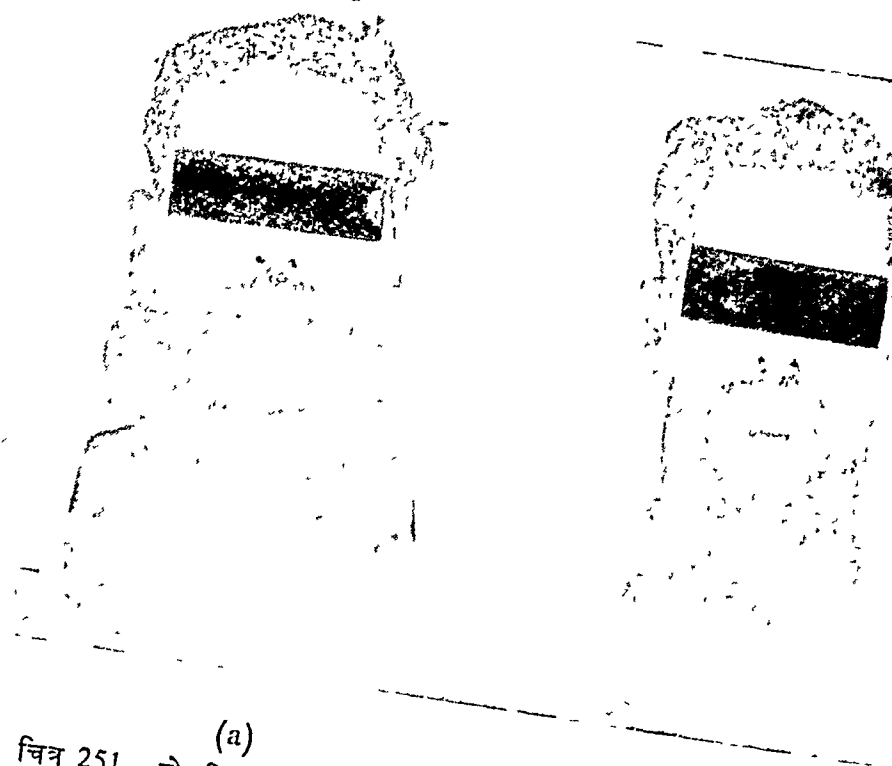
(a) (b)

चित्र 251—होजकिन का रोग, विकिरण उपचार के (a) पूर्व, (b) पश्चात्।

चिकित्सा

सामान्य स्वास्थ्य मे सुधार की ओर ध्यान देना चाहिए तथा अरक्तता (anaemia) कम करने का प्रयत्न करना चाहिए। गम्भीर एक्सरे चिकित्सा (deep x-ray therapy) द्वारा पर्वो का प्रतिक्रमण हो सकता है, किन्तु यह स्थायी नही होता (चित्र 251)। चार दिन तक 0 1 mg/kg शरीर भार की दर से नाइट्रोजन मस्टर्ड (nitrogen mustard) का अत शिरा प्रयोग भी अस्थायी विसर्ग (temporary remission) उत्पन्न कर सकता है।

प्राग्ज्ञान

रोग धीरे-धीरे वर्धित होता रहता है तथा 50 प्रतिशत से अधिक रोगियो की दस वर्ष मे ही मृत्यु हो जाती है। इस रोग की चिकित्सा मे उन्मूलक उच्छेद का कोई स्थान नही है।

लिम्फोसार्कोमा (lymphosarcoma)

इस प्रकार का दुर्दम लिम्फोमा मध्यायु मे उत्पन्न होता है तथा ग्रीवा, मध्यस्थानिका प्रत्यक् पेरिटोनियम (retroperitoneum) व आन्त्रयोजनी पर्वो आदि मे आरम्भ हो सकता है (चित्र 252)। स्त्रियो की अपेक्षा इसका आघटन पुरुषो मे अधिक होता है तथा आयु प्राय 30 और 70 वर्ष के मध्य होती है। यह अर्बुद किसी भी स्थान—उदाहरणत टासिल, ग्रसनी, आन्त्र—के लसीका ऊतक मे आरम्भ हो सकता है।

क्लिनिकल अभिलक्षण

पर्व विवर्धित, पीडारहित तथा सुस्पष्ट होते है। शीघ्र ही उनके समीपवर्ती ऊतक भी आक्रात हो जाते है तथा दूरस्थ विक्षेप (distant metastases) होने लगते है। रोग प्राय ग्रीवा पर्वो मे आरम्भ होता है तथा लसीका मार्गो द्वारा अन्य पर्व-पर्वो तक पहुँच जाता है। प्रभावित पर्व परस्पर आसजित हो
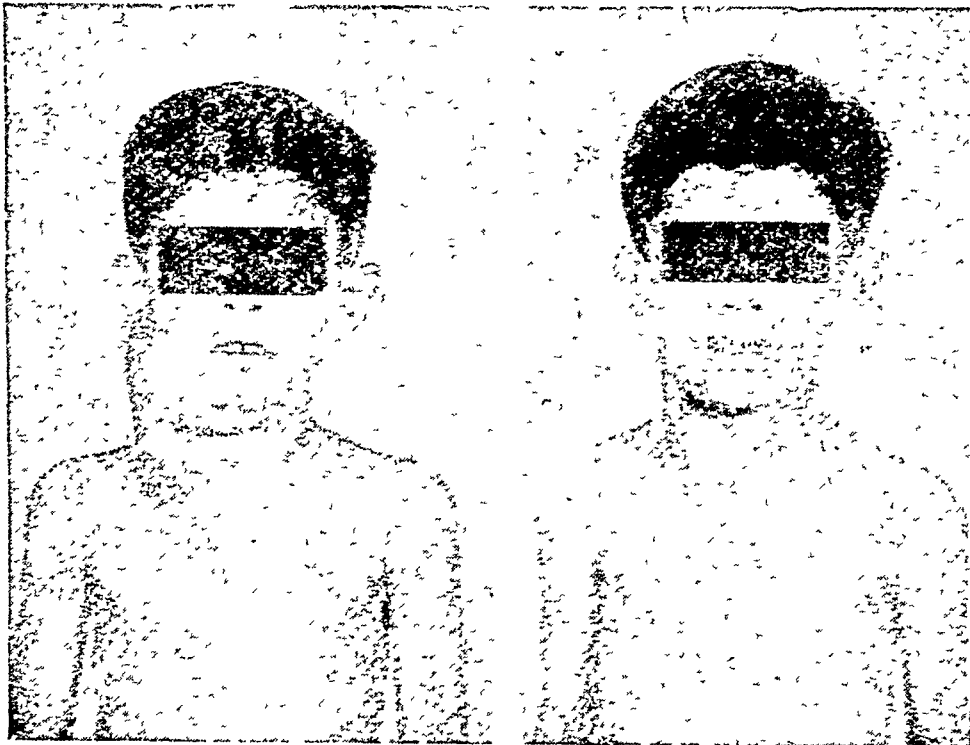
(अ) (आ)

चित्र 252—लिम्फोसार्कोमा, चिकित्सा के (अ) पूर्व तथा (आ) पश्चात्।

जाते है, किंतु अन्यथा उनका कोई अन्य विशिष्ट स्थूल अभिलक्षण नही होता। कालांतर मे वे गभीरस्थ ऊतको से बद्ध (fixed) हो जाते है तथा उन पर स्थित त्वचा भी प्रभावित हो जाती है। सूक्ष्मदर्शी परीक्षण पर अतिवर्णी (hyper-chromatic) केन्द्रको से युक्त लसीकाप्रसू (lymphoblasts) पाए जाते है। इन अर्बुद कोशिकाओ का विस्तार त्वचा, यकृत, फुप्फुस, अस्थिमज्जा आदि अन्य अगो तक भी हो जाता है तथा इस प्रकार रक्त-विसरण (haematogenic spread) के कारण अनेक वृद्धिया (growths) उत्पन्न हो जाती है। निदान की पुष्टि के लिए जीवोतिपरीक्षा (biopsy) आवश्यक होती है।

चिकित्सा

आरम्भिक अवस्था मे गभीर एक्सरे उपचार द्वारा इस रोग की वृद्धि रोकी जा सकती है। नाइट्रोजन मस्टर्ड (nitrogen mustard) या नाइट्रोमिन (nitromin) का प्रयोग भी चिकित्सा के लिए किया जा चुका है।

जालिका-कोशिका सार्कोमा (Reticulum-cell sarcoma)

यह लिम्फोसार्कोमा का ही एक परिवर्त (variant) होता है। इसमे मुख्य परिवर्तन लसीकाभ-ऊतक की जालिका कोशिकाओ मे होता है। यह लिम्फो-सार्कोमा के लसीकाकोशिका प्ररूप (lymphocytic form) अथवा लसीकाप्रसू प्ररूप (lymphoblastic form) की तुलना मे कही अधिक पाया जाता है। यह रोग पुरुषो तथा स्त्रियो, दोनो, को ही होता है तथा औसत आयु 30 और 50 वर्ष के मध्य होती है।

रेटिकुलम कोशिका-सार्कोमा का निदान निम्नलिखित क्लिनिकल अभि-लक्षणो पर आधारित होता है। पर्व विवर्धित, पीडारहित, मदवर्धी तथा पूर्ण-तया चल (freely movable) होते है। अर्बुद का विस्तार लसीका-मार्गो द्वारा होता है तथा समीपवर्ती पर्व भी विवर्धित हो जाते है। प्राय ग्रीवा के ऊर्ध्व गभीर (upper deep cervical) या अध चिबुक (submandibular) पर्व प्रभावित होते है। रोग की उत्तरावस्था मे अभ्यतरागो (viscera) तथा अस्थियो मे विक्षेप भी हो सकते है।

चिकित्सा

यह अर्बुद विकिरण सुग्राही (radiosensitive) होता है तथा किरणन द्वारा उसका अतिशीघ्र शमन होता है, किन्तु कुछ समय पश्चात् पुन प्रकट हो

जाता है। चिकित्सा करने पर भी रोग आरम्भ होने के पश्चात् 2 वर्ष मे ही रोगी की मृत्यु हो जाती है।

यह रोग होजकिन के रोग के उस दुर्दम प्ररूप (malignant variety) के समान होता है जिसे होजकिन का सार्कोमा कहते है।

होजकिन का सार्कोमा (Hodgkin's sarcoma)

इस रोग मे भी होजकिन के रोग (Hodgkin's disease) की भाति प्लीहावृद्धि से युक्त या रहित, व्यापक, लसीकापर्व-विवर्धन पाया जाता है। इस अवस्था मे जब सहसा ही जालिका-ऊतक (reticular tissue) का तीव्र-वर्धी, सार्कोमा उत्पन्न हो जाता है तो उसे होजकिन का सार्कोमा (Hodgkin's sarcoma) नाम दिया जाता है। इस अर्बुद मे लिम्फोसार्कोमा के सभी विशिष्ट अभिलक्षण विद्यमान होते है तथा अभी तक यह सिद्ध नही हुआ है कि यह परिवर्तन पूर्वस्थित होजकिन के पर्वो मे ही होता है।

लसीका पर्वो मे द्वितीयक अर्बुद

लसीका पर्वो मे कार्सिनोमा (carcinoma) अथवा दुर्दम मेलेनोमा (malignant melanoma) होने की सम्भावना रहती है। अर्बुद के प्राथमिक केन्द्र से विसरित दुर्दम कोशिकाए लसीकावाहिकाओ मे होती हुई लसीकापर्वो के साइनस मे अवरुद्ध हो जाती है तथा वहां लसीका-ऊतक को नष्ट करके पर्व के स्थान पर एक कार्सिनोमा-पिड उत्पन्न कर देती है।

नैदानिक अभिलक्षण

लसीका पर्व विवर्धित, कठोर तथा आरम्भ मे चल (movable) किंतु अतत: गभीर ऊतको से वद्ध (fixed) होते है। धीरे-धीरे अर्बुद कोशिकाए पर्व-सम्पुट को विद्ध कर देती है तथा अतत. त्वचा को फाड़ कर वाहर निकल आती है।

दुर्दम मेलेनोमा (malignant melanoma) भी प्रादेशिक लसीका-पर्वो को विक्षेपग्रस्त करता है। इन पर्वो का विशिष्ट गुण होता है कि इनके कटे तल पर मेलेनिन (melanin) नामक वर्ण का सचय देखा जा सकता है।

चिकित्सा

पर्वो के कार्सिनोमाजन्य द्वितीयको की शल्य चिकित्सा ही उचित है।

सर्वोत्तम विधि प्राथमिक अर्बुद का उच्छेदन तथा उसके प्रादेशिक पर्वों का समूह व्यवच्छेदन (block dissection) है। यदि प्राथमिक वृद्धि (primary growth) को एक्सरे-उपचार द्वारा अभिकृत किया जा चुका हो तो पूर्ण चिकित्सा के लिए द्वितीयक पर्वों का उन्मूलक शल्यकर्म (radical surgery) आवश्यक होता है।

सयोजी ऊतक के सार्कोमी अर्बुद (*sarcomatous tumours*) कदाचित् ही लसीका-पर्वों को प्रभावित करते हैं।

25

त्वचा, पेशियां, कंडराएं और बर्सा

(Skin, Muscles, Tendons and Bursae)

वी० एन० बालकृष्ण राव

त्वचा

किण, कॉर्न और चर्मकील (Callosities, Corns And Warts)

किण, कैलोसिटीज (callosities)

अस्थि-उत्सेधो के ऊपर स्थित त्वचा चिरकारी सविरामी घर्षण तथा दवाव के कारण स्थूल और कठोर हो जाती है । श्रम करने वाले व्यक्तियों— मेकेनिक, धातु-श्रमिक, गृहिणी, माली आदि— की हथेलियो पर करभास्थियो (metatarsals) के शिरो के पास अनेक किण पाये जाते हैं । नगे पैर चलने वाले व्यक्तियो के तलवो पर भी ऐसा ही होता है ।

किण त्वचा पर तनिक उभारयुक्त, कठोर, पीडारहित, परिगत (circumscribed) पीताभ-धूसर क्षेत्रो के रूप मे प्रकट होते हैं । ये परिसर के समीप प्रसामान्य त्वचा मे (smooth merging) समरूप होकर मिल जाते हैं ।

विक्षति की ऊतकीय परीक्षा (histological examination) पर अकुरो (papillae) का चपटापन (flattening), कणी स्तर (stratum granulosum) का स्थूलीकरण तथा किण-स्तर (stratum corneum) की अत्यधिक वृद्धि पाई जाती है ।

चिकित्सा

प्रायः किण के लिए किसी विशेष चिकित्सा की आवश्यकता नहीं होती। अस्थायी उपचार के लिए 20 प्रतिशत सेलिसिलिक अम्ल (salicylic acid) का प्रयोग किया जा सकता है। रोग से स्थायी निवृत्ति के लिए व्यवसाय परिवर्तन आवश्यक है।

घट्टे (corn) कॉर्न

घट्टे पुनरावर्ती घर्षण तथा सविरामी दबाव और पुनःपुन घर्षण के फलस्वरूप त्वचा के शृंगी स्तर (horny layer) मे स्थानीय रूप से उत्पन्न होने वाली एक प्रकार की स्थूलतायें होती हैं। किण (callosity) की तुलना मे इनकी विशेषता है कि इसके केन्द्र मे एक अन्तरोन्मुखी शकुरूपी (conical) शृंगी कोट (horny core) होता है जिसका शीर्ष अध स्थित सवेदनशील चर्म पर दबाव डालता है तथा इस प्रकार पीडा उत्पन्न करता है।

घट्टे प्रायः पैर की अगुलियो पर होते हैं, किन्तु हाथ पर भी पाये जा सकते हैं। उनकी स्थितिया प्रायः निम्नलिखित होती है—छोटी पादागुली का बहिर्वर्ती भाग, अन्य पादागुलियो का अभिपृष्ठ तल (dorsal surface) तथा अन्तरा पादागुली अवकाश। कॉर्न दो प्रकार के हो सकते है, कठोर तथा मृदु; पादागुलियो के ऊपर होने वाले कठोर घट्टे (hard, corn) होते हैं; उनके आतरावकाशो (interspaces) मे होने वाले घट्टे स्वेद तथा कोष्णता के कारण मृदु होते हैं। घट्टे का बहिस्थल चिकना, उत्थित और गुम्बदरूपी होता है। घट्टे से दो प्रकार से तीव्र पीड़ा उत्पन्न होती है—अध.स्थ सवेदनशील त्वक् (cutis) पर दबाव के कारण, तथा कॉर्न के नीचे स्थित वर्सा (bursa) या पुटी मे शोथ और पूयोत्पत्ति के कारण। फलस्वरूप रोगी की चाल मे पर्याप्त निर्योग्यता आ सकती है।

विकृति

घट्टा त्वचा की एक गुम्बदरूपी अतिवृद्धि होती है जिसका आधार मोटा होता है। इसका केन्द्रीय कोड (central core) शृंगी द्रव्य (horny material) का बना होता है तथा उसके शीर्ष पर एक द्रवयुक्त लघु वर्सा स्थित होता है। आधार क्षेत्र मे अकुरकी पिंडों (papillary bodies) का विस्फारण और चर्म-प्रक्षेपो (dermal projections) का विवर्धन पाया जाता है।

यदि घट्टा अथवा वर्सा शोथयुक्त हो या विद्रधियुक्त जाए तो समीपवर्ती क्षेत्र में

ऊतिशोथ (cellulitis) तथा समीपस्थ संधि मे संधिशोथ होने की संभावना रहती है। टेबीज डोर्सेलिस (tabes dorsalis) मे वृहद पादागुलि के आधार पर स्थित शोथयुक्त घट्टे मे प्राय व्रण बन जाते है और वह स्लफ हो जाता है; इस संक्रमण का प्रसार प्रपद-पदागुलि-संधि (metatarsophalangeal joint) तथा पाद-पृष्ठ (dorsum of foot) तक हो सकता है तथा फलस्वरूप एक ट्रोफिक व्रण (trophic ulcer) बन जाता है जिसे प्राय: छिद्र-व्रण (perforating ulcer) कहते है।

चिकित्सा

सभी रोगियो के लिए आवश्यक है कि वे घट्टे को दबाव से बचावे तथा उसके हेतु का अपनयन करने का प्रयत्न करे। घट्टा बन जाने पर उसको रेजर ब्लेड की सहायता से काटा जा सकता है किन्तु वृद्ध व्यक्तियों मे ऐसा नही करना चाहिए क्योकि उनमे जराजन्य कोथ (senile gangrene) आरम्भ होने का भय रहता है। कॉर्न के सीमावर्ती क्षेत्र को फेल्ट के पैड (felt pad) से ढक कर उस पर 20 प्रतिशत सेलिसिलिक अम्ल (salicylic acid) का मरहम लगाने से भी कॉर्न हटाया जा सकता है। पूर्ण चिकित्सा के लिए स्थानीय पीडाहरण के अन्तर्गत कॉर्न का उसके क्रोडसहित व्यवच्छेदन करके अपनयन करना आवश्यक होता है, यदि क्रोड शेष रहे तो कॉर्न की पुनरावृत्ति हो जाती है।

मृदु घट्टे की चिकित्सा मे पैरो की स्वच्छता का विशेष महत्त्व होता है। पादांगुलियो के मध्य पैड लगाना प्राय लाभदायक होता है। मृदु घट्टे का भी उच्छेदन किया जा सकता है। संक्रमित घट्टे की चिकित्सा, विद्रधि की भाति, सिकाई (fomentation), एटीबायोटिको (antibiotic) तथा छेदन (incision) द्वारा की जाती है।

चर्मकील

चर्मकील (warts) या वेरुका (verrucae) उपकला प्रफलन के कारण उत्पन्न होने वाले अर्बुद-सम स्थानीय लघु बहिर्वृद्धियो (out growth) को कहते है। इनमे अकुरकी प्रवर्धों (papillary processes) की अतिवृद्धि तथा अतिकेरेटोसिस (hyperkeratosis) पाया जाता है।

विक्षति के स्थल और रोगी की आयु के अनुसार चर्मकील के अनेक प्ररूप होते हैं, यथा, साधारण चर्मकील, बाल (juvenile) चर्मकील, जराजन्य

(senile) चर्मकील, पादतल (plantar) चर्मकील तथा अतिवृद्धि चर्मकील या कोन्डाइलोमेटा एक्युमिनेटा (condylom ıta acuminata) ।

साधारण चर्मकील—ये वृ तयुक्त (pcdurculated) चर्मकील गोलाकार (spherical) अथवा अनियमितरूपी होते हैं तथा इनका आकार मटर के दाने के लगभग या उससे छोटा होता है। ये दृढ होते है और रग काला या भूरा-धूसर होता है। ये दोनो लिंगो मे तथा शरीर मे किसी भी स्थान पर पाये जा सकते है किन्तु इनकी आम स्थितिया निम्नलिखित होती है—वृषण कोश, पादागुलि, पाद-पृष्ठ (dorsum of foot) तथा हाथो और अगुलियो का अभिपृष्ठ-तल । कभी-कभी ये स्वयमेव लुप्त हो जाते है।

पदतल चर्मकील—ये नगे पैर चलने वाले व्यक्तियो के तलवो पर अधिक होते है। इनकी सख्या प्राय 5 से 10 होती है तथा इनके परिसर पर एक शृगी वलय (horny ring) विद्यमान होता है। पीड़ा के कारण ये चलने मे बाधा डालते है। पदतल चर्मकील की ही एक किस्म मोजेक चर्मकील (mosaic wart) है जो अनेक लघु चर्मकीलो के परस्पर सलीन होने से उत्पन्न होता है। यह पदतल के पृष्ठ को आधा या अधिक ढकने वाले मिश्र चप्पे (composite patch) के रूप मे पाया जाता है। यह शुष्क, कठोर, पीडारहित तथा वर्धी होता है।

कोन्डाइलोमेटा एक्युमिनेटा (condylomata acuminata)—इन्हे अतिवृद्धि चर्मकील भी कहते है। ये वृषण कोश तथा भग पर पाये जाते है और मैथुन के समय ससर्ग के कारण होते है। इस कारण इन्हे गोनोमेहजन्य (gonorrhoeal) या रतिरोगज (venereal) चर्मकील भी कहा जाता है, किन्तु ये मिथ्या सज्ञाए है, इनका वास्तविक हेतु गोनोरिया या रतिरोग नही होता।

विकृति

सब प्रकार के चर्मकीलो की प्रकृति सक्रामक होती है। इनका मूल कारण एक प्रकार का निस्यन्दीय वाइरस होता है। विकृति-विज्ञानात्मक अध्ययन पर शूककोशिका स्तर (prickle-cell layer) की अतिवृद्धि पाई जाती है। चर्मकीलो के वर्धन तथा प्रतिक्रमण पर मनोविज्ञानात्मक घटको का महत्त्वपूर्ण प्रभाव पडता है।

चिकित्सा

चर्मकीलो की चिकित्सा के लिए आतरिक तथा बाह्य, दोनो प्रकार के

उपचार का प्रयोग विभिन्न सफलतापूर्वक किया गया है। कहा जाता है कि आयोडाइड (iodide), पारा (mercury), अवटुसार (thyroid extract) और टेट्रासाइक्लीन (tetracycline), इन सभी का अत.प्रयोग लाभदायक होता है। किन्तु चर्मकीलो की चिकित्सा का सर्वोत्तम साधन विद्युत-स्कंदन (electro coagulation) या कॉटरी उच्छेद (cautery excision) है। चर्मकील का क्षुरिका (knife) प्रयोग द्वारा हरण करना भी उपयोगी होता है, छेदनजन्य रक्तस्राव को पोटाशियम परमेंगनेट द्वारा रोका जा सकता है। पदतल-चर्मकीलो के लिए 2000-3000 r का एक्सरे विकिरण अथवा रेडियम का उपरिस्थ अनुप्रयोग (surface application) सर्वोपयुक्त रहता है।

मोलस्कम कन्टेजियोसम (molluscum contagiosum)

इस रोग मे शरीर पर व्यापक रूप से वितरित 2 m.m से 2 cm व्यास के आकार के मोती के समान श्वेत वर्ण अर्बुद उत्पन्न हो जाते हैं। ये एक निस्पदी (filterable) वाइरस के कारण होते हैं। ऊतिकीय अध्ययन पर इनमे विशिष्ट अभिरजन गुणो वाले मोलस्कम पिंड (molluscum-bodies) पाये जाते हैं।

इस अवस्था की चिकित्सा गेल्वेनो-कॉटरी (galvano-cautery) या डायथर्मी (diathermy) द्वारा की जाती है।

त्वचा के सक्रमण

पनसिका या फोड़ा (furuncle or boil)

यह दशा रोमपुटक (hair follicle) के कोथी शोथ (gangrenous inflammation) के कारण होने वाले ऊतक-परिगलन तथा पूयता के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। इसके संक्रमण-कारक प्राय स्टेफाइलोकाकस पायोजेनीस (staphylococcus pyogenes), स्टेफाइलो० ओरियस (aureus) तथा स्टेफाइलो० एल्बस (albus) होते है।

पनसिकाजनक जीवाणु त्वचा द्वारा प्रवेश करते हैं। अस्वच्छ अथवा कृशकाय व्यक्तियो तथा स्केबीज (scabies) और मधुमेह के रोगियो को फोड़े अधिक होते है। सतत क्षोभ अथवा घर्षण वाले स्थानो पर इनका आघटन अधिक होता है, उदाहरणत. ग्रीवा, कक्ष तथा—जुलाहों मे—नितम्ब प्रदेश। ये सूक्ष्मजीव प्राय उग्र होते है तथा त्वचा और नाक मे व्यापक रूप से विद्यमान

होते है ।

रोमकूप (hair follicle) के दृढ ऊतको द्वारा परिवद्ध होने से शोथ के कारण स्थानीय तनाव वढ जाता है और रक्तवाहिकाओ की सहज ही मे घनास्रता (thrombosis) हो जाती है । पनसिका मे केन्द्रीय परिगलन क्षेत्र, अथवा क्रोड (core) के चारो ओर शोथ-क्षेत्र होता है जो कुछ समय पश्चात् पूययुक्त हो जाता है । जव पूय तथा क्रोड विसर्जित हो जाते है तो पनसिका-गुहा मे कणिका-ऊतक (granulation tissue) प्रकट हो जाता है तथा इस प्रकार विरोपणक्रिया सम्पन्न होती है ।

पनसिका का आरम्भ रोमकूप मे एक छोटे, दृढ, लाल, स्पर्शासह क्षेत्र के रूप मे होता है । अरुचि (molaise) तथा न्यूनाधिक ज्वर आदि दैहिक लक्षण भी होते है । यदि फोडा नाक, कान, आदि दृढ और तनाव-युक्त स्थलो पर होता है तो पीड़ा अति तीव्र होती है । आनन तथा ओष्ठो पर विद्यमान फोडे आपत्पूर्ण होते है क्योकि सक्रमण कोण-शिरा (angular vein) द्वारा गह्वर शिरानापल (cavernous sinus) मे पहुच कर वहा घनास्र उत्पन्न करने से घातक हो सकता है । कभी-कभी पनसिकाओ के अनेक पुज उत्पन्न हो सकते है । यह अवस्था **पनसिकता** (furunculosis) कहलाती है ।

चिकित्सा

यदि मधुमेह या स्केबीज (scabies) विद्यमान हो तो इनकी चिकित्सा करना आवश्यक है । आवश्यकतानुसार मुखीय (oral) या आन्त्रेतर (parenteral) एटीवायोटिको का प्रयोग भी किया जा सकता है ।

स्थानीय चिकित्सा—नासा तथा चेहरे पर स्थित पनसिकाओ की अत्यन्त सावधानीपूर्वक चिकित्सा की आवश्यकता होती है । क्रोड को निकालने के लिए उनको दवाना नही चाहिए । उनके स्तर पर फेल्ट या प्लास्टर का उचित आकार का ऐसा टुकड़ा चिपका देना चाहिए जिसके केन्द्र मे एक पर्याप्त छिद्र हो । इस टुकडे के ऊपर से ही फोड़े की सिकाई व ड्रेसिंग किया जाए, जब वह मृदु हो जाए तो उसका छेदन कर दिया जाए । यदि शरीर मे फोड़े वारम्वार होते हो तो एक्सरे विकिरण या अल्ट्रा-वायलेट विकिरण आदि सहायक उपचार भी लाभप्रद रहते है ।

कारबंकल (carbuncle)

कारबंकल की व्याख्या एक प्रकार से पनसिकाओ के सगुटीकरण (conglo-

meration) के रूप मे की जा सकती है। यह मधुमेह के रोगियो मे सर्वाधिक पाया जाता है, किन्तु अधिक आयु के मद्यपियो एवं वृक्कशोथ (nephritis) से ग्रस्तो मे भी यह अधिक होता है। ग्रस्त रोमकूप तथा उनके मध्यस्थित मृदु ऊतक परस्पर शोथयुक्त होकर एक कठोर, ठोस ऊतक-पिण्ड उत्पन्न कर देते है जिस पर अनेक छिद्र बन जाते है जिनसे पूय निकलती रहती है। कारबकल प्राय. ग्रीवा अथवा पीठ पर गहरे लाल (dusky red) या नील-लोहित (purple) रंग के पीड़ायुक्त, कठोर पिण्ड के रूप मे आरम्भ होता है तथा फैलते-फैलते कभी-कभी 20 cm व्यास तक का आकार ग्रहण कर लेता है। ज्वर, जीवविपरक्तता (toxaemia) तथा कभी-कभी प्रलाप (delirium) आदि दैहिक लक्षण भी विद्यमान होते हैं। जब कारबकल ग्रीवा-पृष्ठ पर होता है तो सम्पूर्ण ग्रीवा कठोर प्रतीत होती है। ग्रीवा की गति सीमित हो जाती है।

चिकित्सा

कारबकल के रोगियो मे मधुमेह तथा कीटोनता (ketosis) प्राय. विद्यमान होते है, अत इन्सुलिन और ग्लूकोज़ की पर्याप्त मात्रा के प्रयोग द्वारा इनका नियत्रण करना आवश्यक होता है।

छोटे कारबकल का स्थानीय उपचार उच्छेदन तथा त्वचारोपण (skin grafting)द्वारा किया जाता है। वृहद् आकार वाले कारबकल का क्रास-रूपी छेदन (cruciate incision) करके प्रत्येक प्रालव (flap) को अधोरदित (undercut) कर दिया जाता है ताकि अधस्त्वक्ऊतक के पट (septa) टूट जाए और पस (pus) का विसर्जन तथा स्लफ का अपहरण सम्भव हो सके। छेदन के पश्चात् निर्जल मैग्नेशियम सल्फेट (anhydrous magnesium sulfate) के ग्लिसरीन मे सतृप्त घोल (saturated solution) द्वारा क्षत की तब तक ड्रेसिंग की जाती है जब तक स्लफ विलग न हो जाए। कारबकल के चारो ओर पेनिसिलिन या रोगी के रक्त के इन्जैक्शन भी लगाए जा सकते है। स्थानीय एक्सरे उपचार भी चिकित्सा मे सहायक होता है।

त्वचा की यक्ष्माजन्य अवस्थाएं

त्वचा का यक्ष्मा तीन रूपो मे पाया जाता है : लूपस वल्गेरिस (lupus vulgaris), वेरूका नेक्रोजेनिका (verruca necrogenica) तथा स्क्रोफुलोडर्मा (scrofuloderma)।

लूपस वल्गेरिस (साधारण लूपस)

लूपस वल्गेरिस प्राय. 10 से 25 वर्ष की आयु के बीच होता है तथा आनन पर त्वचा-पर्वको (skin nodules) के रूप मे पाया जाता है, जो परस्पर सलीन व विस्तरित होते रहते है। यह विक्षति सममित (symmetrical) होती है तथा तितली-आकृति के समान यह नाक के आरपार दोनो गालो पर फैल जाती है। इसमे व्रणोत्पत्ति हो जाती है जो एक ओर विरोहित होती है तथा दूसरी ओर फैलती रहती है। काच के स्लाइड द्वारा दबाने पर लूपस वल्गेरिस के पर्वक सेब की जेली (apple jelly) के समान दिखते है। प्रादेशिक लसीकापर्वों का विवर्धन भी पाया जाता है।

चिकित्सा के मुख्य अग सामान्य स्वास्थ्य मे सुधार और स्ट्रेप्टोमाइसिन का प्रयोग है। अल्ट्रा-वायोलेट उपचार भी लाभदायक रहता है।

वेरूका नेक्रोजेनिका (Verruca necrogenica)

इसे परिगलनजन्य वेरूका भी कहते है। यह अवस्था अनियमित आकार के त्वचापर्वो के रूप मे पाई जाती है, जो चर्मकीलो के समान दीखते है। कसाइयो तथा मृतऊतिपरीक्षा (necropsy) करने वालो की त्वचा पर यह अधिक होती है तथा इसी कारण इसे बधिक चर्मकील (butcher's wart) भी कहा जाता है। चिकित्सा विधि लूपस के ही समान है।

स्क्रोफुलोडर्मा (scrofuloderma)

इसे यक्ष्मादडाणुसम्पर्कज त्वक्रुग्णता भी कहते है। यह एक व्रणयुक्त, शोथी अवस्था होती है जिसमे विद्रधि व नाडी-व्रण बन जाते है तथा प्रादेशिक लसीकापर्व विवर्धित होते है। चिकित्सा स्ट्रेप्टोमाइसिन के प्रयोग तथा आवश्यकतानुसार विद्रधि के निकास और कोथी द्रव्य के अपहरण पर आधारित होती है।

त्वग्वसा ग्रथिया

त्वग्वसा पुटी (Sebaceous cyst)

ये त्वग्वसा ग्रथियों के मुख पर शोथ, मैल अथवा स्राव के कारण अवरोध के फलस्वरूप उत्पन्न अवधारण पुटी (retention cyst) होती है। इनका आकार 1-2 से०मी० होता है तथा सामान्यतया शिरोवल्क (चित्र 253), आनन,

ग्रीवा, पीठ तथा वृषणकोश पर स्थित होती हैं। ये पर्व परिगत (circumscribed), चल (movable) तथा त्वचा से आसजित (adherent) होते है। आसजन-स्थल पर एक प्रगर्त (dimple) होता है जहा त्वग्वसा ग्रथि खुलती है। साथ ही एक काला विन्दु भी होता है जो रोम-मूल की स्थिति इगित करता है। पुटियो मे स्पर्शतरग (fluctuation) विद्यमान होती है, किन्तु वे प्रायः तनावयुक्त नही होती। पुटी मे चिकना, पीताभ तथा पुल्टिस के समान गाढ़ा त्वग्वसाद्रव्य (sebaceous material) भरा होता है, किन्तु रोम अनुपस्थित होते है। त्वग्वसापुटी अधिकत 20 वर्ष की आयु के पश्चात् पाई जाती है तथा प्राय: विशेपत शिरोवल्क पर वहुसख्या मे होती है।

चित्र—253 शिरोवल्क के त्वग्वसा सिस्ट

कभी-कभी त्वग्वसापुटी से सतत स्राव रिसता रहता है जो जमकर स्तरित (cornified) हो जाती है। इस प्रकार एक शृग (horn) का निर्माण हो जाता है। शृग का रूप सिलवट और मरोड़-युक्त होता है तथा आकार 10 से० मी० या इससे भी अधिक तक वढ़ जाता है।

त्वग्वसापुटी वहुधा सक्रमित हो जाती है तथा फलस्वरूप विद्रधि वन जाती है जा व्रणयुक्त हो सकती है। इस व्रण का परिसर वहिर्वर्तित (everted) होने

के कारण कार्सिनोमा का भ्रम उत्पन्न करता है तथा फलस्वरूप इस दशा को 'कौक का विचित्र अर्बुद' (Cock's peculiar tumour) भी कहते हैं, किन्तु इसमे दुर्दम परिवर्तन कदापि नही होता।

चिकित्सा

पुटी का पूर्ण [उच्छेदन आवश्यक होता है, अन्यथा इसका पुनरावर्तन हो जाता है।

र्‌हाइनोफाइमा (rhinophyma)

इसे नासाग्रथिलता भी कहते है। विशिष्ट आकृति के कारण इस दशा को आलू नासा (potato nose) का नाम भी दिया गया है। इसका आघटन प्रायः पुरुषो मे होता है। इसमे नासाग्र पर त्वग्वसा ग्रथियों की अतिविकसन (hyperplasia) तथा अतिवृद्धि (hypertrophy) के कारण एक दृढ बहुखडकोयुक्त (multilobulated) कदाकार (bulbous) अर्बुद बन जाता है। इसके पृष्ठ पर त्वग्वसावाहिनियो के मुख स्पष्ट देखे जा सकते है।

चिकित्सा

अर्बुद का उच्छेदन इस प्रकार करना चाहिए कि नाक पुनः प्रसामान्य आकृति की हो जाय। एक्सरे-उपचार भी लाभदायक होता है।

त्वग्वसा-ग्रंथि-अर्बुद या प्रिंगल का रोग (Sebaceous adenoma or Pringle's disease)

यह रोग वास्तव मे अर्बुदीय नही होता, किन्तु वह शरीर मे, विशेषतः आनन पर, अनेक पर्वको के रूप मे त्वग्वसा-ग्रथियो की अतिवृद्धि (hypertrophy) के कारण उत्पन्न होता है। गहरे भूरे या लाल रग के ये पर्वक आकार मे पिन-शिर (pin-head) के समान होते है। इनका वितरण सममित होता है। इनका आरम्भ बाल्यावस्था के पूर्वकाल मे होता है किन्तु यौवनारभ के पश्चात् इनके आकार मे वृद्धि हो जाती है। ऐसे बच्चे प्राय. मानसिक क्षतिग्रस्त (mental defectives) होते हैं।

चिकित्सा

छोटे पर्वको का वैद्युत स्कदन (electro-coagulation) तथा बडे पर्वको का शल्य-उच्छेदन किया जा सकता है।

डर्मायड सिस्ट (Dermoid cysts)

डर्मायड पुटी केवल त्वचा तत्त्वों से निर्मित होती है। इनका वृषण के डर्मायडो से कोई सम्बन्ध नही होता जो मध्यजनस्तर-तत्त्वो (mesodermal elements) से निर्मित होते है।

ये पुटी सुदम होती है तथा इनमे दुर्दम परिवर्तन नही होता। ये दो प्रकार की होती है. विविक्ति डर्माइड (sequestration dermoids) और आरोपण डर्माइड (implantation dermoids)।

विविक्ति डर्माइड

यद्यपि विविक्ति डर्माइड जन्म के कुछ मास या वर्ष पश्चात् प्रकट होती हैं, वास्तव मे वे जन्मजात होती है। इनकी उत्पत्ति तव होती है जव परिवर्धन के समय दो वहिर्जनस्तरी (eepidermal) अवयव परस्पर सलीन हो जाते है। इनकी स्थिति अधिकतर निम्न स्थानो पर होती है—शरीर की मध्यरेखा (चित्र 254), वाह्य-नेत्रकोटर-प्रवर्ध (चित्र 255, external orbital process), नासाओष्ठ पुटक (nasolabial fold), ओष्ठ की सयोजन रेखाएँ (fusion lines), तथा कान के ट्रेगस (tragus) और मृक्कणी को मिलाने वाली रेखा। विश्वास किया जाता है कि परिवर्धन के समय इन सयोजन-रेखाओ (fusion line) पर वहिर्जनस्तर (ectoderm) का एक अग विलग होकर मध्यजनस्तर द्वारा आवृत हो जाता है तथा त्वचा के नीचे एक पुटी के रूप मे स्थापित हो जाता है। यह पुटी सपूर्ण त्वचा तत्त्वो की वनी होती है, अत इसमे त्वग्वसा द्रव्य (sebaceous material) तथा वाल विद्यमान होते है। ये रोम या वाल घड़ी के स्प्रिग के समान कुडलीयुक्त होते है।

वच्चो या तरुणो मे शरीर मे किसी सयुक्ति-स्थिति (fusion site) पर त्वचा से मुक्त तथा चल पुटी विद्यमान हो तो डर्माइड पुटी का सदेह करना चाहिए। अस्थियो के वहिस्तल पर स्थित पुटी कई वार छिछला अपरदन (erosion) उत्पन्न कर देती है। कभी-कभी शिरोवल्क की डर्माइड पुटी, एक ततु-प्रवर्ध द्वारा, जो करोटि अस्थियो की सधिरेखा मे होकर जाता है, मस्तिष्क तानिका से सम्वद्ध होती है। किन्ही रोगियो मे कदाचित् डर्माइड पुटी की अतर्वस्तु स्वच्छ तथा पारभासी होती है।

आरोपण डर्माइड (implantation dermoid)

लुहारो, छुरी तेज करने वाले व्यक्तियो आदि के व्यवसाय में भारी धातुओ

चित्र 254—नासा-मूल की डर्माइड पुटी

चित्र 255—वाह्य नेत्रगुहा का डर्माइड

चित्र 256—जघा का आरोपण-डर्माइड

के कण छिटक कर त्वचा को छेदित कर सकते है। फलस्वरूप त्वचा का एक अश अत स्थापित हो जाता है और बाद मे वह पुटी के रूप मे विकसित होता है। अभिघातज-आरोपण-डर्माइड प्राय जघा (चित्र 256), कार्निया, हथेली तथा अगुलियों पर होते है।

चिकित्सा

पुटी का पूर्ण उच्छेद ही उसकी उचित चिकित्सा है।

क्षतचिह्न (स्कार-ऊतक)

क्षतचिह्न की उत्पत्ति ऊतको मे अभिघात के प्रति होने वाली विरोहण अनुक्रिया के फलस्वरूप होती है। क्षतचिन्ह ततु ऊतक का बना होता है तथा उपकला (epithelium) के एक पतले स्तर से ढका होता है।

सकुचित होना स्कार-ऊतक की स्वाभाविक प्रकृति होती है। कभी-कभी, विशेपत दाह-रोगियो मे, अत्यधिक सकुचन के कारण विरूपता, गति की

सीमितता, त्वचा का सिकुड़न और यहा तक कि छोटे जोडो का स्थान-भ्रश (dislocation) उत्पन्न हो जाता है।

सकु चन (contracture) के निवारण के लिए प्रभावित अग या सधि पर स्प्लिन्ट (splint) तथा उपयुक्त अति-सशोधन (over correction) का प्रयोग करना चाहिए। यदि सकु चन हो चुका हो तो उसका उच्छेदन और त्वचारोपण आवश्यक होता है।

कुछ रोगियो मे, विशेषत दाह-क्षतो तथा आपरेशन-क्षतो मे, स्कार वाहिकामय (vascular) स्थूल तथा त्वचा-स्तर से उठा हुआ होता है। यदि ये अतिवर्धित क्षतचिह्न शरीर के ऐसे क्षेत्रो मे हो जो खुले रहते है तथा वे विरूपता उत्पन्न करे तो उनका उच्छेदन तथा त्वचा-रोपण आवश्यक होता है।

दाह-क्षतो तथा अगोच्छेदन स्थूलको (amputation stumps) मे विरोहणक्षेत्र विस्तृत होता है तथा उस पर विकसित होने वाला क्षतचिन्ह पतला और निर्बल होता है। ऐसा अपर्याप्त ऊतकपोषण के कारण होता है। इस व्रण चिह्न मे व्रणोत्पत्ति होने की आशका रहती है। व्रणो का पुनरावर्तन रोकने के लिए आक्रान्त क्षेत्र का व्यापक उच्छेदन और त्वचा-रोपण करना होता है।

अगोच्छेदन के स्थूलक मे तथा वृक्क, हर्निया आदि के आपरेशन-स्थल पर विकसित होने वाले क्षतचिह्न मे तन्त्रिकाओ के कदरूपी छोरो (bulbous end) के उलझने की सभावना रहती है। ऐसा होने पर क्षतचिह्न पीडायुक्त होता है।

तीक्ष्ण मोतियाबिन्दु-क्षुरिका (cataract knife) की सहायता से क्षतचिह्न का अधोरदन (under cutting) करना लाभदायक होता है। उसका उच्छेदन (excision) व पुन सीवन (resuturing) भी किया जा सकता है। पीडायुक्त क्षेत्र मे एल्कोहल का इन्जेक्शन लगाने से शाति मिलती है।

सामान्यत. क्षतचिह्न का सकु चन होता है, किन्तु यदि उस पर खिचाव या तनाव पड़े तो वह पतला होकर फैल जाता है। ऐसा उदर-आपरेशन के पश्चात हो तो स्कारस्थल पर अभ्युदर हर्निया (ventral hernia) प्रकट हो जाता है। इसकी चिकित्सा मुख्यत उसका निवारण ही है। अभ्युदर हर्निया होने पर स्वय क्षतचिह्न मे किसी स्थानीय चिकित्सा की आवश्यकता नही होती।

कभी कभी पुराने क्षतचिन्हो और नाडी व्रणो के परिसरो मे कैल्शियम लवण निक्षेपित हो जाते है। इस प्रकार का कैल्सीभवन विरोहणी (healing) यक्ष्मानाडीव्रणो (tuberculous sinus) मे पाया जाता है। विरलत व्रणचिन्ह का अस्थिभवन (ossification) भी हो जाता है। अधोनाभि-छेदन (sub-umbilical incision) तथा पर्शुका-उपांत (costal margin) के समीपस्थ परामध्य

छेदन (paramedian incision) मे ऐसा अधिक होता है। कहा जाता है कि इन स्थानो पर आपरेशन करते समय सयोग से जघन-सधानक (symphysis pubis) और पशुकाओ की उपास्थि अभिघातग्रस्त हो जाती है तथा फल-स्वरूप निर्मुक्त होने वाली उपास्थि-कोशिकाए अस्थिभवन उत्पन्न करती है। किन्तु इस मान्यता को अभी सिद्ध नही किया जा सका है।

कैल्सीभूत या अस्थिभूत स्कार का उच्छेदन करके पुन सीवन कर देना चाहिए।
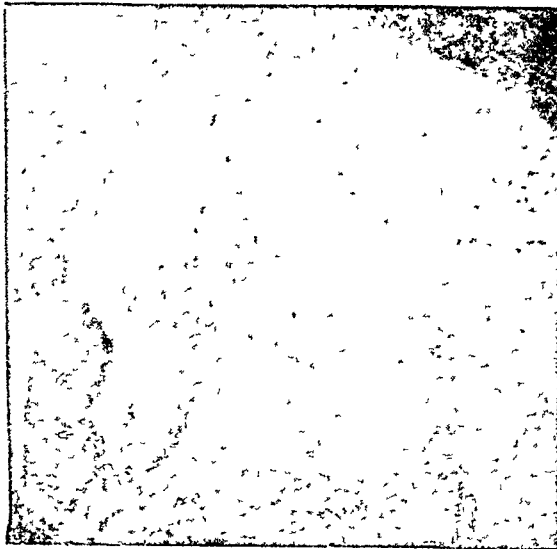
चित्र 257—उरोस्थिपूर्व कीलॉयड तथा गोदन-चिह्न (tatto marks)

कीलॉयड (keloid)

कुछ व्यक्तियो की त्वचा मे कठोर ततु-ऊतक के अर्बुदो का निर्माण होने की प्रवृत्ति होती है। इन्हे कीलॉयड (keloid) कहते है। ये दो प्रकार के होते है—वे जो स्वत. उत्पन्न हो तथा वे जो किसी पूर्वकालीन अभिघात (दाह, आपरेशन, सूचिका-वेधन) के फलस्वरूप उत्पन्न हो। मूलत इन दोनो मे कोई भेद नहीं होता। स्वत. उत्पन्न कीलॉयड को एलिबर्ट का कीलॉयड (Alibert's keloid), भी कहा जाता है।

कीलॉयड पुरुषो तथा स्त्रियो दोनो मे किसी भी आयु पर हो सकते है। इनकी एक विशेष गाढता (consistency) होती है जो लगभग कार्टिलेज के समान होती है। कीलॉयड त्वचास्तर से ऊपर उभरा हुआ होता है तथा सक्रिय

वर्धन की अवस्था मे इसका रग गुलाबी होता है । कीलॉयड अतिवर्धित व्रणचिन्ह से इस बात मे भिन्न होता है कि अर्बुद की स्पष्ट सीमा से बाहर तान्तव ऊतक के नखरवत् प्रसार (clawlike extensions) त्वचा के नीचे तक चले जाते है । अतिवर्धी व्रणचिन्ह (hypertrophied scar) में ये प्रसार नही होते । कुछ रोगियो मे कीलॉयड की वृद्धि इतनी अधिक हो जाती है कि वे विचित्र एवं वीभत्स रूप ग्रहण कर लेते है । नाक, कान आदि पर स्थित बड़े कीलॉयड वृंतकयुक्त भी हो सकते है ।

कीलॉयड शरीर मे किसी भी स्थान पर हो सकते है किन्तु सामान्य स्थितिया निम्नलिखित है—आनन, ग्रीवा, शाखाअग तथा उरोस्थि के सामने(चित्र 257) । आगे या पीछे की ओर शरीर की मध्यरेखा मे स्थित कीलॉयड की आकृति तितली के समान होती है तथा वे अत्यन्त पीडायुक्त होते है ।

हेतुकी

इस अवस्था का हेतु अज्ञात है । यह वर्णयुक्त जातियो (coloured races) तथा नीग्रो जातियो मे अधिक होती है । धारणा है कि इस अवस्था के लिए एक आनुवंशिक घटक उत्तरदायी है । इन रोगियो के रक्त तथा कीलॉयड-ऊतक, दोनो, मे प्रोटीन-बद्ध कैल्शियम (protein-bound calcium) की मात्रा अधिक होती है, अत. यह मत प्रतिपादित किया गया है कि कीलॉयड परावटु ग्रथि के अतिकार्य के कारण होता है । अभी इस मत की पुष्टि नही हो पाई है ।

चिकित्सा

सक्रियवर्धी कीलॉयड की चिकित्सा मे एक्सरे-उपचार तथा रेडियम अनुप्रयोग लाभदायक होता है । कठोर एव स्थूल कीलॉयड के उच्छेदन तथा क्षत के विरोहण के 3-4 सप्ताह पश्चात् उसका विकरण करना चाहिए । 'थोरियमX' (thorium X) का प्रयोग भी लाभप्रद कहा जाता है ।

नख

अंत वर्धी पादांगुलि-नख (ingrowing toe-nail)

ठीक तरह फिट न होने वाले जूते पहनने या नाखून की कोनो पर काटने के फलस्वरूप पादागुष्ठ-नख का बाह्य उपात मृदु ऊतको में घुसने लगता है और वहाँ सक्रमण होकर व्रण बन जाते हे तथा कणिका-ऊतक की वृद्धि होने लगती है । मृदु ऊतको का ऊतिशोथ भी हो जाता है । फलस्वरूप उस स्थल से दुर्गन्ध-

युक्त निस्राव निकलने लगता है। इस अवस्था मे रोगी की पीडा इतनी बढ़ सकती है कि चलना ही असभव हो जाता है।

चिकित्सा

पैरो को स्वच्छ रखने, ठीक फिट होने वाले जूते पहनने तथा नाखूनो को समरूप मे काटने से इस अवस्था का निवारण किया जा सकता है।

नाखून के किनारे के नीचे गॉज के एक टुकडे को रखने से पीडा घट जाती है। स्थायी चिकित्सा के लिए शल्यकर्म द्वारा नख की वहिर्वर्ती ओर से लम्वाई की ओर नाखून का आधा भाग काट दिया जाता है तथा साथ ही सम्वन्धित मृदु ऊतक के भी एक कीलकरूप (wedge shaped) अश को काट कर निकाल दिया जाता है। नख की आधात्री (matrix) का अपहरण भी आवश्यक है, अन्यथा उसका पुनर्निर्माण हो सकता है। आपरेशन के पश्चात् सक्रमण के नियत्रण के लिए एंटीवायोटिको तथा पूतिरोधी ड्रेसिगो का प्रयोग करना चाहिए।

न्यच्छ या नीवस (Naevus)

न्यच्छ या नीवस त्वचा अथवा अधस्त्वचा के एक या अधिक ऊतक तत्त्वो की जन्मजात वशानुगत अतिविकसन के फलस्वरूप उत्पन्न होते है। मूलत. जन्मजात होने पर भी वहुधा ये जन्म के कुछ वर्ष पश्चात् या जीवन के उत्तर-काल मे प्रकट होते है। इनका कारण अज्ञात है।

शुद्ध दृष्टि से नीवस एक अर्वुद होता है जिसमे नीवस कोशिकाए (naevus cells) होती है। इन कोशिकाओं मे वर्णक (pigment) की उपस्थिति अनिवार्य नही है। व्यावहारिक रूप मे नीवस शीर्षक के अन्तर्गत वे सभी दशाएं गिनी जाती है जिनमे त्वचा की सरचनाओं की स्थिति अपसामान्य हो तथा उनकी अतिवृद्धि और अतिविकसन हो गया हो।

नीवस निम्न प्रकार से वर्गीकृत किये जाते हैं।

वाहिकामय (vascular)	रक्तज—केशिकीय, केवर्नस, ताराकार और जराजन्य रक्तवाहिकार्वुद (haemangiomoa) लसीकी—परिगत लसीकावाहिकार्वुद (lymphangioma)

वाहिकामय नीवस (vascular naevi)

कोशिकीय रक्तवाहिकार्बुद (capillary haemangioma)

इनके विशिष्ट नील-लोहित (purple) रग के कारण इन्हे पोर्ट वाइन धब्बे (port wine spots) भी कहते है। ये त्वचा के समतल होते है। शरीर मे इनकी स्थिति कही भी हो सकती है किंतु अधिकत. ये आनन तथा ग्रीवा पर पाये जाते है। प्राय ये जन्म के समय ही विद्यमान होते हैं अथवा जन्मोपरात शीघ्र ही प्रकट हो जाते है। कभी-कभी कुछ मास मे ही इनका लोप हो जाता है।

चिकित्सा—उपरिस्थ एक्सरे उपचार अथवा एक एक मास के अतर पर 10-30 सैकड तक CO_2 हिम (CO_2 snow) का प्रयोग इस अवस्था मे लाभ करता है।

गह्वर (कैवर्नस) रक्तवाहिकार्बुद (cavernous haemangioma)

इन्हे स्ट्राबेरी चिह्न (strawberry marks) भी कहते है। ये स्थानीकृत, मृदु, सपीड्य तथा उत्थित अर्बुद होते है। इनका रग केन्द्र मे लाल तथा परिसर पर नीलाभ होता है। ये प्राय. आनन तथा शिरोवल्क पर स्थित होते हैं। कुछ कैवर्नस रक्तवाहिकार्बुद इतने बडे होते है कि उनका विस्तार ओष्ठ, जिह्वा नेत्रच्छद आदि तक होता है। उनके कारण त्वचा और अधस्त्वक्-ऊतको की अत्यधिक अतिवृद्धि हो जाती है। अभिघात के फलस्वरूप इनसे मुक्त रक्तस्राव होता है, जिसे नियन्त्रित करना कठिन हो सकता है।

ऊतिकीय दृष्टि से ये अर्बुद उच्छ्रायी ऊतक (erectile tissue) के समान होते है तथा विस्फारित, कुटिल (tortuous) केशिकाओ और रक्त-अवकाशो (blood space) से निर्मित होते है। कभी-कभी स्थानीय सक्रमण या व्रणोत्पत्ति के पश्चात् यह अवस्था स्वतः समाप्त हो जाती है।

चिकित्सा—छोटे नीवस का उच्छेद कर देना चाहिए। एक्सरे, रेडियम

तथा डायथर्मी-स्कंदन (diathermy coagulation) के प्रयोग का परिणाम भी सतोपप्रद होता है।

ताराकार रक्तवाहिकार्बुद (stellate haemangioma)

इस प्ररूप मे एक केन्द्रीय रक्तवाहिका से अरीय (redial) रूप मे अन्य अनेक वाहिकाए निकलती है। इस आकृति के कारण इसे लूत-न्यच्छ (spider naevus) भी कहते है।

जराजन्य रक्तवाहिकार्बुद (senile haemangioma)

ये धड तथा उदर पर पाए जाते है। इनका रग लाल तथा आकार पिन-शिर (pin-head) के समान होता है। रोगी की आयु प्रायः 40 वर्ष से अधिक होती है। इन्हे 'कैम्पदेल-दे-मोर्गन के स्थल' (Campbell de Morgan's spots) भी कहा जाता है। एक समय था जब इन्हे कार्सिनोमा का सूचक समझा जाता था।

ताराकार तथा जराजन्य रक्तवाहिकार्बुदो की चिकित्सा, यदि आवश्यक हो, वैद्युत अपघटन (electrolyis) द्वारा की जा सकती है।

गुच्छवाहिकार्बुद (Glomaugioma)

ये प्राय. नख शैया (nail bed) मे उत्पन्न होने वाले विरल लघु अर्बुद होते है। देखने मे यह रक्तवाहिकार्बुद के ममान ही होते है, किंतु इनमे तीव्र पीडा होती है। इनका निर्माण प्रधानत· धमनी-शिरा शाखा-मिलन (arterio-venous anastamosis) द्वारा होता है किंतु पेशी एव तन्त्रिका-ऊतक भी विद्यमान होता है।

इनकी चिकित्सा के लिए उच्छेदन अथवा वैद्युत अपघटन का प्रयोग किया जा सकता है।

परिगत लसीकावाहिकार्बुद (Lymphangioma circumscripta)

ये स्वच्छ द्रवयुक्त लघु जलस्फोट (vesicles) होते है जिनका आकार प्राय पिन-शिर तथा मटर के दाने के मध्य होता है। ये त्वचा-स्तर से ऊपर उभरे होते है तथा इनके चारो ओर वर्णकयुक्त (pigmented) क्षेत्र होता है।

छोटी विक्षतियों को विद्युत कौटरी (electro-cautery) तथा बड़ो को उच्छेद द्वारा दूर किया जाता है।

अवाहिकायम नीवस

अवाहिकीय नीवस (avascular naevus) दो प्रकार के हो सकते है—त्वचा के समतल तथा त्वचास्तर से उत्थित एव कोशिकीय। प्रथम प्ररूप को जन्म चिह्न (birth marks) तथा द्वितीय को मोल (mole) कहते है।

समतल वर्णकयुक्त धब्बे (plane pigmented spots)

इनका रग फीका या गहरा भूरा होता है तथा ये सारे शरीर पर वितरित होते है। आधार स्तर (basal layer) अंकुर की स्तर (papillary layer) तथा शूक कोशिका स्तर (prickle-cell layer) मे वर्णक की मात्रा मे वृद्धि पाई जाती है।

इनके लिए कोई चिकित्सा आवश्यक नही होती। यदि इनसे विरूपता उत्पन्न हो तो अंगरागी दृष्टि से CO^2 हिम अथवा वैद्युत अपघटन का प्रयोग किया जा सकता है।

कोशिकीय नीवस या मोल (Cellular naevus mole)

ये प्राय' वर्णकयुक्त (भूरे, गहरे नीले या काले) होते है तथा इनका स्तर त्वचा से तनिक उठा हुआ होता है। इसकी गाढता (consistency) दृढ या मृदु और आकार पिन की नोक से लेकर शरीर के विशाल भाग को आच्छादित करने वाले क्षेत्रो तक हो सकता है। मोल रोमयुक्त या रोमरहित दोनों प्रकार के हो सकते है किन्तु वृहदाकार मोल प्राय रोमयुक्त होते है। प्रत्येक के शरीर पर कुछ मोल या तिल विद्यमान होते है। इनकी प्रकृति वंशानुगत होती है।

ऊतिविकृति (Histopathology)—इन विक्षतियो की विशिष्ट कोशिका न्यच्छ कोशिका (naevus-cell) होती है जो दीर्घ-घनाकार और एक जलस्फोट-सम (vesicular) केन्द्रक से युक्त होती है। इस कोशिका मे मिलेनिन (Malanin) नामक वर्णक विद्यमान होता है जो प्रसामान्यत शूक कोशिकाओ मे ही पाया जाता है। कभी-कभी मोल मे दुर्दम परिवर्तन भी हो जाते है।

चिकित्सा

यदि मोल के कारण अधिक विरूपता न हो तो किसी उपचार की आवश्यकता नही है। यदि उसमे क्षोभ (irritation) उत्पन्न हो जाए अथवा उसके

आकार और रंग में वृद्धि होने लगे तो यह दुर्दम परिवर्तन का सूचक होता है। ऐसी अवस्था मे शीघ्र ही मोल का प्रादेशिक लसीका-पर्वो सहित उच्छेद कर देना चाहिए।

ततुअर्बुदी न्यच्छ (Fibromaotus naevi)

तंत्रिकातंतुअर्बुद (neurofibroma)—ये तत्रिकाओ से सम्बन्धित मृदु अर्बुद होते है जो त्वचास्तर से उत्थित होते है। कुछ वृन्तकयुक्त अर्बुद इतने विशाल होते है कि उनका वजन 5 से 10 किलोग्राम तक हो सकता है।

इनकी उत्पत्ति तत्रिका के सयोजी-ऊतक तत्त्वो से होती है। ऊतिकीय अध्ययन पर उनमे शोफयुक्त आधात्री (matrix) मे निहित मृदु एव कोशिका-प्रचुर सयोजी ऊतक पाया जाता है। इसके अतिरिक्त व्यपजनित (degen-erated) तत्रिका-ततु भी विद्यमान हो सकते है।

वोन रेकलिंगोसन का रोग (von recklingbausen's disease)—इस रोग के विशिष्ट अभिलक्षण निम्नलिखित है . (1) त्वचा पर एक वर्ण-युक्त धव्वा (pigmented), (2) तत्रिकाओ मे अनेक तत्रिकाततुअर्वुद (neurofibroma) तथा (3) त्वचा पर तत्रिकाततुअर्वुदो के लटकते हुए पिंड (चित्र 258)। वर्णक-युक्त धव्वा वचपन मे ही प्रकट हो जाता है किंतु अर्वुद-पिंडो का प्रादुर्भाव कुछ समय पश्चात् होता है। अर्वुद पिण्ड मृदु होते है तथा हथेलियो और तलवो को

चित्र 258—वोन रेकलिंगोसन का रोग

छोड कर शरीर के किसी भी भाग मे हो सकते है। इनके आघटन-दर मे कोई लिगभेद नही होता।

वर्णकयुक्त धव्बो का रग दूधमिश्रित काफी के समान होता है; अत उन्हे 'काफी-दुग्धस्थल (cafe au lait spots) कहा जाता है।

ये अर्बुद मुदम होते हे, किन्तु किसी-किसी मे दुर्दम परिवर्तन होने की सम्भावना रहती है। अस्थियो मे होने वाले परिवर्तनो के कारण इन रोगियो मे काइफोस्कोलियोसिस (kyphoscoliosis) हो सकता है।

इस रोग मे चिकित्सासम्बन्धी साधन तभी अपनाने चाहिएँ जव आकार अथवा स्थिति के फलस्वरूप एक या अधिक अर्बुद शारीरिक कप्ट या अशक्तता उत्पन्न करते हो।

त्वचा के अर्बुद

त्वचा के कुछ सुदम अर्बुदो का वर्णन चर्मकील तथा न्यच्छ के अन्तर्गत

चित्र 259—रोडेन्ट व्रण

किया जा चुका है। त्वचा के दुर्दम अर्बुद भी प्राय पाए जाते है। इनमे निम्न-लिखित महत्वपूर्ण है।

आधार-कोशिका कार्सिनोमा या रोडेन्ट व्रण (basal-cell carcinoma rodent ulcer)

आधार-कोशिका-कार्सिनोमा को रोडेन्ट व्रण या कृन्तक व्रण भी कहते है। इसका आघटन उपकलार्बुद (epithelioma) के समान ही होता है। दोनो लिंगों के अधिक आयु के व्यक्तियो मे यह अधिक पाया जाता है तथापि यह किसी भी आयु मे हो सकता है। यह प्राय एकल रूप मे विद्यमान होता है। शरीर मे इसकी स्थिति कही भी हो सकती है, किन्तु अधिकतर यह आनन, मस्तक, नाक, शिरोवल्क तथा नेत्रच्छद पर स्थित होता है।

इस रोग की आरम्भिक अभिव्यक्ति एक पपडीयुक्त पीताभरग के पर्वक के रूप मे होती है जिसमे व्रण बन जाता है। व्रण का स्वरूप क्रेटर (crater) के समान होता है। उसका परिसर उत्थित होता है किन्तु बहिर्वर्तित (everted) या तलोच्छेदित (undermined) नही होता (चित्र 259)। व्रण तल अनियमित और परिगलित ऊतक से रहित होता है तथा उस पर पर्पट निर्माण (crust formation) पाया जा सकता है। रोडेन्ट व्रण के क्षेत्र तथा गम्भीरता मे सतत वृद्धि होती रहती है और समीपवर्ती समस्त अवयवो—नासा, नेत्रगोलक, उपास्थि, अस्थि आदि—का अन्त सचरण और नाश हो जाता है। अर्बुद जितना दुर्दम होता है व्रण उतना ही अधिक विस्तृत और गहरा होता है। आधार-कोशिका-कार्सिनोमा (basal-cell carcinoma) की दुर्दमता केवल स्थानीय होती है, दूरस्थ स्थलान्तरण (distant metastasis) एव प्रादेशिक लसीका-पर्वविवर्धन नही पाया जाता। तथापि, सक्रमण के कारण सम्बन्धित पर्व विवर्धित हो सकते है।

आधार-कोशिका-कार्सिनोमा का एक विकट प्रकार कवकाभ प्ररूप (fungoid type) होता है।

ऊतिकीय अध्ययन पर कोशिकाओ के अनेक स्तम्भ दृष्टिगोचर होते है किन्तु शृगीभवन (cornification) न होने के कारण उनमे कोशिका-मुक्ता (cell pearls) या कोशिका नीड (cell nests) नही पाये जाते।

चिकित्सा

यदि विक्षति का आकार लघु हो, और शरीर-रचनात्मक दृष्टि से सभव हो

सके तो सपूर्ण व्रण का पर्याप्त उपान्त (margin) सहित उच्छेद कर देना चाहिए। भाग्यवश यह अर्बुद विकिरण-सवेदनशील होता है और रेडियम या एक्सरे उपचार द्वारा प्राय उत्तम परिणाम होते है। यदि रोडेन्ट व्रण का पुनरावर्तन हो जाए तो दुर्दमता तथा विकिरण-प्रतिरोधकता मे वृद्धि हो जाती है।

शल्की-कोशिका-कार्सिनोमा या एपिथीलियोमा (squamous-cell-carcinoma या epithelioma)

यह कार्सिनोमा शीघ्र ही भजित हो जाता है, अत सर्वप्रथम प्राय. यह व्रण के रूप ही दृष्टिगोचर होता है, इस व्रण मे कार्सिनोमी व्रण के सभी प्ररूपी गुण होते है, यथा कठोर वहिर्वर्तित उपात, स्थिर आधार और व्रण-तल मे विद्यमान अर्बुदी ऊतक। इसके अतिरिक्त एक प्रकार का अकुरकी शल्की-कोशिका-कार्सिनोमा भी पाया जाता है जिसका आधार विस्तृत और रूप फूलगोभी के समान होता है। यह प्रथम प्ररूप की अपेक्षा कम पाया जाता है। इन दोनो की आघटन 40 वर्ष की आयु के पश्चात् अधिक होती है।

लसीकापर्व शीघ्र ही विक्षेपित हो जाते है। कुछ विक्षेप धीरे-धीरे वर्धित होते है तथा दीर्घकाल तक स्थानीकृत रहते है जबकि कुछ का विस्तार द्रुत गति से होता है और समीपवर्ती अवयव नष्ट हो जाते है।

ऊतिकीय सरचना प्ररूपी होती है तथा उपकला मुक्ताओ (epithelial pearls) एव कोशिकानीडो की उपस्थिति पाई जाती है। ये अर्बुद शूक-कोशिका-स्तर (prickle cell layer) से उत्पन्न होते है।

एपिथीलियोमा, (epithelioma) का प्रादुर्भाव प्रसामान्य त्वचा मे भी हो सकता है। अत्यन्त उष्ण या अत्यन्त ठडे मौसम मे कार्य करने वाले व्यक्तियो मे यह अधिक होता है, यथा कृषक, नाविक, ऐंजिन मे कोयला झोकने वाले आदि। इन अर्बुदो की सामान्यत स्थिति आनन, कपोल, ओष्ठ, मस्तक तथा देह-शाखाओ (extremities) मे होती है।

चिरकारी क्षोभ अथवा कार्सिनोजन पदार्थो से सपर्क के कारण त्वचा के कुछ क्षेत्रो मे एपिथीलियोमा उत्पन्न होने की अधिक प्रवृत्ति होती है। उदाहरणत कश्मीरी व्यक्ति ठड से बचाव के लिए एक अगीठी-सी शरीर से लटकाये रखते है जिसे 'कागडी' कहते है। इसके कारण 'कागडी कैंसर' उत्पन्न हो जाता है। कमर पर बहुत तग वस्त्र पहनने के फलस्वरूप घर्षण तथा क्षोभ उत्पन्न होता है तथा वह क्षेत्र विवर्ण हो जाता है। इस क्षेत्र मे भी कार्सिनोमा होने की सभावना रहती है (चित्र 260)। नगे पैर सडको की मरम्मत करने वाले
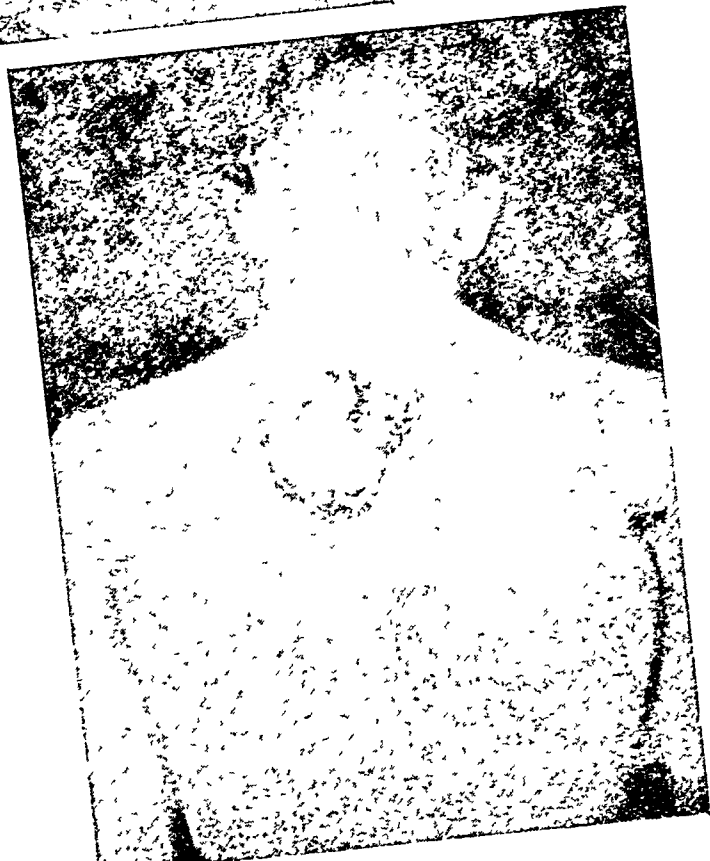
चित्र —260 कटि-त्वचा का एपिथीलियोमा।

चित्र—261 मार्जोलिन का व्रण

श्रमिकों को तारकोल से संपर्क के कारण कैंसर हो सकता है। इनके अतिरिक्त कारखानों की चिमनी साफ करने वाले व्यक्तियों में वृषणकोश का कैंसर (chimney sweeper's cancer) तथा सूत मिलों में 'म्यूल कातने वाले का कैंसर' (mule spinners cancer) भी विख्यात है। दाह के उपरांत चिरकारी व्रण के उपरांत में दुर्दम परिवर्तन हो सकता है। ऐसे कैंसर को मार्जोलिन का व्रण (Marjolin's ulcer) कहा जाता है (चित्र 261)।

चिकित्सा

इस अर्बुद की चिकित्सा की आदर्श विधि संपूर्ण व्रण का, प्रादेशिक पर्वों-सहित, उच्छेद है। यदि यह संभव न हो तो स्थानीय उच्छेद तथा रेडियम या एक्सरे, अथवा दोनों, का प्रयोग किया जा सकता है। एक से अधिक विधियों के संयुक्त प्रयोग का परिणाम प्रायः उत्तम रहता है, किंतु स्मरणीय है कि प्रत्येक अर्बुद की चिकित्सा-विधि उसकी स्थिति, आकार, विस्तार-सीमा, दुर्दमता-कोटि तथा रोगी की आयु को दृष्टि में रखकर निर्धारित करनी होती है।

दुर्दम मेलेनोमा (malignant melanoma)

चिरकाल से यह विवाद का विषय रहा है कि इस अर्बुद का वर्गीकरण सार्कोमा (sarcoma) के अन्तर्गत किया जाए अथवा कार्सिनोमा (carcinoma) के अन्तर्गत। यद्यपि दोनों मतों की पुष्टि के लिए कतिपय तर्क प्रस्तुत किए जा सकते हैं, तो भी यही श्रेयस्कर है कि इन अर्बुदों को दुर्दम मेलेनोमा के नाम से संबोधित किया जाये।

ये अर्बुद प्रायः मेलेनिन (melanin) उत्पन्न करते हैं जिससे वे वर्णकयुक्त होते हैं किंतु कुछ अर्बुद वर्णकरहित भी होते हैं। उन्हें मेलेनिनहीन मेलेनोमा (amelanotic melanoma) कहा जाता है।

दुर्दम मेलेनोमा की उत्पत्ति वर्णकयुक्त न्यच्छ (pigmented naevus) में अथवा प्रसामान्य त्वचा में हो सकती है। नख-पुटक (nail fold), गुदाउपांत (anal margin) तथा नाक में विद्यमान वर्णकयुक्त मोल प्रायः दुर्दम होने की ओर प्रवृत्त होते हैं। प्राथमिक अर्बुद की स्थिति पदतल, आयरिस (iris), आनन अथवा पादांगुलि में कहीं भी हो सकती है। विक्षेपण लसीका-मार्ग अथवा रक्तमार्ग, दोनों प्रकार से हो सकता है तथा प्रायः त्वचा, लसीकापर्व और यकृत में पाया जाता है।

शरीर में किसी मोल (mole) के आकार की वृद्धि या क्षोभ उत्पन्न हो

जाना दुर्दम परिवर्तन का प्रथम लक्षण है। उसमे जलन या खुजली की अनुभूति हो सकती है तथा कालातर मे व्रणोत्पत्ति व रक्तस्राव भी हो सकता है। कभी-कभी प्राथमिक अर्बुद अत्यन्त लघु व अस्पष्ट होता है, द्वितीयक वृहत् होते है जो रोग का प्रथम चिह्न हो सकते है।

व्यापक विक्षेपयुक्त रोगियो के मूत्र मे मेलेनोजन (melanogen) नामक यौगिक विद्यमान होता है, जो वायु के सपर्क मे आकर आक्सीकरण के कारण गहरा भूरा रग का हो जाता है।

चिकित्सा

दुर्दम मेलेनोमा विकिरण-प्रतिरोधी होता है। चिकित्सा का एक मात्र साधन यदि सम्भव हो तो, शीघ्र अगोच्छेदन अथवा प्रादेशिक लसीकापर्वो सहित अर्बुद के व्यापक उच्छेद के रूप मे होता है। इस रोग का प्राग्ज्ञान (prognosis) प्राय. शोचनीय होता है क्योकि विक्षेपण बहुत शीघ्र हो जाता है।

जेन्थोमा (xanthoma)

ये वास्तव मे अर्बुद नही होते किन्तु आकृति मे उनके समान होते है। ये वैकृत लिपाइड चयापचय (lipoid matabolism) के फलस्वरूप त्वचा मे त्वग्रक्तिमा से घिरे अनेक लघु पर्वको के रूप मे प्रकट होते है। इनका रूप चपटा, रंग पीला और प्रगाढता मृदु होती है। कभी-कभी ये दृढ़ तथा वृतक-युक्त भी हो सकते है।

नेत्रच्छद मे स्थित जेन्थोमा को (xanthelasma palpebrarum) भी कहते है। ये प्राय द्विपार्श्वी होते है और अधिक आयु वाले व्यक्तियो के ऊर्ध्व नेत्र-च्छद के अतरीय कैन्थस (inner canthus) मे पाये जाते है।

अतिलिपाइडरक्तता (hyperlipaemia) से युक्त मधुमेह रोगियो के करतल, पादतल, नितब, आनन तथा कोहनियो पर सहसा अनेक जेन्थोमा प्रकट हो सकते है। इस दशा को मधुमेही जेन्थोमा (xanthoma diabeticorum) कहते है। इस दशा मे नेत्रच्छद प्रभावित नही होते। मधुमेही जेन्थोमा दाब-वेदनशील तथा खाजयुक्त होते है। ऊतकीय दृष्टि से सब प्रकार के जेन्थोमा महाकोशिकाओ (giant cells) तथा फेन-कोशिकाओ (foam cells) या जेन्थोमा कोशिकाओ द्वारा निर्मित होते है। फेन या जेन्थोमा कोशिकाओ की उत्पत्ति जालिका-अत कला तत्र से होती है।

चिकित्सा

मधुमेही जेन्थोमा की चिकित्सा के लिए अल्पवसा आहार (low fat diet) तथा इन्सुलिन का प्रयोग पर्याप्त होता है। अन्य प्रकार के जेन्थोमा को, यदि आवश्यकता हो, वैद्युत काटरी (electro cautery) द्वारा अभिकृत किया जा सकता है।

त्वचा निरोपण

रोपण के लिए त्वचा स्वयं रोगी के शरीर से (स्वनिरोप autograft) अथवा किसी अन्य व्यक्ति के शरीर से (समनिरोप, homograft) प्राप्त की जा सकती है। व्यावहारिक रूप में केवल स्वनिरोप ही प्रयुक्त किए जाते हैं, क्योंकि समनिरोप प्राय प्रस्थापित नहीं हो पाते।

त्वचा निरोप दो प्रकार के होते हैं—मुक्त निरोप (free graft) तथा त्वचा प्रालव (skin flap)। मुक्त निरोपण के लिए त्वचा का एक अंश दाता क्षेत्र (donor area) से पूर्णत विलग करके ग्राही क्षेत्र (recepient area) पर रख दिया जाता है तथा वहां से पोषण प्राप्त करता है। प्रालव निरोप एक ओर दाता-क्षेत्र से जुड़ा रहता है और वहीं से उसका रक्त संभरण होता है, दूसरी ओर वह ग्राही क्षेत्र पर आच्छादित होता है। प्रालव का वृंतक (pedicle) एकत्र या दोहरा हो सकता है।

मुक्त त्वचा-निरोपण

मोटाई के अनुसार त्वचा निरोप चार प्रकार के हो सकते हैं।

थीर्श निरोप (Thiersch graft)

इस विधि में वाह्यत्वचा (epidermis) को अन्त -त्वचा या कोरियम की नोक-तक, उस्तरे या डर्मेटोम (dermatome) की सहायता से पृथक् किया जाता है निरोप ले लेने पर दाताक्षेत्र में अनेक क्षुद्र रक्तस्राव विन्दु (bleeding points) शेष रहते हैं। यह विधि सर्वाधिक प्रचलित है क्योंकि इसके द्वारा पर्याप्त आकार के ग्राफ्ट प्राप्त किए जा सकते हैं तथा दाता क्षेत्र का शीघ्र ही पुन उपकलाभवन (re-epithelialization) हो जाता है।

थीर्श ग्राफ्ट प्राय जांघ (उरु), वाहु तथा उदर से लिया जाता है। पतला होने के कारण इसे थोड़े पोषण की आवश्यकता होती है जो इसे ग्राही क्षेत्र से सहज में प्राप्त हो जाता है। फलस्वरूप निरोपण की यह विधि प्रायः सफल

रहती है ।

ब्लेयर माध्यमिक त्वचा निरोप (Blair intermediate skingraft)—यह थीर्श रोप की अपेक्षा तनिक मोटा होता है । ब्लेयर रोप के लिए त्वचा की आधी से तीन-चौथाई मोटाई को काटा जाता है । इसमे सपूर्ण चर्म (corium) सम्मिलित होता है किन्तु रोम-पुटको तथा त्वग्वसा-ग्रथियो को दाता क्षेत्र पर ही छोड दिया जाता है ताकि वहा पुन उत्कलाभवन हो सके । इस विधि की विशेष उपयोगिता तव होती है जव पूर्ण-मोटाई-निरोप (full-thickness graft) की आवश्यकता हो किन्तु पर्याप्त दाताक्षेत्र उपलब्ध न हो । इस प्रकार के ग्राफ्ट मे थीर्श ग्राफ्ट की अपेक्षा त्वचा का प्राकृतिक रग अपरिवर्तित रहने की अधिक सम्भावना होती है ।

वोल्फ पूर्ण मोटाई रोप (Wolfe fu'l thickness graft)—इस में त्वचा के सभी स्तर विद्यमान होते है । इसका सीमित परिमाण ही प्राप्त किया जा सकता है, क्योकि दाताक्षेत्र को त्वचारोपण या समीपवर्ती त्वचा के सर्पण (sliding) द्वारा पुन आच्छादित करना होना है । यह विधि कपोल, नेत्रच्छद, नासा आदि को निरोपित करने के लिए विशेप उपयोगी है । दाताक्षेत्र का चुनाव ग्राही क्षेत्र मे त्वचा के रग, रोमिलता, प्रगाढता (consistency), खिचाव आदि अनेक घटको को दृष्टिगत रखते हुए किया जाता है । इन निरोपो मे वसा की उपस्थिति अवाछनीय होती है । शिश्नमुडच्छद (prepuce) इस दृष्टि से एक उत्तम दाता क्षेत्र है, क्योकि यहां त्वचा वसारहित होती है ।

रेवर्डिन पिंच निरोप (Reverdin pinch graft)—इसका आकार छोटा तथा मोटाई 0 2–0 3 मिलीमीटर होती है । इसे प्राप्त करने के लिए पिंच करके या चुटकी भरके त्वचा को ऊचा उठाकर परिसर पर काट दिया जाता है । फलस्वरूप इस निरोप की मोटाई केन्द्र मे पूर्ण किन्तु परिसर पर थीर्श रोप के समान होती है । इन रोपो को ग्राही क्षेत्र पर इस प्रकार स्थापित किया जाता है कि निरोपो की पक्तियो मे 0 5 cm का अतर रहे । रेवर्डिन विधि का प्रयोग तभी किया जाता है जव ग्राही क्षेत्र विस्तृत हो और पर्याप्त दाता क्षेत्र उपलब्ध न हो । इसका परिणाम विशेष सतोषप्रद नही होता किन्तु कठिन परिस्थितियो मे यह विधि उपयोगी होती है ।

उपचार

सफल रोपण के लिए आवश्यक है कि ग्राही क्षेत्र स्वच्छ तथा पूतिरहित हो । रोगी का पुष्ट तथा स्वस्थ होना वाछनीय है, तथापि जीर्ण रोगियो मे

malayı) ।

फाइलेरिया के परजीवी की लम्बाई 30 से 60 mm तक होती है। मादा का आकार नर से लगभग दोगुना होता है। वयस्क कृमियो का निवास तथा विकास लसीकातत्र व सयोजी ऊतकों मे होता है। यहां से निर्मुक्त होकर सूक्ष्मफाइलेरिया (microfılaria) रक्त मे परिसचरित होने लगते है। रात्रि फाइलेरिया (fılarıa nocturna) मे 8 p m. और 2 a. m. के मध्य परिसरीय रक्त मे माइक्रोफाइलेरिया पाये जाते है। दैनिक फाइलेरिया (fılaria dıurna) मे ये दिन तथा रात, दोनो समय पाये जाते हैं। इन परजीवियो के पारगमन के लिए भारत मे पाये जाने वाली मच्छरो की अनेक जातिया रोगवाहक कीट (insect vectors) का कार्य करती है। सूक्ष्मफाइलेरिया का विकास परपोषी कीट के आत्र तथा अन्य ऊतको मे होता हे तथा वही उनके विकास की मध्य अवस्था (intermediate stage) पूर्ण होता हे; तत्पश्चात् वे मच्छर-दश द्वारा मनुष्य के शरीर मे प्रवेश पा जाते हैं। इस प्रकार लगभग एक वर्ष की अवधि मे फाइलेरिया जीव का जीवनचक्र पूरा हो जाता है।

रोगी की उत्तरावस्था मे लसीका-अवरोध के कारण फीलपाव, हाथीपाव या श्लीपद (elephantıasis) तथा लसीका वृषणकोश (lymph scrotum) की दशा उत्पन्न होती है। इस विलम्बित अवस्था तथा रोग की आरम्भिक अवस्था मे परिसरीय रक्त सूक्ष्मफाइलेरिया (microfılarıa) से रहित होता है। फाइलेरिया सक्रमण से शरीर मे रोगक्षमता (ımmunity) नही उत्पन्न होती।

1951 मे अनुमान किया गया था कि भारत मे 25 करोड़ व्यक्ति फाइलेरिया के स्थानिक (endemic) क्षेत्रो मे रहते हे तथा कश्मीर, पजाब और राजस्थान राज्य इस रोग से मुक्त है। 1955 में राष्ट्रीय फाइलेरिया नियत्रण (natıonal fılarıa control) की रिपोर्ट के अनुसार 64,000,000 भारतीय ऐसे स्थानो मे रह रहे थे जहा फाइलेरिया का भय उपस्थित था। राष्ट्रीय सर्वे से प्रतीत होता है कि पूर्वतः फाइलेरिया-मुक्त क्षेत्रो मे भी इस रोग का प्रसार हो रहा है तथा समस्या विकट रूप ग्रहण करती जा रही है।

इस रोग के विस्तार के दो प्रमुख कारण है· (1) अपर्याप्त वाहितमल-(sewage) व्यवस्था वाले शहरो मे मच्छरो की अधिक उत्पत्ति होती है; (2) नगरीकरण (urbanızatıon) और द्रुत उद्योगीकरण (ındustrıalısatıon) के फलस्वरूप जनसख्या का विशाल स्थानातरण हुआ है तथा सक्रमणरहित क्षेत्रो मे भी फाइलेरिया का प्रवेश हो गया है।

विकृति

वैकृतिक रूप से फाइलेरिया के विशिष्ट अभिलक्षण लसीकावाहिनियों का शोथ, अवरोध और ततुभवन है। ऐसा विशेषत. उदर-गुहिका की लसीका-वाहिनियो मे पाया जाता है तथा इसका कारण वयस्क कृमियो की उपस्थिति होती है। सूक्ष्मफाइलेरिया या माइक्रोफाइलेरिया (microfilaria) स्वय किसी विक्षति के लिए उत्तरदायी नही होते।

लसीकापर्वो मे जालिका अन्त कला-अतिविकसन (reticulo-endothelial hyperplasia) तथा कणिकार्बुदीय शोथ (granulomatous inflammation) पाया जाता है जिसमे लसीका-कोशिकाओ, इयोसिनोफिलो तथा आगतुकशल्य-प्ररूपी महाकोशिकाओ (foreign body giant cells) की प्रधानता होती है। लसीकावाहिनियो मे विविध कोटि का अन्त कला-अतिविकसन, जालिका-कोशिका अतिविकसन, भित्ति तथा समीपस्थ ऊतको का शोथ, घनास्रता-अवरोध तथा ततु ऊतक द्वारा प्रतिस्थापन पाया जाता है।

लसीकावाहिनियो के पुनरावर्ती शोथ के कारण दूरस्थ वाहिनिया अवरोधित हो जाती है और लसीका-प्रवाह रुक जाता है। लसीकावाहिनिया अवरोध के कारण विस्फारित हो जाती है। कुछ अगो, उदाहरणत' वृपणकोश, मे ऐसा विशेषत पाया जाता है। प्रभावित ऊतक शोफयुक्त हो जाते है और उनमे सयोजी ऊतक का प्रफलन होने लगता है। शाखाअगो (extremities) मे, त्वचा तथा अधस्त्वचा-ऊतक की अतिशय वृद्धि के कारण फीलपाव या श्लीपद (elephantiasis) की दशा उत्पन्न हो जाती है (चित्र 262)। ततु-ऊतक की वृद्धि त्वचा के गभीर-स्तरो मे आरम्भ होती है तथा धीरे-धीरे यह क्रिया अध-स्त्वक् ऊतक मे भी होने लगती है।

जब लसीका-महावाहिनी (thoracic duct) के अवरोध के फलस्वरूप विस्फारित लसीकावाहिकाए फटकर मूत्रक्षेत्र मे खुल जाती है तो वसालसीका-मेह या काइलमेह (chyluria) की दशा पाई जाती है।

अभी यह निश्चित नही है कि फाइलेरिया मे होने वाला लसीकावाहिका शोथ कृमि के कारण होता है या स्ट्रेप्टोकोकस, स्टेफिलोकोकस आदि द्वारा द्वितीयक सक्रमण के कारण। कुछ व्यक्तियो का विचार है कि भौतिक क्षोभ, स्रावो अथवा विघटन-उत्पादो के कारण जीवित या मृत वयस्क कृमि ही, शोथ तथा उसके परिणाम रूप ततुभवन के लिए उत्तरदायी होता है।

अन्य प्रकार के लसीका-वाहिका-शोथ की तुलना में फाइलेरिया प्ररूप की विशेषता यह होती है कि इसका विस्तार केन्द्र से परिसर की ओर होता है

—(पश्चगतिक लसीकावाहिका शोथ, retrograde lymphangitis) ।

स्थानपदिक क्षेत्रो मे लक्षणहीन रोगी भी पाये जाते है जिनके रक्त मे दीर्घ-काल तक माइक्रोफाइलेरिया विद्यमान होते है। ऐसे रोगी फाइलेरिया सक्रमण के भडार (reservoir) तथा वाहक (carrier) का काम करते है। श्लीपद केवल उन्ही रोगियो मे प्रकट होता है जिसमे सक्रमण का पुनरावर्ती प्रवल प्रकोप हो।

लाक्षणिक रूप

इन्हे शोथ अवस्था तथा अवरोध अवस्था मे विभाजित किया जा सकता है किन्तु ये दोनो अवस्थाए सहवर्ती भी हो सकती है।

चित्र 262—श्लीपद

—(पश्चगतिक लसीकावाहिका शोथ, retrograde lymphangitis) ।

स्थानपदिक क्षेत्रो मे लक्षणहीन रोगी भी पाये जाते है जिनके रक्त मे दीर्घ-काल तक माइक्रोफाइलेरिया विद्यमान होते है । ऐसे रोगी फाइलेरिया सक्रमण के भडार (reservoir) तथा वाहक (carrier) का काम करते है । श्लीपद केवल उन्ही रोगियो मे प्रकट होता है जिसमे सक्रमण का पुनरावर्ती प्रवल प्रकोप हो ।

लाक्षणिक रूप

इन्हे शोथ अवस्था तथा अवरोध अवस्था मे विभाजित किया जा सकता है किन्तु ये दोनो अवस्थाए सहवर्ती भी हो सकती है ।

/62—श्लीपद

शोथ अवस्था

तीव्रलसीकावाहिका शोथ—यह रोग की अत्यन्त आरम्भिक अवस्था मे अभिव्यक्त होता है। अधिकत यह निम्न शाखाअग (lower extremity) मे पाया जाता है। अग मे सूजन, पीडा तथा लसीकावाहिकाओ की लाल धारिया विद्यमान होती है। शीतकम्प सहित ज्वर तथा जीवविपरक्तता आदि दैहिक लक्षण भी पाये जाते हैं। यदि उदरीय लसीकावाहिकाएं शोथयुक्त हो तो तीव्र उदर (acute abdomen) के लक्षण पाये जा सकते है।

तीव्ररज्जुकाशोथ (funiculitis), अध्यंड शोथ (epididymitis) तथा वृषण शोथ (orchitis)—इन अवस्थाओ का आरम्भ सहसा होता है। वृपण और वृपण रज्जु (spermatic cord) पीड़ायुक्त हो जाते हे तथा अध्यड (epididymis) और वृपण मे सूजन, कोष्णता और स्पर्शासहता पाई जाती है। रोगी को शीतयुक्त ज्वर तथा कभी-कभी वमन भी होता हे। प्राय जलवृपण या हाइड्रोसील (hydrocale) भी विद्यमान होती है।

तीव्रलसीकापर्वशोथ—यह लसीकावाहिकाशोथ का सहवर्ती होता है। प्रादेशिक पर्व विवर्धित, पीड़ायुक्त और स्पर्शासह हो जाते हैं। अधिचक्रक (epitrochlear) तथा वक्षण (inguinal) पर्वो मे ऐसा अधिक होता है।

विद्रधि—लसीका-पर्वो अथवा अतरापेशी प्रावरणी-स्तरो (intermuscular fascial planes) मे विद्रधि प्रायः उत्पन्न हो सकती है। कभी-कभी विद्रधि-गुहिका मे मृत फाइलेरिया कृमि भी पाये जाते हैं।

फाइलेरिया ज्वर—यह ज्वर, शीत कम्प (rigors) तथा स्वेदन के रूप मे अभिलक्षित होता है किन्तु शोथ के कोई स्पष्ट चिह्न दृष्टिगोचर नही होते। सभवत यह दशा उदरीय लसीकावाहिकाशोथ (abdominal lymphangitis) के कारण होती हे।

श्लेपक कलाशोथ (synovitis)—आरम्भ मे फाइलेरिया-जन्य श्लेपककलाशोथ होता है किन्तु वह प्राय सपूय सधिशोध (suppurative arthritis) मे परिणत हो जाता है।

अवरोध अवस्था

लसीका अपस्फीति (lymph varices)—लसीका पर्व विवर्धित, खंडकित और पीडारहित होते है तथा सम्बन्धित वाहिकाएं तनी हुई और विस्फारित होती हे। इन्हें अपस्फीत पर्व (varicose glands) कहते है। छेदन के पश्चात् इनमे एक लसीका-नाडीव्रण (persistent lymphsinus) बना रहता है।

लसीकावृषणकोश (lymph scrotum)—इस दशा मे वृपणकोश फूल जाता है तथा लसीकावाहिकाए विस्फारित और कुटिल होती है। वृपणकोश पर स्वच्छ, पारभासी स्फुटिकाए प्रकट हो जाती है जिनके विदीर्ण होने पर लसीका का सतत विसर्जन होने लगता है। इस द्रव मे सूक्ष्मफाइलेरिया पाये जा सकते है। कालातर मे श्लीपद (elephantiasis) भी उत्पन्न हो सकता है (चित्र 263)।

चित्र 263—वृपण कोश का श्लीपद

काइलमेह (chyluria)—इस दशा मे मूत्र दूध के समान प्रतीत होता है तथा इसे रक्त मे मिलाने पर गुलावी रग उत्पन्न होता है। यह दशा सहसा पीठ, अधोजठर (hypogastrium) तथा जाघ मे तीव्र पीडा के साथ प्रकट होती है तथा सहसा ही समाप्त भी हो जाती है। समय-समय पर इस दशा का प्रकोप होता रहता है।

श्लीपद (elephantiasis)—यह इस रोग की एक प्रमुख अभिव्यक्ति है तथा वहुलता से पाई जाती है। इसे फीलपाव या हाथीपाव भी कहते है। श्लीपद रोगियो की सख्या रक्त मे सूक्ष्मफाइलेरिया से युक्त व्यक्तियो की सख्या की तुलना मे वहुत कम होती है। स्मरणीय है कि हाथीपाव अनिवार्यत. फाइ-लेरियाजन्य नही होता तथा अस्थानपदिक (non-endemic) तथा उष्ण-

कटिबन्ध से बाहर (non-tropical) के क्षेत्रो मे भी पाया जाता है। यह दशा चिरकारी व्यापक लसीका-अवरोध के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। इसके कारण निम्नलिखित हो सकते है—कार्सिनोमा अन्त राचरण (carcinomatous infiltration), लसीका पर्वों का विस्तृत उच्छेद, पुनरावर्ती अफाइलेरीय लसीका-वाहिनीशोथ (recurring non-filarial lymphangitis)।

श्लीपद मे त्वचा स्थूल, रूक्ष और शल्की हो जाती है (चित्र 262)। अग पर, विशेषत: पादागुलियो के मध्य, विदर (fissures) एव व्रण (ulcers) उत्पन्न हो जाते है। अग की स्फीति एव वजन मे अत्यधिक वृद्धि के कारण रोगी की गतिशीलता मे बाधा पड सकती है। तथापि अत्यन्त मोटे अगो वाले अनेक रोगी पर्याप्त सक्रिय भी होते है।

सर्वाधिक प्रभावित अग टाग तथा वृषणकोश होते है (चित्र 262 व 263)। इनके पश्चात् क्रमानुसार बाहु, भग तथा स्तन का स्थान होता है।

निदान

सूक्ष्मफाइलेरिया का निदर्शन केवल रोग की मध्यस्थ अवस्था मे ही किया जा सकता है। इस प्रयोजन के लिए रात को 9 बजे के पश्चात् रक्त की एक मोटी फिल्म तैयार की जाती है तथा उसका आर्द्र अवस्था मे अथवा शुष्क एव अभिरंजित अवस्था मे अध्ययन किया जाता है। लसीका-पर्वो की जीवोति-परीक्षा (biopsy) करना प्राय: अनुचित होता है क्योकि इससे लसीका-अवरोध की सभावना बढ जाती है। इस रोग के लिए कोई विशिष्ट प्रयोगशाला परीक्षण (laboratory test) नही होता, अत. निदान मुख्यत. लक्षण और चिह्नो पर निर्भर होता है।

चिकित्सा

इस कृमि को नष्ट करने या रोग की प्रगति मे बाधा डालने के लिए अभी तक कोई विशिष्ट औषध उपलब्ध नही है। इस रोग के लिए प्रयुक्त औषधों का प्रभाव केवल यह होता है कि परिसरीय रक्त मे सूक्ष्मफाइलेरिया (microfilaria) समाप्त हो जाते है तथा इस प्रकार मच्छरो द्वारा रोग का स्थानपदिक पारगमन (endemic transmission) रुक जाता है। आर्सेनिक (arsenic) और एटिमनी (antimony) के त्रिवेलेन्सी (trivalent) और पचवेलेन्सी (pentavalent) योग इस सम्बन्ध मे उपयोगी रहते है, उदाहरणत: यूरिया स्टिबेमीन (urea stibamine) या एसेटिलार्सन (acetylarsan)। हाल मे

हेट्राजन (hetrazan, diethylcarbamazine) नामक औषध भी परिसरीय रक्त को सूक्ष्मफाइलेरियाओ से मुक्त करने के लिए अत्यत लाभदायक सिद्ध हुई है। शरीर इसके प्रति प्राय सहनशील होता है किंतु कुछ मे इसके कतिपय अवाछनीय प्रभाव हो सकते हैं, यथा, ज्वर, मतली, अक्षुधा, सधिपीड़ा, उदर-पीडा, कण्डू (pruritus), पित्ती (urticaria), जलस्फोट रेश (vesicular rash) आदि।

औषधो द्वारा फाइलेरिया का निवारण सन्देहास्पद होता है। स्थानपदिक क्षेत्रो (endemic areas) मे जनस्वास्थ्य (public health) सम्बन्धी उपायो का प्रयोग आघटन दर घटाने मे सहायक होता है। 2-3 सप्ताह तक भोजनोपरान्त दिन मे तीन बार हेट्राज़न (hetrazan) का 2 mg प्रति किलोग्राम शरीर भार की मात्रा मे सामूहिक प्रयोग भी लाभदायक होता है।

औषध चिकित्सा

जल मे 10 प्रतिशत जीवाणुरहित ग्लिसरीन के 2-3 ml अत धमनी इजेक्शन प्रयोग के फलस्वरूप अग के आकार मे पर्याप्त स्थायी ह्रास होने का दावा किया गया है। ये इजेक्शन अत्यन्त धीरे-धीरे लगाये जाते हैं।

अग का उत्थान (elevation) तथा दृढ प्रत्यास्थ पट्टी (elastic bandage) का प्रयोग भी लाभदायक होता है। अग को साबुन तथा कोष्ण जल से धोकर उस पर सेलिसिलिक मरहम (salicylic ointments) लगाना चाहिए ताकि त्वचा कोमल व सक्रमणरहित रहे।

शल्य चिकित्सा

श्लीपद (elephantiasis) की शल्य चिकित्सा के लिए समय-समय पर अनेक आपरेशन सुझाये गये हैं। उनके सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :—

(1) लसीका परिसचरण को पुनःस्थापित करना **लसीकावाहिका-संधान** (lymphangioplasty)—यहाँ अधस्त्वचा ऊतक मे लम्बे रेशमी धागे प्रविष्ट किये जाते है, **कोडोलियोन**(Kondoleon)का आपरेशन—गभीर प्रावरणी(deep fascia) से लम्बी पत्तियाँ काट कर निकाल दी जाती है ताकि उपरिस्थ तथा गभीरस्थ लसीकावाहिकाओं मे सपर्क स्थापित हो सके; **जग**(Junge) **का आपरेशन** गभीर प्रावरणी मे 25-30 छोटी खिडकियाँ बनाकर उनमे रेशमी धागे प्रविष्ट कर दिये जाते है जो पेशी तथा स्थूल अधस्त्वचा-ऊतक के मध्य वत्ती (wick) का कार्य करते है, **रोज** (Rose) का आपरेशन—अस्थि के कार्टेक्स (cortex)

मे ट्रेफाइन (trephine) छिद्र करके उनमे से प्रावरणी के रोल (rolls) निकाले जाते है जो अधस्त्वचा-ऊतक से अस्थि मज्जा की ओर प्रवाह मे योग देते है।

(2) श्लीपदाभ ऊतक (elephantoid tissue) की अधिकतम सम्भव मात्रा का अपहरण करना। ऐसा करते समय ध्यान रखना चाहिए कि त्वचा की हानि लघुतम हो। आवश्यकतानुसार त्वचा-रोपण (skin grafting) भी किया जा सकता है।

(3) शरीर को अतिरिक्त भार से मुक्त करने के लिए निम्न शाखा अग का (lower extremity), स्तन काऔर कभी-कभी, किन्तु अत्यन्त विरल, ऊर्ध्व शाखा अग का अगोच्छेद करना।

यदि जननाग प्रभावित हो तो शिश्न की त्वचा तथा वृषणकोश की त्वचा व अधस्त्वचा-ऊतक का अपहरण करके शिश्न का त्वचानिरोपण और वृषणकोश का पुर्ननिर्माण (reconstruction) किया जा सकता है। इस आपरेशन का परिणाम उत्साहवर्धक पाया गया है। किन्तु शाखाअगो मे लसीका-परिसचरण के लिए किये गये आपरेशनो का परिणाम प्रायः असन्तोपप्रद ही रहा है।

ड्रेकोन्टाएसिस या गिनीकृमि रोग (Dracontiasis or guinea worm disease)

गिनी कृमि (Dracunculus medinensis) द्वारा सक्रमण भारत मे पर्याप्त विस्तृत है। पश्चिमार्ध, विशेपत. राजस्थान, गुजरात, वम्वई और मैसूर व दक्षिण के कुछ क्षेत्रो मे यह वहुलता से पाया जाता है।

विकृति

इस रोग का वाहक कीट या वेक्टर (vector) एक साइक्लोप्स होता (cyclops) है जो खडे तालावो या कुओ का अशुद्ध पानी पीने से शरीर मे प्रविष्ट होता है। सीढी-युक्त कुओ मे इसकी सम्भावना अधिक होती है क्योकि जव व्यक्ति जल भरने कुएँ मे उतरते है तो उनके पैरो मे विद्यमान विक्षतियो से लार्वा विसर्जित हो कर जल मे उपस्थित साइक्लोप्स सक्रमित हो जाते है।

दूपित जल के साथ शरीर मे पहुँचने के पश्चात् साइक्लोप्स का पचन हो जाता है और लार्वा निर्मुक्त होकर वयस्क कृमियो मे विकसित हो जाते है। मदा के निपेचन (fertilization) के पश्चात् नर की मृत्यु हो जाती है। सगर्भ होने पर मादा शरीर के अधस्त्वचा ऊतक तक पहुँच जाती है। ऐसा विशेपत· उन भागो मे होता है जो प्रायः जल के सम्पर्क मे आते है, उदाहरणत पैर, टाग

आदि। कहारो एव भिश्तियो मे यह पीठ पर भी पाया जाता है।

चित्र 264—गिनी कृमि रोग मे पाये जाने वाले कैल्सीभूत कृमि

जव कृमि त्वचा तक पहुँचता है तो उस स्थान पर पिटिका-समान या अंकुरक-वत् (papular) दृढीभूत क्षेत्र उत्पन्न हो जाता है तथा वहां कुछ समय पश्चात् लगभग 2 mm व्यास का छाला वन जाता है। छाला फूटने पर एक लघु छिद्र शेप रहता है। जल से सम्पर्क होने पर इस छिद्र से कृमि का गर्भाशय तनिक वाहर निकल आता है तथा अनेक लार्वो को निर्मुक्त कर देता है। इन लार्वो के भक्षण द्वारा साइक्लोप्स (cyclops) सक्रमित हो जाते है।

क्लिनिकल अभिलक्षण

उद्भवन काल (incubation period) लगभग 8-12 मास, किन्तु पूर्णत: लक्षणहीन होता है। कृमि के त्वचा के नीचे पहुँचने से लगभग 6-8 घटे पूर्व सर्वांग मे पित्ती (urticaria) तथा कण्डु (pruritus) हो सकती है। रोगी को दमा,

श्वासकृच्छ अथवा सिर चकराने का कष्ट भी हो सकता है। वमन अथवा अति-सार की सम्भावना भी रहती है। कृमि त्वचा तक पहुँचने पर स्थानिक तीव्र खुजली तथा जलन अनुभव होती है।

उपरिलक्षित सर्वांगिक लक्षण प्राय. विरल होते है। आम तौर पर गिनी कृमि के कारण रोगियो को नगण्य असुविधा होती है। गर्भाशय का समस्त अतर्वस्तु विसर्जित करने के पश्चात् कृमि वाहर निकलने लगता है। इस क्रिया मे सहायता देने के लिए कृमि को धीरे धीरे एक माचिस की तीली के गिर्द लपेटा जा सकता है। किन्तु ऐसा करते समय कृमि का कर्पण नही करना चाहिए, अन्यथा उसके टूटने की सम्भावना रहती और निर्मुक्त अन्तर्वस्तु के कारण ऊतिशोध (cellul-ıtis) होने का भय रहता है। स्थानपदिक क्षेत्रो मे ऐसा ऊतिशोध वहुधा पाया जाता है। शरीर पृष्ठ तक न पहुँच सकने पर कृमि मृत होकर कैल्सीभूत हो जाते है। ऐसे कैल्सीभूत कृमि शरीर मे विविध स्थानो पर पाये जा सकते है (चित्र 264)। गिनी कृमि के कारण स्थानिक विद्रधि भी उत्पन्न हो सकती है जो कभी-कभी चिरकारी एव पुटीभूत (encysted) हो जाती हे। विरल अवसरों पर इस रोग के कारण चिरकारी श्लेपकला-शोथ (chronic synovitis) एव सधिशोध भी हो सकता है।

चिकित्सा

इस रोग के निवारण के हेतु पीने के लिए उपयुक्त शुद्ध जल का प्रवन्ध आवश्यक है। स्थानपदिक क्षेत्रो मे केवल उवाले हुए जल का ही प्रयोग करना चाहिए। मैसूर मे सीढीयुक्त कुओ का प्रयोग वर्जित कर देने से आघटन दर में कमी हुई है तथा कुछ क्षेत्रो से तो सक्रमण लुप्त ही हो गया है।

जव कृमि त्वचा पर प्रकट हो जाये तो उसे एक गीले पैड (pad) से ढक दिया जाता है तथा जैसे-जैसे वह छिद्र से निकले, मन्द कर्पण द्वारा उसे एक माचिस की तीली पर लपेट दिया जाता है। गीले पैड द्वारा कृमि के वाहर निक-लने मे सहायता मिलती है। जब तक प्रसव पूर्ण नही हो जाता कृमि कर्पण का प्रतिरोध करता है, जिसमे 15-20 दिन लग जाते है।

यदि फीनाथायज़ीन (phenothiazıne) का जैतून के तेल मे वना एमल्शन (emulsıon) इक्जैशन द्वारा कृमि के चारो ओर स्यदित कर देने से उसकी मृत्यु हो जाती है, और उसके शरीर का विलयन होकर अवशोषण हो जाता है।

ऊतिशोथ की चिकित्सा के लिए सिकाई तथा एटीबायोटिक औषधो का प्रयोग किया जाता है। पित्ती (urtıcarıa) या कण्डु (prurıtus) होने पर

एड्रेनेलिन (adrenaline) या इफेड्रिन (ephedrine) के प्रयोग की आवश्यकता भी पड़ सकती है ।

कैल्सीभूत कृमियो के लिए किसी उपचार की आवश्यकता नही होती ।

पेशियाँ

अभिघात (Traumsa)

खेलते या काम करते समय प्राय. पेशियो के लघु अभिघात हो जाते है जो विना किसी चिकित्सा के स्वयमेव ठीक हो जाते हैं। औद्योगिक श्रमिको मे पेशियों के तीव्र अभिघात भी पाये जाते है ।

कुट्टज (Contusion)

कुट्टज या कोट्यूजन प्राय: प्रत्यक्ष अभिघात के कारण होता है, किन्तु तीव्र सकुचन के कारण भी हो सकते है । पेशी-तन्तुओ के मध्य रक्तसचरण हो जाता है तथा पेशी स्पर्शासह हो जाती है । निष्क्रिय प्रसारण (passive extension) तथा सक्रिय सकुचन करते समय पीड़ा होती है । अभिघात के समय पेशी आकर्ष-युक्त होती है किन्तु कुछ समय पश्चात् उसमे शिथिलन एव विकम्पी स्फुरण (fibrillary twitchings) प्रकट होने लगता है । शोफ (oedema) तथा परि-स्रवण (extravasation) के कारण पेशी फूली हुई प्रतीत होती है ।

रक्तस्राव

तीव्र अभिघात के कारण पेशी मे विसरित (diffuse) या स्थानीय (local) रक्तस्राव हो जाता है । प्राय इसका अवशोपण हो जाता है किन्तु इसके फल-स्वरूप पेशी-तन्तुओ के मध्य आसजन (adhesions) उत्पन्न हो सकते है । अभि-घातस्थल पर तन्तुभवन, कैल्सीभवन तथा, विरल अवसरो पर, अस्थिभवन भी हो सकता है । यदि रक्तस्राव स्थानीकृत हो तो पेशी-तुन्द (muscle belly) मे रक्त-पेटी या रक्त-सिस्ट (blood cyst) वन जाती है ।

इस अवस्था की चिकित्सा के लिए पेशी को विश्राम देना चाहिए तथा 2-3 दिन पश्चात् मालिश करनी चाहिए । आरम्भिक अवस्था मे शीतल सम्पीडन (cold compress) तथा वाष्पणशील लोशनो (evaporating lotions) का प्रयोग परिश्रवण तथा सूजन को रोकने मे सहायक होता है । तत्पश्चात् सिकाई करनी चाहिए । यदि इन साधनो द्वारा नि:सरण (effusion) अवशोपित न हो, या रक्त-सिस्ट वन जाए तो शस्त्रकर्म द्वारा उसका अपहरण कर देना चाहिए ।

पेशियों का विदर (rupture of muscles)

हेतुकी

पेशियो के अभिघात का कारण तीव्र या कुंठितशस्त्र का प्रहार अथवा पेशी का सहसा वलपूर्ण व असमन्वयित सकुंचन हो सकता है। पेशी की अपेक्षा कडरा का विदर अधिक होता है। विदर आशिक या पूर्ण हो सकता है तथा स्वस्थ पेशी अथवा टाइफायड, सक्रामी ज्वर आदि के कारण निर्वल हुई पेशी मे हो सकता है। अतिम अवस्था मे ऐसा प्राय· समोदरी (rectus abdominis) के अधोनाभि भाग मे तथा वृहत् कटिलम्बिनी (psoas major) मे होता है।

पेशी के वलपूर्ण सकुचन के फलस्वरूप प्राय· पेशी-कडरा-सगम के समीप विदर हो जाता है। इसके उदाहरण निम्नलिखित है—टिटेनस आकर्षो (tetanus spasm) के कारण विदर, टेनिश के खिलाडियो मे उपपिण्डिका (plantaris) का विदर ('टेनिस टाग, tennis leg), शारीरिक सतुलन पुन. प्राप्त करते समय समाऔर्वी (rectus femoris) का विदर, किसी वस्तु को

चित्र 265—कष्टप्रसव के समय उरोजत्रुक कर्णमूलिका (sternomastoid) का विदर

फ़ेंकते समय उरश्च्छदिकाओं (pectorals) या असच्छदिका (deltoid) का विदर तथा तीव्रगति वाली गाडी, रेल या वस मे चढते समय द्विशिरिस्का (biceps) का विदर। विदर आशिक या पूर्ण हो सकता है। विदीर्ण छोरो के मध्य एकत्रित रक्त के धक्के के स्थान मे तान्तव क्षतचिन्ह (fibrous cicatrix) वन जाता है। जव यह सिकेट्रिक्स खिचता है तो पेशी की क्रिया मे अव्यस्तता हो जाती है। कठिन प्रसव के समय शिशु की उरोजत्रुक कर्णमूलिका (sterno-

mastoideus) पेशी भी विदीर्ण हो सकती है (चित्र 265)।

लक्षण

अभिघात के समय रोगी सहसा एक 'चटक' (snap)-सी अनुभव करता है तथा विक्षति के स्थल पर तीव्र पीडा, सूजन (swelling) तथा नीललांछन (ecchymosis) के कारण, अपवर्णता उत्पन्न हो जाती है। पेशी शक्तिहीन हो जाती है। विदर के स्थान पर एक अवनमन बन जाता है तथा उसके ऊपर और नीचे की ओर दो असमान सूजन प्रकट हो जाती है। पेशी का सक्रिय सकुचन होने पर ये सूजन और भी स्पष्ट हो जाती है तथा उनके बीच का अतर बढ जाता है। चिरकालीन रोगियों मे पीडा नही होती किन्तु अशक्तता (disability) अत्यधिक होती है। पेशी-पथ मे एक मृदु, नम्य (pliable) सूजन पाई जाती है जो निष्क्रिय प्रसारण (passive extension) पर अपरिवर्तित रहती है।

द्विशिरिका (biceps) के अतिरिक्त प्राय. अन्य सभी विदीर्ण पेशियों का पेशी तुन्द (muscle belly) लम्बा और कडरा (tendon) छोटी होती है। इनके उदाहरण निम्नलिखित है—उरु की अभिवर्तनी (adductor) पेशिया, चतुशिरस्का (quadriceps), समोदरी (rectus abdominis), जघापिण्ड पेशियां (sural muscles), उरोकर्ण मूलिका (sternomastoid)। आशिक विदर प्राय जमनास्टिक करने वालो (gymnasts) खिलाड़ियो तथा व्यायाम करने वालो मे पाया जाता है।

डिलिरियम ट्रेमेन्स (delirium tremens), मेनिया (mania) तथा टिटनस मे पेशियो का आशिक या पूर्ण विदर हो सकता है। आत्र ज्वर (enteric-fever), प्रबल अरक्तता, फास्फोरस विपाक्तता तथा हीमोफिलिया (haemophilia) मे रोगग्रस्त पेशियो का स्वत. विदर भी हो सकता है।

चिकित्सा

आशिक विदर की चिकित्सा विश्राम, दृढ पट्टी तथा लगभग दस दिन पश्चात् क्रमिक गति तथा मालिश द्वारा की जाती है।

यदि पेशी का पूर्ण विदर आरम्भिक अवस्था मे पाया जाए तो कैटगट (catgut) या उरु प्रावरणी (fascia lata) की मैट्रेस सीवन (mattress sutures) द्वारा उसका सुधार (repair) किया जा सकता है। विलम्बित रोगियों मे क्रिया के पुन स्थापन के लिए संधान-विधियो (plastic procedures) की

आवश्यकता होती है ।

हर्निया

पेशी की हर्निया गम्भीर प्रावरणी (deep fascia) मे स्थित किसी विदर (gap) द्वारा स्वस्थ पेशी के एक भाग के बाहिर को निकल आने के कारण होती है । गभीर प्रावरणी का यह विदर जन्मजात या अभिघातज हो सकता है ।

पेशी-हर्निया एक लघु, मृदु, पुनःस्थाप्य उभार (reducible swelling) के रूप मे प्रकट होती है जो पेशी का निष्क्रिय प्रसारण (passive extension) करने पर लुप्त हो जाती है । यह अधिकत. निम्नलिखित पेशियों मे पाई जाती है—समा और्विका (rectus femoris), द्विशिरस्का (biceps) दीर्घ अभिवर्तनी (adductor longus), अग्रबाहु पेशिया तथा सैनिको मे, अग्रअन्तर्जंघिका पेशियाँ (anterior tibial muscles) ।

प्राय पेशी-हर्निया के फलस्वरूप अशक्तता या पीडा उत्पन्न नहीं होती, किन्तु कभी-कभी प्रभावित पेशी मे तीव्र पीडा तथा निर्वलता पाई जाती है। इन रोगियो मे उभार के पुन.स्थापन (reduction) के पश्चात् प्रावरणी विदर का सीवन कर दिया जाता है। ऐसा सम्भव न होने पर विदर (gap) को विस्तृत कर देना चाहिए ।

पेशीशोथ (Myositis)

पेशीशोथ एक व्यापक सज्ञा है जिसके अन्तर्गत पेशियो के विविध विकार आते है। इन विकारो के अनेक कारण हो सकते हैं, यथा सक्रामी जीवाणु, परिसंचरणरत विष (circulating poisons), परिसंचरण विक्षोभ (circulatory disturbances) आदि ।

तीव्र पेशीशोथ (acute myositis)

यह प्राय: सामान्य विकृतिजनक जीवाणुओं अथवा आँत्र जीवविषो (intestinal toxins)के कारण होता है । यदि पेशी किसी तीव्र शोथ-प्रक्रिया के समीप स्थित हो तव भी ऐसा हो सकता है । इन प्रक्रियाओं के उदाहरण उण्डुकपुच्छ विद्रधि (appendicular abscess) तथा लसीकापर्वशोथ है । पूयरक्तता (pyaemia) मे भी पेशी विद्रधियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। टाइफायड, चेचक, खसरा (measles), स्कार्लेट ज्वर (scarlet fever) आदि विशिष्ट ज्वरों के रोगियों मे ट्रिचिनेला स्पाइरेलिस (trichinella spiralis) से सक्रमण भी पेशीशोथ का कारण वन

सकता है।

गैस कोथ (gas gangrene) मे मूलतः पेशियाँ ही प्रभावग्रस्त होती हैं। इस रोग मे प्रवल जीवविपरक्तता (toxaemia) होती है और उससे मृत्यु हो जाती है।

तीव्र पेशीशोथ के लक्षण मुख्यत. दैहिक होते है। साथ ही अन्य सम्बद्ध दशाओ के लक्षण एव चिह्न भी पाए जाते हैं। प्रभावित पेशी सूजी हुई एवं स्पर्शासह होती है तथा सक्रिय और निष्क्रिय गति पर पीडा का अनुभव होता है। यदि पूय वन गई है तो उपरस्थित त्वचा शोफयुक्त पाई जाती है।

चिकित्सा मुख्यतः लाक्षणिक होती है। विश्राम, सिकाई तथा उचित स्प्लिन्ट (spint) का प्रयोग (सकुचन या contracture के निवारणार्थ) भी आवश्यक होता है। एटीवायोटिको के प्रयोग से शोथ की अवधि घट जाती है। यदि पूयता (suppuration) हो जाए तो विद्रधि का छेदन और निकास भी करना होता है।

रूमेटी पेशीशोथ (rheumatic myositis)

रूमेटी पेशीशोथ एक अनिश्चित सज्ञा है तथा यह किसी विशिष्ट हेतुकी को इगित नही करती। यह रोग मनुष्यों को सवसे अधिक होने वाले रोगो मे से एक है। शीत तथा आर्द्र जलवायु मे यह अधिक होता है। आर्द्र ऋतु मे ठड लग जाने से पेशियो मे वेदना होती है और वे कड़ी हो जाती है, किन्तु कोई स्थानिक चिह्न नही होता। इस दशा के उदाहरण कडी ग्रीवा (stiff neck), ऐंठी ग्रीवा, (wry neck), लम्वेगो (lumbago) आदि है। रूमेटी पेशीशोथ मे कठोर एवं स्पर्शासह पर्वक (nodules) वन सकते हैं, किन्तु पूयता कदापि नही होती।

चिकित्सार्थ रोगी को ठड से सुरक्षित रखा जाता है, अग को सेका जाता है तथा एस्पिरिन (aspirin) आदि प्रति-रूमेटी औपधो का प्रयोग किया जाता है। इन उपायो से पर्याप्त लाभ होता है किन्तु रोग की प्राय. पुनरावृत्ति हो जाती है।

सिफिलिसी पेशीशोथ

सिफिलिस की द्वितीयक अवस्था मे पेशी का विसरित अतराली शोथ पाया जाता है। ऐसा प्रायः द्विशिरस्का (biceps), उर कर्णमूलिका (sternomastoid), जघापिंड पेशियो (hamstrings) तथा उरश्च्छदिकाओं (pectoral muscles) मे होता है। प्रभावित पेशियो मे पीडा, स्पर्शासहता तथा दुर्नम्यता विद्यमान होती है।

अस्थिकर पेशी विकृति (myositis ossificans)

पेशियो में अनेक कारणों से विस्थितिक अस्थिभवन (heteotropic ossification) उत्पन्न हो सकता है। अभी तक यह स्पप्ट नही है कि पेशी पदार्थ मे अस्थिप्रसू कोशिकाये (osteoblasts) कहॉ से आ जाती है। अभिघातज प्ररूप मे सभव है कि अभिघात के समय कुछ अस्थिप्रसू अस्थि से विलग होकर पेशी मे आरोपित हो जाती हो। यद्यपि इस अवस्था को पेशीशोथ की सज्ञा दी गई है तथापि पेशियों मे किसी प्रकार की शोथक्रिया नही पाई जाती।

इस अवस्था के दो प्ररूपों का वणन किया गया है।

प्रगामी अस्थिकर पेशीशोथ (Myosits ossificans progressiva)

यह अज्ञात हेतुक रोग शैशव अथवा वाल्यावस्था मे पाया आता है। पीठ, देह शाखाओं तथा वक्ष की पेशियां धीरे-धीरे अस्थिभूत हो जाती है। अन्ततः केवल आनन, जिह्वा, मध्यच्छद, हृदय तथा निगरण सम्वन्धी पेशियां अप्रभावित रहती है। पेशियो के व्यापक अस्थिभवन के फलस्वरूप एक वाह्य-ककाल (exoskeleton) निर्मित हो जाता है तथा समस्त शारीरिक गतिया सीमित हो जाती है। चर्वण सभव न होने के कारण रोगी पर्याप्त पोपण नही ग्रहण कर पाता।

यह रोग प्राय पृप्ठ पेशियो—समलम्विका (trapezius) या कटिपार्श्वच्छदिका (latissimus dorsi)—मे आरम्भ होता है। पेशियो मे स्पर्शासह उभार वन जाते है जो अस्थि की सुनिर्मित कंटिकाओ (spicules) तथा पत्रकों (plaques) में परिर्वाधित हो जाती हैं। अस्थि के इन निर्माणो का शरीर की अस्थियो से कही भी सम्वन्ध नही होता। किसी अन्य सहगामी रोग (intercurrent disease) के कारण रोगी की शीघ्र वयस्क आयु मे ही मृत्यु हो जाती है।

इस रोग मे किसी प्रकार की चिकित्सा से लाभ नही होता।

अभिघातज अस्थिकर पेशीशोथ (myositis ossificans traumatica)

इस प्ररूप मे व्यावसायिक श्रमभार अथवा पुनरावर्ती अभिघात के फलस्वरूप कडराओ तथा पेशियो मे अस्थिभवन हो जाता है। ऐसा प्राय दीर्घ अभिवर्तनी (adductor longus) मे होता है तथा अश्वारोहियो मे अधिक पाया जाने के कारण इस अवस्था को 'अश्वारोही की अस्थि' (rider's bone) कहते है।
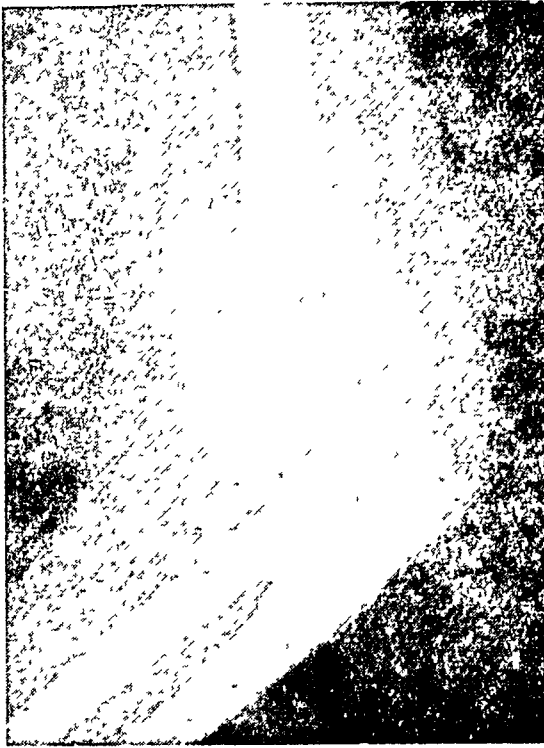
चित्र 266—अभिघातज अस्थिकर पेशीशोथ

अस्थिभग तथा सधिभ्रश के पश्चात् वहुधा अस्थिभवन हो जाता है। ऐसा सवसे अधिक कोहनी के समीप अस्थिभग अथवा सधिभ्रश के फलस्वरूप अग्र प्रगडिकी (brachialis anterior) पेशी मे होता है (चित्र 266)। अन्य स्थल चतुर्शिरिस्का (quadriceps) तथा समोदरिका (rectus abdominis) है।

अभिघात के 4–6 सप्ताह पश्चात् एक विसरित एव दृढ सूजन प्रकट होती है। स्पर्शासहता तथा गतिसीमितता विद्यमान होती है, किन्तु पीडा अधिक नही होती। एक्सरे परीक्षण द्वारा आरम्भ मे केवल विसरित धुँधलापन (diffuse haziness) पाया जाता है किन्तु कालातर मे अस्थिभवन के चिह्न स्पष्ट हो जाते है तथा सुनिश्चित अस्थि-प्रतिरूप प्रकट हो जाता है; सूजन का आकार घट जाता है, गाढता (consistuency) कठोर होती है तथा पिड के उपात सुस्पष्ट हो जाते है, किन्तु गति की सीमितता पूर्ववत् ही रहती है।

कोहनी के अभिघातो मे किसी भी प्रकार की मालिश निषिद्ध होती है। इसके विपरीत अग को दीर्घकालीन विश्राम की आवश्यकता होती है। नवनिर्मित अस्थि की जाच के लिए एक मास के कालान्तर पर एक्सरे-चित्रण करना चाहिए। यदि ऐसे तीन उत्तरोत्तर चित्रो से प्रकट हो कि विश्राम के अनन्तर

भी पिंड के आकार मे ह्रास नही हुआ है, तथा यदि अस्थि-पिंड के कारण सधि गति मे बाधा पडती हो, तो उसे उच्छेदित कर देना चाहिए ; अन्यथा इस दशा को यथावत् छोड़ना ही श्रेयस्कर होता है ।

पेशियों के अर्वुद

पेशियो के अर्वुद विरल होते हैं । ये सुदम अथवा दुर्दम हो सकते हैं । सुदम अर्वुदो मे सर्वाधिक पाए जाने वाले गह्वर वाहिकार्वुद (cavernous angioma) है । इनकी स्थिति जिह्वा, चर्वणिका (masseter) तथा टाँग की पेशियों मे हो सकती है । ये सम्पीड्य (compressible), स्पन्दनशील एव वेदना-हीन होते है तथा इनमे मर्मर (murmur) या थ्रिल (thrill) उपस्थित पाई जा सकती है । पुनरावृत्ति के निवारण की दृष्टि से इनका पूर्ण उच्छेदन ही उत्तम रहता है ।

अन्त पेशी वसार्वुद (intramuscular lipoma) विरल होते हैं । वे अत्यन्त मृदु एव वेदनाहीन होते है । पेशी-पूलको (Muscle bundles) के मध्य उप-स्थित वहुशाखाओ (ramifications) के कारण इन अर्वुदो को पूर्णत उच्छेदित करना कठिन होता है ।

तन्तुअर्वुद (fibroma) विरल होते हैं । समोदरिका (rectus abdominis) का डैस्मायड अर्वुद (desmoid tumour) वास्तव मे अभिघात एव रक्तस्राव के कारण होता है । 'पेजेट के पुनरावर्ती फाइव्रायड' (recurrent fibroids of Paget) एक प्रकार के तन्तुसार्कोमा (fibrosarcoma) होते है ।

र्‌ह्रेन्डोमायोमा (rhabdomyoma) रेखित पेशी का एक अत्यन्त विरल सुदम अर्वुद होता है जो वच्चो के मूत्राशय मे पाया जाता है । इसकी उत्पत्ति सम्भवत संवरणी (sphinter) पेशी से होती है ।

अरेखी पेशी अर्वुद (leiomyoma) अरेखित पेशी का सुदम अर्वुद होता है जो प्राय· गर्भाशय मे पाया जाता है तथा गर्भाशय फाइव्रायड (fibroid) के अशुद्ध नाम से सवोधित किया जाता है । क्षुद्रान्त्र मे भी यह पाया जा सकता है ।

पेशी का सार्कोमा यों तो विरल होता है किन्तु पेशी पिधान (muscle sheath) और पेशी का सयुक्त सार्कोमा (तन्तुपेशी सार्कोमा, fibromyosarc-oma) कभी-कभी पाया जाता है । इसकी साधारण स्थिति टाँग तथा जाँघ की पेशियों मे होती है । इन अर्वुदो का वर्धन आरम्भ मे मन्द गति से होता है किन्तु फिर सहसा इनके आकार मे वृद्धि हो जाती है । विसरण प्राय रक्तधारा के माध्यम से होता है । सूक्ष्मदर्शी अध्ययन पर इसमे गोलाकार, तर्कुरूपी (spindle

shaped) तथा महाकोशिकाएँ (giant cells) पाई जाती है। अर्बुद मे रक्त-स्राव का होना सामान्य है। लसीका पर्व प्रभावित नही होते। पीड़ा तभी होती है जब अर्बुद द्रुत गति से वर्धित हो रहा हो।

चिकित्सा के लिए सम्पूर्ण पेशी का पिधान सहित उच्छेदन करना होता है। अगोच्छेदन भी आवश्यक हो सकता है।

पुटी (cyst)

ये अनेक प्रकार की हो सकती हैं। शरीर मे एक से दो प्रतिशत हाइडेटिड पुटी (hydatid cysts) पेशियो मे होती है। इनकी सामान्य स्थिति निम्न-लिखित होती है—ऊरू की अभिवर्तनी (adductor) पेशियाँ, पीठ की पेशियाँ, उरश्च्छदिका पेशियाँ (pectoral muscles)। ग्रीवा और कपोल पेशियो मे डर्मायड पुटी (dermoid cysts) तथा टेरेटोमी पुटी (teratomatous cysts) भी पाई जा सकती है किन्तु ये अत्यन्त विरल होती है। पेशी मे स्थित गह्वर वाहिकार्बुद (cavernous angioma) से रक्तस्राव के फलस्वरूप रक्तस्रावी पुटी (haemorrhagic cyst) भी उत्पन्न हो सकती है।

कंडराएँ
(Tendons)

अभिघात

अभिघात के फलस्वरूप कडरा का विभाजन, अधस्त्वचा विदीर्णन अथवा भ्रंश (dislocation) हो सकता है।

कंडराओ का विभाजन (division of tendons)

कडराओ का विभाजन प्राय कलाई तथा गुल्फो के निकट होता है। ऐसा प्राय. छिन्न क्षतो (incised wounds) अथवा औद्योगिक दुर्घटनाओ के फल-स्वरूप होता है। अभिनव अभिघात मे कडरा-विभाजन के फलस्वरूप पेशी की शक्ति तथा गति लुप्त हो जाती है। पेशी के सकुचन के कारण विभाजित कडरा का निकटस्थ छोर संकुचित हो जाता है। यह संकुचन दीर्घ-तुन्दी पेशियों मे अधिक होता है।

कडरा के पृथक् छोरो को सन्निकट लाकर अपूतिक साधनो द्वारा सी देना चाहिए तथा इसके पश्चात् शीघ्र ही निष्क्रिय तथा सक्रिय गति आरम्भ कर देनी

चाहिए। दीर्घकालीन अभिघातों मे संकोचन (contracture) के कारण कटे छोरों को परस्पर मिलाना कठिन होता है। फलस्वरूप कडराक्रिया की पुनः प्राप्ति के लिए दीर्घीकरण (lengthening), रोपण (grafting) या अन्य कंडरा के साथ प्रतिरोपण (transplantation) आदि की आवश्यकता पड़ सकती है।

कंडराओं का विदर (Rupture of tendons)

कंडराओं का अधस्त्वक विदर पेशियो के सहसा प्रवल अनियमित संकुचन के कारण होता है। सामान्यत यह निम्न स्थानो पर पाया जाता है—चतु.-शिरस्का (quadriceps) कंडरा, पार्ष्णि कडरा (tendo achilles), वाहु-द्विशिरस्का का दीर्घ शिर (long head of biceps brachii), तथा—कोलीज के अस्थिभग (Colles' fracture) के पश्चात्—दीर्घ अगुष्ठ प्रसारिणी (extensor pollicis longus)। देहशाखा के उचित स्थिरीकरण तथा फलस्वरूप पेशी के शिथिलन द्वारा पृथक् छोरो का तनिक सन्निकटन सभव हो सकता है, किन्तु प्राय. इस प्रयोजन के लिए शल्य साधनो का प्रयोग आवश्यक होता है। यदि द्विशिरस्का का दीर्घ शिर असफलक-सलगन (scapular attachment) से विदीर्ण हो गया हो तो उसके सीवन के लिए स्कध सधि को विवृत करना पड़ता है। फलस्वरूप सधि मे अशक्तता उत्पन्न होने की सभावना रहती है। इस कारण कुछ विशिप्ट रोगियों में अशल्य साधनो का प्रयोग किया जा सकता है। स्कध के अस्थिसंधिशोध (osteoarthrites) मे द्विगिरस्का की कडरा द्विशिरस्का खातिका (bicipital groove) मे संनिघर्षण (attrition) के फलस्वरूप विदीर्ण हो सकती है। इस अवस्था में कोहनी का आकुचन (flexion) करने पर पेशी-तुद दूरस्थ दिशा मे गतिमान होता है।

अधिक आयु के व्यक्तियों में अल्प अभिघात के फलस्वरूप भी अध्यस-पृष्ठिका (supraspinatus) कडरा का स्वत विदर (spontaneous) rupture) हो सकता है। अति-अपावर्तित (over-abducted) वाहु को प्रतिरोध के विरुद्ध सहसा गतिशील करने पर भी यह विक्षति उत्पन्न हो सकती है। यह आशिक अथवा पूर्ण विदर का रूप ले सकती है, किन्तु इससे अधिक अशक्तता (disability) उत्पन्न नही होती। इस अवस्था का विशिप्ट चिन्ह यह है कि वाहु का अपवर्तन आरम्भ करना सम्भव होता है।

उपचार के लिए ऊष्मा, मालिश, विश्राम तथा तत्पश्चात् व्यायाम आदि सरक्षी साधनो का प्रयोग किया जाता है।

मैलेट अंगुलि (Mallet finger)

इस अवस्था मे प्रसारिणी कडरा (extensor tendon) विदीर्ण हो जाती है। फलस्वरूप अतिम अगुलास्थि (terminal phalunx) आकुचित हो जाती है तथा उसका प्रसारण सभव नही होता। कभी-कभी कडरा के साथ ही अस्थि का एक लघु अश भी अपदीर्ण हो जाता है। मैलेट अगुलि की चिकित्सा 6 सप्ताह तक पेरिस प्लास्टर मे निश्चलीकरण द्वारा की जाती है; निकटस्थ आतर-अगुलास्थिसधि (proximal interphalangeal joint) को आकुचित (flexed) और दूरस्थ आतरअगुलास्थि संधि को अतिप्रसारित (hyperxetended) रखा जाता है। इस विधि का परिणाम पूर्णत' सतोपप्रद नही होता। तथापि, रोगी को इस दशा के कारण विशेष अशक्तता नही होती।

स्थानभ्रंश (Dislocations)

कडरा-स्थानभ्रश की घटना अधिक नही होती। ऐसा मुख्यत' दो कंड-राओ के सम्बन्ध मे होता है—दीर्घ पाद विवर्तनी (peroneus longus) की कडरा (गुल्फ के पार्श्व मे) तथा बाहु द्विशिरस्का के दीर्घ शिर की कडरा (द्विशिरस्का खातिका से स्थानभ्रश)। क्वणित नितम्ब (snapping hip) मे उरु प्रावरणीताननी (tensor fascia lata) का बृहत् शिखरक (greater trochanter) पर आगे-पीछे फिसलना पाया जाता है।

दीर्घ पाद-विवर्तनी का स्थानभ्रश बहिर्वर्तित (everted) पैर पर गिरने के कारण हो सकता है। इस दशा मे तीव्र पीडा का अनुभव होता है। विशिष्ट चिन्ह यह है कि पार्श्व गुल्फवर्ध (lateral malleolus) पर इस कंडरा को अंगुलि के नीचे वेल्लित (roll) किया जा सकता है। इसका पुन स्थापन (reduction) कठिन होता है, अत शस्त्रकर्म द्वारा पुन स्थापन किया जाता है।

जब बृहत् उरश्छदा (pectoralis major) के उदय स्थान (origin) के ऊपर द्विशिरस्का का दीर्घ शिर द्विशिरस्का खातिका (bicipital groove) से फिसल जाता है तो उसके शल्य पुन.स्थापन (operative reduction) करने तथा पिधान (sheath) के विदीर्ण भाग को निमीलित करने की आवश्यकता होती है।

कंडराश्लेपककलाशोथ (Tenosynovitis)

तीव्र कंडराश्लेषककलाशोथ (*acute tenosynovitis*)

तीव्र कडराश्लेपककला शोथ शुष्क क्रेपिटेटिंग प्रकार (dry crepitating

type) का हो सकता है। यह रूमेटी प्रवृत्ति के व्यक्तियो मे अत्यधिक शारीरिक श्रम के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। प्रभावित कंडरा को चलाने पर स्थानिक वेदना और स्पर्शासहता के साथ हलकी रगड़ने की सी अनुभूति भी होती है। यह दशा अधिकत: करपृष्ठ के कंडरा-पिधानों (tendon sheaths) में पाई जाती है।

विश्राम, सिकाई, सेलिसिलेटो (salıcylates) तथा निष्क्रिय गतियों (passive moments) के प्रयोग से यह दशा सुधर सकती है, किन्तु इसकी पुनरावृत्ति सभव होती है।

संधानी कंडराश्लेषककला-शोथ (Plastic tenosyuovitis)

इस अवस्था में शोथ के समय अत्यधिक परिमाण मे फाइब्रिनी नि.स्राव (fibrinous exudate) वनता है जिसके फलस्वरूप अत्यन्त अशक्तताजनक आसजन (adhesıons) वन सकते हैं। पिधान में कुछ नि:सरण (effusion) भी होता है।

तीव्र सीरसी कंडराश्लेषककलाशोथ (Acute serous tenosynovitis)

इस अवस्था मे कडरा-पिधान विस्फारित हो जाता है तथा पीड़ा, दुष्क्रिया (malfunction), लालिमा एव त्वचा-शोफ पाया जाता है। प्राय: अगुलियो की प्रसारिणी (extensors), पाद-विवर्तिनी (peroneıı) तथा अन्तर्जंघिका-कंडराए (tıbıal tendons) प्रभावित होती हैं।

विश्राम, ऊष्मा, एटीवायोटिको तथा निष्क्रिय गतियों द्वारा इस दशा का शमन हो जाता है।

सपूय कंडराश्लेषककलाशोथ (Suppurative tenosynovitis)

यह प्राय: अभिघात अथवा किसी समीपवर्ती फोकस से सक्रमण के विस्तार के कारण होता है। ऐसे सक्रमण का उदाहरण व्हिटलों (whitlow) है। पूयता के कारण कडरा स्लफ (sloughıng) हो सकती है तथा पिधान (sheath) के विदर के पश्चात् ऊतिशोथ आरम्भ हो जाता है।

इस अवस्था की चिकित्सा के लिए शीघ्र छेदन, सिकाई, एटीवायोटिक औषध तथा सक्रिय एव निष्क्रिय गति आवश्यक होती है। प्राय: अवशिष्ट अशक्यता (residual dısabılıty) वहुत रह जाती है।

चिरकारी कंडराश्लेषककलाशोथ

सरल चिरकारी कंडराश्लेषककला (simple chronic tenosynovitis)

इस अवस्था मे श्लेषक कोष (synovial sac) मे सूजन और तरल होते हैं। कंडरा-पिधान की भित्ति भी मोटी हो सकती है।

इस दशा के उपचार के लिए चूषण (aspiration) तथा काठिन्यकर तरल (sclerosing fluid) के इंजेक्शन का प्रयोग किया जा सकता है किंतु इसकी अपेक्षा छेदन एव निकास श्रेयस्कर होता है।

अंकुरी कंडराश्लेषककला शोथ (villous tenosynovitis)

इसका विशिष्ट लक्षण कंडरा-पिधान अंकुरों (villi) का परिवर्तन है। इसका रूप वृक्षसम वसार्बुद (lipoma arborescens) से मिलता है।

रसांकुरों के उच्छेद से कंडरा-क्रिया बाधारहित हो जाती है।

संकीर्णक कंडराश्लेषककला शोथ (stenosing tenosynovitis)

इसे कंडरावरणी शोथ (tendovaginitis) भी कहते हैं। इस अवस्था मे कंडरा पिधान (tendon sheath) के स्थूल हो जाने के कारण उसका अंतरावकाश संकीर्ण हो जाता है तथा फलस्वरूप पीड़ा एव गति-बाधा उत्पन्न होती है। अधिकतः दो कंडरा प्रभावित होती है—दीर्घ अंगुष्ठ अपावर्तनी (abductor pollicis longus) तथा, वहि प्रकोष्ठास्थि के शर प्रवर्ध (radial styloid) के तल पर लघु अंगुष्ठ प्रसारिणी (extensor pollicis brevis)।

इस दशा की चिकित्सा कंडरा-पिधान के छेदन द्वारा की जाती है।

ट्रिगर अंगुलि (trigger finger)

इस अवस्था मे तंतु-अस्थि-नलिका (fibro-osseous canal) करभ अंगुलास्थि संधि (meta carpophalangeal joint) के स्तर पर संकीर्ण हो जाती है जिससे कंडरा की गति में बाधा पड़ती है। अंगुलि का आकुंचन करते समय जब कंडरा इस संकीर्णन बाधा को पार करती है तो क्वणन ध्वनि (snapping sound) उत्पन्न होती है।

क्वणन के पश्चात् अंगुलि के पुन.प्रसार के लिए निष्क्रिय गति करनी पड़ती है क्योंकि प्रसारिणी पेशिया अवरोध पर विजय पाने में सफल नही होती। तंतु-अस्थि-नलिका के संकीर्णित भाग को विपाटित (splitting open) करके कंडरा-

क्रिया का पुन स्थापन किया जा सकता है।

यक्ष्मी कंडराश्लेषककला शोथ

इस रोग के निम्नलिखित दो प्ररूप वर्णित किये गए है।

(1) प्रथम प्ररूप मे श्लेपक पिधान (synovial sheath) स्थूल हो जाता है तथा श्लेपक गुहिका मे तरल एव खरबूजा-वीज पिंड (melon seed bodies) पाए जाते हैं। तरल का रग गदला होता है तथा उसमे चीज के समान द्रव्य (cheesy material) भरा हो सकता है। यह अवस्था प्राय· अगुलियो के सामान्य आकुचनी पिधान (common flexor sheath) को प्रभावित करती है (सयुक्त करतल गुच्छिका, compound palmar ganglion)। कर एवं पद के पृष्ठ (dorsum) पर भी यह बहुधा पाई जाती है। रोगी को मद स्थानिक पीडा होती है तथा दवाने पर रेशम के समान मृदु करकर (crepitus) अनुभव होता है। इस विक्षति मे सुस्पष्ट स्पर्श तरग नही उपस्थित होती।

(2) दूसरे प्ररूप मे भी पिधान मोटा और किलाटी द्रव्य (caseating-material) से परिपूर्ण होता है किंतु उसमे खरबूजा-वीज पिंड (melon seed bodies) नही होते। यह अवस्था प्राय. निकटस्थ अस्थि या सधि रोग की द्वितीयक (secondary) होती है। विक्षति मे प्राय अनेक नाडीव्रण पाए जाते है।

चिकित्सा के लिए सामान्य साधनो के अतिरिक्त प्रतियक्ष्मा औपधो का प्रयोग भी किया जाता है। वैकृत ऊतक का उच्छेदन भी वाछनीय होता है।

कोलेजन व्यपजनन (collagen degeneration)

कडरा (tendon), प्रावरणी (fascia), सधि-सम्पुट (joint capsule) आदि मे विद्यमान कोलेजन की सरचना परिवर्तित होने के फलस्वरूप ततु-ऊतक मे कुछ परिवर्तन हो जाते है। विश्वास किया जाता है कि अनेक ऐसे परस्पर असम्बन्धित रोग है जिनमे केवल मात्र सामान्य विकृति (common pathology) कोलेजन सबधी परिवर्तन होता है। इन रोगो को सामूहिक रूप से कोलेजन व्यपजनन (collagen degeneration) रोग कहा जाता है। इस शीर्षक के अतर्गत आने वाली कुछ दशाए निम्नलिखित है—अध्यसपृष्ठिका (supraspinatus) कडरा का शोथ, स्वत. विदर या कैल्सीभवन, अधःअसकूटवर्साशोथ (subacromial bursitis)-स्कध का परिसधिशोथ (periarthritis), टेनिस कोहनी (tennis elbow) आदि।

स्कंध का परिसंधिशोथ

यह रोग मध्य आयु के पश्चात् अधिक होता है। दोनो कन्धे प्रभावित हो सकते हे। स्कध-सधि कडी हो जाती है तथा वहिर्घूर्णन (external rotation) एवं अपावर्तन (abduction) मे कठिनाई होती है। कालातर मे सधि की सभी गतिया सीमित हो जाती हे। पीडा की मात्रा न्यूनाधिक होती है, किन्तु वह प्रवल भी हो सकती है। पीडा के कारण रोगी सक्रिय तथा निष्क्रिय गति करने से हिचकिचाता है, अत· सधि की गतिया और भी सीमित हो जाती हैं। इस प्रकार एक दुष्चक्र स्थापित हो जाता है। कन्धे के अग्र पृष्ठ पर स्पर्शासहता के क्षेत्र पाए जा सकते हे। एक्सरे-चित्रण द्वारा प्राय: प्रसामान्य रूप ही दृष्टिगोचर होता हे, यद्यपि कभी-कभी घनता (density) का सारी अस्थि मे ह्रास पाया जा सकता है। इस अवस्था मे दैहिक लक्षण नही होते।

सधि सम्पुट का स्थूलीभवन, दृढीभवन (induration) एवं ·ोल कोशिका-अत सचरण (round cell infiltration) पाया जाता हे। सधि-सम्पुट तथा सधि के समीपस्थ कडराओ मे कालेजन व्यपजनन (collagen degeneration) के फलस्वरूप प्रगण्डिका के शिर (head of humerus) तथा सधि-सम्पुट के वीच आसजन वन सकते है। सभव है परिस्कध-सधिशोथ के लक्षणों का कारण ये आसजन ही हो।

आरम्भावस्था मे ऊष्मा (head), डायथर्मी (diathermy) तथा सक्रिय व्यायामो द्वारा सधि को नम्य रखने मे सहायता मिलती है। प्रगत रोगियों मे सज्ञाहरण करके कुशल हस्तक्रिया (manipulation) तथा तत्पश्चात् ऊष्मा एव व्यायाम का प्रयोग किया जा सकता है। सधि मे 25 mg हाइड्रो-कार्टिसोन (hydro-cortisone) का इजेक्शन भी लक्षण घटाने मे सहायक होता है। पीडा से त्राण के लिए पीड़ाहरो (analgesics) का प्रयोग किया जाता है।

टेनिस कोहनी (tennis elbow)

इस अवस्था मे वाह्य अधिस्थूलक (external epicondyle) तथा वहि:-प्रकोष्ठिका के शिर पर निर्वंध (persistent) स्पर्शासहता पाई जाती है। ऐसा प्राय उन व्यक्तियो मे होता है जो कोहनियो का वलपूर्वक प्रयोग करते है, उदाहरणत· टेनिस के खिलाडी। एक्सरेचित्रण प्राय प्रसामान्य होता है।

उपचार का प्रमुख अग विश्राम है। 9-12 मास मे पीडा समाप्त हो जाती है। अल्पकालीन वेदनामुक्ति के लिए ऊष्मा, डायथर्मी तथा स्थानिक सज्ञाहरो व हाइड्रोकार्टिसोन का इजेक्शन प्रयुक्त किया जा सकता है

अध्यंसपृष्ठिका कडराशोथ (supraspinatous tendinitis)

इस अवस्था मे स्कध का अपावर्तन करते समय वेदना होती है। वेदना की तीव्रतम अनुभूति अपावर्तन के 30 से 90 अश के मध्म होती है। पीडा के कारण रोगी स्कध-सधि का उपयोग करने से हिचकता है। परिसधिशोथ के विपरीत इस दशा मे निष्क्रिय गतिया पीडारहित होती है। एक्सरेचित्रण पर अधोअसकूट प्रदेश (subacromial region) मे कैल्सीभवन पाया जा सकता है। अधो-असकूट-वर्साशोथ तथा अध्यसपृष्ठिका कंडराशोथ समरूप दशाए है तथा इनके लक्षण भी समरूपी होते हैं।

ऊष्मा, डायथर्मी तथा पीड़ाहर औषधों के प्रयोग से यह कष्ट कम हो जाता है।

कण्डरापुटी, गैग्लियन (Ganglion)

हाथ और पैरों की लघुसधियो के सम्पुट के समीप कडरा पिधानो के समीप एक छोटा, तनावयुक्त उभार बन जाता है जिसे कण्डरापुटी या गैग्लियन (ganglion) कहते है। यह अधिकतः करपृष्ठ पर पाई जाती है। कभी-कभी वे सधिगुहिका से जुड़ी होती है। यदि पुटी कडरा से सलग्न होती है तो कण्डरा की गति के साथ पुटी की गति होती है। जब तक यह अधिघातग्रस्त न हो, इसमे प्राय वेदना नही होती, किन्तु अंगुलियो मे तनिक निर्वलता की अनुभूति प्राय होती है। इसमे भरा तरल पारभासी, चमकदार तथा वर्णहीन होता है।

कण्डरापुटी को मोटी सूचिका (large bore needle) द्वारा चूपित करके उनमे काठिन्यकर विलयन (sclerosing solution) अतर्निविष्ट किया जा सकता है। इस क्रिया के पश्चात् स्थल पर 5-7 दिन तक दृढ पट्टी का प्रयोग करना चाहिए। कण्डरापुटी का उच्छेदन भी किया जा सकता है किन्तु पुनरा-वर्तन की आशका रहती है।

अर्बुद

कडरा के अर्बुद विरल होते है। ये मिक्सोमा (myxoma) तथा तातव अर्बुद (fibroma) हो सकते है। श्लेषक कला से भी दुर्दम या सुदम अर्बुदो की उत्पत्ति हो सकती है। सुदम श्लेपककलार्बुद (benign synovioma) को पूर्वकाल मे कडरा का महाकोशिकार्बुद (giant-cell tumour of tendon) कहा जाता था क्योकि इनमे महाकोशिकाए तथा फेन कोशिकाए (foam cells)

होती है जो ओस्टियोक्लास्टोमा (osteoclastoma) की महाकोशिकाओं की समरूप होती है।

वर्सा
(Bursa)

जब एक अवयव दूसरे पर गति करने वाला होता है, उदाहरणतः पेशी पर पेशी अथवा अस्थि-उत्सेधों पर पेशी, कडरा, त्वचा या अधस्त्वचा ऊतक, तो ऊतकों में परस्पर घर्षण का ह्रास करने के लिए दोनों अवयवों के बीच प्रायः एक वर्सा (bursa) रहता है। वर्सा श्लेषक तरल के ही समरूपी तरल की अल्प मात्रा से भरा एक कोश होता है। यह एक सुनिश्चित ततु सम्पुट तथा अन्त कला से युक्त होता है। वर्सा लसीकातत्र, कडरा पिधान तथा सधियो से घनिष्ठतः सम्बन्धित होता है तथा इन सब की विकृतियां समान होती है।

प्रसामान्यत सधियों के चारो ओर पूर्वनिर्मित वर्सा उपस्थित होते है, अथवा सविराम (intermittent) दबाव के फलस्वरूप वाह्यस्थ (adventitious) वर्सा भी विकसित हो सकते है। ये व्यावसायिक (occupational) अथवा वैकृत (pathological) हो सकते है। प्रथम प्ररूप के उदाहरण निम्न है। पालथी लगाकर बैठने वाले व्यक्तियो मे वाह्य गुल्फवर्ध (external malleolus) पर वर्सा, जुलाहो मे आसन गुलिका (ischiol tubercle) पर वर्सा तथा वहिर्नत पदागुष्ठ (hallux valgus) वाले व्यक्तियो मे प्रपदास्थि के शिर पर स्थित वनियन (bunion)। जिन वैकृत अस्थि-उत्सेधों पर वर्सा विकसित हो सकता है उनके उदाहरण निम्नलिखित है। प्रक्षेपी कुसयोजित अस्थि भग (projecting-malunited fracture), अध्यस्थि (exostosis), पौट (Pott) के मेरु रोग मे पाया जाने वाला गिब्बस (gibbus) तथा अगोच्छेदन स्थूणक (amputation stump) का छोर।

गभीरस्थ वर्सों की स्थिति एवं सरचना प्रायः सुनिश्चित होती है किन्तु उपरिस्थ वर्सों मे विविधता पाई जा सकती है। कुछ गभीर वर्सों तथा समीपस्थ सधियों के मध्य सयोजन भी पाया जाता है, यथा कलाकल्प वर्सा (semi membranosus bursa) तथा जानुपृष्ठ वर्सा (politeal bursa)। वाह्यस्थ (adventitious) वर्सा प्राय. एक मोटे ततु सम्पुट से आवृत होते है तथा उनका अतःकलास्तर अनुपस्थित या अपूर्ण होता है। उनकी गुहिका का स्वरूप अनिश्चित होता है तथा वह पटो द्वारा विभाजित होती है।

अभिघात

अस्थि उत्सेधो पर विद्यमान अधस्त्वचा वर्सों में अभिघात के फलस्वरूप नील (contusions) बन जाने की सभावना रहती है। ऐसा प्रायः कूर्पर वर्सा (olecranon bursa) तथा जानुकापूर्व वर्सा (pre-patellar bursa) मे होता है। वर्सा-गुहिका रक्त से भर जाती है तथा स्थानिक वेदना का अनुभव होता है। समीपवर्ती ऊतक भी अभिघातग्रस्त हो सकते है, अत· अस्थिभग के निश्चय के लिए एक्सरेचित्रण अवश्य करना चाहिए। यदि विक्षति संक्रमित हो जाये तो समीपस्थ सधि मे सक्रमण के विस्तार की विकट संभावना होती है।

चिकित्सा का मुख्य अग स्प्लिन्ट (splint) द्वारा अंग को विश्राम प्रदान करना तथा आरभिक अवस्था मे शीतल सम्पीड (cold compress) और विलम्वित काल मे सिफाई का प्रयोग करना है। संक्रमण के निवारण अथवा नियंत्रण के लिए एटीवायोटिको का प्रयोग भी अपेक्षित होता है। पूयता की स्थिति मे वर्सा का छेदन तथा निकास करना चाहिए।

रोग

तीव्र वर्साशोथ (acute vursitis)

यह प्राय. तीव्र सीरसी वर्साशोथ तथा कभी-कभी सपूय वर्साशोथ के रूप मे प्रकट होता है। सक्रमण का प्रसार समीपवर्ती क्षेत्र से, छिद्रित क्षत द्वारा अथवा रक्तधारा (पूयरक्तता) द्वारा होता है। लसीकावाहिकाशोथ के समय भी ऐसा हो सकता है क्योकि वर्सा तथा लसीकातंत्र मे घनिष्ठ सम्वन्ध होता है। वर्सा के निकट स्थित सधि मे अनुकम्पी नि.सरण (sympathetic effusion) पाया जा सकता है। तीव्र रूमेटिज्म (acute rheumatism), गोनोरिया (gonorrhea) तथा गाउट (gout) मे भी तीव्र सीरमी वर्साशोथ उत्पन्न हो सकता है।

वर्सा-भित्ति शोफयुक्त (oedematous) एवं सकुलित (congested) हो जाती है तथा गुहिका मे स्वच्छ या तनिक गदला तरल पाया जाता है। कुछ दिनो मे इस दशा का शमन (resolution) हो सकता है, अन्यथा पूयता के फलस्वरूप वर्सा की भित्ति स्थूल हो जाती है तथा वर्सा गुहिका मे ऊतक व पूय के ततु विकसित हो जाते हैं। कालातर में ऊतिशोथ तथा सक्रामी संधिशोथ भी उत्पन्न हो सकते है।

तीव्र वर्साशोथ के लक्षण विशिष्ट होते है । एक सुस्पष्ट, तनावयुक्त, स्पर्शासह सूजन पाई जाती हे जो मद, मृदु, रेशमी क्रेपिटस (crepitus) से युक्त होती है । दैहिक लक्षण प्राय: गौण होते हैं किन्तु पूयता की अवस्था मे सूजन का आकार वढ जाता है, प्रवल दैहिक लक्षण प्रकट हो जाते है तथा त्वचा मे शोफ एव दृढ सूजन (brawny swelling) उत्पन्न हो जाती हे ।

चिकित्सा का मुख्य अग विश्राम, सिकाई तथा एटीवायोटिको का प्रयोग है । सीरमी प्ररूप मे तनाव को घटाने के लिए चूपण तथा सपूय प्ररूप में छेदन एव निकास की आवश्यकता पड सकती हे ।

चिरकारी वर्साशोथ

यक्ष्मा, सिफिलिस अथवा पुन: पुनः गौण अभिघात के फलस्वरूप वर्सा का चिरकारी विवर्धन हो सकता हे । चिरकारी वर्सा-शोथ का सर्वाधिक पाया जाने वाला प्ररूप अभिघातज हे । कुछ विशेप व्यवसाय वाले व्यक्तियो मे यह अधिक होता है, उदाहरणत. खनिक, जुलाहे, आया ।

वर्सा का आकार वढ जाता है किन्तु उसकी भित्ति स्थूल तथा गुहिका छोटी होती है । उसमे कटी-फटी वृ तकयुक्त वृद्धिया (pedunculated growths) तथा सीरमी गदला तरल भरा होता है । कभी-कभी खरवूजा-वीज पिन्ड (melon seed bodies) या तदुल पिण्ड (rice bodies) भी मिलते है तथापि ये प्राय: यक्ष्मा-सक्रमण के सहगामी होते हैं । वर्सा भित्ति कैल्सीभूत हो सकती है ।

चिरकारी वर्साशोथ का रूप विशिष्ट होता हे । दवाव या प्रसामान्य वर्सा के स्थान पर स्थूल भित्ति और सुस्पष्ट उपात वाली एक दृढ़ सूजन या उत्सेध पाया जाता है । इसकी आकृति विविध प्रकार की होती है तथा खडक युक्त (lobulated) भी हो सकती हे । स्पर्श तरगें (fluctuation) उपस्थित हो सकती है किन्तु वह पारभासी (lucent) नही पाया जाता । वर्सा पर स्थित त्वचा प्राय स्थूल, रूक्ष, झुर्रीदार और वर्णकयुक्त होती है । गुहिका मे श्लथ पिण्डो (loose bodies) की उपस्थिति होने पर एक विचित्र सा मृदु क्रेपिटस (crepitus) अनुभव किया जा सकता है । वेदना तभी होती है जव वर्सा शोथ युक्त या सक्रमित हो जाता हे ।

इन वर्सो को उच्छेदित करना वाछनीय होता है क्योकि उनमे पुन. अभिघात या पुनरावर्ती शोथ की सभावना रहती है । यदि गभीरस्थ होने के कारण, उदाहरणत कटिलम्विनी वर्सा (psoas) मे, उच्छेदन कठिन या असभव हो तो वर्सा भित्ति को छेदित करके खुरचना तथा कौटरी (cautery) से दाह

करने से भित्ति मे कणाकुर ऊतक (granulation tissue) बनने लगता है ।

प्राय: प्रभावित होने वाले वर्सों मे से कुछ निम्नलिखित है ।

अवत्रिकोणिका वर्सा (sub-delloid bursa)—यह असच्छदा तथा स्कध सधि के सम्पुट के बीच मे प्रकट होता है । वर्सा के विवर्धित होने पर अपावर्तन की गति सीमित तथा खरखरी अनुभूति (grating sensation) से युक्त होती है। विकृति का रूप प्राय रूमेटी (rheumatic) या यक्ष्मज होता है ।

कूर्पर वर्सा (olecranon)—इसे 'खनिक' अथवा 'विद्यार्थी' की कोहनी (miner's or student's elbow) का नाम भी दिया जाता है। इस अधस्त्वक वर्सा का विवर्धन मेज पर कोहनी टिकाने से पुन· पुन उस पर दवाव पडने के कारण होता है ।

आसन वर्सा (ischial bursa)—इस अवस्था को 'जुलाहे का नितम्ब' (weaver's bottom) भी कहते है । यह हथकरघा चलाते समय सतत अग्र-पश्च गति के कारण होने वाले घर्षण के फलस्वरूप उत्पन्न होती है । वर्सा वहुखडक युक्त (multilobulated) होता है तथा महानितम्बिका (gluteus maximus) के नीचे तक विस्तृत रहता है; अतः उसका उच्छेदन कठिन होता है ।

शिखरक वर्सा (trochanteric bursae)—ये अनेक होते है, किन्तु इनमे महा नितम्बिका तथा वृहत् शिखरक (greater trochanter) के मध्य स्थित वर्सा का विशेप महत्त्व है क्योकि कभी-कभी इसमे यक्ष्मा सक्रमण हो जाता है । ऊरु के पार्श्व और मध्य मे स्थित दीर्घ स्थायी नाडीव्रण (persistent sinus) प्राय यक्ष्माग्रस्त शिखरक वर्सा के शोथ के कारण होता है। यदि उसके नीचे की अस्ति ग्रस्त नही हुई है तो वर्से का उच्छेदन पर्याप्त होता है ।

जानुकापूर्व बर्सा (prepatellar bursae)—इस दशा को 'आया की जानु' (housemaid's knee) भी कहते हैं । यह वर्सा जानुका के निम्न भाग तथा जानुका स्नायु (patellar ligament) के ऊर्ध्व भाग पर स्थित होता हैं । यह उन व्यक्तियो मे पाया जाता है जिन्हे विशेप व्यवसाय के कारण अधिकाश समय घुटनो के वल झुकना पडता हैं । फलस्वरूप पुनः पुन. अभिघात के कारण वर्सा का विवर्धन हो जाता है । इस अवस्था की चिकित्सा के लिए व्यवसाय परिवर्तन अथवा वर्सा का उच्छेदन आवश्यक होता है ।

कलाकल्पा वर्सा (semimembranosus bursa)—यह उपरिस्थ पिंडिका (grastocnemius) के मध्यवर्ती शिर तथा कलाकल्पा के वीच स्थित होता है तथा प्राय: वच्चों और पहाड़ी कुलियो मे पाया जाता है । यह घुटने के पीछे स्थित एक दृढ़, प्रत्यास्य, अंडाकार सूजन के रूप में प्रकट होता है जो प्रसारण

(extension) के समय तन जाती है तथा आकुचन (flexion) के समय ढीली और छोटी हो जाती है। सूजन में सुस्पष्ट स्पर्शतरग विद्यमान होती है। इसकी चिकित्सा उच्छेदन द्वारा तथा कभी-कभी चूपण द्वारा भी की जा सकती है।

वनियन (bunıon)—प्रथम प्रपदास्थि के शिर पर स्थित यह वाह्यस्थ वर्सा वहिर्नत पदागुष्ठ (hallux valgus) के रोगियो मे पाया जाता है। वहर्नत पदागुष्ठ के लिए शल्यकर्म करते समय इस वर्सा को भी उच्छेदित कर देना चाहिए।

यक्ष्मा

यक्ष्मा अस्थि प्रान्तो के निकट स्थित वर्सा मे प्राय पाया जाता है तथा वहुधा अस्थिरोग भी इसका सहवर्ती होता है। विवर्धित वर्सा मे 'खरवूजा वीज पिंड' (melon seed bodıes) तथा यक्ष्मी पूय (tuberculous) उपस्थित होती है। विक्षति स्थल पर एक प्ररूपी नाडीव्रण वन जाता है जिसका विरोहण नही होता। सर्वाधिक आघटन का स्थान शिखरक वर्सा (trochanteric bursa) है।

चिकित्सा के लिए वर्सा तथा नाडीव्रण का पूर्ण उच्छेदन तथा प्रतियक्ष्मा औपधो का प्रयोग करना होता है।

सिफिलिस

वर्सा का सिफिलिस विरल होता है तथा सर्वाधिक जानुकापूर्वी वर्सा को ग्रस्त करता है। द्वितीयक अवस्था मे अनुतीव्र शोथ तथा आरभिक तृतीयक अवस्था मे गम्मा (gumma) निर्माण पाया जाता है। गम्मा के व्रणीभूत होने पर प्ररूपी पचित व्रण (punched out ulcer) शेष रह जाता है जिसमे भीगे चमड़े के समान स्लफ विद्यमान होता है।

चिकित्सा के लिए प्रतिसिफिलिसी साधन प्रयुक्त किए जाते हैं।

नवीन वृद्धियां (new growths)

वर्सा मे नवीन वृद्धिया अत्यत विरल होती है। अत कलार्वुद (endothelıoma) सार्कोमा (sarcoma) तथा फाइव्रोमा (fibroma) के होने का उल्लेख मिलता है।

26

अर्बुद और सिस्ट

(Tumours and Cysts)

सी० राघवाचारी

अर्वुद

विपयप्रवेश

अर्वुद (tomour) अथवा निओप्लाज्म (neoplasm)—शरीर के ऊतक की कोशिकाओ के प्रयोजनहीन और अत्यधिक प्रफलन (proliferation) से उत्पन्न हुआ एक पिंड है, और इस प्रकार कोशिकाएँ अपसामान्य हो जाती हैं। कोशिकाओ की यह क्रिया स्वतन्त्र या स्वसचालित होती है तथा इसका कोई स्वाभाविक अन्त नही होता। अर्वुद शरीर मे एक परजीवी के समान होता है तथा परपोपी (host) से न केवल पोपण प्राप्त करता है वल्कि उसके लिए हानिकारक तथा वहुधा प्राणघातक सिद्ध होता है।

अर्वुद कितना भी दूर-दूर तक विस्तृत हो जाए, उसका आरम्भ सदा स्थानिक होता है। नवनिर्मित पिंड का सूक्ष्मदर्शी रूप मूल ऊतक के समरूप हो सकता है; अथवा इसके विपरीत जनककोशिकाओं की तुलना मे अर्वुद की कोशिकाओ का रूप अविभेदित (undifferentiated) तथा विन्यास भी अप्ररूपी (atypical arrangement) हो सकता है—अविकसन (anaplasia)।

अर्वुद के दो मुख्य भाग होते हैं—अर्वुद कोशिकाएँ तथा आधारी संयोजी ऊतक (supporting connective tissue) जो परपोपी के ऊतक से

बनता और अर्वुद में जाने वाली रक्तवाहिकाओ को धारण करता है। यदि अर्वुद कोशिकाओ की व्युत्पत्ति केवल एक जननस्तर (germinal layer) से हुई हो तो समस्त कोशिकाओ का स्वरूप एकसमान होता है। दो जननस्तरों से व्युत्पन्न (teratoid tumour, टेरेटाभ अर्वुद) तथा तीनो जननस्तरों से व्युत्पन्न (teratoma, टेरेटोमा) अर्वुदों की कोशिकाएँ विविध प्रकार की होती है। साधारणत. अर्वुद कोई शरीरक्रियात्मक कार्य सम्पन्न नही करते किन्तु कुछ अत.स्रावी ग्रथियो के अर्वुद इसका अपवाद है। उदाहरणत: परावटु, अग्न्याशय तथा अधिवृक्क के ग्रथिअर्वुद हारमोन के अतिस्राव द्वारा शरीरक्रिया का व्यतिक्रमण उत्पन्न कर सकते है।

हेतुकी—अर्वुद की उत्पत्ति का यथार्थ कारण अज्ञात है। तथापि प्रायोगिक पशुओ मे अर्वुदजनों (carcinogens) द्वारा अर्वुद उत्पन्न करने के प्रयत्न सफल हुए है, यथा हाइड्रोकार्वन (bydrocarbons)—1, 2, 5, 6 डाई-वैजएन्थ्रासीन तथा 3, 4 वैजपायरीन का स्थानिक अनुप्रयोग; ईस्ट्रोजन (oestrogens)—से मूपको (mice) मे स्तन कैंसर की उत्पत्ति; विकिरण से त्वचा कैंसर की उत्पत्ति; कुक्कुट भ्रूण (chick embryo) मे राउस सार्कोमा (Rous Sarcoma) उत्पन्न करने वाला निस्पदीय वाइरस।

मानव कैंसर—मनुप्य मे कैंसर उत्पत्ति का वास्तविक कारण अभी अज्ञात है। सम्भवत अतर्जात तथा वहिर्जात घटको के प्रभाव से कोशिका का चयापचय परिवर्तित हो जाता है।

वहिर्जात घटक विशेपकर कैंसरजनक (carcinogens) होते हैं और व्यवसायिक कैंसरो की उत्पत्ति मे विशेप भाग लेते है, जैसे—चिमनी झाड़ने-वालो मे वृपणकोश का कज्जल कैंसर (soot cancer), पेरेफिन (paraffin) के श्रमिको मे शेल-तैल-कैंसर (shale oil cancer), एनिलीन रजक श्रमिको (aniline dye workers) मे मूत्राशय कैंसर, डाक्टरो तथा रोगियो मे विकिरणजन्य कैंसर तथा, रेडियोएक्टिव पदार्थों की खानो के श्रमिको में फुप्फुस कैंसर। दूसरा वहिर्जात घटक चिरकारी क्षोभ (chronic irritation) है, जैसे, कपोल कैंसर मे तम्वाकू चवाना, कश्मीरियो के कागड़ी-कैंसर में ऊष्मा, फुप्फुस कैंसर मे सिगरेट पीना, तथा ओष्ठ कैंसर मे चिलम पीना।

अतर्जात घटक प्रायः आयु, लिंग तथा आनुवशिकता से सम्वन्धित होते हैं। कुछ परिवारो मे स्तन-कैंसर तथा वृहद आँत्र के अर्वुद, यथा पारिवारिक पोलिपता (familial polyposis), आनुवशिक रूप से घटित होते है। स्तन

तथा पुरस्थ ग्रथि (prostate gland) के कुछ कैंसरों पर हारमोनो का भी प्रभाव पड़ता है। इन्हे हारमोन-निर्भर अर्बुद (hormone dependent tumours) कहते है।

सुदम अर्बुद

सुदम अर्बुद प्राय. एकल होते है और उनकी वृद्धि मद गति से होती है। कभी-कभी ये एक से अधिक और वृहद् आकार के भी हो जाते है, किन्तु प्राणघातक केवल तभी सिद्ध होते हैं जब वे किसी जैव (vital) अंग पर दवाव डालते है, उदाहरणतः मस्तिप्क, मेरुनाल (spinal canal), मध्यस्थानिका (mediastinum) आदि। ये अर्बुद पूर्णतः सम्पुटवद्ध होते हैं तथा समीपवर्ती ऊतको मे अन्तःसचरण अथवा दूरस्थ ऊतकों मे विक्षेपण उत्पन्न नही करते। इनका सूक्ष्मदर्शी स्वरूप जिस अग से वे उत्पन्न होते हैं उस ही के ऊतकों के समान होता है तथा कोशिकाएँ सुविभेदित (well differentiated) और वयस्क प्ररूपी (adult type) होती हैं।

अर्बुद का लाक्षणिक रूप एक चिर-स्थित, मदवर्धी तथा सव ओर मुक्तचल पिंड की भाँति होता है। यह समीपवर्ती ऊतको मे अन्त.सचरित नही होता। सन्देह होने पर जीवोतिपरीक्षा द्वारा निदान किया जा सकता है।

गभीर तथा आतरिक अंगों के अर्बुद अग की प्रसामान्य क्रिया मे व्यतिक्रमण द्वारा अपनी उपस्थिति अभिव्यक्त करते हैं, उदाहरणतः वृक्क अर्बुद मे रक्तमेह (haematuria) तथा वृहदांत्र अर्बुद मे कोष्ठवद्धता अथवा अतिसार।

निदान के लिए कतिपय विशिष्ट परीक्षणों की सहायता ली जाती है, यथा, वेरियम-आहार-अध्ययन (barium meal study), गोणिकाचित्रण (pyelograplry), अंत दर्शन (endoscopy) आदि।

सुदम वृद्धियो (benign growths) की चिकित्सा निम्नलिखित परिस्थितियो मे की जाती है; यदि विशिष्ट स्थिति के कारण वे कप्टप्रद या घातक हो ; यदि उनमे दुर्दम परिवर्तन की आशका हो; यदि उनके कारण विरूपता हो अथवा कालांतर मे ऐसा होने की सम्भावना हो। सुदम अर्बुद की सर्वोपयुक्त चिकित्सा उसका सम्पुटसहित पूर्ण उच्छेदन है। मूत्राशयी अकुरार्बुद (papilloma) के लिए डायथर्मी विद्युत-दहन (diathermy fulguration) तथा गह्वर रक्तवाहिकार्बुद (cavernous haemangioma) के लिए विकिरण का प्रयोग भी किया जा सकता है।

सुदम सयोजी ऊतक अर्बुद

वसार्बुद (lipoma)—

यह सर्वाधिक पाया जाने वाला सुदम सयोजी-ऊतक-अर्बुद है। यह वयस्क वसा-कोशिकाओ तथा तनिक पीठिका ऊतक (stromal tissue) द्वारा निर्मित होता है तथा सम्पुट से निकलने वाले तन्तुओं द्वारा अनेक खडको मे विभक्त होता है। यदा-कदा इसमे कैल्सीभवन पाया जा सकता है।

अधस्त्वक् वसार्बुद (subcutaneous lipoma)—वसार्बुद या लाइपोमा की सर्वघटित स्थिति अधस्त्वक् होती है। वास्तव मे यह अधिकतः पाई जाने वाली अधस्त्वक् विक्षतियो मे से एक है। यह प्रायः स्कध, नितम्ब तथा ग्रीवा पर होता है। अधस्त्वक् वसार्बुद एक मृदु, परिगत, सखडक उत्सेध (lobulated swelling) के रूप मे होता हे जो कभी-कभी वृंतकयुक्त (pednnculated) भी पाया जा सकता है। यह कूटपुटीयुक्त (pseudocystic) प्रतीत होता हे और इसमे स्पर्शतरग (pseudofluctuant) भी प्रतीत हो सकती हे, गभीर प्रावरणी (deep fascia) पर पूर्णतया चलायमान होता हे। अर्बुदपिड अनेक ततुओ द्वारा त्वचा से आवद्ध होता है अतः इसकी गति करने से त्वचा पर विशिप्ट प्रकार का गर्तन (pitting) प्रकट हो जाता है। इस प्रकार इसे त्वग्वसा पुटी (sebaceous cyst) से विभेदित किया जा सकता है जो त्वचा से केवल एक विन्दु पर ही सलग्न होता है।

वास्तविक पुटीसम उत्सेध (cystic swelling) से वसार्बुद (lipoma) का भेद इस प्रकार किया जा सकता है कि अंगुलि के नीचे इसका परिस्पर्शन करने पर उसको अगुलि से दवाने पर उसका ठोस किनारा अगुलि के नीचे से फिसलता प्रतीत होगा। वसार्बुद का मुख्यतया सापेक्ष निदान त्वग्वसा पुटी से करना होता है।

इसकी चिकित्सा अत सम्पुटी अपहरण (intracapsular removal) है। इस विधि मे सम्पुट को छेदित करके अर्बुद को उसमे से निकाल लिया जाता है (spelling out)।

अल्पघटित वसार्बुद (Uncommon lipomas)—कभी-कभी अध प्रावरणी (subfascial) तथा अन्त.पेशी वसार्बुद पाए जाते है। करोटि पर अवपर्यास्थ वसार्बुद (subperiosteal lipoma) पाया जा सकता है जिसके कारण एक गर्त वन जाता है तथा अस्थिवहिस्तल पर उथला अवनमन (shallow

depression) प्रतीत होता है। सन्धियो मे अवश्लेपककला (subsynovial) तथा आँत्र मे अध.श्लेष्मिक (submucous) वसार्बुद भी पाए जाते है, अन्तिम दशा के कारण आन्त्रान्त्रप्रवेश (intussusception) भी हो सकता है। प्रत्यक्पर्युदर्या (retroperitoncal) वसार्बुद का आकार विशाल और प्रवृत्ति पुनरावर्तनशील होती है, अत उन्हें प्राय. वसासार्कोमा (liposarcoma) माना जाता है। गभीर वसार्बुदो मे खडकता (lobulation), कूट-स्पर्शतरग (pseudo-fluctuation) आदि विशिष्ट गुणो का पाया जाना आवश्यक नही होता। ग्रीवा मे एक विशेष प्रकार का विस्तृत वसासचय पाया जाता है जो सुनिश्चित सम्पुट से रहित होता है। इस अवस्था को विस्तृत वसार्बुदता (diffuse lipomatosis) कहा जाता है। वहुल तन्त्रिकाततुअर्बुद (multiple neurofibromas) की भाँति वहुल तन्त्रिकावसार्बुद (multiple neurolipomas) भी पाए जाते हैं। ततुअर्बुदीय तथा वाहिकार्बुदीय तत्त्वो के सम्मिश्रण द्वारा क्रमश ततुवसार्बुद (fibrolipoma) तथा न्यच्छवसार्बुद (naevolipoma) भी उत्पन्न हो सकते है।

तंतुअर्बुद (Fibroma)

तंतुअर्बुद या फाइब्रोमा अविभेदित ततु ऊतक से व्युत्पन्न होने वाला अर्बुद है। जहा भी सयोजी ऊतक हो, यह अर्बुद पाया जा सकता है, उदाहरणतः त्वचा, अधस्त्वक् ऊतक, तथा कतिपय ग्रथियाँ और अग जिनमे प्रावरणी एव पेशी ऊतक हो (स्तन, अडाशय, पुरस्थ ग्रथि, वृक्क, आन्त्र आदि)। आन्त्र मे ततुअर्बुद एक—अध श्लेष्मा वृ तकयुक्त पोलिप (submucous pedunculated polyp) के रूप मे होता है। शरीर मे सयोजी ऊतक की व्यापकता देखते हुए ततुअर्बुद का आघटन अपेक्षाकृत कम ही है।

अर्बुद मे कोशिका अश तथा सघन ततुकृत पीठिका (fibrous stroma) अश के अनुपात के अनुसार ततुअर्बुद कठोर तथा मृदु दो प्रकार के हो सकते है।

कठोर ततुअर्बुद परिगत, खडिकायुक्त तथा समीपवर्ती ऊतको से सहज ही पृथक्कृत होते है, किन्तु उद्भव के अग से सलग्न होते हैं। यद्यपि ये सम्पुट-युक्त प्रतीत होते हें, सम्पुट को अर्बुद पिंड से विलग करना सम्भव नही होता। अर्बुद का कटा स्तल चपटा होता है तथा उस पर चमकदार श्वेत ततु पूलिकाएँ दृष्टिगोचर होती हैं जो एक-दूसरे पर से निकलती हुई

(intersecting) कुल्डाकार विन्यस्त होती है।

सूक्ष्मदर्शी स्वरूप मे श्वेत ततु पूलिकाओ की प्रधानता पाई जाती है। उनके मध्य कुछ सयोजी-ऊतक कोशिकाएँ होती हैं जिनका केन्द्रक दीर्घीकृत (elongated) होता है। रक्त वाहिकाएँ लघु तथा अल्पसख्या मे होती है।

मृदु ततुअर्बुद के कटे पृष्ठ पर, कठोर प्ररूप की तुलना मे, ततु पूलिकाओ का खुला हुआ जाल फैला दीखता है जिसके कोष्ठको मे सीरमी तरल भरा होता है। यत्र-तत्र तर्कु रूपी (*spindle shaped*) कोशिकाओं के क्षेत्र भी दृष्टिगोचर होते है। ततुअर्बुद मे श्लेपाभ व्यपजनन (mucoid degeneration), कैल्सियममय व्यपजनन (calcareous degeneration) अथवा दुर्दम परिवर्तन उत्पन्न हो सकता है।

लाक्षणिक रूप—ततुअर्बुद एक दृढ़, पूर्णतया चलायमान तथा परिगत उत्सेध के रूप मे प्रकट होता है। उसकी प्रगाढता (consistency) विभिन्न होती है तथा वह वृतकयुक्त हो सकता है।

निदान—ततु अर्बुद को शोथजन्य अतिविकसन (inflammatory hyperplasia) तथा सार्कोमा आदि दुर्दम अवस्थाओं से विभेदित करने में कठिनाई हो सकती है।

चिकित्सा—चिकित्सा का सर्वोत्तम साधन उच्छेदन है। ततुअर्बुद का वसार्बुद की भाँति समूल निष्कासन (enucleation) सम्भव नहीं होता।

विशेष प्रकार के तंतुअर्बुद

तंत्रिकातंतु अर्बुद (Neurofibroma)—यह ततुअर्बुद तन्त्रिकाओ के 'श्वान' पिधान (Schwann's sheath) से व्युत्पन्न होता है। यह त्वचा-तन्त्रिकाओ, गभीर तन्त्रिकाओ तथा करोटि गुहिका और मेरुनाल की तन्त्रिकाओं मे पाया जाता है। त्वचा का तन्त्रिकाततुअर्बुद त्वचा पर एक मृदु उत्सेध के रूप मे होता है जो उपचर्म (epidermis) के उपरिस्थ स्तरों से आच्छादित होता है। इसे मोलस्कम फाइब्रोसम (molluscum fibrosum) भी कहते है। यह एकल उत्सेध के रूप मे ही हो सकता है अथवा बहुल तन्त्रिकाततु-अर्बुदता (multiple neurofibromatosis) की अवस्था पाई जा सकती है जिसमे अधस्त्वक् स्तर पर अनेक दृढ सूजने या उत्सेध उपस्थित होते है। वौन रेकलिंगोसन के रोग (Von Recklinghausen's disease) मे यह

अवस्था वर्णकयुक्त (pigmented) होती है।

तन्त्रिका प्रकॉड मे उत्पन्न तन्त्रिकार्बुद के कारण दबाव-लक्षण (pressure symptoms) प्रकट हो सकते हैं। यह अर्बुद तन्त्रिकापथ मे एक दृढ पिंड के रूप मे पाया जाता है जो दोनों पार्श्व ओर चलायमान किन्तु दीर्घ अक्ष मे स्थिर होता है। यदि प्रभावित तन्त्रिका सवेदी हो तो फलस्वरूप झनझनाहट (tingling), सुन्नता (numbness) आदि अपसवेदना (paraesthesia) तथा तन्त्रिकार्ति वेदना (neuralgic pain) या सज्ञाहीनता की अनुभूति हो सकती है। प्रेरक तन्त्रिका के ग्रस्त होने पर पेशीस्फुरण (muscular twitching) तथा कालातर मे घात (paralysis) या आँशिकघात (paresis) उत्पन्न हो जाता है। यदि तन्त्रिका को ततुअर्बुद से पृथक् किया जा सके तो ये लक्षण लुप्त हो सकते है। ऐसा सम्भव न हो तो तन्त्रिकार्बुद (neuroma) को उच्छेदित करके तन्त्रिका के प्रान्तों का सम्मिलन (anastomosis) अथवा उनके मध्य स्थित अंतराल को पूर्ण करने के लिए तन्त्रिका रोपण (nerve grafting) करना होता है।

तन्त्रिकातंतु अर्बुद श्रवण तन्त्रिका (acoustic nerve) मे भी उत्पन्न हो सकता है। यह तन्त्रिका के दवाव-लक्षणो के अतिरिक्त अनुमस्तिष्कपोन्स कोण (cerebello-pontine angle) मे स्थित अवकाश-पूरक विक्षति (space occupying lesion) के अभिलक्षण भी उत्पन्न करता है।

तन्त्रिकाततुअर्बुद मेरु तन्त्रिकाओ के मूलों मे भी उत्पन्न हो सकता है। इसका स्वरूप एक डम्वलरूपी (dumb bell shaped) उत्सेध के समान होता है जो अशतः मेरु नाल के भीतर तथा अशत· उसके वाहर होता है। इसके अभिलक्षण एक दृढतानिकावाह्य मेरु अर्बुद (extradural spinal tumour) के समान होते है, अत· तन्त्रिकामूल पीडा (root pain) तथा व्राउन-सेक्वार्ड सलक्षण (Brown-Sequard syndrome) होते हैं। यह अर्बुद उच्छेदनीय होता है।

'जालकरूपी तन्त्रिकार्बुद' (plexiform neuroma) नामक अवस्था मे किसी तन्त्रिका, उदाहरणत. आनन तन्त्रिका, की शाखा-प्रशाखाओ के तन्त्रिका-आच्छद (nerve sheath) मे अनेक तन्त्रिकाततुअर्बुद (neurofibroma) उत्पन्न हो जाते है जो सावूदाने के समान दिखाई पडते है। उनकी उपरिस्थ त्वचा फालतू (redundant), स्थूल तथा वर्णकयुक्त होती है। इस लटकती त्वचा को पेकीडर्मेटोसील (pachydermatocele) कहते हैं। यह विक्षति अधिकत· शिरोवल्क तथा आनन पर पाई जाती है।

जालकरूपी तन्त्रिकार्बुद जिह्वा में भी उत्पन्न हो सकता है तथा बृहत्-जिह्वा (macroglossia) के रूप में प्रकट होता है। इसकी चिकित्सा उच्छेदन, तथा आवश्यकतानुसार, त्वचा-रोपण द्वारा की जा सकती है।

कीलॉइड (Keloid)—कीलॉइड एक मृदु कोशिकीय ततुअर्बुद होता है जो दाह, आपरेशन अथवा सक्रमित क्षतो के स्थल पर उत्पन्न होता है। स्कार मे समीपवर्ती त्वचा मे तनिक हलके रग की एक सूजन प्रकट हो जाती है जो न्यूनाधिक आकार तक वर्धित होती है। कीलॉइड यक्ष्मा के रोगियों तथा कतिपय जातियों मे अधिक पाया जाता है। इसकी एक सामान्य स्थिति कर्णपालि (ear lobe) है जहाँ आभूषणों के लिए कर्णछेदन के फलस्वरूप यह विक्षति प्रकट हो जाती है।

उच्छेदन के पश्चात् पुनरावृत्ति को रोकने के लिए रेडियम अथवा गभीर एक्सकिरणो द्वारा विकिरण भी करना चाहिए।

डेस्माइड अर्बुद (Desmoid tumour)—यह समोदरिका के पिधान (sheath of rectus abdominis) मे उत्पन्न होने वाला एक सम्पुटरहित ततुअर्बुद है तथा एक विसरित सूजन (diffuse swelling) के रूप मे प्रकट होता है। इसकी प्रवृत्ति पुनरावर्ती होती है अतः इसे एक ततुसार्कोमा (fibrosarcoma) समझा जाता है।

ततु पुष्पुट (Fibrous epulis)—फाइब्रस एप्युलिस या ततु पुष्पुट का एक प्राय पाया जाने वाला उदाहरण मसूड़े का एप्युलिस है जो एक दृढ, श्वेत, वृतकयुक्त उत्सेध के रूप मे प्रकट होता है। ऊतिकीय दृष्टि से यह एक मृदु ततुअर्बुद (soft fibroma) है। अपहरण के पश्चात् इस अर्बुद की प्रवृत्ति पुनरावृत्ति की ओर होती है, अत: कुछ व्यक्ति इसे ततुसार्कोमा का ही एक मद प्रकार मानते है।

तंतुग्रंथिअर्बुद (Fibroadenoma)—इस अर्बुद मे सयोजी ऊतक तत्त्व के अतिरिक्त उपकला तत्त्व (epithelial elements) भी रहते है। यह स्तन मे पाया जाता है जहाँ शुद्ध तंतुअर्बुद अथवा शुद्ध ग्रथिअर्बुद (adenoma) की घटना अपेक्षाकृत विरल होती है।

गर्भाशय का तंतुपेशीअर्बुद (fibromyoma)—इस अर्बुद मे अन्य नवविकसनीय तत्त्वो (*neoplastic elements*) के साथ ततुअर्बुदी तत्त्व भी पाया जाता है।

अर्बुदीय उद्वृद्धियों (chondramatous outgrowths) के रूप में आरंभ होती है तथा अततः अस्थिउपास्थिअर्बुद (osteochondroma) का रूप धारण कर लेती है। इनका वर्गीकरण अस्थिअर्बुदों (osteomas) के अन्तर्गत किया जाता है। दीर्घ अस्थियो के प्रान्तों पर बहिःउपास्थिअर्बुद (ecchondroma) भी उत्पन्न हो सकते है, किंतु इन अस्थियों मे अतःउपास्थिअर्बुद विरल होते है तथा उनका निदान भी कठिन होता है।

वहि उपास्थिअर्बुद (ecchondroma) मे खडक होते है तथा उनका वहिःपृष्ठ एकसम होता है। कभी-कभी ये विशाल आकार ग्रहण कर लेते है। प्रायः ये व्यपजनित हो जाते हैं तथा इनमे पुटी (cyst) बन जाती है; कैल्सीभवन तथा कभी-कभी अस्थिभवन हो जाता है। जब इन अर्बुदों का विकास श्रोणि अस्थि (pelvic bone) या पर्शुकाओ के आभ्यन्तर पृष्ठ से होता है तो दबाव के कारण गम्भीर प्रभाव उत्पन्न हो सकते हैं। कुछ परिस्थितियो मे उपास्थिअर्बुद दुर्दम रूप भी धारण कर सकते है—उपास्थिसार्कोमा (chondrosarcoma)।

अस्थिअर्बुद (Osteoma)

यह अस्थि से व्युत्पन्न होने वाला एक सरल अर्बुद है जो दो प्रकार का होता है—सुषिर (cancellous) और सहत (compact)।

सुषिर अस्थिअर्बुद अस्थि के प्रान्त पर एक उद्वृद्धि के रूप मे उत्पन्न होता है। इसे अस्थिउपास्थि अर्बुद (osteochondrama) भी कहते हैं। यह अर्बुद एपिफिसिस की उपास्थि (epiphyseal cartilage) के एक विविक्त (sequestrated) अश से परिवर्धित होता है। यह वृंतकयुक्त होता है तथा इसकी वृद्धि अस्थि-प्रान्त से दूर दिशा मे होती है। इसके आकार की वृद्धि का अत अस्थि के विकास काल की समाप्ति होने पर ही होता है। अर्बुद पिंड दबावलक्षण भी उत्पन्न कर सकता है। डायफाइसियल एक्लेसिस (diaphyseal aclasis) नामक अवस्था मे ककाल के अन्य परिवर्तनो के अतिरिक्त अनेक अध्यस्थिया (exostosis) भी पाई जाती है जिनका रूप एव सरचना समरूपी होती है।

सहत अस्थिअर्बुद (compact osteoma) अथवा गजदत अध्यस्थि (ivory exostosis) अस्थि के वहि पृष्ठ पर सहत अस्थि के उत्सेध के रूप मे प्रकट होता है। इसकी सामान्य स्थितिया निम्नलिखित है—करोटि अस्थिया, श्रवण कुहर (acoustic meatus) तथा नेत्रकोटर।

आस्टियोक्लास्टोमा (Osteoclastoma)

अस्थि के इस सुदम अर्बुद का सर्वाधिक आघटन अन्तर्जंघिका के ऊर्ध्व प्रान्त तथा ऊर्विका (फीमर) के निम्न प्रान्त पर होता है। अन्य सामान्य स्थितियां निम्नलिखित है—प्रगडिका (humerus) का ऊर्ध्व प्रान्त, अन्तर्जंघिका और वहि प्रकोष्ठिका (रेडियस) के निम्न प्रान्त, हनु और जत्रुक (clavicle)। यह अर्बुद अस्थि के एपिफिसेस मे प्रकट होता है तथा स्थानीय नाशक (locally destructive) होता है। रोगी की आयु प्राय. 30-40 वर्ष होती है। सूक्ष्मदर्शी रूप मे पीठिका (stroma) तथा तर्कुरूपी (spindle shaped) कोशिकाओं के अतिरिक्त महा कोशिकाए (giant cells) अथवा वहुकेन्द्रकी अस्थिभजक (osteoclasts) कोशिकायें भी देखी जाती है। अर्बुद के कारण अस्थि विस्फारित हो जाती है तथा परिस्पर्शन मे दवाने पर 'अडे का खोल चटकने' (egg-shell crackling) की सी अनुभूति होती है। यह इस रोग का एक विशिष्ट भौतिक चिह्न है।

विस्फारित अस्थि मे के अस्थि-ट्रेविकुलो (bony trabeculae) के कारण एक्सरेचित्र मे अर्बुद का स्वरूप सावुन के वुलवुलो के समान (soap bubble appearance) दिखाई होता है।

छोटे अर्बुद की चिकित्सा के लिए आखुरण द्वारा उसका हरण पर्याप्त है। अर्बुद के विशालाकार होने पर उच्छेद तथा अस्थिनिरोपण (bone grafting) आवश्यक होता है। शल्य-विधि के स्थान पर गभीर एक्सरे विकिरण का प्रयोग भी किया जा सकता है।

पेशियो के अर्बुद

पेशीअर्बुद (Myoma) निम्नलिखित दो प्रकार के होते है।

लीयोमायोमा (Leiomyoma)—यह अरेखपेशी अर्बुद ग्रासनली, आमाशय तथा आंत्र मे एक लघु, अध श्लेष्मिक वृतकयुक्त वृद्धि के रूप में प्रकट होता है। इसके कारण चिरकारी आन्त्रांत्र प्रवेश (intussusception) उत्पन्न हो सकता है। गर्भाशय मे यह फाइब्रॉइड (fibroid) अथवा ततु-पेशीअर्बुद (fibromyoma) के रूप मे वहुधा पाया जाता है तथा वहाँ इसकी स्थिति अध.सीरमी (subserous), अतराली (interstitial) या अध.-श्लेष्मिक (submucous) हो सकती है। वहुत वड़े आकार के अर्बुद प्रसव मे वाधक हो सकते है।

र्‌हेब्डोमायोमा (Rhabdomyoma)—यह रेखित पेशी-अर्बुद विरल

होता है। अन्य अर्बुदीय तत्वों के साथ यह वृक्क के भ्रूणार्बुदों (embryomas) तथा मिश्र अर्बुदो (mixed tumours) मे भी पाया जाता है।

रक्तवाहिकार्बुद (Haemangioma)

रक्तवाहिकाओ के अर्बुद निम्न प्रकार के होते है।

केशिका रक्तवाहिकार्बुद (Capillary haemangioma)—इसके अनेक प्ररूप होते है. (अ) पोर्टवाइन धब्बा (Portwine stain), जन्मचिह्न (birth mark) या मातृचिह्न (mother's mark)—इस रूप मे केवल त्वचा की लाल अपवर्णता पाई जाती है जो दबाने पर फीकी पड जाती है। यह विक्षति स्फीतिरहित होती है तथा बहुधा आनन पर पाई जाती है, (आ) लूत न्यच्छ (spider naevus)—चेहरे तथा हाथों पर पाया जाने वाला यह अर्बुद विस्फारित कुटिल केशिकाओ का बना होता है; (इ) स्ट्रावेरी (strawberry) या रास्पबेरी (raspberry) अर्बुद—इस दशा मे उत्सेध पर की त्वचा मखमल के समान मोटी और अपवर्ण होती है तथा दबाने पर फीकी पड़ जाती है।

ऊतकीय दृष्टि से केशिका रक्तवाहिकार्बुद अंतःकला (endothelium) द्वारा आस्तरित अवकाशो का बना होता है जिनमे लोहित कोशिकाएं भरी होती है तथा कुछ पीठिका ऊतक (stromal tissue) भी होता है। यह अवस्था प्रायः जन्म से ही होती है।

चिकित्सा के लिए कार्बन-डाइ-आक्साइड हिम (carbon-di-oxide snow) वैद्युत अपघटन (electrolyis) अथवा विकिरण का प्रयोग किया जा सकता है। सीमित विक्षतियो का उच्छेदन भी सम्भव होता है। विस्तृत जन्मचिह्नों पर गुदाई (tattooing) भी की गई है।

गह्वर रक्तवाहिकार्बुद (Cavernous haemangioma)—यह अर्बुद अनेक शिरा-अवकाशो (venous spaces) द्वारा निर्मित होता है जिनका परस्पर तथा परिसचरण से सम्बन्ध होता है। अर्बुद जन्म से ही विद्यमान होता है और एक नीलाभ अपवर्ण अधस्त्वक् सूजन के रूप मे प्रकट होता है जिसकी प्रगाढता (consistency) गह्वर ऊतक (cavernous tissue) के समान होती हैं। सम्पीडन द्वारा इस उत्सेध को रिक्त किया जा सकता है (रिक्त चिह्न, emptying sign)। गह्वर रक्तवाहिकार्बुद निम्न स्थानो पर पाया जाता है—अधस्त्वक् ऊतक, ओष्ठ, जिह्वा, पेशी, अस्थि तथा कतिपय आभ्यंतररोग, उदाहरणतः, फुप्फुस, यकृत, वृक्क आदि।

इस अवस्था की चिकित्सा शल्य साधनों अथवा विकिरण द्वारा की जाती है। उपयुक्त साधन का निर्णय विक्षति के स्थल, विस्तार, रक्तसंचार तथा महत्त्वपूर्ण अंगो के समीप्य को दृष्टिगत रखते हुए किया जाता है।

द्राक्षगुच्छाभ या धमनीय रक्तवाहिकार्बुद (Racemose or arterial haemangiomo)

इसे कुटिल या सिर्साइड एन्यूरिज्म (cirsoid aneurysm) भी कहते हैं। यह विस्फारित, कुटिल धमनियों का एक समूह होता है जिसमें वडी वाहिकाओ द्वारा रक्त आता है। इसकी उपमा केचुओं से भरे एक स्पदनशील थैले से की गई है। उत्सेध मे ब्रुई (bruit) सुनाई पड़ती है। यह अर्बुद शिरोवल्क तथा आनन पर अत्यधिक पाया जाता है। चिकित्सा के लिए विक्षति की ओर अभिसारित होने वाली वडी वाहिकाओ का वधन करके वाहिकापिंड को उच्छेदित कर दिया जाता है।

ग्लोमस अर्बुद (Glomus tumour)

त्वचा के ग्लोमस (glomus) नामक अवयव में केशिकाओ की मध्यस्थता के बिना धमनिकाओ (arterioles) से सीधा शिरिकाओं (venules) मे रक्तसचरण होता है। यह ताप को नियन्त्रित करता हे। इससे उत्पन्न होने वाला ग्लोमस अर्बुद अगुलियो की नख-शैय्या (nail bed) मे एक लघु, सम्पीड्य (compressible) उत्सेध के रूप मे प्रकट होता है। इसके कारण इसके लघु आकार की अपेक्षा कही अधिक दारुण वेदना होती है। वैकृत दृष्टि से यह अर्बुद एक वाहिकातन्त्रिकार्बुद (angioneuroma) है।

चिकित्सा के लिए सर्जरी अथवा इलेक्ट्रोकाटरी (eletro-cautery) का प्रयोग किया जा सकता है।

लसीकावाहिनी अर्बुद (lymphangioma)

यह लसीकातन्त्र मे रक्तवाहिकाअर्बुद का प्रतिनिधित्व करता है तथा इसके अवकाशो में रक्त के स्थान पर लसीका भरा होता है। इसके निम्नलिखित तीन रूप होते है।

केशिका-लसीकावाहिनीअर्बुद (Capillary lymphangioma)—अल्प-घटित अर्बुद त्वचा तथा श्लेष्मिककला मे पाया जाता है। यह अनेक जल-स्फोटों (vesicles) द्वारा निर्मित होता है जो लसीका द्रव से भरे होते है।

गह्वर लसीकावाहिनीअर्बुद (cavernous haemangioma)—यह प्रायः पुटीमय लसीकावाहिनीअर्बुद होता है। जो पुटीमय हाइग्रोमा (cystic hygroma) कहा जाता है। यह अर्बुद प्रायः ग्रीवा तथा कक्ष (axilla) में और कभी-कभी त्रिक प्रदेश (sacral region) और वंक्षण (groin) में विद्यमान होता है। यह जन्म के समय ही अथवा आरम्भिक शैशवकाल में प्रकट हो जाता है। पुटी की भित्ति पतली होती है तथा गुहिका बहुकोष्ठियुक्त होती है। कभी-कभी इसका आकार बहुत बढ जाता है। लाक्षणिक रूप में इस पुटीमय उत्सेध का परिस्पर्शन करने पर भीगे स्पज के समान एक विशेष प्रकार की अनुभूति होती है। यह अत्यन्त पारभासी (translucent) होता है।

चिकित्सा की आदर्श विधि अर्बुद का उच्छेद है, किन्तु ऐसा करना कठिन होता है क्योंकि समीपवर्ती ऊतकों में गभीरतः इसकी शाखायें फैली होती है।

द्राक्षागुच्छाभ लसीकावाहिनीअर्बुद (Racemose lymphangioma)—यह जिह्वा तथा ओष्ठों में उत्पन्न होता है तथा वृहत् जिह्वा (macroglossia) और वृहत् ओष्ठ (macrocheilia) नामक अवस्थाओं को जन्म देता है।

अंतःकलार्बुद (Endothelioma)

अंतःकलार्बुद प्लूरा, पर्युदर्या, दृढ़ तानिका (duramater), सीरमी कलायें तथा रक्तवाहिकाओं या लसीका वाहिकाओं के अंतःस्तर से उत्पन्न होता है। रक्तवाहिकार्बुद तथा लसीकावाहिकार्बुद का वर्णन पहले ही किया जा चुका है। प्लूरा और पर्युदर्या के अर्बुद द्वितीयक तथा अत्यन्त विरल होते है। जिसको दृढतानिका जन्य अन्तःकलार्बुद कहा जाता है वह वास्तव में जलतानिका (arachnoid water) की तानिका कोशिकाओं (meningocytes) से उत्पन्न होता है।

सुदम उपकला अर्बुद (Benign epithelial tumours)

अंकुरकार्बुद और पेपिलार्बुद (Papilloma)

अंकुरकार्बुद या पेपिलोमा की उत्पत्ति उपकला आदि आच्छादक ऊतकों से होती है, जैसे मुख, स्वरयन्त्र और आन्त्रों की श्लेष्मिक कला, त्वचा, तथा कतिपय नलिकाओं और गुहिकाओं की आस्तर कला (lining membrane)। इन अर्बुदों का मुख्य तत्व उपकला है जो संयोजी ऊतक के ढाँचे पर आधारित होता है। बच्चों में त्वचा अथवा उपचर्म के अंकुरकार्बुद हाथों तथा अंगुलियों

पर चर्मकीलो (warts) के रूप मे पाए जाते है। ये वहुसख्यक होते है तथा वाइरस सक्रमण के कारण उत्पन्न होते है। जननेन्द्रियों पर होने वाले रतिज चर्मकील भी सम्भवत: वाइरसजन्य होते है।

त्वचा मे एकल अकुरार्बुद के रूप मे भी एक वस्तुत. अर्बुदीय अवस्था पाई जाती है। यह एक केरेटिनभूत (keratinized), चर्मकील-सम प्रवर्ध के रूप मे प्रकट होती है। सूक्ष्मदर्शी रूपानुसार यह अकुरार्बुद रक्तवाहिकाओं तथा तन्त्रिकाओ से युक्त सयोजी ऊतक के एक क्रोड (core) का वना होता है जो शल्की उपकला द्वारा आस्तरित होता है। ऐसा ही स्वरूप उन अकुरकार्बुदो का होता है जो मुख, जिह्वा, ग्रासनली, स्वरयन्त्र तथा योनि मे पाए जाते हैं।

आमाशय, आँत्र, वृहद् आन्त्र, मलाशय तथा पित्ताशय के अकुरार्बुद स्तम्भाकार उपकला (columnar epithelium) से युक्त होते है। वृहदान्त्र के अकुरकार्बुद दुर्दम रूप ग्रहण कर सकते हैं।

वृक्क-गोणिका तथा मूत्राशय मे पाए जाने वाले अकुरकार्बुद अकुरी (villous) होते हैं। ये परिवर्तनी उपकला (transitional epithelius) द्वारा आस्तरित होते है। इनके कारण प्रचुर रक्तस्राव तथा रक्तमेह (haematuria) हो सकता है। इन अकुरकार्बुदो के कुछ विशिप्ट अभिलक्षण होते है, यथा—उच्छेदन के पश्चात् पुनरावृत्ति, दुर्दम परिवर्तन की सम्भावना; जहाँ भी अर्बुद का विलग अश आरोपित हो जाता है वहाँ उनकी वृद्धि हो सकती है (seedling metastasis)। इस अन्तिम गुण के कारण मूत्र क्षेत्र मे इस अर्बुद का ऊपर से नीचे की ओर वीजारोपण होता रहता है। स्तन का वाहिनी पेपिलोमा (duct papilloma), वाहिनियों से उत्पन्न होता है तथा चूचुक से रक्तस्राव के रूप मे लक्षित होता है। इस अवस्था को सभाव्य दुर्दम (potentially malignant) समझा जाता है। चिरकारी स्तनशोथ (chronic mastitis) की पुटियो मे अन्त.पुटीय अकुरकार्बुदीय वृद्धियाँ (intracystic papillamatous growths) पाई जाती हैं। डिम्वग्रन्थि का अत सिस्टी पेपिलार्बुद भी सभाव्य दुर्दम होता हे।

ग्रंथिअर्बुद (adenoma)

ग्रथिअर्बुद स्रावग्रथियों मे उत्पन्न होने वाला एक सरल अर्बुद है। इसकी सरचना जनक ग्रथि के समरूप होती है तथा अर्बुद कोशिकाए कार्यशील हो सकती है। साधारणत: अर्बुद मे उपकला तत्त्व की प्रधानता होती है, किन्तु

स्तन मे वहुधा आधारी सयोजी ऊतक की मात्रा अधिक होती है (ततुग्रथि अर्बुद, (fibroadenoma) ।

त्वचा मे ग्रथिअर्बुद त्वग्वसा ग्रथिअर्बुद (sebaceous adenoma) के रूप मे प्रकट होता है। आन्त्र मे यह श्लेष्मिक कला की स्तम्भाकार कोशिकाओं द्वारा आस्तरित ग्रथियो से उत्पन्न होता है तथा पोलिपाभ (polypoid) होता है। बृहदांत्र मे ऐसे अनेक अर्बुद हो सकते है जिनमे से एक मे दुर्दम परिवर्तन हो सकता है। मलाशय पोलिप (rectal polyp) मलाशय का ग्रथिअर्बुद होता है। यह बच्चों मे गुदा उपांत पर एक कष्टप्रद वहिःसरण (protrusion) उत्पन्न करता है जिसके कारण तनिक रक्तस्राव तथा स्थानीय क्षोभण भी होता है। बृहदान्त्र की वहुपोलिपता (multiple polyposis) नामक वशानुगत रोग अन्तत कार्सिनोमा मे परिवर्तित हो जाता है। क्षुद्र आन्त्र का ग्रथिअर्बुदीय पोलिप आन्त्रान्त्र प्रवेश (intussuscepton) उत्पन्न कर सकता है।

ग्रथिअर्बुद की घटना अवटु ग्रथि, स्तन, वृक्क, वृषण तथा पुरस्थ (prostate) मे भी हो सकती है। अवटु या थाइरायड का ग्रन्थिअर्बुद थायराक्सिन उत्पादक तथा कोलाइडयुक्त हो सकता है। अवटु तथा डिम्बग्रन्थि के ग्रथिअर्बुद पुटीयुक्त हो सकते है तथा उस अवस्था मे पुटीग्रथिअर्बुद (cystodenoma) कहलाते है। अवटु के एकल पर्वकयुक्त ग्रथिअर्बुद मे दुर्दमता उत्पन्न होने की सभावना रहती है। अत:स्रावी ग्रथियो के अर्बुद कार्यशील हो सकते हैं तथा अतिस्राव के कारण गम्भीर विक्षोभ उत्पन्न कर सकते है, उदाहरणत. परावटु अर्बुद के कारण अतिपरावटुता (hyperparathyroidism) तथा अग्न्याशय अर्बुद के कारण अल्पशर्करारक्तता (hypoglycaemia) ।

दुर्दम अर्बुद

दुर्दम अर्बुद जहा भी हो, घातक होते हैं। उनका इतिहास अल्प होता है, अर्थात् वे द्रुत गति से सतत वृद्धि करते हैं। दुर्दम वृद्धियां अन्त सचरण करती है और सम्पुटरहित होती है। न्यूनाधिक काल में वे रक्तप्रवाह या लसीका मार्ग द्वारा शरीर के दूरस्थ भागो मे विक्षेपित हो जाती है। कालातर मे वहुतों से व्रणोत्पत्ति हो जाती है। वहुधा विस्तृत तथा स्पष्टतः पूर्ण उच्छेदन के उपरात भी उनकी पुनरावृत्ति हो जाती है। दुर्दम वृद्धि की सरचना अधिकतर जनक-ऊतक अथवा अग से भिन्न होती है। अधिकांश अर्बुदों की कोशिकाओं का रूप भ्रूण कोशिकाओ जैसा होता है (अपविकसन anaplasia) ।

प्रसार की विधियां—दुर्दमता का प्रसार निम्न प्रकार हो सकता है।

(1) **स्थानीय अन्त संचरण (local in filtration) द्वारा**—लाक्षणिक रूप मे अर्बुद पिंड के समीपवर्ती ऊतको की अतिग्रस्तता, दृढ़ीभवन और स्थिरता (fixity) के अतिरिक्त सूक्ष्मदर्शी अध्ययन द्वारा एक अन्त.सचरण का क्षेत्र भी दृष्टिगोचर होता।

(2) **लसीका वाहिकीय मार्ग द्वारा**—यह कार्सिनोना के प्रसार की प्रमुख विधि है।

(अ) लसीका-अत.शल्यता (lymphatic embolism) कार्सिनोमा के प्रसार की सर्वाधिक विधि है। दुर्दम कोशिकाओ के पुज अर्बुद से विलग होकर जब अगले पर्वो तक पहुँचते है तो वहा लगभग प्राथमिक वृद्धि के ही समरूपी द्वितीयक वृद्धि प्रस्थापित हो जाती है। कभी-कभी लसीकाप्रवाह द्वारा अत्यंत दूर के पर्वों में भी विक्षेपण हो जाता है, उदाहरणतः विर्शो (Virchow) द्वारा वर्णित आमाशय कैंसर मे अधिजत्रुक (supraclavicular) पर्वो का विवर्धन।

(आ) पारगमन (permeation) द्वारा—इस विरल विधि मे अर्बुद कोशिकाए लसीका-वाहिकाओं के साथ-साथ ही फैलती है जिससे वाहिकार्ये रज्जुओं के समान प्रतीत होती है।

(3) **रक्त प्रवाह द्वारा**—यह सार्कोमा के प्रसार की सामान्य विधि है। कुछ स्थानो के कार्सिनोमाओ का प्रसार भी रक्त द्वारा होता है। दुर्दम कोशिकाओ के अत शल्य (emboli) परिसचरण द्वारा फुप्फुस, अस्थियो आदि तक पहुँच जाते है। पोपण नाल तथा अग्न्याशय के कैंसर प्रतिहारिणी शिरा (portal vein) द्वारा यकृत मे पहुँचकर द्वितीयको को स्थापित करते है। दुर्दम मेलेनोमा (maliguant melanoma) मे लसीका तथा रक्त द्वारा, दोनों प्रकार का अर्बुद का प्रसार होता है, यकृत के द्वितीयक (secondaries) दैहिक रक्तप्रवाह (systemic bloodstream) द्वारा प्रसारित होते है।

प्रसार की अपेक्षाकृत विरल विधियां

ये कुछ विशिप्ट अवस्थाओं मे ही पाई जाती है तथा निम्नलिखित हैं।

(1) आरोपण (Implantation) या अतर्निवेशन (inoculation) द्वारा—इसका प्ररूपी उदाहरण निम्न ओप्ठ का कैंसर है जो प्रत्यक्ष स्पर्श द्वारा ऊर्ध्व ओष्ठ मे आरोपित हो सकता है (चुम्बी कैंसर, kissing cancer)।

(2) नलिकाओ (canals) या पेशी कृत नलियो (muscular tubes) मे शरीरक्रियात्मक नोदन (propulsion) द्वारा, यथा मूत्र क्षेत्र का अकुरकार्बुद।

(3) गुलत्व द्वारा—अर्बुद से विलग दुर्दम कोशिकाएं किसी गुहिका में संचरित होकर दूरस्थ स्थानों पर विक्षेप उत्पन्न कर देती है। पार-सिलोमी प्रसार, (trans coelomic spread), उदाहरणतः डिम्बग्रन्थि में पाया जाने वाला क्रुकनवर्ग (Krukenperg) का अर्बुद।

लाक्षणिक रूप एवं निदान

सुस्थापित तथा प्रगत दुर्दम रोग की लाक्षणिक अभिव्यक्ति एवं स्वरूप से तो प्रत्येक परिचित होता है किन्तु व्यावहारिक रूप में यह ज्ञान लाभदायक नहीं होता, क्योंकि सफल चिकित्सा केवल शीघ्र निदान द्वारा ही संभव होती है।

तथापि, आरंभिक अर्बुदता के रूप या लक्षण सुस्पष्ट नहीं होते। उपरिस्थ विक्षतों में दुर्दम परिवर्तन का संकेत सहसा आकार-वृद्धि, व्रणोत्पत्ति, समीपवर्ती क्षेत्र की स्थिरता (fixity) तथा दूरस्थ प्रसार आदि द्वारा मिलता है। प्राय पीडा अनुपस्थित होती है और गंभीर अंगों में स्थित होने पर कोई सूजन या उत्सेध प्रकट नहीं होता। अनेक दुर्दम दशाएं उपरिस्थ न होकर शरीर में गहरी छिपी होती हैं। यह आवश्यक है कि शरीर के विभिन्न भागों, विशेषतः छिपे स्थानों, के दुर्दम अर्बुदों के आदिम लक्षणों का ध्यान रखा जाय। इनके उदाहरण निम्न है—बृहदांत्र कार्सिनोमा में शौच आदतों का परिवर्तन, स्तन कैंसर में संयोगवश पाया गया पिंड (lump), आमाशय कार्सिनोमा में क्षुधा-ह्रास, श्वसनीजन्य कार्सिनोमा में चिरकारी खांसी तथा जनन-मूत्र-अर्बुदता में होने वाला पीड़ाहीन रक्तमेह (heamaturia)।

उपरिलिखित अभिलक्षणों का ज्ञान न केवल चिकित्सक वर्ग बल्कि जन-साधारण को भी होना चाहिए ताकि तनिक सी आशंका होने पर ही रोगी की विस्तृत जांच की जा सके तथा कैंसर की उपस्थिति का अविलम्ब निश्चय किया जा सके।

रोग का परीक्षण करते समय साधारण तथा विशेष एक्सरे चित्रों का बहुत महत्त्व होता है। लाक्षणिक आधार पर कैंसर की आशंका हो तो गंभीरस्थ अंगों के परीक्षण के लिए अंतःदर्शन (endoscopy) का प्रयोग भी किया जा सकता है। जीवोतिपरीक्षा (biopsy) भी निदान की पुष्टि में अत्यन्त सहायक होती है; कुछ दुर्दम दशाओं में इसका परिणाम इतना भयजनक नहीं होता जितना प्रायः समझा जाता है।

ऊतिकीय दृष्टि से दुर्दमता के सूक्ष्मदर्शी अभिलक्षण निम्नलिखित हैं :

(1) अपविकसन (anaplasia), अर्थात् कोशिकाओ के अविभेदित (undifferentiated) तथा भ्रूण रूप (embryanal) का होना; (2) कोशिकाओ का सरेखण (alignment) प्रसामान्य से भिन्न होना; (3) कोशिका-केन्द्रक का वृहद् आकार और अतिअभिरंजी (hyperchromatism) होना तथा सूत्री विभाजन के अप्रसामान्य रूपो का पाया जाना; (4) समीपवर्ती प्रसामान्य ऊतक मे दुर्दम उद्वृद्धियो (outgrowths) की उपस्थिति—अत सचरण (infiltration) का प्रमाण

चिकित्सा—रोगनिरोध का उपाय कैंसरपूर्व-दशाओ को दूर करना है, यथा, श्वेतशल्कता (leukoplakia), पोलिपिता (polyposis) आदि दशाओं का अविलम्ब उच्छेदन कर देना, कार्सिनोमाजनक पदार्थो के प्रति अनवरत समस्त श्रमिको की आवर्ती जाच (periodic checkup), तम्बाकू चवाने या धूम्रपान करने के फलस्वरूप होने वाले चिरकारी क्षोभ को मिटाना, सदेहास्पद पिंडो (lumps) को शीघ्र उच्छेदित करना।

चिकित्सा की विधिया निम्नलिखित है .

(1) शल्य-उच्छेदन—द्वितीयक प्रसार-रहित समस्त दुर्दम अर्बुदों की चिकित्सा की सर्वश्रेष्ठ विधि अर्बुद का उच्छेदन है। ऐसा करते समय विक्षति के उपात पर स्थित दीखने वाले ऊतक की पर्याप्त मात्रा का अपहरण भी आवश्यक है जिससे अर्बुद के सूक्ष्मदर्शी प्रसार से युक्त क्षेत्र शेप न रहे। यदि कार्सिनोमा के कारण क्षेत्र के समीपतम अपवाही लसीकापर्व विवर्धित किन्तु गभीर ऊतको से आवद्ध हो तो उनका सामूहिक व्यवच्छेदन (block dissection) उत्तम है। यदि दूरस्थ लसीकापर्व प्रभावित हो अथवा रक्त द्वारा प्रसार के कारण फुप्फुस, यकृत, अस्थि आदि ग्रस्त हो गये हो तो चिकित्सा केवल प्रशामक होती है, जिसका केवल प्रयोजन कवकाभ-वृद्धि (fungating growths) के अपहरण से वेदना से रक्षा तथा कुछ ऐसी अन्त स्रावी ग्रथियों का उच्छेदन जो दुर्दम कोशिकाओ की सतत वृद्धि के लिए हो, आवश्यक होता है।

(2) विकिरण-उपचार—इस विधि का यह लाभ है कि वह आपरेशन के कारण अग-भग तथा घातक परिणाम की सम्भावना से रहित होती है। अर्बुद के सूक्ष्मदर्शी प्रसार को रोकने मे शस्त्रकर्म की अपेक्षा विकिरण-उपचार अधिक सक्षम नही होता है। किन्तु विकिरण-उपचार समस्त रोगियो को सुलभ नही होता तथा केवल कुछ ही अर्बुद इसके प्रति सुग्राही (sensitive) होते है।

किरणन की विभिन्न विधियों का वर्णन विकिरण-चिकित्सा के सिद्धान्त नामक अध्याय मे किया गया हे ।

(3) रसायनी चिकित्सा—यह विशेपत स्तन तथा पुरस्थ आदि ऐसे अगो के अर्बुदो के लिए उपयोगी होती है जो प्राकृतिक हारमोनों—उदाहरणतः ईस्ट्रोजन (oestrogen) व टेस्टोस्टरोन (testosterone)—द्वारा प्रभावित होते हे । नाइट्रोजन मस्टर्ड (nitrogen mustard) तथा फालिक एसिड-विरोधी (folic acid antagonists) आदि अन्य औपधियें कुछ लसीकाभ ऊतको (lymphoid teissues) पर प्रभाव डालती हे । भविप्य मे रसायन-चिकित्सकीय औपधो द्वारा दुर्दम रोग का अधिक सफल नियन्त्रण सभव होने की आशा है ।

(4) प्रशामक उपचार—अनुच्छेद्य (inoperable) कैंसरो के लिए निम्नलिखित विधिया उपयोगी है (क) गभीर एक्स-किरणन, (ख) हारमोन उपचार—पुरस्थ तथा स्तन के कैसर के लिए; (घ) हारमोन-निर्भर कैंसरो के चिकित्सार्थ शस्त्रकर्म द्वारा हारमोनी वातावरण मे परिवर्तन—डिम्बग्रन्थि, वृषण अथवा अधिवृक्क का द्विपार्श्विक उच्छेदन तथा पीयूपिका उच्छेदन (hypophysectomy); (ई) रज्जुच्छेदन (chordotomy) द्वारा पीडा से मुक्ति ।

दुर्दम संयोजी-ऊतक-अर्बुद

सार्कोमा

सार्कोमा शरीर मे किसी भी स्थान के सयोजी ऊतक मे उत्पन्न हो सकते हैं ; उदाहरणत. अस्थि, पर्यस्थि (periosteum), प्रावरणी, अंतरापेशी पट (intermuscular septa), अधस्त्वक् स्तर तथा अभ्यतरांगों (viscera) मे निहित सयोजी ऊतक । कुछ अवसरो पर यह सुदम दशाओं मे भी उत्पन्न हो सकता है, तथा तंतुअर्बुद (fibroma), तन्त्रिकातंतु-अर्बुद (neurofibroma) तथा विरूपकर अस्थिविकृति (osteitis deformans)। तथापि कार्सिनोमा की अपेक्षा यह कही कम होती है । सार्कोमा के अनेक प्रकारो का वर्णन किया गया है ।

यदि अर्बुद मे आदि-ऊतक की पहचान सभव हो तो उसका नामकरण तदनुसार किया जाता है, उदाहरणत ततुसार्कोमा, अस्थिसार्कोमा, उपास्थि-सार्कोमा, वसासार्कोमा आदि । यदि अर्बुद की कोशिकाएँ अविभेदित हो तो उनके ऊतकीय अभिलक्षणों के आधार पर ही उसे संज्ञा प्रदान की जाती है,

यथा गोल कोशिका-सार्कोमा (round cell sarcoma), तर्कु कोशिका-सार्कोका (spindle cell sarcoma)—वृहत् तथा लघु-एव महाकोशिका सार्कोमा (giant cell sarcoma) ।

सार्कोमा प्राय कम आयु वालो मे होता है, तथापि यह जीवन के किसी भी काल मे हो सकता है, उदाहरणत वृद्धावस्था मे होने वाली विरूपक अस्थि-विकृतियाँ (osteitis deformans) । इनकी वृद्धि सामान्यत तीव्र होती है किन्तु इसमे भी वहुत अन्तर पाया जाता है—अस्थिजनक सार्कोमा (osteogenic sarcoma) प्राणघातक तथा अत्यन्त तीव्रवर्धी होता है जबकि प्रत्यक्-पर्युदया-वसासार्कोमा (liposarcoma) एव कतिपय ततुसार्कोमा अत्यन्त मन्द गति से वृद्धि करते है ।

लाक्षणिक रूप—सार्कोमा तरुण व्यक्तियों मे शरीर के किसी सयोजी ऊतक-युक्त स्थल पर एक द्रुतवर्धनशील पिड के रूप मे प्रकट होता है । इसमे समीपस्थ ऊतको के प्रति शीघ्र स्थिरीकरण (fixation) की प्रवृत्ति पाई जाती है । यह मृदु, कोष्ण एव अन्त सचरजी अथवा दृढ़ एव ततुसम हो सकता है । व्यपजनन के कारण अर्बुद मे मृदु क्षेत्र प्रकट हो सकते है । विक्षति के चारो ओर फूली हुई शिराएँ उपस्थित हो सकती हैं तथा रोग की विलम्बित अवस्था मे कवकन (fungation) व व्रणोत्पत्ति (ulceration) पाया जा सकती है । एक्सरे-चित्रण द्वारा फुप्फुसो मे सघन अपारर्दशिता (dense opacities) देखी जा सकती है जो द्वितीयक विक्षेपों के कारण होती है ।

सार्कोमा का स्थूलदर्शी स्वरूप विविध प्रकार का हो सकता है मृदु, लाल और माँसल; दृढ, हल्के रग का और ततुसम, अथवा कठोर । अर्बुद सम्पुटरहित और अन्त सचरणी होता है तथा उसमे रक्तस्राव, व्यपजनन, पुटी-निर्माण आदि प्रक्रियाये वहुधा पाई जाती है ।

सूक्ष्मदर्शी सरचना सयोजी ऊतक कोशिकाओं तथा अतराकोशिकी पीठिकी (intercellular matrix) का मिश्रण होनी है । अविभेदित वर्ग मे नामकरण का आधार प्रमुख कोशिकाओ की आकृति होता है—तर्कुरूपी, गोल या महाकोशिकाएँ । इनके केन्द्रक का स्वरूप विशिष्ट और अतिरजित होता है तथा सूत्र-विभाजनी (mitotic) रूप वहुधा दृष्टिगोचर होता है । परिच्छेद मे बारीक भित्ति वाली फूली हुई रक्तवाहिकाएँ तथा अत कला से रहित रक्त-अवकाश (blood spaces) देखे जाते है । यही कारण है कि सार्कोमा का रक्त द्वारा शीघ्र प्रसार होता है । यह सम्भव है कि गोल-कोशिका-सार्कोमा

वस्तुत लसीकाभ ऊतक से उत्पन्न होने वाले लसीका-सार्कोमा (lympho-sarcoma) ही हो। सार्कोमाओं का प्रसार सामान्यत स्थानिक अन्त.सचरण तथा रक्तपरिसत्रण द्वारा होता है। द्वितीयक वृद्धियाँ फुप्फुसों मे पाई जाती है।

सार्कोमा का निम्नलिखित दशाओं से सापेक्ष निदान करना होता है; सरल अर्बुद, यथा फाइब्रोमा; शोथी अवस्थाएँ तथा यदि विक्षति अन्त.सचरणी हो तो एन्यूरिज्म (aneurysm)।

चिकित्सा—चिकित्सा का परिणाम केवल आरम्भिक रोगियो मे ही सतोषप्रद होता है। पर्याप्त उपात सहित अर्बुद का विस्तृत उच्छेदन आवश्यक होता है, देह शाखाओ मे विस्तृत प्रसार के कारण ऐसा सभव न हो तो अगोच्छेदन (amputation) करना पड़ सकता है। शल्यकर्म का विकल्प विकिरण-उपचार है, किन्तु इसका प्रभाव सार्कोमा के प्रकार पर निर्भर करता है। उपचार का आरभ दूर-विक्षेपण होने से पहले ही करना चाहिए।

अस्थिजनक सार्कोमा (Osteogenic sarcoma)

अस्थिजनक सार्कोमा प्राय. दीर्घ अस्थियो मे होता है। सामान्य स्थितियाँ निम्नलिखित है—अन्तर्जघिका का ऊर्ध्व प्रान्त, ऊर्विका का निम्न प्रान्त तथा प्रगडिका का ऊर्ध्व प्रान्त। कभी-कभी यह श्रोणि, हनु आदि अन्य अस्थियो मे भी हो सकता है। यह अर्बुद द्वितीय दशाब्दी के अन्त में अस्थि-प्रान्त पर एक सपीड, तर्करूपी (fusi form) उत्सेध के रूप मे आरभ होकर अस्थिकाड की ओर प्रसारित होता है। यह अवस्था द्रुतवर्धी होती है तथा शीघ्र ही फुप्फुस-विक्षेप प्रकट हो जाते हैं। प्राग्ज्ञान प्रायः प्राणघातक व निराशापूर्ण होता है। प्राय. एक्सरे-चित्रण द्वारा निदान सभव होता है। जीवोतिपरीक्षा (biopsy) कदाचित् ही आवश्यक होती है। चिकित्सा के लिये गभीर एक्स-किरण-उपचार, अथवा विक्षेपण-पूर्व उच्च अंगोच्छेदन (high amputation) किया जाता है।

उपकला ऊतक के दुर्दम अर्बुद

कार्सिनोमा

कार्सिनोमा शरीर मे विभिन्न स्थानो पर विद्यमान उपकला से ऊतको जो आवरणो के रूप मे फैले हुए है तथा ग्रथि-ऊतक से उत्पन्न होता है। प्रायः कैसर के नाम से विख्यात यह अर्बुद दुर्दम विक्षतियो मे सबसे अधिक होता है

तथा 50 की आयु के पश्चात् 10 प्रतिशत मृत्युओं के लिये उत्तरदायी है। यह रोग वृद्धावस्था मे होता है।

कुछ स्थानो पर, पहले की सुदम रोगावस्था मे, दुर्दम परिवर्तन प्रकट हो जाता है। ऐसी कैसरपूर्वी विक्षति (precancerous lesion) का उदाहरण मुख मे पाए जाने वाले श्वेतशल्की धव्वे (leukoplakic patches) है।

विकृति—कार्सिनोमा तथा सार्कोमा की ऊतिकीय संरचना मे मुख्य यह भेद है कि सार्कोमा मे अतराकोशिकी पीठिका-ऊतक (intercellular stromal tissue) विद्यमान होता है जवकि कार्सिनोमा मे कोशिकाए परस्पर सलग्न होती हैं तथा पीठिका ऊतक का वितरण केवल इन कोशिकासमूहों के चारो-ओर होता है। अतिअभिरजकता (hyper-chromatism) तथा सूत्री विभाजन (mitosis) इसमे भी दृष्टिगोचर होता है। कार्सिनोमा की वृद्धि-गति तथा प्रसार-सीमा सार्कोमा से कम होती है। कार्सिनोमा का प्रसार प्रत्यक्ष अन्तः-सचरण (direct infiltration) तथा लसीका-प्रवाह द्वारा अन्त.शल्यों (embolus) के रूप मे होता है। अवटु, स्तन, वृक्क तथा पुरस्थ आदि कुछ अगो मे रक्त द्वारा प्रसार भी पाया जाता है।

चिकित्सा—कैसरपूर्वी विक्षतियों का ध्यानपूर्वक प्रेक्षण करना चाहिये तथा दुर्दम परिवर्तन की आशका होते ही उन्हे उच्छेदित कर देना चाहिए।

रोगमुक्ति के लिये प्रयुक्त विधियाँ, शस्त्रकर्म किरणन, रेडियोएक्टिव आइसो-टोप तथा रसायनी चिकित्सा है। उच्छेदन करते समय सपूर्ण दुर्दम अर्बुद के अतिरिक्त समीपवर्नी स्वस्थ ऊतक के पर्याप्त उपात तथा विक्षति क्षेत्र के अपवाही लसीकापर्वो का भी अपनयन करना आवश्यक होता है।

यदि अर्बुद विकिरण सुग्राही हो तथा शस्त्रचिकित्सा के समान अथवा उससे उत्तम परिणाम की सभावना हो तो विकिरण-उपचार वरणीय है। इसका लाभ यह है कि आपरेशन नही करना पडता तथा अग-भग का डर नही रहता। अवटु ग्रथि के कार्सिनोमा की चिकित्सा के लिए रेडियोएक्टिव आयोडीन (131I) का प्रयोग किया जाता है।

पुरस्थ कार्सिनोमा की चिकित्सा स्त्री हारमोनो (female sex hormones) द्वारा की जाती है। आपरेशन के अयोग्य कार्सिनोमा के प्रशमन के लिये किरणन तथा हारमोनो का प्रयोग किया जाता है।

कार्सिनोमा दो प्रकार के होते है. प्रथम, आवरणो (coverings) तथा आवरक ऊतको मे उत्पन्न होने वाले, उदाहरणत. शल्की उपकालार्बुद (squamous epithelioma) अथवा रोडेन्ट व्रण (rodent ulcer); द्वितीय,

ग्रथि-ऊतक से उत्पन्न होने वाले, यथा गोलाभ (spheroidal) और स्तम्भाकार (columnar) कोशिका कार्सिनोमा।

शल्की उपकलार्बुद (Squamous epithelioma)

शल्की उपकलार्बुद त्वचा तथा अन्य सब ऐसे स्थानों पर उत्पन्न होते है जहाँ की आस्तरक कला शल्की हो। चिरकारी क्षोभ के कारण उपकला मे इतर विकसन (metaplasia) होने के फलस्वरूप विरल अवसरों पर यह अर्बुद श्वसनी, मूत्र क्षेत्र तथा पित्ताशय में भी पाया जा सकता है। जैसा पहले कहा जा चुका है, चिरकारी क्षोभ स्वय एक कार्सिनोजनक घटक होता है। कैंसरपूर्वी विक्षतियों (precancerous lesions) मे भी शल्की उपकलार्बुद उत्पन्न हो सकता है, उदाहरणत. चिरकारी व्रण त्वचा का साधारण लूपस (lupus vulgaris) तथा मुख के श्वेत शल्की धब्बे (lukoplakic patches)।

स्थूलदर्शी प्ररूप—शल्की उपकलार्प्रद स्थूलत: दो प्रकार का हो सकता है : (1) चर्मकीलसम प्रफलनशील वृद्धि (warty proliferating growth); अथवा (2) व्रण।

सूक्ष्मदर्शी प्ररूप—ऊतकीय अध्ययन पर पाया जाता है कि उपकला से कोशिकाओ की स्तम्भाकार अधोवृद्धियाँ (downgrowths) उत्पन्न होती हैं।

एक सुविभेदित प्ररूप मे कोशिका नीड़ (cell nests) दीखते है—मध्यस्थ श्रृंगीभूत (cornified) क्षेत्र के चारो ओर शूककाशियें (prickle cells) स्तम्भो के रूप (palisode arrangement) मे विन्यस्त होती है।

अविभेदित प्ररूप मे उपचर्म के मध्य स्तर की एकैन्थी (acanthoid) या शूक कोशिकाए (prickle cells) पाई जाती है जिनका विन्यास भवररूपी (whorl like) होता है, तथा परिसर वे पर स्तम्भो (palisoding) के रूप मे स्थित होती हैं।

शल्की उपकलार्बुद का **प्रसार** स्थानिक अन्तःसचरण तथा लसीकाप्रवाह द्वारा होता है।

निदान—निदान करने में निम्नलिखित चिह्नों द्वारा सहायता मिलती है. समीपवर्ती ऊतको का दृढ़ीभवन, लसीकापर्वो का विक्षेपन तथा. दुर्दम व्रण के विशिष्ट चिह्न। सापेक्ष निदान करते समय सरल व्रण, रोडेन्ट व्रण तथा अकुरकार्बद से भेद करना होता है।

चिकित्सा—शल्की उपकलार्बुद विकिरण-सुग्राही होता है। इसकी चिकित्सा किरणन अथवा उच्छेदन द्वारा की जा सकती है।

पीठिका, ऊतक की अत्यधिक मात्रा होती है तो अर्बुद का रूप 'शोषी कठोर' (atrophic scirrhus) कहलाता है।

कोशिकाए प्रायः गोल अथवा वहुभुजी होती है तथा एल्वियोलस (alveolus) या ठोस पिंडो के रूप मे उपस्थित होती है किंतु उनकी रचना ग्रथिल या एसिनसवत (acinus) नही होती। इस प्रकार कार्सिनोमा अधिकत स्तन और कभी-कभी अन्य ग्रथियो मे भी पाया जाता है।

स्तम्भाकार-कोशिका प्ररूप (columnor-celltype)

स्तम्भाकार-कोशिका-कार्सिनोमा निम्नलिखित अगों की श्लेष्मला (mucosa) मे पाया जाता है—आमाशय, आन्त्र, मलाशय, पित्ताशय, पित्त-वाहिनिया, श्वसनक्षेत्र, गर्भाशय, डिम्बवाहिनी नलियाँ। अर्बुद मे स्तम्भाकार कोशिकाओ के ठोस स्तम्भ विद्यमान हो सकते है, किंतु विभेदित प्ररूप में स्तम्भाकार कोशिकाओ द्वारा आस्तरित गुच्छकोष्ठक या एसिनस (acinus) भी पाये जाते हैं। कोशिकाए अतिवर्णी होती हैं तथा वे आधारक कला (basement membrane) को पार करके गभीरस्तरो मे भी सचरित हो जाती हैं। डिम्ब ग्रन्थि, अवटु ग्रन्थि तथा वृक्क मे एक ऐसा प्ररूप—अकुरकी ग्रंथिकार्सिनोमा (popillar adenocorcinoma) भी पाया जाता है जिसमे कोशिकाए अकुरको के रूप मे विन्यस्त होती हैं। अर्बुद में कालॉइड (colioid) या म्यूकॉइड (mucoid) व्यपजनन भी हो सकता है; ऐसा अर्बुद देखने मे चमकदार और पारभासी प्रतीत होता है तथा अतराकोशिका-आधात्री (intercellular matrix) मे म्यूसिन (mucin) का सचय पाया जाता है। पूर्वकाल मे वृक्क के वहुघटित अर्बुद हाइपरनेफ्रोरा (hypernephroma) की उत्पत्ति वृक्क मे कुस्थापित अधिवृक्क शेषो (adrenal rests) के कारण मानी जाती थी, किंतु अव इसे ग्रथिकार्सिनोमा (adenocarcinoma) समझा जाता है। ग्रथिकार्सिनोमा के निम्न प्रकारो का वर्णन किया गया है—स्वच्छ-कोशिका (clearce ll) प्ररूप, कणिका-कोशिका (granularcell) अकुरकी (papillary) प्ररूप।

वर्णकयुक्त अर्बुद (Pigmented tumour)

सुदम मेलेनोमा—

सुदम मेलेनोमा एक वर्णकयुक्त मोल (pigmented mole) के रूप मे पाया जाता है जो रोमिल हो सकता है। ये मोल सारे शरीर पर वितरित

होते हैं तथा सामान्यत. इन्हे अर्बुद (neplasm) नही, केवल कुरचना (malformation) माना जाता है। वहुधा दुर्दम मेलेनोमा की उत्पत्ति पूर्वस्थित मोल मे दुर्दम परिवर्तन के कारण होती है।

दुर्दम मेलेनोमा

मोल से उत्पन्न होने के अतिरिक्त दुर्दम मेलेनोमा का स्वतन्त्र जन्म भी हो सकता है। यह त्वचा मे कही भी हो सकता है, उदाहरणत. निम्न देह-शाखाये, शिर, ग्रीवा, धड़, जननांग आदि। इनके अतिरिक्त नेत्र के कोरॉइड (Choroid), कठोर तालु (hard palate), मलाशय तथा अधिवृक्क अन्तस्था (suprarenal medulla) मे भी दुर्दम मेलेनोमा उत्पन्न होसकता है। पादागुलि-नखपर उत्पन्न हुए मेलेनोमा को मेलेनोटिक व्हिटलो (melanotic whitlow) भी कहा जाता है। इसकी दुर्दमता अल्प होती है।

स्थूलदर्शी स्वरूप—यह त्वचा पर एक विशिष्ट वर्णकयुक्तक तथा प्ररूपी दुर्दम अर्बुद के रूप मे प्रकट हो सकता है अथवा एक प्रफलनशील वृद्धि (proliferating growth) के रूप मे; जिसकी समीपवर्ती त्वचा दृढ़ीपूत तथा वर्णकयुक्त होती है। कुछ विक्षतियाँ वर्णकहीन भी हो सकती है।

सूक्ष्मदर्शी स्वरूप—अर्बुद मे वहुभुजी, अनियताकार न्यच्छ कोशिकाओ (naevus cells) होती है जिनके अतिरजी (hyperchromatic) केन्द्रक समूहो मे स्थित होते है। मेलेनिन की भी प्रचुर मात्रा पाई जाती है।

प्रसार—अन्त.सचरण द्वारा स्थानिक प्रसार अल्प होता है। लसीका-वाहिकाओं द्वारा स्थलांतरण (lymphatic metastasis) शीघ्र तथा विस्तृत होता है। अन्त शल्य प्रसार के अतिरिक्त लसीकावाहिकाओ की भित्ति के साथ-साथ भी अर्बुद फैलता है; अर्बुद कोशिकाएँ लसीका वाहिकाओ के गिर्द स्थित ततु ऊतक को पार करके उनके मार्ग मे भी द्वितीयक उत्पन्न कर सकती है। रक्त द्वारा भी इस अर्बुद का प्रसार होता है तथा यकृत में द्वितीयक प्रकट होते है। रक्त प्रसार की सम्भावना नेत्र के कोरॉइड मे स्थित दुर्दम मेलेनोमा के सम्बन्ध मे अधिक होती है। यह अर्बुद विकिरण के प्रति अनुक्रिया प्रदर्शित नही करता।

लाक्षणिक रूप तथा निदान—वर्णकयुक्त दुर्दम व्रण अथवा विवर्धित पर्व-युक्त वृद्धि का निदान सहज ही हो जाता है। सुदम मोल के दुर्दम मेलेनोमा मे परिवर्तन के सूचक चिह्न निम्नलिखित है—मोल के आकार मे द्रुत वृद्धि,

रक्तस्राव, व्रणोत्पत्ति, लसीकापर्वो का विवर्धन तथा उपग्रह मोलो (satellite moles) की उत्पत्ति ।

चिकित्सा—आदर्श चिकित्सा प्रादेशिक लसीकावाहिकाओं तथा अगले लसीका-पर्वसमूह-सहित अर्बुद का विस्तृत उच्छेदन है । दूसरी विधि उच्छेदन तथा प्रादेशिक पर्वो का समूह-व्यवच्छेदन (block dissection) है । यदि देह-शाखाओ मे विस्तृत उच्छेदन सम्भव न हो तो और यकृत विक्षेपग्रस्त न हुआ हो तो अगोच्छेदन (amputation) भी किया जा सकता है ।

तंत्रिकाओ के अर्बुद

तन्त्रिकार्बुद मिथ्या अथवा यथार्थ हो सकते है। मिथ्या अथवा कूट तन्त्रिकार्बुद (false neuromas) तन्त्रिकाओ से सम्बन्धित संयोजी ऊतक से उत्पन्न होते है । उनका विस्तृत वर्णन ततुअर्बुद (फाइब्रोमा) के अंतर्गत किया जा चुका है ।

यथार्थ तंत्रिकार्बुद (True neuromas)

ये निम्न प्रकार के होते है । (1) ग्लायोमा (gliomas)—इनका उद्भव मस्तिष्क तथा मेरुरज्जु के न्यूरोग्लिया-ऊतक (Neuroglial tissue) से होता है । (2) अनुकम्पी प्रसूअर्बुद (sympatheticoblastoma)—इसका उद्भव अनुकम्पी तन्त्रिकातन्त्र से सम्बन्धित होता है। यह प्रत्यक्-पर्युदर्या-अवकाश (retroperitoneal space), अधिवृक्क अन्तस्था (suprarenal medulla) तथा मध्यस्थानिका (mediastinum) मे पाया जाता है। यह एक सुदम अर्बुद है तथा यथार्थ गेग्लियन कोशिकाओ (true ganglion cells) और ततुओ द्वारा निर्मित होता है। (3) तन्त्रिकाप्रसू-अर्बुद (neuroblastoma)—प्रत्यक्पर्युदर्या तथा अधिवृक्क, अन्तस्था मे पाया जाने वाला यह दुर्दम अर्बुद अनुकम्पी तन्त्रिका ततुओ से सम्बन्धित होता है । यह गेग्लियन कोशिकाओ द्वारा नही, केवल ततुओं द्वारा निर्मित होता है । यह प्राय. बच्चों मे होता है। इसका रक्त तथा लसीका द्वारा प्रसार होता है ।

परागुच्छकार्बुद (Paraganglioma)

ये क्रोमेफिन (chromaffin) अथवा वर्णरागी ऊतकों मे उत्पन्न होते है, उदाहरणत: कैरोटिड (पिंड carotid body) तथा अधिवृक्क अन्तस्था ।

मिश्र अर्बुद (Mixed tumours)

टेरेटोमा (Teratomo)—

टेरेटोमा सर्वशक्त (totipotent) कोशिकाओं द्वारा निर्मित होता है तथा फलस्वरूप तीनो भ्रूण स्तरो (embryonal layers) से व्युत्पन्न किसी भी प्रकार के ऊतक को जन्म दे सकता है। सयुक्त यमज (conjoined twins) अपूर्ण एक-डिम्वी यमज (incomplete uniovular twins) तथा परजीवी यमल टेरेटोमा के ही रूप हैं। त्रिक-अनुत्रिक-अर्बुद (sacro-coccygeal tumour) वच्चो में जन्म के समय त्रिक प्रदेश मे स्थित एक टेरेटोमा-सम पिंड होता है। अधिक आयु मे टेरेटोमा प्राय. वृपण तथा डिम्वग्रन्थि और कभी-कभी मध्यस्थानिका, मस्तिष्क व प्रत्यक्पर्युदर्या-ऊतको मे पाए जाते हैं। ये ठोस अथवा पुटीय (cystic) हो सकते हैं। इनके निर्माण मे अनेक ऊतक भाग लेते है, उदाहरणत वहिर्जनस्तर (ectoderm) से व्युत्पन्न शल्की उपकला, रोम, त्वग्वसा ग्रथि व दत-एनेमल, मध्यजनस्तर से व्युत्पन्न अस्थि, उपास्थि व पेशी; अन्तर्जनस्तर से व्युत्पन्न स्तम्भाकार उपकला।

डिम्वग्रन्थिका डर्माइड (ovarian dermoid) प्राय.पुटीय होता है जिसकी वृद्धि सीमित आकार तक ही होती है। इसमे त्वग्वसा-द्रव्य, रोम, दात तथा ध्यानपूर्वक खोज करने पर, पेशी और कार्टिलज भी पाए जा सकते है। कालांतर मे अर्बुद वृतकयुक्त हो जाता है और उदरगुहिका मे दूर स्थित हो सकता है। वृन्तक के मरोड़ खा जाने पर उदर की आपातावस्था (abdominal emergency) उत्पन्न हो जाती है।

वृपण का टेरेटोमा प्राय अत्यन्त दुर्दम होता है। इसकी सरचना प्रारूपिक होती है; डर्माइड प्ररूप वृपण मे विरल होता है। इसका प्रसार रक्त तथा लसीका के माध्यम से होता है। वृपण-टेरेटोमा का एक अत्यत दुर्दम प्ररूप जरायु उपकलार्वुद (chorion-epithelioma) है। गर्भाशय के जरायु-उपकलार्वुद की भाति यह भी सकोशिका स्तर (syncitial layer) और लेगहेन के स्तर (Langhan's layer) द्वारा निर्मित होता है। जरायु उपकलार्वुद के रोगी पुरुप मे पुस्तनवृद्धि (gynaecomastia) तथा फुप्फुसो मे द्वितीयक उत्पन्न हो जाते है।

टेरेटॉइड (teratoid) अर्बुद अथवा भ्रूणार्वुद (embryoma) सर्वशक्त (totipotent) नही, वहुशक्त (multipotent) कोशिकाओ से व्युत्पन्न होता है तथा वृक्क मे पाया जाता है (विल्म का अर्बुद, Wilm's tumour)।

इसका निर्माण आद्यवहिर्जनस्तर या इपिव्लास्ट (epıblast) तथा मीज़ोव्लास्ट (mesoblast) नामक जनन तत्वो से व्युत्पन्न ऊतको द्वारा होता है। ग्रथि-पेशी-सार्कोमा (adeno-myo-saıcoma) नामक सज्ञा से अर्बुद के प्रमुख घटको का सकेत मिलता है। यह अर्बुद छोटे वच्चों (1-3 वर्ष) के वृक्क मे उत्पन्न होता है तथा द्रुत गति से वृद्धि और स्थालातरण होता हे।

लसीकार्बुद तथा जालिकासार्कोमा (Lymphoma and reticulosarcoma)

इस शीर्षक के अतर्गत एक प्रकार की द्रुतवर्धी, अत्यन्त दुर्दम अवस्थाओं की गणना की जाती है, उदाहरणत. 'होजकिन का रोग' (Hodgkın's disease) लिम्फोसार्कोमा, लिम्फेटिक लूकीमिया (lymphatic leukaemia), ईविंग (Ewıng's) का अस्थि-अर्बुद, वहुलमज्जार्बुद (multiple myeloma), तथा त्वचा व प्रावरणी से उत्पन्न होने वाले मृदु ऊतक सार्कोमा। ये सव दुर्दम अर्बुद अनुच्छेद्य होते है, तथापि नाइट्रोजन मस्टर्ड (Nıtrogen mustard) द्वारा रसायनी चिकित्सा प्राय कुछ सीमा तक इनकी वृद्धि को रोकने मे सहायक होती है। विकिरण के प्रति ये पर्याप्त सुग्राही होते हैं।

दात के जनन तत्वो से उत्पन्न होने वाले अर्बुदो एव पुटियो का वर्णन 'आनन, ओष्ठ और हनु' नामक अध्याय मे किया गया है।

सिस्ट

पुटी तरल या अर्धठोस द्रव्य से भरी गुहिका को कहते है जो एक भित्ति—पुटीकला—मे परिवद्ध होती है। अन्य पुटीय दशाओं, यथा व्यपजनन पुटी (degeneratıon cyst) आदि की सरचना भी ऐसी ही होती है, अत. यहां उनका भी वर्णन किया जाएगा।

लाक्षणिक रूप और निदान—पुटी का विशिष्ट गुण है कि यह मृदु तथा स्पर्शतरगयुक्त होती है। तनावयुक्त पुटी मे स्पर्शतरग (fluctuatıon) का निदर्शन कठिन हो सकता है। वसार्बुद या लाइपोमा एक ठोस अर्बुद होते हुए भी मृदु तथा कूट स्पर्शतरंगयुक्त होता है। विक्षति के ठोस अथवा पुटीय होने का एषा ही भ्रम स्तन आदि कुछ विशिष्ट स्थानों पर भी होता है तथा प्रायः ठीक निदान न होने की सम्भावना रहती है। लघु पुटियों के निदान में पेजेट के चिह्न (Paget's sign) से सहायता मिलती है—पुटीसम उत्सेध का केन्द्र परिसर की अपेक्षा अधिक नम्य होता है। स्वच्छ तरल युक्त पुटी पारभासी

होती हैं। भिन्न-भिन्न पुटियों (कूट पुटियों सहित) का वर्णन नीचे किया गया है।

जन्मजात अथवा परिवर्धनी पुटियां (cysts of congenital or developmental origin)

विविक्ति डर्माइड (sequestration dermoid)

विविक्ति डर्माइड शरीर विकास से सम्वन्धित संगलन-रेखाओ (fusion-lines) से उत्पन्न होती है, उदाहरणतः शरीर की मध्य रेखा, तथा कर्ण पल्लव के ऊपर, आनन, शिरोवल्क, और नासामूल की सगलन रेखाएं। वहिस्तल से अंत.र्वधित होने वाली कोशिकाए विविक्त होकर प्रफलित होने लगती है; जव उनमे व्यपजनन होता है तो पुटी वन जाती है।

एक प्रकार की विविक्ति डर्माइड पाइलोनाइडी पुटी (pilonidal cyst) है जो अनुत्रिक के प्रान्त के पीछे पाई जाती है। डर्माइड गभीर स्थितियो में भी उत्पन्न हो सकती है, उदाहरणतः करोटि, कशेरूक नाल, मध्यस्थानिका, तथा मुख-तल (अघोजिह्वा डर्मायड, sublingual dermoid)। इनका निर्माण नीचे के ऊतक मे निहित वहिर्जनस्तर (ectoderma) कोशिकाओं पर मीज़ेन्काइम ऊतक (mesenchymal tissue) का परिवर्धन होने के कारण होता है। डर्माइड गभीर प्रावरणी के नीचे स्थित होती है। यह शल्की उपकला से आस्तरित होती है तथा इसमें पुलटिस के समान द्रव्य तथा रोम पाए जाते हैं।

विशिष्ट लाक्षणिक रूप निम्नलिखित है—यह संगलन रेखाओ (fusion-lines) पर स्थित होती है, जन्मसमय से ही विद्यमान होती है तथा गभीर प्रावरणी (deep fascia) के नीचे पायी जाती है। शिरोवल्क (scalp) की डर्माइड पुटी की विशेपता यह है कि इसके कारण करोटि के वहि.पृष्ठ पर अवनमन उत्पन्न हो जाता है जिसके परिसर का स्पष्टतः परिस्पर्शन किया जा सकता है। करोटि मे अंतराल के माध्यम द्वारा यह पुटी करोटि गुहिका के साथ संचरण स्थापित कर सकती है किन्तु शारीरिक वृद्धि समाप्त होने के साथ ही यह छिद्र वंद हो जाता है। आरोपण डर्मायड (implantation dermoid) तथा आभ्यतराग डर्माइड (visceral dermoid) वस्तुत: यथार्थ डर्मायड नही होती—प्रथम एक अर्जित दशा तथा दूसरी टेरेटोमा होती है।

ऐसे भ्रूण पथों या अवकाशो के बने रहने के कारण उत्पन्न पुटियें जिन्हे प्रसामान्यतः लुप्त हो जाना चाहिये था

अवटुजिह्वा पुटी (thyroglossal cyst)—यह पुटी अवटुजिह्वा-वाहिनी नामक भ्रूण पथ के बन्द न होने के कारण उत्पन्न होती है। यह पथ मुख की उपकला मे एक अधोवृद्धि के रूप में प्रकट होता है और जिह्वा के अंध रध्र (formen calcum) से अवटुग्रथि तक विस्तृत होता हे। यह अवटु के निर्माण मे योग देता है तथा प्रसामान्यत. स्वय लुप्त हो जाता है; यदि किसी बिंदु पर यह पथ बन्द न हो तथा वहा उसकी कोशिकाए प्रफलित हों तो कालांतर मे उनके केन्द्रीय व्यपजनन के फलस्वरूप पुटी बन सकती हे। यह पुटी ग्रीवा की मध्य रेखा मे एक अधिकठिका (suprahyoid) अथवा अवकठिका(infrahyoid) उन्सेध के रूप मे पाई जाती हे। विरल अवसरों पर इसकी स्थिति जिह्वा अथवा मुख तल मे भी हो सकती हे। अवटुजिह्वा पुटी का विशिष्ट अभिलक्षण है कि जिह्वा को बाहर निकालने पर यह स्थिर हो जाती हे।

पूर्ण चिकित्सा के लिए आवश्यक है कि केवल पुटी को ही नही, सम्पूर्ण पथ (track) को अंध्र रध्र या फोरामन सीकम तक उच्छेदित किया जाए।

गिल पुटी (branchial cyst)—ग्रीवा के विकास के समय द्वितीय गिल-चाप (second branchial arch) पुच्छीय चापो पर अधिवर्धित होकर उन पर आच्छादित हो जाती हे। दोनो के बीच का स्थान ग्रीवा साइनस (cervical sinus) कहलाता है। प्रसामान्यत यह लुप्त हो जाता है किंतु कभी-कभी लुप्त न होने के कारण गिल पुटी या ब्रैंकियल सिस्ट बन जाती है। इस पुटी की आस्तर कला तथा अतर्वस्तु की व्युत्पत्ति बहिर्जनस्तरीय (ectodermal) ऊतकों से होती है। उर कर्णमलिका (sternomastoid) के ऊर्ध्व तथा मध्य तिहाई भाग के सगम पर स्थित वह पुटी प्रायः इस पेशी द्वारा आच्छादित होती है तथा अशत. इसके नीचे से बहिसरित होता है। रोगी की आयु 18 तथा 20 वर्ष के मध्य होती है। आघटन की आयु तथा विक्षति की स्थिति इस दशा के विशिष्ट एव निदानात्मक अभिलक्षण है।

अन्य पुटियें—इस वर्ग मे निम्नलिखित सम्मिलित है: अपरापोपिका या एलेन्टाइस (allantois) से सम्बन्धित यूरेकल पुटी (urachal cyst); तथा नाभि-आन्त्रयोजनी वाहिनी (omphalo-mesenteric duct) से सम्बन्धित पुटी।

जननांग सम्बन्धी अवशिष्ट संरचनाओं से (vestigeal structures) उत्पन्न होने वाली अन्य पुटियें

पुरुषों में—वासा ईफरेंशिया (vasa efferentia) या लस-अपवाहिकाओं से स्पर्मेटोसील (spermatocele) नामक पुटी उत्पन्न होती है। जिनमे सक्रिय शुक्राणु पाए जा सकते है।

वोल्फियन अवशेपों (Wolffıan remnants) से उत्पन्न होने वाली पुटिया निम्नलिखित है (1) पेरावृपण (paradıdynıs) से उत्पन्न होने वाले गिराल्डेस (Gıraldes) के ऊर्ध्व और निम्न अग; (2) एपिडिडिमिस (epıdidymıs) के निम्न प्रान्त तथा वास डेफरेस (vas deferans) के बीच स्थित हौलर के वास एबरेन्स (vas aberrans of Haller) से उत्पन्न पुटी, (3) रेटिटेस्टीज़ (retetestes) के उपाग; (4) एपेंडिक्स एपडिडिमिस (appendıx epıdidymıs) या मोर्गग्नी का वृ तयुक्त हाइडेटिड (stalked hydatid Morgagni) जो मुलेरियन वाहिनी (Mulierlan duct) का अवशेप होता है।

ये पुटियें वृपण के समीप पाई जाती है तथा निदान मे कठिनाई उत्पन्न करती है।

स्त्रियों में—(1) पारओवेरियम (parovarium) या एपूफोरोन (epoophoran) की पुटिया, ये वोल्फियन पिंड (Wolffıon body) से व्युत्पन्न होती है तथा पुरुप के एपिडिडिमिस का समरूप होती हैं अर्थात् उसका प्रतिनिधित्व करती है, (2) गार्टनर की वाहिनी (Gartners duct) की पुटिया—यह वाहिनी-योनि मे खुलती है तथा वास डेफरेन्स (vas deferans) का समरूप होती है; (3) मोर्गग्नी के हाइडेटिड (Hydatid of Morgagnı) की पुटिया—यह अवयव डिम्ववाहिनी के झल्लरयुक्त प्रान्त से सलग्न होता है। (4) स्कीन की वाहिनी (Skene's duct) से उत्पन्न होने वाली पुटी—यह वाहिनी प्रोस्टेट या पुरस्थ का एनलाग होती है तथा वोलफियन अवशेप (wolffıan renmant) से व्युत्पन्न होती है। पुटी मूत्रमार्ग के मुख के समीप स्थित होती है तथा प्राय सक्रमणग्रस्त हो जाती है।

लसीका-अवकाशों की असंगतियां

विकास के समय कुरचना के फलस्वरूप एक लसीकावाहिकाजन्य पुटी उत्पन्न हो जाती हे जिसे पुटीमय हाइग्रोमा (cystic hygroma) कहते हैं।

कुछ व्यक्ति इसे अर्बुद (neopleɔm) नही मानते। यह पुटीमय उत्सेध प्राय. ग्रीवा के पश्च-त्रिभुज (posterior trıangle) अथवा काख मे पाई जाती है किन्तु ग्रीवा मे किसी भी स्थान पर स्थित हो सकता है। यह जन्म से अथवा आरम्भिक शैशव से ही उपस्थित होता है। इसका स्वरूप एक वहुकोष्ठकी पुटी के समान होता है जो स्वच्छ द्रव से परिपूर्ण तथा लसीकाभ ऊतक द्वारा आच्छादित होती है। इसमे शोथ के पुनरावर्ती प्रकोपों की सभावना होती है। लाक्षणिक रूप मे पुटीमय हाइग्रोमा ग्रीवा-पार्श्व मे एक पारभासी उत्सेध के रूप में प्रकट होता है जिसके परिस्पशन से स्पज के समान प्रतीति होती है। चिकित्सा की आदर्श विधि उच्छेदन है।

अन्य जन्मजात पुटियां

इनके उदाहरण आँत्रयोजनी तथा प्रत्यक्-पर्युदर्या पुटी हे; निम्नलिखित भी इन्ही मे सम्मिलित है—आंत्रजन्य पुटी (enterogenous cyst), वृहदांत्र योजनी पुटी (mesocolıc cuyst), वृक्कजन्य पुटी (nephrogenic cyst)।

एक जन्मजात रक्त पुटी (congenital blood cyst) ग्रंधवर्ध या डाइ-वर्टिकुलम के समान उत्सेध होती है जिसका किसी शिरा वाहिका के साथ सम्बन्ध होता है। वहुपुटी वृक्क (polycystıc kıdney) की उत्पत्ति विकास के समय वृक्क के दो भागो—मेटानेफ्रोस कलिका (metaonephros bud)—मे परस्पर सचरण स्थापित न होने के कारण होती है। यकृत तथा अग्न्याशय मे भी वहुपुटी (पोलीसिस्टिक) अवस्था पाई जाती है।

दातो के जननस्तर से उत्पन्न होने वाली पुटिया ओडोन्टोम (odontome) कहलाती है। इनके उदाहरण निम्नलिखित हैं—दत पुटी (dental cyst), दंतधर पुटी (dentıgerous cyst) तथा दतवल्कार्बुद(adamantinoma)।

उपलब्ध पुटी (Acquired cysts)

अवधारण पुटी (Retentıon cyst)—

त्वग्वसा पुटी (sebaceous cyst) की उत्पत्ति त्वग्वसा ग्रथि की नली मे अवरोध तथा फलस्वरूप त्वग्वसा द्रव्य के अवधारण के कारण होती है। यह आनन तथा शिरोवल्क पर वहुतायत से पाई जाती है। यह एक अधस्त्वक् पुटी उत्सेध के रूप मे प्रकट होती है जो त्वचा से केवल एक विन्दु पर सलग्न होती है। इस विन्दु को पक्ष्म (punctum) कहते हैं। यह पक्ष्म त्वग्वसा पुटी का

विशिष्ट अभिलक्षण है। पुटी में शोथ अथवा पूयता उत्पन्न हो सकती है। पूय-विसर्जन के पश्चात् इसमे अत्यधिक मात्रा में कणिका-ऊतक का निर्माण होने से शिरोवल्क मे 'काक' का विचित्र अवुर्द (Cock's peculiar tumour) वन जाता है। कभी-कभी पुटी से त्वग्वसा ग्रथिअर्बुद(sebaceous adenoma) अथवा त्वग्वसा शृंग (sbsaceous horn) की उत्पत्ति भी हो सकती है। चिकित्सा उच्छेदन द्वारा की जाती है।

निःस्रवण पुटी (Exudation cyst)

नि.स्रवण पुटी प्राय: पूर्वस्थित अवकाशो मे उत्पन्न होती है। इसके उदाहरण निम्नलिखित हैं : कंडाराओं के श्लेपक पिधान (synovial sheath) से सम्वन्धित गेंग्लियन (ganglıon), वृपण के अडधर कचुक (tunica vaginalis) का हाइड्रोसील, लाला ग्रंथियों से सम्वन्धित श्लेष्मा पुटी (mucous cyst) एव रेनूला (ranula), तथा स्तन की दुग्धजनक वाहिनियों (cacliferous ducts) से सम्वन्धित स्तन्यपुटी या गेलेक्टोसील (galacto-cele) अपस्थानिक वर्सा (adventitıons bursa) चिरकारी क्षोभ के फलस्वरूप उत्पन्न होते है। मेनिंगोसील (meningocele) एक पुटीमय उत्सेध है जिसकी उत्पत्ति अस्थि-अतराल मे से तानिकाओं (meninges) के वहिःसरण के कारण होती है।

परिस्रवण पुटी (Extravasation cysts)

रक्तस्राव, रक्तसग्रह (hamatoma) के संगठन (organization), तथा उसमे कूटपुटी *(pseudo cyst)* का निर्माण होने से परिस्रवण पुटी बनती है। चिरकारी अवदृढ़तानिका पुटी (chronic subdural cyst) की उत्पत्ति चिरकारी अवदृढ़तानिकी रक्तस्राव के कारण होती है।

आरोपण डर्मायड (implantation dermoid)

तीक्ष्ण नोक वाले औजार द्वारा आहत होने पर त्वचा की वाह्यत्वक कोशिकाए गभीर स्तरों पर आरोपित हो जाती है। वहाँ उनके प्रफलन तथा केन्द्रीय व्यपजनन *(central degeneration)* के फलस्वरूप आरोपण डर्मोइड उत्पन्न हो जाते है।

व्यपजनन पुटी (Degeneration cysts)

ये अर्बुदों मे व्यपजनन के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। ऐसा सार्कोमा अथवा ग्रन्थिअर्बुद मे हो सकता है, यथा डिम्व ग्रन्थि और स्तन का पुटीमय ग्रथिअर्बुद।

परजीवी पुटी (Parasitic cysts)

हाइडेटिड पुटी (hydatid cyst) टीनिया एकिनोकोकस सक्रमण (taenia echinococus infection) के कारण होती है। यह कृमि कुत्तो की आत मे पाया जाने वाला एक टेपवर्म (tapeworm) है। यह चार खडो से निर्मित होता है, शिर खण्ड मे चूपक (suckers) तथा अकुशिकाए (hooklets) विद्यमान होती है। कुत्ते के मल मे उपस्थित अडो से घास सक्रमित हो जाती है तथा यह घास खाने से भेडो को यकृत का हाइडेटिड रोग हो जाता है। कुत्ते मे संक्रमण इस यकृत के भक्षण द्वारा पहुँचता है। मनुष्य मे यह रोग सयोगवश कुत्ते के द्वारा दूपित भोजन करने से होता है।

आमाशय मे अडे से निकला भ्रूण या एव्रयो (embryo) आमाशय भित्ति को पार करके यकृत मे पहुँच जाता है। यद्यपि एकिनोकाकस सक्रमण सर्वाधिक यकृत मे होता है, वह फुप्फस, मस्तिप्क, वृक्क, अस्थि तथा प्रत्यक्-पर्युदया (retroperitoneum) मे भी पहुँच सकता है।

हाइटेटिड पुटी की भित्ती तीन तहो की वनी होती है—परपोपी (host) द्वारा निर्मित वाह्य स्तर, अत.पुटी (endocyst) अथवा आतरिक भ्रूण स्तर (embryonic layer) तथा दोनो के मध्य स्थित एक पटलित (laminated) स्तर। अत पुटी या एंडोसिस्ट से पुटी के भीतर स्कोलेक्स (scolex) तथा भ्रूण-सम्पुट या व्रूड-केपसूल (brood capsule) सलग्न होते हैं। स्कोलेक्स वास्तव मे टेपवर्म के शिर खड की प्रतिकृति होती है। जव परपोपी-प्रतिक्रियाओ के फलस्वरूप परजीवी क्षुव्ध होता है तो पुटी के अन्दर सतति पटियें (daughter cyst) उत्पन्न हो जाती है।

हाइडेटिड पुटी के कारण यकृत का विवर्धन हो जाता है तथा इस स्थान पर परिताडन द्वारा एक विशिष्ट प्रकार का थ्रिल (thrill) अनुभव होता है। प्राय कासोनी (Cassoni) का परीक्षण निदानात्मक सिद्ध होता है। यह परीक्षण तव धनात्मक माना जाता है जव हाइडेटिड सिस्ट के तरल से निर्मित एटीजन (antigen) का अत स्त्वक् (introdermal) इजेक्शन 24 घटे मे त्वचा-प्रतिक्रिया उत्पन्न करने मे सफल होता है।

27

विशिष्ट संक्रमण

संगमलाल

टिटेनस या हनुस्तम्भ
(Tetanus or Lock-Jaw)

रोगहेतु (Aetiology)

हनुस्तभ या टिटेनस रोग क्लौस्ट्रिडियम टिटेनाइ नामक जीवाणु द्वारा उत्पन्न जीवविषो के कारण होता है। यह एक ग्राम-धनात्मक वातनिरपेक्षी अन्तस्थ स्पोरधारी दंडाणु होता है। इस जीवाणु के वर्धन के लिए आदर्श परिस्थिति ऐसे गभीर व सक्रमित क्षतों मे होती है, जिनमे परिगलित ऊतक व आगंतुक शल्य उपस्थित होते है। शरीर में प्रविष्ट होने के पश्चात् यदि टिटेनस जीवाणु को उपयुक्त परिस्थिति मिले तो उसका वर्धन व वहुगुणन होने लगता है। कभी-कभी ये जीवाणु इतने लघु व अपेक्षाकृत महत्त्वहीन क्षतों से प्रवेश पा जाते हैं कि रोगी को उस क्षत अथवा अभिघात का स्मरण तक नही होता।

ये जीवाणु शाकाहारी पशुओं तथा कभी-कभी मनुष्य के मल मे उपस्थित होते है। इस कारण सड़को पर अथवा खादयुक्त मिट्टी मे होने वाली दुर्घटनाओं मे लगे क्षतो के टिटेनस-संक्रमित होने की सम्भावना रहती है।

भारत आदि अविकसित देशो मे, जहां उपयुक्त प्रसूति सुविधाए उपलब्ध नही हैं, प्रसव के समय पूतियुक्त साधनो के प्रयोग के कारण नाभिरज्जु तथा माँ के जननागों मे टिटेनस संक्रमण संस्थापित हो सकता है। ग्रामीण क्षेत्रों में इसकी सम्भावना अधिक होती है।

क्षत स्थल पर टिटेनस जीवाणु, जो वहिर्जीवविष (exotoxin) उत्पन्न

करते है वह प्रेरक अतस्थलो (motor endplates) द्वारा अवशोषित होकर तथा प्रेरक तत्रिकाओं के अक्षदडो व लसीकावाहिनियों के सहारे अग्रश्रृग-कोशिकाओ में पहुच कर वहा स्थिर हो जाता है। इसके अतिरिक्त लसीका-वाहिनियों के माध्यम से रक्तधारा मे मिश्रित हो कर यह सार्वदैहिक अन्त.स्थलो को व्यापक रूप से भी प्रभावित कर सकता है।

उद्भवन अवधि (incubation period)

टिटेनस की उद्भवन अवधि 4 से 21 दिन तक हो सकती है, किन्तु औसत अवधि 10 दिन होती है। यह क्षत की स्थिति पर निर्भर होती है—क्षत से केन्द्रीय तत्रिकातत्र तक तत्रिकापथ जितना छोटा होगा, उद्भवन अवधि भी उतनी ही कम होगी। उद्भवन अवधि जितनी अधिक होती है, रोग के लक्षण व चिह्न भी उतने ही मन्द होते है। अब तक ज्ञात न्यूनतम उद्भवन अवधि 24 घटा है।

लाक्षणिक रूप

सुस्पष्ट रोग से पूर्व रोगी मे कुछ पूर्वरूपी लक्षण प्रकट हो सकते हैं, यथा सिर दर्द, बेचैनी, चिडचिड़ापन, अनिद्रा आदि। रोग का प्रथम विशिष्ट लक्षण कुछ पेशियों का स्फुरण (twitching) व स्तम्भन (stiffness) हो सकता है। ऐसा आरम्भ मे क्षतस्थल की निकटवर्ती पेशियों मे होता है, किन्तु शीघ्र ही चर्वणी (masseter) तथा शखच्छदा पेशिया भी प्रभावित हो जाती है तथा फलस्वरूप हनुस्तम्भ (trismus, lock-jaw) की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। आननपेशियों के सकुचन के कारण इन रोगियो के चेहरे पर एक वक्र मुस्कान का सा आभास होता है जिसे—(risus sardonicus) कहते है। धीरे-धीरे पेशी-आकर्ष (spasm) शरीर के विभिन्न भागो मे फैल जाता है। ऐसा निम्न क्रमानुसार होता है—ग्रीवा पेशिया, वक्ष तथा उदर के अग्र भाग की पेशिया, धड के पृष्ठ भाग की पेशियां, शाखाअगो की पेशिया। यदा-कदा अग्रवाहु व हाथो की पेशिया अप्रभावित रहती है। उपरिलिखित पेशियो का आकर्ष उनके तनिक सकुचन के रूप मे होता है जो कुछ मिनट से कुछ घटो तक रह सकता है। गम्भीर दशाओ मे इसके साथ ही अन्तरित सकुचन (clonic contraction) भी पाया जाता है। आरम्भावस्था मे पेशी-आकर्ष तीव्र ध्वनि, हवा के झोके, किवाडो की आहट आदि—लघु उद्दीपनो के कारण उत्पन्न होता है, किन्तु जब व्याधि बढ जाती है तो स्वयमेव, बिना किसी उद्दीपन के ही पेशी-आकर्ष होने

लगता है। धड़-पेशियों के आकर्ष के फलस्वरूप शरीर निम्नलिखित रूपों में विकृत हो सकता है—बहिरायाम (opisthotonus) शरीर का इस प्रकार चापयुक्त हो जाना कि पीठ शैय्या से ऊपर उठ जाए, अन्तरायाम (emprosthotonus), शरीर का आगे की ओर झुक जाना, पार्श्वायाम (pleurosthotronus), शरीर का एक पार्श्व की ओर वक्र हो जाना। मध्यच्छद पेशियों व अंतरापर्शुक पेशियों का आकर्ष श्वसन-असमर्थता के रूप में प्रतिफलित होता है तथा ग्रसनपेशियों के ग्रस्त होने से निगरण असम्भव हो जाता है। मूत्रावधारण व मलावधारण की स्थिति भी अन्ततोगत्वा उत्पन्न हो जाती है। दुर्भाग्यवश रोगी इस अवस्था में सचेत रहता है तथा फलस्वरूप अपार कष्ट व क्लान्ति भोगता है। मृत्यु से पूर्व रोगी को अतिज्वर (hyperpyrezia) हो सकता है। विशिष्ट अभिलक्षणों की मुख्यता के अनुसार टिटेनस के निम्नलिखित विभेद पाये जाते हैं।

तीव्र टिटेनस—इसका प्रारम्भ तीव्र रूप में होता है, लक्षण प्रबल होते हैं तथा परिणाम प्रायः घातक होता है।

विलम्बित टिटेनस—इसका आरम्भ धीमा, लक्षण मन्द एवं परिणाम प्रायः पुनःस्वास्थ्यलाभ होता है।

चिरकारी टिटेनस—यह उस अवस्था को कहते हैं जब पूर्वकालीन क्षतों में समाहित जीवाणु क्षत की पुनः विवृति के कारण क्रियाशील हो जाते हैं।

स्थानीय टिटेनस—इस दशा में केवल क्षतस्थल की समीपवर्ती पेशियाँ ही ग्रस्त होती हैं।

शिर टिटेनस—शिर व ग्रीवा के क्षतों के संक्रमित होने से तत्सम्बन्धी पेशियाँ आकर्षग्रस्त हो जाती हैं, कपाल-तन्त्रिकाएँ ग्रस्त हो सकती हैं। यह दशा अत्यन्त गम्भीर तथा प्रायः घातक सिद्ध होती है।

प्रसव टिटेनस—इसका कारण प्रसवकालीन संक्रमण होता है।

नवजात टिटेनस—यह सद्य:जात शिशु की नाभि के संक्रमित होने के कारण होता है। शिशु की प्रायः मृत्यु हो जाती है।

शस्त्रकर्मोत्तर टिटेनस—इस दशा का कारण सीवन के लिए प्रयुक्त कैटगट में जीवाणु-स्पोरों का विद्यमान होना बताया गया है।

जलत्रास टिटेनस—इस दशा का मुख्य लक्षण (जलत्रास), ग्रसनी पेशियों के आकर्ष के कारण होता है तथा रेबीज़ के समान होता है।

निदान

इस रोग का निदान सहज ही किया जा सकता है। किन्तु फिर भी हनु-

स्तम्भन (trismus) के अन्य कारणो का विचार कर लेना चाहिए (उदाहरणतः दाँत, कर्णपूर्व ग्रथि या शख-अधोहनु सधि के सक्रमण)। इसके अतिरिक्त सापेक्ष निदान मे स्ट्रिक्नीन विषाक्तता, जलत्रास रोग (रेबीज), मस्तिष्कावरण शोथ व टिटेनी (tetany) भी विचारणीय है।

निरोध

टिटेनस-प्रतिरोधशक्ति मे वृद्धि के लिए सक्रिय अथवा निष्क्रिय रोगक्षमन (msmunization) का प्रयोग किया जा सकता है।

निष्क्रिय रोगक्षमन के हेतु दाह घावो तथा संक्रमित घावो के रोगियो को एन्टीटिटेनिक सीरम की 3000 यूनिट मात्रा तुरन्त देनी चाहिए। यह औषधि इनेक्शन के कुछ ही घटे पश्चात् अवशोषित होकर रक्त मे पहुँच जाती है। इसका प्रयोग करते समय संग्राहिता प्रतिक्रिया (sensitivity reaction) तथा तीव्र ग्राहिता (anaphylactoid) प्रतिक्रिया की ओर से सावधान रहना चाहिए।

सामान्य उपचार

रोगी को एक अँधेरे कमरे मे पूर्ण विश्राम करने देना चाहिए तथा उसकी निद्रा मे विघ्न नही डालना चाहिए। नेम्बुटाल, क्लोरल, पैरेल्डिहाइड तथा आवश्यकतानुसार, मार्फीन आदि का पर्याप्त मात्रा मे प्रयोग करना चाहिए। आकर्षो के नियन्त्रण के लिए एवर्टिन (avertin प्रति kg वजन) का अत गुद प्रयोग उपयोगी होता है। गम्भीर रोगियो मे मायनेसिन (myanesin), ट्यूबोक्यूरारीन (tubocurarine) आदि पेशीशिथिलक औषधियाँ भी लाभप्रद होती हैं। रोगी के उचित पोषण की उपेक्षा नही करनी चाहिए, यदि वह स्वय तरल आहार ग्रहण करने मे असमर्थ हो तो अत वासी (indewelling) राइल ट्यूब (Ryle's tube) का प्रयोग करना चाहिए। मलाशय व मूत्राशय का ध्यान रखना भी आवश्यक होता है। यदि रोगी को श्वसनकष्ट हो तो श्वासप्रणाल-छिद्रीकरण की आवश्यकता पड सकती है।

प्रतिजीवविष-चिकित्सा (antitoxin therapy)

यद्यपि कुछ विशेषज्ञो को इस साधन की उपयोगिता मे सन्देह है, फिर भी टिटेनस के रोगी की सुरक्षा की दृष्टि से उसकी तुरन्त अन्त शिरा प्रतिजीवविष चिकित्सा करनी चाहिए। प्रथम इजेक्शन 100,000 यूनिट का, दूसरा इसके 12 घटे बाद 50,000 यूनिट का, तथा अन्य चार दैनिक इजेक्शन 25000 यूनिट के

देने चाहिएँ। पेनसिलिन के प्रयोग का इस सम्बन्ध मे कोई विशेप महत्त्व नही है।

क्षत का उपचार

इस सम्बन्ध मे दो लक्ष्य होते हे—क्षत मे स्थित जीवविप को निष्क्रिय करना तथा क्षतस्थल पर ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करना जिसमे टिटेनस दडाणु वृद्धि न कर पाएँ। प्रथम उद्देश्य की पूर्ति प्रतिजीवविप के प्रयोग से हो जाती है। दूसरे उद्देश्य के लिए क्षत को भली प्रकार विवृत करके आगन्तुक शल्यों तथा निर्जीव एव परिगलित ऊतको का अपहरण कर दिया जाता है ताकि वहाँ वायु-रहित वातावरण न रहे। जिक परोक्साइड पेस्ट का स्थानीय अनुप्रयोग भी इस मे सहायक होता है, क्योकि यह एक प्रवल आक्सीकारक होता है। यहाँ उल्लेखनीय है कि क्षत पर शस्त्रकर्म तभी करना चाहिए जव प्रतिजीवविप का प्रथम इजेक्शन लगाये कम से कम तीन घटे वीत चुके हो।

एक्टिनोमाइकोसिस

यह रोग (actinomyces) वर्ग के जीवों के कारण होता हे। इनका एक उदाहरण A-bovis है। विश्वास किया जाता है कि ये सूक्ष्मजीव अनाज के खेतो, घास के पत्तो तथा पराग मे विद्यमान होते है तथा उन्ही माध्यमो से सक्रमण का सचार करते हे। यह रोग पुरुपो को स्त्रियो की अपेक्षा चार गुना अधिक होता है। इन सूक्ष्मजीवो की एक जाति (A-israeli) सम्भवत मुख, गले व आत्रक्षेत्र मे सामान्य रूप मे भी पाई जाती है, किन्तु केवल विशिष्ट अवस्थाओं, यथा स्थानीय पूतिता, मे ही विकृतिजनक सिद्ध होती है।

लाक्षणिक-रूप

यह रोग एक वेदनाहीन, अधस्त्वक्, सुस्पप्ट (well defined) दृढीभूत (indurated) पिंड के रूप मे आरम्भ होता है। धीरे-धीरे इस दृढीभवन का समीपवर्ती ऊतको मे प्रसार होता जाता है। कुछ समय पश्चात् दृढ क्षेत्र का केन्द्र नर्म पड जाता है तथा उसमे अनेक छिद्र प्रकट हो जाते हैं। इन छिद्रो से पूय सीरमीय निःस्राव निकलता है जिसमे पीले लवुकण होते हैं। इस विक्षति का सलग्न ऊतको मे निरन्तर विस्तार होता रहता है। अततोगत्वा पेशियां तथा अस्थिया भी ग्रस्त हो जाती हैं। अत्यधिक ततु-निर्माण होने के कारण सस्पर्शन द्वारा इस विक्षति मे एक विशिष्ट प्रकार के दृढीभवन (braw-

ny induration) का आभास होता है। इस रोग मे लसीकापर्व विवर्धित नही होते। 75% केसो मे यह रोग आनन-ग्रीवा प्रदेश में पाया जाता है, जहां संक्रमण मुख के माध्यम से पहुचता है। रोग के अन्य स्थल शेपात्र-अन्धांत्र-प्रदेश व एपेंडिक्स (आंत्रक्षेत्रीय सक्रमण) तथा फुप्फुस है। फुप्फुस मे एक्टि-नोमाइकोसिस विकृति का कारण ग्रीवा अथवा उदर की विक्षतियों (lesions) का विस्तार होता है।

जीवाणु-विज्ञान

पीतकणो के सूक्ष्मदर्शी अध्ययन से विदित होता है कि प्रत्येक कण के केन्द्र मे माइसीलियम सूत्रो (mycelial threads) का एक ग्राम-धन पिंड होता है जिसमे से सव और स्थूल छोरयुक्त सूत्र प्रवर्धित होते हैं। इस विशिष्ट रूप को 'किरण कवक' (ray fungus) कहा जाता है। माइसीलियम सूत्रो की ये गदा-कार उद्वृद्धिया ग्राम-ऋणात्मक होती है तथा प्रयोगशाला सम्वर्धनों मे कदापि दृष्टिगोचर नही होती। इन कवक की सामान्य जाति वातनिरपेक्षी होती है।

चिकित्सा

यदि आरभिक अवस्था मे ही रोग का निदान कर लिया जाये तो सम्पूर्ण विक्षति का उच्छेदन किया जा सकता है। रोग वढ जाने पर नाडी व्रणो का आरखुण तथा विद्रधियो का छेदन करना पडता है। कुछ सप्ताह तक पेनिसि-लिन की विशाल मात्रा का प्रयोग भी लाभप्रद होता है। स्ट्रिप्टोमाइसिन व पोटाशियम आयोडाइड का प्रयोग भी कुछ व्यक्तियो द्वारा किया जाता है। एक्सरे-चिकित्सा द्वारा भी इस रोग की, विशेपतः आनन-ग्रीवा एक्टिनोमाइकोसिस की, चिकित्सा मे सहायता मिलती है।

मदुरा पद

मदुरा पद (चित्र 267) एक्टिनोमाइकोसिसजनक जीवाणु के समान ही एक सूक्ष्मजीव के द्वारा होता है। यह रोग भारत आदि उन देशों मे अधिक पाया जाता है जहा के निवासी नगे पाव फिरने के अभ्यस्त हैं। पैर की त्वचा मे स्थित दरारो मे प्रविष्ट होकर ये जीव रोग उत्पन्न करते है।

इस रोग मे पैर पर एक दृढ़ पर्वक (nodule) उत्पन्न होता है जिसका आकार क्रमश. वढता जाता है। कुछ समय पश्चात् यह पर्वक फूट जाता है तथा इसमे अनेक साइनस प्रकट हो जाते है जिनमे से पूयसीरमी निःस्राव

चित्र 267—मदुरा पद (madura foot)

निकलता है। इस निःस्राव में काले दाने उपस्थित होते हैं। कालांतर में पैर की अस्थियां तथा सन्धियां भी संक्रमणग्रस्त हो जाती हैं तथा सम्पूर्ण पैर ही विघटित हो जाता है। इस रोग में स्थानीय पीड़ा अथवा लसीकापर्व विवर्धन नहीं होता, न रोग का व्यापक प्रसार होता है।

चिकित्सा

पेनिसिलिन व पोटाशियम आयोडाइड के प्रयोग से इस दशा में कुछ लाभ होता है। गम्भीर अवस्था वाले रोगियों में अंगोच्छेदन की आवश्यकता पड़ सकती है।

ऐरिसपेलास (Erysipelas)

यह त्वचा के संक्रमण के कारण होता है जो एक रक्तसलायक स्ट्रेप्टोकोकस द्वारा होता है। उसका प्रवेश प्राय: अपघर्षण अथवा आपरेशनक्षत द्वारा होता है।

कुपोषित व कृशकाय रोगी, यथा मधुमेह पीड़ित व्यक्ति, इस रोग से अधिक ग्रस्त होते हैं। इसकी उद्भवन अवधि 12 घंटे से 3 दिन होती है। यह रोग प्राय शिरोवल्क (scalp) व आनन पर पाया है।

लाक्षणिक रूप

रोग का आरम्भ अरुचि, सिरदर्द व तन्द्रिलता से होता है। शीघ्र ही रोगी का ताप व नाडी तीव्र हो जाती है, भूख घट जाती है, तथा जिह्वा मैली हो जाती है। कभी-कभी प्रलाप (delirium) की दशा भी पायी जाती है। संक्रमणस्थल पर क्षत का स्वरूप अस्वस्थ प्रतीत होता है, तथा उसकी समीपवर्ती त्वचा का रंग गुलाबी लाल हो जाता है। लालीयुक्त क्षेत्र अनियमित किन्तु सुस्पष्ट तथा वर्धनशील होता है तथा इसकी परिधि उभरी हुई होती है। दबाने से यह लाली फीकी पड जाती है। शिरोवल्क आदि तनावयुक्त क्षेत्रों के अतिरिक्त अन्य स्थलों पर स्थानीय पीडा नहीं होती। कभी-कभी नेत्रच्छद तथा अंडकोश में शोफ उत्पन्न हो जाता है। त्वचा पर जलस्फोट उत्पन्न हो सकते हैं किन्तु उनमें पूयता नहीं होती। प्रादेशिक लसीकापर्व विवर्धित हो जाते हैं। जब व्याधि का शमन होता है तो त्वचा में विवर्णता व शल्की निस्त्वचन (desquamtation) होने लगता है।

चिकित्सा

सर्वप्रथम रोगी को पृथक् कर देना चाहिए क्योंकि उसके जलस्फोटों से निकलने वाला विसर्जन तथा त्वचा शल्क (scales) दोनों ही संक्रामी होते हैं। पेंसिलिन के अंत पेशी प्रयोग द्वारा कुछ घन्टों में ही इस रोग की चिकित्सा की जा सकती है।

एन्थ्रैक्स (Anthrax)

यह एक संक्रामक रोग है। इसका कारण, एन्थ्रैक्स दंडाणु, एक वृहद आयताकार ग्राम-धन दंडाणु, होता है तथा शृंखला रूप में पाया जाता है। यह एक विकल्पी वातनिरपेक्ष (facultative anaerobe) होता है तथा शरीर से बाहर स्पोर रूप धारण करने की क्षमता रखता है। शाकाहारी पशुओं के आन्त्र-क्षेत्र में यह प्राय पाया जाता है। इसके कारण घोड़ों, पशुओं व भेड़ों में प्लीहा ज्वर होता है। अत जो व्यक्ति इन पशुओं के अस्थिपंजर, खाल, चमडा, बाल आदि के सम्पर्क में आते हैं उन्हें एन्थ्रैक्स रोग हो सकता है।

लाक्षणक रूप

त्वचा प्ररूप—सक्रमण के 3-7 दिन (उद्भवन अवधि) के पश्चात् सर्वप्रथम शरीर के अनावृत भागो, यथा हाथ व चेहरे पर एक पीडारहित लाल पिटिका प्रकट होती है। धीरे-धीरे इसके चहुओर की त्वचा गोधूलि-लाल व दृढीभूत (indurated) हो जाती है। तत्पश्चात् इस क्षेत्र मे रक्तिम सीरमयुक्त जलस्फोट उत्पन्न हो जाते है। साथ ही पिटिका भी पूययुक्त हो जाती हे तथा उसके स्थान पर काला स्लफ (slough) वच रहता है। इस प्रकार कुछ दिन मे ही यह विक्षति एक विशिप्ट रूप धारण कर लेती ह—दृढ़ीभूत त्वचा पर अनेक रक्तिम सीरमयुक्त जलस्फोट होते है तथा इस क्षेत्र के केन्द्र मे काला स्लफ होता है। इस विशिप्ट विक्षति को दुर्दम पूयस्फोटिका (malignant pustule) कहा जाता है। विक्षति की समीपवर्ती त्वचा मे भी सक्रमण व दृढीभवन की क्रिया होती रहती है तथा उसका विस्तार होता रहता हे। इस क्षेत्र मे पीडा नही होती, किन्तु खुजली प्राय पाई जाती है। प्रादेशिक लसीकापर्वो का विवर्धन भी उपस्थित होता है।

इस अवस्था मे ज्वर आदि दैहिक लक्षण भी पाये जाते हैं, तथा कभी-कभी पूतिरक्तता की स्थिति भी हो जाती है। जलस्फोट तथा लसीकापर्व, दोनों ही एन्थ्रैक्स के जीवाणुओ से परिपूर्ण होते है।

श्वसन प्ररूप—यह दशा ऊन के श्रमिको का रोग (wool sorter's-disease) भी कहलाती है। इस अवस्था मे प्लूरोनिमोनिया (pleuropneumonia) उत्पन्न हो जाता है तथा रोगी के कफ मे जीवाणु पाये जाते हैं।

आंत्र प्ररूप—इसका विशेप लक्षण चिरकारी रक्तयुक्त अतिसार है। आन्त्रप्ररूप तथा श्वसन प्ररूप, दोनो अवस्थाओ में वहुत मृत्यु होती है।

चिकित्सा

एन्थ्रैक्स के लिए स्क्लेवो (Sclavo) का एन्टीसीरम विशिप्ट (specific) औपधि है। इसकी मात्रा प्रथम दिवस 200 ml. तथा तत्पश्चात् 50 ml. दैनिक है। प्रतिदिन अथवा एकातर दिन 0 6 g निओसल्वार्सन (neo-salvarsan) का अत शिरा प्रयोग भी अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता है। पेनिसिलिनस्ट्रेप्टोमाइसिन भी उपयोगी औपधिया है।

सुजाक (गौनोरिया)

यह रोग neisseria gonorrheae नामक ग्राम-ऋण, सेम वीज रूपी

द्विगोलाणुओ (diplococci) के कारण होता है, जिनका बहुरूपी कोशिकाएँ शीघ्र ही भक्षण कर लेती है जिससे अभिरजित लेपो मे वे प्राय अत कोशिका रूप मे पाये जाते है।

पु.षों मे गोनोरिया

इस रोग की उत्पत्ति प्राय किसी सक्रमित व्यक्ति के साथ यौनकर्म करने से होती है। उद्भवन अवधि 2-10 दिन होती है।

लाक्षणिक रूप

रोग का प्रथम लक्षण शिश्न के छोर पर क्षोभ व मूत्रदाह की अनुभूति है। मूत्र कुहर के शोथयुक्त होने के कारण वहाँ पतला पूयसीरमी तथा यदा-कदा रक्तिम नि स्राव होता है। एक-दो दिन मे यह शोथ अग्र मूत्रमार्ग तक पहुच जाता है तथा फलस्वरूप प्रवल मूत्रदाह होने लगता है। साथ ही नि स्राव प्रचुर, गाढा तथा पीतवर्ण हो जाता है। कभी-कभी तीव्र मूत्रावधारण (retention) भी हो जाता है। अरुचि, तनिक ज्वर आदि मद दैहिक लक्षण भी होते है। जव रोग पश्च मूत्रमार्ग तक पहुच जाता है तो दैहिक लक्षण प्रवल हो जाते है तथा रोगी को मूत्रावृत्ति (frequency of micturition) रक्तमूत्रता (haematuria) व पीडापूर्ण शिश्न हर्षण (कार्डी chordee) होने लगता है। पीड़ा, कष्ट आदि तीव्रशोथ के लक्षणो का 10-12 दिन मे शमन होने लगता हैं, किन्तु नि स्राव जारी रहता है। क्रमश. इसकी मात्रा व गाढता घटती जाती है। लगभग 4-10 सप्ताह पश्चात् नि स्राव केवल प्रात काल शैयात्याग के समय ही मूत्रकुहर पर एक पूयश्लेष्मी वू द के रूप मे देखा जाता है। इस लक्षण को ग्लीट (gleet) अथवा चिरकारी गोनोरिया कहते है।

चिरकारी गोनोरिया मे सक्रमण अग्र मूत्रमार्ग, काउपर ग्रथियो तथा पुरस्थ ग्रथि आदि मे वना रहता है, अत उसे पूर्णत नष्ट करना कठिन होता है। इसके अतिरिक्त गोनोकाकस जीवाणु अक्षत श्लेष्मला को भी पार करने म समर्थ होते है तथा इस प्रकार अध श्लेष्मी ऊतक मे वने रह सकते है।

निदान

तीव्र प्रावस्था मे गोनोरिया का निदान नि स्राव के अभिरजित लेप की सूक्ष्मदर्शी जाच द्वारा सहज ही किया जा सकता है। किन्तु चिरकारी गोनोरिया मे निःस्राव की मात्रा इतनी थोडी होती है कि उसके लेप मे गोनोकोकस दृष्टि-

गोचर नही होते। अतः ऐसे रोगियो के उचित निदान के लिए पुरस्थ ग्रथि के अत गुद मर्दन द्वारा स्राव प्राप्त करके उसका सूक्ष्मदर्शी परीक्षण व सवर्धन करना चाहिए।

मूत्रमार्गदर्शन (urethroscopy) करने पर श्लेष्मला-अपरदन (erosions) तथा पुटिकाशोथ (folliculitis) पाए जा सकते है। यदि निदान मे फिर भी सन्देह हो तो पूरक स्थायीकरण परीक्षण (complement fixation test) की सहायता ली जा सकती है।

चिकित्सा

गोनोरिया की चिकित्सा के लिए पेनिसिलिन का प्रयोग अत्यन्त सफल होता है। कुछ समय पूर्व इस प्रयोजन के लिए सल्फोनेमाइडो का प्रयोग भी किया जाता था किन्तु प्रतीत होता है कि आजकल ये जीवाणु सल्फा औषधियो के प्रति प्रतिरोध उपार्जित कर रहे है।

आजकल अधिकाश रोगियो की चिकित्सा मे पेनिसिलिन चिकित्सा ही सक्षम होती है। प्राय 600,000 यूनिट प्रोकेन पेनिसिलिन-G (P A M) 2 प्रतिशत aluminium monostearate मे मिश्रित तेलयुक्त का एक इजेक्शन 90 प्रतिशत से अधिक रोगियो को नीरोग करने के लिए पर्याप्त होता है।

आरोग्यलाभ का परीक्षण (test for cure)

चिकित्सा के एक सप्ताह पश्चात् रोगी के पुरस्थ-स्राव का गोनोकोकस जीवाणुओ तथा पूयकोशिकाओ की उपस्थिति के लिए पुन.परीक्षण करना चाहिए। इस परीक्षण को चार सप्ताह तक प्रति सप्ताह तथा तत्पश्चात दो मास तक प्रति मास करना चाहिए। यदि ये परीक्षण ऋणात्मक सिद्ध हो, निःस्राव की पुनरावृत्ति न हो तथा मूत्र स्वच्छ तथा सूत्र-रहित हो तो रोगी को नीरोग समझा जा सकता है।

उपद्रव

संक्रमण का स्थानीय प्रसार—इस विधि द्वारा मूत्रमार्ग तथा जननमूत्रतत्र के सलग्नागो (adnexae) मे गोनोरिया सक्रमण फैल सकता है। इस सस्थापन का आरम्भ तीव्र अथवा मद, दोनो रूपो मे हो सकता है। इसके उदाहरण निम्नलिखित है : लिटर ग्रथि (Little's gland) शोथ (यह परिमूत्रमार्ग-विद्रधि, periurethral abscess) को उत्पन्न कर सकता है); काउपर

(Cowper's)-ग्रंथि शोथ; पश्च मूत्रमार्ग शोथ, वृषण-अधिवृषण शोथ, मूत्राशय व द्रोणिकाशोथ (ये विरल होते हैं); शुक्राशय शोथ, तथा पुरस्थग्रंथि शोथ (इससे पुरस्थ विद्रधि उत्पन्न हो सकती है)।

आरम्भिक दशा में ही गोनोरिया की समुचित चिकित्सा के कारण अब मूत्राशय निकोचन (urethral stricture) की घटना बहुत कम हो गई है, किन्तु अल्पविकसित देशों में गोनोरियाजनित निकोचन अब भी पाया जाता है।

प्रत्यक्ष संपर्क द्वारा संक्रमण—प्रसव के समय मां के गोनोरिया-संक्रमित जननांगों के सम्पर्क में आने के कारण शिशु को नवजात नेत्राभिष्यन्द (ophthalmia neonatorum) हो सकता है। अंगुलि संक्रमण के कारण यह नेत्राभिष्यन्द वयस्कों में भी पाया जा सकता है, किन्तु उनमें प्राय: एक आँख को ही प्रभावित करता है। अप्राकृतिक यौनकर्म के फलस्वरूप गोनोरिया-गुदशोथ भी हो जाता है। व्यक्तिगत रूप से अस्वच्छ व्यक्तियों के यौन अंगों में गोनोकाकस जीवाणु कतिपय वायरसों के साहचर्य के कारण शिश्नमुंड तथा शिश्नमुंडच्छद का अंकुरार्बुद (papilloma) भी उत्पन्न कर सकते हैं।

रक्त संक्रमण—इस प्रकार होने वाले उपद्रव बहुत अधिक नहीं पाये जाते। ये निम्नलिखित हैं: संधिशोथ, विशेषत: बड़ी संधियों (जानु, कोहनी आदि) में, वर्साशोथ (bursitis), कंडराश्लेषक शोथ (tenosynovitis), प्रावरणी शोथ (fascitis) व तंतु शोथ (fibrositis); आइरिडोसाइक्लाइटिस (परितारिकारोमकपिंड शोथ, iridocyclitis); पूतिरक्तता (septicaemia) तथा पूयरक्तता (pyaemia)।

स्त्रियों में गोनोरिया

लाक्षणिक रूप

स्त्रियों में गोनोरिया प्राय: गर्भाशयग्रीवा शोथ के रूप में प्रकट होता है। विरल रोगियों में मूत्रमार्ग शोथ भी पाया जाता है, किंतु योनिशोथ अत्यल्प होता है। रोग का प्रारम्भ पुरुषों के समान तीव्र नहीं होता। रोगी को मूत्र-कृच्छ्र तथा भग प्रदेश में दाह व कष्ट का अनुभव हो सकता है। पृष्ठपीडा (backache) तथा गर्भाशयग्रीवा से रक्तिम निस्राव हो सकता है। सूक्ष्मदर्शी परीक्षण में गोनोकोकस पाये जाते हैं।

चिकित्सा

पुरुषों की भांति यहां भी पेनिसिलिन द्वारा ही चिकित्सा की जाती है।

उपद्रव

स्थानीय संक्रमण विस्तार—इस विधि द्वारा निम्नलिखित विकार हो सकते हैं: बार्थोलिन विद्रधि (Bartholin's abscess), डिम्बवाहिनी शोथ, डिम्ब-ग्रंथि शोथ, पर्युदया शोथ, तथा श्रोणि ऊतिशोथ (pelvic cellulitis)।

प्रत्यक्ष संपर्क द्वारा विस्तार—स्त्रियों को गोनोरिया-गुदशोथ पुरुषों की अपेक्षा कम होता है। यह प्राय योनि निःस्राव द्वारा गुदप्रदेश के संक्रमण के कारण होता है।

पुरुषों की भांति स्त्रियों के जननांगों (भग व योनि) पर भी अंकुरार्बुद उत्पन्न हो सकते हैं। किंतु ये संख्या तथा आकार में अपेक्षाकृत अधिक होते हैं।

रक्तसंक्रमण के कारण उत्पन्न होने वाले उपद्रव स्त्री-पुरुषों में एक समान होते हैं।

कन्याओं में भग-योनि शोथ

अल्पायु कन्याओं में भगयोनि शोथ का कारण प्राय व्यक्तिगत अस्वच्छता होती है। यह दशा अनाथालयों, छात्रावासों आदि में अधिक पाई जाती है। इन स्थानों पर एक ही तौलिये बिस्तर आदि के प्रयोग के कारण संक्रमण शीघ्र फैलता है। संक्रमण प्रायः भग या योनि तक ही सीमित रहता है तथा खुजली या निःस्राव के लक्षण उत्पन्न करता है। इस रोग की चिकित्सा पेनिसिलिन या सल्फोनेमाइड, शैय्या-विश्राम तथा सिट्ज़ स्नान (sitz bath) द्वारा की जाती है।

अगोनोकाकसी मूत्रमार्ग शोथ (Non-gonococcal urthritis)

रोगहेतु

अनेक पुरुषों (40 प्रतिशत) में मूत्रमार्ग से सपूय निःस्राव का कारण गोनो-रिया नहीं बल्कि रासायनिक क्षोभ तथा अन्य जीवाणुओं द्वारा संक्रमण होता है। इन जीवाणुओं के उदाहरण बेसिलस कोलाई, स्टेफिलोकोकस, स्ट्रेप्टोकोकस व डिफ्थेरायड (diphtheroids) हैं। स्त्रियों में मूत्रमार्ग शोथ का एक बहुघटित कारण trichomonas vaginalis संक्रमण है। रासायनिक क्षोभ-जन्य मूत्रमार्ग-शोथ का का कारण प्राय वे रासायनिक पदार्थ होते हैं जिनका उपयोग संततिनिरोध उप-करणों में किया जाता है अथवा रोग-निवारण के लिए जिनका अन्त मूत्रमार्गीय अनुप्रयोग होता है।

निदान

अगोनोकोकस मूत्रमार्गशोथ का निदान तभी करना चाहिए जब मूत्रतन्त्र के विस्तृत परीक्षण तथा नि स्राव के सूक्ष्मदर्शी अध्ययन के आधार पर गोनोरिया की अनुपस्थिति पूर्णत सिद्ध की जा चुकी हो।

चिकित्सा

स्ट्रेप्टोमाइसिन (1 ग्राम दैनिक 3 दिन तक) या टेरामाइसिन (0·25 ग्राम दिन मे चार बार, 4-6 दिन तक) का प्रयोग प्राय प्रभावकारी सिद्ध होता है। पारद आक्सीसायनाइड के 1 10,000 विलयन द्वारा मूत्रमार्ग व मूत्राशय का सिंचन (irrigation) भी उपयोगी होता है। ट्राइकोमोनस सूक्ष्मजीवो पर एटोबायटिको का प्रभाव नही पडता। उनके कारण होने वाले मूत्रमार्गशोथ की चिकित्सा मे flagyl (metronidazole) के सक्षम होने की रिपोर्ट प्राप्त हुई है।

सिफिलिस

सिफिलिस (treponema pallidum) नामक एक स्पायरोकीट के कारण होने वाला एक सक्रामक रोग है। इसका जीवाणु आकृति मे कार्क स्क्रू (cork screw) के समान होता है, जिसमे 6-12 कुडलियाँ होती है। इसकी लम्बाई 8 μ होती है। त्वचा पर के क्षतो के आखुरण (scrapings) व सक्रमित लसीकापर्वो के वेधन द्वारा प्राप्त द्रव्य, तथा सीरम के तत्कालिक निदर्श (fresh sheimiens) का सूक्ष्मदर्शी परीक्षण करने पर इन जीवाणुओ को देखा जा सकता है। यह परीक्षण एक विशेप विधि द्वारा किया जाता है जिसे अदीप्त क्षेत्र प्रकाशन (dark ground illumination) कहते है। साधारणत यह रोग यौनकर्म द्वारा होता है। यदि एक व्यक्ति के जननागो पर विवृत सिफिलिसी विक्षति हो तो सक्रमण उसके यौन सहभागी के अग के अपघर्पण द्वारा प्रवेश करता है। यदाकदा चुम्बन द्वारा अथवा सक्रमित पात्रो के प्रयोग द्वारा ओप्ठ, जिह्वा आदि जननागेतर भागो मे भी सिफिलिसी विक्षति होने की सम्भावना रहती है। यदि डाक्टर अथवा नर्स की अगुली अपघर्पित हो तो सिफिलिसी विकृति की परीक्षा या उपचार करते समय उन्हे भी सक्रमण हो सकता है। अतएव ऐसी परिस्थिति मे उन्हे दस्तानो का प्रयोग अवश्य करना चाहिए।

लक्षणिक रूप

रोग-वर्णन की दृप्टि से लक्षणो को तीन अवस्थाओ मे बाँटा जा सकता है।

प्राथमिक अवस्था—प्राथमिक व्रण (primary sore) अथवा शैंकर (chancre), जिसे प्राय हंटर का शैंकर (Hunterian chancre) कहा जाता है, संक्रमण के 2-6 सप्ताह पश्चात् प्रकट होता है। यह एक लघु, दृढीभूत, लालिमायुक्त पिटिका (papule) के रूप मे होता है जो कुछ समय पश्चात् व्रण (ulcer) बन जाता है। इस प्रकार उत्पन्न होने वाले व्रण का आकार कभी-कभी इतना

चित्र 268—सिफिलिस की प्राथमिक अवस्था मे शैंकर

छोटा होता है कि रोगी को उसका ज्ञान भी नही हो पाता। प्ररूपी सिफिलिस शैंकर प्राय पीडाहीन होता है, उसका परिसर सुस्पष्ट व आधार दृढ होता है, तथा उससे उत्पन्न नि स्राव मे असख्य ट्रीपोनीमा जीवाणु पाये जाते हैं। प्रादेशिक लसीकापर्व विवर्धित तो होते है, किन्तु सुस्पष्ट व पीडारहित रहते है तथा उनमे पूयता नही होती। पुरुषो मे शैंकर प्राय शिश्नमुडच्छद (prepuce), शिश्नमुड अथवा शिश्नमुड किरीट (corona glandis) के श्लेष्मिक स्तर पर स्थित होता है, किन्तु कुछ मे यह शिश्नकाण्ड (penice-shaft) (चित्र 268), अडकोश तथा निम्न उदरभित्ति पर भी पाया जा सकता है।

स्त्रियो मे प्राथमिक व्रण भगाजलिका (fourchette), भगशिश्निका, बृहत् व लघु भगोष्ठ तथा गर्भाशयग्रीवा मे हो सकता है। किन्तु गर्भाशयी ग्रीवा के व्रण के गभीरस्थ होने के कारण रोगिणी प्राय' उससे अनभिज्ञ रहती है।

साधारणत' प्राथमिक व्रण एकलरूपी होते हैं, किन्तु कभी-कभी सलग्न भागो के परस्पर सपर्क मे आने के कारण स्वतः निवेशन (autoinoculation) द्वारा बहुसख्यक व्रण भी प्रकट हो सकते है। कभी-कभी व्रण का रूप धारण किये बिना ही प्राथमिक पिटिका का लोप हो जाता है। यदि कोई अन्य स्थानीय सक्रमण न हो तो कुछ सप्ताह मे ही शैकर विरोपित हो जाता है तथा स्कार बहुत ही अत्यल्प होता है। किन्तु फाइमोसिस (phimosis) की उपस्थिति मे व्यक्तिगत अस्वच्छता एव व्रण के निस्राव के अवधारण के कारण प्राय द्वितीयक सक्रमण सस्थापित हो जाता है। यदि इन द्वितीयक जीवाणुओ मे तकलीरूपी व सर्पिल (fuso-spirillary organisms) भी हो तो भक्षीव्रण (phagedaena) होने की सम्भावना रहती है।

द्वितीयक अवस्था—प्राथमिक व्रण प्रकट होने के 2-12 महीने पश्चात् सिफिलिसीसक्रमण का व्यापक रूप प्रकट होने लगता है। इस दशा को द्वितीयक अवस्था कहा जाता है। इस दशा मे अरुचि सिरपीड़ा, ज्वर, अरक्तता आदि होते हैं। कुछ रोगियो मे इन दैहिक लक्षणो का अभाव होता है। द्वितीयक अवस्था के अन्य अभिलक्षण निम्नलिखित है।

लसीकापर्व—लसीकापर्व विवर्धन सारे शरीर मे व्यापक रूप से पाया जा सकता है तथा कई मास तक रह सकता है। यह विशेषत अधिचक्रक (epitrochlear), पश्चग्रीवा (posterior cervical) तथा अध पश्चकपाल (suboccipital) प्रदेशो मे पाया जाता है। इन पर्वो का आकार अत्यधिक नही होता तथा ये दृढ (firm) अनस्पर्शासह (notender) तथा अपूयित होते है।

त्वचा विक्षतियां—सक्रमण होने के लगभग 8 सप्ताह पश्चात् शरीर मे अनेक हलके लाल चकत्ते (macules) पड जाते है जो कुछ समय पश्चात् विभिन्न आकार की पिटिकाओ (papules) का रूप धारण कर लेते है। ये पिटिकाएँ भूरे लाल रग की होती है तथा इन पर महीन शल्क (scales) पाये जा सकते है। कृशकाय रोगियों मे इन पिटिकाओ के पूययुक्त होने की भी सम्भावना रहती है। सिफिलिसी स्फोट के विशिष्ट लक्षण मैला लाल रग, सममित (symsmetrical) वितरण तथा बहुलरूपी (pleomorphic) आकृति है। इन स्फोटो मे खुजली नही होती। आर्द्र स्थानो, यथा मुख, गुदा, भग आदि की त्वचा-श्लेष्मी सगमो पर ये पिटिकाएँ अधिक विस्तृत, मृदु व उभरी हुई होती है तथा उनकी उपकला आर्द्र होती

है। इन पिण्डो का रग धूसर, आकृति चर्मकील (warts) के समान तथा वे कुरूप होते है। इन्हे कोडीलोमा (condyloma) कहा जाता है तथा इनसे प्रवाहित होने वाला नि.स्राव ट्रीपोनीमो से परिपूर्ण होता है। ये जीवाणु पिटिकाओ की खुरचन मे भी होते है। त्वचा स्फोट के साथ ही, या उससे कुछ समय पूर्व, मुख की श्लेष्मिक कला पर लाली छा जाती है तथा शीघ्र ही वहाँ वलयाकार, धूसरवर्णी, उभरी हुई पिटिकाएँ (श्लेष्मी धब्बे, mucous patches) उत्पन्न हो जाती है। पिटिकाओ के ही कुछ समय मे फट जाने से उनके स्थान पर छिछले व्रण (shallow ulcers) बन जाते है जिनका परिसर सुस्पष्ट होता है। ये जिह्वा, कपोल, तालु, गलतोरणिका (fauces) व टासिलो पर पाये जाते है। कभी-कभी श्लेष्मी धब्बो का रूप कोडाइलोमा के समान भी होता है। जिह्वा पर स्थित ऐसे धब्बो को उनकी कील समान (warty) आकृति के कारण हचिसन कील (Hutchinson warts) कहा जाता है।

श्लेष्मी कला के व्रणो के विस्तार द्वारा परस्पर सयुक्त होने की प्रवृत्ति होती है, फलस्वरूप उनकी आकृति सर्पी (serpiginous) हो जाती है। इस विशिष्ट आकृति के कारण उन्हे घोघा-पथी व्रण (snail track ulcer) भी कहा जाता है। ये व्रण मुख क्षेत्र मे ऊतक की पर्याप्त मात्रा नष्ट कर सकते है, किन्तु रोगी को इससे कोई कष्ट नही होता। रोगी का लालारस तथा व्रणो से निकलने वाला नि स्राव अत्यन्त सक्रामी होता है, अत चिकित्सको व नर्सो को बिना दस्ताना पहने इसका स्पर्श नही करना चाहिए। *द्वितीयक अवस्था के उत्तरकाल मे रोगी* के नखो मे भगुरता आ जाती है तथा केशो का झडना आरम्भ हो जाता है (syphilitic alopecia)। नि स्राव के सूखने के कारण त्वचा के व्रणो पर पपडियो (crusts) की तहे जम जाती है। इस तहयुक्त जमाव की उपमा सीपआवरण से दी जा सकती है। इन पपडियो अथवा पर्पटियो को रूपिया (rupia) कहा जाता है। रोगी की ऑखो मे भी विकार उत्पन्न हो सकता है—प्रथम परितारिका-रोमकपिड शोथ (iridocyclitis) तथा कुछ समय पश्चात् रजितदृष्टिपटल शोथ (choroidoretitinitis) उत्पन्न होता है।

अस्थियाँ—सिफिलिस की द्वितीयक अवस्था मे पर्यस्थिकला-शोथ के कारण अस्थियाँ तनिक स्थूल हो जाती है तथा उनके स्तर पर पर्वक बन जाते है। इन अस्थियो मे पीडा का अनुभव भी होता है। यह पीडा रात्रि के समय अधिक होती है।

सधियाँ—वृहत् सधियो मे अल्पकालीन स्यदन हो सकता है।

तन्त्रिका तंत्र—द्वितीयक अवस्था मे तन्त्रिकातत्र भी प्रभावित हो सकता है।

सिरपीड़ा प्राय. पाई जाती है। इसका कारण मस्तिष्क का मद शोथ अथवा शोफ हो सकता है।

तृतीयक अवस्था—इस अवस्था का आरम्भकाल अत्यन्त अनियमित होता है; द्वितीयक अवस्था के पश्चात् यह शीघ्र ही अथवा कई वर्ष पश्चात् आरम्भ हो सकती है। इस अवस्था की प्रारूपिक विकृति 'गम्मा' (gumma) होती है, तथा यह स्थानीय गम्मा अथवा विसरित गम्मा अन्त.सचरण (diffuse gummatous infiltration) के रूप मे हो सकती है। विकृति के ये दोनो रूप समसामयिक भी हो सकते हैं। ऊतकों की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप धमनियो के चारो ओर एककेन्द्रक कोशिकाएँ एकत्रित हो जाती है तथा परिधमनिका शोथ (periarteritis) उत्पन्न हो जाता है। कालातर मे अवरोधी अत धमनिकाशोथ की स्थिति उत्पन्न होने के कारण ऊतक-परिलगन होने लगता है। इस ऊतकक्षेत्र के चहुँओर ततुऊतक का निर्माण होने लगता है तथा इस प्रकार यह क्षेत्र स्थानीकृत हो जाता है। फलस्वरूप विकृति को तीन भागो मे विभक्त किया जा सकता है—केन्द्रीय परिगलित द्रव्य, उसके परिधिस्थ कणिका-ऊतक, तथा बाह्यतम भाग में स्थित ततुऊतक। इस विशिष्ट प्ररूपी विकृति को ही 'गम्मा' का नाम दिया जाता है। त्वचा अथवा श्लेष्मिक कला का गम्मा शीघ्र ही फट जाता है, उससे परिगलित ऊतक का नि स्राव होने लगता है तथा केवल एक पचित व्रण (punched out ulcer) बच रहता है। यह व्रण पीडाहीन, वलयाकार तथा सुस्पष्ट परिसर से युक्त होता है, तथा इसके तल मे भींगे चमडे के समान दिखने वाला परिगलित द्रव्य स्थित होता है। धीरे-धीरे इस स्लफ (slough) के निकलने से व्रण में कणिका-ऊतक बन सकता है तथा इस प्रकार विरोपण-क्रिया सम्पन्न हो सकती है।

कभी-कभी गम्मा के चारों ओर ततुऊतक की भित्ति बन जाती है तथा किंचित् अवस्थाओ मे इस प्रकार स्थानीकृत गम्मा मे कैल्सीभवन (calcification भी हो जाता है। प्ररूपी सर्पी (serpiginous) व्रण प्राय· चेहरे, टागो तथा जाघो पर पाये जाते हैं तथा विरोहण के पश्चात् ये एक कागज के समान पतला स्कार छोड़ जाते है। गम्मा का निर्माण वक्ष व उदर के अभ्यान्तरागो मे भी हो सकता है। कभी-कभी मस्तिष्क तथा मस्तिष्कावरणो मे भी गम्मा पाये जा सकते है।

तत्रिकातत्र, हृत्वाहिका तत्र, अस्थियों तथा वृषणो मे तृतीयक सिफिलिस की क्रिया विसरित गम्मी सचरण (diffuse gummatious infiltration) के रूप मे होती है। इस क्रिया मे ऊतक के विनाश तथा ततुनिर्माण की क्रिया

एक के बाद एक शीघ्र ही सम्पन्न हो जाती हैं तथा परिगलन बहुत कम होता है। विसरित स्यदन के कारण बड़ी धमनियों की वाहिकावहाओ (vasa vasorum) के रुद्ध होने की सम्भावना रहती है। साथ ही इन धमनियो के मध्य कचुक (tunica media) मे स्थित प्रत्यास्थ ऊतक के स्थान मे तंतु-ऊतक बनने लगता है, अत उनमे एन्यूरिज्म (aneurysm) की उत्पत्ति हो सकती है। मूलरूप मे सिफिलिसी वाहिका-रोग की मुख्य विकृति प्रत्यास्थ ऊतक के स्थान मे ततु ऊतक का बनना ही होती है। कभी-कभी धमनी-कपाटिकाओ मे भी एक लघु गम्मा विकसित हो सकता है।

यदि प्रमस्तिष्क कार्टेक्स मे विसरित सिफिलिसी सचार हो तो रोगी को पागल का व्यापक अगघात (general paralysis of the insane) हो जाता है। टेबीज डोर्सेलिस (Tabes dorsalis) नामक विकार सौषुम्निक तत्रिका-मूलो (spinal nerve roots) के प्रभावित होने के कारण होता है। वृषणों, अस्थियो तथा सधियो के सिफिलिसी विकारो का वर्णन अन्य अध्यायो मे किया जाएगा।

जन्मजात सिफिलिस (congenital syphilis)

सिफिलिस का सक्रमण जन्मपूर्व गर्भकाल मे भी हो सकता है। ऐसा अपरा (placental)-परिसचरण के माध्यम से होता है। मा के सक्रमणग्रस्त होने के पाच वर्ष पश्चात् तक इसकी सम्भावना अधिक होती है। पिता के संक्रमण-ग्रस्त होने का शिशु पर तब तक कोई प्रभाव नही पड़ता जब तक उसके द्वारा शिशु की माँ भी सक्रमित न हो जाय। सक्रमित मा के मातृत्व-इतिवृत्त से विदित होता है कि प्रायः उसे लगभग 4 मास के काल पर पुन.-पुन गर्भपात होता रहा है, जिसमे मसृणित (mocerated foetus) गर्भ निकलता रहा है। ये पुनः-पुन गर्भपात क्रमश: अधिकाधिक काल पर होते हैं तथा अततोगत्वा एक जीवित, पूर्णकाल शिशु उत्पन्न हो जाता है। इस शिशु मे जन्म के समय भी सिफिलिसी अभिलक्षण पाये जा सकते है, किन्तु अधिकाश शिशु जन्म के समय प्रसामान्य प्रतीत होते हैं तथा सिफिलिस के चिह्न 3-4 सप्ताह पश्चात् प्रकट होते हैं। इस रोग के आरम्भिक लक्षण शिशु का दुबला-पतला व कृश-काय होना, चेहरे पर झुर्रिया, वमन होना तथा चिडचिड़ापन है।

विलंबित अभिव्यक्तियां (Late menifestations)

शीघ्र ही सिफिलिस की द्वितीयक अभिव्यक्तिया प्रकट होने लगती है तथा

मुख्यतः त्वचा तथा श्लेष्मिक कला मे पाई जाती है। प्रायः आनन तथा नितम्ब पर गुलावी रग का चित्तीयुक्त (macular) अथवा पिटिकायुक्त (papular) विस्फोट पाया जाता है। यदि यह विस्फोट फफोलेदार (bullous) हो तो इसे 'सिफिलिसी पेम्फीगस' का नाम दिया जाता है। हाथ-पैर की अगुलियो की त्वचा उतरने लगती है तथा गुदा व भग-प्रदेश मे कोन्डीलोमा उत्पन्न हो जाते है। मुख की श्लेष्मी कला मे श्लेष्मी धव्वे तथा व्रण हो जाते है। नासा-की श्लेष्मी-पर्यस्थि कला (mucoperiosteum) मे शोथ होने के कारण नाक से अविरत स्राव होने लगता है। इस अवस्था को स्नूफल (snuffles) कहा जाता है। धीरे-धीरे स्वय नासा-अस्थियां ही विनष्ट हो जाती है तथा फल-स्वरूप नासा-सेतु (bridge of nose) का अवनमन हो जाता है। जन्मजात सिफिलिस का यह विशिष्ट अभिलक्षण 'पर्याणाकार नासा विरूपता' (saddle nose deformity) कहलाती है। मुखकोणो (Angles of mouth) के आस-पास भी व्रण उत्पन्न हो जाते है तथा विरोपण के पश्चात् इनके स्थान पर अरीय स्कार (radiating scars) शेप रहते है। इन्हे 'रैगेड' (rhagades) कहा जाता है। द्वितीयक सिफिलिसग्रस्त वच्चो की मृत्यु प्राय· किसी अन्य समसामयिक सक्रमण के कारण होती है।

विलंबित अभिव्यक्तियां

यदि जन्मजात सिफिलिसी शिशु जीवित रहे तो न्यूनाधिक समय मे उनके शरीर मे सिफिलिस के विलम्वित लक्षण प्रकट होने लगते है। कभी-कभी ये इतने मद होते हैं कि माता-पिता का इनकी ओर ध्यान तक नही जाता। ये लक्षण प्राय. पॉच वर्ष की आयु के पश्चात् प्रकट होते हैं तथा अधिकतर अस्थियो सधियो, आखो तथा वृपणो से सम्वन्धित होते है।

दॉत—रोगी के स्थायी दांत प्रसामान्य की अपेक्षा छोटे होते है तथा उनके मध्य अन्तर अधिक होता है। प्रथम चर्वणक कुविकसित तथा गुम्वदरूपी हो सकते हे तथा ये चद्र-दत (moon teeth) कहलाते है। ऊर्ध्व हनु के केंद्रीय कृन्तक कीलक रूप (wedge shaped) होते है तथा उनका आधार चौड़ा और शीर्ष खाचयुक्त (notched) होता है। इन्हे हचिसन दात कहते हैं।

अस्थियां व संधियां—एपिफिसेस मे अस्थिउपास्थि-शोथ के कारण लम्वी अस्थियो के छोरो पर सूजन व पीडा हो सकती है (शिशु का मिथ्या अगघात) अगुलास्थियो की पर्यस्थिकला भी शोथयुक्त हो सकती है (अगुलीशोथ)। अन्तर्जघिका मे विसरित पर्यस्थिशोथ होने के फलस्वरूप उसका अग्रपृष्ठ चाप-

वत् (arched) हो जाता हे । साथ ही चलते समय शरीर का भारवहन करने के कारण इस अस्थि मे एक विशिष्ट प्रकार की वक्रता आ जाती है (खड्गाकार टाग, sabre shin) । कपालास्थियो के सममित उत्सेध (parrots' nodes) के कारण उत्पन्न होने वाली विशिष्ट विरूपता को उत्सेधी कपाल (hot-cross-bun skull) कहा जाता है । विरल रोगियो मे कपालास्थियां पार्चमेंट के समान पतली हो जाती हैं (कपाल टेबीज, craniotabes) । जानुसधियो मे द्विपार्श्वी चिरकारी पीडाहीन अन्त सचरण (Cluttoni's joints) भी उत्पन्न हो सकता है ।

नेत्र—6-15 वर्ष की आयु के मध्य रोगी को अन्तरस्थ स्वच्छपटलशोथ (interstitial peratitis) होने की सम्भावना रहती है । इसके मुख्य अभिलक्षण पीडा, प्रकाशभीति (photophobia), अश्रुस्राव तथा स्वच्छपटल की घर्षित काच (ground glass) के समान विरूपता है । कुछ समय चपशात् स्वच्छपटल फुल्ली (corneal opacity) मे रक्तवाहिका-पूलिकायें अग्रसर होने लगती है तथा फलस्वरूप गुलाबी धब्बा (salmon patch) नामक विशिष्ट लक्षण प्रकट हो जाता है । दूसरी आख मे भी शीघ्र ऐसा ही विकार उत्पन्न हो जाता है । यदि इसका समय रहते उपचार न किया जाय तो फुल्लिया स्थायी हो जाती हैं । सिफिलिस के कारण रंजित-दृष्टिपटल शोथ (choroidoretinitis) तथा फलस्वरूप दृष्टिक्षीणता भी उत्पन्न हो सकती है ।

कर्ण—नासाग्रसनी से सक्रमण के प्रसार के कारण जन्मजात सिफिलिस ग्रस्त शिशुओं मे तीव्र मध्यकर्ण शोथ उत्पन्न हो सकता है । यौवनारम्भ (puberty) के समय तन्त्रिका-वधिरता (nerve deafness) प्रारम्भ हो कर कालातर मे रोगी को पूर्णत· वधिर वना सकती है ।

वृषण—ये अग किसी भी आयु मे विकारग्रस्त हो सकते हैं । शिशु मे वृषण वृद्धि का कारण प्राय. जन्मजात सिफिलिस होती हे ।

हृत्‌वाहिका तथा केन्द्रीय तंत्रिकातंत्र की अभिव्यक्तियां—ये विरल हैं ।

निदान

प्राथमिक व्रण को अन्य विक्षतियो से विभेदित करना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । इनमे अभिघातज (traumatic) व्रण, शैंक्रायड, आरम्भिक उपकला अर्बुद (epithelioma) तथा जननाग हर्पीज (genital herpes) मुख्य है । प्राथमिक व्रण से प्राप्त स्राव का अदीप्तक्षेत्र प्रकाशन (dark ground illumination) द्वारा सूक्ष्मदर्शी परीक्षण करने से ट्रीपोनीमा पेलिडम के जीवाणुओ को स्पष्ट

देखा जा सकता है। स्राव प्राप्त करने के लिए व्रण का मद प्रच्छान (scarification) अथवा प्रादेशिक पर्वको का वेधन किया जा सकता है। कोडीलोमा, श्लेष्मला धव्वों तथा त्वचा पिटिकाओ के नि.स्राव मे भी असख्य स्पायरोकीट होते है। प्राथमिक व्रण के निश्चयात्मक निदान के लिए विक्षति मे इन जीवाणुओ का निदर्शन आवश्यक है, क्योकि वासरमेन (Wassermann) अभिक्रिया आदि पूरक स्थिरीकरण परीक्षाए (complement fixation tests) सक्रमण के 6-8 सप्ताह पश्चात् ही प्रकट होती है। कान (Kahn), व मेनिका-प्राइस (Meinicka-Price) के ऊर्णन (flocculation) परीक्षणो का उपयोग भी किया जा सकता है। हाल मे (Venereal Disease Research Laboratory) द्वारा खोजित VDRL परीक्षण तथा ट्रीपोनीमा निश्चलीकरण (T.P.I.) परीक्षण का प्रयोग भी प्रचलित हो गया है।

निवारण (prophylaxis)

सहवासन के तुरन्त पश्चात् जननागो को साबुन से भली प्रकार धोकर उन पर, विशेपत श्लेष्मी स्तरो पर, पारद विनआयोडाइड (biniodide of mercury) का 1 : 2000 विलयन लगाना चाहिए। साथ ही इन अंगो पर 33 प्रतिशत कैलोमिल मरहम मल देनी चाहिए।

चिकित्सा

स्थानीय चिकित्सा—जब तक सूक्ष्मदर्शी जांच द्वारा प्राथमिक व्रण मे ट्रीपोनीमा पैलिडम को निदर्शित न कर दिया जाय, उसकी विशिष्ट स्थानीय चिकित्सा करनी चाहिए वरन् केवल सिलाइन कम्प्रेस (saline compress) का अनुप्रयोग किया जाय। केलोमल मलहम (33 प्रतिशत) केवल इस निदर्शन के उपरांत ही लगानी चाहिए।

कोडीलोमाओ को स्वच्छ करके उन्हे केलोमलयुक्त पाउडर के प्रयोग द्वारा शुष्क रखना चाहिए। इसी प्रकार गर्मीजन्य व्रणो को स्वच्छ करने के वाद उन पर मर्करी लोशन की ड्रेसिंग कर देनी चाहिए।

विशिष्ट चिकित्सा—पेनिसिलिन-पूर्वकाल मे सिफिलिस की चिकित्सा आर्सेनिक के कार्वनिक यौगिको के अन्त शिरा प्रयोग तथा विस्मथ लवणो (तैल अथवा जलीय निलवन) के अन्त.पेशी प्रयोग द्वारा की जाती थी।

पेनिसिलिन के प्रयोग से सिफिलिस की आरम्भिक व विलवित विक्षतिया दोनो ही का लोप हो जाता है। प्राय. चिकित्सा का आरम्भ 2 प्रतिशत अल्मू-

नियम मोनीस्टीयरेट (P A.M.) युक्त प्रोकेन पेनिसिलिन G के तैल इजेक्शन द्वारा किया जाता हे। दस दिन तक 6,00,000 यूनिट प्रति-दिन देने के पश्चात् या तो (सप्ताह मे दो बार) 10 इजेक्शन और दिये जाते है, बिस्मथ के 10 साप्ताहिक इजेक्शनो का एक या अधिक कोर्स दिया जाता है। कुछ विशेषज्ञो के विचार मे पेनिसिलिन के साथ बिस्मथ अथवा आर्सेनिक का प्रयोग अनावश्यक है। पेनिसिलिन का प्रयोग जन्मजात सिफिलिस के निवारण के लिए भी उत्तम है। सगर्भता के प्रथम चार माह मे सिफिलिग्रस्त स्त्री को 8-10 दिन तक प्रचुर मात्रा मे पेनिसिलिन देना पर्याप्त रहता है।

शैंक्रायड (Chancroid)

इसे मृदु शैंकर तथा मृदु व्रण भी कहते ह। यह डूक्री के दडाणु (Ducrey's bacillus) के कारण होता है। इस ग्राम-ऋणात्मक दडाणु का आकार लघु होता हे, साधारण अभिरजित लेपो मे यह सहज दिखाई नही पड़ता, तथा इसका सवर्धन कठिन होता है। शैंक्रायड की उद्भवन अवधि 4-5 दिन होती हे। विक्षति का प्रारम्भिक रूप एक जलस्फोट होता है जो शीघ्र ही फटकर एक छिछला, वेदनायुक्त व्रण बन जाता है। इस व्रण की प्रवृत्ति विस्तार करने की होती है। वक्षण लसीका पर्व विवर्धित व स्पर्शासह हो जाते है (bubo, ब्यूबो), तथा कुछ समय पश्चात् अत्यन्त मद विरोहणशील व्रणो मे परिणत हो जाते ह।

चिकित्सा

रोगी को शैय्या मे विश्राम कराना चाहिए। व्रणो को स्वच्छ करके किसी सल्फोनेमाइड औषधि का स्थानीय अनुप्रयोग किया जाय, तथा स्ट्रेप्टोमाइसिन (2 ग्राम दैनिक, 6 दिन तक) अथवा सल्फाडायजीन (4 ग्राम दैनिक, 6-7 दिन तक) का दैहिक प्रयोग उपादेय होता हे। पेनिसिलिन का प्रयोग निरर्थक है, क्योकि उसका इन जीवाणुओ पर कोई प्रभाव नही होता। पूययुक्त वक्षण पर्वों के पुन-पुन. चूषण, तथा यदि ऐसा सार्थक न हो तो उनके छेदन की आवश्यकता पड सकती है।

लिम्फोग्रेन्युलोमा वेनेरियम (Lymphogranuloma venereum)

यह यौनकर्मजन्य रोग प्राय. ऐसे उष्ण तथा उपोष्ण (subtropical) देशो मे पाया जाता है जहा सम्पन्नता, शिक्षा व व्यक्तिगत स्वच्छता का स्तर निम्न होता है। इसका कारण जीव एक वाइरस होता है तथा उद्भवन अवधि 5-20

दिन होती है। प्राथमिक विक्षति जनन-अगों पर एक नन्हे छाले अथवा व्रण के रूप में होती है। यह शीघ्र ही विरोहित हो जाती है (चित्र 269) तथा रोगी को स्मरण तक नही रहती। इस रोग मे वंक्षण पर्व विवर्धित व स्पर्शासह हो जाते हैं।

चित्र 269—लिम्फोग्रेनूलोमा वेनेरियम.

स्त्रियो मे गर्भाशयग्रीवा पर होने वाली प्राथमिक विक्षति के कारण अन्तः-उदर लसीकापर्व शोथयुक्त हो सकते है। परिपर्वशोथ (perılymphadenitis) तथा आसजन (adhesıons) के कारण इन रोगियो मे मलाशय का निकोचन (rectal stricture) भी उत्पन्न हो सकता है। सम्भव है कि कुछ रोगियो में इस प्रकार उत्पन्न लक्षण ही रोग के प्रथम तथा केवल मात्र-चिह्न हो। विवर्धित पर्वो के कारण वक्षण मे एक अर्द्धमृदु पिंड प्रकट हो जाता है, जो कुछ दिनों अथवा सप्ताहो के पश्चात् फट जाता है।

निदान

निदान का एक विशिष्ट साधन फ्राई का परीक्षण (Freı's test) है इसके अनुसार प्रतिजन की एक मात्रा का अन्त त्वचा (intradermal) इजेक्शन

लगाया जाता है। धनात्मक होने पर इंजेक्शन के स्थान पर शोफयुक्त सूजन उत्पन्न हो जाती है जो कई दिनों तक बनी रहती है।

चिकित्सा

ओरियोमाइसिन, टेरामाइसिन, सल्फाथायज़ोल तथा सल्फाडायज़ीन (6-15 दिन तक 4 ग्राम प्रतिदिन) का प्रयोग प्रभावशाली रहता है।

चित्र 270—ग्रेन्युलोमा वेनेरियम

ग्रेन्युलोमा वेनेरियम (Granuloma venereum, Granuloma ingumale)

प्रायः उष्ण कटिबंधी देशों में पाये जाने वाले इस यौन रोग का कारक जीव donovania granulomatis नामक एक दंडाणु होता है। 1-12 सप्ताह की उद्भवन अवधि के पश्चात् जननांगों मे संक्रमण स्थल पर एक पिटिका (papule) अथवा पर्वक (nodule) उत्पन्न हो जाता है। धीरे-धीरे विवर्धित होने के पश्चात् यह व्रणित हो जाता है। यह व्रण शनैः-शनैः वंक्षण तथा वृषण-कोश की ओर बढ़ता है (चित्र 270)। स्त्रियों के जननांग भी इसी भांति ग्रस्त होते हैं। कुछ समय पश्चात् व्रणक्षेत्र चमकदार लाल, अत्यधिक कणिका-ऊतक

से आच्छादित हो जाता है, जिसका परिसर वेल्लित (rolled) तथा उन्नमित होता है। इस ऊतक के अभिरंजित परिच्छेद मे D. granulomatis जीवाणु देखे जा सकते हैं।

चिकित्सा

इस रोग में स्ट्रेप्टोमाइसिन (10 दिन तक 1 ग्राम दिन मे दो बार), आरियोमाइसिन अथवा टैरामाइसिन (10 दिन तक 2 ग्राम प्रतिदिन) द्वारा चिकित्सा अत्यन्त प्रभावशाली रहती है।

28

अविशिष्ट संक्रमण, व्रणीभवन, दाह तथा कोथ

(Non-specific Infections, Ulceration, Burns And Gangrene)

ए० वी० मुदालियर

अविशिष्ट संक्रमण

सक्रमण विशिष्ट तथा अविशिष्ट दो प्रकार का हो सकता है। विशिष्ट संक्रमण यक्ष्मा, सिफिलिस, क्लास्ट्रिडियम तथा कवक से उत्पन्न होते है।

अविशिष्ट संक्रमण अधिकतम स्टेफिलोकोकस तथा स्ट्रेप्टोकोकस के कारण होता है। अन्य जीवाणुओ के उदाहरण न्यूमोकोकस, गोनोकोकस, एशेरिकिया कोलाइ, स्यूडोमोनास पायोसीनियस, साल्मोनेला टाइफोसस, बेसिलस एन्थ्रेसिस, कोरीनिबैक्टीरियम डिफ्थीरियाइ, क्लास्ट्रिडियम टिटेनाइ तथा गैस कोथ के जीवाणु है।

विद्रधि

विद्रधि स्थानीय परिगलन से युक्त, कणिकोतक-भित्ति द्वारा स्थानीकृत तथा पूय से परिपूर्ण एक विक्षति होती है। यह तीव्र अथवा चिरकारी हो सकती है। ऐसी त्वचा-विद्रधि को, जो स्टेफिलोकाकसो द्वारा रोमपुटिकाओ मे प्रविष्ट होकर तीव्र शोथ उत्पन्न करने के कारण होती है फुन्सी अथवा पनसिका (furuncle) कहते है। कभी-कभी जीवाणु क्षत-प्रवेश अथवा रक्त परिसचरण द्वारा भी रोमपुटिकाओ मे पहुच जाते है। पनसिका मे स्थानीय शोथ के अतिरिक्त

पूयता भी हो सकती है, जो लाक्षणिक तौर पर केन्द्रीय मृदुता तथा स्पर्शतरंग (fluctuation) के रूप मे अभिव्यक्त होती है।

क्षत के प्रत्यक्ष संक्रमण द्वारा वहां स्थानीय विद्रधि का जन्म होता है, किंतु रक्तप्रसार के फलस्वरूप विभिन्न स्थानों पर अनेक उपरिस्थ तथा गभीरस्थ विद्रधिया उत्पन्न हो सकती हैं, यथा अधस्त्वक् विद्रधि, परिवृक्क (perirenal) विद्रधि आदि।

लाक्षणिक रूप

विद्रधि के लक्षण अरुचि, ज्वर, शीत कंप (rigors) तथा प्रभावग्रस्त अंग मे प्रस्पदनयुक्त पीड़ा, होते है। स्थानीय परीक्षण द्वारा विद्रधिस्थल पर रक्तिमा, ऊष्मा, स्पर्शासहता तथा सूजन पाई जाती है। यदि विद्रधि किसी संधि के निकट स्थित हो तो उसके संचालन मे वाधा पड़ सकती है। आरम्भ मे विद्रधि का स्तर कठोर होता है, किंतु पूयता के पश्चात् उसमे मृदुता आ जाती है तथा स्पर्शतरंग प्रतीत होती है। रक्त परीक्षण से वहु-रूपकेन्द्रक श्वेतकोशिका-रक्तता की उपस्थिति का वोध होता है।

संक्रामी जीवाणु का संवर्धन तथा एंटीवायोटिक सुग्राहिता परीक्षण कर लेना सदा श्रेयस्कर होता है।

चिकित्सा

चिकित्सा के मुख्य अंग स्थानीय विश्राम, ताप का अनुप्रयोग तथा उचित एंटीवायटिको का सेवन है। यदि ये साधन सफल न हो तो विद्रधि का चूपण करके उसमे पेनिसिलिन प्रविष्ट की जा सकती है। कुछ रोगियो मे विद्रधि का छेदन करके उसकी निम्नतम स्थिति से उसके निर्हरण निकास (dependent drainage) का प्रवध करना चाहिए। कक्ष, ग्रीवा आदि स्थानो मे, जहां मुख्य वाहिका, तन्त्रिका आदि अनेक महत्त्वपूर्ण अवयव पास-पास स्थित हो, विद्रधि के छेदन के लिए हिल्टन विधि का प्रयोग करना चाहिए। इस विधि के अनुसार त्वचा तथा उपरिस्थ प्रावरणी (superficial fascia) का छेदन करके उसमें एक नाड़ीव्रण संदंश (sinus forceps) को प्रविष्ट करके विद्रधि गुहिका में उसके दोनो फलकों को खोल दिया जाता है।

एक वेवक क्षत से उत्पन्न विद्रधि का छेदन करके उसमे से सव आगतुक शल्य व अन्य मलवा निकाल कर उपयुक्त निकास का प्रवन्ध करना चाहिए। यदि विद्रधि-गुहिका का विरोपण होते समय कणिकाऊतक का निर्माण क्षत की

तली से आरम्भ हो तो उत्तम रहता है। पुनः पुनः ड्रेसिंग करने से रोगी को पीडा होती है, अतः ड्रेसिंग के लिए पेनिसिलिन टुले (tulle) अथवा वैसलिन गाज का प्रयोग करना चाहिए ताकि उचित निकास भी होता रहे तथा प्रति दूसरे दिन ड्रेसिंग बदलते समय कष्ट भी न हो।

कार्वंकल (Carbuncle)

कार्वंकल की परिभाषा 'अधस्त्वक् ऊतक का तीव्र सक्रामक कोथ' है। यह रोग स्टेफिलोकोकस ओरियस सक्रमण के कारण होता है। प्रायः यह विकृति ग्रीवा के पृष्ठ, आनन अथवा पीठ पर पाई जाती है तथा 50 वर्ष से अधिक आयु के रोगियो मे अधिक होती है। मधुमेह तथा चिरकारी वृक्कशोथ आदि अशक्तकर रोगो से पीड़ित व्यक्ति इस व्याधि से अधिक आक्रान्त होते है। यह स्त्रियो की अपेक्षा पुरुषो मे अधिक होता है (त्वचा, पेशिया, कण्डराए तथा वर्सा नामक अध्याय देखिए)।

ऊतिशोथ (cellulitis)

यह रोग अधस्त्वक् ऊतक का प्रसारी शोथ है तथा प्रायः स्ट्रेप्टोकोकस संक्रमण के कारण होता है। जीवाणु अति लघु, अमहत्त्वपूर्ण क्षतो द्वारा प्रविष्ट होता है। गभीर वेधक क्षतो का निर्हरण उत्तम न होने से भी यह दशा उत्पन्न हो सकती है। ऊतिशोथ ऐसे व्यक्तियो मे अधिक होता है जो मधुमेह, वृक्क विकार आदि शारीरिक प्रतिरोधह्रासी रोगो से ग्रस्त होते हैं।

लाक्षणिक रूप

क्षत मे जीवाणु-प्रवेश के 2-3 दिन पश्चात् प्रभावग्रस्त क्षेत्र मे शोथ के चिह्न प्रकट होते है। शीत कप सहित उच्च ज्वर, भोजन में अरुचि, शुष्क मैली जिह्वा, प्रलाप तथा वेचैनी उत्पन्न हो सकती है। लसीकापर्व विवर्धित, स्पर्शासह तथा पीडायुक्त हो जाते है। क्षतस्थल का काठिन्य इस अवस्था मे मृदु होने लगता है तथा कुछ समय पश्चात् वहा छोटे छाले प्रकट हो जाते है जिनसे सीरम का नि.स्राव होता है। कुछ परिस्थितियो मे इस क्षेत्र की त्वचा कोथयुक्त हो जाती है तथा श्लफ हो जाती है। गम्भीर दशा मे पूतिरक्तता तथा पूयरक्तता का रूप ले सकती है।

चिकित्सा

साधारण उपचार के साधनो मे पोपक आहार, उपयुक्त एंटीवायटिक ग

रसायनी औषधिया, तथा द्रव चिकित्सा (जल-क्षीणता दूर करने के लिए) का महत्त्व है। स्थानीय उपचार के लिए अंग को विश्राम तथा सेक देना चाहिए तथा जब स्थानीय मृदुता प्रकट हो जाए तो पूय-निकास के लिए बहुछेदन करना चाहिए।

लुडविग की एंजाइना (Ludwig'sangina)

जब मुख अथवा टासिल क्षेत्र के सक्रमण के कारण ग्रीवा में ऊतिशोथ हो जाए तो इस दशा को लुडविग की एजाइना अथवा अवअधोहनुऊतिशोथ (submandıbular cellulıtis) कहते हैं। यह दशा गम्भीर होती है तथा कठ-द्वार (glottis) का शोफ उत्पन्न कर सकती है। संक्रमण के निम्नवर्ती प्रसार के कारण मध्यस्थानिका शोथ (medıastinitis) तक हो सकता है।

इस दशा की चिकित्सा के लिए पर्याप्त मात्रा मे पेनिसिलिन का आन्त्रेतर प्रयोग तथा छेदन द्वारा पूयता का निर्हरण करना चाहिए।

आनन-ऊतिशोथ (cellutitis of face)

आनन-ऊतिशोथ स्थानीय अभिघात, अपघर्षण अथवा पनसिका (furuncle) के कारण हो सकता है। इस अवस्था से मुख्य भय संक्रमण के प्रसार द्वारा गह्वर शिरानाल की घनास्रता(Cavernous sinvs thrombosis)तथा मस्तिष्का-वरण शोथ का होता है। यदि नेत्रगुहा प्रदेश भी ऊतिशोथ से प्रभावित हो जाए तो सर्वनेत्रशोथ (panophthalmıtis) तथा मस्तिष्कावरण शोथ होने की सम्भा-वना रहती है।

शिरोवल्क ऊतिशोथ (cellulitis of scalp)

यह दशा प्राय: शिरोवल्क के किसी क्षत के संक्रमित होने के कारण होती है। यह संक्रमण कपालास्थियो तथा पत्रकमध्या शिराओ (diploılc veins) को ग्रस्त करके अस्थिमज्जाशोथ तथा मस्तिष्कावरण शोथ को जन्म दे सकता हे।

शिरोवल्क का रक्तसम्भरण सुपर्याप्त होता है, अत: ऊतिशोथ की चिकत्सा के हेतु यदि इसमें बहुलछेदन (multiple incision) कर दिए जाएं तो त्वचा प्रालवो के विस्तृत परिगलन को रोका जा सकता है। इसके अतिरिक्त एंटीवा-यटिको का प्रयोग भी करना चाहिए।

वृषणकोश का ऊतिशोथ (scrotal cellulitis)

यह मूत्रमार्ग के विदर (rupture of urethra) के फलस्वरूप होने वाले मूत्रपरिस्राव (urinary extravasation) के कारण होता है । संक्रमण शीघ्र ही वृषणकोष के तथा तत्पश्चात् उदरभित्ति के अधस्त्वक् ऊतक तक पहुंच जाता है । रोगी की दशा अत्यत जीवविपाक्त होती है ।

इस दशा की चिकित्सा वहुल छेदन, एंटीवायटिक सेवन तथा अधिजघन (suprapubic) मूत्राशय छेदन द्वारा मूत्राशय का निर्हरण करके की जाती है ।

श्रोणि-ऊतिशोथ (pelvic cellulitis)

श्रोणि ऊतिशोथ पुरुषो तथा स्त्रियो, दोनो मे हो सकता है । स्त्रियो मे इसका कारण जननक्षेत्र के माध्यम से होने वाला संक्रमण तथा पुरुषो मे मूत्राशय अथवा अन्य श्रोणि अगो का विदारण होता है । यदि संक्रमण मलाशय-मूत्राशय कोष्ठ (recto-vesical pouch) मे स्थानीकृत हो जाए तो मलाशय अथवा योनि मार्ग द्वारा उसका निर्हरण किया जा सकता है । श्रोणि अगो, विशेषत: मूत्राशय तथा मलाशय, के अभिघात के कारण होने वाले श्रोणि ऊतिशोथ को तात्कालिक शल्यचिकत्सा द्वारा निवारण किया जा सकता है ।

उक्त अवस्था की चिकित्सा के लिए अन्य उपायो के अतिरिक्त एंटीवायटिको का प्रयोग भी करना चाहिए ।

पूतिरक्तता (Scepticaemia)

इस दशा मे रोगी के रक्त मे अनेक उग्र सूक्ष्मजीव उपस्थित होते है । साधारणत: रक्तधारा मे जीवाणु अनुपस्थित होते हैं , रोगक्षम पिंडो (immune bodies) तथा रक्त की जीवाणुघातक शक्ति के कारण रक्त में वे जीवित नहीं रह पाते हैं । मधुमेह, वृक्कशोथ आदि देहिक रोगो से पीडित व्यक्तियों की प्रतिरोध शक्ति कम हो जाती है, अत: उग्र जीव उनकी रक्त धारा मे प्रवेश पाकर वहा द्रुत गति से वहुगुणित होने लगते है ।

प्राय: सभी विकृतिजनक जीवाणु वास्तव मे पूतिरक्तता के लिए उत्तरदायी हो सकते है । इनके कुछ मुख्य उदाहरण स्टेफिलोकोकस, स्ट्रेप्टोकोकस, न्यूमोकोकस, मेंनिजोकोकस तथा एश० कोलाई है । रक्तधारा मे इनका प्रवेश किसी संक्रमित क्षत अथवा शरीर में किसी स्थान पर गंभीरस्थ सक्रमणसे हो सकता है ।

लाक्षणिक रूप

रोगी को उतार-चढाव युक्त तीव्र ज्वर होता है तथा उसकी दशा गम्भीर हो जाती है। उसकी जिह्वा शुष्क तथा विलेपित (coated), नाड़ी द्रुत तथा क्षुधा अल्प हो जाती है। रोगी की बैचेनी बढ़ जाती है, उसे प्रलाप हो सकता है। जो बढ़कर सन्यास (coma) का रूप ले सकता है तथा मृत्यु हो सकती है। रक्तपरीक्षण पर अतिश्वेत कोशिकारक्तता पाई जाती है, जिसमे बहुलरूपक केन्द्रकों का आधिक्य होता है। रक्त सवर्धन घनात्मक सिद्ध हो सकता है।

चिकित्सा

संक्रमित क्षतों अथवा गभीरस्थ संक्रमणो के तुरन्त निकास की आवश्यकता होती है। रोगी को शैया-विश्राम तथा पौष्टिक आहार प्रदान करना चाहिए। जीवविपाक्त रोगियों को 5 प्रतिशत ग्लूकोज-लवण विलयन का आधान देना चाहिए तथा उनका तरल सन्तुलन बनाए रखने की ओर जागरूक रहना चाहिए। यह लक्ष्य होना चाहिए कि उनका मूत्र-बहिरागम (urinary output) लगभग 2000 ml प्रतिदिन होता रहे। आवश्यकतानुसार पेनिसिलिन तथा अन्य एटीबायटिको का प्रयोग भी करना चाहिए।

जीवाणु रक्तता (Bacteraemia)

यह अवस्था तब कहलाती है जब रक्त मे विकृतिजनक जीवाणु तो उपस्थित हो, किंतु रोगी में पूतिरक्तता के लक्षण तथा चिह्न न हो।

जीवविपरक्तता (Toxaemia)

इस दशा मे रोगी के रक्त मे जीवाणुओ द्वारा उत्पन्न जीवविप पाए जाते हैं। डिफ्थीरिया, टिटेनस तथा पूयजनक संक्रमणो मे यह स्थिति विशेपत: पाई जाती है। रोगी की प्रतिरोध शक्ति कम होने के कारण लगभग पूतिरक्तता के समान ही लक्षण पाए जा सकते हैं। किन्तु रक्त का परीक्षण करने पर उसमे जीवाणु नही पाए जाते।

चिकित्सा

उपयुक्त एटीबायटिको अथवा रसायनी औपधियो का प्रयोग करना चाहिए तथा साथ ही तरलों के पर्याप्त प्रयोग द्वारा जलक्षीणता का निवारण करना चाहिए।

पूयरक्तता (Pyaemia)

पूयरक्तता का शाब्दिक अर्थ रक्त मे पूय अथवा पीप की उपस्थिति है। रक्त-परिसचरण द्वारा पूतित अत:शल्य शरीर के विभिन्न भागो मे पहुच जाते हैं तथा इस प्रकार अनेक विद्रधिया उत्पन्न हो जाती हैं। ये अंतःशल्य ऐसे आतच-खण्ड होते हैं जिनमे असख्य जीवाणु उपस्थित होते है। प्राय: ये स्टेफिलो अथवा स्ट्रेप्टोकोकस होते हैं। रोग का प्रारम्भ अस्थि-सक्रमण अथवा तीव्र सपूय मध्य-कर्ण शोथ (acute suppurative otitis media) आदि के रूप मे हो सकता है। रोगक्रम मे उत्पन्न आतच यदि संक्रमित तथा विस्थापित हो जाए तो वह संचरित होने लगता है तथा फलस्वरूप पूयरक्तता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

लाक्षणिक रूप

रोगी की दशा गम्भीर होती है तथा वह जीवविषाक्त प्रतीत होता है। उसकी जिह्वा मैली, शुष्क, नाडी द्रुत तथा ताप दोलनरूपी (swinging temperature) होता है, शीतकप वार-वार होते हैं। रोगी के शरीर मे विभिन्न स्थानो पर अनेक वेदनायुक्त, स्पर्शासह सूजनें उत्पन्न हो जाती हैं (पूयरक्तीय विद्रधियां)। यदि सक्रमणयुक्त अत.शल्य फुप्फुस, वृक्क, मस्तिष्क आदि आशयो मे प्रस्थापित हो जाएं तो वे इन अगो मे भी विद्रधि उत्पन्न कर सकते है। रोगी की दशा गम्भीर होती जाती है, वह अचेतन हो जाता है तथा उसकी मृत्यु हो जाती है।

चिकित्सा

प्रचुर मात्रा मे एंटीवायटिको तथा रसायनी औपधियो के तत्काल प्रयोग द्वारा इस स्थिति को सुधारा जा सकता है। जलक्षीणता के उपचार के लिए तरलाधान की आवश्यकता भी पड सकती है। विद्रधियो का निर्हरण भी आवश्यक हो सकता है।

चिरकारी विद्रधि

चिरकारी विद्रधि प्राय: दो प्रकार के जीवाणुओ के कारण होती है—यक्ष्मा जीवाणु तथा मद विकृतिजनकता (pathogenicity) वाले पूयजनक (pyoginic) जीवाणु। ऐसी विद्रधि चिरकाल तक तीव्र शोथ के चिह्न उत्पन्न किए विना ही रह सकती है, अत. इसे शीतल विद्रधि (cold abcess) भी कहते

है। मृदु तथा स्पर्शतरंगयुक्त होते हुए भी यह पीड़ाहीन होती है।

चिरकारी पूयजनक विद्रधि की चिकित्सा छेदन तथा निर्हरण (incision & drainage) द्वारा करनी चाहिए। यक्ष्मज विद्रधि की चिकित्सा चूषण तथा विशिष्ट प्रतियक्ष्मा औषधियो द्वारा की जानी चाहिए।

नाड़ी-व्रण (sinus)

साइनस अथवा नाडीव्रण ऐसे पथ को कहते है जिसकी भित्ति कणिकाऊतक द्वारा आस्तरित हो, एक छोर त्वचा पर खुलता हो, तथा दूसरा अधछोर (blind end) हो अथवा किसी विद्रधि से सम्बद्ध हो। साइनस किसी भी स्थान पर हो सकता है किंतु गुद प्रदेश मे अधिक पाया जाता है। ग्रीवा की चिरकारी यक्ष्मज विद्रधि त्वचा का विदर करके पूय का निष्कासन कर सकती है तथा इस प्रकार चिरकारी साइनस का रूप ग्रहण कर सकती है। नाड़ीव्रण के विरोहित होने मे विलम्ब के निम्नलिखित कारण हो सकते हैं।

(1) निकास पथ के सकीर्ण होने के कारण विद्रधि का पर्याप्त निकास न होना।

(2) नाड़ीव्रण के तल में अनवशोपित आगन्तुक शल्यों, यथा सीवन द्रव्य, का उपस्थित होना।

(3) नाड़ीव्रण मे सक्रमण का वना रहना।

(4) यक्ष्मा, सिफिलिस, एक्टिनोमाइकोसिस आदि विशिष्ट सक्रमण की उपस्थिति।

(5) नाड़ीव्रण पथ का उपकला द्वारा आस्तरित होना।

(6) अंग को पर्याप्त विश्राम न मिलना, उदाहरणत: ग्रीवा या परिगुद प्रदेश (perianal region) के नाडीव्रण।

(7) मृत व निर्जीव ऊतक की उपस्थिति, उदाहरणत: अस्थिमज्जाशोथ मे पाई जाने वाली विविक्ति (sequastrum)। ये पदार्थ आगन्तुक शल्य के रूप मे कार्य करते है।

चिकित्सा

प्राय: नाडीव्रण के कारण (आगन्तुक शल्य, विविक्ति) का अपहरण तथा गभीर विद्रधि का निकास पर्याप्त होता है। यक्ष्मा आदि विशिष्ट सक्रमणो के लिए उपयुक्त रसायनी चिकित्सा की आवश्यकता होती है। यदि फिर भी नाड़ीव्रण अविरोहित रहे अथवा वह उपकला द्वारा आस्तरित हो जाए तो

साइनस का पूर्ण उच्छेद करना आवश्यक है।

नालव्रण (Fistula)

नालव्रण एक कणिका-ऊतक द्वारा आस्तरित पथ होना है जो दो गुहिकाओं को परस्पर अथवा एक गुहिका को शरीरस्तर से सयोजित करता है। इसके कारण वही होते हैं जो नाडीव्रण के अविरोहण के लिए उत्तरदायी होते हैं। नालव्रण के कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं—आन्त्रक्षेत्र के दो भागो के मध्य नालव्रण, मूत्रमार्ग को वाह्यस्तर से सम्वद्ध करने वाला नालव्रण तथा गुदक्षेत्र का नालव्रण (fistula in ano)।

नालव्रण की चिकित्सा उसके हेतु तथा अंगविशेष की परिस्थिति पर निर्भर करती है। आवश्यकतानुसार उसका उच्छेद भी करना पड सकता है।

व्रणोत्पत्ति, व्रणीभवन (Ulceration)

व्रण की परिभाषा 'त्वचा, श्लेष्मला अथवा वाहिका-अत:कला के सातत्य का भग' की जा सकती है। इसके विभिन्न कारण होते है।

परीक्षा

व्रण की परीक्षा करते समय निम्नलिखित का ध्यान रखना चाहिए।

कुछ व्रण शरीर के विशेष भागो मे होते हैं, यथा टाग के मध्यवर्ती भाग मे पाया जाने वाला अपस्फीति व्रण (varicose ulcer), आंतर नेत्रकोण पर होने वाला रोडेन्ट व्रण (rodent ulcer) तथा पैर के तलवे पर होने वाला बेधक व्रण (peroforating ulcer)।

व्रण के आकार से उसके उपस्थितिकाल तथा वृद्धि-दर का अनुमान किया जा सकता है।

व्रण की आकृति विभिन्न प्रकार की हो सकती है। प्रारूपिक सिफिलिसी व्रण वलयाकार होता है।

व्रण की गहराई से प्रतीत होता है कि गभीर ऊतक उसके कारण किस सीमा तक ग्रस्त हुए है।

व्रण के किनारे की ध्यानपूर्वक जाच करनी चाहिए, वह तलोच्छेदित (undermined), उद्वर्ती (everted), वेल्लित (rolled) या पंचित (punched out) है अथवा अविशिष्ट है। यह भी देखना चाहिए कि परिसर नियमित है अथवा अनियमित तथा कही वह तल की ओर ढलवा तो नही है (चित्र 271)।

व्रण का तल चारो ओर के ऊतक की अपेक्षा उत्थित अथवा अवनमित हो सकता है ; तीव्र व्रणो का तल लाल कणिका-ऊतक से आच्छादित होता है किंतु चिरकालीन व्रणो के तल मे स्थित कणिकाएं (granulations) फीके रंग की होती है ।

जिस ऊतक पर व्रण स्थित होता है उसे **आधार** कहते हैं । आधार की जांच करते समय देखना चाहिए कि वह दृढीभूत अथवा गभीर ऊतको (पेशी, अस्थि) से सलग्न तो नही है ।

व्रण की गाढता (consistency) का अनुमान परिस्पर्शन द्वारा किया जाता है । यह मृदु (soft), दृढ (firm) अथवा कठोर (hard) हो सकता है ।

व्रण का नि:स्राव सक्रमण की प्रकृति पर निर्भर होता है । विशिष्ट व्रणों मे उसका रग, गध और गाढ़ापन विशेष प्रकार का होता है । उदाहरणत: यक्ष्मज व्रणो का नि:स्राव पतला व रक्तसीरमीय, तथा तीव्र व्रणो का पीला, गाढा और पूययुक्त होता है ।
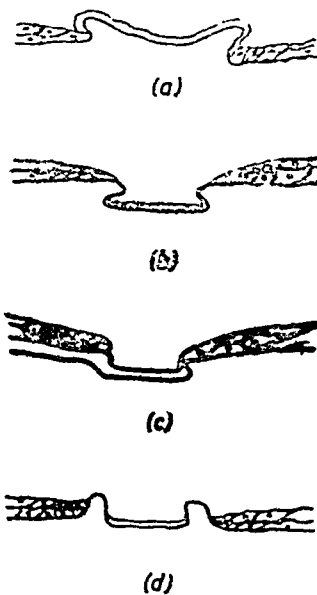
चित्र 271—भिन्न भिन्न व्रणो के किनारो के रूप का प्रदर्शक आरेख : (a) दुर्दम व्रण; (b) यक्ष्माजन्य व्रण; (c) चिरकारी व्रण; (d) रोडेन्ट व्रण
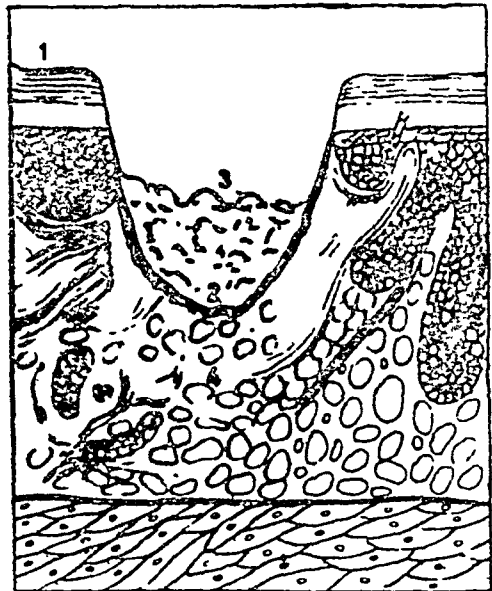
चित्र 272—आरेख में व्रण के भिन्न-भिन्न भाग दिखाये गये है । (1) किनारा, (2) तल, (3) नि.स्राव या आस्राव तथा तल पर का स्लफ, (4) आधार

यदि व्रण सक्रमित, यक्ष्मज, सिफिलिसी अथवा दुर्दम हो तो प्रादेशिक लसीकापर्व प्राय: विवर्धित होते है। रोडेन्ट व्रण मे, यदि वह सक्रमणरहित हो तो, पर्वों का विवर्धन नही होता। विवर्धित पर्वो की गाढ़ता में, व्रण के प्ररूप के अनुसार, भिन्नता पाई जाती है।

व्रण के विभिन्न भागो को चित्र 272 मे दिखाया गया है।

परीक्षण

रोगी की विस्तृत शरीरपरीक्षा के पश्चात् रक्त-कोशिकाओ की सम्पूर्ण तथा विभेदक गणना (total & differential count) करनी चाहिए तथा आवश्यकता हो तो वासरमैन अभिक्रिया अथवा (VDRL) परीक्षण करना चाहिए। सूक्ष्मजीवो की उपस्थिति के लिए नि.स्राव की जांच भी करनी चाहिए तथा एटीवायटिको के प्रति उनकी सवेदनशीलता मापनी चाहिए। कुछ केसो मे अधःस्थ अस्थि की दशा के वोध के लिए व्रणयुक्त अंग के एक्सरे-चित्रण की आवश्यकता भी हो सकती है।

व्रण के प्ररूप

व्रण निम्न प्रकार के हो सकते है।

तीव्र व्रण (acute ulcer)—इसका परिसर शोथयुक्त तथा दाववेदनशील होता है, प्रादेशिक पर्व विवर्धित होते है, तथा रोगी मे सक्रमणजन्य जीवविषाक्तता के चिह्न विद्यमान होते हैं।

चिरकारी व्रण (chronic ulcer)—इसका तल फीकी कणिकाओ द्वारा आच्छादित होता है तथा इसका विसर्जन पतला होता है।

प्रसारी व्रण (spreading ulcer)—यह तीव्र सक्रमण के कारण होता है तथा सक्रमण के अनियन्त्रित रहने के कारण इसका परिसर फूला हुआ व शोथयुक्त होता है। इससे प्रचुर मात्रा मे नि:स्राव निकलता है।

विरोहण व्रण (healing ulcer)—सक्रमण के नियन्त्रित हो जाने के अनंतर नि स्राव की मात्रा घट जाती है तथा व्रण-तल स्वस्थ कणिकाओ से आच्छादित हो जाता है। ये कणिकाए देखने मे नीलाभ लगती है। धीरे-धीरे व्रण के परिसर से उपकला अग्रसर होने लगती है तथा कणिका ऊतक को आच्छादित कर देती है।

कैलस व्रण (callous ulcer)—इस चिरकालीन व्रण मे विरोहण नही होता ; समीप की त्वचा अतिरंजित (hyperpigmented) हो जाती है तथा

तल पर का कणिका-ऊतक मदवर्ण, तथा आधार, तंतुनिर्माण के कारण, दृढ़ीभूत होता है ।

हेतुकी

व्रणोत्पत्ति के निम्नलिखित कारण हो सकते है ।

अभिघात—प्रत्यक्ष आघात, प्लास्टर तथा स्प्लिंट के कारण अस्थि-उत्सेधों पर, दबाव, तापदाह तथा प्रबल रासायनिक पदार्थो (क्षार अम्ल) द्वारा क्षत व्रणोत्पत्ति के कारण हो सकते है।

विशिष्ट संक्रमण—यक्ष्मा, सिफिलिस, मृदु शैंकर तथा लिंफोग्रेन्युलोमा इंगायनेल के कारण विशिष्ट अभिलक्षक व्रण बनते है। यक्ष्मा, टाइफायड तथा एमीबिकता (amoebiasis) के कारण आतो मे भी व्रण उत्पन्न हो सकते है ।

सुषुम्ना तथा परिसरीय तंत्रिका अभिघात—इन अवस्थाओ मे तन्त्रिका-जनित (neurogenic) अथवा ट्रॉफिक (trophic) व्रण हो सकते हैं ।

दुर्दम व्रण—इसके उदाहरण रोडेन्ट व्रण तथा विभिन्न कार्सिनोमा व्रण है ।

निम्नलिखित दशाओ में पाए जाने वाले व्रण प्रायः चिरकारी होते है—चिरकालीन शिरा अपस्फीति (अपस्फीति व्रण, varicose ulcer), ट्रॉफिक व्रण, सिफिलिसी, यक्ष्मज व एक्टिनोमाइकोसिस व्रण, तथा रेडियम और एक्स-किरणो के कारण उत्पन्न व्रण ।

अभिघातज एव सक्रमित व्रण

तीव्र अभिघातज, सक्रमणयुक्त व्रणो में शोथ के चिन्ह पाए जाते है तथा उनके किनारे लाल, फूले हुए और स्पर्शासह होते है। व्रण-तल मे पूय एव स्लफ एकत्रित हो जाता है तथा निःस्राव दुर्गन्धमय होता है । प्रादेशिक लसीकापर्व विवर्धित, पीडायुक्त तथा स्पर्शासह होते है । जैसे-जैसे संक्रमण कम होता है, व्रण-तल मे स्वस्थ कणिका-ऊतक प्रकट होने लगता है तथा कालातर मे विरोहण-क्रिया सपन्न हो जाती है ।

चिकित्सा

प्रायः सक्रमित भाग को विश्राम देना, पूतिरोधी ड्रेसिंग का अनुप्रयोग करना तथा उपयुक्त एंटीवायटिकों का सेवन करना पर्याप्त होता है । सल्फोने-

माइड अथवा एंटीबायटिक मरहमो का स्थानीय अनुप्रयोग भी संक्रमण के नियत्रण मे सहायक होता है। यदि उपकलाहीन क्षेत्र का आकार विस्तृत हो तो त्वचानिरोपण की आवश्यकता हो सकती है।

यक्ष्मज व्रण (Tuberculous Ulcer)

यक्ष्मज व्रण साधारणतः ग्रीवा, कक्ष तथा वक्षण मे पाए जाते है तथा प्रायः इन स्थानो पर उपस्थित यक्ष्माग्रस्त लसीकापर्वों के फट जाने से उत्पन्न होते है। प्ररूपी यक्ष्मज व्रण छिछला, वेदनायुक्त होता है तथा उसके किनारे अनियमित, नीलाभ व तलोच्छेदित (चित्र 273) होते है। व्रण का आधार मृदु होता है, तल मदवर्ण कणिकाओ से ढका होता है, तथा आस्राव जलसमान पतला होता है। प्रादेशिक लसीकापर्व विवर्धित होते है तथा वे ससक्त (matted) हो सकते है। जब त्वचा अथवा श्लेश्मिक कला का यक्ष्मज व्रण चिरकारी रूप ले लेता है तो उसके अधःउपत्वक् (subcuticular) ऊतक मे महीन कणिकाएं उत्पन्न हो जाती हैं जिन्हे 'सेव जेली पर्वक' (apple jelly nodules) कहते है। यदा-कदा चिरकारी व्रणो मे दुर्दम रूपातरण हो जाता है तथा इस प्रकार उपकला अर्बुद (epithelioma) बन जाता है।

चिकित्सा

पोषक आहार, उचित विश्राम तथा प्रचुर सूर्यप्रकाश के अतिरिक्त रोगी

चित्र—273—यक्ष्मज व्रण; प्रोब या एषणी द्वारा व्रण के किनारो का अध कर्तन (undermining) का प्रदर्शन किया गया है।

को विशिष्ट प्रतियक्ष्मा औषधें भी प्रयोग करनी चाहिएँ। PAS के विलयन का स्थानीय अनुप्रयोग भी लाभदायक होता है। आजकल ट्यूबरकुलिन (tuberculin) चिकित्सा का प्रयोग त्याग दिया गया है

सिफिलिसी व्रण

व्रण सिफिलिस की तीनो अवस्थाओं मे पाया जा सकता है।

प्राथमिक शैंकर एक पीडाहीन, सुस्पष्ट व्रण होता है जिसका पृष्ठ चिकना तथा आधार दृढ़ होता है। प्रादेशिक लसीकापर्व विवर्धित और पीड़ाहीन होते हैं।

द्वितीयक सिफिलिस के विशिष्ट अभिलक्षण निम्नलिखित हैं—ज्वर, शिर-पीडा, अरक्तता (anaemia), व्यापक लसीकापर्वशोथ तथा सार्वदेहिक पिटिका-युक्त (papular), चित्तीयुक्त (macular) अथवा फलोलायुक्त (vesicular) स्फोट। मुख, योनि तथा शिश्न की श्लेष्मा कला पर छिछले, धूसर व्रण पाए जाते हैं (घोघा-पंथी व्रण)।

तृतीयक अवस्था मे त्वचा व अधस्त्वक् ऊतक के गम्मा (gumma) भंग हो जाते हैं तथा फलस्वरूप गहरे, विस्तृत, वलयाकार पचित व्रण शेष रहते हैं। इन व्रणो का तल पीतवर्ण स्लफ से ढका होता है जो भीगे चमड़े के समान प्रतीत होता है। निस्राव गाढा और दुर्गन्धयुक्त होता है। विरोहण (healing) के पश्चात् व्रण पर एक कागज़ के समान स्कार बन जाता है।

सिफिलिसी व्रण का रूप विशिष्ट होने के कारण इसका निदान सहज होता है। आवश्यकता हो तो प्रयोगशाला परीक्षणो (वासरमैन अभिक्रिया; VDRL परीक्षण) द्वारा इसकी पुष्टि भी की जा सकती है।

चिकित्सा के लिए प्रतिसिफिलिसी औषधो का प्रयोग किया जाता है।

रोडेन्ट व्रण (Rodent Ulcer)

रोडेन्ट व्रण, आनन, नाक, नेत्रच्छद (चित्र 274) अथवा कर्णपल्लव पर होता है। प्रौढ़ पुरुषो मे यह अधिक पाया जाता है। यह एक पिटिका अथवा पर्वक के रूप मे आरम्भ होता है। धीरे-धीरे गभीरस्थ ऊतको के प्रभावित होने के फलस्वरूप विक्षतिस्थल पर एक व्रण प्रकट हो जाता है। इस व्रण का किनारा उत्थित, आधार दृढ़ तथा तल लाल, शुष्क, चमकीली कणिकाओं से आच्छादित होता है। यह व्रण निरन्तर आकार मे बढ़ता जाता है तथा इस प्रकार गभीर ऊतको के विस्तृत विनाश के कारण चेहरा कुरूप हो जाता है।

चित्र 274— नेत्र का रोडेंन्ट व्रण

चित्र 275— जानु के पार्श्विक् ओर दुर्दम व्रण (एपीथीलियोमा)

दुर्दम व्रण (Malignant Ulcer)

दुर्दम व्रण के विशिष्ट लक्षण निम्नलिखित है—इसके किनारे उद्वर्ती (everted) होते है, आधार दृढीभूत व कठोर होता है तथा तल मे अर्बुदीय ऊतक (tumour tissue) विद्यमान होता है (चित्र 275)। परिस्पर्शन द्वारा यह अर्बुद ऊतक सहज ही विदीर्ण तथा रक्तस्रावयुक्त हो जाता है। प्रादेशिक

लसीका पर्व विवर्धित, कठोर तथा स्थिर (fixed) हो जाते हैं।

पोपणज या ट्रोफिक व्रण (Trophic Ulcer)

हाथ-पैरो पर पाए जाने वाले ये व्रण प्राय. अभिघात अथवा तंत्रिका-सम्वन्धी रोगो के कारण होते है (चित्र 276)। चूँकि अग-विशेप सवेदनहीन होता है, इसलिए स्थानीय अभिघात तथा संक्रमण इन व्रणो की उत्पत्ति मे सहायक होते है। वे व्रण अत्यन्त मद गति से विरोहित होते है।
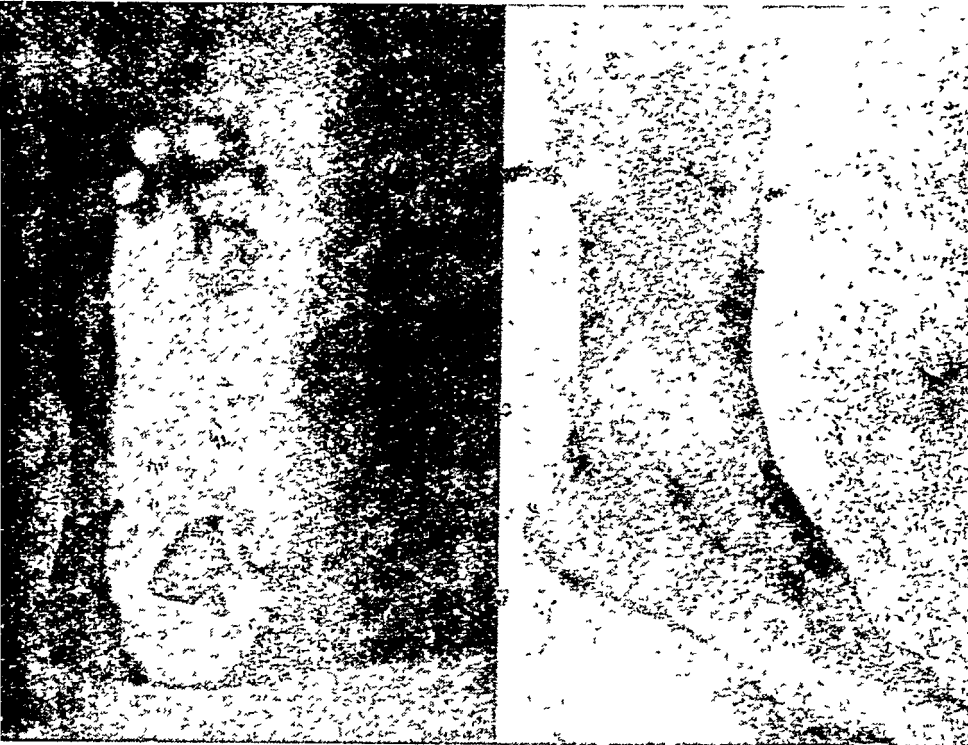
चित्र 276—पाव का पोपाणज व्रण

चित्र 277—जघाके निम्नभाग पर की वर्णकता (pıgmentatıon तथा व्रणोत्पत्ति ulıceratıon)

अपस्फीत व्रण (गुरुत्वजन्य व्रण) (Varicose or Gravitational Ulcer)

अपस्फीत व्रण (varicose ulcer) प्राय: टांग के निम्न तिहाई भाग मे पाया जाता है (चित्र 277)। अभिमध्य गुल्फ (medıal malleolus) के निकट के स्थान

मे यह अधिक होता है। प्राय: वह अपस्फीत शिरा (varicose vein) के रोगियो मे पाया जाता है। विश्वास किया जाता है कि इसका हेतु टांगों मे शिरारक्त का स्तम्भन है। रोगी को इस दशा मे पर्याप्त कष्ट तथा अशक्तता हो जाती है। शिराशोथ, परिशिराशोथ तथा फलस्वरूप शिरा-घनास्रता आदि उपद्रव भी हो सकते है। इसके अतिरिक्त अग मे अधःस्थ अस्थि (underlyiug bone) का पर्यस्थिशोथ (periostitis) भी उत्पन्न हो सकता है। व्रण की निकटवर्ती त्वचा प्राय· अतिरजित हो जाती है।

रोगी की समुचित चिकित्सा के लिए अपस्फीत शिराओ की इजेक्शन तथा आपरेशन-चिकित्सा होती है।

डेक्युबिटस व्रण (Decubitus Ulcer)

यह प्राय. वृद्ध, दीर्घकाल से शैयास्थित अथवा अगघात से पीड़ित ऐसे व्यक्तियो मे पाया जाता है जो करवट बदलने मे असमर्थ होते हैं। इसकी स्थिति अस्थि उत्सेधो, विशेषत· त्रिक प्रदेश, एड़ी तथा कंधो पर होती है। स्वेद के कारण त्वचा आर्द्र हो जाती है तथा वहा छाला पड जाता है। यही तदनतर व्रणीभूत हो जाता है।

शैया व्रणो के निवारण के लिए रोगी की समुचित परिचर्या की आवश्यकता होती है। उदाहरणत रोगी की करवट पुन·-पुन· बदलते रहना चाहिए, पीठ पर स्पिरिट और पाउडर मलना चाहिए तथा अस्थि उत्सेधो को वायु-गद्दियो (air cushions) व जल-थैलियो द्वारा सुरक्षित रखना चाहिए। बिस्तर की चादर को स्वच्छ तथा सिलवटरहित रखना चाहिए।

चिकित्सा

शैया व्रणो की चिकित्सा उनके स्वतन्त्र उच्छेद (free excision) तथा त्वचारोपण द्वारा की जाती है। कुछ रोगियो मे केवल 'थीर्श निरोप' (thiersch graft) अथवा पूर्ण-मोटाई त्वचा निरोपण का प्रयोग भी किया जा सकता है। यह आवश्यक हे कि निरोपण से पूर्व स्थानिक सक्रमण को नियन्त्रित कर लिया जाए।

दाह (Burns)

दाह एक ऐसी विक्षति होती है जिसमे शरीर की उपरिस्थ, कभी-कभी गभीरस्थ, तहो का ताप-आतंचन (heat coagulation) के कारण विनाश हो

जाता है। यह ताप शुष्क अथवा आर्द्र, दोनों प्रकार का हो सकता है। यदि विक्षति शुष्क ताप के कारण हो तो वह दाह (burn) कहलाती है। यदि वह आर्द्र ताप (भाप, तप्त तरल आदि) के कारण हो तो उसे तप्ततरलदाह (scald) कहते है। अल्ट्रावालयट किरणो, एक्सकिरणो, विद्युत धारा, रेडियम तथा रासायनिक द्रवो के कारण भी दाह उत्पन्न हो सकता है। ऊतक विनाश कितनी गहराई तक हुआ है, यह ताप की प्रचंडता तथा ताप लगने के काल (time of exposure) की दीर्घता पर निर्भर होता है।
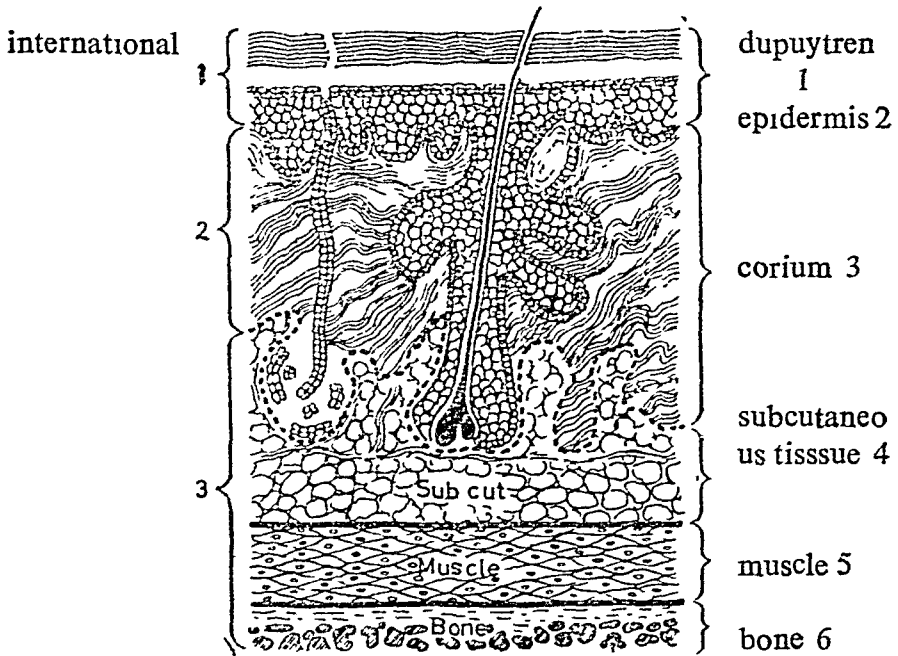
चित्र—278 डुपीट्रेन और अन्तराष्ट्रीय वर्गीकरणो की तुलना को दर्शाने वाला आरेख

वर्गीकरण

डुपीट्रेन (Dupuytren) ने गभीरता के अनुसार दाहो (burns) को छै वर्गों मे विभाजित किया था (चित्र 278)। वर्गीकरण की यह प्रणाली वहुत समय से प्रचलित रही है।

शुष्क तापजन्य दाहो की गभीर गहराई के अतिरिक्त उनकी व्यापकता पर भी निर्भर होती है। शरीर के भिन्न भागों में स्थित दाहो की गहराई भिन्न हो सकती है। इस कारण दाह-वर्गीकरण की डुपीट्रेन पद्धति महत्त्वपूर्ण

होते हुए भी चिकित्सक के लिए विशेष उपयोगी नही है। इसकी तुलना मे द्वितीय विश्व युद्ध के समय अपनाई गई अन्तर्राष्ट्रीय पद्धति अधिक सरल तथा व्यावहारिक है।

अंतर्राष्ट्रीय वर्गीकरण

इस पद्धति के अनुसार दाह तीन प्रकार के हो सकते है।

प्रथम श्रेणी के दाहो (First degree burns) से अगविशेष मे त्वग्रक्तिमा (erythema) हो जाती है तथा छाले पड जाते हैं। ये छाले वल्क स्तर (Stratum corneum) तथा शुभ्र स्तर (stratum lucidum) के नीचे द्रव-सग्रह के कारण उत्पन्न होते है। इस श्रेणी के दाह कुछ दिनो मे ही विरोहित हो जाते है।

द्वितीय श्रेणी के दाह त्वचा के गभीर स्तरो (अंतस्त्वचा, dermis) को प्रभावित करते है। ये अत्यन्त वेदनापूर्ण होते हैं क्योकि इस अवस्था मे त्वचा के तन्त्रिका अन्ताग अनावरित हो जाते हैं। इन क्षतो का विरोहण रोमपुटिकाओ (hair follicles), स्वेद ग्रथियो तथा त्वग्वसा ग्रथियो मे अवशिष्ट अक्षत उपकला के प्रफलन से होता है। यह विरोहणक्रिया 2-3 सप्ताह मे पूर्ण हो जाती है।

तृतीय श्रेणी के दाह वे होते है जो सम्पूर्ण त्वचा अथवा अन्य गभीरस्थ ऊतको (पेशी, अस्थि) आदिको नष्ट कर देते है।

दाह की व्यापकता

दाह की व्यापकता मापने के लिए अनेक सारणिया बनाई गई हैं, किन्तु आपत्काल मे शीघ्र अनुमान के लिए "नौ का नियम" (rule of nine) व्याव-हारिक रूप मे उपयोगी रहता है। इस नियम के अनुसार दाह की व्यापकता नौ के गुणको (multiples) के रूप मे व्यक्त की जाती है। सिर तथा प्रत्येक ऊर्ध्व शाखा को कुल शरीर स्तर का 9 प्रतिशत माना जाता है। धड़ के अग्र स्तर तथा पृष्ठ स्तर, एवं निम्न शाखा-अगो मे से प्रत्येक को कुल शरीरस्तर का 18 प्रतिशत माना जाता है। शेष 1 प्रतिशत स्तर की पूर्ति मूलाधार प्रदेश (perineal region) द्वारा होती है।

दाहग्रस्त क्षेत्र के ठीक आमापन द्वारा रोगी के प्राग्ज्ञान (prognosis) का अनुमान करने मे पर्याप्त सहायता मिलती है। यदि शरीर पृष्ठ का तृतीयाश से अधिक भाग प्रभावित हो तो रोगी की दशा गम्भीर समझी जाती है।

पचास प्रतिशत स्तर के दाहग्रस्त होने पर आधुनिकतम चिकित्सा-साधन भी प्रायः सफल नही होते हैं। 75 प्रतिशत स्तर के दग्ध होने पर तो मृत्यु अवश्यम्भावी होती है।

लाक्षणिक रूप

रोगी को स्तब्धता (shock) हो जाती है जिससे उसकी द्रुत नाडी होती है; बेचैनी, तीव्र वेदना तथा शीतल स्वेदन (cold sweating) होने लगता है। प्राथमिक अवस्था मे स्तब्धता तलिकाजन्य होती है, किन्तु तत्पश्चात् ऊतकों से होने वाली तरल-हानि के फलस्वरूप स्तब्धता अल्परक्ताजन्य (oligaemic) हो जाती है। इस अवस्था मे रोगी की नाडी द्रुत होती है तथा उसे अत्यधिक प्यास का अनुभव होता है।

अगली अवस्था जीवविपरक्तता की होती है। ऊतको के दाह-विनाश के कारण जो जीवविष उत्पन्न होते है उनके अवशोषण के कारण ही यह अवस्था उत्पन्न होती है। यह अवशोषण यो तो दाह के छै घटे के पश्चात् ही आरम्भ हो जाता है, तथापि इसका प्रभाव लगभग 48 घटे बाद प्रकट होता है। इसके फलस्वरूप रोगी को हृद्क्षिप्रता (tachycardia), बेचैनी तथा ताप की अधिकता हो जाती है। उसे प्रलाप (delirium) तथा अन्त मे सन्यास (coma) हो जाता है।

अन्तिम अवस्था पूतियुक्त जीवविपरक्तता (septic toxaemia) की अवस्था होती है। इस अवस्था मे दाहग्रस्त क्षेत्र संक्रमित तथा सपूय हो जाता है। सक्रमण के उग्र (virulnt) होने पर पांचवें दिन के लगभग रोगी को पूतिरक्तता (septicaemia) हो जाती है।

यदि रोगी स्तब्धता तथा सक्रमण से उबर जाता है तो क्षतो मे कणिकोतक द्वारा विरोपण होने लगता है। दाहग्रस्त क्षेत्र मे परिसर से केन्द्र की ओर उपकला का विस्तार प्रारम्भ हो जाता है। यदि दाह अत्यन्त गभीर हों तथा त्वचा व अधस्त्वक् ऊतक का नाश हुआ हो तो विनष्ट ऊतक स्लफ (slough) के रूप मे पृथक् हो जाता है और सारे क्षेत्र मे कणिका-ऊतक भर जाता है। जिसका धीरे-धीरे क्षताकन होने से विस्तृत क्षतचिन्ह बन जाता है। आगे चलकर उससे बड़े-बडे कीलाइड (keloid) बन जाते है। कभी-कभी अवकुंचन (contracture) बन सकते हैं।

प्राथमिक उपचार

यदि रोगी के वस्त्र जल रहे हो तो उसे एक कम्बल मे लपेट कर कुछ

समय तक फर्श पर लुढ़काना चाहिए। ऐसा करने से आग की लपटें बुझ जाती है। तत्पश्चात् उसे शैय्या पर लिटाकर गरम मधुर पेय देने चाहियें। शरीर के चिपके कपडो को तब तक उतारने का कोई प्रयत्न नही करना चाहिए जब तक रोगी अस्पताल मे न पहुच जाए। प्राथमिक उपचार के समय जले हुए स्थान पर कोई विशिष्ट ड्रेसिंग भी नही करनी चाहिए। आपत्काल में तुरन्त प्रयोग के लिए किसी अक्षोभक वाष्पनशील ड्रेसिंग (bland evaporating dressing) का प्रयोग उचित रहता है। इसका सर्वोत्तम उदाहरण खाने के सोडे (baking soda) का लेह है। सोडे को पानी की इतनी मात्रा मे घोला जाता है कि एक पतला पेस्ट या लेह बन जाय। जले घावो पर इसका लेप करके एक दृढ पट्टी बाध दी जाय जिससे अधिक द्रव-हानि न हो।

यदि रोगी के आनन पर दाह हो अथवा उसके शरीर का 5 प्रतिशत पृष्ठ दग्ध हो तो उसे अस्पताल मे चिकित्सा की आवश्यकता होती है; 10 प्रतिशत से अधिक दग्ध रोगी को एक घंटे के भीतर अस्पताल पहुंचाना आवश्यक है। इससे पूर्व वेदना की तीव्रता घटाने के लिए अन्तःशिरा मार्फीन देनी चाहिए, किन्तु मार्फीन-प्रयोग की विधि तथा समय को रोगीपत्र (case sheet) पर अंकित अवश्य करना चाहिए। वार्ड मे पहुंचते ही रोगी की नाड़ी, ताप तथा रक्तदाब मापे जाते है और जले हुए वस्त्रो को शरीर से हटाया जाता है। तत्पश्चात् दाह-ग्रस्त क्षेत्र का आकलन करके स्तब्धता दूर करने लिए रोगी की चिकित्सा आरम्भ करनी चाहिए।

स्तब्धता (shock) के लिए रोगी की चिकित्सा करने से पूर्व उसका वजन तथा रक्त की प्रतिशत हीमोग्लोबिन, प्रोटीन तथा विद्युत अपघट्यो (electrolytes) का मापन कर लेना चाहिए। दाहग्रस्त क्षेत्र का आमापन नौ के नियम (rlue of nine) के अनुसार करना उचित है। स्तब्धता (शॉक) की चिकित्सा चिह्नों के प्रकट होने से पूर्व ही आरम्भ कर देनी चाहिए, विशेषत. यदि दग्ध क्षेत्र शरीर पृष्ठ के 20 प्रतिशत से अधिक हो। स्तब्धता की चिकित्सा प्लाज्मा तथा विद्युत-अपघट्यो की हानिपूर्ति द्वारा की जाती है। प्रथम कुछ दिनो तक दिन मे तीन-चार बार रोगी के प्रतिशत हीमोग्लोबिन तथा हीमेटोक्रिट सख्या (haematocrit reading) का मापन करना चाहिए। इससे रोगी के आवश्यक तरल की मात्रा निर्धारित करने मे सहायता मिलती है। इस उद्देश्य के लिए हार्किन की विधि (Harkin's method) उपयोगी रहती है। इस के अनुसार ही हीमेटोक्रिट सख्या मे प्रसामान्य अंक (45) से अधिक प्रत्येक अंश के लिए रोगी को 100ml अतःशिरा प्लाज्मा दिया जाता है।

दाह के फलस्वरूप प्लाज़्मा की हानि के साथ ही लोहित कोशिकाओं का नाश भी अधिक होता हैं। अतः विस्तृत दाह के रोगी को प्लाज्मा के अतिरिक्त सम्पूर्ण रक्त का आधान भी देना चाहिए। इसके अतिरक्त गाढ़स्तब्धता (severe shock) की दशा मे प्रान्तस्था-सत्वों (cortical extracts) का प्रयोग भी लाभदायक होता है।

रक्ताधान के समय रोगी की नाडी-गति तथा रक्त-दाव को हर 15 मिनट बाद नापना चाहिए तथा रोगी की दशा की जाच ध्यानपूर्वक करनी चाहिए। रक्ताधान (transfusion) के उपरान्त रोगी को ग्लूकोज़ सेलाइन विलयन (glucose saline solution) भी देना चाहिए ताकि दाहग्रस्त क्षेत्र से अवशोपित जीवविष यकृत् को हानि न पहुचा सके।

रोगी के निर्गत मूत्र (urinary output) का रिकार्ड रखना चाहिए तथा एक आगत-निर्गत चार्ट (intake & output chart) बनाना चाहिए ताकि रोगी की दशा का समय-समय पर मूल्यांकन किया जा सके। जब स्तब्धता दूर हो जाय तो उसे मुख द्वारा पर्याप्त तरल तथा विटामिनों से युक्त आहार देना चाहिए।

साधारणतया उपरिस्थ दाहों (superficial born) के रोगी को प्रथम प्लाज़्मा तथा तदुपरान्त ग्लूकोज-सेलाइन (glucose-saline) का आधान दिया जाता है। विस्तृत दाह की स्थिति मे क्रमानुसार रक्त, प्लाज्मा तथा ग्लूकोज़-सेलाइन का प्रयोग किया जाता है। इस के अतिरिक्त नासा-केथीटर (catheter) अथवा BLB मास्क द्वारा रोगी को आक्सीजन भी देनी चाहिए। स्ट्रेप्टोमाइसिन, पेनिसिलन, एक्रोमाइसिन (Achromycin) आदि एंटीवायटिको का शीघ्र प्रयोग भी आवश्यक है। सभी दाहके रोगियो को एंटीटिटेनिक सीरम (antitetanic serums) की एक निरोधी मात्रा prophylactic dose देनी चाहिए।

स्थानीय चिकित्सा

जले हुए स्थान को स्वच्छ करना तथा फफोलो को नष्ट करना आवश्यक होता है। इस प्रयोग के लिए गुनगुने जीवाणुरहित जल तथा 1 प्रतिशत सेटेव्लोन (cetavlon) का प्रयोग उत्तम रहता है। सफाई करते समय दग्धक्षेत्र मे उपस्थित सभी मैल तथा तेल आदि को हटा देना चाहिए, किन्तु ध्यान रखना चाहिए, कि ऐसा करते समय ऊतकों को कम से कम क्षति पहुचे।

चिकित्सा की दूसरी अवस्था में लक्ष्य क्षतिग्रस्त प्रदेश को ढकना होता है, ताकि क्षति सक्रमित न होने पाए तथा साथ ही अनावरित तंत्रिका-अन्तांगो के

क्षोभण के कारण पीडा तथा उसके फलस्वरूप स्तव्धता न उत्पन्न होने पाए। इस उद्देश्य के लिए प्रयुक्त ड्रेसिंग दो प्रकार की हो सकती है—आतचक ड्रेसिंग (coagulative dressing) तथा आर्द्र ड्रेसिंग (wetdressing)।

आतंचक ड्रेसिंग

इनका प्रयोग ट्रिपल डाई (triple dye) ; सिल्वर नाइट्रेट ; तथा टेनिक अम्ल (tannic acid) के साथ किया जाता है। आजकल टेनिक अम्ल, अथवा टेनिक अम्ल एव तदुपरात सिल्वर नाइट्रेट का प्रयोग लगभग त्याग दिया गया है। इन औषधियो के प्रयोग से कतिपय हानिकारक प्रभाव होते है, यथा चेहरे व अगुलियो पर क्षतचिह्न और कीलाइड (keloid) का बनना तथा यकृत पर विषकारी प्रभाव। कुछ दाह-चिकित्साकेन्द्रो मे क्षत को स्वच्छ करके उस पर ट्रिपल डाई का अनुप्रयोग किया जाता है। यह विधि पर्याप्त उपयोगी पाई गई है। ट्रिपल डाई 1 : 400 जेंशियन वायोलेट (gention violet), 1 : 400 ब्रिलियेन्ट ग्रीन (brilliant green) तथा 1 : 100 एक्रिफ्लेविन (acriflavin) के सयोग से बनी होती है। इसके प्रयोग से दग्धक्षेत्र पर पपडी बन जाती है तथा उसके नीचे विरोहण क्रिया होती रहती है।

आतचक ड्रेसिंग के लाभ निम्नलिखित हैं : (1) इसके द्वारा दग्धक्षेत्र पर एक मोटी पपडी बन जाता है ; (2) इसके कारण क्षतस्थल में संक्रमण का प्रवेश नही होने पाता ; (3) इस विधि से सीरम आतचित हो जाता है तथा और अधिक तरल हानि नही होने पाती ; (4) पपडी के नीचे विरोहण-क्रिया होती रहती है। आतचक ड्रेसिंग का प्रयोग केवल प्रथम तथा द्वितीय श्रेणी के दाहो के लिए ही किया जा सकता है। इस विधि मे निम्नलिखित त्रुटिया है : (1) यकृत को हानि (liver damage)—यह टेनिक अम्ल के प्रयोग के कारण होता हे ; (2) आनन पर स्कार (scar) का निर्माण ; (3) अगुलियो पर अत्यधिक मोटी पपड़ी का निर्माण, जिसके फलस्वरूप सकीर्णन के कारण अगुलियो का रक्त-सचरण रुक जाता है तथा उनके परिगलन (necrosis) का भय रहता है। इन त्रुटियो के कारण अधिकाश दाह-केन्द्रो मे आतचक ड्रेसिंग (coagulatve dresring) का प्रयोग त्याग दिया गया हे।

आर्द्र ड्रेसिंग

दीर्घकाल से जीवाणुरहित वैसलीन अथवा टुले ग्रास (Tulle Grass) ड्रेसिंग का प्रयोग प्रचलित था, किन्तु रासायनिक चिकित्सा आरम्भ होने के

पश्चात् इसके स्थान पर सल्फोनेमाइडों का प्रयोग किया जाने लगा है। इनका प्रयोग 3–10 प्रतिशत मरहमों के रूप मे किया जाता है। इनमे सर्वाधिक हानिरहित सल्फाथायजोल (sulphathiazole) है, जो 3 प्रतिशत क्रीम के रूप मे प्रयुक्त की जाती है। किन्तु इसके कम विषाक्त होते हुए भी कुछ रोगियो मे प्रबल वमन, निर्जलीकरण (dehydration), यूरीमिया तथा अमूत्रता (anuria) आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते है। इनका कारण वृक्क नलिकाओ (renal tubules) का सल्फोनेमाइड क्रिस्टलो द्वारा अवरुद्ध हो जाना है। इस कारण आजकल सल्फा औषधियों के स्थान पर पेनिसिलिन का प्रयोग प्रचलित हो गया है। उपरिस्थ (superficial) दाहो मे पेनिसिलिन के प्रयोग से उपकलाभवन (epithelialization) अति शीघ्र हो जाता है। गभीरस्थ दाहो मे भी क्षत-स्थल शीघ्र स्वच्छ हो जाता है तथा उसमे कणिका-ऊतक विकसित होने लगता है। द्वितीय सप्ताह समाप्त होने के पश्चात् दाह-क्षत पर त्वचा-निरोपण कर दिया जाता है।

बुन्यन-स्टेनार्ड लिफाफा (bunyan-stannard envelope)

उपरिलिखित के अतिरिक्त अन्य साधन भी दाह-चिकित्सा के लिए प्रयुक्त किए जाते है। इन्ही मे से एक "बुन्यन-स्टेनार्ड" लिफाफे (चित्र 279) का प्रयोग है। लिफाफा प्लास्टिक अथवा रेशम का बना होता है तथा आसजी फीते की सहायता से इसे अंग के चारो ओर चिपका दिया जाता है। लिफाफे मे बंद दाहग्रस्त क्षेत्र को दिन मे दो बार 20–30 मिनट तक सोडियम हाइपोक्लोराइट (sodium
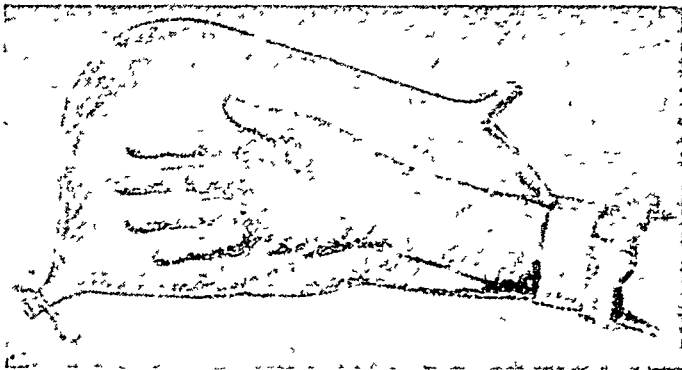
चित्र 279—बुन्यन-स्टेनार्ड आच्छादन जिसका हाथो के दाह मे प्रयोग किया जाता है।

hypochlorite) के 100 ताप के घोल द्वारा सिंचित किया जाता है। इसके पश्चात् लिफाफे को आक्सीजन से भर दिया जाता है तथा रोगी को अग को चलाते रहने को कह दिया जाता है। ऐसा करने से अवकुचन (contractures) नही बनने पाता। दाह-चिकित्सा की यह विधि अत्यन्त उपयोगी पाई गई है, विशेषतः, ऊर्ध्व अथवा निम्न शाखा-अगो के दाहो मे।

सेलाइन स्नान (saline baths)—कुछ दाहकेन्द्रो मे इस विधि का प्रयोग किया गया है। किन्तु इसमे व्यय अधिक होता है, और प्रत्येक समय नर्सों द्वारा देखभाल की आवश्यकता होती हे। रोगियो को 24 घण्टे जलभरे टब मे रहने से फुप्फुस उपद्रवो के होने का भय रहता हे। इस विधि का लाभ बताया जाता है कि इससे दाह बहुत शीघ्र विरोहित हो जाते है। इस विधि का प्रयोग छोटे अस्पतालो मे नही, केवल प्रमुख दाह-चिकित्सा-केन्द्रो मे ही किया जा सकता है।

त्वचा-निरोपण (skin grafting)—गभीर दाहो को यथाशीघ्र, जब क्षत कच्चा (raw) और कणिकाच्छादित (granulating) हो तभी, उस पर त्वचा-निरोपण कर देना चाहिए। ऐसा करने से उल्लाध-अवधि (convalescence) घट जाती है तथा अवकुचन नही होने पाता।

उपद्रव

दाह के रोगी मे निम्नलिखित उपद्रव हो सकते है · प्राथमिक तथा द्वितीयक स्तब्धता ; जीवविपरक्तता (toxaemia); सक्रमण; तीव्र वृक्कपात (acute renal failure), तीव्र हृत्पेशीपात (acute myocardial failure) अथवा हृत्पेशी रोधगलन (myocardial infarction); फुफ्फुसीय उपद्रव जैसे निमोनिया, श्वसनिकाशोथ (bronchitis), तथा श्वासप्रणाल-शोथ (tracheitis) एव ग्लाटिस-शोफ (oedema of glottis), जठरात्र रक्तस्राव (gostro-intestinal haemorrhage) तथा ग्रहणी व्रण (duodenal ulcer)। व्यापक दाह के पश्चात् कीलाइड (keloid) तथा अवकुचन (contracture) की उत्पत्ति हो सकती है। कुछ रोगियो मे मनोविकार भी उत्पन्न हो सकते हे।

अवकुंचन (Contracture) की चिकित्सा

अवकुचन (contracture) के उत्पन्न होने की सम्भावना प्राय सधियो के पास स्थित दाहो मे होती है। फलस्वरूप रोगी मे अशक्तता (disability) तथा विरूपता उत्पन्न हो सकती है। इस कारण आवश्यक है कि ग्रीवा, कक्ष, जानु

तथा वंक्षण प्रदेशो के दाहों की उचित देखभाल की जाए तथा स्प्लिंट (splint) एव शीघ्र त्वचा-निरोपण द्वारा अवकुचन (contractures) न वनने दिये जायें। यदि रोगी मे अवकुचन (contracture) उत्पन्न हो चुके हो तो विरूपता (deformity) तथा कुरूपता (disfigurement) को दूर करने के लिए प्लास्टिक शस्त्रकर्म की आवश्यकता होती है।

विशेप क्षेत्रों के दाह

आनन दाह

आनन पर विलम्वित क्षतचिह्न तथा अवकुचन (contracture) न वनने पावे इसके लिए आनन के दाहो पर विशेप ध्यान देना आवश्यक है। उन्हे स्वच्छ करके उन पर पेनिसिलिन क्रीम लगाई जाय तथा गम्भीर दाहो पर त्वचा-निरोपण करना चाहिए।

नेत्रों के दाह

यदि दाहग्रस्त क्षेत्र मे नेत्र भी सम्मिलित हो तो नेत्रो को खोलकर नार्मल सेलाइन घोल (normal saline solution) से धोना चाहिए। कार्निया-क्षतो की उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति निर्धारित करने के लिए 2% फ्लोरेसीन (flouresceín) का प्रयोग किया जा सकता है। इन क्षतो की चिकित्सा के लिए 1 प्रतिशत एट्रोपीन नेत्र-बूंदो (atropine eye-drops) तथा पेनिसिलिन नेत्र-मरहम का प्रयोग किया जाता है। यदि नेत्रच्छद (eye-lids) भी दाहग्रस्त हो तो उनकी चिकित्सा विशेप सावधानीपूर्वक करनी चाहिए क्योकि उनमे क्षतचिह्न वनने का भय रहता है। इससे वचाव के लिए इन रोगियो मे शीघ्रातिशीघ्र त्वचा-निरोपण करना चाहिए।

मणिवंध, हाथ तथा अंगुलियो के दाह

दग्ध क्षेत्र को 1 प्रतिशत सेटेवलोन से स्वच्छ करके उस पर पेनिसिलिन या एक्रोमाइसिन क्रीम लगा दी जाय। ड्रेसिंग करते समय यह ध्यान रखना आवश्यक है कि प्रत्येक अगुली को पेनिसिलिन गाज (gauze) से पूर्णत लपेट दिया जाए तथा अगुलियो एव हाथ की पट्टी पृथक्-पृथक् लगाई जाय। ऐसा करने से अगुलियो के बीच आसजन (adhesion) नही वनने पायेगे। इस उद्देश्य के लिए अगुलियो के बीच रुई अथवा गाज की एक रोल (roll) भी रखी जा सकती

है । किन्तु अगुलियो की पट्टी करते समय ध्यान रखना चाहिए कि वह बहुत मोटी न हो जाए, अन्यथा उनका स्वतत्र सचालन न हो पाने के कारण अगुलिया कडी (stiff) हो जाएगी , इस सम्बन्ध मे bunyan stannard लिफाफे का प्रयोग विशेषत उपयोगी रहता है । हाथो एव अगुलियो की दाह की उचित चिकित्सा की ओर पर्याप्त ध्यान देना चाहिए क्योकि ये अग नित्यप्रति की गतिविधियो के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते है ।

श्वसनमार्ग के दाह

ये प्राय भाप-अभिश्वसन (steam inhalation) के कारण होते है । इनमे रोगी को ग्लाटिस (glottis) का शोफ होने का भय रहता है । यदि स्वरयन्त्र (larynx) मे अवरोध उत्पन्न हो जाए तो आपत्काल श्वासप्रणाल-छेदन (tracheostomy) की आवश्यकता भी पड सकती है । श्वसनमार्ग के दाहग्रस्त हो जाने पर रोगी को B L B मास्क द्वारा आक्सीजन तथा आंत्रेतर मार्ग द्वारा पेनिसिलिन (फुप्फुसीय उपद्रवो के निवारण के लिए) देनी चाहिए ।

रासायनिक दाह (Chemical burns)

रासायनिक दाह अम्लो अथवा क्षारो के कारण हो सकते है ।

यदि दाह कास्टिक सोडा (caustic soda) के कारण हुआ तो दग्ध स्थान को 5 प्रति शत अमोनियम क्लोराइड घोल से सिंचित करना चाहिए । दाह उत्पन्न होने के कुछ मिनट पश्चात् ही ऐसा करना चाहिये । तत्पश्चात् सल्फोनेमाइड अथवा पेनिसिलिन के मरहम का प्रयोग किया जाय ।

नाइट्रिक अम्ल के दाहो के सिंचन के लिए यूसोल विलियन (eusol-solution) का प्रयोग किया जाता है ।

यदि दाह चूने (lime) के कारण हो तो क्षत स्थल को जल अथवा एसिटिक अम्ल (acetic acid) के मन्द घोल से धो कर उस पर सल्फोनेमाइड अथवा पेनिसिलिन मरहम लगा देना चाहिए ।

रेडियम तथा एक्सरे-जन्य दाह

अर्बुदीय (neoplastic) रोगो की चिकित्सा के लिए प्रयुक्त विकरण चिकित्सा (radiotherapy) द्वारा त्वचा के विक्षत तथा उस व्रणपर बनने की सम्भावना रहती है । विकिरणित त्वचा मे त्वग्रक्तिमा (erythema) व वर्णकता (pigmentation) हो जाती है तथा उस स्थान से रोम विलुप्त होने लगते

है। विकिरण की अत्यधिक मात्रा होने से तो स्थानीय त्वग्रक्तिमा के पश्चात् उपरिस्थ (superficial) व्रण प्रकट हो जाता है। व्रण-स्थल पर उत्पन्न स्लफ (slough) धीरे-धीरे दूर होता है तथा व्रण का विरोहण अति मद होता है। यह व्रण प्राय वेदनायुक्त होता है।

विकिरण व्रणो की समुचित चिकित्सा कठिन होती है, अत: उनका निवारण अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रयोजन के लिए विकिरणित क्षेत्र की समीपवर्ती त्वचा को विकिरण से भली प्रकार सुरक्षित रखना चाहिए। यदि त्वचाशोथ(dermatitis) उत्पन्न हो जाय तो उस क्षेत्र पर जेन्शन पेनिसिलिन मरहम का प्रयोग करना चाहिए। विकिरणजन्य व्रणो के विरोहण मे अल्ट्रावायलेट किरण चिकित्सा भी सहायक सिद्ध हो सकती है।

कोथ (Gangrene)

कोथ की परिभापा किसी 'अग की सामूहिक (en masse) मृत्यु' की जाती है। अग ठडा हो जाता है, उसमे स्पन्दन (pulsation) कम हो जाता है, सवेदना (sensation) भी घट जातो है और वह क्रियाहीन हो जाता है तथा उसका रग परिर्वतित हो जाता है।

वर्गीकरण

यह दशा दो प्रकार की हो सकती है . शुष्क कोथ तथा आर्द्र कोथ।

शुष्क कोथ

यह उन अगो मे होता है जिनमे रक्त-सम्भरण का ह्रास धीरे-धीरे होता है। इसका उदाहरण धमनी काठिन्य (arteriosclerosis) है। घनास्रयुक्त धमनी-काठिन्य तथा रोधक वनास्र-वाहिकाशोथ (thromboangiitis obliterans)में धमनियो का ल्यूमेन (leumen) शनै. शनै सकार्ण होने के फलस्वरूप शुष्क कोथ उत्पन्न होता है। रक्त सम्भरण मे निरतर कमी होने के कारण अग श्याव (cyantic) तथा तत्पश्चात् काला पड जाता है तथा अन्त मे बिल्कुल सूख जाता है। ऊतको का यह वर्णपरिवर्तन लोहितकोशिकाओ के नप्ट होने तथा उनमे के लौह के मुक्त होने के कारण होता है।

शुप्क कोथ का एक अन्य विशिप्ट गुण यह है कि मृत तथा जीवित ऊतक के मध्य एक सुस्पष्ट सीमारेखा (line of demarcation) बन जाती है। शुप्क-कोथ के विकास की प्रावस्था मे अग मे तीव्र वेदना का अनुभव होता है।

आर्द्र कोथ

यह धमनी, अथवा धमनी एव शिरा, दोनो, के सहसा अवरोध के कारण उत्पन्न होता है। अत शल्य (embolus) द्वारा सहसा धमनी-रोध के कारण रक्त-प्रवाह रुक जाता है, केशिकाओ मे ऋण दवाव उत्पन्न हो जाता है, तथा फलस्वरूप शिराए सामान्यत रिक्त नही होने पाती। शिरा-स्थैतिकता (venous stasis) के कारण अगविशेप मे जलाधिक्य हो जाता है तथा साथ ही जीवाणु वहुगुणित होने लगते है। आर्द्र कोथ दो प्रकार का हो सकता है पूतियुक्त (septic) तथा पूतिरहित (aseptic)।

पूतियुक्त कोथ प्राय विस्तार करने वाला होता है तथा उसमे प्रवल सक्रमण पाया जाता है। यह ऐसे रोगियो मे होता है जो मधुमेह से पीडित हो अथवा जिनके शरीर मे उग्र संक्रमण उपस्थित होता है। इस दशा मे अग मे शोफ, दुर्गंधि तथा विवर्णता उत्पन्न हो जाती है तथा सीमारेखा नही वनती। सक्रमण के लिए उत्तरदायी जीवाणु प्राय वातनिरपेक्षी (anaerobic) होते है तथा इस कारण ऊतको मे गैस पाई जा सकती है।

पूतिरहित आर्द्र कोथ प्रायः धमनीसम्भरण के सहसा अवरोध के कारण होता है। रोगग्रस्त अग प्रथम फीका या श्वेत तथा अन्त मे काला हो जाता है। यह विवर्णता रक्त-स्थैतिकता (haemostasis) के पश्चात् रक्त मे होने वाले परिवर्तनो के कारण होती है। इस प्रकार के कोथ मे अग का आकार प्रकार तथा विन्यास पूर्ववत रहता है, केवल वर्ण-परिवर्तन होता है तथा सीमारेखा वनती है।

कोथयुक्त ऊतक का भविष्य सक्रमण के उपस्थित अथवा अनुपस्थित होने पर निर्भर रहता है। यदि सक्रमण निर्वल (mild) हो और कोथ सीमित हो तो कोथयुक्त ऊतक जीवित अग से पृथक् हो जाता है, अथवा वह आगन्तुक शल्य महाकोशिकाओ (foreign body giant cells) द्वारा अवशोपित हो जाता है। किन्तु यदि सक्रमण उग्र हो तो कोथ विस्तारशील होता है तथा पार्थक्य सीमा रेखा (line of separation) नही वनती।

यदि अग का ताप कम हो जाय, सवेदनशीलता घट जाय तथा रग परिवर्तित हो जाय, तो यह इगित करता है कि कोथ अवश्यम्भावी है अथवा कोथ उत्पन्न होने का भय है।

हेतुकी

कोथो का वर्गीकरण हेतु-अनुसार निम्न प्रकार किया जा सकता है: (1)

अभिघातज—(अ) प्रत्यक्ष (साक्षात्) अथवा अप्रत्यक्ष (असाक्षात्) (direct, indirect); (2) सक्रामी कोथ—(अ) पयजनक सक्रमण, यथा फोडे, कार्वकल, नोमा (noma), भक्षीव्रण (phagedaena) तथा अधस्त्वक् विस्तारी कोथ, (आ) गैस कोथ; (3) ताप अभिघात— (अ) दाह (burns) तथा झुलसना (scalds) (आ) हिमदाह (frost bite); (4) विद्युत दाह—तड़ित (lightning) अथवा अत्यधिक वोल्ट के करेंट के कारण, (5) रासायनिक दाह—(अ) प्रवल अम्ल (नाइट्रिक, सल्फ्यूरिक व कार्बोलिक अम्ल तथा लाइसोल (lysol), (आ) प्रवल क्षार (कास्टिक सोडा); (6) रक्त सचार सम्वन्धी त्रुटियां—(अ) वाहिका-भित्ति मे कतिपय परिवर्तनो के कारण, उदाहरणत. धमनी-काठिन्य (arteriosclerosis) सिफिलिस तथा वर्जर रोग (Buerger's diseaes), (आ) घनास्रता (thrombosis) तथा अन्त.शल्यता (embolism), (इ) अग का सम्भरण करने वाली मुख्य वाहिका पर दवाव पड़ना अथवा अभिघात लगना (7) विपाक्त सक्रामी परिगलन (toxic infective necrosis)—यथा मधुमेह।

अन्वेषण (investigations)

सर्वप्रथम रोगी की समुचित शारीरिक परीक्षा करनी चाहिए तथा मधुमेह के लिए मूत्र की जाच करनी चाहिए। रोगी के रक्त सचरणतत्र को पर्याप्त निरीक्षण की आवश्यकता होती है; सम्भव है धमनी-अवरोध की ठीक स्थिति का पता लगाने के लिए धमनी-चित्रण (arteriography) की आवश्यकता पड़े। स्पदनशील समपार्श्वी सम्भरण (pulsatile collateral supply) के स्तर का अनुमान लगाने के लिए ऑसिलोग्राफी (oscillography) की आवश्यकता भी पड़ सकती है। अवरोध के परे स्थित भाग मे अग के अपर्याप्त रक्तसम्भरण के निदर्शन (demonstration) के लिये रेडियोएक्टिव सोडियम थायोसल्फेट (sodium thiosulphate) आदि रेडियोसक्रिय पदार्थों का प्रयोग किया जा सकता है।

सामान्य चिकित्सा

सम्भरण न्यूनता के रोगियो को अपने शाखाअगो का विशेप ध्यान रखना चाहिए तथा उन्हे अभिघात तथा शीत से वचाना चाहिए। प्रिस्कोल (Priscol) तथा tetraethylammonium chloride आदि वाहिका-विस्फारक (vasodialator) औषधियो का प्रयोग, कोथ के विकास को रोकता है तथा कभी-कभी इसके निवारण मे भी सहायक होता है।

एक वार कोथ हो जाने पर उसकी शल्य-चिकित्सा अनिवार्य होती है। कोथयुक्त अग पर पेनिसिलिन पाउडर छिडक कर उसे अपूतिक ड्रेसिंग से ढक देना चाहिए। यदि अग मे सक्रमण उपस्थित हो तो दैहिक (systemic) एंटिवायटिको का प्रयोग भी करना चाहिए।

अभिघातजन्य कोथ (Traumatic gangrene)

अभिघातजन्य कोथ निम्नलिखित कारणो से हो सकता है · मशीन अथवा मोटरकार दुर्घटनाओ मे घटित सदलन अभिघात (crush injuries) , अनुचित रूप से लगाए गए प्लास्टर के कारण अग पर पडने वाला लगातार प्रत्यक् दवाव, शैय्यावद्ध रोगियो मे होने वाले दवाव व्रण (pressure sores)। प्रवल अभिघात परोक्ष रूप मे भी कोथ उत्पन्न कर सकता है, यथा मुख्य रक्तवाहिकाओ का अभिघात, अथवा उन पर रक्तसग्रह (haematoma), अस्थि-अशो, स्प्लिट अथवा प्लास्टर के कारण पडने वाला दवाव। यदि धमनी तथा सिरा दानो ही अवरुद्ध हो तो इसका परिणाम आर्द्र कोथ (wet gangrene) होता है।

चिकित्सा

निर्जीव (devitalized) अथवा रक्तसचरणरहित ऊतक की उपस्थिति के लिए भली प्रकार क्षत की जाच करनी चाहिए, क्योकि ऐसे ऊतक का अपहरण करना आवश्यक होता है। यदि प्रारम्भिक अभिघात अथवा क्षत-उच्छेदन के फलस्वरूप अग मे इतनी विकृति आने की सभावना हो कि उसकी सामान्य क्रियाओ मे वाधा पडे, तो अग का प्राथमिक अगोच्छेदन (primary amputation) कर देना चाहिए। किन्तु चिकित्सक का प्रयत्न होना चाहिए कि वह अग के अधिक से अधिक भाग को सुरक्षित रखे, विशेपत· यदि वह अग ऊर्ध्वशाखा (upper limbs) हो। अग पर कसी हुई पट्टी (tight bandage) तथा प्लास्टर के अनुप्रयोग के पश्चात् ध्यान रखना चाहिए कि उसके दूरस्थ भाग मे पर्याप्त रक्तसचरण होता रहे।

यदि मुख्य रक्तवाहिकाओ पर दवाव के कारण रक्तसचार मे वाधा पड़ने की शका हो तो तुरन्त उस स्थान का अन्वेपण (exploration) करना चाहिये तथा दवाव के कारण को दूर करना चाहिए। कभी-कभी विक्षत वाहिकाओ का विरोहण (repair) करना भी सभव होता है, यहा तक कि, धमनी का सातत्य वनाए रखने के लिए सीवन का प्रयोग भी किया जा सकता है। किन्तु यदि अग मे कोथ उत्पन्न हो चुका हो तो उसका उच्छेदन आवश्यक होता है।

सक्रामी कोथ (Infective Gangrene)

फोड़ों का कारण प्राय रोमपुटिकाओ (hair follicles) मे पूयजनक सक्रमण की उपस्थिति होता है।

कार्बकल अधस्त्वक्-ऊतक के तीव्र सक्रामी कोथ को कहते है। यह अधिकतर मधुमेह के रोगियो को होता है तथा प्राय. पीठ तथा ग्रीवापृष्ठ पर पाया जाता है।

केक्रम ओरिस (cancrum oris) एक प्रकार का तीव्र सक्रामी कोथयुक्त मुखपाक (acute infective gangrenous stomatitis) होता है। यह प्राय कृशकाय, कुपोषित बच्चो मे पाया जाता है। ऐसे दुर्बल बच्चो मे प्राय. दन्तक्षरण (dental caries) तथा प्रबल मुख-पूति (oral sepsis) भी विद्यमान होता है।

नोमा (noma) बाह्यजननागो के सक्रामी कोथ को कहते हैं। यह प्राय 2-5 वर्ष की अल्पायु, कृशकाय, कुपोषित कन्याओ मे पाया जाता है। यदि इन रोगियो को पूतिरक्तता (septicaemia) अथवा श्वसनी-निमोनिया (bronchoencumonia) भी हो जाय तो उनकी मृत्यु हो सकती है।

विनाशी-व्रण (phagedaena)

इसे 'अस्पताल-कोथ' भी कहते है। यह स्ट्रेप्टोकॉकस सक्रमण के कारण होता है तथा एक लघुव्रण के रूप मे आरम्भ होता है जो शीघ्र ही वर्धित होकर समीपवर्ती ऊतको को नष्ट कर देता है। पूतिरोध से पूर्वकालीन समय मे यह बहुधा पाया जाता था, किन्तु वर्तमान समय में इसका आघटन बहुत कम हो गया है।

अधस्त्वक्-विस्तारी कोथ (subcutaneous spreading gangrene)

यह दशा उण्डुकपुच्छोच्छेदन (appendicectomy) तथा अन्त पूयता (empyema) या अन्य गभीरस्थ विद्रधि के निकास के पश्चात् अथवा उदर भित्ति पर पाई जा सकती है। इसके लिए वातापेक्षी तथा वातनिरपेक्षी दोनो प्रकार के जावाणु उत्तरदायी हो सकते है। इस दशा का अधस्त्वक् कोथ के रूप मे विस्तार होता है जिससे प्रभावित क्षेत्र सूज कर शोथयुक्त हो जाता है और उसमे करकर (crepitus) का शब्द प्रतीत होता है। उपयुक्त चिकित्सा न होने पर रोगी को पूतिरक्तता (septicaemia) हो जाती है।

इस दशा की चिकित्सा जिक परओक्साइड (zinc peroxide) पेस्ट के स्थानीय प्रयोग तथा उपयुक्त एटीबायटिको के दैहिक प्रयोग द्वारा की जाती है।

गैसशोथ (gas gangrene)

गैसकोथ विस्तृत दीर्ण (lacerated) क्षतो के धूल-मिट्टी, खादयुक्त भूमि, मल तथा गदे कपडो के सम्पर्क मे आने तथा फलस्वरूप वातनिरपेक्षी जीवाणुओ द्वारा सक्रमित होने के कारण होता है।

गैसकोथ के लिए उत्तरदायी जीवाणु Clostridium welchii, Cl. oedematiens तथा Cl. sporogenes है। इनमे सर्वाधिक Cl welchii पाया जाता है। ये जीवाणु वातनिरपेक्षी होते है, अत वे प्राय: ऐसे क्षतो मे वृद्धि करते है जो विस्तृत, गभीर, वेधक (perforating) अथवा दीर्ण (lacerated) हो, जिनमे पेशीऊतक को अभिघात पहुंचा हो तथा जिनमे आगन्तुक (foreign matter), अस्वच्छ वस्त्रो अथवा मलमूत्रादि के कारण सन्दूषिण (contimainated) हो गया हो। ऐसे क्षत विशेषत: युद्धकाल मे गोली-अभिघात (gunshot injuries) के कारण पाए जाते ह। कभी-कभी गैसकोथ नागरिक अभिघातों (civilian injuries) मे भी उपद्रव के रूप मे पाया जा सकता है।

लाक्षणिक रूप

रोगी क्षत स्थल पर दबाव का अनुभव करता है तथा पट्टी उसे भिची हुई प्रतीत होती है। उस स्थान पर दाब, लाली, सूजन तथा करकर (crepitus) शब्द उत्पन्न हो जाता है तथा भूरे-लाल रग का पूय-सीरमी (sero-purulent) आस्राव होने लगता है। इस आस्राव मे एक विचित्र मूषक गन्ध (mousy smell) होती है। समीपवर्ती वहिकाओ मे घनास्तता होने के कारण कोथ का प्रसार होता रहता है तथा रोगी को मतली, वमन, अतिताप, तीव्र नाडी तथा प्रबल जीवविषाक्तता आदि लक्षण हो जाते है। गम्भीर अवस्था मे शरीर शीतल व चिपचिपा (cold and clammy) पड जाता है, तथा ताप और रक्तदाब गिर जाता है। अन्त मे रोगी को सन्यास हो जाता है अथवा उसकी मृत्यु हो जाती है। रक्तदाब के पात का कारण इस रोग मे उत्पन्न कुछ विशिष्ट जीवविषो द्वारा अधिवृक्क ग्रथियो पर वरणात्मक प्रभाव का होना माना जाता है। इस रोग का उद्भवन काल (incubation period) सक्षिप्त होता है तथा 24-48 घटो मे ही सक्रमण प्रस्थापित हो सकता है।

ग्रस्त क्षेत्र मे त्वचा प्रारम्भ मे चमकदार लाल होती है, किन्तु कालातर मे श्याव (cyanotic) तथा अन्त मे काली हो जाती है। कोथ के विस्तार के अनुसार सक्रमण निम्न प्रकार का हो सकता है।

स्फूर्जक संक्रमग (fulminatiug infection)

सक्रमण का प्रसार 24 घटे मे ही हो जाता है तथा साथ ही प्रवल जीव-विपाक्तता (toxaemia) होती है। इस प्रकार का सक्रमण प्राय प्राणघातक होता है तथा विशेपत ऊरू (thighs) या नितम्ब प्रदेश मे गोली लगने के क्षतो (gunshot wounds) मे पाया जाता है।

सामूहिक संक्रमण (massive infection)

इसमे अनेक पेशीसमूह एक साथ ग्रस्त होते है। यह प्ररूप प्राय नगरों मे सडको पर हुई दुर्घटनाओ से उत्पन्न क्षतो मे पाई जाती है।

एकल समूह संक्रमण (single group infection)

इसमे एक या दो पेशी समूह ही प्रभावित होते है।

वैकृति (pathology)

सक्रमित पेशी का रग चमकदार लाल से गोधूलि-ईंट-लाल (dusky-brick-red), जैतूनी हरा तथा अत मे काला हो जाता है, आस्राव दुर्गंधयुक्त होता है। पेशी मे प्रविष्ट होने वाली वाहिकाए घनास्रयुक्त हो जाती है तथा आसपास के पेशी-समूहो मे सक्रमण का प्रसार हो जाता है। अत मे पेशियो का वियोजन-भग तथा द्रवीभवन (liquification) हो जाता है।

एक्सरे-चित्रण द्वारा ग्रस्त पेशी मे गैस की उपस्थिति प्रदर्शित की जा सकती है। रक्तपरीक्षण द्वारा अरक्तता, अल्प हीमोग्लोविन तथा श्वेतकोशिका वहुलता (leukocytosis) पाई जाती है।

गैसकोथ मे जीवविष लोहितकोशिकाओ के नाश द्वारा अरक्तता उत्पन्न करने के अतिरिक्त यकृत तथा वृक्क को भी हानि पहुँचाते है।

चिकित्सा

इस प्रवल सक्रमण के निवारण के के लिए आवश्यक है कि तीव्र क्षतो की चिकित्सा ध्यानपूर्वक की जाय तथा आगन्तुक शल्यो और मृत व निर्जीव ऊतक, विशेपत. पेशी ऊतक, का पूर्णत अपहरण किया जाय। एक वार सक्रमण प्रस्थापित होने के पश्चात् चिकित्सा की विधि कोथ की व्यापकता पर निर्भर होती है। यदि केवल एक पेशी-समूह ही ग्रस्त हो तो उसका उच्छेदन

किया जा सकता है, किन्तु सामूहिक कोथ की दशा मे प्राणरक्षा के लिए अगो-च्छेदन अनिवार्य होता है। यह उच्छेदन गिलोटिन विधि (guillotire method) द्वारा करना चाहिए।

पेनसिलिन तथा एक्रोमाइसिन का प्रचुर मात्रा मे प्रयोग करना चाहिए। समुचित मात्रा मे एटीटाक्सिन का प्रयोग भी चिकित्सा मे लाभप्रद रहता है।

यदि शरीर पर गम्भीर रूप से दीर्ण (lacerated) तथा सन्दूपित क्षत उपस्थित हो तो रोग के निवारणार्थ अन्त. पेशी इजेक्शन द्वारा 40-60 हजार यूनिट बहुसयोजक (polyvalent) एटीगैसकोथ (antigas gangrene) सीरम देना चाहिए। ऐसे रोगियो को टिटेनस एन्टीटाक्सिन (tetanus antitoxin) भी देना चाहिए।

इन रोगियो को द्रव तथा विद्युत् अपघट्यो (electiolytes) द्वारा अन्त-शिरा चिकित्सा की आवश्यकता भी होती है। कुछ अवस्थाओ मे रक्ताधान भी आवश्यक हो सकता है।

परिसचरण के कोथजनक विकार

रेनोड रोग (Raynaud's disease)

यह रोग प्राय ऊर्ध्व शाखा अगो को, विशेपत हाथो तथा अगुलियो को, *प्रभावित करता है तथा मुख्यत 18-30 वर्प की आयु की स्त्रियो मे पाया जाता* है। यह रोग प्राय द्विपार्श्वी (bilateral) तथा सममित (symmetrical) होता है। इस रोग मे वाहिका-आकर्ष (vasospasm) के कारण सममित कोथ उत्पन्न हो जाता है। इस आकर्प (spasm) का कारण वहुधा शीत होता है।

रोधकघनास्रवाहिका शोथ (thromboangiitis obliterans) अथवा बर्जर रोग (Buerger's disease)

यह रोग अधिकतर पुरुपो को होता है, तथा धूम्रपान करने वाले व्यक्तियो मे अधिक पाया जाता है। पूर्वमान्यता के अनुसार यह रोग केवल यहूदियो (Jews) तक ही सीमित था, किन्तु अव यह पता लगा है कि कई अन्य जातियो मे भी यह रोग होता है। भारत मे भी वहुतो को होता है।

इस रोग का यथार्थ हेतु अभी अज्ञात है। सिफिलिस, यक्ष्मा तथा धमनी-काठिन्य का इससे कोई सम्बन्ध नही है। जीवाणुओ तथा वाइरसो का भी इसकी उत्पत्ति मे कोई हाथ नही होता।

इस रोग मे धमनियाँ तथा गिराओ की अवकाशिकाएँ (lumen) शनैः-शनैः सकीर्ण होती जाती है। वाहिकाओं मे यह परिवर्तन उनकी सम्पूर्ण लम्बाई मे नही होता किन्तु केवल एक भाग मे पाया जाता है। यह दशा क्रमश. वढने वाली (progressive) होती है तथा अन्त मे वाहिकाएँ पूर्णतः अवरुद्ध हो जाती हैं। वहिका की अवकाशिका (Lumen) के यान्त्रिक अवरोध (mechanical obliteration) के अतिरिक्त वाहिका-आकर्प (vascular spasm) का भी अंग के रक्तसंभरण पर हानिकारक प्रभाव पडता है।

जराजन्य या धमनीकाठिन्यज कोथ (Senile or arteriosclerotic gangrene)

कोथ का यह रूप प्राय. वृद्घावस्था मे पाया जाता हे तथा 60 वर्ष से अधिक आयु के पुरुषो को अधिक होता है। यह प्राय पैर की अगुलियों के शुष्क कोथ के रूप मे आरम्भ होता है तथा धीरे-धीरे वढकर कालातर मे सम्पूर्ण पैर को ही प्रभावित कर देता है। (चित्र 280)। धमनीकाठिन्य के फलस्वरूप मध्यकचुक (tunica media) निरन्तर स्थूल होता जाता है तथा इस कारण धमनिया सकीर्ण हो जाती हैं। कभी-कभी उनमे घनास्रता भी उत्पन्न हो जाती है।
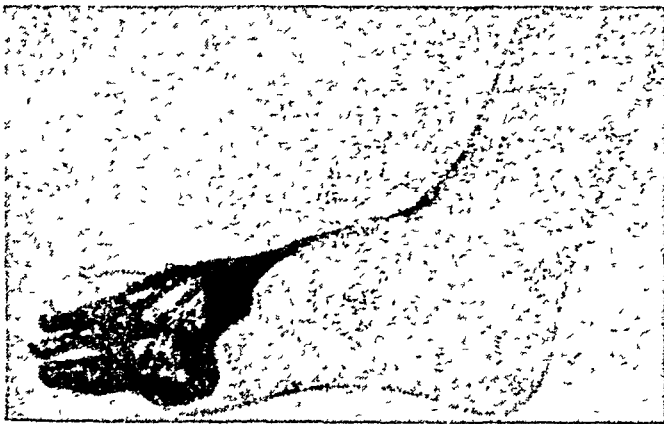
चित्र 280—पाव का शुप्क कोथ (धमनी काठिन्यज)।

इस प्रकार का कोथ प्रायः उन रोगियो मे पाया जाता है जिनमें मधुमेह अथवा वृक्कशोथ (nephritis) के कारण धमनीकाठिन्यसम (arterio sclerotic) परिवर्तन उत्पन्न हो गये हो। अगुलियो का साधारण अभिघात (संकीर्ण जूते

पहनना, गाठो (corns) का काटना, पावो को ठड लगना भी इस अवस्था को उत्पन्न कर सकता है। जैसे-जैसे दशा गम्भीर होती जाती है, अग शीतल व श्याव पड जाता है तथा पावो मे व टागो की पेशियो मे ऐंठन या उद्वेष्टन (cramps) होने लगते है।

कोथ बहुत मद गति से प्रसार करता है तथा कुछ काल के लिए स्थिर भी रह सकता है। यदि अग मे सक्रमण न हुआ हो तो कोथ के कारण पाव की अगुलिया सूख कर गिर जाती है। अग के कोथयुक्त भाग तथा पर्याप्त सक्रमण युक्त भाग के बीच एक सुस्पष्ट सीमारेखा (line of demarcation)बन जाती है।

रोगी की शारीरिक परीक्षा करने पर पादाभिपृष्ठ (dorsalis pedis) तथा पश्चअन्तर्जंघिका (posterior tibial) धमनिया स्पदनहीन पाई जा सकती है। एक्सरे चित्रण द्वारा वाहिकाओ का विस्तृत कैल्सीभवन भी मिल सकता है।

चिकित्सा

कोथ की चिकित्सा के लिए समय-समय पर वाहिका-विस्फारक औषधो (vasodialator drugs) का प्रयोग किया जाता रहा है, परन्तु इसका परिणाम निराशाजनक हुआ है। यदि कोथ प्रस्थापित हो गया हो तो सार्वदैहिक सज्ञाहरण (general anaesthesia) अथवा प्रशीतन सज्ञाहरण (refrigertation anaesthesia) के अन्तर्गत अगोच्छेद (amputation) करना आवश्यक होता है। ऐसा करते समय ध्यान रखना चाहिए कि उच्छेद-स्थूणक (amputation stump) को आच्छादित करने वाले त्वचाप्रालवो मे पर्याप्त रक्तसभरण बना रहे।

अन्त शल्य कोथ (Embolic gangrene)

इस प्रकार का कोथ आमतौर पर नही पाया जाता। यह किसी अन्त शल्य के हृदय तक पहुचने तथा उसे पार करके दैहिक परिसचरण मे प्रविष्ट हो जाने के कारण होता है। यह द्विकपर्दी सकीर्णन (mitral stenosis), अलिंद-विकम्पन (artial fibrillation), हृत्पेशी-स्थानिक-अरक्तता (myocardial ischaemia), तथा व्रणी अन्तर्हृत्कलाशोथ (ulcerative endocarditis) दशाओ मे पाया जा सकता है।

दैहिक परिसचरण मे अन्त शल्य का अवरोध प्राय किसी बडी धमनी के द्विशाखन बिंदु (point of bifurcation) अथवा उससे निकलने वाली किसी

बड़ी शाखा के उद्‌गस्थल पर होता है। जैसे ही धमनी अन्तःशल्य द्वारा अवरुद्ध होती है, उसमे प्रवल वाहिका-आकर्ष (vasospasam) उत्पन्न हो जाता है तथा वाहिका के अन्त शल्य से दूरस्थ भाग मे घनास्त्र (thrombus) उत्पन्न होने लगता है। इनके फलस्वरूप सपार्श्विक रक्तसभरण (collateral blood supply) भी रुक जाती है तथा कोथ आरम्भ हो जाता है।

लक्षण

कुछ मिनटों मे ही रोगी अन्तःशल्य स्थल पर सहसा प्रवल पीड़ा अनुभव करता है तथा अग शीतल, संज्ञाहीन और श्याव (cyanosed) हो जाता है। प्रभावग्रस्त अगुलियों का सचालन असम्भव होता है। अग मे होने वाली वेदना तथा वर्ण-परिवर्तन प्राय. सुनिश्चित रूप से सीमांकित होते हैं, तथा इस प्रकार अन्त शल्य के यथार्थस्थान के निर्धारण में सहायता देते हैं।

चिकित्सा

हेपारिन (Heparin) का प्रयोग तथा पराकशेरुका गुच्छिकाओं (para-vertebral ganglia) का प्रोकेन (procaine) इजेक्शन द्वारा अवरोध कुछ मे लाभप्रद हुआ है। किंतु सर्वोत्तम विधि शीघ्रातिशीघ्र अन्त शल्य-उच्छेद (embolectomy) है। यदि यह क्रिया 8-10 घटे मे ही कर दी जाए तो शाखा-अग की रक्षा हो सकती है, किंतु एक वार कोथ प्रस्थापित हो जाने पर अगोच्छेदन ही करना पडता है।

मधुमेह-कोथ (diabetic gangrene)

मधुमेह कोथ प्रायः 50 वर्ष से अधिक आयु के ऐसे मधुमेह पीड़ित पुरुषों में पाया जाता है जिनमे धमनीकाठिन्य (arterio-sclerosis) भी होता है। इस दशा मे अधिकतर पांव प्रभावित होते हैं। कोथ का प्रारम्भ बहुधा किसी, सूक्ष्म, अत्यल्प अभिघात के फलस्वरूप हो सकता है। मधुमेहकोथ जराजीर्ण कोथ (senile gangrene) की तुलना में इस कारण भिन्न है कि इस अवस्था मे अंग सूखता-सुकड़ता नहीं वल्कि आर्द्र तथा शोफयुक्त रहता है। सक्रमण की उपस्थिति तथा मधुमेह के कारण ऊतकों की शक्ति (जैवता vitality) का ह्रास हो जाता है तथा फलस्वरूप इस दशा मे कोथ का विस्तार तीव्र गति से होता है।

चिकित्सा

इस रोग के सम्भाव्य रोगियो को चाहिए कि वे अपने पावो व पाव की अंगुलियों की पर्याप्त देखभाल करें तथा क्षुद्र अवघातो की भी कदापि अवहेलना न करें। यदि कोथ-क्रिया आरम्भ हो गई हो तो आरम्भिक अवस्था में ही अंगोच्छेद (amputation) कर देना चाहिए ताकि उसका और अधिक विस्तार न होने पाए। साथ ही इसुलिन व एंटिवायटिको द्वारा मधुमेह तथा सक्रमण को भी नियन्त्रित करना चाहिए।

हिमदाह-कोथ (frost-bite gangrene)

अत्यन्त तीव्र शीत मे खुले रहने वाले अंगो की त्वचा वाहिकाओ के आकर्ष (vascular spasm) मे श्वेत अथवा अवर्णित हो जाती है। इस अवस्था मे शिरा स्थैतिकता (venous stasis) के फलस्वरूप घनास्रता भी हो सकती है। गम्भीर दशाओ मे कोथ भी उत्पन्न हो जाता है। कोथ की आरम्भिक अवस्था मे रोगी प्रभावित अग मे प्रवल वेदना अथवा जलन का अनुभव करता है तथा उसकी त्वचा स्थूल, शोफयुक्त और लालिमामय हो जाती है। कुछ समय पश्चात् त्वचा पर भी छाले पड सकते हैं।

चिकित्सा

रोगी को गर्म रखना चाहिए तथा प्रशीतित अगो को धीरे-धीरे प्रसामान्य अवस्था मे लाना चाहिए। अंग को मलना नही चाहिए, वल्कि छालो पर सल्फोनेमाइड पाउडर छिड़ककर उन्हें गाज़ (gauze) द्वारा ढक देना चाहिए। घनास्र का विस्तार रोकने के लिए स्कदनरोधी (anti-coagulant) औषधिया भी प्रयुक्त करनी चाहिएँ। यदि कोथ स्थापित हो गया हो तो अगोच्छेदन अनिवार्य है।

चिरकारी अर्गट (ergote) विपाक्ततताजन्य कोथ

दीर्घकाल तक अर्गोटिमीन टार्ट्रेट (ergotamine tartrate) के सेवन के कारण भी पांवो का द्विपार्श्वी कोथ हो सकता है। ऐसा लघु वाहिकाओ के आकर्ष के कारण होता है। यह आकर्ष नाक, कान तथा हाथ-पैर की अगुलियो को प्रभावित करता है; फलस्वरूप ये अग सूख कर ममीभूत (mummified) हो जाते हैं तथा अन्तत शरीर से विलग हो जाते है।

29

संज्ञाहरण
(Anaesthesia)

जी० सी० टंडन

रोगी का आपरेशन करने का निश्चय करने के पश्चात् स्वाभाविक रूप से अगला प्रश्न उसके संज्ञाहरण का उठता है । चाहे कोई आपरेशन सर्जन के लिए कितना ही साधारण तथा अल्प हो, रोगी के लिए वह जीवन की एक महत्त्वपूर्ण घटना होती है तथा वह इस सम्बन्ध मे प्राय चिन्तित व उद्विग्न रहता है। अत: ऐसे साधनो के प्रयोग के लिए वह स्वभावत: अत्यन्त कृतज्ञ होता है जो उसकी उद्विग्नता घटाने तथा आपरेशन की पीडा कम करने मे सहायक हों ।

शल्य-चिकित्सक के दृष्टिकोण से यह आवश्यक है कि यदि स्थानीय सवेदनाहरण (local analgesia) का प्रयोग किया जाए तो रोगी पूर्णत: वेदनामुक्त हो तथा उसकी प्रकृति सहयोगपूर्ण रहे ; यदि सार्वदेहिक सज्ञाहरण का प्रयोग किया जाए तो अचेतनता का स्तर अत्यन्त न्यूनाधिक न हो । पर्याप्त पेशी-शिथिलन तथा प्रतिवर्ती क्रियाओ का ह्रास भी सफल व सुरक्षापूर्ण आपरेशन के लिए वाँछनीय होता है ।

परिभाषाएँ (Definitions)

संज्ञाहरण (anaesthesia)

इसे प्रायः सार्वदैहिक संज्ञाहरण (general anaesthesia) के नाम सम्बोधित किया जाता है । इस दशा मे रोगी अचेतन होता है । यदि इस प्रकार

के सज्ञाहरण को उचित प्रकार से प्रयुक्त किया जाए तो चेतना तथा प्रतिवर्ती क्रियाओ का ह्रास उत्क्रमणीय (reversible) होता है और उसे सुनियन्त्रित किया जा सकता है ।

वेदनाहरण (Analgesia)

जैसा कि नाम से स्पष्ट है, इस अवस्था मे वेदना नही होती किन्तु चेतना बनी रहती है । वेदना का अभाव यदि केवल किसी एक भाग मे ही हो तो उसे प्रादेशिक (regional) या स्थानीय (local) वेदनाहरण कहा जाता है ; यदि सम्पूर्ण शरीर मे वेदना की अनुभूति का अभाव हो किन्तु चेतना विद्यमान हो तो उस दशा को सार्वदैहिक वेदनाहरण (general analgesia) कहा जाता है । इस अवस्था का प्रयोग कभी-कभी प्रसव-पीड़ा कम करने अथवा ड्रैसिगो को बदलने के लिए किया जाता है । स्पष्ट है कि स्थानीय सज्ञाहरण (local anaesthesia) एक मिथ्या सज्ञा है, क्योकि यहाँ चेतना लुप्त नही होती; वास्तव मे इस अवस्था को स्थानीय वेदनाहरण (local analgesia) के नाम से सम्बोधित करना चाहिए ।

इतिहास

यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि संज्ञाहरण का इतिहास स्वयं मे शल्य-चिकित्सा का ही इतिहास है । यदि सज्ञाहरण की विधियो का विकास न होता तो शल्य-विज्ञान की उन्नति भी कदापि न हो पाती ।

आधुनिककाल मे सज्ञाहरण का नाम एक प्रकार से शल्यकर्म के साथ ही जुडा है । आज सहज ही विश्वास नही होता कि एक शताब्दी पूर्व रोगियो को बलपूर्वक जकड कर उन पर आपरेशन किया जाता था । उन दिनो रोगी को अपनी वेदना-सहनशक्ति पर ही निर्भर रहना पड़ता था ; कुछ सीमा तक उसे मदिरा सेवन द्वारा भी सहारा मिलता था । यदि वह भाग्यशाली हुआ तो शल्य-अभिघात की तीव्र अनुभूति के कारण वह मूच्छित हो जाता था तथा शेष आपरेशन की पीडा अनुभव करने से मुक्त हो जाता था । स्पष्ट है कि ऐसी परिस्थिति मे आपरेशनो मे यथासम्भव कम से कम समय लगाया जाता था ।

क्लिनिकल चिकित्साशास्त्र मे सर्वप्रथम प्रयुक्त सज्ञाहारको में निम्नलिखित प्रमुख है—मार्टन (Morton, 1846) द्वारा आविष्कृत ईथर (Ether), सिम्पसन (Simpson, 1847) द्वारा आविष्कृत क्लोरोफार्म (chlorofrorm) तथा वैल्स

(Wells, 1844) और कोल्टन (Colton, 1862) द्वारा आविक्रुप्त नाइट्रस ऑक्साइड । अन्त.श्वासप्रणालीय संज्ञाहरण का प्रयोग प्रथम महायुद्ध के समय व्यापक रूप से हुआ । इसके पश्चात् हुए विकासों में 1932 में वीस (Weese) द्वारा एविपान (Eaipan) नामक अल्पकाल-प्रभावी अन्त:शिरा संज्ञाहर (short-actnig ıntravenous anaesthetic) का तथा 1949 मे ग्रिफिथ व जान्सन (Grıffith and Johnson) द्वारा क्यूरारे (Curare) का प्रयोग था ।

विषयक्षेत्र, विधिशास्त्रीय पक्ष, रोगी की स्वीकृति (Scope, Medicolegal Aspect, Patient's Consent)

संज्ञाहरण-विज्ञान मूलत· एक स्नातकोत्तर शास्त्र है, किन्तु आधुनिक काल मे इसका विकास शल्य-चिकित्सा के तीव्र विकास के समानान्तर नही हो सका है । फलस्वरूप छोटे अस्पतालो मे अथवा आपत्कालीन आपरेशनो मे संज्ञाहरण सम्बन्धी अधिकांश कार्य, अविशेपज्ञो (non-specialısts) को ही करना पडता है । अतः वाछनीय है कि विद्यार्थी संज्ञाहरण तथा वेदनाहरण के मूल सिद्धान्तो से परिचित हो ।

भारतीय संविधान के अनुसार प्रत्येक योग्यताप्राप्त चिकित्सक तथा दन्तचिकित्सक को सज्ञाहर औपधो का प्रयोग करने का अधिकार है । किन्तु रोगी की मृत्यु अथवा सज्ञाहरण सम्बन्धी अन्य दुर्घटना होने पर उसे यह सिद्ध करना पड सकता है कि उसने पर्याप्त सावधानी तथा कुशलतापूर्वक कार्य किया था ।

यह स्मरणीय है कि सज्ञाहरण की अवस्था प्रसामान्य शरीर-क्रिया के प्रतिकूल है । इस अवस्था मे शरीर की सभी सुरक्षात्मक प्रतिवर्ती क्रियाएं अवरुद्ध हो जाती है तथा फलस्वरूप संज्ञाहारक विशेपज्ञ ही उसकी कुशलता के लिए उत्तरदायी होता है । यह ध्यान रखना आवश्यक है कि शस्त्रकर्म चाहे कितना ही गौण हो, सज्ञाहरण कभी गौण नही होता । अत: इसका प्रयोग वास्तविक आवश्यकता होने पर ही करना चाहिए ।

सज्ञाहारक (anaesthetist) का कर्त्तव्य है कि वह संज्ञाहीन अवस्था मे ही नही, बल्कि आपरेशन समाप्त होने के पश्चात् भी तव तक रोगी की देखभाल करे जव तक वह पूर्णत: चेतना प्राप्त नहीं कर लेता ।

श्वासक्रिया जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक है । संज्ञाहारक का यह गहन उत्तरदायित्व है कि वह रोगी के श्वासमार्ग को खुला रखे तथा पर्याप्त श्वसन-

विनिमय (tidal exchange) स्थापित रखने का प्रबन्ध करे। यह उत्तरदायित्व उसके अन्य कर्त्तव्य, अर्थात् रोगी को वेदना की अनुभूति से मुक्त रखने, से किसी दशा मे भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

क्रिया-प्रणाली (Mode of Action)

सज्ञाहरण निद्रा नामक शरीर की स्वाभाविक क्रिया की भाति ही एक अवस्था है। निद्रा, चेतनावस्था तथा अचेतनावस्था आदि साधारण क्रियाओ के सम्बन्ध मे अभी भी हमारा ज्ञान सीमित है। सुपुप्तिकरो (narcotics) को यदि सार्वदेहिक संज्ञाहर के रूप मे प्रयुक्त किया जाए तो वे केन्द्रीय तन्त्रिकातन्त्र की प्रक्रिया को अस्थायी रूप से विघटित कर देते है जिसके सम्बन्ध मे प्राय: पहिले ही से ज्ञान होता है।

सार्वदेहिक सज्ञाहरों की यथार्थ क्रियाविधि अभी तक अज्ञात है। इस सम्बन्ध मे अनेकानेक सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए है। सम्भवत: उनमे सर्वाधिक मान्य सिद्धान्त यह है कि सज्ञाहारी पदार्थ जालिका सतर्की तन्त्र (reticular alertinig system) की कार्यविधि मे व्यतिकरण उत्पन्न कर देते है। ऐसा आक्सीजन-उद्ग्रहण (oxygen uptake) मे ह्रास होने तथा कोशि-कीय प्रकिण्वन-क्रिया (cellular enzyme acton) मे वाधा पडने के कारण होता है। चेतना-सम्बन्धी तन्त्रिकाकोशिकाए अत्यन्त विशेपकृत (specialised) होती हैं तथा फलस्वरूप शीघ्र प्रभावित होती हैं। इसके विपरीत शरीर के जैव काय (vital functions) से सम्बन्धित क्रियाएं अधिक देर तक अक्षुण्ण वनी रहती हैं। अधिक मात्रा मे संज्ञाहर औपधो के प्रयोग से जैव कार्य भी रुक जाते है। प्रोकेन (procaine) आदि स्थानीय संज्ञाहर औपधें एक अन्य प्रकार से अपना प्रभाव डालती है—ये जिन तन्त्रिका-तन्तुओ के सम्पर्क मे आती हैं, उनमे सोडियम व पोटाशियम आयनो (ions) का विनिमय रोक देती है तथा फलस्वरूप आवेग-सचरण (impulse transmission) मे वाधा उत्पन्न हो जाती है। जव ये औपधें विलयशील हाइड्रोक्लोराइड लवणो (soluble hydrochloride salts) के रूप मे प्रयुक्त की जाती है तो क्षारीय ऊतक-द्रवों (alkaline teissue fluids) के सम्पर्क मे आकर अपना सक्रिय वेस (active base) निर्मुक्त कर देती है। सचरण-अवरोध, तथा उसके फलस्वरूप होने वाले अगघात, की व्यापकता तथा अवधि प्रभावित तन्त्रिकातन्तुओ के आकार एवं प्रयुक्त औपधो के गुणो पर निर्भर होती है।

संज्ञाहरणपूर्व-परीक्षा, उपक्रम एवं औपधप्रयोग

परीक्षा

आपरेशन से पूर्व रोगी को शल्य-चिकित्सा के प्रभावों के प्रति सुरक्षित कर लेना आवश्यक होता है। इस प्रयोजन के लिए उसकी भली प्रकार शारीरिक परीक्षा कर लेनी चाहिए तथा, यदि आपरेशन आपत्कालीन न हो, शस्त्रकर्म-काल में उसकी सामान्य स्वास्थ्य-वृद्धि की ओर ध्यान देना चाहिए। तीव्र अथवा चिरकारी विवरशोथ। (sinusitis) और श्वसन-संक्रमण (respiratory infection) की उपस्थिति के लिए भी पूर्ण जांच करनी चाहिए तथा उनके होने पर उनकी उचित चिकित्सा करनी चाहिए। धूम्रपान करने वाले रोगियो को स्थायी या अस्थायी रूप से यह प्रवृत्ति त्याग देने के लिए प्रेरित करना चाहिए। इन सब साधनो द्वारा शल्योत्तर उपद्रवो के आघटन मे पर्याप्त कमी की जा सकती है।

ताल (rythm), ध्वनि, नाड़ी तथा रक्तदाब की अनियमितताओ के लिए हृदयवाहिकातन्त्र की परीक्षा करना आवश्यक होता है। हृद्शूल (angina pectoris), श्वासकृच्छ (dyspnoea), रक्ताधिक्यज हृद्पात (congestive heart failure) तथा हृद्धमनी रोग (coronary disease) की उपस्थिति विदित करने के लिए रोगी का विस्तृत इतिवृत्त प्राप्त करना चाहिए। यदि रोगी अन्तिम दो रोगों मे से किसी से ग्रस्त हो तो उस पर आपत्कालीन आपरेशन न करना ही श्रेयस्कर होता है। उपरिलिखित के अतिरिक्त अरक्तता तथा रक्तविकारों (blood dyscrasias) की सम्भावना को भी उपयुक्त परीक्षणों द्वारा अपवर्जित कर लेना चाहिए। जो रोगी आपरेशन के लिए प्रतीक्षा सूची मे हो उनकी व्याधियां यथासम्भव प्रतीक्षाकाल में ही दूर कर देनी चाहिए। ऐसा करने से अन्तिम क्षण तक कोई कठिनाई न होगी। तथा आपत्कालीन रक्ताधान देने या आपरेशन स्थगित करने की आवश्यकता न पडेगी।

रोगी के स्वास्थ्य के सम्बन्ध मे ध्यान देने योग्य अन्य बातें निम्नलिखित हैं—शारीरिक भार, पोपण-स्थिति, जल-स्थिति(hydration), मनोभावस्थिति, गत रोगवृत्त, हाल मे प्रयुक्त की गई औपधें (यथा कार्टिसोन, cortisone) तथा किसी औपध के प्रति अतिसुग्राहिता (hypersensitiveness)। जिन कारणो से रोगी का श्वास-मार्ग मुक्त रखने मे कठिनाई उत्पन्न हो सकती है, उन्हें भी स्मरण रखना चाहिए ; ये निम्नलिखित है—लघु ग्रीवा (shortneck), ग्रसनी-

स्थित अर्बुद, हनु-कुरचना (jaw malformation), तथा कृत्रिम या अदृढ दांत। मेरुदण्ड की विरूपता तथा शिराओ की अस्पष्टता की ओर भी ध्यान देना चाहिए। रोगी के उचित मूल्याकन के लिए कुछ विशेप परीक्षणो की आवश्यकता हो सकती है, यथा, वृक्कक्रिया-परीक्षण (renal function tests), यकृत-क्रिया-परीक्षण, मूत्र-विश्लेपण, रक्त-शर्करा-आमापन, न्यूनतम चयापचय दर (basal metabolic rate), ग्रीवा व वक्ष का एक्सरे चित्रण, तथा विद्युत्हृद्लेख (electro-cardiogram)।

उपक्रम (Preparation)

रोगी की शल्य-चिकित्सा तथा उसका उपक्रमात्मक प्रबन्ध मूलरूप मे शल्य-चिकित्सक का उत्तरदायित्व होता है। किन्तु वाछनीय है कि संज्ञाहारक भी शल्य-चिकित्सक-वर्ग तथा परिचारकवर्ग के साथ मिलकर कार्य करे। इस प्रकार वह रोगी की सामान्य अवस्था व विशेप समस्याओ से अवगत हो जायगा तथा उसके भोजन, पूर्व-औपध-प्रयोग (premedication) आदि महत्त्वपूर्ण पहलुओ के सम्बन्ध मे उपयुक्त निर्देश दे सकेगा।

जठर-अन्तर्वस्तु तथा वमन (Gastric contents and vomiting)

यह आवश्यक है कि आपरेशन थियेटर (operation theatre) मे आने से पूर्व रोगी का आमाशय रिक्त हो। सज्ञाहरण के समय अथवा उसके पश्चात् होनेवाली जटिलताओ का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारण वमन है; इसके कारण अनेक प्राणघातक, अल्पघातक तथा अघातक जटिलताएं हो सकती है। अत. आवश्यक है कि आपरेशन से 4-6 घटे पूर्व रोगी को मुख द्वारा कुछ सेवन न कराया जाए, तथा यदि उसने कुछ ग्रहण कर लिया हो तो 4-6 घटे वीतने पर ही आपरेशन किया जाए। यदि आपरेशन आपत्कालीन हो अथवा तुरन्त सम्पन्न करना हो तो अन्य उपाय न होने पर रोगी का आमाशय एक ग्रासनली-नलिका (oesophageal tube) की सहायता से खाली कर लेना चाहिए। इस नली का आकार पर्याप्त होना चाहिए, साधारण राइल नली (Ryles' tube) इस उद्देश्य के लिए अनुपयुक्त रहती है। इस सम्बन्ध मे ध्यान रखना चाहिए कि रोगी को सामान्य दशा अत्यन्त गम्भीर न हो तथा किसी स्थानिक विकार के कारण जठर की रिक्ति निपिद्ध न हो।

आपरेशन से पूर्व ग्लूकोज के सान्द्रित घोलो का प्रयोग पूर्णतः निरापद नही है, क्योकि अतिपरासारी (hypertonic) होने के कारण ये घोल परासरण (osmosis)

द्वारा आमाशय मे अतिरिक्त तरल खीच लेते है, जिसके कारण जठरनिर्गम-आकर्ष (pyloric spasm) हो जाता है तथा वमन होने लगता है। यदि आपरेशन मध्याह्न-पूर्व हो तो रोगी को प्रात:काल से ही खाने-पीने के लिए कुछ नही देना चाहिए; मध्याह्नोत्तर आपरेशनवाले रोगियो के लिए प्रातः हल्के नाश्ते के पश्चात् मुख द्वारा कुछ ग्रहण करना (oral intake) निषिद्ध होना चाहिए।

यदि रोगी को मलवद्धता (Constipation) न हो तथा आपरेशन बृहदान्त्र से सम्वन्धित न हो, तो रोगी को आपरेशन से पूर्व विरेचक औषधि अथवा एनीमा देनेकी आवश्यकता नही होती। स्तव्धता (shock) से ग्रस्त रोगियो के उचित उपचार का प्रवध करना चाहिए। इस के लिए रक्ताधान, विश्राम, कोष्णता (warmth) तथा मार्फीन (morphine) का प्रयोग किया जाता है। रोगी की व्यग्रता तथा बैचेनी घटाने के लिए उसे सांत्वना देनी भी लाभदायक होता है। निर्वल प्रशामको (mild sedatives), यथा फीनोवार्विटोन (phenobarbitone, 50 मिलीग्राम) व ब्यूटोवार्विटोन (butobarbitone, 300 मिलीग्राम), का प्रयोग भी किया जा सकता है। अरक्तता (anaemia), अतिअवटुता (hyperthyroidism), श्वसनीविस्फार (bronchiectasis), हृदयरोग, कामला (jaundice), मधुमेह, अतिरक्तदाव (hypertension) आदि के रोगियो की आपरेशन से पूर्व उचित चिकित्सा करना अत्यन्त आवश्यक होता है। इस सम्वंध मे सज्ञाहारक, कायचिकित्सक तथा शल्य-चिकित्सक मे परस्पर विचारविमर्श रोगी के लिए प्राय: हितकर सिद्ध होता है।

पूर्व-औषध प्रयोग (premedication)

सज्ञाहर औषध का प्रयोग करने से पहले रोगी को कतिपय अन्य औषधो का सेवन कराना आवश्यक होता है। इस पूर्व-औषधप्रयोग द्वारा निम्नलिखित प्रयोजन सिद्ध होते है

(1) रोगी का डर तथा बेचैनी दूर हो जाती है; आपरेशन से पूर्व प्राय: सभी व्यक्तियो में व्यग्रता तथा मानसिक अशान्ति पाई जाती है।

(2) शरीर की चयापचय दर तथा आक्सीजन की आवश्यकता घट जाती है।

(3) लाला ग्रथियो (salivary glands) तथा ऊर्ध्व श्वसनपथ (upper respiratory tract) मे होने वाले स्राव मे कमी आ जाती है।

यदि सात्वना द्वारा रोगी की मानसिक व्यग्रता शान्त कर दी गई हो तो उसे कम मात्रा मे पूर्व-औषध-प्रयोग की आवश्यकता होती है।

उपरिलिखित प्रयोजनो मे से प्रथम दो के लिए प्रशामको (sedatives) व

सुपुप्तिकरो (narcotics) का प्रयोग किया जाता है। इनके उदाहरण निम्न-लिखित है:—(1)बार्बिचुरेट औषधें (barbiturates);—नेम्बुटाल (nembutal, pentobarbitone sodium); सेकोनल (Seconal, quinalbarbitone sodium)5 mg./kg. शारीरिक भार।(2)अफीम के योग(opiates)—मार्फीन (morphine), 10-15 mg ; पेथिडीन (pethidine) 50-75 mg.; पेपेवेरेटम (papaveratum अफीम के समग्र एल्केलॉइड) 20-30 mg.—(3) प्रशान्तक औषधिया (tranquillizers, atraxics) मेथिलपेन्टिनोल (Methylpentynol), 500 mg ; मेप्रोबामेट (meprobamate) 250-500 mg. ; तथा फीनोथायजीन व्युत्पाद (phenothiazine derivatives), यथा, क्लोरप्रोमेज़ीन (chlorpromazine), 25-50 mg.।

स्रावो का उत्पादन कम करने के लिए परानुकम्पीरोधी (parasympatholytic) औषधो का प्रयोग किया जाता है। इन मे एट्रोपीन (atropine sulphate) 0.3.—0.6. mg. तथा हायोसीन(hyoscine hydrrobromide)0.4. mg. मुख्य है। उदाहरणत: उण्डुकपुच्छोच्छेदन (appendicectomy) के लिये एक साधारण प्रौढ व्यक्ति को आपरेशन से एक घटा पूर्व 10 mg. मार्फीन (marphine) और 0.4. mg. हायोसीन (hyoscine) का अधस्त्वचा (hypodermic) इंजेक्शन लगाया जाता है। टासिलोच्छेदन (tonsillectomy) के लिए 20 किलोग्राम (49 पौण्ड) वज़न के बच्चे को आपरेशन से 90 मिनट पूर्व मुखमार्ग द्वारा 100 mg सीकोनाल सोडियम (seconal sodium) तथा 45 मिनट पूर्व अधस्त्वचा इंजेक्शन द्वारा 0 6. mg एट्रोपीन दिया जा सकता है।

पूर्व-औपध-प्रयोग के समय रोगी की आयु, लिंग, शारीरिक स्वास्थ्य तथा औपध के गुणावगुणो आदि को दृष्टिगत रखना आवश्यक होता है। औपध-विशेप तथा उसकी मात्रा, प्रयोग-विधि एव प्रयोग-समय का चयन करते समय रोगी की विशेप आवश्यकताओ का भी ध्यान रखना चाहिए।

यदि पूर्व-औपध-प्रयोग बहुत शीघ्र किया जाए तो सज्ञाहरण आरम्भ करने से पूर्व ही उसका अधिकाश प्रभाव उतर जाता है। इसी प्रकार यदि बहुत विलम्ब मे पूर्व-औपध दी जाए तो संज्ञाहरण के लिए नियत समय पर पूरा प्रभाव प्रकट नही हो पाता। अनुचित पूर्व-औपध-प्रयोग के फलस्वरूप सज्ञाहरण के समय निम्नलिखित विविध कठिनाइया उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। प्रथम, पूर्णत: प्रशामित न होने के कारण रोगी को मानसिक आघात पहुंच सकता है। ऐसा बच्चो मे विशेप रूप से होता है। द्वितीय, संज्ञाहारक औपध का प्रयोग अधिक मात्रा मे करना पडता है तथा फलस्वरूप मस्तिष्क के उच्च

केन्द्रो (higher centres) का अवनमन हो जाता है और शल्योत्तर उपद्रवो की सम्भावना वढ़ जाती है। इसके अतिरिक्त संज्ञाहरण के प्रेरण (induction of anaesthesia) में वहुत देर लगती है। तथा रोगी मे संघर्ष, स्वरयंत्र-आकर्ष (laryngeal spasms) या वमन की प्रवृत्ति पाई जा सकती है। अत में, ग्रसनी अथवा श्वसनमार्गो में स्राव एकत्रित होकर गैस-विनिमय मे वाधा डाल सकते हैं तथा इस प्रकार अनाक्सिता (anoxia) उत्पन्न हो सकती है।

आधार-सुपुप्ति (Basal Narcosis)

आधार-सुपुप्ति अथवा मलाशय-संज्ञाहरण (rectal anaesthesia) का प्रयोग आज से लगभग 20 वर्ष पूर्व प्रचलित था, किन्तु सार्वदेहिक संज्ञाहरण की विधि मे विशेप कुशलता प्राप्त होने के कारण अब कम हो गया है। पूर्व-औपध मे यह विधि गुदीय प्रयोग (rectal medication) द्वारा अचेतनता (unconsciousness) उत्पन्न करने के लिए प्रयुक्त की जाती थी। आजकल इसका प्रयोग केवल मंद-अभिश्वसन-संज्ञाहरण (light inhalation anaesthesia) की सहायतार्थ पूर्वऔपधप्रयोग द्वारा सुपुप्ति (hypnosis) उत्पन्न करने के लिए किया जाता है। आधार सुपुप्तिकरो के मुख्य उदाहरण तैल मे ईथर (ether in oil), ब्रोमेथोल (bromethol, avertin) पेरेल्डिहाइड (paraldelyde) तथा थायोपेन्टोन (thiopentone) हैं।

अंत:शिरा-संज्ञाहरण (Intravenous Anaesthesia)

अंत:शिरा-संज्ञाहरण का प्रयोग आज संसार मे अत्यधिक किया जाता है। प्रतिवर्ष करोडो रोगी इससे लाभ उठाते हैं। वास्तव मे लगभग सभी वय के रोगियों मे वडे-वडे आपरेशनो के संज्ञाहरण-प्रेरण (induction) के लिए अंत:शिरा-संज्ञाहर प्रयुक्त किए जाते हैं। इनके प्रयोग द्वारा संज्ञाहरण का प्रेरण तथा पूर्वस्थिति की पुन:प्राप्ति, (recovery) दोनो ही रोगी के लिए कम कप्टसाध्य हो गए हैं। इन पदार्थो के इतिहास मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटनाएं 1932 मे वीस (Weese) द्वारा एविपान (eivpan) का प्रयोग तथा 1934 में लंडी (Lundy) द्वारा पेन्टोथाल (Pentothal) का प्रयोग था किन्तु इससे भी लगभग 60 वर्ष पूर्व, 1872 मे, यह विधि हनुस्तम्भी आकर्पो (tetanic spasms) के नियन्त्रण के लिए क्लोरल हाईड्रेट (chloral huyhrahte) के अंत:शिरा इंजैक्शन के रूप में प्रयुक्त की जा चुकी थी।

पदार्थ

थायोपेन्टोन सोडियम (Pentothal, Abbott; Intraval, May & Baker) साधारणतया यह पैन्टोथाल कहा जाता है।

अत.शिरा सज्ञाहरो मे इसका प्रयोग सबसे अधिक किया जाता है। यह O.5 तथा 1 ग्राम पाउडर के एम्पूलो (ampoules) के रूप मे आता है; इजेक्शन से तत्काल पूर्व इस पाउडर को आसवित जल मे मिलाकर 2.5—5% घोल बना लिया जाता है। इस घोल का pH लगभग 10 होने के कारण यह क्षारीय (alkaline) होता है। यदि इक्जैशन के समय दुर्घटनावश यह घोल शिरा से बाहर के ऊतको मे चला जाता है तो उससे क्षोभ (irritateon) उत्पन्न हो जाता है। थायोपेन्टोन के प्रयोग से प्रेरण सुगम, तीव्र तथा निर्बाध होता है तथा लगभग 40-60 सेकड मे चेतना लुप्त हो जाती है। 60 किलोग्राम वजन के एक साधारण स्वस्थ व्यक्ति के प्रेरण अथवा अल्प-कालीन (कुछ मिनट) सज्ञाहरण के लिए लगभग 500 mg. थायोपेन्टोन पर्याप्त होता है।

थायोपेन्टोन के केवल ताजे तैयार किए गए घोल का प्रयोग करना चाहिए। इजैक्शन से पूर्व इस बात का निश्चय कर लेना आवश्यक है कि श्वासमार्ग मे कोई अवरोध तो नही है। इजैक्शन धीरे-धीरे लगाना चाहिए, उस समय रोगी के श्वास तथा परिसंचरण का विशेप ध्यान रखना आवश्यक हे; तत्सम्बन्धी कोई जटिलता प्रकट होते ही इजैक्शन रोक देना चाहिए। थायोपेन्टीन मूलतः एक सुपुप्तिकर (narcotic) है, पीडाहर (analgesic) नही। गहरी सुपुप्ति की अवस्था मे प्रतिवर्त्ती क्रिया (reflex activity) विलुप्त हो सकती हे तथा शस्त्रकर्म करना सम्भव हो सकता है, किन्तु थायोपेन्टोन के एकल प्रयोग द्वारा अत्यधिक गहरा अथवा दीर्घकालीन संज्ञाहरण उत्पन्न करना सुरक्षापूर्ण नहीं होता। वास्तव मे थायोपेन्टोन (thiopentone) की अधिकतम वयस्क मात्रा 1 ग्राम से अधिक नही होनी चाहिए। अत्यन्त न्यूनाधिक आयु, स्तब्धता (shock), जीर्ण शरीर व दुर्बल स्वास्थ्य के व्यक्तियो तथा दाह, (burns) दमा (asthma), अरक्तता, हृदय-विकार, ग्रीवासम्बन्धी शोथ, व पोर्फाइरिया (porphyria) आदि के रोगियो मे इस औपध का प्रयोग विशेप सावधानीपूर्वक करना चाहिए।

अन्य अंत.शिरा-पदार्थ

अन्य अत शिरा सज्ञाहरो के उदाहरण निम्नलिखित है—हैक्सोबार्बिटोन

(hexobarbitone; Evipan; Cyclonal Sodium), थायलबार्विटोन (Thial-barbitone; Kemithal), थायमिलाल (thiamyal, Surital Sodium), ब्यूथेलिटोन सोडियम (buthalitone Sodium, Transithal); इनके अतिरिक्त कुछ अबार्विटुरेट पदार्थ (non-barbiturates) भी इस श्रेणी मे आते है, यथा वायड्रिल, (Viadril), जो एक स्टीरॉयड (steraid) होता है ।
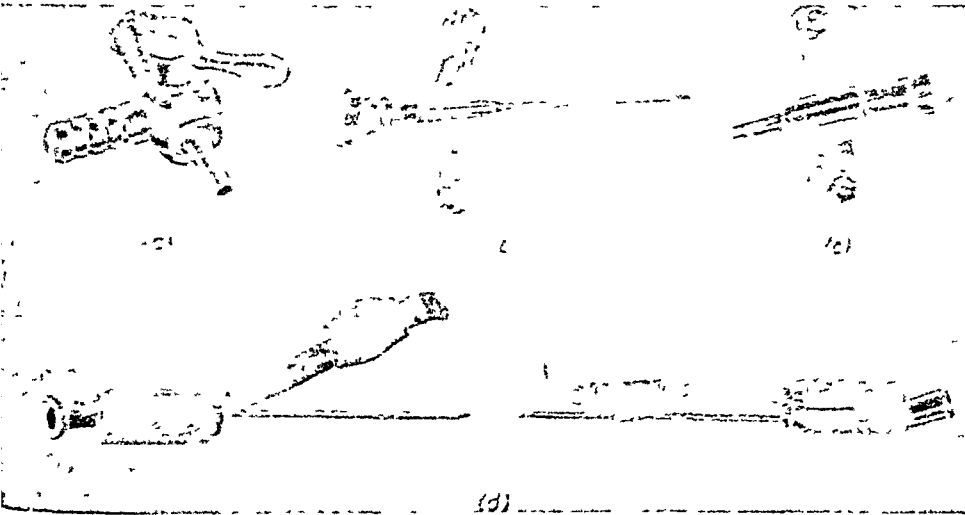
चित्र 281—(a) 3-मार्गी टैप (b) गोर्ध सूचिका (c) गोर्ध सूचिका का माउन्ट (d) मिचेल की अन्त.शिरा-सूचिका

विधि तथा उपकरण

यह पहले ही कहा जा चुका है कि अंत:शिरा संज्ञाहरण की विधि जितनी सरल है उतनी ही भयप्रद भी है; अतएव इन पदार्थों के संकेतो (indications) निषेधों (contraindications) तथा प्रयोग के साधनों का ज्ञान होना आवश्यक है । ये साधन निम्नलिखित है । प्रत्यक्ष शिरा इजैक्शन देने के लिए प्राय: 20ml आकार की पार्श्व के नौज़िल वाली ल्यूएर लोक सिरिंज (side nozzle Luer-Lok syringe) के साथ 4 cm, लम्बाई की 22-गौज सूचिका (22 gauge needle) का प्रयोग किया जाता है । यदि औपध का प्रयोग आंशिक मात्राओ (fractional doses) मे करना हो तो कुछ विशेप प्रकार की सूचिकाओ (चित्र 281) का प्रयोग किया जा सकता है, यथा गोर्ध की डायफ्राम सूचिका (Gardh's diaphragm needle) तथा मिचेल की स्वयं-सील सूचिका

(Mitchell's self sealing needle)। इसके अतिरिक्त आधान (infusion) के लिए प्रयुक्त रबड नली मे इजैक्शन लगाए जा सकते है, त्रिमार्गी स्टापकाक (3-way stop-cock) का प्रयोग किया जा सकता है, अथवा थायोपेन्टोन के 0.1—0.2% घोल का नियन्त्रित अविरत आधान (controlled continuous drip) दिया जा सकता है।

मूलत: अत शिरा सञ्ज्ञाहरण की प्रविधि अन्य अत:शिरा इजैक्शनो की-सी ही होती है। किन्तु इस विषय मे निम्नलिखित बातो का ध्यान रखना आवश्यक है। जिस शिरा मे इजैक्शन लगाया जाय वह किसी मुख्य धमनी अथवा तन्त्रिका से पृथक्-स्थित होनी चाहिए ; त्वचा को भली प्रकार सदूपणरहित कर लेना चाहिए , औषधि प्रविष्ट करने से पूर्व रक्त का निर्वाध प्रवाह देखकर निश्चित करलेना चाहिए कि सूचिका शिरा मे ही है। यह ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है कि औषध शिरा के बहिर्वर्ती क्षेत्र मे अथवा किसी धमनी मे कदापि प्रविष्ट न हो जाए। धमनी-प्रवेश के फलस्वरूप इजैक्शन-स्थल से दूर के प्रदेश मे वाहिका रोध (vascular occlusion) तथा शाखा-कोथ की उत्पत्ति हो सकती है।

अत:शिरा सञ्ज्ञाहरण के सम्बन्ध मे निम्नलिखित दो बाते स्मरणीय है। प्रथम, यद्यपि इस अध्याय मे संज्ञाहर औषधो की प्रयोग-मात्राओ का उल्लेख किया गया है, प्रत्येक रोगी की औषध-आवश्यकता पृथक् होती है ; इस आवश्यकता एव उसके साधारण स्वास्थ्य को दृष्टिगत रखते हुए ही इन औषधो का प्रयोग करना चाहिए। द्वितीय, प्रयुक्त औषध का कुछ अश शरीर के वसा-स्थलो मे निचित हो जाता है तथा इन स्थलो से धीरे-धीरे मुक्त होता रहता है। फलस्वरूप एक बार साधारण स्थिति प्राप्त कर लेने के पश्चात् भी रोगी पुन: सुपुप्ति (narcosis) अथवा स्मृतिलोप (amnesia) की स्थिति को प्राप्त हो सकता है। अत: इन औषधो के प्रयोग के पश्चात् 12-18 घटो तक रोगी को साइकल, कार आदि चलाने अथवा अकेले सडक पर चलने का निषेध है।

अभिश्वसनीय सार्वदैहिकसंज्ञाहरण
(Inhalational General Anaestheia)

सञ्ज्ञाहरण के लिए प्रयुक्त विधियो मे सर्वप्रथम विधि अभिश्वसन-सञ्ज्ञाहरण ही थी, तथा पिछले 110 वर्षो मे यह पर्याप्त महत्त्वपूर्ण रही है। आज भी इसका महत्त्व पूर्ववत् ही है, तथापि इसके लिए प्रयुक्त साधनो तथा उपकरणो मे नवीनता आ गई है।

इस विधि के लिए प्रयुक्त पदार्थो को दो वर्गो मे बांटा जा सकता है—संज्ञाहर गैसें (anaesthetic gases) तथा वापष्शील द्रव संज्ञाहर।

संज्ञाहर गैसें

प्राय: प्रयुक्त होने वाली संज्ञाहर गैसें इस्पात के सिलिंडरों (cylinders) में दवाव के अंतर्गत द्रव अवस्था में रखी जाती है। यह दवाव उनके भौतिक गुणो पर निर्भर होता है। किन्तु आक्सीजन को साधारण ताप पर द्रवीभूत करना सम्भव नही होता, अत: यह गैस के रूप में ही सिलिंडर मे भरी जाती है। इसका दवाव लगभग 2000 lb/in^2 रखा जाता है।

विभिन्न गैसों के सिलिंडरों को एक अतर्राष्ट्रीय नियम के अनुसार विभिन्न प्रकार से रंगा जाता है। प्रत्येक विद्यार्थी को इन वर्ण-विशेपों का ज्ञान होना आवश्यक है, अन्यथा त्रुटिवश अन्य गैस का प्रयोग प्राणघातक हो सकता है।

चिकित्सा सम्वन्धी गैस सिलिंडरो की पहचान तीन प्रकार से की जा सकती है—(1) रग द्वारा, (2) सिलिंडर ग्रीवा पर उभरे हुए गैस के नाम अथवा चिह्न द्वारा, (3) सिलिंडर पर लगे एक विवरणात्मक लेविल द्वारा। प्राय: प्रयुक्त होने वाली पाच गैसों के सिलिंडरो के रग चित्र 282 मे दिखाए गए है।
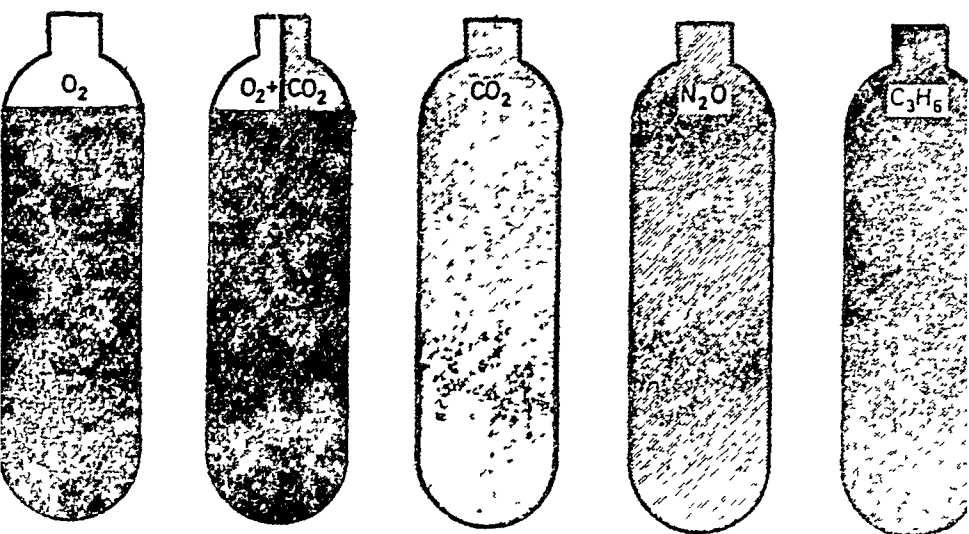
282—अधिक प्रयुक्त वाली चिकित्सा संवधी गैसों के सिलिंडरों के रंग-सकेत (colour code) दर्शक चित्र

नाइट्रस आक्साइड (Nitrous Oxides)

इसे हास-गैस (laughing gas) भी कहते है। क्लिनिकल प्रयोग के लिए यह चमकदार नीले (french blue) रग के स्टील के सिलिडरो मे द्रवावस्था मे उपलब्ध होती है । द्रव के ऊपर विद्यमान गैस का दवाव सदा एकसमान रहता है, अत: सिलिडर-निकास पर लगा दवावमापक (prsssure gauze) सिलिडर मे शेप अतर्वस्तु (contents) की मात्रा का संकेत नही करता।

नाइट्रस आक्साइड श्वसनमार्ग को क्षुब्ध नही करता, यह अज्वलनशील (non-in-flammable) होता है, तथा, यदि अल्पआक्सीयता (hypoxia) अथवा CO_2 अवधारण (CO_2 retention) न हो तो विपालुताहीन होता है। शीघ्र प्रेरण (induction) तथा शीघ्र-पुन: चेतना प्राप्ति (recovery) नामक गुणो के कारण सज्ञाहर गैस के रूप मे इसका वहुत उपयोग किया जाता है। कुछ अन्य सज्ञाहर गैसो की अपेक्षा कम शक्तिशाली होने के फलस्वरूप इसका प्रयोग प्राय: थायोपेन्टोन (thiopentone), ईथर अथवा ट्राइलीन (trilene) के सयोग मे किया जाता है। किन्तु दात निकालने (dental extraction), विद्रधि-छेदन (abscess incision) आदि लघु शल्पकर्मो के लिए केवल इस ही का प्रयोग भी किया जा सकता है।

साइक्लोप्रोपेन (Cyclopropane)

साइक्लोप्रोपेन एक विस्फोटक, शक्तिशाली, अक्षोभक सज्ञाहर गैस है। इसे नारगी रग के छोटे आकार के सिलिडरो मे, मध्यम दवाव पर, द्रव के रूप मे भरा जाता है। विस्फोटक होने के कारण इसे संवृत चक्र (closed circuit) मे प्रयुक्त किया जाता है। गैस ज्वलनशील होती है, अत. अग्नि, ज्वाला अथवा विद्युत-कॉटरी (electro-cautery) की उपस्थिति मे इसका प्रयोग आपद्पूर्ण होता है। आयतनानुसार आक्सीजन मे इसका (10-15%मिश्रण सज्ञाहरण की दृष्टि से प्राय: सतोपजनक रहता है। यदि अत्यधिक सान्द्रित मिश्रण का प्रयोग किया जाए तो श्वसन-अवनमन (respiratory depression) तथा साइक्लोप्रोपेन-स्तब्धता (cyclopropane shock) आदि की स्थिति उत्पन्न हो सकती है।

वाष्पशील द्रव संज्ञाहर (Volatile Liquid Anaesthetics)

ईथर (Ether)

आपरेशन कक्ष मे आज से सौ वर्ष पूर्व सफल रूप में प्रयुक्त सर्वप्रथम

सज्ञाहर पदार्थ ईथर था, अतः यह स्वाभाविक ही है कि इसे विशेष महत्त्व प्रदान किया जाए। आज भी यह एक निरापद तथा अमूल्य सज्ञाहर है। यदि कुशल सज्ञाहारक उपलब्ध न हो तो ईथर का प्रयोग अपेक्षाकृत सुरक्षित रहता है। यह एक वर्णहीन, अत्यधिक वाष्पशील (volatile) तथा ज्वलनशील द्रव होता है। इसका क्वथनांक (boiling point) शरीर ताप से कम होता है। अल्प विषाक्त होने के कारण विभिन्न आयु के रोगियो तथा बच्चो के लिए भी इसका प्रयोग किया जा सकता है। ईथर का वाष्प क्षोभकारी होता है तथा उसका अभिश्वास करना कठिन होता है, अंतःप्रेरण (induction) की गति मंद रखना आवश्यक होता है। क्षोभ के कारण बलवान रोगियो में श्वास-अवधारण (breath holding), स्वरयंत्र आकर्ष (laryngeal spasm), वमन, संघर्ष (struggling) आदि लक्षण उत्पन्न हो सकते है। ईथर वाष्प का 10/20% आयतनानुसार मिश्रण प्रभावकारी सिद्ध होता है। ईथर का वाष्पन स्वयं रोगी की श्वास-क्रिया द्वारा अथवा ईथर की सतह पर से अन्य गैसो को प्रवाहित करने के द्वारा किया जा सकता है।

क्लोरोफार्म (Chloroform)

यह एक शक्तिशाली, अविस्फोटक, सस्ता तथा अपेक्षाकृत अक्षोभक द्रव सज्ञाहर है। द्वितीय महायुद्ध से पूर्व यह बहुत लोकप्रिय था, किन्तु आजकल कतिपय देशो तथा गिने-चुने चिकित्साकेन्द्रो के अतिरिक्त अन्य सब स्थानो पर इसे त्यागा जा चुका है। कारण यह है कि इसके फलस्वरूप हृद्-वाहिकातंत्र (cardiovascular system) पर कुछ अवाछनीय प्रभाव पड़ते है तथा सज्ञाहरण की प्रक्रिया मे मृत्यु तक हो सकती है। क्लोरोफार्म के अनुषगी प्रभावो (side-effects) मे निम्नलिखित मुख्य हैं—रक्तदाब-पात (fall of blood pressure) हृद्विराम (cardiac arrest), यकृत क्षति (liver demage)।

1-2% वाष्प सान्द्रता(vapour concentration)मे क्लोरोफार्म का प्रयोग पर्याप्त प्रभावशील रहता है। इस पदार्थ का प्रयोग करते समये खुले मास्क (open mask) का प्रयोग करना चाहिए; आक्सीजन का प्रयोग भी पर्याप्त मात्रा मे करने तथा श्वासमार्ग को अवरोध रहित रखने की ओर ध्यान देना आवश्यक है।

एथिल क्लोराइड (ethyl chloride)

एथिल क्लोराइड एक शक्तिशाली द्रव सज्ञाहर है जिसको 30-50 ml. की काच की बोतलो मे मध्यम दबाव पर भरा जाता है। स्थानीय वेदनाहरण

(हिमीभवन, freezing) के लिए इसे एक तीक्ष्ण धार के रूप में त्वचा पर छिड़का जाता है, अभिश्वसन संज्ञाहरण (inhalation anaesthesia) के लिए गौज (gauze) से ढके आनन मास्क (face mask) पर डाला जाता है।

इस विधि से प्रेरण (induction) तथा पुनःप्राप्ति (recovery), दोनों ही शीघ्र गति से सम्पन्न हो जाते हैं, अतः लघु शल्यकर्मों के लिए इसका प्रायः प्रयोग किया जाता है। एक-दो मिनट में ही रोगी की चेतनता लुप्त हो जाती है, तथा लगभग इतना ही समय पुनः चेतना प्राप्त करने में लगता है। दीर्घ-कालीन आपरेशनों के लिए एथिल क्लोराइड का प्रयोग करना आपद्पूर्ण रहता है, क्योंकि अत्यधिक शक्तिशाली होने के कारण यह औषध अतिमात्रा तथा परिसंचरण पात (circulatory collapse) की स्थिति उत्पन्न कर सकती है।

ट्राईक्लोरएथाइलीन ; ट्राइलीन (trichloroethylene ; trilene)

यह एक मंद वाष्पशील वर्णहीन संज्ञाहर द्रव है, किन्तु सहज में पहचानने के लिए इसमें नीला रंग मिला दिया जाता है। इसमें अत्यधिक वेदनाहरण (analgesic) शक्ति होती है तथा फलस्वरूप इसका प्रयोग ऐसे आपरेशनों में सर्वोपयुक्त रहता है जिसमें पूर्ण पेशी-शिथिलन (muscular relaxation) की आवश्यकता नहीं होती। लघु शल्यकर्मों तथा प्रसूतिकर्मों (obstetric procedures) के लिए यह एक अत्यन्त उपयोगी पदार्थ है।

ताप तथा क्षार की उपस्थिति में ट्रायलीन (trilene) कतिपय विषाक्त उत्पादों में विघटित हो जाता है। इसका प्रयोग संवृत चक्र (closed circuit) में नहीं करना चाहिए। इसकी प्रभावकारी सान्द्रता (effective strength) 0 5—1·5 प्रतिशत है। अल्प वाष्पशीलता के कारण खुले मास्क (open mask) में इसका प्रयोग नहीं किया जा सकता। वेदनाहीन प्रसूति के लिए इसकी अल्प मात्रा (0·3—0 5 प्रतिशत) के प्रयोग ही से सार्वदैहिक वेदना-हरण (general analgesia) हो जाता है।

हैलोथेन (halothane ; fluothane)

वाष्पशील संज्ञाहरों की श्रेणी में यह नवीनतम पदार्थ है ; निरापद, शक्ति-शाली व अविस्फोटी होने के फलस्वरूप यह पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त कर रहा है। बहुमूल्य तथा सशक्त होने के कारण इसका प्रयोग विशेष वाष्पकों (vaporizers) को उसमें मिलाकर करना चाहिए जिससे उपयुक्त सान्द्रता के वाष्प (vapour concentration) मिल सके। 1–2 प्रतिशत सान्द्रता के वाष्प मध्यम-

गहरा संज्ञाहरण उत्पन्न कर देते हैं।

डाईविनाइल ईथर (divinyl ether ; vinesthene)

विनेस्थीन एक क्षोभरहित, स्वच्छ द्रव है। यह 25 ml. की शीशियो अथवा 3 और 5 ml. के एम्पूलो (ampoules) के रूप मे आता है। यह एथिल क्लोराइड की भांति ही शीघ्र प्रेरण उत्पन्न करता है, किन्तु उससे अधिक निरापद तथा कम अप्रिय होता है। ग्रेट व्रिटेन मे बच्चो के संज्ञाहरण के लिए इसका व्यापक प्रयोग होता है, किन्तु उष्ण देशो मे ऐसा सम्भव नहीं है, क्योंकि यह पदार्थ अत्यधिक वाष्पशील तथा अस्थिर होता है।

अभिश्वसन-सज्ञाहरण के प्रयोग की विधियां (Methods of Administration of Inhalation Anaesthesia)

विवृत विधि (open method)

इस विधि मे शिमलवुश-मास्क (Schimmelbusch's mask) का प्रयोग किया जाता है जो एक धातु के फ्रेम का बना होता है। इस पर गॉज़ (gauze) की अनेक तहे लगाकर इसे मुख तथा नाक पर रख दिया जाता है। रोगी की आंखो तथा उनकी समीपवर्ती त्वचा को सुरक्षा के हेतु ढक दिया जाता है। जब गॉज़ पर द्रव संज्ञाहर पदार्थ डाला जाता है तो श्वासक्रिया के प्रभाव से वह वाष्पित हो जाता है। किन्तु वाष्पनक्रिया निश्वसन के समय तथा अन्य प्रकार से प्राकृतिक रूप मे भी होती रहती है, अतएव इस विधि मे संज्ञाहर पदार्थ का अपव्यय होता है। ईथरवाष्प वायु की अपेक्षा भारी होने के कारण भूमि की ओर एकत्र होता है, फलस्वरूप कमरे मे कोई प्रज्वलन साधन उपस्थित होने पर विस्फोट की आशका रहती है। किन्तु विवृत विधि का एक निश्चित लाभ यह है कि वह सवृत चक्र (closed circuit) की तुलना मे निरापद है क्योंकि खुला ईथर आपद्जनक सान्द्रता नही प्राप्त कर पाता। साथ ही यह विधि अत्यन्त सरल और सस्ती भी है, अत. विद्यार्थियों को इसका ज्ञान होना अपेक्षित है।

अर्धसंवृत (semiclosed) या आंशिक पुन.श्वसन (partial rebreathing) विधि

इस विधि मे रोगी निश्वसित वायु का कुछ अंश पुनःप्रश्वास द्वारा ग्रहण

करता है, तथा शेप अश एक निश्वसन वाल्व (expiratory valve) द्वारा निकल कर वायुमडल मे मिल जाता है। पुन.श्वसन (rebreathing) की मात्रा इस पर निर्भर होती है कि प्रवाह-चक्र मे कितनी ताजी गैस प्रविष्ट होती है। यदि यह मात्रा अधिक हो तो पुनःश्वसन बहुत कम होता है।

इस प्रणाली का सर्वाधिक प्रचलित साधन बायल के उपकरण (Boyle's apparatus) का प्रयोग है। इस उपकरण मे द्रव सज्ञाहर का वाप्पन उसके तल पर से या उसके भीतर से अन्य गैसो के प्रवाहन द्वारा किया जाता है। आगे चलकर इस विपय मे और अधिक बताया जायगा।

अपुन श्वसन-विधि (non-rebreathing method)

पुन श्वसन को रोकने के लिए पुन श्वसनरोधी वाल्व (Ruben's, Slater-Steven's, Drager's valve) का प्रयोग किया जाता है तथा गैसप्रवाह (gas flow) अधिक रखा जाता है। इस प्रकार निश्वास पूर्णतः निप्कासित हो जाता है और शरीर मे कार्बनडाइआक्साइड का सग्रह नही हो पाता।

सवृत्त चक्र (closed circuit) या पूर्ण पुन·श्वसन (total rebreathing) विधि

इस विधि मे निश्वासित वायु को सोडा लाइम (soda lime) मे से प्रवाहित करके उसे कार्बनडाइ आक्साइड से मुक्त कर दिया जाता है तथा उसके स्थान पर आक्सीजन मिला दी जाती है। इस वायु मे रोगी निरन्तर श्वसन करता रहता है। सिद्धान्त रूप मे इस परिस्थिति मे अतिरिक्त सज्ञाहर की आवश्यकता बिल्कुल नहीं होनी चाहिए, किन्तु रिसने (leakags), रक्त-हानि (blood loss) होने तथा चयापचयी उत्सर्ग (metabolic excretion) होने के फलस्वरूप किंचित् मात्रा की आवश्यकता फिर भी पडती है। सवृत प्रणाली द्वारा सज्ञाहरण दो प्रकार से किया जा सकता है—अग्र-पश्च प्रविधि (to & fro technique) तथा चक्रीय अवशोपण प्रविधि (circle absorption technique)।

अग्र-पश्च कार्बनडाइआक्साइड अवशोषण-प्रविधि (चित्र 283)

निश्वासित गैसें सोडा लाइम के कनस्तर मे से होती हुई संग्रह के थैले मे पहुचती है और वहा से पुन: उसी कनस्तर मे से होती हुई श्वास के साथ फुप्फुस मे
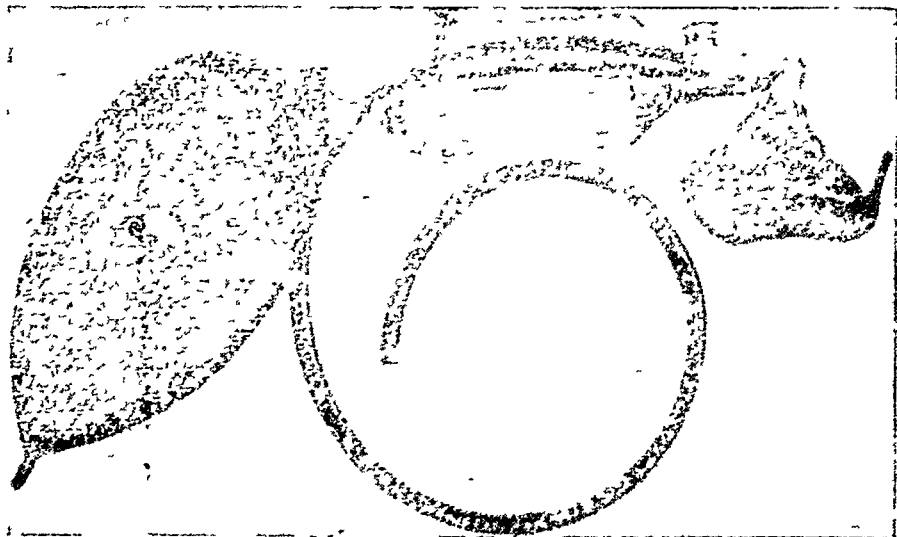
चित्र 283—वाटर्स (water's) का अग्र-पश्च कार्बनडाई-आक्साइड अवशोषक उपकरण
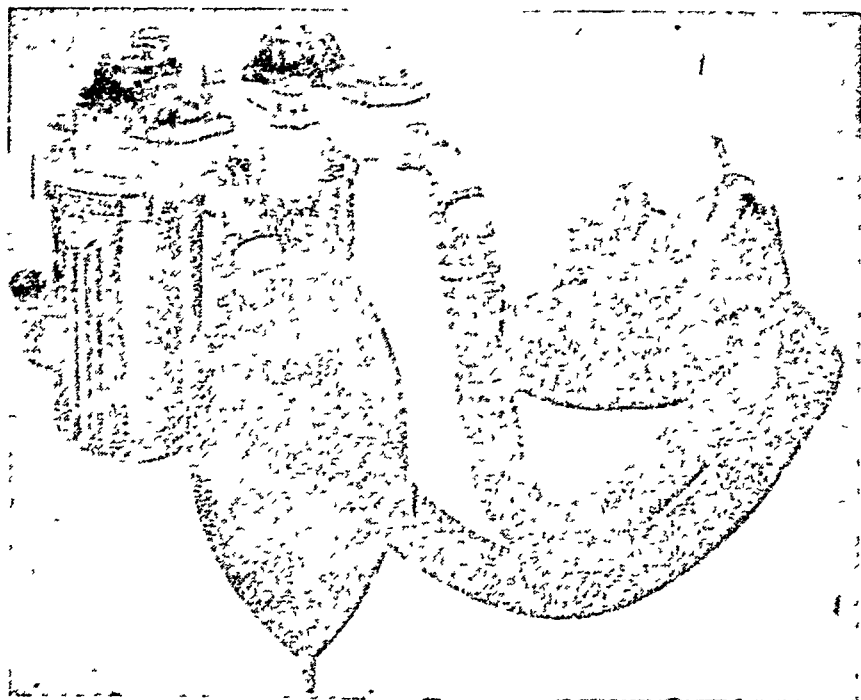
चित्र 284—वौयल का कार्बनडाइआक्साईड अवशोषक (Mark II)

पहुंच जाती है। इस प्रकार पुनःश्वसन से पूर्व वायु दो वार सोडा लाइम पर से निकलती है।

चक्रीय अवशोषक (circle absorber) द्वारा कार्वनडाईग्राक्साइड अवशोषण-प्रविधि (चित्र 284)

इस विधि मे रोगी एक V-आकृति के सयोजक (V-shaped connection) द्वारा दो नलियो से सम्वद्ध होता है ; निश्वसित वायु एक ट्यूब मे निकल जाती है तथा प्रश्वास वायु दूसरी ट्यूव मे से रोगी के फुप्फुसो मे पहुंचती है। एक-मार्गी वाल्वो से युक्त इस विधि का लाभ यह है कि निश्वसित (expired) तथा प्रश्वसित (inspired) गैसो का परस्पर मिश्रण नहीं हो पाता। निश्वसित वायु निश्वास नली मे पहुंच कर सोडा लाइम पर से निकलती है तथा सज्ञाहरण उपकरण से आने वाली ताजी गैसों के साथ ही प्रश्वास-नली (inspiration tube) मे प्रविष्ट हो जाती है। इस विधि मे गैसें सोडा लाइम पर से एक वार ही प्रवाहित होती है।

सज्ञाहरण की ग्रवस्थाएं तथा चिह्न
(Stages & Signs of Anaesthesia)

संज्ञाहरण की विभिन्न अवस्थाओ तथा तद्विपयक चिन्हो (चित्र 285) का प्रथम विस्तृत वर्णन 1920 मे गुडेल (Guedel) ने किया था। चिकित्सा-शास्त्र में आज भी इन्हे पढाया जाता है, किन्तु इनका महत्त्व आजकल घट गया है। कारण यह है कि केवल वाष्पशील अथवा गैसीय पदार्थों द्वारा अभिश्वसन-सज्ञाहरण मे तो इनका अध्ययन भली प्रकार किया जा सकता है, किन्तु आजकल अतःशिरा वार्विटुरेटो (intravenous barbiturates) तथा शिथिलको (relaxants) के सहप्रयोग के कारण संज्ञाहारक (anaesthetist) कदाचित ही इनका प्रेक्षण कर पाता है ; सज्ञाहरण मे इतना कम समय (लगभग एक मिनट) लगता है कि विभिन्न अवस्थाओ का अध्ययन नहीं किया जा सकता।

प्रथम ग्रवस्था (वेदनाहरण की ग्रवस्था)

प्रथम अवस्था (first stage, stage of analgesia) प्रेरण (induction) के पूर्वभाग में पाई जाती है। इस अवस्था मे रोगी सहयोगपूर्ण तथा सचेत रहता है किन्तु उसमे किंचित वेदनाहरण उत्पन्न हो जाता है। प्रसव वेदना तथा कुछ

ड्रेसिंगों (dressings) के समय होने वाली तीव्र वेदना को घटाने के लिए उसका प्रयोग उपयोगी होता है।
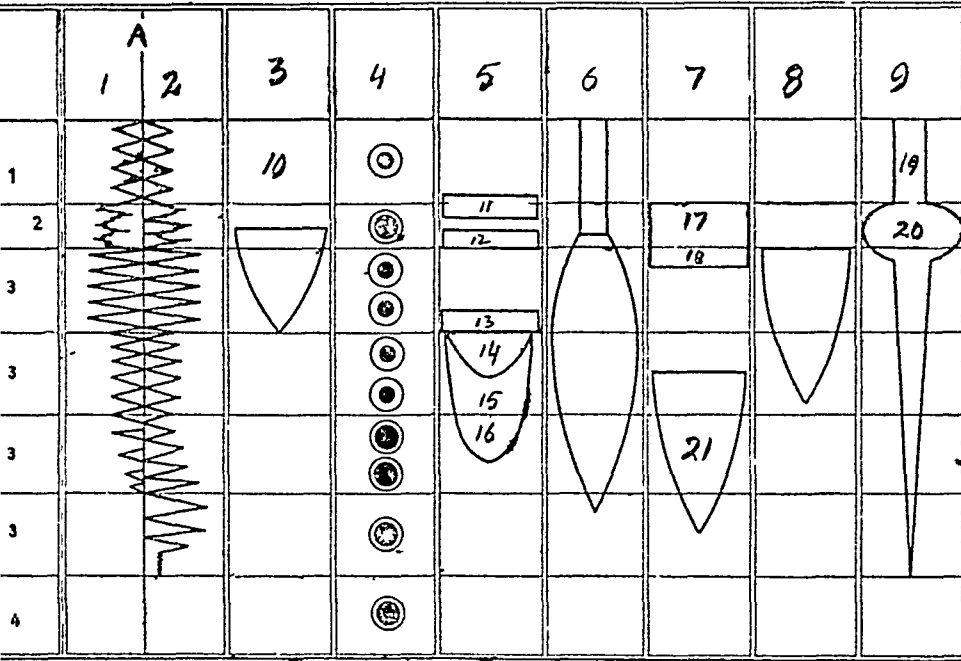
चित्र 285—संज्ञाहरण की अवस्थायें और चिह्न

चिन्ह

श्वसन मे कोई अंतर नही आता तथा पेशीतान (muscle tone) प्रसामान्य रहती है। नेत्रो मे भी केवल इतना परिवर्तन आता है कि इस अवस्था के उत्तरार्ध मे पक्ष्म प्रतिवर्त (eyelash reflex) लुप्त हो जाता है।

द्वितीय अवस्था (प्रलाप अथवा उपचेतन उत्तेजना की अवस्था)

द्वितीय अवस्था (second stage, stage of delirium or subconscious excitement) मे रोगी सहयोगपूर्ण तथा वार्तालाप योग्य नही रहता। वह प्राय: जोर लगाना (straining), संघर्ष (struggling), खासी तथा वमन आदि लक्षण प्रदर्शित करता है। इस अवस्था मे पेशीतान की अधिकता तथा ऐच्छिक नियन्त्रण (voluntary control) के लोप के कारण शस्त्रकर्म करना सम्भव नही होता।

चिन्ह

इनमे मुख्य निम्नलिखित है—श्वास रोक लेना (breath holding) अनियमित श्वसन, विस्फारित तारा (नेत्र) (dialated pupils), अस्थिर नेत्र-गोलक, लुप्त पक्ष्मप्रतिवर्त तथा नेत्रच्छद प्रतिवर्त, अतिसवेदी (hypersensitive) ग्रसनी, स्वरयन्त्र तथा वमन प्रतिवर्त एव वर्धित व सामजस्यहीन पेशी-तान ।

तृतीय अवस्था (शल्य संवेदनाहरण की अवस्था)

इस अवस्था मे अधिकाश शस्त्रकर्मों को सम्पन्न करना सम्भव होता है । यह अवस्था चतुर्थ स्तर मे जैव मेरुशीर्ष केन्द्रो (vital medullary centres) के अवनमन तथा घात (paralysis) के फलस्वरूप होने वाले पूर्ण श्वासरोध की अवस्था तथा नियमित स्वत.श्वसन (automatic respiration) की अवस्था के मध्य पाई जाती है। तृतीय अवस्था को प्राय: चार तलो (planes) मे विभक्त किया जाता है, जिनमे प्रथम तल द्वितीय अवस्था के और चतुर्थ अवस्था के समीप होता है ।

चिन्ह

इस अवस्था के प्रारम्भिक भाग मे श्वसन गहरा, नियमित तथा तालयुक्त (rythmic) होता है तथा उसके अतरापर्शुका (inter costal) तथा मध्यच्छद (diaphragmatic) अश समान होते है। जैसे-जैसे सज्ञाहरण की अवस्था गहरी होती जाती हे, श्वसन अवनमित होता जाता है तथा मध्यच्छद और अंतरा-पर्शुका श्वसन का अनुपात बढता जाता है। चतुर्थ अवस्था मे श्वास के पूर्णत: लुप्त होने से पूर्व श्वासक्रिया पूर्णत: मध्यच्छदीय (diaphragmatic) हो जाती है अर्थात् श्वास के समय वक्ष की नही, केवल उदर की गति होती हे।

नेत्र द्वितीय तल के प्रारम्भ मे गतिहीन हो जाते है । प्रथम तल मे तारे (pupil) का विस्फार मध्यम होता है, तथा संज्ञाहरण की तीव्रता के साथ ही यह अधिक होता जाता है। दूसरे, तीसरे तथा चौथे तल मे नेत्रश्लेष्मला (conjunctiva), कार्निया (cornea), तारा (pupil), तथा कठ (glottis) के प्रतिवर्त भी शनै. शनै. लुप्त हो जाते है। पेशीतान (muscle tone) प्रथम से चतुर्थ तल की ओर क्रमश. न्यून होती जाती है, तथा अत मे पेशिया पूर्णत: शिथिल हो जाती है ।

चतुर्थ अवस्था (मेरुशीर्ष के घात की अवस्था)

यह अवस्था (stage of medullary paralysis) वास्तव मे संज्ञाहरण की अवस्था नही वरन् संज्ञाहर औषधियो की अतिमात्रा का परिणाम है। इस अवस्था मे तारे (pupils) अतिविस्फारित हो जाते है तथा प्रतिवर्ती क्रिया और श्वसन क्रिया पूर्णतः लुप्त हो जाती है। यदि शीघ्र ही प्रतिकार के साधन न अपनाए जाएं तो रोगी की मृत्यु हो जाती है।

अचेत रोगी की देखभाल

श्वसनमार्ग का अनुरक्षण (maintenance of Airway)

श्वसन मार्ग मे किसी भी विजातीय तरल (रक्त, श्लेष्मा, वमन आदि) का प्रवेश न होने देना चाहिए। प्रेरण के समय तो वमन आपदपूर्ण होता ही है, पुनः प्राप्ति के समय इससे और भी अधिक हानी की आशका रहती है, क्योकि इस समय स्वरयत्र प्रतिवर्त (laryngeal reflexes) लुप्त रहते है तथा तीव्र श्वास-अवरोध (acute respiratory obstruction) की आशका अधिक रहती है। फलस्वरूप एयरवे (airway), दत प्रॉप (dental prop), जिह्वा संदश (tongue forcehs), मुख गैग (mouth gag), अतःश्वासप्रणाली नली (endotracheal tube), आदि के प्रयोग तथा हनु-सश्रय (jaw supporting), और चूषण (aspiration) की आवश्यकता हो सकती है। यदि श्वासअवरोध गम्भीर हो तो जीवनरक्षा के लिए तुरन्त स्वरयत्रदर्शन (laryngoscopy), अथवा श्वासप्रणालच्छेदन (tracheotmy) भी अनिवार्य हो सकते है।

सस्थिति तथा गति (Posture & Movement)

अर्ध-अवतान (semiprone) तथा तनिक ट्रेन्डलेनवर्ग (trendelenburg) सस्थिति (जिसमें सिर नीचे झुका होता है) गुरुत्व (grauty) के माध्यम से मुख-स्रावो के अपनयन मे सहायक होती है। दाबद्वारा हानि से बचाने के लिए शरीर का शय्या के कठोर किनारो तथा तापयुक्त पदार्थो के सम्पर्क मे नही आने देना चाहिए।

रोगी को आपरेशन मेज (operation table) से पुनःप्राप्तिकक्ष (recovery:oom) की ओर ले जाते समय ध्यान रखना चाहिए कि उसे अभिघात न पहुंचे। असावधानीपूर्ण व्यवहार के कारण सधिच्युति (dislocation) या अस्थिविभग (fracture) तथा अत्यधिक खिचाव आदि हो सकते हैं। पुनःप्राप्ति
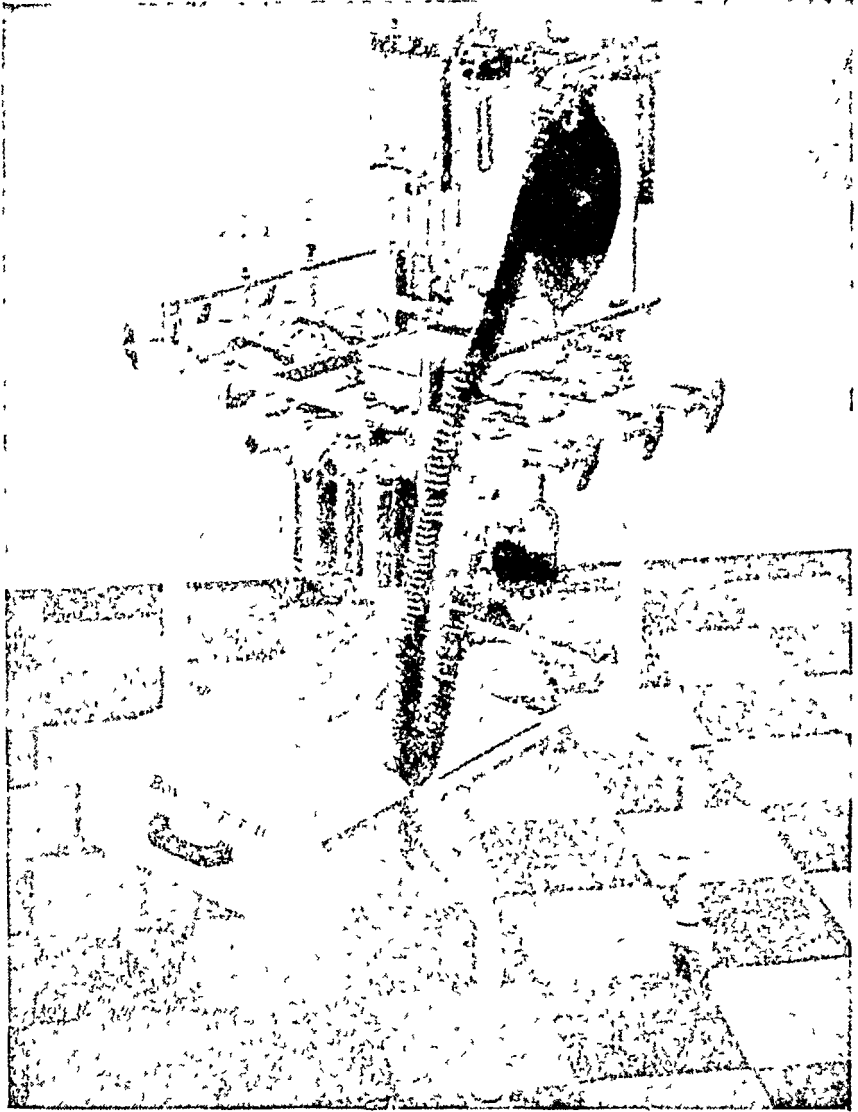
चित्र 286—बौयल का सतत-प्रवाह-सज्ञाहरण उपकरण

(recovery) के समय सघर्षरत रोगी को नियन्त्रित करने की ग्रावश्यकता पड सकती है, किन्तु ऐसा करते समय वलप्रयोग नही करना चाहिए; अचेत, विशेषत: स्तब्धताग्रस्त (shocked) रोगी को सहज ही ग्रभिघात पहुच सकता है।
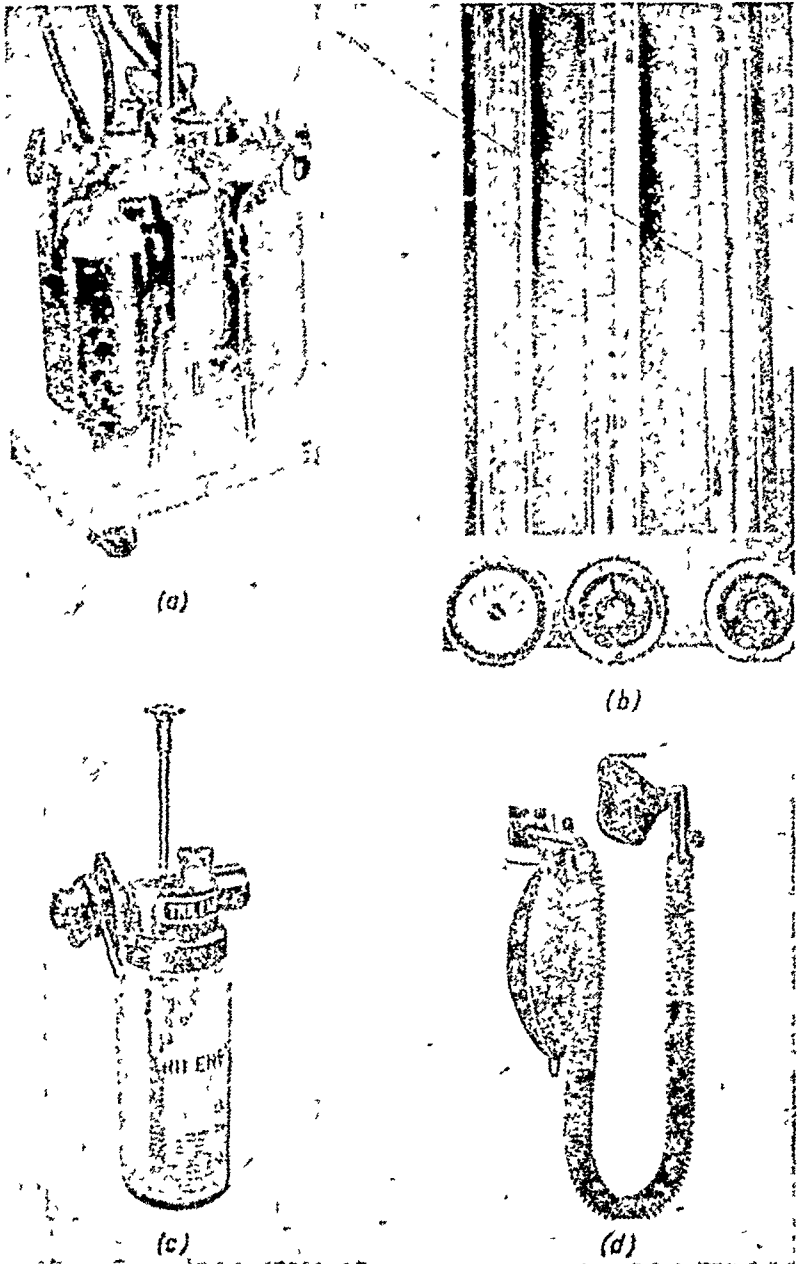
चित्र 287—वायल के संतत प्रवाह संज्ञाहरण उपकरण के भाग (a) सिलिन्डर स्टैंड (b) रोटामीटर एकक (c) ट्राईलीन भाग (d) पुन.श्वसन भाग जो मशीन में जोड़ दिया जाता है

विभिन्न

अन्य पूर्वोपायो के अतिरिक्त यह भी ध्यान रखना चाहिए कि अत.शिरा आधान मे वायु का प्रवेश न हो पाए तथा रक्तदाव, नाडी और श्वसन का उचित नोट (record) रखा जाए।

उपकरण (Equipment)

सज्ञाहरण उपकरण के अनेक प्रकार तथा माडल हे, तथा ये सरलतम से लेकर अत्यन्त जटिल हो सकते हे (चित्र 286)। चिकित्साविज्ञान के छात्रो को उनका विस्तृत विवरण जानने की आवश्यकता नही है, किन्तु उन्हे एक सतत प्रवाह मशीन (continuous flow machine) के मुख्य भागो के (चित्र 287) का ज्ञान अवश्य होना चाहिए। ये निम्नलिखित है—

(अ) चल स्टैन्ड (mobile stand) अथवा ट्राली (trolley) जिस पर गैस सिलिडर फिट किए जा सके और जिनसे सुरक्षित दवाव पर गैसो को प्रयोग के लिए प्राप्त करने का भी प्रवध हो।

(आ) गैस का प्रवाह मापने लिए एक प्रवाहमापी (flow meter)

(इ) वाष्पशील सज्ञाहरो (voalatile anaesthetics) को वाष्पित करने के लिए उपयुक्त पात्र।

(ई) सग्रह थैला (reservoir bag), चौडी निकास नली, निश्वास वाल्व तथा आनन मास्क—इन सब का एक सम्मुच्चय (assembly)।

अधिकाश मशीनो मे कुछ सुरक्षा के साधन भी पाए जाते हैं, यथा अविनिमेय सिलिडरयोक (Non-interchangbale cylinder yokes), अधिकप्रवाह आक्सीजन लीवर (high flow oxygen lever) तथा एक ऐसा सुरक्षात्मक बन्ध (safety lock) जो ट्राइलीन (Trilene) और सोडा लाइम को एक ही चक्र मे सम्मिलित होने से रोकता है।

अन्य उपस्कर

श्वसनमार्ग का अनुरक्षण करने तथा श्वास-अवरोध का प्रतिकार करने के लिए एयरवे (airway), दत प्रोप (dental prop), जिह्वा फोरसेप्स, मुख गैग (mouth gag), अत श्वासप्रणल ट्यूब (endotracheal tube), स्वरयन्त्रदर्शी (laryngoscope), आदि उपकरणो तथा एक उत्तम चूषक यन्त्र (suction apparatus) का सदा उपलब्ध होना आवश्यक है। क्लिनिकल क्लर्की (clinical

clerkship) की अवधि मे विद्यार्थी को चाहिए कि वह अभिघात पहुचाए विना इन यंत्रो का प्रयोग सीखले (चित्र 288)।
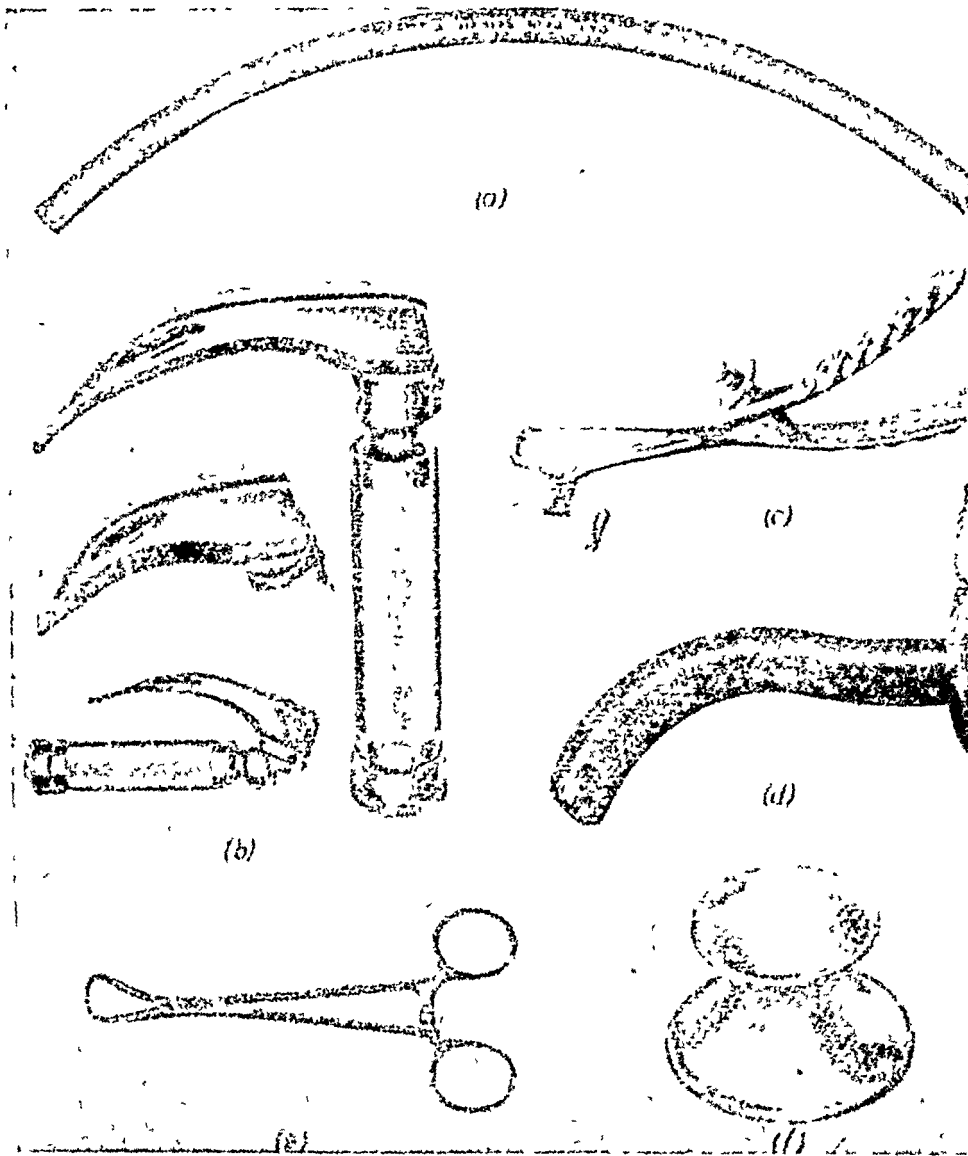
चित्र 288—(a) मैगिलकी अन्त.श्वासप्रणालनलिका, (b) मैकिन्टोश का स्वरयन्त्रदर्शी, (c) मैसन का मुखगैग, (d) गोडल का वायुमार्ग (airway) (e) जिह्वा संदश, (f) लन्दन अस्पताल-वायुमार्ग

पेशी-शिथिलक

दक्षिणी अमरीका मे आदिवासियो द्वारा प्रयुक्त शर-विप मे उपस्थित क्यूरारे (curare) नामक पदार्थ की क्रिया—तत्रिकापेशी सगम-रोध (myoneural junction block) की खोज क्लाड वर्नार्ड (Claude Bernard) ने वहुत पहले ही कर ली थी, किन्तु शल्य-चिकित्सा मे उसका व्यावहरिक प्रयोग 1942 मे, लगभग एक शताव्दी पश्चात् ही सम्भव हो सका। यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण चरण था, क्योकि इससे पूर्व पेशीशिथिलन तथा गतिहीनता, आपरेशन के लिए आवश्यक अवस्थाओ, की प्राप्ति का कोई सरल साधन उपलव्ध नही था। औपधविज्ञान का अध्ययन करते समय विद्यार्थी पेशी-शिथिलको के विपय मे पहले ही विस्तारपूर्वक पढ चुके होगे। यहां केवल उनकी तत्रिकापेशी-क्रियाओ (neuromuscular actions) तथा क्लिनिकल प्रयोगो का सक्षिप्त वर्णन किया जायगा।

अविध्रुवणकारी पेशी शिथिलक (Non-depolarising muscle relaxants)

इस वर्ग के मुख्य सदस्य d-tubocurarine, gallamine triethiodide (Flaxedil) तथा laudexium (Laudolissin) है। ये प्रेरक तत्रिका-अन्तागो (endplates) पर एसिटिलकोलीन (acetylcholine) के साथ किण्व-भोजस्पर्धा (substrte competition) प्रदर्शित करते है। फलस्वरूप तत्रिका-आवेग (nerveimpusle) के समय जो एसिटिलकोलीन (अन्तागो का शरीर-क्रियात्मक सक्रियकारक) निर्मुक्त होता है वह अपने ग्राहियो (receptors) तक नही पहुच पाता, क्योकि इन पर अविध्रुवणकारी पेशीशिथिलक पहले ही अधिकार कर चुके होते है।

एसिटिलकोलीन अति शीघ्र कोलीनएस्टरेज (cholinesterase) के प्रभाव से जलअपघटित (hydrolysed) हो जाता है, अतः इतना एसिटिलकोलीन संग्रहीत नही हो पाता कि पर्याप्त अन्तागविभव (end-plate potential) वन पाए तथा पेशीतत्रिका-रोध हटजाए। स्पष्ट है कि अविध्रुवणकारी शिथिलक (nondepolarising relaxants) विध्रुवणकारी क्रिया मे वाधा डालते है तथा इस प्रकार पेशीतत्रिका-आवेग-सचरण (myoneural impulse transmission) मे अवरोध उत्पन्न करते हैं। यदि प्रोस्टिग्मीन (prostigmine) आदि किसी प्रतिकोलीनएस्टरेज (anticholinesterase) पदार्थ की सहायता से एसिटिलकोलीन को शीघ्र नष्ट होने से वचाया जा सके तो वढी हुई

मात्रा अन्ताग-ग्राहियो (end-plate receptors) से क्यूरारे को विस्थापित करने मे सफल हो जायगी । फलस्वरूप एसिटिलकोलीन के प्रभाव से अन्तागो के विध्रुवण और तन्त्रिकापेशीरोध (neuromuscular b'ock) का अपहरण हो जायगा । पर्याप्त पेशी-शिथिलन के लिए अविध्रुवणकारी पदार्थो की प्रभावपूर्ण मात्राए निम्न प्रकार है : d-ट्यूबोक्यूरारीन, (d-tubocurarıne) 15-20mg. (0.3 mg /kg.) ; फ्लेक्सेडिल (Fıaxedıl) 80-100 mg. (1.2mg/Kg); और लौडोलिसिन (Laudolıssın) 30 mg (0.5 mg /kg) । प्रौढ व्यक्ति के लिए इनके विरोधी (antagonist) प्रोस्टिग्मीन की साधारण मात्रा 2-3 मिलिग्राम है ।

इन पदार्थो की क्रिया-अवधि (duratıon of actıon) 20 60 मिनट होती है ; यह फ्लेक्सेडिल के लिए न्यूनतम और लौडोलिसिन के लिए सर्वाधिक होती है ।

विध्रुवणकारी पेशी-शिथिलक (depolarizing muscle relexants)

विध्रुवणकारी पेशी शिथिलक प्रेरक अन्तागो (motor endplates) का तीव्र तथा दीर्घकालीन विध्रुवण (depolarızaton) उत्पन्न कर देते है तथा फलस्वरूप तन्त्रिकापेशी-सचरण (neuromuscular transmission) की पुनः-ध्रुवण-प्रावस्था (repolarızatıon phase) मे वाधा पडती है। इन पदार्थो की क्रिया एसिटिलकोलिन (acetylcholine) की एक विशाल मात्रा के समान ही होती है ; वास्तव मे विध्रुवणरोध (depolarızatıon block) के लिए सर्वाधिक प्रयुक्त औषध, अर्थात् सक्सिनिल-डायकोलीन (succinyl dıcholıne, scolıne), एसिटिलकोलीन का ही एक अनुरूप (analogue) है । प्रोस्टिग्मीन आदि एन्टीकोलीनएस्टरेज (anticholınesterase) पदार्थो की क्रिया भी ऐसी ही होती है, क्योकि ये एसिटिलकोलीन को नष्ट होने से वचाते है तथा फलस्वरूप अन्तांगो को दीर्घकाल तक विघटित रखते है किन्तु प्रोस्टिग्मीन के अनुपगी प्रभावो (side effets) के कारण इसमे कुछ अतर आ जाता है । फिर भी स्पष्ट है कि प्रोस्टिग्मीन (prostigmıne) वस्तुत: विध्रुवणकारी शिथलको का विरोधी नही, कुछ सीमा तक उनके द्वारा उत्पन्न घात (paraysıs) मे सहायक, होता है ।

प्राय· प्रयुक्त विध्रुवणकारी शिथलको के उदाहरण सक्सिनिल-डायकोलीन (suycınyl-dıcholıne, scolıne), 50mg. या (1mg./kg.) तथा नक्सिथोनियम ब्रोमाइड (sxuethonıum bromıde, Brevıdıl-E) है । ये दोनों अत्यल्प-काल-प्रभावी औषध (ultrashort actıng drugs) है तथा इनका प्रभाव केवल

3-8 मिनट तक रहता है ।

सामान्य पूर्वोपाय तथा साधन

d-ट्यूब्रोक्यूरारीन (d-tubocurarine) तथा अन्य अविध्रुवणकारी शिथिलको द्वारा उत्पन्न घात ईथर के प्रभाव से और भी गहरा हो जाता है । मायस्थीनिया ग्रेविस (myasthonia gravis) के रोगी d-ट्यूब्रोक्यूरारीन के प्रति पर्याप्त अनुक्रिया (response) प्रदर्शित करते है । पेशी शिथिलको का प्रभाव शरीर की सभी ऐच्छिक पेशियो पर पडता है, तथा फलस्वरूप श्वसन-पेशियाँ भी शिथिल हो जाती है । इस कारण पर्याप्त फुप्फुस सवातन (pulmoanary ventilation) के लिए अन्य साधनो द्वारा श्वसन क्रिया को सहायता देना तथा नियन्त्रित करना प्राय: आवश्यक होता है ।

सहज तथा अभिघातरहित श्वासप्रणाल प्रवेशन (endotracheal intubation) के लिए तथा मद सज्ञाहरण की अवस्था मे ही रोगी को शिथिल तथा गतिहीन बनाने के लिए पेशी-शिथिलको का प्रयोग प्राय: किया जाता है । नेत्र सर्जरी मे नेत्र गोलको को स्थिर रखने तथा टिटेनस आदि आकर्षयुक्त (spastic) अवस्थाओ मे आकर्षो (spasms) को नियमित करने के लिए भी पेशी-शिथिलक प्रयुक्त किये जाते है । वास्तव मे इन औषधियो ने सम्पूर्ण शल्यचिकित्सा, विशेषत: वक्ष सर्जरी, के क्षेत्र मे एक महान क्रान्ति ला दी है ।

अंत.श्वासप्रणाल-सज्ञाहरण (Endctracheal Anaesthesia)

अत;श्वासप्रणाल-सज्ञाहरण के लिए प्रयुक्त लगभग सभी उपकरणो के साथ मेगिल (Megill) का नाम सलग्न है । यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि उसने प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् इस प्रविधि को विकसित तथा त्रुटिहीन करने के लिए अत्यन्त महान् कार्य किया था । उचित व्यास की नली द्वारा किया गया अत.श्वासप्रणालप्रवेश अत्यन्त उपयोगी रहता है । इससे श्वासमार्ग सुरक्षित रहता है, उपद्रवकारी स्वरयत्र प्रतिवर्त (laryngeal reflexes) शमित रहते है तथा जठर-अतर्वस्तु (gastric contents) एवं ग्रसनीस्राव (pharyngeal secretions) श्वासप्रणाल-श्वसनीशाखाजाल (tracheo-bronchial tree) मे प्रविष्ट नही होते; यदि सहसा परिसचरणपात (circulatory collapse) अथवा श्वसनपात (respiratory failure) हो जाए तो तुरन्त फेफडों को सवाहित किया जा सकता है । इसके अतिरिक्त सज्ञाहारक (anaesthetist)

लगातार हनु को संभालने के उत्तरदायित्व से मुक्त हो जाता है और रक्तदाव का चार्ट रखने, अंत शिरा-आधान आरम्भ करने, आदि अन्य कार्यो मे योग दे सकता है । एक अन्य लाभ यह है कि वह ओपरेशन टेवल से दूर खड़ा होकर रोगी को नियन्त्रित कर सकता है तथा इस प्रकार सर्जन को अधिक स्थान मिल जाता है और संदूषण (cotamination) का भय कम हो जाता है ; मस्तिष्क सर्जरी (neurosurgery) सम्बन्धी आपरेशनों मे इससे विशेष सुविधा होती है।

अंत श्वासनप्रणाल-नलिकाएं (rndoteacheal tubes)

अंतःश्वासप्रणालनलिकाए (endotracheal tubes) रवड, प्लास्टिक, लेटेक्स (latax) आदि अनेक पदार्थों से वनाई जाती हैं तथा इन्हे इस्पात के तार से प्रवलित किया जाता है । ये मुख अथवा नासा दोनो के प्रवेश हेतु उपलब्ध होती हैं । कुछ नलिकाओ मे एक कफ (cuff) होता है, जो फूलने पर श्वासमार्ग को ग्रसनी से पृथक कर देता है । इन नलिकाओं का आकार ०० (नवजात शिशु के लिए) से 10 नम्वर (प्रौढ़ व्यक्ति के लिए) तक विभिन्न प्रकार का होता है ।

स्वरयंत्रदर्शी (Laryngoscope)

कई प्रकार और आकार के स्वरयन्त्रदर्शी उपलब्ध हैं जिनके द्वारा स्वरयन्त्र को सीधे देखकर उसमे नलिका-प्रवेशन (direct vision intubation) किया जाता है। इनमें सर्वाधिक प्रचलित मैकिंटोश (Macintosh) का स्वरयन्त्रदर्शी है, जो भिन्न आयुवर्गों के लिए तीन भिन्न आकारो मे आता है । प्रयोग करते समय यंत्र के ब्लेड को जिह्वा के तल पर से निर्दिष्ट करते हुए तनिक इस प्रकार आगे की ओर झुका हुआ रखा जाता है कि उसका आलोकित छोर कन्दरिका (vallecula) मे रहे । इस परिस्थिति मे जिह्वा का आधार तथा उससे सम्बद्ध कण्ठच्छद (epiglottis) उठा रहता है । तथा स्वरयत्र स्पष्ट दृष्टि-गोचर होता है। इस विधि में कण्ठच्छद को स्पर्श नही किया जाता, इस कारण यह विधि संज्ञाहरण के मंद तलों (light planes) मे भी सम्पन्न की जा सकती है, विशेषतः यदि पेशी-शिथिलको का भी प्रयोग किया गया है ।

श्वासप्रणाल का नलिकाप्रवेशन प्रायः मुख द्वारा किया जाता है, किन्तु नासिका द्वारा भी किया जा सकता है । यह विधि तीन प्रकार सम्पन्न की जा सकती है—अंध प्रवेशन (blind intubation) द्वारा, दर्शित प्रवेशन (intubation under vision) द्वारा, तथा श्वासप्रणाल छिद्रण प्रवेशन (intubation

through tracheostomy) द्वारा। अंतिम साधन का प्रयोग तभी किया जाता है जब किसी कारणवश मुखमार्ग अथवा नासामार्ग से नलिकाप्रवेशन सम्भव न हो, उदाहरणतः ऐसे रोगियो मे जिन्हे, हनु ग्रसनी अथवा स्वरयंत्र का विस्तृत अर्बुद हो।

प्रादेशिक वेदनाहरण (Regional Analgesia)

इस विधि मे रोगी सचेत रहता है किन्तु शरीर के किसी विशेष भाग को वेदनाहीन किया जाता है।

स्थानीय वेदनाहर पदार्थ (Local analgesic agents)

कोकेन हाइड्रोक्लोराइड (Cocaine hydrochlorde)

नेत्रचिकित्सा मे स्थानीय वेदनाहरण के लिए सर्वप्रथम कोकेन का ही प्रयोग 1884 मे किया गया था। यह एक शक्तिशाली पृष्ठीय वेदनाहर (surface analgesic) है तथा प्रायः 2 प्रतिशत विलयन (नेत्रसर्जरी मे) अथवा 10 प्रतिशत विलियन (नासा सर्जरी) मे प्रयुक्त किया जाता है। अपेक्षाकृत विषाक्त होने के कारण इसका इजैक्शन द्वारा प्रयोग नही किया जाता। उष्ण देशो मे इस औषध के तत्काल बनाए गए घोल का ही प्रयोग करना चाहिए। अन्यथा इसके अपघटन (decomposition), तथा जलांश के वाष्पीभवन (evaporation) के फलस्वरूप अतिसान्द्रण का भय रहता है। प्रौढ़ व्यक्ति के लिए इसकी अधिकतम सुरक्षित मात्रा 200 mg. (10 प्रतिशत विलयन की 2 ml. मात्रा अथवा 4 प्रतिशत विलयन की 5 ml. मात्रा) होती है। स्मरणीय है कि कोकेन एक व्यसनसाध्य औषध है, तथा इसके प्रति व्यसन (addiction) उत्पन्न हो सकता है।

प्रोकेन हाइड्रोक्लोराइड (Procain hydrochloride)

यह एक बहुप्रचलित अमूल्य तथा निरापद स्थानीय पीडाहर है। आपदरहित सान्द्रता के प्रोकेन-विलयन का पृष्ठीय प्रभाव अल्पतम होता है, अतः श्लेष्मी तलो (mucous surfaces) पर प्रत्यक्ष अनुपयोग के लिए यह औषध प्रयुक्त नही की जा सकती। इसका प्रयोग इजैक्शन द्वारा 0·5 प्रतिशत विलयन के रूप मे किया जाता है। प्रौढ व्यक्ति के लिए प्रोकेन की अधिकतम मात्रा 1 g (1 प्रतिशत विलयन के 100 ml. के तुल्य) होती है। यह वाहिकाओं पर

विस्फारक प्रभाव डालती है, अत. दीर्घकालीन स्थानीय क्रिया तथा मंद दैहिक अवशोषण (slow systemio abscrption) के लिए इसके विलयन मे 1 : 200,000 के अनुपात मे ऐड्रेनेलीन (adrenaline) मिलाई जाती है। ताप-निर्जीवाणुकरण की क्रिया द्वारा प्रोकेन नप्ट नही होती।

सिंकोकेन (cinchocaine; nupercaine)

सिंकोकेन प्रोकेन की तुलना मे लगभग दस गुना शक्तिशाली तथा विषालु होती है तथा इंजैक्शन अथवा पृष्ठीय अनुप्रयोग द्वारा पर्याप्त प्रभावकारी पाई गई है। यह एक स्थायी पदार्थ है और मेरुरोध (spinal block) अथवा अध:-जालतानिकारोध (subarchnoid block) उत्पन्न करने के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध होती है। इस प्रयोजन के लिए 1 : 200 या 1 : 1500 शक्ति के विलयन का प्रयोग किया जाता है। नेत्रविज्ञान मे पृष्ठीय प्रयोग के लिए इसका 1 प्रतिशत विलयन प्रयुक्त होता है। स्थानीय अत.सचरण (local infiltration) के लिए 0 1 प्रतिशत (1:1000 घोल का प्रयोग किया ज.ता है। सिन्कोकेन की अधिकतम प्रौढ मात्रा (maximum adult dose) 100 mg है।

एमीथोकेन हाइड्रोक्लोराइड (Amethocaine hydrochloride ; Anethaine ; Pantocaine)

इसके गुण तथा मात्रा नुपरकेन (nupercaine) की भाति ही हैं। यह अधिकतर नेत्र तथा नासा सर्जरी मे 1 प्रतिशत विलयन के रूप मे पृष्ठीय अनु-प्रयोग के लिए प्रयुक्त किया जाता है।

लिग्नोकेन, जाइलोकेन या लिडोकेन (Lignocaine ; xylocaine ; lidocaine)

लिग्नोकेन एक अत्यन्त प्रभावपूर्ण निरापद शक्तिशाली स्थाई तथा दीर्घ-काल-प्रभावी वेदनाहर (analgesic) है। इसकी क्रिया सर्वथा एकरूप (uni-form) तथा विश्वसनीय होती है तथा इसका प्रयोग इंजैक्शन द्वारा अथवा श्लेष्म पृष्ठीय अनुप्रयोग (application to mucous surfaces) द्वारा किया जा सकता है। इसे वर्तमान काल का सर्वाधिक उपयुक्त तथा उपयोगी वेदना-हर माना जा सकता है। इसका प्रभाव 2-3 घण्टे रहता है। इसे प्राय: 0 5—1·0 प्रतिशत (अत· सचरण, infiltration के लिए) 1 5—2 प्रतिशत (तन्त्रिका रोध, nerveblock के लिए), तथा 2 4 प्रतिशत (पृष्ठीय वेदनाहरण के

लिए) विलयन के रूप मे प्रयुक्त किया जाता है। इसकी अधिकतम प्रौढ मात्रा 1000 mg. (1g.) है।

प्रादेशिक वेदनाहरण (regional onalgεsia) उत्पन्न करने की विधियां

पृष्ठीय अथवा पारगन वेदनाहरण (surface or permeation analgesia)

इस विधि का उत्तम उदाहरण कोकेन नेत्रविन्दु (cacaine eye drops 2 4%) अथवा (नासा सर्जरी मे प्रयुक्त 10 प्रतिशत कोकेन पैक (cocaine pack) है :

स्थानीय अंत:स्यंदन (Local infiltration)—यहा आपरेशन-स्थल तथा उसके समीपवर्ती स्थान मे स्थानीय पीडाहर पदार्थो का अतर्निवेश किया जाता है।

क्षेत्ररोध (Field Block)—इस विधि मे किसी क्षेत्र को सभरित करने वाली तत्रिकाओ को पृथक् रूप से रोधित करने का प्रयत्न नही किया जाता, किन्तु उस क्षेत्र मे उपयुक्त स्थानो पर वेदनाहर विलयनो को अतर्निवष्ट करके तंत्रिकासभरण (nerve supply) को अवरुद्ध कर दिया जाता है।

तंत्रिकारोध (nerve block)—इस विधि के प्रयोग के लिए अंगविशेष के शरीररचनात्मक ज्ञान का होना आवश्यक है। यहा पृथक तत्रिकाओ अथवा तत्रिकाकांडो (nerve trunk) को पृथक रूप से वेदनाहर विलयन द्वारा अंत.स्यंदित किया जाता है। इस विधि के प्रचलित उदाहरण हस्त-सर्जरी के लिए प्रयुक्त प्रगण्ड-जालिका-रोध (brachial plexus block) तथा वक्ष-भित्ति-सर्जरी (thoracic wall surgery) के लिए प्रयुक्त पराकशेरुक रोध (paravertebral black) हैं।

प्रशीतद वेदनाहरण (Refrigeration analgesia)—इसे स्थानीय हिमीभवन (local freezing) भी कहते है। इसका उदाहरण एथिल क्लोराइड (ethyl chloride) की पृष्ठीय फुहार के प्रभाव मे उपरिस्थ विद्रधि-छेदन (abscess incision) हैं। अगोच्छेदन (Amputation) के लिए शाखाअंग को चहु और पिसी वर्फ द्वारा आच्छादित करके सवेदनहीन किया जा सकता है।

दृढ़तानिका-बाह्य वेदनाहरण (Extradural analgesia)

इस विधि मे वेदनाहर विलयन इस प्रकार दृढतानिका-वाह्य-अवकाश (extradural space) मे समाविष्ट किए जाते हैं कि पूर्वनिश्चित स्तर तक वेदना असंवेदित हो जाय।

मेरुरोध, अध.जालतानिकारोध (spinal block, subarachnoid block)

इस विधि का विस्तारपूर्वक वर्णन आगे किया गया है। वेदनाहर विलयन (analgesic solution) को अध·जालतानिका अवकाश (subarachnoid space) मे प्रविष्ट किया जाता है।

स्थानीय वेदनाहर औषधों के विषालु प्रभाव

कोकेन वाहिकासंकोचक (vesoconstrictor) होता है परन्तु लगभग अन्य सभी स्थानीय वेदनाहर वाहिकाविस्फारण (vasodialataion) करते हैं। इनके इस प्रभाव का यदि एड्रेनेलीन (adrenalin) आदि वाहिका-सकोचक (vasoconstrictor) द्वारा प्रतिकार न किया जाय तो ये औषधें शीघ्र अवशोपित होकर दैहिक रूप से विपालु सिद्ध होगी। ऐसा ही प्रभाव इनके अत्यधिक मात्रा मे प्रयोग करने अथवा अनुपयुक्त अत·शिरा इंजैक्शन लगाने से होगा। यह विपालु प्रभाव मुख्यत हृद्वाहिका तत्र (cardiovascular system) तथा तंत्रिका तत्र मे प्रकट होता है। इसके लक्षण निम्नलिखित हो सकते है—केन्द्रीय उत्तेजन (central stimulation) तथा तदुपरान्त तीव्र अवनमन (depression); बेचेनी, कम्प (tremors); आक्षेप (convulsions); पात (collapses); रक्तदाबपात (fall of bloodprssure) हृद्सरोध (cardiac arrest); श्वाससंरोध (respiratory arrest)।

विपालु प्रभावों के निवारण के लिए आवश्यक है कि वेदनाहर औषध का चुनाव और उसकी मात्रा का निश्चय ध्यानपूर्वक किया जाए तथा पूर्व-औषध-प्रयोग (premedication) के लिए बार्बिचुरेटो (barbiturates) का उपयोग किया जाए, क्योंकि इनका प्रभाव प्रति-आक्षेपी (anticonvulsant) होता है। वेदनाहरो की अतिमात्रा (over dosage) के उपचारके लिए प्राय: श्वसन तथा परिसंचरण का अनुरक्षण पर्याप्त होता है। आवश्यकता-नुसार आक्षेपो (convulsions) के नियंत्रण के लिए अंत:शिरा बर्बिचुरेटो (जैसे, thiopentone 100-200 mg) की अल्प मात्रा का ध्यानपूर्वक प्रयोग भी उपयोगी रहता है।

सौषुम्निक वेदनाहरण (spinal analgesia)

मेरु के अध:जालतानिका-अवकाश (subarachnoid space) मे वेदना-हरो का इंजैक्शन लगाने से सन्तोषजनक तथा एकसमान पीडाहरण उत्पन्न किया जा सकता है। इस प्रकार प्रविष्ट किया गया विलयन जिन मेरुखण्डो

(spinal segments) के सम्पर्क मे आता है, केवल उनके द्वारा सभरित भागो मे ही वेदनाहरण होता है। इस विधि की सभाव्य जटिलताए सक्रमण, तन्त्रिका-ह्रास (neurological damage) तथा मेरुपश्च शिरदर्द (post-spinal headache) है। इन कारणो से कुछ देशो मे इस विधि का प्रचलन कम हो रहा है। किन्तु भारत, और अमरीका मे यह विधि अब भी लोकप्रिय है। वास्तव मे यदि त्रुटिरहित क्रिया-विधि प्रयुक्त की जाए तथा अपूति (asepsis) का उचित ध्यान रखा जाए तो ये जटिलताए बहुत कम होती है। पूर्व समय मे मेरु वेदनाहरण के लिए प्रयुक्त औषध-एम्पूलो (ampoules) तथा मेरुवेध (spinal puncture) एव इजैक्शन के लिए प्रयुक्त उपकरणो को जीवाणुरहित करने के लिए अलकोहल तथा अन्य पूतिरोधी पदार्थो का प्रयोग किया जाता था ; इस कारण भी सक्रमण की सम्भावना अधिक रहती थी। आजकल निर्जीवाणुकरण के लिए शुष्क ताप विधि के व्यापक प्रयोग के फलस्वरूप सक्रमण का भय अत्यल्प होगया है। वास्तव मे उचित प्रविधि तथा पूर्वोपायो के प्रयोग से उपरिलिखित जटिलताए नही के समान होती है।

इस विधि का विशेष लाभ यह है कि यह सरल तथा व्ययरहित है। यदि इसका त्रुटिहीन प्रयोग किया जाए तो कुशल सज्ञाहारक (anaesthetist) की अनुपस्थिति मे भी इस विधि की सहायता से सन्तोषपूर्वक आपरेशन किया जा सकता है।

प्रविधि (Technique)

सौषुम्निक वेदनाहरण के लिए सर्वाधिक प्रयुक्त औषध नुपरकेन (nupercaine) का 1 : 200 अथवा 1 : 1500 विलयन है। इन दो शक्तियो के विलयनो को प्राय: अतिघनत्व विलयन (hyperbaric solution) तथा अल्पघनत्व विलयन (hypobaric solution) कहा जाता है। मस्तिष्कमेरु तरल (cerebrospinal fluid) की तुलना मे अतिघनत्व विलयन के भारीपन का कारण उसमे मिश्रित 6 प्रतिशत ग्लूकोज है (विशिष्ट घनत्व, specific gravity 1 025)। अल्पघनत्व विलयन का विशिष्ट घनत्व मस्तिष्क मेरु द्रव से कुछ कम होता है (1 003), क्योंकि यह अर्धशक्ति सेलाइन (halfstrength saline) मे नुपरकेन का अत्यन्त तनूकृत (diluted) घोल होता है। पीडाहरण के वाछित स्तर के अनुसार 1 : 200 विलयन (अतिघनत्व) की मात्रा 1-2 ml तथा 1 : 1500 (विलयन अल्प घनत्व) की मात्रा 10-15 ml. होती है। इजैक्शन का स्थान प्राय: दूसरी और तीसरी अथवा तीसरी और चौथी कटि-कशेरुकाओ के कटको (lumbar verte-

bral spines) के मध्य चुना जाता है। रोगी की संस्थिति उचित प्रकार निर्धारित करने से वेदनाहरण-विलयन, विशेषत: अतिघनत्व विलयन, के प्रसार तथा प्रभाव को सुनियन्त्रित किया जा सकता है। इस विधि का प्रयोग करते समय डाक्टर के हाथो, रोगी की त्वचा और सम्वद्ध उपकरणो का पूर्णत: जीवाणुरहित होना आवश्यक है; हाथो का धोना (washing up), वस्त्र तथा विछौने (draping) तथा जीवाणुरहित दस्तानों का प्रयोग उसी भांति करना चाहिए जैसा आपरेशन के समय किया जाता है। सौषुम्निक वेदनाहरण समुच्चयो (spinal analgesia sets) का अन्य इजेक्शन समुच्चयो से पृथक् रखा जाना भी आवश्यक है ; उन्हे जीवाणुरहित ट्राली (trolley) पर, प्रयोग से तत्काल पूर्व ही, रखना चाहिए।

यदि निम्नलिखित दो पूर्वोपायो का ध्यान रखा जाए तो यह विधि और भी अधिक सुरक्षित हो सकती है :

(1) मेरु सूचिका (spinal needle) को एक मोटे वोर (thick bore) की रक्ताधान सूचिका मे से, अथवा एक विशेप प्रकार के मेरुसूचिका-प्रवेशक (spinal needle introducer) मे से होकर प्रविप्ट किया जाए। ऐसा करने से मेरुसूचिका की नोक तथा प्रकाण्ड (shaft) रोगी की त्वचा अथवा चिकित्सक के हाथो के सम्पर्क मे न आयेंगे।

(2) सूचिकापथ को निम्नलिखित मे से एक विलयन द्वारा संचरित (infiltrate) किया जाए—स्थानीय वेदनाहर का जीवाणुरहित एम्पूल, अथवा अध:जालतानिका इजेक्शन के लिए प्रयुक्त एम्पूल। ध्यान रखना चाहिए कि इस प्रयोजन के लिए अनेक मात्राओ वाली शीशी (multidose-container) का प्रयोग करना आपद्पूर्ण सिद्ध हो सकता है, विशेपत: यदि उस शीशी को इससे पूर्व भी प्रयुक्त किया जा चुका हो। कारण यह है कि यदि इन शीशियो मे सक्रमण उपस्थित हो तो वह सूचिकापथ तक पहुंच सकता है। यदि उपरि-लिखित निदेशो का अक्षरश: पालन किया जाय तो जटिलताओ का आघटन वहुत कम हो जाता है।

प्रभाव

सौषम्निक वेदनाहरण सवेदी तथा प्रेरक तंत्रिकाततुओ को रोधित कर देता है तथा फलस्वरूप वेदनाहरण (analgesia) तथा प्रेरक घात (motor paralysis) की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसके अतिरिक्त सम्वन्धित मेरु खण्डो (spinal segments) का अनुकम्पी स्वायत्त वहिर्वाह (sympathetic

autonomic outflow) भी अवरुद्ध हो जाता है तथा फलस्वरूप रक्तदाब गिर जाती है और अवरोधित वागस क्रिया के कारण आन्त्र पुरःसरण (intestinal peristalsis) बढ जाता है। तथापि यह विधि उत्तम पेशी-शिथिलन करती है तथा चयापचय मे अत्यल्प बाधा डालती है, क्योंकि नुपरकेन (nupercaine) की बहुत थोडी मात्रा (10 mg) प्रयुक्त की जाती है। एक अन्य लाभ यह है कि इस विधि मे विस्फोट का भय नही रहता।

अनुकम्पी घात (sympathetic paralysis) तथा श्वसन-अवनमन (respiratory depression) के फलस्वरूप रक्तदाब का पात हो जाता है। ऐसा विशेषत अतरापर्शकिकाओ को प्रभावित करने वाले उच्च मेरुरोध (high spinal block) के कारण होता है। इस का निराकरण रक्तदाववर्धी (vasopressor) औषधो तथा आक्सीजन के प्रयोग द्वारा किया जा सकता है। एक प्राय:प्रयुक्त रक्तदाववर्धी वेसोक्सिन (vasoxine, 10-20 mg.) है।

सज्ञाहरण सम्बन्धी आपद्स्थितिया तथा उपद्रव (anaesthetic emergencies & complications)

अधिकतम सुरक्षा के लिए यथासम्भव सतर्कता आवश्यक है। रोगी का यथोचित शल्यपूर्व उपक्रम (preparation) तथा संज्ञाहर पदार्थ का उचित नियत्रण करने से सज्ञाहरण सम्बन्धी दुर्घटनाए एव उपद्रव अत्यल्प हो सकते हैं।

आपद्स्थितियां (emergencies)

श्वास अवरोध (respiratory obstruction)—श्वास-अवरोध अधिकतर निवारणीय होता है। अवरोध ओठो से लेकर अतिम श्वसनियो (terminal bronchioles) तक किसी भी स्थिति पर हो सकता है। ऊपर से नीचे की ओर ये स्तर निम्नलिखित हो सकते है—वृहल् मासल ओष्ठ, कृत्रिम दात, वृहत् जिह्वा, आनन विरूपताए (facial deformities), मुख के अर्बुद (oral growths), शिथिल हनु (relaxed jaw) तथा ग्रसनी या स्वरयत्र मे श्लेष्मा, रक्त, वमन आदि अथवा अन्य आगन्तुक शल्य की उपस्थिति। इनके अतिरिक्त अदृढ़ दन्त पूरक (loose dental fillings), च्युत दात, स्वरयत्र-आकर्ष, स्वरयन्त्र रज्जु घात (vocal cord palsies), श्वासप्रणाल अथवा श्वसनी मे स्थित स्राव-श्वसनी-आकर्ष (bronchial spasm) तथा मध्यस्थानिका अर्बुद (mediastinal growths) आदि दशाए भी श्वासावरोध का कारण हो सकती है।

श्वास-अवरोध की चिकित्सा का लक्ष्य इस स्थिति का निवारण तथा

अवरोधी पदार्थ का अपनयन है। यदि साधारण उपायो द्वारा श्वासमार्ग को अवरोधरहित न किया जा सके तथा अवरोध श्वासप्रणाल से उच्च स्तर पर हो तो श्वासप्रणालछिद्रीकरण (tracheostomy) द्वारा रोगी की जीवनरक्षा की जा सकती है।

वमन

रोगी का उपयुक्त शल्यपूर्वउपक्रम (preoperative preparation) न होने के कारण यदि आमाशय मे भोजन शेप बच रहे तो इसका परिणाम गंभीर हो सकता है। इस सम्बन्ध मे स्मरणीय है कि तीव्र वेदनाग्रस्त तथा शॉकग्रस्त (shocked) रोगियो के आमाशय मे अन्तिम भोजन के 6 8 घटे पश्चात् भी अपचित द्रव्य रह सकता है ; आपद्रोगियो (casualties) तथा प्रसवरत स्त्रियो मे यह सम्भावना अपेक्षाकृत अधिक होती है।

श्वसनसंरोध (respiratory arrest)

यह दो कारणो से होता है—पेशी-शिथिलको की परिसरीय (peripheral) क्रिया तथा सज्ञाहरो (anaesthetics) और सुषुप्तिकरो (narcotics) की केन्द्रीय अवनमन क्रिया (central depressant action)। इसका उपचार मुख्यतः निवारणात्मक है। श्वसनरोध के कारण को जहां तक सम्भव हो दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए तथा श्वासमार्ग को अनुरक्षित रखना चाहिए। आवश्यकतानुसार कृत्रिम श्वसन का प्रयोग भी करना पड़ सकता है। यदि श्वासरोध का कारण मार्फीन (marphine) या बार्बिटुरेटों (barbiturates) की अतिमात्रा हो तो तत्सम्बन्धी विशिष्ट प्रतिकारको (antidotes) का प्रयोग करना चाहिए।

हृद्संरोध (cardiac arrest)

इस बात की ओर सचेत रहना आवश्यक है कि आपरेशन कक्ष (operation theatre) मे कभी-कभी हृद्सरोध (cardiac arrest) जैसी गम्भीर दुर्घटना भी हो सकती है। इसके अनेक कारण हो सकते हैं, यथा श्वास-अवरोध, अनाक्सीयता (anoxia), हृदयरोग, संज्ञाहर-अतिमात्रा, (anaesthetic overdosage) क्षीण स्वास्थ्य तथा स्वायत्त प्रतिवर्त (autonomic reflexes)। यदि परिसचरण को पुन:स्थापित करने का तुरत प्रयत्न न किया जाए तो शीघ्र हो रोगी की मृत्यु हो जाती है। इस अवस्था के निदान व उपचार मे विलम्ब

होने से मस्तिष्क प्रान्तस्था (cortex), तथा मेरुशीर्ष (medulla) के उच्च व जैव (vital) केन्द्र स्थाई रूप से क्षतिग्रस्त हो जाते हैं।

परिसंचरण के पुनःस्थापन के लिए बाह्य हृदय-सम्पीडन (external cardiac compression) या वक्षछेदन, (thoracotomy) के पश्चात् हस्त-हृदय-मर्दन (manual cardiac massage) का प्रयोग किया जा सकता है। हृदय के सवृतवक्ष-पुनर्जीवन (closed chest resuscitation) की विधि अत्यन्त सरल है; उरोस्थि के निम्न भाग पर तालयुक्त दबाव (rythmic pressure) डालने से हृदय, उरोस्थि तथा कशेरुका स्तंभ (vertebral column) के मध्य सम्पीडित हो जाता है। यदि बाह्य हृदयसम्पीडन द्वारा पर्याप्त कैरोटिड स्पंदन (carotid pulsation) उत्पन्न किया जा सके तो तुरन्त वाम वक्ष को खोलकर प्रत्यक्ष हृदयमर्दन (direct cardiac massage) आरम्भ करना चाहिए।

यदि तीन मिनट मे हृद्धमनी परिसंचरण (coronary circulation) तथा प्रमस्तिष्क संभरण (cerebral supply) पुनःस्थापित नही होते तो प्रमस्तिष्क को स्थाई हानि पहुंच जायगी। इस पुनःस्थापन के लिए हृदय के तालयुक्त हस्त सम्पीडन (rythmic manual compression) के अतिरिक्त निम्नलिखित उपाय भी प्रयुक्त करने चाहिए—संज्ञाहर औषध का प्रयोग रोकना, आक्सीजन द्वारा कृत्रिम श्वसन आरम्भ करना तथा सिर को नीचे झुकाना।

शस्त्रकर्मोत्तर फुप्फुसी उपद्रव (post-operative pulmonary complications)

वर्तमान काल मे शस्त्रकर्मोपरान्त फुप्फुसी उपद्रवो की क्रियाविधि (mechanism) तथा विकृतिविज्ञान के सम्बन्ध मे पर्याप्त जानकारी प्राप्त कर ली गई है तथा फलस्वरूप इन उपद्रवो का आघटन बहुत कम हो गया है। भूतकाल मे इन उपद्रवो के लिए विभिन्न संज्ञाहरो तथा संज्ञाहरण विधियो को दोषी ठहराया जाता था, किन्तु अब यह माना जाता है कि ये उपद्रव प्रत्यक्षतः अपर्याप्त फुप्फुस-संवातन (poor pulmonary ventilation) के फलस्वरूप उत्पन्न होते है। यह अल्प-संवातन निम्नलिखित कारणो से हो सकता है—शल्योपरान्त वेदना, शैया मे अपसामान्य संस्थिति (abnormal posture), निश्चलता (immobility), भिची हुई उदरपट्टियों (abdominal binders) के कारण मध्यच्छद-गति मे पड़ने वाली बाधा, अपर्याप्त कफ निःसास के कारण श्वसनियो मे स्रावो का संग्रह। इन कारणो का निवारण शल्योपरान्त रोगी की परिचर्या का एक

अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अग है।

चिकित्सा के मुख्य अंग निम्नलिखित है—शरीरक्रियात्मक चिकित्सा (physiotheraphy), आपरेशन से पूर्व श्वसन-सक्रमणो का नियन्त्रण तथा आपरेशन के पश्चात् वेदनाहरो के उचित प्रयोग द्वारा (श्वसन के अवनमन के बिना) वेदना से मुक्ति। रोगियो को अपने फेफडे फुलाने, विशेषत निम्नखण्डो (lower lobes) को विस्फारित करने के लिए, तथा खासी द्वारा श्वसनी-स्रावो को निष्कासित करने के लिए, उत्साहित करना चाहिए।

दीर्घकालीन शस्त्रकर्म करते समय रोगी मे स्तब्धता (shock) उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। गभीर सज्ञाहरण (deep plane anaesthesia) तथा अल्पआक्सीयता (hypoxia) की परिस्थिति मे यह सम्भावना और भी बढ़ जाती है। शल्य-स्तब्धता (surgical shock) तथा इसकी विकृति का व उपचार का विवेचन अन्य स्थान पर किया गया है।

आपत्कालीन आपरेशनों के समय संज्ञाहरण-प्रविधियां

आपद्कालीन आपरेशनो के समय एक सामान्य चिकित्सक को भी सज्ञाहरण करने की आवश्यकता पड सकती है। अत. प्राय घटित होने वाली आपदावस्थाओ के लिए प्रयुक्त सज्ञाहरण प्रविधियो का वर्णन यहा असंगत न होगा।

विद्रधि छेदन

वयस्क व्यक्तियो मे विद्रधिछेदन के लिए नाइट्रस आक्साइड-आक्सीजन अथवा 0·3—0·4 ग्राम अन्त·शिरा थायोपेन्टोन (thiopentone) का प्रयोग किया जा सकता है। बच्चो का सज्ञाहरण मास्क पर ईथर या एथिल क्लोराइड (ethyl chloride) छिडक कर भी हो सकता है।

तीव्र उण्डकपुच्छ शोथ (acute appendicitis)

यदि सुविधाए प्राप्त हो तो वयस्को मे 0·4—0·5 ग्राम थायोपेन्टोन द्वारा प्रेरण (induction) करके नाइट्रस आक्साइड (nitrous oxide), आक्सीजन तथा ईथर का प्रयोग श्रेयस्कर रहता है। एक अन्य विधि अध·जालतानिका अवकाश (subarachnoid space) मे 1·8 ml. भारी (1 : 200) नुपरकेन (nupercaine) का इजैक्शन है। बच्चो के लिए खुले मास्क (open mask) पर ईथर का प्रयोग किया जा सकता है।

विपाशित हर्निया (strangulated hernia) तथा आंत्र-अवरोध (intestinal obstruction)

इन अवस्थाओ मे मेरु-वेदनाहरण का प्रयोग नही करना चाहिए। खुला ईथर (open ether) अथवा आक्सीजन-नाइट्रस आक्साइड व ईथर का संयुक्त प्रयोग सतोपजनक रहता है।

उपरिलिखित अवस्थाओ मे सज्ञाहरण के समय रोगी द्वारा वमन का भय रहता है। यदि आत्र-अवरोध उत्पन्न हुए कुछ अवधि बीत गई हो तो एक मध्यम बोर (medium bore) वाली नली द्वारा जठरीय अन्तर्वस्तु (gastric contents) का निकास अवश्य करना चाहिए ; आपरेशन के समय इस नली को यथास्थान ही छोड देना चाहिए, ताकि स्रावो का प्रत्यावहन (regurgitation) न होने पाए।

फोरसेप प्रसव अथवा सीजेरियन छेदन (foreceps delivery or caesarian section)

ऐसी दशाओ के लिए ईथर की अल्पमात्रा, नाइट्रस आक्साइड तथा आक्सीजन का अथवा खुली ईथरप्रविधि (open ether technique) का प्रयोग किया जा सकता है। ईथर संज्ञाहरण के गहरे तलो (deep planes) से बचना चाहिए, अन्यथा गर्भीय-अल्पाक्सीयता (foetal hypoxia) व गर्भाशय-पेशी की शिथिलता के कारण प्रसवोत्तर रक्तस्राव (post-partum haemorrage) की आशका रहती है।

मार्फीन (morphine), थायोपेन्टोन (thiopentone) आदि अवनमनकारी (depressant) औषधो का प्रयोग नही करना चाहिए, क्योकि इनके प्रयोग से नवजात शिशु मे श्वासावरोध (asphyxia) होने का भय रहता है। प्रसूति रोगियो मे वमन के भय का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है।

तीव्र बेधित पेप्सी व्रण (acute perforated peptic ulcer)

तीव्र वेधित पेप्सी व्रण के रोगियो के सज्ञाहरण सम्वन्धी प्रवन्ध मे प्राय: वे सभी कठिनाइया उपस्थित होती हैं जो अन्य व्यापक उदर-आपरेशनों मे पाई जाती है। इसके अतिरिक्त स्तब्धता (shock) तथा जठर अन्तर्वस्तु के प्रत्यावहन का भी भय रहता है ; इनके निवारण के लिए क्रमश प्लाज्मा-आधान (plasma transfusion) तथा राइल ट्यूब-चूपण (Ryle tube

aspiration) का प्रयोग करना चाहिए। संज्ञाहरण के लिए थायोपेन्टोन (thiopentone) की अल्पमात्रा (250 mg) द्वारा प्रेरण के पश्चात् नाइट्रस आक्साइड (nitrous oxide), आक्सीजन तथा ईथर का प्रयोग सतोषजनक होता है।

ध्यान देने पर विदित होगा कि उपरिलिखित विधियो में पेशी-शिथिलको का कोई उल्लेख नही किया गया है। इसका कारण यह है कि इन विधियों का वर्णन केवल एक सामान्य चिकित्सक के लिए ही किया गया है ताकि वह आपद्काल मे इनका प्रयोग कर सके ; यदि कुशल सज्ञाहारक उपलब्ध हो तो वह अपने अनुभव के अनुसार पेशी-शिथिलको का उपयोग करके आपरेशन के लिए और भी उपयुक्त परिस्थिति उत्पन्न कर सकता है। ऐसी स्थिति में नाइट्रस आक्साइड, आक्सीजन, और ईथर के स्थान पर नाइट्रस आक्साइड, आक्सीजन व पेशी-शिथिलको का प्रयोग किया जा सकता है।

पेशी-शिथिलको के प्रयोग एवं गुणावगुणो का वर्णन पहले ही किया जा चुका है।

सज्ञाहरण में अभिनव प्रगतियां
(Recent Advances in Anaesthesia)

सज्ञाहरण के क्षेत्र मे जो अनेक अभिनव प्रगतियां हुई है उनका सम्बन्ध मूलतः इस विषय के विशेषज्ञों से ही है, किन्तु फिर भी यह वाछनीय है कि इनमे से कुछ की जानकारी विद्यार्थी को हो। इन नवीन विधियों के अपने-अपने विशेष संकेत (indications) सीमाए (limitations) तथा उपद्रव (complications) होते है।

अल्परक्तदाब

अल्परक्तदाबी औषधो के प्रयोग द्वारा आपरेशन-स्थल पर होने वाले रक्तस्राव मे कमी की जा सकती है। ऐसी प्रायः प्रयुक्त औषधें हेक्सामीथोनियम ब्रोमाइड (hexamethonium bromide) ट्राइमेटाफेन (trimetaphan, Arfonad), तथा पेन्टोलिनियम टार्ट्रेट (pentolinium tartrate; Ansolysen) है। ये अनुकम्पी पथो (sympathetic phathways) के गडिका-रोध (ganglionic blockade) के तथा परिसरीय वाहिकाओ के विस्फार के द्वारा अपना प्रभाव डालती है। आपरेशन के समय शारीरिक संस्थिति इस प्रकार रखी जाती है कि आपरेशन-स्थल अन्य अंगो से ऊंचा रहे तथा फलस्वरूप रक्त अधः-

स्थित भागों में संचित हो जाए ।

अल्पताप (hypothermia)

रोगी को लगभग 30°c तक प्रशीतित करने से शारीरिक ताप, तथा फल-स्वरूप चयापचयी क्रिया (metabolic activity) एवं आक्सीजन-आवश्यकता (oxygen requirement) को कम किया जा सकता है । अल्पताप का प्रयोग हृदय सर्जरी (cardiac surgery) तथा वाहिका सर्जरी (vascular surgery) में किया जाता है, जहां परिसंचरण का अल्पकालीन विराम वांछनीय होता है। मस्तिष्क सर्जरी (neuro surgery) में वाहिकीय अर्बुदों (vascular tumours) का शस्त्र-अपहरण (surgical removal) करते समय भी यह विधि उपयोगी रहती है ।

कृत्रिम फुप्फुस संवातन (artificial pulmonary ventilation)

कुछ परिस्थितियों में रोगी का दीर्घकाल तक कृत्रिम फुप्फुस संवातन करने की आवश्यकता होती है, उदाहरणतः वक्ष-आपरेशन तथा तीव्र या चिरकारी श्वसन-अपर्याप्तता (respiratory insufficiency) । श्वसन-अपर्याप्तता निम्न-लिखित दशाओं में पाई जा सकती है—मेरु या मेरु-सुषुम्नाशीर्ष पोलियोमा-यलाइटिस (spinal or spinobulbar poliomyelitis) सुषुप्तिकर विषाक्तता (narcotic poisoning), टिटेनस, तंत्रिकाविकार (neuropathies) तथा सर्पदंश ।

हस्त साधनों द्वारा दीर्घकाल तक पर्याप्त तथा समगतियुक्त फुप्फुस संवातन करना कठिन होता है, अतः इस प्रयोजन के लिए यान्त्रिक श्वसनों (mechanical respirators) का प्रयोग उत्तम रहता है ।

आमतौर पर टैंक (tank) या केबिनेट (cabinet) प्रकार के श्वसक प्रयुक्त किए जाते हैं । इनके उदाहरण लौह-फुप्फुस (iron lung ; Dinker or Both respirators), किरास कवच श्वसक (cuirass shell respirator); ब्लीज़ पल्मोफ्लेटर (Blease pulmoflator) तथा ड्रेगर का स्पायरोमैट (Drager's spiromat) है । आधुनिक अस्पतालों के श्वसन विभागों (respiratory units) में इन प्राणरक्षक उपकरणों का प्रयोग अनिवार्य हो गया है ।

●

30

विकिरण चिकित्सा के सिद्धान्त

(Principles of Radiotherapy)

के० एम० राय

विकिरण-चिकित्सा-विज्ञान (radiology) अथवा एक्सरे-चिकित्साविज्ञान का सूत्रपात आज से केवल लगभग 60 वर्ष पूर्व हुआ था, किन्तु वर्तमान काल मे यह इतना प्रचलित हो गया है कि इसके विना कायचिकित्सा (medicine) अथवा शल्यचिकित्सा (surgery) के किसी भी क्षेत्र मे वैज्ञानिक रीति से निदान अथवा चिकित्सा करना असम्भव है। यह इस वात का प्रमाण है कि इस अल्प अवधि मे ही इसने रोगों को दूर करने मे कितना महान योग प्रदान किया है।

विकिरण भौतिकी (Radiation physics)

आयनकारी विकिरण (ionizing radiation) द्वारा की जाने वाली चिकित्सा को विकिरण-चिकित्सा या विकिरण उपचार (radiotherapy) कहते हैं। इस प्रयोजन के लिए प्रयुक्त किरणे वास्तव मे विद्युत-चुवकीय विकिरणों (electromagnetic radiations) के एक विशाल स्पेक्ट्रम (spectrum) का अंश होती है। इस स्पेक्ट्रम के अन्य सदस्य अवरक्त किरणे (infrared rays) दृश्य प्रकाश (visible light), परावेगनी किरणे (ultraviolet rays), मृदु एक्स-किरणे (soft x-rays) कठोर एक्स किरणे (hard x-rays), तथा गामा किरणे (gamma rays) आदि है, इनकी तरंग-दीर्घता (wave length)

अधिकतम (वेतार तरगो wireless waves) से न्यूनतम (कास्मिक किरणें—cosmic rays) तक हो सकती हे।

उक्त सभी विकिरणो का एक महत्त्वपूर्ण गुण है कि उनके द्वारा आकाश (space) मे ऊर्जा सचारण (energy tran‧mission) विद्युत-चुवकीय तरग गति (electromagnetic wave motion) द्वारा होता हे। इन विकिरणो मे निहित ऊर्जा का क्वान्टम (quantum of energy) तरग-आवृत्ति (wave frequency) तथा फलस्वरूप तरग-दीर्घता पर निर्भर होता है ; तरग-दीर्घता जितनी कम होगी ऊर्जा-क्वान्टम उतना ही अधिक होगा। मुक्त अतरिक्ष मे समस्त विद्युत-चुवकीय विकिरणो की गति प्रकाशगति के समान होती है, अर्थात् 186,000 मील प्रति सैकण्ड अथवा 3×10 cm प्रति सैकण्ड।

विद्युत-चुवकीय विकिरणो के अधिकाश गुणो की व्याख्या उपरिलिखित तरग-गति-सिद्धान्त (wave motion theory) के आधार पर की जा सकती है, किन्तु हाल के अनुसधान से प्रतीत होता है कि इन विकिरणों मे ऊर्जा का संवहन तरगो के अतिरिक्त एक प्रकार के सूक्ष्म पैकेटो (packets) द्वारा भी होता है। इन पैकेटो को क्वान्टम (quantum) कहते है। क्वान्टम सिद्धान्त (quantum theory) के अनुसार एक विकिरण पुज (beam of radiation) ऊर्जा के अनेक सूक्ष्म पैकेटो का बना होता है जिन्हे क्वान्टम (quantum) या फोटोन (photones) कहते है। क्वान्टमो का आकार विकिरण की तरग दीर्घता (wave length) पर निर्भर होता है। जव ये विकिरण किसी द्रव्य पर गिरते हे तो कतिपय मूलभूत परिवर्तन हो जाते है। इन विकिरणो मे निम्न-लिखित गुण होते है—वायु का आयनीकरण करना, प्रकाश के प्रति अपारदर्शी पदार्थो मे से पार होना, प्रतिदीप्ति (fluorescence) प्रदर्शित करना, फोटोग्राफी प्लेट को प्रभावित करना, आदि। दुर्दम अर्वुदो (maligant tumors) तथा कुछ सुदम रोगो की चिकित्सा के लिए आयनीकरण (ionization) के गुण का लाभ उठाया जाता है।

इन विकिरणो का स्रोत प्राकृतिक रूप मे पाये जाने वाली धातुए (यथा रेडियम) अथवा कृत्रिम साधन (एक्सरे ट्यूव, रेडियो-कोबाल्ट, रेडियो-एक्टिव सीजियम, radioactive caesium), दोनो ही हो सकते है। यद्यपि एक्सरे ट्यूव से निकलने वाली किरणे एक्स-किरण तथा रेडियम या कोबाल्ट-60 से निकलने वाली किरणे गामा-किरण (gamma rays) कहलाती है, किन्तु इन दोनो के जैविक गुणो (biological properties) मे कोई मौलिक भेद नही

होता। ये दोनो ही आयनकारी विकिरण (ionizing radiation) होते है तथा एक दूसरे के स्थान पर प्रयुक्त किये जा सकते है। उनका जैविक प्रभाव दो घटकों (factors) पर निर्भर होता है—जड पदार्थ अथवा जैव ऊतको के सम्पर्क में आने पर उनकी आयनकारी शक्ति (ionizing power), तथा उनकी ऊतकों द्वारा अवशोपित मात्रा; तरग की दीर्घता का इस सम्वन्ध मे कोई महत्त्व नही होता।

मनुष्य के शरीर का एक वडा भाग जल, प्रोटीन, कार्वोहाइड्रेट तथा वसा आदि पदार्थों का वना होता है जो हाइड्रोजन, नाइट्रोजन, कार्वन, आक्सीजन आदि हल्के तत्त्वो के सम्मिश्रण से वने यौगिक होते है। शारीरिक भार का दो-तिहाई भाग अस्थियो के कारण होता है, जो जटिल कैल्शियम कार्वोनिट-फास्फेट अणुओं (calcium-carbonate-phosphate molecules) द्वारा निर्मित होती है; इसके अतिरिक्त अस्थियो मे लगभग सभी प्राकृतिक तत्वो की सूक्ष्म मात्रा भी विद्यमान होती है। हाइड्रोजन, नाइट्रोजन आदि तत्त्व हल्के होते हैं तथा उनका परमाणु भार (atomic weight), कैल्शियम (परमाणु भार 40) की तुलना मे कम (1 से 16) होता है। विभिन्न तत्त्वो की विकिरण-अवशोपण क्षमता (radiation absorbing power) उनके परमाणु भार पर निर्भर होती है। मृदु किरणो (soft rays) की तुलना मे कठोर किरणे वम अवशोप्य (absorbable) होती हैं तथा फलस्वरूप शरीर के अपेक्षाकृत गभीरस्थ भागों भागो मे पहुंचने की क्षमता रखती हैं।

विकिरण-चिकित्सा के लिए एक्स-किरणो तथा गामा-किरणो के अतिरिक्त कतिपय अन्य प्रकार के विकिरण भी प्रयुक्त किए जाते है। इनके उदाहरण वीटा कण (beta particles) तथा अतिऊर्जा-इलेक्ट्रोन (high energy electrons) है। वीटा कणों की उत्पत्ति रेडियम (radium), रेडियो-फास्फोरस (radio phasphorus) आदि रेडियोएक्टिव पदार्थों से होती है। इनका प्रयोग मद निस्यन्दित प्लेको (lightly filtered plaques) के रूप मे चर्मकील आदि उपरस्थ विक्षतियो (superficial lesions) की चिकित्सा के लिए किया जाता है। अतिऊर्जा-इलेक्ट्रोनो की व्युत्पत्ति अति-वोल्ट जनित्रों (high voltage generators), उदाहरणतः रेखित त्वरको (linear accelerators), से होती है; यहां दशलक्ष वोल्ट तक की शक्तियो का उपयोग किया जा सकता है। विकिरण-चिकित्सा के लिए आन्तरिक अनुप्रयोग द्वारा रेडियोएक्टिव आइसोटोपो (radioactive isotopes) का उपयोग भी किया जा सकता है। इनकी प्रयोग

विधि आइसोटोप विशेष के अवशोषण तथा इलेक्ट्रोनो की जैविक क्रियाओ (biological actions) पर निर्भर होती है।

विकिरण चिकित्सा का सर्वोत्तम उदाहरण रेडियोएक्टिव आयोडीन (radioactive iodine) द्वारा अवटुका-कैंसर (thyroid cancer) की चिकित्सा है। अवटु ग्रथि के कैंसर मे इस विधि का संकेत तभी होता है तथा यह विधि तभी सफल होती है जब अवटु ऊतक मे रेडियोएक्टिव आयोडीन को संग्रह करने की पर्याप्त क्षमता होती है। इस पदार्थ की अधिकाश जैविक क्रिया (biological action) बीटा कणो के अवशोषण के कारण होती है। ये कण अत्यल्प दूरी तक ही जा सकते हैं तथा फलस्वरूप आवटु ग्रथि मे सुसीमित रहते है। शेष जैविक क्रिया गामा-किरणो के अवशोषण के कारण होती है। विकिरण-चिकित्सा के लिए न्यूट्रोनो (neutrones) का भी अत्यन्त सीमित प्रयोग किया गया है। इन न्यूट्रोनो का उत्पादन न्यूक्लीय रिएक्टर (nuclear reactor) या साइक्लोट्रोन (cyclotron) मे किया जाता है। न्यूट्रोन विद्युत-उदासीन (electrically neutral) होते है तथा इस कारण द्रव्य का प्रत्यक्ष आयनन (direct ionrzation) नही करते।

विकिरण जैविकी (Radiobiology)

1895 मे प्रोफेसर रोन्जन (Roentgen) द्वारा एक्स-किरणो की खोज के पश्चात् शीघ्र ही इन किरणो की जैविक क्रियाओ का ज्ञान प्राप्त हो गया था तथा उनका प्रयोग दुर्दम अर्बुदो (malignant tumors) की चिकित्सा के लिए किया जाने लगा था। इन सत्तर वर्षों मे विकिरण चिकित्सा के क्षेत्र मे पर्याप्त प्रगति कर ली गई है। इस विधि द्वारा अब कुछ दुर्दम अर्बुदो की पूर्ण चिकित्सा की जा सकती है तथा अन्य अनेक की वृद्धि न्यूनाधिक समय तक रोकी जा सकती है। इन आयनकारी विकिरणो (ionizing radiations) की सहायता से कतिपय सुदम (benign) तथा शोथयुक्त विक्षतियो (lesions) की भी चिकित्सा की जा सकती है।

जब विकिरण-ऊर्जा ऊतको द्वारा अवशोषित होती है तो वह कतिपय भौतिक-रासायनिक परिवर्तनो द्वारा कोशिका अवयो को अभिघात पहुचाती है। ये परिवर्तन कोशिका-प्रोटीनो के भजन (break down) के कारण होते हैं। अभी यह भली प्रकार विदित नही है कि कोशिकीय भौतिक-रासायनिक परिवर्तनो (cellular physico-chemical changes) तथा विकिरण द्वारा

उत्पन्न शरीरक्रियात्मक परिवर्तनो मे परस्पर क्या सम्बन्ध है। विकिरण अभि-घात विकिरण की तीव्रता के अनुसार अल्पकालीय और उत्क्रमणीय (reversible) अथवा स्थायी और अनुत्क्रमणीय हो सकता है। किरणन (irradiation) के पश्चात् ऊतकीय परिवर्तनो के उत्पन्न होने मे जो समय लगता है उसे अव्यक्तकाल (latent period) कहते है। यह किरणन की तीव्रता तथा किरणित कोशिकाओं की प्रकृति पर निर्भर होता है। विभिन्न प्रकार की कोशिकाओं तथा एक ही कोशिका के विभिन्न अवयवो की किरणन के प्रति भिन्न-भिन्न अनुक्रिया होती है—कोशिकाद्रव्य (cytoplasm) की तुलना मे केन्द्रक (nuclleur)। अधिक सुग्राही होता है। पहले यह धारणा थी कि गामा किरणो तथा एक्स-किरणो की अल्प मात्राये ऊतकवृद्धि (tissue growth) की उत्तेजक होती है, किन्तु आजकल माना जाता है कि तथाकथित ऊतकवृद्धि वास्तव मे ऊतकवृद्धि नही, अभिघात के प्रति होने वाली सामान्य शरीरक्रियात्मक क्रिया की अभिव्यक्ति मात्र है। यदि अभिघात मन्द और उत्क्रमणीय हो तो कोशिकाएँ पूर्णत पुन.-प्राप्ति (recovery) कर लेती है और उनमे स्थायी क्रियात्मक (functional) या सरचानात्मक (structural) विकार उत्पन्न नही होते।

कोशिकाओ मे उत्पन्न होने वाले उत्क्रमणीय परिवर्तनो मे सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण सूत्री विभाजन (mitosis) का दमन है। अर्बुद की वृद्धि कोशिकाओ के अनियन्त्रित प्रफलन (proliferation) के फलस्वरूप होती है। सूत्रीविभाजन के दमन से अर्बुदीय ऊतक की वृद्धि रुक जाती है। इस दमन की अवधि मुख्यत. विकिरण ऊर्जा (radiation energy) की अवशोषित मात्रा पर निर्भर होती है। विकिरण जितना अधिक होगा सूत्रीविभाजन भी उतनी ही देर तक स्थगित रहेगा ; तथापि गिने-चुने दृष्टान्तो के अतिरिक्त कोशिका-विभाजन का स्थायी निरोध सम्भव नही होता। सूत्रीविभाजन का दमन दुर्दम अर्बुदो के प्रफलन को रोकने मे अत्यन्त सहायक होता है। यदि किरणन तीव्र हो तो केन्द्रक मे स्थित क्रोमोसोम (chromosomes) विनष्ट हो जाते है तथा फलस्वरूप स्वयं अर्बुद-कोशिकाओं की ही मृत्यु हो जाती है। ये विकिरण के प्रत्यक्ष प्रभाव है।

किन्तु दुर्दम अर्बुदो की चिकित्सा तथा नियत्रण मे इनके अतिरिक्त एक अन्य प्रभाव भी कम महत्व का नही होता। अर्बुद की शैय्या (tumour bed) मे वाहिकामय सयोजी ऊतको (vasculo- connective tissues) की प्रधानता होती है। विकिरण के प्रभाव से इस अर्बुद शैय्या मे अनेक जटिल प्रतिक्रियाएँ होने लगती है जो अर्बुद के विनाश में सहायक होती है; हिस्टियोसाइटो (histio-

cytes), दीर्घ लसीका-कोशिकाओं (large-lymphocytes), प्लाज्मा कोशिकाओं (plasma cells) तथा बहुरूप-केन्द्रक कोशिकाओं (polymorphonuclear cells) द्वारा अन्तःसंचरण (infiltration); ऊतक द्रव (tissue fluid) की मात्रा में वृद्धि ; तन्तु ऊतक (fibrous-tissue) का विस्तार; तथा अर्बुद का संभरण करने वाली कोशिका-वाहिकाओं का संकुचित हो जाना। इन क्रियाओं द्वारा अर्बुद के नियन्त्रण अथवा उसकी पूर्वचिकित्सा में योग मिलता है।

विकिरण-सुग्राहिता में विभेद (Variations in Radiosensitivity)

एक समान परिस्थितियों में विकिरण की निश्चित मात्रा के प्रति जीवित कोशिकाओं की आपेक्षिक सुग्राहिता (relative susceptibility) को उनकी विकिरण-सुग्राहिता कहते हैं। भिन्न अथवा एक ही प्रकार की कोशिकाओं की विकिरण सुग्राहिता में पर्याप्त अन्तर पाया जा सकता है। इस सम्बन्ध में निम्न-लिखित नियम प्रायः उपयुक्त है 'किरणन के प्रति कोशिकाओं की सुग्राहिता उनकी पुनर्जननात्मक क्षमता की अनुक्रमानुपाती(directly proportional)तथा विभेदन कोटि (degree of differentiation) की व्युत्क्रमानुपाती (inversely proportional) होती है।' यह कथन अधिकांशत यथार्थ पाया गया है, किन्तु इसके कुछ अपवाद भी है, जिसमे लसीकाकोशिकाए (lymphocytes) तथा रोडेन्ट व्रण (rodent ulcer) मुख्य है। इन दृष्टान्तों में अधिक पुनर्जनन क्रिया के न होते हुए भी कोशिकाए पर्याप्त विकिरण-सुग्राही होती हैं। विश्वास किया जाता है कि कोशिकाओं के क्रोमेटिन अंश (chromatin content) तथा विकिरण-सुग्राहिता में अनुक्रमानुपात होता है।

कोशिकाओं की विकिरण-सुग्राहिता को प्रभावित करने वाले विभिन्न घटकों (factors) को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। (1) कोशिकाओं की प्रसामान्य शरीरक्रिया से सम्बन्धित घटक, (2) कोशिका-वातावरण (cell environment) में परिवर्तन लाने वाले घटक, (3) विकिरण के भौतिक गुणों से सम्बन्धित घटक।

कोशिका की प्रसामान्य शरीरक्रियात्मक अवस्था

उपरिलिखित तीनों वर्गों में से इस वर्ग के घटक अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण है। इनका महत्त्व इतना ही है शिशुओं तथा छोटे बच्चों के ऊतक अधिक विकि-

रण सुग्राही होते हैं, दूसरे शब्दों मे कोशिकाएं जितनी भ्रौणिक (embryonal) होती है, उनकी सुग्राहिता उतनी ही अधिक होती है। शरीर की विभिन्न प्रकार की कोशिकाओं तथा उनके दुर्दम अर्बुदों की सवेदनशीलता मे प्रगाढ सम्बन्ध होता है, परन्तु यह कहना अक्षरश. सत्य नहीं है कि कैंसर की विकिरण-सुग्राहिता प्रसामान्य ऊतक की तुलना मे सदैव अधिक होती है।

विभिन्न प्रसामान्य या दुर्दम कोशिकाओं की विकिरण-सुग्राहिता मे पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। जिस प्रकार अर्बुद विकिरण-सुग्राही (radiosensitive) या विकिरण-रोधी (radioresistant) होते है, उसी प्रकार प्रसामान्य ऊतक भी विकिरण के प्रति सुग्राही या प्रतिरोधी हो सकते हैं। विकिरणसुग्राहिता के आधार पर अवरोही क्रमानुसार शरीर की प्रसामान्य कोशिकाएँ निम्न प्रकार है· (1) लसीका कोशिकाएँ (lymphocytes), (2) कणिकामय श्वेत कोशिकाएँ (granular leucocytes); (3) उपकला कोशिकाएँ (epithelial cells); (4) रक्तवाहिकाओं, प्लूरा (pleura) और पर्युदर्या (peritenium) की अन्त.-कला कोशिकाएँ (endothelial cells); (5) सयोजी ऊतक कोशिकाएँ; (6) पेशी कोशिकाएँ, (7) अस्थि कोशिकाएँ, तथा (8) तत्रिका कोशिकाएँ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि विकिरण सुग्राहिता कोशिकाओ का एक स्वाभाविक गुण है तथा तत्सम्बन्धी विविधता का पाया जाना भी स्वाभाविक है। अधिकाश दृष्टान्तों मे यह प्राकृतिक विविधता कोशिकाओ की भ्रौणिक अवस्था (embryological state) से सम्बन्धित होती है। विकिरण उपचार की सफलता अथवा असफलता बहुत सीमा तक इस जैविक विविधता (biological variation) पर निर्भर होती है।

वातावरण

ऊतको की विकिरण-सवेदनशीलता पर ताप, श्वसन, अरक्तता आदि वातावरण सम्बन्धी परिवर्तनो का प्रभाव पड़ता है। अर्बुद के अपर्याप्त रक्तसंभरण के निम्नलिखित कारण हो सकते हे—अरक्तता (anaemia), शोफ (oedema), पूति (sepsis) तथा पूर्व शस्त्रकर्म या किरणन। ऐसे अर्बुद किरणन के प्रति सन्तोपप्रद अनुक्रिया नही करते। प्रयोगात्मक तथा क्लिनिकल प्रेक्षणात्मक रूप से यह सिद्ध किया जा चुका हे कि कोशिकाओ की सुग्राहिता की चरम सीमा उस समय होती है जब उनका(CO_2 –O_2)विनिमय (CO_2 –O_2 exchange)भली प्रकार हो रहा हो। अत. चिकित्सा आरम्भ करने से पूर्व तथा चिकित्साकाल

मे अरक्तता की स्थिति दूर करने का यथासम्भव प्रयत्न करना चाहिए। इसके अतिरिक्त पूति-उन्मूलन के लिए भी उपयुक्त साधनो का उपयोग करना चाहिए; इस प्रकार विकिरण-प्रतिक्रियाओ (radiation reactions) का ह्रास तथा प्रसामान्य चयापचयी क्रियाओ की वृद्धि होगी।

विकिरण का भौतिक स्वरूप

विकिरण की अनुक्रिया को प्रभावित करने वाले कारणो के तीसरे वर्ग का, सम्बन्ध किरणन के समय, तीव्रता (intensity), मात्रा-विभाजन, तरग-दीर्घता, निस्यन्दन (filtration) आदि भौतिक दशाओं से होता है। इसके अतिरिक्त यदि पूर्व मे ऊतको को किरणित किया जा चुका हो तो तदनन्तर होने वाले विकिरण के प्रभाव मे भी अन्तर आ जाता है।

समय, तीव्रता तथा मात्रा प्रभाजन

विकिरण की अवधि तथा तीव्रता परस्पर सम्बद्ध होती है—एक्स-किरणो का परिमाण व्यावहारिक रूप मे ट्यूब-निर्गत प्रति मिनट (tube output per-minute) तथा विकिरण-अवधि का गुणनफल होता है। विकिरण का सम्पूर्ण परिमाण एक ही वार मे दिया जा सकता हे अथवा अनेक दिनो में प्रभाजित मात्राओ (fractional doses) के रूप मे दिया जा सकता है। विकिरण की कुल मात्रा के समान होते हुए भी इन दोनों विधियो के जैविक प्रभावो (biological effects) मे अन्तर होता है। यह अन्तर प्रसामान्य तथा दुर्दम ऊतको, दोनो, मे पाया जाता है। इसका उदाहरण वृपण तथा वृपणकोश की त्वचा की परस्पर व्यासत -अभिमुख (diametrically opposite) विकिरणसुग्राहिता है। त्वचा को अधिकतम विक्षति अल्प किन्तु तीव्र एकल किरणन द्वारा पहुँचती हे, जवकि वृपण को क्षति पहुँचाने के लिए दीर्घकाल तक मन्द किरणन करना होता है।

क्लिनिकल अनुभव भी पुष्टि करता है कि कुछ दुर्दम अर्वुद अल्पकालीन तीव्र किरणन के प्रति अनुक्रिया प्रदर्शित करते है जवकि अन्य के लिए दीर्घ-कालीन मन्द किरणन आवश्यक होता है, इसके अतिरिक्त कतिपय अर्वुदो के लिए ये दोनो ही विधियाँ समान प्रभावशाली होती है। विकिरण-चिकित्सक (radiotherapist) को विभिन्न अर्वुदो की सुग्राहिता-विशिष्टताओ का ज्ञान होना आवश्यक है।

पूर्व-विकिरिण के प्रभाव

यदि विकिरण के पश्चात् अर्बुद की पुनरावृत्ति (recurrence) होती है तो पुन.विकिरण के प्रति उसकी सुग्राहिता कम हो जाती है। पुन पुन· किरणन की आवश्यकता पडने पर, उदाहरणतः चिरकारी माइलॉयड श्वेताणुरक्तता (chronic myeloid leukaemia) या होजकिन का रोग (Hodgkin's) disease) में, क्रमशः अर्वुद-ऊतक की सुग्राहिता घटती जाती है; अन्ततः वह पूर्णतः विकिरण-प्रतिरोधी हो जाता है तथा केवल ऐसे तीव्र किरणन से ही प्रभावित होता है जो ऊतक-दाह (tissue burns) उत्पन्न कर दे। इस कारण कैसर का पुन· पुनः किरणन प्राय अनुपयुक्त होता है, किन्तु कुछ अतिसुग्राही दुर्दम अर्वुद इसके अपवाद है, उदाहरणत· सेमिनोमा (seminoma) की द्वितीयक वृद्धिया (secondary growths), चिरकारी माइलायड श्वेताणुरक्तता तथा होजकिन का रोग।

तरंग-दीर्घता का प्रभाव

रेडियम, कोवाल्ट-60 अथवा वहुदशलक्ष-वोल्ट एक्सरे-उपकरण (multi-million-volt xray-apparatus) से उत्पन्न होने वाली अतिलघु तरग-दीर्घता का विकिरण 200-400 kV परिसर के गम्भीर एक्सरे उपकरण द्वारा उत्पन्न विकिरण की तुलना मे जैविक प्रभाव की दृष्टि से उत्तम होता है या नही इस पर वैज्ञानिको तथा चिकित्सकों का मतभेद है। किन्तु इस प्रश्न का उत्तर सम्भवत. नकारात्मक है। क्लिनिकल रूप मे देखा गया है कि यदि उपरिस्थ कैसरों की चिकित्सा के लिए 60 kV के शेओल उपकरण (Chaoul apparatus) तथा 2 Me.V के तुल्य रेडियम का पृथक् पृथक् प्रयोग किया जाए तो दोनो का परिणाम समान होता है। किन्तु अतिवोल्ट उपकरणो का प्रयोग तकनीकी दृष्टि से सुविधाजनक रहता है; मृदु तथा कठोर ऊतक ऐसे विकिरण का समान अवशोषण करते है, कोवाल्ट पुज (cobalt beam) का अधिकतम आयनकारी प्रभाव त्वचा स्तर से 4-5 mm गहरा होता है, फलस्वरूप त्वचा प्रतिक्रिया मद होती है और अनुप्रयोग प्रविधि सरल होती है।

कैसरघातक मात्रा (cancer lethal dose)को निर्धारित करते समय विकिरण के उपरिवर्णित भौतिक गुणो को दृष्टिगत रखना आवश्यक है। ये भिन्न जाति के अर्बुदो को भिन्न रूप मे प्रभावित करते है, यद्यपि कभी-कभी समजातीय अर्बुदो में भी भेद पाया जा सकता है। विकिरण के प्रभाव के दो अंग

होते है—कोशिकानाश (cellular destruction) तथा पीठिका-अनुक्रिया (stromal response)। यह प्रभाव विकिरण की एक बार मे अनुप्रयुक्त मात्रा तथा कुल विकिरण परिमाण के मात्राप्रभाजन (dose fractionation) की विधि पर निर्भर होता है।

प्रोफेसर रेगोड (Regaud) के प्रयोगो के आधार पर कूटार्ड (coutard) ने स्वरयत्र के कैसर की चिकित्सा के लिए दीर्घकाल तक अल्प-तीव्रता के विकिरण की आशिक मात्राओ को प्रयुक्त किया और इस विधि को अत्यन्त लाभप्रद पाया। पेरिस के 'फाउन्डेशन क्यूरी इन्स्टीट्यूट' (Foundation Curie Institute) मे प्रोफेसर बैक्लीस (Baclesse) द्वारा भी इस विधि का अनुसरण स्वरयन्त्र तथा स्तन के कैसर की चिकित्सा के लिए किया जा रहा है जिससे सिद्ध हो चुका है कि अर्बुद के शमन के लिए आवश्यक जैविक प्रतिक्रियाओ के समुचित प्रेरण (induction), वर्धन (development) व अनुरक्षण (maintenance) के लिए मात्रा का उचित प्रभाजन (proper fractionating) आवश्यक है।

प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि कैसर चिकित्सा के लिए विकिरण की सर्वोचित मात्रा क्या है। यह अनेक घटको पर निर्भर करती है, यथा अर्बुद का आकार, आपेक्षिक गभीरता (relative depth), शरीररचनात्मक स्थिति (anatomical site), विकिरण-सुग्रहिता, अर्बुद का वृद्धि-काल, अर्बुदशैया के ऊतको की रचना आदि। इन घटको का प्रभाव कितना महत्त्वपूर्ण है, यह कपोल तथा भग के कार्सिनोमा (carcinoma) से स्पष्ट है; कपोल का कार्सिनोमा सहज ही विकिरण द्वारा नष्ट हो जाता है, किन्तु दूसरा विकिरण के प्रति अत्यल्प अनुक्रिया करता है।

एक्सरे या विकिरण-चिकित्सात्मक नुस्खा (Radiotherapeutic Prescription)

चिकित्साविज्ञान मे औषधि की मात्रा प्राय रोगी की आयु तथा भार के आधार पर निर्धारित की जाती है, शरीर के किसी विशेष अग या भाग मे औषधिसान्द्रता का ध्यान रखना आवश्यक नही होता। किन्तु एक्सरे या विकिरण चिकित्सा का प्रभाव ऊतको मे से प्रवाहित विकिरण पर नही, ऊतको द्वारा विकिरण की अवशोषित मात्रा पर निर्भर करता है। इस कारण विकिरण-चिकित्सा के समय मात्रा का यथार्थ मापन आवश्यक है। इस दिशा मे पिछले 50-60 वर्षों से कार्य होता रहा है, तथा अन्तत. 1953 में विकिरणविज्ञान (एक्सरे-विज्ञान)

सम्वन्धी इकाइयो के अन्तर्राष्ट्रीय कमीशन (International Commission on Radiological Units) ने रैड (rad) नामक यूनिट को मान्यता प्रदान की है।

रैड (rad) का प्रयोग शरीर के किसी भाग-विशेष द्वारा अवशोषित विकिरण की मात्रा को अभिव्यक्त करने के लिए किया जाता है। यह यूनिट पहले से प्रचलित 'r' या रुन्टगेन (roentgen) नामक यूनिट की तुलना मे अधिक यथार्थ है जिसका नामकरण एक्स-किरणो के खोजकर्ता प्रोफेसर रुन्टगेन (Roentgen) के नाम पर किया गया है। एक रुन्टगेन वह विकिरण ऊर्जा है जिसका अवशोपण वायु का एक नियत द्रव्यमान (mass) विशिष्ट परिस्थितियो मे एक नियत विन्दु पर कर पाता है। व्यावहारिक रूप से इस यूनिट का प्रयोग चिकित्सा के लिए प्रयुक्त विभिन्न तरग-दीर्घता के एक विस्तृत क्रम (Range) के लिए किया जाता है—साधारण एक्स-किरणो से लेकर रेडियम या रेडियो-एक्टिव कोवाल्ट (Co-60) से निकलने वाली कठोरतम गामा-किरणो की अभिव्यक्ति रुन्टगेन के माध्यम से की जाती है। विकिरण की मात्रा को रन्टगेन से रैड मे वदलना कठिन नही है, इस प्रयोजन के लिए कतिपय सहज फार्मूले उपलब्ध है, किन्तु यहा उनका वर्णन करना आवश्यक नही है।

विकिरण के विभिन्न प्रकारों का जैविक प्रभाव निर्मुक्त ऊर्जा के आकाशीय वितरण (spatial distribution) तथा ऊर्जा की कुल अवशोपित मात्रा पर निर्भर होता है। अत. विकिरण-उपचार के लिए अर्वुदयुक्त स्थल पर विकिरण की निश्चित मात्रा (यथा 6000 r), निश्चित समय मे इस प्रकार प्रयुक्त की जाती है कि त्वचा, अर्वुद के निकटस्थ स्वस्थ ऊतको तथा शरीर के अन्य अगो को निम्नतम विकिरण अभिघात पहुचे। वाह्य किरणन (external radiation) करते समय विकिरण के विविध प्रवेशद्वारो तथा विविध आकार के क्षेत्रों का उपयुक्त चुनाव करने के लिए चिकित्सक की सहायतार्थ सममात्रा-वक्रो (isodose curve) का प्रयोग किया जाता हे। वाह्य किरणन अनेक स्रोतो से प्राप्त किया जा सकता है, यथा एक्सरे उपकरण, रेडियम वम, टेलीकोवाल्ट यूनिट (tele-cobalt unit) आदि।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, विकिरण का जैविक प्रभाव विकिरण के प्रकार पर नही, उसकी अवशोपित मात्रा पर निर्भर होता है। उदाहरणतः रेडियम की अल्प मात्रा का प्रयोग विक्षति (lesion) की स्थिति और भेद के अनुसार निम्नलिखित अनेक प्रकार किया जा सकता है।

1. पृष्ठीय अनुप्रयोग (surface application)—सांचों (moulds) या अनुप्रयोगको (applicators) मे रेडियम सूचिकाओं को अन्तर्निहित करके। उदाहरणत. तालु, कपोल, दन्त-उलूखल (dental alveolus) आदि का प्रारम्भिक पृष्ठगत कैंसर।

2. अन्तराली अनुप्रयोग (interstitial application)—पूर्वनिश्चित ज्यामितीय प्रारूप के अनुसार अर्बुदो मे रेडियम सूचिकाओ के अन्त स्थापन द्वारा। उदाहरणतः जिह्वा तथा कपोल का कैंसर।

3 अन्त गुहिका अनुप्रयोग (intracavity application)—शारीरिक गुहिकाओ (योनि, गर्भाशय ग्रीवा, गर्भाशय) मे प्रत्यक्षत' अथवा शल्यविधि द्वारा जैसे मूत्राशय अथवा ऊर्ध्वहनु के कोटर (maxillary antrum) के कैंसर मे, रेडियम सूचिकाओ के प्रवेश द्वारा।

4 वाह्य पुज अनुप्रयोग (external beam application)—या रेडियम वम (radium bomb) का एक्सरे ट्यूब के सिद्धान्तानुसार प्रयोग।

पिछले कुछ वर्षों मे कोवाल्ट-60, स्वर्ण-198, टेन्टेलम-182 (tantalum-182) तथा रेडियम से व्युत्पन्न रेडोन (radone) आदि कृत्रिम रेडियोएक्टिव-पदार्थों की खोज कर ली गई है, तथा फलस्वरूप लघु गामा किरणो के स्रोतो और प्रयोगो मे वृद्धि हो गई है। अन्य रेडियोएक्टिव आइसोटोपो (जैसे आयोडीन-131, फास्फोरस-32) का प्रयोग अर्बुदविशेष द्वारा उनके सान्द्रण पर निर्भर होता है, उदाहरणार्थ अवटु ग्रथि के कैंसर के लिए ^{131}I और पोलीसाइथीमिया वीरा (polycythaemia vera) के लिए ^{32}P का प्रयोग (देखे पृष्ठ 719)।

विभिन्न रचना वाले ऊतकों में मात्रा-वितरण (Dosage Distribution in Tissues of varying composition)

इस अध्याय के आरम्भ मे कहा जा चुका है कि द्रव्य द्वारा विकिरण का अवशोषण उसके परमाणु भार (atomic weight) पर निर्भर होता है। अस्थि अधिकांशत. कैल्शियम की बनी होती है, जिसका परमाणु भार 40 है; इसके
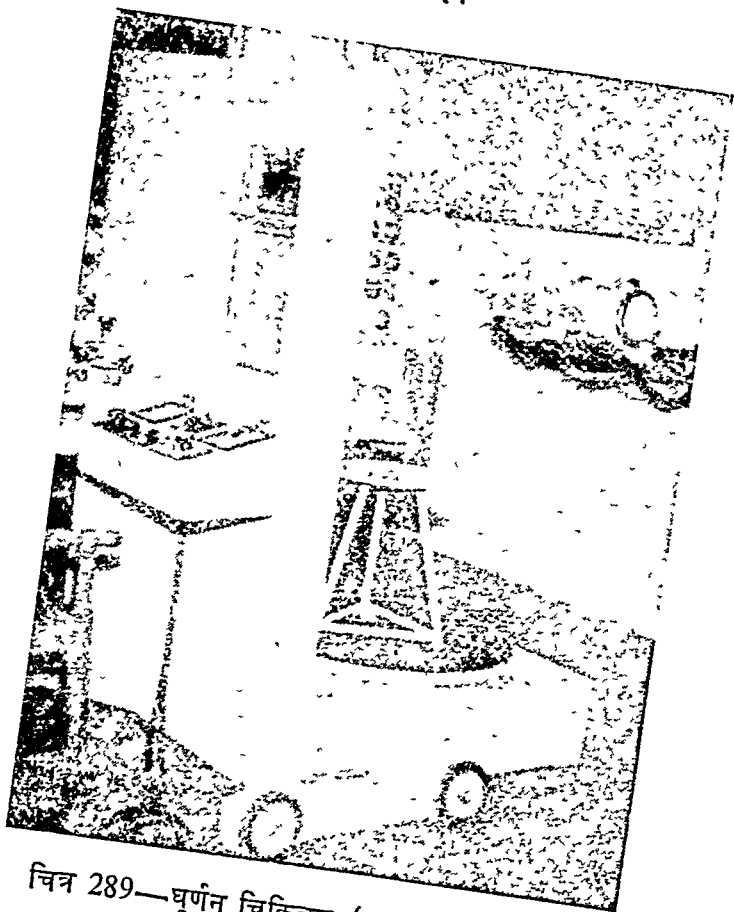
चित्र 289—घूर्णन चिकित्सा (rotation therapy)

विपरीत मृदु ऊतक (वसा, पेशी) हाइड्रोजन, आक्सीजन, कार्बन, नाइट्रोजन आदि अल्प परमाणु भार के तत्वो से बने होते है। स्पष्ट है कि विकिरण पथ मे इन विभिन्न प्रकृति के ऊतको के उपस्थित होने पर इनके द्वारा अवशोपित विकिरण की मात्रा भी विभिन्न होगी। इस भिन्नता का अल्पाधिक होना विकिरण के प्ररूप पर निर्भर होता है। अधिक किलोवोल्ट (लगभग 3 या 4 Me V.) पर उत्पन्न विकिरणो का प्रयोग करते समय यह भिन्नता नही रहती। ऐसे विकिरण उत्पन्न करने के आधुनिकतम साधन टेलीकोवाल्ट –60 पुज यूनिट (telecobalt-60 beam unit) तथा रैखिक त्वरक (linear accelerator) है।

उपकरण

विकिरण-चिकित्सा के लिए प्रयुक्त उपकरणों मे से कुछ को चित्र 289, 290 तथा 291 मे दिखाया गया है।

विकिरण-चिकित्सा

ऐक्सरे या विकिरण-चिकित्सा (radiotherapy) तीन प्रकार की हो सकती है : (1) चिकित्सात्मक (curative), (2) प्रशामक (palliative); (3) शस्त्रकर्मपूर्व या शस्त्रकर्मपश्चात् काल मे, शल्यकर्म चिकित्सा के सहयोग के
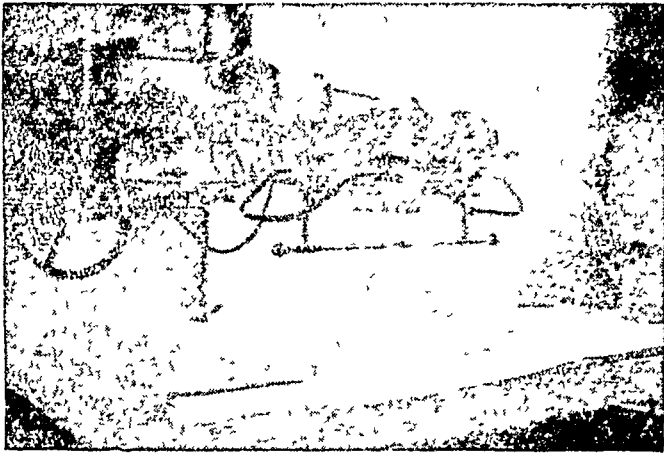
चित्र 290—अभिसारी चिकित्सा (convergent therapy)

चित्र 291—शाओल या संस्पर्श चिकित्सा (Chaoul or contact therapy)

हेतु। जब किरणन का लक्ष्य चिकित्सात्मक हो तो पूर्ण कैंसरघातक मात्रा दी जाती है। ऐसा उन्ही दुर्दम अर्बुदो मे सम्भव होता है जिनका निदान शीघ्र हो, आकार लघु हो और विस्तार केवल उद्भव स्थल (site of origin) तक सीमित हो। उन्हे विकिरण की प्रचुर मात्राओं द्वारा किरणित किया जाता है, उदाहरणत 4–6 सप्ताह मे कुल 6000 r का वाह्य विकिरण अथवा 120-186 घटों तक रेडियम सूचिकाओ द्वारा विकिरण। ऐसा करते समय तीव्र ऊतक-प्रतिक्रिया की आशका रहती है।

प्रशामक विकिरण-उपचार (palliative radiotherapy) उन रोगियो के लिए होती है जिनका रोग निदान के समय तक विस्तार कर चुका हो अथवा अन्य कारण से असाध्य हो। ऐसे उपचार का उद्देश्य केवल रोगी का कष्ट कम करना होता है; अत विकिरण इतना तीव्र नही होना चाहिए जिससे अत्यधिक विकिरण-प्रतिक्रिया उत्पन्न हो।

शस्त्रकर्म प्रयोग से पूर्व अथवा उसके पश्चात् विकिरण का प्रयोग लसीका विस्तारो (lymphatic extensions) के दमन के लिए किया जाता है। इसके उदाहरण स्तन कैंसर के लिए उन्मूलक स्तनोच्छेद (radical mastectomy) तथा वृषण के सेमिनोमा (seminoma) के लिए वृषणोच्छेदन है। विकिरण के शस्त्र-कर्मपूर्व प्रयोग से अर्बुद के आकार, वाहिकामयता (vascularity) तथा विसरण (dissemination) की सम्भावना घट जाती है। इस प्रकार विकिरण के सहयोग से शस्त्रकर्म अपेक्षाकृत निरापद हो जाता है। शस्त्रकर्मपूर्व-विकिरण प्रयोग के उदाहरण निम्नलिखित है — विल्म का अर्बुद (Wilms' tumour), अति तीव्र वर्धनशील स्तन-कार्सिनोमा (breast carcinoma), वृक्क कैंसर आदि।

चिकित्सात्मक विकिरण निम्नलिखित के लिए किया जाता है—त्वचा, कपोल, ओष्ठ, अग्र दो-तिहाई जिह्वा, गुदा, मूत्राशय, शिश्न तथा गर्भाशयी ग्रीवा का कैंसर और स्वरयन्त्र व ऊर्ध्वहनु कोटर (maxillary antrum) का अन्तस्थ (intrinsic) कैंसर। भारतवर्ष मे कैंसर के कुल रोगियों मे से लगभग दो-तिहाई उक्त मे से एक प्रकार के कैंसर से ग्रस्त होते है। अत शीघ्र निदान तथा समुचित चिकित्सा द्वारा इन रोगो से पीडित लगभग 80 प्रतिशत व्यक्तियो की पूर्ण चिकित्सा की जा सकती है।

प्रशामक विकिरण-उपचार अनेक प्रकार के कैंसरो के लिए किया जा सकता है, उदाहरणतः होजकिन का रोग (Hodgkin's disease), भ्रूण अर्बुद (embryonal tumours) तथा योनि, ग्रसनी और जिह्वा के पश्च एक-तिहाई भाग के

प्रारम्भिक कैसर। विकिरण के फलस्वरूप इनमे से कुछ रोगी रोगमुक्त भी हो सकते है। होजकिन के रोग तथा पश्च एक-तिहाई-जिह्वा-कैसर के कुछ ऐसे रोगी भी हमारे देखने मे आये है जो 15 या अधिक वर्ष तक रोगमुक्त रह चुके है। शेष दुर्दम अर्बुदो की चिकित्सा का सर्वोत्तम उपाय शीघ्र निदान तथा शस्त्र-कर्म ही है। इनके उदाहरण निम्नलिखित है—आमाशय, बृहदान्त्र और मलाशय का कैसर, श्वसनीजन्य कार्सिनोमा (bronchogenic carcinoma), अस्थिजन्य सार्कोमा (osteogenic sarcoma) ततुसार्कोमा (fibrosarcoma), वसासार्कोमा (liposarcoma), पेशीसार्कोमा (myosarcoma), मेलेनोटिक कार्सिनोमा (melanotic carcinoma) आदि।

चिकित्सात्मक उपचार (Curative therapy)

चिकित्सा विधि का चुनाव

नीचे बताये गये अर्बुदो की चिकित्सा का सर्वोत्तम साधन रेडियम-विकिरण है, जिसका पूर्वलिखित चार विधियो द्वारा प्रयोग किया जा सकता है। इनमे विभिन्न अर्बुदो के लिए सर्वोपयुक्त विधि निम्नलिखित है—ओष्ठ, मुख तथा जिह्वा का कैसर, पृष्ठीय अनुप्रयोग या अन्तराली आरोपण (interstial implantation) द्वारा ; उलूखली श्लेष्माकला (alveolar mucous membrane) तथा तालु का एपिथीलियोमा (epithelioma) के लिए साचा अनुप्रयोग (mould application) सर्वोत्तम है।

रेडियम सूचकाओ का प्रयोग निम्न प्रकार किया जाता है—सर्वप्रथम अर्बुद के ध्यानपूर्वक परिस्पर्शन द्वारा उसके क्षेत्रीय विस्तार का अनुमान लगाया जाता है, तथा यथासम्भव इस सीमा के चारो ओर एक सेन्टीमीटर बाहर तक के क्षेत्र को विकिरण के लिए चुना जाता है। फिर उपयुक्त मात्रा की गणना करके उचित प्रकार की सूचिकाओ को चुन कर उनको वृत्ताकार, वर्गाकार या आयताकार प्ररूप मे इस प्रकार लगाया जाता है कि उस क्षेत्र मे सब बिन्दुओ पर समान विकिरण हो। अन्तराली रेडियम (interstitial radium) का प्रयोग करते समय भी सूचिकाओ का एकतलीय (single plane), द्वि-तलीय (double plane) या सिलिंडर प्रतिरूपी (cylindrical pattern) यथोचित आरोपण (implantation) किया जाता है ताकि विकरण उपयुक्त व एकसमान हो। मुख गुहिका (oral cavity) मे सूचिकाओ का आरोपण अन्त श्वासप्रणाल गैस व आक्सीजन सज्ञाहरण करके तब किया जाता है। प्रत्येक रेडियम-सूचिका को

चित्र 292—मुख गुहिका मे रेडियम सूचिकाओं का आरोपण

(अ) पार्श्व दृश्य,
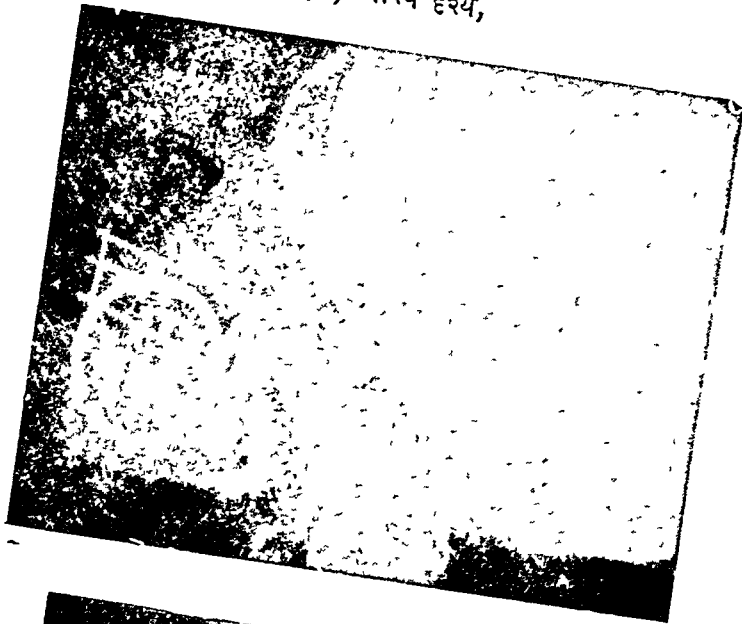
(आ) अग्र-पश्च दृश्य

अपने स्थल पर दृढतापूर्वक स्थापित करना आवश्यक होता है ताकि वह समय से पहले ही स्वमेव स्थानच्युत न हो जाय। सूचिका-स्थापन के पश्चात्, इसके पूर्व कि रोगी सज्ञाहरण की अवस्था से उत्तर (recover) आये, आरोप(implant) के अग्र-पश्च (antero-posterior) तथा पार्श्व (lateral) विकिरणी चित्र (radiograph)लिए जाते हैं। ये चित्र त्वचा पर रखे एक ज्ञात व्यास के धातु-वलय (metal ring) के निर्देशानुसार लिये जाते है (चित्र 292 अ और आ)। इन विकिरणी चित्रों का प्रयोग सूचिकाओं के आकाशीय वितरण (spatial distribution) को जाचने के लिए किया जाता है। यदि यह वितरण अनुचित हो तो उनके अतिसघन होने पर परिगलन (necrosis) का तथा परस्पर अति दूरस्थ होने पर अल्पमात्रा-विकिरण के कारण आवर्तन (recurrence) का भय रहता है। साधारणत अधिकांश अर्बुदों की चिकित्सा के लिए 168 घंटो मे 6000 r विकिरण का प्रयोग किया जाता है।

सूचिका आरोपण तथा ऊतक प्रतिक्रिया की अवस्था में निगरण कष्टपूर्ण होता है, अत परिचर्या के समय रोगी के आहार और मुखीय स्वच्छता की ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। श्वसनी-न्यूमोनिया (broncho pneumonia) के निवारण के लिए आवश्यक पूर्वोपायो का भी ध्यान रखना चाहिए।

अन्तराली आरोपो (interstitial implants) का प्रयोग करते समय ध्यान रखना चाहिए कि पर्यस्थि (periosteum) को क्षति न पहुँचे तथा रेडियम सूचिकाएँ अस्थि के अत्यन्त समीप न हो। कारण यह है कि रेडियम सूचिका से उत्पन्न विकिरण की अधिकतम तीव्रता उसके प्रत्यक्ष समीपवर्ती क्षेत्र मे होती है तथा फलस्वरूप अस्थि-परिगलन (bone necrosis) नामक गम्भीर उपद्रव होने का भय रहता है। जिह्वा के अग्र दो-तिहाई भाग के कैंसर का विकिरण एक्स-किरणों द्वारा नहीं, रेडियम आरोपण द्वारा उत्तम होता है; पश्च एक तिहाई जिह्वा के कैंसर के लिए तीव्र या अतितीव्र वोल्ट के बाह्य विकरण का प्रयोग करना चाहिए।

द्वितीयक पर्व (Scondary glands)

यदि ग्रीवा मे सस्पर्श्य (palpable) पर्व न हो तो प्रतीक्षा और प्रेक्षण (wait & watch) तथा नियमित समयान्तर पर पर्वों की जाच की नीति सर्वश्रेष्ठ रहती है। यदि पर्व सस्पर्श्य हो और उनके दुर्दम (malignant) होने की सम्भावना हो तो सर्वोत्तम उपाय ग्रीवा का समूह-व्यवच्छेदन (block

dissection) है। यदि उन्मूलक ग्रीवा-व्यवच्छेदन (radical neck dissection) सम्भव न हो तो रोगी को प्रशामक गभीर एक्स-रे चिकित्सा (paliative deep x-ray therappy) दी जा सकती है। विकिरण द्वारा द्वितीयक पर्वों को कैंसर-रहित करना असम्भव होता है ; इसका विरल अपवाद एकल पर्व (solitary node) है, जिसका दमन रेडियम के अन्तराली आरोपण (interstitial implantion) द्वारा सम्भव हो सकता है।

आनन और हाथों का त्वचा-कैंसर

आनन और हाथो की त्वचा के कैंसर तथा आधार-कोशिका कार्सिनोमा (basal cell corcinoma) की चिकित्सा के लिए रेडियम या मन्द वोल्ट एक्स-रे विकिरण का पृष्ठीय अनुप्रयोग श्रेयस्कर रहता है ; शस्त्रकर्म मे व्यापक उच्छेदन (excision) तथा पुनर्निर्माण (reconstruction) करना पडता है। विकिरणचिकित्सा के कारण प्रसामान्य शारीरिक संरचना मे व्यतिक्रम नही पडता।

ऊर्ध्वहनु कोटर तथा मूत्राशय का कैंसर

ऊर्ध्वहनु कोटर (msaxillary antrum) तथा मूत्राशय का आरम्भिक कैंसर शस्त्रकर्म के पश्चात् रेडियम द्वारा अभिकृत किया जा सकता है। स्थान की सीमितता तथा मूत्राशय भित्ति के विन्यास के कारण साधारण रेडियम सूचिकाओं के स्थान पर रेडोन बीजों (radon seeds) का प्रयोग किया जा सकता है। तथापि अति लघु रेडियम सूचिकाओ का, जिन्हे 'बीज' (seeds) कहा जाता है, प्रयोग भी किया जा सकता है। इस चिकित्सा के लिए मूत्राशय के त्रिभुज (trigone) पर स्थित 3 cm. व्यास से कम की विक्षतिया (lesions) उपयुक्त होती है। यह विधि अत्यन्त सन्तोषप्रद पाई गई है।

गुदा का कैंसर

गुदा के आरम्भिक कैंसर का रेडियम उपचार एकतल आरोप (single plane implant) द्वि-तल आरोप अथवा गुदानाल मे स्थापित एक केन्द्रीय कोड (central core) से युक्त सिलिंडरी आरोप द्वारा किया जा सकता है। किन्तु रोगी की परिचर्या करते समय भाग को स्वच्छ रखना कठिन होता है तथा पूर्ण अवधि से पूर्व ही सूचिकाओ के स्थानच्युत होने की सम्भावना रहती है। यदि रेडियम चिकित्सा असफल रहे तो शल्य-चिकित्सा का प्रयोग

किया जा सकता है।

स्वरयन्त्र का कैंसर

यदि कैंसर एक तन्तु (cord) तक ही सीमित हो तो उसकी चिकित्सा दो प्रकार की जा सकती है— पुंज-दिष्ट (beam directed) एक्स-रे चिकित्सा (अनेक लघु क्षेत्रो, multiple small fields द्वारा) तथा रेडियम चिकित्सा (फिन्जी—हार्मर आपरेशन, Finzy-Harmer operation द्वारा)। पुँजदिष्ट लघु-क्षेत्र एक्स रे उपचार अत्यन्त सन्तोषप्रद रहता है। इस विधि मे अर्बुद को 5-6 सप्ताह मे 6000 r का विकिरण दिया जाता है। यदि इस विधि का प्रयोग कुशलता तथा सावधानीपूर्वक किया जाय तो उपचार के अनेक वर्ष पश्चात् तक भी कोई अवाछनीय त्वचा या उपास्थि-प्रतिक्रिया प्रकट नही होती।

शिश्न कार्सिनोमा

आरम्भिक शिश्न-कार्सिनोमा के सभी रोगियो की चिकित्सा रेडियम कालर (radium collar) द्वारा करनी चाहिए। इस विधि से पर्याप्त सफलता प्राप्त होती है (चित्र 293 अ तथा आ)।

शिश्न कार्सिनोमा के रोगी मे शिश्नमुड (glans penis) तथा शिश्नकाड (penile shaft) की प्रभावग्रस्तता का अनुमान अत्यन्त ध्यानपूर्वक करने की आवश्यकता होती है। यदि शिश्नमुड बुरी तरह नष्ट हो गया हो या शिश्न-काड की आधी से अधिक लम्बाई अर्बुद मे आक्रान्त हो चुकी है तो रोग रेडियम चिकित्सा के लिए उपयुक्त नही है। अन्य रोगियो मे अर्बुद-केन्द्र की ओर निर्दिष्ट, लगभग 5000r की कुल मात्रा का, 168 घन्टो मे सतत किरणन पर्याप्त होता है। इस प्रयोजन के लिए रेडियम की आवश्यक मात्रा पूर्व-परिकलित (precalculated) व्यास व लम्बाई के एक काष्ठ सिलिडर पर वितरित की जाती है। उपचारकाल मे यह ध्यान रखना आवश्यक है कि शिश्न और रेडियम के स्रोत की पारस्परिक स्थिति मे त्रुटि न आने पाए। विकिरण-चिकित्सा के असफल रहने पर शल्य-चिकित्सा का निषेध नही होता।

आस्टियोक्लास्टोमा (Osteoclastoma)

आस्टियोक्लास्टोमा की चिकित्सा शस्त्रकर्म द्वारा अथवा एक्स-रे विकि-

रण द्वारा, दोनों प्रकार से की जा सकती है। एक्स-रे उपचार का परिणाम पर्याप्त सन्तोपप्रद रहता है, यहाँ तक कि उन रोगियो में भी, जिनमें अस्थि-रोपण (bone-grafting) असफल सिद्ध हुआ हो। अर्बुद के मध्य बिन्दु की ओर निर्दिष्ट विकिरण की 8 दिन में 2000 r मात्रा पर्याप्त होती है। यदि विक्षति (lesion) लघु अस्थियों मे या रेडियम के निम्न छोर पर स्थित हो तथा उसकी अवधि अल्प हो तो शस्त्रचिकित्सा उत्तम होती है, क्योंकि ऐसी परिस्थिति मे उत्तम क्रियात्मक परिणाम (functional result) की आशा की जा सकती है।

चित्र 293—शिश्न कार्सिनोमा, चिकित्सा से (अ) पूर्व, तथा (आ)पश्चात्

प्रशामक उपचार (Palliative Therapy)

भ्रूण-उद्भव (embryonal origin) के समस्त विकिरण-सुग्राही अर्बुदों के उपचार का लक्ष्य प्रशामक उपचार होता है। इनके उदाहरण निम्नलिखित हैं: सेमिनोमा (seminoma) डिम्ब ग्रन्थि (ovary) के भ्रौण अर्बुद, विल्म का अर्बुद (Wilm's tumour) तथा जालिका-अन्त:कलाजनित (reticulo-endothelial origin) के अर्बुद। अन्तिम वर्ग में निम्नलिखित हैं: लिम्फो-

सार्कोमा (lymphosarcoma), थाइमोमा (thymoma), ईविंग का अर्बुद (Ewing's tumour), होजकिन का अर्बुद (Hodgkin's tumour) तथा चिरकारी माइलायड श्वेतकोशिकारक्तता (chronic myeloid leukaemia)।

प्रशामक उपचार (palliative treatment) के लिए चिकित्सात्मक उपचार (curative treatment) की अपेक्षा कम विकिरण (3 सप्ताह मे 3000 r) की आवश्यकता होती है। साधारणत: 200 400 kV. के सामान्य एक्स-रे विकरणन का प्रयोग किया जाता है। इस विधि द्वारा अर्बुदो का पर्याप्त प्रतिक्रमण (regression) हो जाता है; विल्म के अर्बुद के शस्त्रकर्मातीत (unoperable) रोगियो मे कुछ प्रतिशत रोगी विकिरण-उपचार के पश्चात् शस्त्रकर्मयोग्य भी हो जाते है।

पश्च एक-तिहाई जिह्वा, ग्रसनी और टासिल के कैसर तथा गर्भाशय की ग्रीवा (cervix) और काय (body) के कैसर के परागर्भाशयी (parametrial) विस्तार की चिकित्सा के लिए भी बाह्य किरणन का प्रयोग सर्वोपयुक्त रहता है। इनके तथा कपोल के प्रगगत कैसर (advanced cancer) के विकिरण का सर्वोत्तम साधन मेगावोल्ट यूनिटो (megavolt units) का प्रयोग है। इनके उदाहरण कोवाल्ट-60 पुज यूनिट तथा बहुदशलक्ष वोल्ट एक्स-रे उपकरण (multimillion volt x-ray apparates) है। इनके प्रयोग से विकिरण विधि अत्यन्त सरल हो जाती है, तीव्र त्वचा-प्रतिक्रिया का भय नही रहता तथा अस्थि और मृदु ऊतको में अवशोषण समान होता है।

शल्यचिकित्सा के लिए सहयोगी उपचार

सहायक विकिरण चिकित्सा (supportive radiotheraphy) का सर्वोत्तम उदाहरण स्तन कैसर है। सांख्यिकीय अभिलेखो द्वारा इस तथ्य की पुष्टि की जा चुकी है कि यदि स्तन कैसर की शल्य चिकित्सा के पूर्व, पश्चात् या दोनो समय, विकिरण भी किया जाय तो पच-वर्षीय रोगमुक्तिदर अधिक होती है। कुछ अन्वेषक, उदाहरणत: एडिनबरा के प्रोफेसर मेकव्हिर्टर (Mc Whirter) तो यहाँ तक कहते है कि सरल स्तनोच्छेदन (simple mastectomy) के पश्चात् विकिरण के उचित प्रयोग मात्र से ही सब विधियो की तुलना मे उत्तम परिणाम प्राप्त किए जा सकते है, किन्तु अन्य चिकित्सक इस कथन से सहमत नही है। तथापि यह निर्विवाद है कि आरम्भिक स्तन-

कैंसर (प्रथम अवस्था, stage I) की चिकित्सा की प्रचलित विधियों मे उन्मूलक स्तनोच्छेदन (radical mastectomy) सर्वोत्तम है। रोग की अन्य सब अवस्थाओ मे किसी न किसी रूप में विकिरण-चिकित्सा अनिवार्य होती है। अत्यन्त प्रगत रोगियों का हार्मोन उपचार (horomone therepy) किया जाता है। लाभप्रद प्रभाव की अवधि कुछ मास से 2-5 वर्ष तक होती है।

स्तनकार्सिनोमा पर डिम्बग्रन्थि का प्रभाव

सभी रज:स्रावी रोगियों को हम वन्ध्यकरण (castration) का आदेश देते हैं। यदि समय अल्प हो तो वन्ध्यकरण ही सर्वोत्तम और शीघ्रतम साधन है। विकिरण द्वारा वन्ध्यकरण का परिणाम भी समान रूप मे सन्तोपजनक होता है, किन्तु उसमे लगभग 3 मास लगते है।

लाक्षणिक चिकित्सा (Symptomatic Therapy)

निम्नलिखित अवस्थाओं में विकिरण चिकित्सा लाभदायक, किन्तु अल्पस्थायी होती है : हाइपरनेफ्रोमा (hypernephroma), डिम्बग्रन्थि का कार्सिनोमा, स्वरयन्त्र का वहि:स्थ कार्सिनोमा (extrinsic carcınoma of the larynx), मूत्राशय का कार्सिनोमा (यदि वह रेडियम आरोपण के उपयुक्त न हो) अवटुग्रन्थि-कैंसर, लालाग्रन्थियो के अर्बुद (पेरोटिड ग्रन्थि के मिश्रित अर्बुदों—mixed tumosru of parotid gland को छोडकर), ग्रासनली का कार्सिनोमा (उनसे अन्य जो निम्न एक-तिहाई भाग मे स्थित हों), श्वसनीजन्य (bronchogenıc) कार्सिनोमा, पृथक् अस्थिविक्षेप (isolated bone metastasis) विशेपत: यदि वह मेरु तथा भारवह (weight bearıng) अस्थियो मे हो, तथा सुग्राही मध्यस्थानिका। अर्बुद का लाक्षणिक उपचार का सिद्धान्त रोगी के कष्ट को कम करना है। ऐसा निम्न उद्देश्यो की पूर्ति द्वारा किया जा सकता है—(1) कष्टप्रद लक्षणो से मुक्ति, उदाहरणत मध्यस्थानिका मे जैव अंगो पर पडने वाले दवाव से उत्पन्न लक्षण, या मूत्राशय कैंसर मे रक्तस्राव के कारण उत्पन्न रक्तमेह (haematuria) ; (2) ग्रासनली का पुन'नलिकाकरण (recanaligation) करके जठर-छेदन (gastrostomy) को विलम्बित करना; (3) कशेरुका मे द्वितीयक निक्षेप (Secondary deposıt) की वृद्धि को रोकना तथा उसे सीमित रखना ताकि वैकृत अस्थिभग (patholagıcal

fracture) तथा उसके कारण होने वाले कष्टप्रद उपद्रवो का निवारण किया जा सके ।

निम्नलिखित अवस्थाओ मे विकिरण-चिकित्सा अधिक उपयोगी नही होती है : अस्थिजन्य सार्कोमा (osteogenic sarcoma), ततुसार्कोमा (fibrosarcoma), पेशीसार्कोमा (myosarcoma), वसासर्कोमा (liposarcoma), मेलेनोमा (melanoma) । आमाशय, क्षुद्रान्त्र, बृहदान्त्र या मलाशय के कार्सिनोमा, यकृत और फुफ्फुस के द्वितीयक (secondary) कार्सिनोमा (सेमिनोमा, seminoma के अतिरिक्त) तथा अन्तिम अवस्था को प्राप्त प्रगत दुर्दम रोग (advanced malignant diseases) का विकिरण करने से कोई लाभ नही होता ; इन रोगियो को विकिरण न देकर केवल अन्य लाक्षणिक उपचार करना ही मानवीय और चिकित्सकीय दृष्टि से श्रेयस्कर है ।

कतिपय सुदम अवस्थाओ में एक्सरे-चिकित्सा

दीर्घकाल से एक्स-रे तथा रेडियम के प्रयोग को केवल दुर्दम अवस्थाओ के उपचार तक ही सीमित रखा जाता रहा था, किन्तु कुछ समय से कतिपय सुदम अवस्थाओ की चिकित्सा के लिए भी इसकी उपयोगिता मानी जा चुकी है । पिछले 20 वर्षों मे एक्स-रे का उपयोग निम्नलिखित अवस्थाओ के लिए किया गया है : (1) शोथी अवस्थाएं (inflamatory conditons) (2) एंकाइलोजिंग स्पोंडिलाइटिस (ankylosing spondylitis); (3) गर्भाशय तथा अंडाशय के कुछ सुदम विकार ।

अनुभव से कतिपय शोथी दशाओ, विशेषत: तीव्र, अनुतीव्र (subacute) तथा स्थानीकृत (localized) प्ररूपो मे विकिरणचिकित्सा नि:सन्देह लाभदायक सिद्ध हुई है । इन दशाओ मे प्रत्यक्षत: संक्रमण के फाकस (focus) को किरणित किया जाता है ।

विकिरण-उपचार के प्रभाव

ये निम्न प्रकार व्यक्त किए जा सकते है ।

लाक्षणिक

लाक्षणिक रूप मे व्यक्तिनिष्ठ (subjective) तथा वस्तुनिष्ठ (objective) दोनों प्रकार की उन्नति देखी जाती है । व्यक्तिनिष्ठ उन्नति रोगी की सामान्य अवस्था मे सुधार तथा वेदनाह्रास के रूप मे दिखाई देती है । किरणन के

पश्चात् आरम्भ के कुछ घटो में वस्तुनिष्ठ चिह्न (objective signs) तनिक उभर सकते है, किन्तु 24-48 घंटे पश्चात् ही शोफ, अन्त:संचरण, लाली और लसीकावाहिनीशोथ (lymphangitis) आदि कम हो जाते हैं। विकिरण-स्थल पर स्थानीय प्रतिक्रिया दो प्रकार की हो सकती है—एक स्थल पर पूयसंग्रह (pus collection) हो सकता है अथवा नि.स्रावों (exudates) का सतत अवशोषण और अन्तत: विक्षति का पूर्ण वियोजन (resolution) हो सकता है। रोगी का ताप वक्र (temperature curve) इन दोनो परिस्थितियो में यथानुसार भिन्न प्रकार का होता है।

स्थानीय रूपान्तरण

विकिरण के पश्चात् 24-48 घटे मे ही सक्रामी जीवो का क्रमश: नाश होने लगता है। ऐसा सम्भवत: भक्षककोशिकाक्रिया (phagocytosis) द्वारा होता है।

परिसंचरणरत रक्त में रूपान्तरण

आरम्भ के कुछ घटों की श्वेतकोशिका-अल्पता (leucopenia) के पश्चात् श्वेतकोशिकाबहुलता (leucocytosis) की स्थिति उत्पन्न हो जाती है और उनमे बहुलरूपकेन्द्रको (polymorphonuclear) का अनुपात बढ जाता है तथा 'आर्नेथ सूचक' (Arneth index) की वाम दिशा मे विचलित होने की प्रवृत्ति पाई जाती है। श्वेतकोशिकाबहुलता की स्थिति 24-48 घटे पश्चात् समाप्त होने लगती है। इस विधि मे प्रयुक्त अल्प विकिरण-मात्राओ के प्रभाव से प्रत्यक्ष जीवाणुघातक (bactericidal) प्रभाव का होना प्रदर्शित नही किया जा सकता, किन्तु इस सम्बन्ध मे स्मरणीय है कि विकिरण-उपचार का प्रभाव अप्रत्यक्ष रूप में आधारी ऊतक (supporting tissue) के रूपान्तर पर भी पड़ सकता है।

संक्षेप

रून्टगेन किरणो द्वारा उपचार करते समय अन्तिम परिणाम उन सभी घटको पर निर्भर होता है जो किरणन के समय क्रियाशील होते है किन्तु इनमे ऊतक पर स्थानीय प्रभाव सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। ये घटक निम्नलिखित हैं: (1) विकिरण का स्थानीय परिसंचरण पर प्रभाव, (2) अन्त:संचरित ऊतक (infilteted tissue) की कोशिकाओ पर नेक्रोबायोटिकी प्रभाव (necor-

biotic action); (3) भक्षककोशिका-क्रिया (phagoctyosis) पर प्रभाव; (4) जालिका-अन्त:कलातन्त्र पर प्रभाव। अन्तिम दोनों घटकों का एकीकरण भी किया जा सकता है, क्योंकि भक्षककोशिका-क्रिया तथा जालिका अन्त:कला-तन्त्र परस्पर सम्बन्धित होते है।

विकिरण उपचार के फलस्वरूप किरणित फोकस (irradiated focus) पर स्थानीय अतिरक्तता (hyperaemia) की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। वह रक्तिमा वाहिका-विस्फार के कारण होती है तथा उपरिस्थ और गभीरस्थ परिसचरण में कतिपय परिवर्तन उत्पन्न करती है। इसका प्रभाव व परिणाम स्थैतिकता (stasis) के समान ही होता है। स्थानीय नेक्रोबायोसिस के फलस्वरूप अन्त:सचरणी कोशिकाए नष्ट हो जाती है तथा तनाव (tension), सूजन और पीड़ा घट जाती है।

संकेत

लेखक तथा उसके सहयोगियो ने पिछले 20 वर्षों मे शोथ वाले रोगो से पीड़ित कुछ सहस्र रोगियो की चिकित्सा की है। उनका वर्गीकरण निम्न प्रकार किया जा सकता है : (1) अशमित निमोनिया (unresolved pneumonia) तथा निमोनिया पश्चात् फुपफुस-विद्रधि (post-pneumotic lung abscess); (2) काली खासी, (3) सन्धि रोग; यथा शस्त्रकर्मोपरान्त शोथ, श्लेषक कला शोथ (Synovitis) व सन्धि शोथ ; (4) फाइब्रोसाइटिस या लम्बेगो (fibrositis or lumbags) ; (5) लसीकापर्वों का तीव्र या चिरकारी शोथ, जैसे यक्ष्मज पर्वशोथ (tuberculous adenitis) ; (6) तन्त्रिकाओ के विकार, उदाहरणत: गृध्रसी (sciatica), त्रिधारा तन्त्रिकार्ति (trigeminal neuralgia) हर्पीज-पश्चात् (post-herhetic) तत्रिकार्ति आदि ; (7) विद्रधि, पनसिका (furuncle), कार्वंकल, व्हिटलो (whitlow) आदि ; (8) विवरशोथ (sinusitis) ; (9) पेरोटिड ग्रथि शोथ (parotitis)—संक्रामी, शस्त्रकर्मो-परांत या तीव्र; (10) अध्यसपृष्ठिका कडरा (supraspinatous tendon) का कैल्सीभवन तथा अन्य सम्बन्धित अवस्थाए ; (11) गैस कोथ (gas gangrene)

फुप्फुस विद्रधि के अधिकाश रोगियो मे सल्फोनेमाइडो (sulphonamides) तथा एटीवायटिको के असमर्थ रहने पर भी विकिरण-उपचार का परिणाम प्राय: लाभप्रद पाया गया है। गैस कोथ (gasgangrene) के एक रोगी मे तो सीरम, सल्फोनेमाइड तथा पेनिसिलिन, सबका प्रयोग निरर्थक रहा, किन्तु एक्स-रे उपचार द्वारा पर्याप्त लाभ हुआ। पनसिका (furuncle), कार्वंकल, विद्रधि,

एरिसिपेलास (erysipelas) पेरोटिडग्रथि-शोथ, विवरशोथ, खंडीय निमोनिया (lobar pneumonia) का विलम्वित शामन (delayed risolution), शल्योपरान्त फुप्फुस विद्रधि, 'वेल' का घात (Bell's palsy), लम्वेगो (lumbago) आदि तीव्र शोथ की आरम्भिक अवस्था मे एक्स-किरणो की अल्प मात्रा (50-1 0 r) प्रर्याप्त प्रभावकारी रहती हैं; पीड़ा तुरंत घट जाती है, शोथ कम हो जाता है तथा पूयता (suppuration) का निवारण हो जाता है। यदि शोथग्रस्त क्षेत्र में पूयता होने के पश्चात् किरणन किया जाय तो पीडा का ह्रास धीरे-धीरे होता है तथा पूय वनने (pus formation) की गति वढ़ जाती है। पूयता की प्रगत अवस्था मे विकिरण-उपचार से कोई लाभ नही होता। उक्त अवस्थाओ को किरणित करने का सर्वोपयुक्त समय शोथ आरंभ होने के 48 घटो के भीतर होता है।

पेरोटिडग्रंथिशोथ तथा काली खासी के रोगियों पर एक्स-किरणो का तत्काल प्रभाव होता है। रोग की आरभावस्था मे यदि पेरोटिड ग्रंथि को 25-50 r का विकिरण दिया जाए तो 48 घटे के भीतर ही रोग रुक जाता है तथा वेदना, अधोहनु स्तम्भ (trismus) ताप आदि मे कमी हो जाती है। इसी प्रकार जव काली खासी मे आकर्ष (spam), हूप (whoop), वमन (vomiting) आदि कष्टप्रद लक्षण आरम्भ हो जाए तो वक्ष को 25 r की दो-तीन मात्राओ द्वारा किरणित करने से पर्याप्त लाभ होता है; यह विकिरण हाइलर पर्वो (hilar glands) की ओर निर्दिष्ट किया जाता है तथा उनकी संकुलता (congestion) और आकार को कम करने मे सहायक होता है। इस प्रकार मध्यच्छद-तंत्रिकाओ (phrenic nerves) का क्षोभ घट जाता है और फलस्वरूप मध्यच्छद-आकर्ष (diaphragmatic spasm), हूप (whoop) तथा वमन समाप्त हो जाते हैं। हमें ऐसी चिकित्सा मे किसी प्रकार के विकिरणोपरात कुप्रभावों का अनुभव नही हुआ है।

जिन चिरकारी शोथयुक्त दशाओ मे विकिरण लाभप्रद होता है उनमे मुख्य निम्नलिखित है। श्लेपक कला शोथ (synovitis), गृध्रसी (sciatica), आधुनिक चिकित्सा द्वारा जव यक्ष्मज पर्वशोथ मे लाभ न हो। इन अवस्थाओ मे वैकृत परिस्थितिया भिन्न होती है, अत. चिकित्सा का अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिए विकिरण की अधिक मात्रा तथा कई वार विकिरण करने की आवश्यकता पड़ती है। सयोजी ऊतक के प्रफलन और श्वेतकोशिका सचरण की गौणता के कारण इन अवस्थाओ में विकिरण-सुग्राहिता कम होती है।

बद्ध कशेरुकासंधिशोथ (ankylosing spondylitis)

ग्रस्त खडों के विकिरण के पश्चात् लाक्षणिक सुधार निम्नरूप में दृष्टिगोचर होता है . (1) पीडा तथा दुर्नम्यता (stiffness) में कमी, (2) फलस्वरूप मेरुदण्ड की गतिशीलता (mobility) तथा वक्ष के विस्तार मे वृद्धि; (3) शारीरिक भार, लोहित-कोशिका गणनाक (erythrocyte count) तथा प्रतिशत हीमोग्लोबिन मे वृद्धि; (4) आरम्भिक उच्च लोहित-कोशिका अवसादन दर (erythrocyte sedimentation rate) का कम होना, (5) आरोग्यता की अनुभूति; (6) उपयोगी कार्य करने की क्षमता की पुन.प्राप्ति ।

किरणन के साथ उपयुक्त शरीरक्रियात्मक उपचार (physiotherapy) का भी प्रयोग करने से चिकित्सा का परिणाम उत्तम रहता है।

सुदम स्त्री-रोगो मे किरणन

विकिरण-उपचार निम्नलिखित स्त्रीरोगो की चिकित्सा मे उपयोगी पाया गया है गर्भाशय रक्तस्राव—अज्ञातहेतुक (idiopathic), अनिवार्य (essential) या क्रियात्मक (functional) रक्तस्राव, जिसमे कोई वैकृत परिवर्तन नही मालूम होता - गर्भाशय अपर्याप्तता(uterine insufficiency), गर्भाशय अन्त स्तर अतिवृद्धि (endometrial hyperplasi)-गर्भाशय, फाइब्रोसिस (fibrosis), रजोनिवृत्ति रक्तस्राव (menopausal haemorrhage) मीट्रोपेथिया हीमरेजिका (metropathia haemorrhagica) आदि। सम्भव है कि इस प्रकार चिकित्सा की जाने वाले सभी रोगी एक समान अवस्था से ग्रस्त न हो, किन्तु व्यावहारिक रूप मे निदान तथा चिकित्सा की दृष्टि से इन सभी रोगो को एक ही वर्ग मे रखा जा सकता है।

उपरिलिखित अवस्थाओ के उपयुक्त निदान के लिए कुशलतापूर्वक किया गया आखुरण (curettage) तथा गर्भाशय-अन्तःस्तर का ऊतिकीय अध्ययन (histological study) अनिवार्य होता है, ताकि कार्सिनोमा की सम्भावना का ज्ञान हो जाय।

डिम्बग्रथि अत्यन्त विकिरण-सुग्राही होती है। स्थायी वन्ध्यकरण (castration) के लिए केवल 3000 r की अत्यल्प मात्रा पर्याप्त होती है जो परिस्थिति के अनुसार वाह्य विकिरण, अन्तर्गुहिका (intracavity) विकिरण अथवा दोनो

के सयोग द्वारा की जा सकती है। कुछ रोगियो में तुरन्त तथा अन्यों में तीन मास के भीतर स्थायी रजोनिवृत्ति (menopause) उत्पन्न हो जाती है। यह स्मरण रखना आवश्यक है कि विकिरण-उपचार रजोस्राव आरम्भ होने से तुरन्त पूर्व नहीं, बल्कि स्राव-समाप्ति के तत्काल पश्चात् के कुछ दिनों मे करना चाहिए।

तन्तुपेशी अर्बुद (fibromyoma)—फाइब्रोमा (fibroma) की चिकित्सा के लिए विकिरण एक अत्युत्तम साधन है: अधिकांश अर्वुदों के लिए इसका प्रयोग लाभप्रद रहता है। जब विकिरण द्वारा वन्ध्यकरण भी हो जाय तो 95 प्रतिशत तन्तुअर्वुदो का अन्तर्वलन (involution) हो जाता है और आकार घट जाता है। उचित प्रकार से चुने हुए रोगियों में 90 प्रतिशत से अधिक की चिकित्सा शस्त्रकर्म के विना सफलतापूर्वक की जा सकती है। तथापि, निम्न अवस्थाए विकिरण उपचार के लिए अनुपयुक्त होती है: (1) दीर्घाकार फाइब्राइड जो नाभि या उससे ऊपर तक वढ चुके हों; (2) अध श्लेष्मा (submucous) तथा अध:पर्युदर्या (subperitoneal) वृन्तकयुक्त (pedunculated) फाइब्राइड।

(अ)
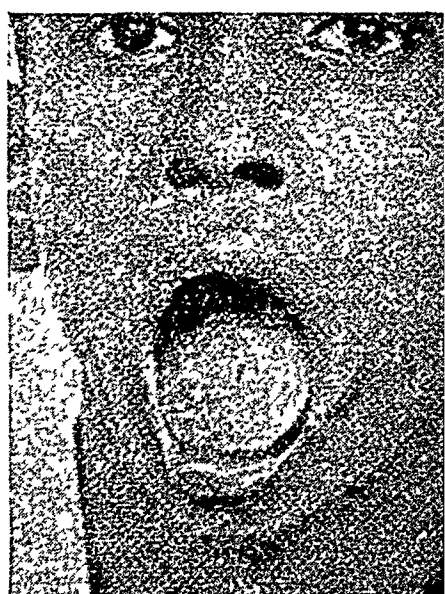
(आ)

चित्र 294—जिह्वा का गह्वर रक्तवाहिनी अर्वुद (अ) रेडियम चिकित्सा के पूर्व, तथा (आ) पश्चात्

विविध अवस्थाए

इस वर्ग मे रक्तवाहिनी अर्बुद (haemangioma) आदि दशाए सम्मिलित है; ये केशिका प्ररूपी (capillary type) या मन्द गह्वर प्ररूपी (mild cavernous type) हो सकते है। केशिका प्ररूपी रक्तवाहिनी अर्बुदो का विकिरण द्वारा अपेक्षाकृत कही अधिक सरलतापूर्वक शमन हो जाता है तथा उनका अन्तिम परिणाम अगराग (cosmetic) की दृष्टि से भी उत्तम रहता है। गह्वर प्ररूप (cavernous type) मे अन्तराली रेडियम (intersatial radium) के प्रयोगकी आवश्यकता पडती है। विकिरण-उपचार प्राय सफल रहता है, किन्तु इसका एक से अधिक वार प्रयोग आवश्यक हो सकता है। यद्यपि विधि दीर्घ तथा श्रमसाध्य होती हे, किन्तु अन्तिम परिणाम सतोपप्रद होता है (चित्र 294 अ तथा आ)।

विकिरण प्रतिक्रियाए तथा उनकी चिकित्सा (Radiation Reactions and their treatment)

विकिरण के प्रति प्रतिक्रियाए तीन प्रकार की हो सकती है · (1) व्यापक या दैहिक; (2) स्थानीय, तथा (3) परिणामरूपी रक्त-परिवर्तन।

दैहिक प्रतिक्रियाएं

दैहिक प्रतिक्रियाए किरणन द्वारा अपूर्णत भजित प्रोटीनो के अवशोपण के कारण होती है। जव इन ऊतकी चयापचयो (tissue metabolites) का पूर्ण उत्सर्ग नही हो पाता तो ये विपावत पदार्थों के समान क्रिया करते है तथा अरुचि, क्षुधा, ह्रास, मतली, मन्द ज्वर तथा वमन, आदि व्यापक लक्षणों को उत्पन्न करते है। ये प्रतिक्रियाए प्रायः तव उत्पन्न होती हे जव ऊतक के विस्तृत क्षेत्र को किरणित किया जाता है, विशेपत यदि विकिरण स्थल उदर या कोई विस्तृत तथा अत्यन्त सुग्राही अर्वुद हो। निम्नलिखित उपायो द्वारा इनसे वहुत कुछ रक्षा हो सकती है।

(1) विकिरण आरम्भ करने से पूर्व रोगी की सामान्य दशा को सुधारना चाहिए; पूति (sepsis) का अपहरण, अरक्तता की चिकित्सा तथा उत्सर्गी अगो की क्रियात्मकता मे वृद्धि इस सम्वन्ध मे महत्त्वपूर्ण है।

(2) उपचार के आरम्भ मे विकिरण की मात्रा कम रखनी चाहिए। यदि अत्यधिक विकिरण की आवश्यकता हो—यथा होजकिन के रोग, (Hodgkin's disease) या सेमिनोमा (seminoma) के द्वितीयक पर्व मे—तो मात्रा की वृद्धि धीरे-धीरे करनी चाहिए ताकि सहनशीलता की सीमा का उल्लघन न हो जाय।

(3) रोगी को तरलो (सनरे का रस, नीवू-पानी, कच्चे नारियल का पानी आदि) की विशाल मात्रा का सेवन कराना चाहिए तथा उसका आहार कार्वोहाइड्रेटो और विटामिनों से भरपूर और सहज स्वागीकरणीय (assimilable) होना चाहिए।

(4) रोगी को अन्त पेशी अनुप्रयोग द्वारा विटामिन B_6 (50-100 mg) तथा आवश्यकतानुसार प्रशामक (sedative) औपधे देनी चाहिए। यदि वमन प्रवल हो तो विकिरण रोक देना चाहिए तथा लक्षणों के अवनमन होने के पश्चात् अपेक्षाकृत अल्पमात्रा मे पुन आरम्भ करना चाहिए।

स्थानीय प्रतिक्रियाएं

किरणन के फलस्वरूप त्वचा, अर्बुद, मुख-श्लेष्मा, ग्रसनी, स्वरयत्र, मलाशय मूत्राशय, योनि, फुप्फुम, अस्थि आदि अनेक ऊतको मे विकिरण के क्षेत्र, मात्रा, अवधि तथा तीव्रता के अनुसार प्रतिक्रियाए हो सकती है जो चिकित्सा आरम्म करने के उपरात 10 से 21 दिन के अव्यक्त काल (latent peorid) के पश्चात् प्रकट होती है। कुछ अति विकिरण-सुग्राही अर्वुदो (उदाहरणतः जालिका-अन्त.-कला तत्र के अर्बुद) के सम्बन्ध मे यह अवधि कम होती है।

त्वचा

विकिरण के पश्चात् प्रथम 12-24 घटो मे अल्पस्थायी रक्तिमा (erythema) पाई जा सकती है, जो प्राय. धीरे-धीरे लुप्त हो जाती है, किन्तु यदा-कदा सामान्य रक्तिमा के उत्पन्न होने तक वनी रह सकती है। सामान्य रक्तिमा धीरे-धीरे वढ़कर तीव्र भूरा रग धारण कर लेती है। अन्त मे इसका रग गहरा हो जाता है। तत्पश्चात् शुष्क या आर्द्र निस्त्वचन (desquamation) होने लगता है तथा त्वचा पर लघु, उपरिस्थ फफोले (blisters) वन जाते हैं जो संलीन

(coalesce) होने तथा फटने लगते है। इनसे स्वच्छ सीरमी द्रव निकलता है जो जमकर एक सुरक्षक पपड़ी बन जाता है। इस पपड़ी को विलग करने पर इसके नीचे चमकदार लाल रग की त्वचा दृष्टिगोचर होती है। तदुपरान्त विरोहण (healing) की अवस्था आरम्भ होती है जो 4-6 सप्ताह तक रहती है। किरणित क्षेत्र रोम-युक्त होने पर रोम ढीले पड़कर उखड़ जाते है। यदि विकिरण की मात्रा अत्यधिक न हो तो यह रोम-हानि केवल अस्थायी होती है।

विरोहण पूर्ण होने के पश्चात् त्वचा की अन्तिम स्थिति विकिरण की मात्रा तथा रोगी-विशेष की सुग्राहिता पर निर्भर होती है; त्वचा का गठन और रग पूर्णत प्रसामान्य, अतिरञ्जित अथवा अशतः अरञ्जित हो सकता है और उसमे व्रणचिह्न (scar) तथा कालातर मे टीलेन्जेक्टीमिया (telangiectesia) की उत्पत्ति हो सकती है।

किरणित त्वचा के परिवर्तन किसी भी कोटि के हो, यह स्मरणीय है कि ऐसी त्वचा प्रसामान्य त्वचा की अपेक्षा अधिक कोमल होती है। अत उसे दवाव, क्षोभ अथवा प्रत्यक्ष सूर्य-प्रकाश से वचाना चाहिए।

चिकित्सा

सर्वप्रथम इस वात पर वल देना आवश्यक है कि युक्तिसगत तथा सुयोजित विकिरण द्वारा हमे प्रवल त्वचा-प्रतिक्रियाओ का निवारण करना चाहिए। त्वचा अभिघातग्रस्त हो जाय तो रोगी को विश्वास दिलाना चाहिए कि यह एक सामान्य घटना है। जहा तक सम्भव हो क्षेत्र को स्वच्छ ताजी वायु मे रखना चाहिए तथा उस पर केवल अक्षोभक (bland), जीवाणुरहित, डस्टिग पाउडर का अनुप्रयोग करना चाहिए। वैसलीन, धात्वीय तत्त्वो से युक्त औपधो तथा तैल-युक्त मलहमो का प्रयोग कदापि नही करना चाहिए। यदि ड्रेसिंग (dressing) करना आवश्यक हो तो इसकी सर्वोत्तम विधि प्रभावित क्षेत्र पर जेंशन वायोलेट (gention violet) के 0.5-1 प्रतिशत जलीय विलयन का अनुप्रयोग करना है; तदुपरान्त इसे खुला रखा जा सकता है अथवा जीवाणुरहित गॉज की पतली तह से ढका जा सकता है, किन्तु इस गॉज को वारम्वार नही छेड़ना चाहिए। जेशन वायोलेट लोशन का परवर्ती प्रयोग गॉज के ऊपर से ही करना चाहिए।

यदि विक्षति में सक्रमण हो तो पेनिसिलिन गॉज की ड्रेसिंग सर्वोपयुक्त रहती है। यह विरोहण क्रिया की सुरक्षा करती है। जब यह अन्तत हटाई जाती है तो इसके नीचे विरोहणरत त्वचा दृष्टिगोचर होती है।

श्लेष्मा कला

श्लेष्मा कला में विकिरण प्रतिक्रिया त्वचा की अपेक्षा शीघ्र प्रकट होती है। आरम्भ मे केवल तनिक कष्ट तथा शोफ होता है; दसवे दिन के लगभग श्लेष्मा कला धब्बेदार तथा पीताभ हो जाती है और उसके चारो ओर किरणन क्षेत्र की सीमानुसार एक रक्तिम रेखा प्रकट हो जाती है। यह कला सहज विलग नही होती तथा इसे हटाने पर कष्ट एव रक्तस्राव होता है। मुख, ग्रसनी या स्वरयन्त्र के प्रभावित होने पर निगरणकृच्छ (dysphagia) में वृद्धि हो जाती है। ऐसा लगभग चार सप्ताह तक रहता है किन्तु संक्रमण की उपस्थिति मे इसकी अवधि अधिक होती है। यदि किरणन क्षेत्र में लाला ग्रन्थियां सम्मिलित हो तो श्लेष्म स्राव गाढा और मुख शुष्क हो जाता है, स्वाद-संवेदना परिवर्तित अथवा लुप्त हो सकती है तथा श्लेष्मा कला मे न्यूनाधिक कोटि की अपुष्टता (atrophy) प्रकट हो जाती है।

चिकित्सा

चिकित्सा आरम्भ करने से पूर्व समस्त पूति स्रोतो को अपनयित कर देना चाहिए। यदि दात क्षरित (carious), पूतियुक्त या अदृढ़ हों तो उनका ऐसे ही अथवा पेनिसिलिन आच्छादन के अन्तर्गत कर्षण कर देना चाहिए। इन पूर्व-साधनो में यदि एक सप्ताह भी व्यय हो तो यह समय का सदुपयोग ही है। इन रोगियों में मुख की स्वच्छता अत्यन्त आवश्यक होती है। यदि विकिरण प्रतिक्रिया के फलस्वरूप भक्षण या पोपण मे बाधा पड़ती हो तो भोजन से 20–30 मिनट पूर्व एस्पिरिन (aspirin) के घोल को घूट-घूट करके पीने या उसके गरारे करने से कष्ट मे कमी होती है। रोगी को अति कैलोरी मूल्य (high caloric value) का अर्धठोस या द्रव आहार देना चाहिए। मलाशय, मूत्राशय या योनि की श्लेष्मा कला के प्रभावित होने पर भी पूर्व वर्णित अनुसार ही क्रिया होती

है तथा सपीड कुथन (tenesmus), और वारम्वार मूत्रत्याग आदि लक्षण पाये जाते है।

विलम्बित प्रतिक्रियाये

श्लेष्मा कला मे भी त्वचा की भाति कुछ मास पश्चात् शोप (atrophy) होने लगता है तथा अभिघात से वह फट सकती है। रूक्ष, अति उष्ण अथवा अति शीतल भोजन करने से वचना चाहिए, अन्यथा परिगलनी व्रण (necrotic ulcer) उत्पन्न होने का भय रहता है। सुरक्षात्मक दृष्टि से कपोल अथवा जिह्वा के कैसर के लिए रेडियम-चिकित्साप्राप्त रोगियो को मुख के उस ओर का प्रयोग नही करना चाहिए जिस ओर विकिरण किया गया हो। यदि परि-गलन हो जाय हो तो उसकी चिकित्सा की सर्वोत्तम विधि विद्युत् स्कद (electro-coagulation) है। फुप्फुस ऊतक को किरणित करने पर आरम्भ मे फुप्फुस शोथ (pneumonitis) तथा कालान्तर में फाइव्रोसिस (fibrosis) और श्वसनी-विस्फार (bronchiectasis) होता है। अस्थि के प्रवल किरणन के फलस्वरूप उसका शक्तिह्रास (devitalization), परिगलन (necrosis) या अस्थिभग (fracture) हो सकता है। योजनावद्ध चिकित्सा द्वारा इन उपद्रवो के निवारण का प्रयत्न करना चाहिए।

रक्त परिवर्तन

जब ऊतक के लघु परिमाण को किरणित किया जाय तो रक्त मे अत्यल्प परिवर्तन होता है, उदाहरणत मुख, गर्भाशय, ग्रीवा, मूत्राशय, त्वचा, एन्ट्रम (antrum) आदि का विकिरण। अतिवोल्ट विकिरण द्वारा ऊतक के विस्तृत क्षेत्र का विकिरण करने से लसीका-कोशिकाओ, वहुरूप केन्द्रकी श्वेत कोशि-काओ तथा विम्वाणुओ की सख्या घट जाती है। कुल श्वेत कोशिका गणनाक (total leucocyte count) का 3000 प्रति cu. mm., लसीका-कोशिकाओ का 300 प्रति cu. mm. अथवा विम्वाणुओ का 100,000 प्रति cu. mm. से कम होना आपद्स्थिति का सूचक होता है।

चिकित्सा

ऐसे परिवर्तनों के निवारण के लिए उपयुक्त पूर्वोपाय करने चाहिए तथा उनके आमापन के लिए समय-समय पर रक्त गणनाए (blood counts) करनी चाहिए। प्रति-अरक्तता-चिकित्सा (antianaemic treatment) तथा समय रहते रक्ताधान भी प्रदान करना चाहिए।

रेडियोएक्टिव आइसोटोप (Radioactive isotopes)

परमाणु पाइल (atomic pile) का आविष्कार मूलत. युद्ध अनुसन्धान का परिणाम था, किन्तु इसके द्वारा रेडियोएक्टिव पदार्थो का कृत्रिम निर्माण सम्भव हो गया है, जिनमें से कुछ का रोगचिकित्सा मे प्रयोग किया जाता है।

कुछ ऊतको मे इन पदार्थो को विशेपत. सान्द्रित करने की क्षमता होती है; उदाहरणतः यदि अवटु ग्रन्थि के कैंसर के ककाल-विक्षेपयुक्त रोगी को रेडियोएक्टिव आयोडीन (^{131}I) दिया जाय तो यह कैंसर के प्राथमिक तथा द्वितीयक, दोनो स्थलो पर सान्द्रित हो जाता है। रेडियोएक्टिव आइसोटोपो द्वारा उत्सर्जित विकिरण अर्वुद-ऊतक को नप्ट करता है। इस प्रकार कैंसर का उन्मूलन सम्भव हो सकता है। किन्तु ऐसा अवटु-कैंसर के लगभग 50 प्रतिशत या इससे कम रोगियो मे ही सम्भव होता है। अवटु-कैंसर के ककाल विक्षेपयुक्त वहुत से रोगियों को इस चिकित्सा के पश्चात् अनेक वर्षो तक लक्षणहीन रहते पाया गया है। आजकल गर्भाशयग्रीवा के कार्सिनोमा के श्रोणि-द्वितीयको (pelvic secondaries) की चिकित्सा के लिए रेडियोएक्टिव कोलॉइड स्वण (radioactive colloidal gold) का प्रयोग वढ रहा है; लसीका-पर्वो मे कोलाइडल स्वर्ण का संचय करने की विशेप क्षमता होती है। रेडियोएक्टिव फास्फोरस (^{32}P) का प्रायोगिक रूप मे क्लिनिकल उपयोग सफल सिद्ध हुआ है तथा इसे अव पोलीसाइथीमिया वीरा (polycythaemia vera) की चिकित्सा का सर्वोत्तम साधन माना जाता है। किन्तु चिरकारी मायलोजेनस (myelogenous) तथा लिम्फेटिक (lymphatic) ल्यूकीमिया की चिकित्सा मे यह सामान्यत. प्रयुक्त एक्स-किरण चिकित्सा के समान प्रभावशाली नही होता। तीव्र ल्यूकीमियाओं (acute leukaemias) मे रेडियोएक्टिव फास्फोरस से कोई लाभ नही हुआ है।

रेडियोएक्टिव कार्बन (^{11}C) का प्रयोग यकृत, प्लीहा आदि के अर्बुदो की चिकित्सा के लिए किया जा सकता है।

सम्भव है कि टेलीक्यूरी चिकित्सा (telecurie therapy) मे रेडियम का स्थान रेडियोएक्टिव कोबाल्ट ग्रहण कर ले, किन्तु इसकी अत्यन्त अल्प आयु (रेडियम की अपेक्षा आधी आयु) उसका महान् अवगुण है।

आइसोटोप चिकित्सा का महत्त्व केवल इस कारण नही है कि इसका प्रयोग अवटुग्रन्थि के कैंसर, पोलीसिथीमिया वीरा (polycythaemia vera) अथवा गर्भाशयी ग्रीवा कैंसर के श्रोणि-विक्षेपो की चिकित्सा के लिए किया जा सकता है, किन्तु उसकी महत्ता ऊतक-किरणन का एक नवीन तथा मौलिक साधन होने मे है।

पारिभाषिक शब्दावली

हिन्दी	अंग्रेजी
अकल डाढ़	wisdom tooth
अंकुरार्बुद	papilloma
अंकुरक पेशी	papillary muscles
अंकुरकी पुटि-ग्रन्थ्यर्बुद	papillary cystadenoma
अग्न्याशय	duodenum
अग्न्याशय-ग्रहणी-उच्छेदन	pancreatico-duodenectomy
अग्न्याशयपुच्छ-मध्यान्त्र संयोजन	caudal pancreaticojejunostomy
अग्न्याशयशोथ	pancreatitis
अग्रखात करोटि	anterior fossa (skull)
अज्ञातहेतुक	idiopathic
अग्र त्रिभुज	anterior triangle
अग्र चर्वणक	premolar
अग्र दन्तुरिका	serratus anterior
अग्र-निम्न	anteroinferior
अग्र पोलियोमेरुरज्जुशोथ	anterior poliomyelitis
अग्राहिता	insensitivity
अंगाकुचन	contracture
अंगघात	palsy
अंगराग	cosmetics
अचालक	nonconductor
अंडाकार रन्ध्र	foramen ovale
अंडाकार खात	fossa ovalic
अत्यवटुता	hyperthyroidism
अत्याकुंचन आघात	hyperflexion injury
अत्यूष्मा/अतिताप	hyperthermia
अक्रिस्टलीय अन्तरालीय परिवर्तन	amorphous interstitial change
अघ्राणता	anosmia

अतानिक	atonic
अतालता	arrhythmia
अतिकोलेस्टरोलता	hypercholesteraemia
अतिज्वर	hyperpyrexia
अतिपरासारी	hypertonic
अतिपरासारी ग्लूकोज	hypertonic glucose
अतिप्रसारण	hyperextension
अतिप्रसारित	hyperextended
अतिवृद्धि	hypertrophy
अतिवृद्ध जठरशोथ	hypertrophic gastritis
अतिरक्तता	hyperaemia
अतिरक्तदाब	hypertension
अतिरिक्त चूचुक	accessory nipple
अतिविकसन	hyperplasia
अतिविकसनी/अतिविकसित	hyperplastic
अतिवोल्टता	supervoltage
अतिव्यापन	overlapping
अतिसार	dysentery
अतिसार कणिकागुल्म	dysenteric granuloma
अतिस्वेदनता	hyperhidrosis
अतिस्राव	hypersection
अतिसंवेदिता	hyperaesthesia
अदुर्दमता	nonmalignant
अधरांग-पात	paraplegia
अधि-अग्न्याशय	suprapancreatic
अध्यारूढ	supervene
अध्युरोस्थिका	supraster natnotch
अधिकंठद्वारीय	supraglottic
अधिकंठद्वार अवकाश	supraglottic space
अधिकतम यूरिया-उत्सर्ग	maximum urea clearance
अधिकंठिका	suprahyoid
अधिकतम श्वसनक्षमता	maximum breathing capacity

अधिकर्णपटह दरी	epitympanic recess
अधिचक्रक ग्रन्थिशोथ	epitrochlear adenitio
अधिजघन मूत्राशयछेदन	suprapubic cystotomy
अधिजघन पुरस्थोच्छेदन	suprapubic prostectomy
अधिजत्रुक	supoaclavicular
अधिदृढ़तानिकी	epidural
अधिनाभि अभ्युदर हर्निया	supraumbilical ventral hernia
अधिनेत्रगुहा भगिका	supraorbital notch
अधिमूत्रमार्गता/एपिस्पेडिआस	epispadias
अधियकृत	suprahepatic
अधिमस्तिष्कछदि	supratentorial
अधिवृक्कोच्छेदन	adrenclectomy
अधिवृषण	epididymus
अधिवृषण-वृषणशोथ	epididymo-orchitis
अधिसांख्यिक स्तन	supernumerary breasts
अधिस्थापन	supervene
अधिस्थूलक अस्थिभग	supracondylar fracture
अधिस्थूलक कीलक अस्थिछेदन	supracondylar cuneiform osteotomy
अधीरता	nervousness
अधोजठर	hypogastric
अधोजत्रुक धमनी	subclavian artory
अधोजिह्वा ग्रन्थि	sublingual gland
अधोजिह्वा तन्त्रिका	hypoglosial nerve
अधोमूत्रमार्गता	hypospadias
अधोहनु	mandible
अधोहनु का कोण	
अधोहनु प्रवर्ध	mandibular process
अधोहनु विभाग	mandibular division
अधोहनु स्तंभ	lock jaw.
अधः शाखाशिरा, बृहत्	saphenous vein, greater
अननुनादी क्षेत्र	dull area

अनाइट्रोजनज प्रोटीन	non-nitrogenous protein
अनाक्सीजनित	unoxygenated
अननुपातिक वृद्धि	disproportionate growth
अनन्तर्घट्टित अस्थिभंग	unimpacted fracture
अनावरण	exposure
अनवरोधिता	patency
अनवरोधक	non-obstuctive
अनावृत	open
अनावृत क्षेत्र	bare area
अनवशेषी आहार	non-residual diet
अनासंजित	non-adherent
अनिवार्य रक्तमेह	essential haematuria
अनुकम्पी रोध	sympathetic block
अनुकम्पी उच्छेदन	sympathectomy
अनुक्रमानुपाती	directly proportional
अनुक्रिया	response
अनुतीव्र	subacute
अनुद्भिन्न	unerupted
अनुक्रिया यंत्रात्मक क्रियाविधि	responsive mechanism
अनुगम	sequelae
अनुग्र	mild
अनुचालन	taxis
अनुच्छेदनीय	unresectable
अनुत्रिकास्थि	coccyx
अनुत्रिक वेदना	coccydyma
अनुनादी	resonant
अनुप्रयोग	application
अनुप्रस्थ	transverse
अनुप्रस्थ औदरिका	transverous abdominis
अनुप्रस्थिका प्रावरणी	fascia transversalis
अनुमस्तिष्क वृन्त	cerebellar peduncles

अनुमापन/निर्धारण	assessment
अणुविक्षोभ	molecular dısturbance
अकुश दौरे	uncinate fits
अगरेखाकन	surface markıng
अंगुष्ठ मूलोत्सेध	thenar emminence
अंगोच्छेदन	amputatıon
अन्तरास्थि	interosseous
अन्तरास्थि-तारलगाना	ınterosseous wiring
अन्त:कचुक	intima
अन्तर्गम	inlet
अन्तर्गर्भकाल/अन्तर्गर्भाशय काल	intrauterine life
अन्तर्ग्रंथन-संबध	synaptic connection
अन्तर्घट्टन	impaction
अन्तर्घट्टित अस्थिभग	ımpacted fracture
अन्तर्जंघिका	tib'a
अन्तराजंघिक उलूखल	tıbiofibular mortıce
अन्तरातुगक भगिका	intertragic notch
अन्तर्नासा-निरसन	ıntranasal exenteration
अन्तरान्यूरोन विघटन	ınter neuronal breakdown
अंत.-प्रमस्तिष्क	intracerebral
अन्तर्मज्जा कील	intramedullary nail
अन्त:यकृत	intrahepatic
अतर्नत प्रकोष्ठ	cubitus varus
अतर्वाहिनी—	intraductal
अतर्वासी केथिटर	ındwellıng catheter
अंतर्विष्ट पुटी	ınclusion cyst
अत:-सचरण/सरण	infiltration
अत.सरणी	ınfiltrating
अंत.-स्तनविद्रधि	intramammary abscess
अन्त.स्थ	intrinsic
अंत स्थित निरोप	inlay graft
अंतर्जनस्तरकृत वहिर्वलन	enterodermal evagination

अंतर्जीव विष	endotoxin
अंतः-प्रकोष्ठिका	ulna
अंतराप्रकोष्ठ संधि	radioulnar joint
अंतर्धमनी शोथ	endarteritis
अंतर्धमनी शोथ, लोपी	endarteritis obliterans
अंतर्नति	varus
अंतर्निहित	embedded
अंत.पुटी	endocyst
अंतर्मुखी	introspective
अंतरीयक कोशिकायें	ependymal cells
अंतरीयकार्बुद	ependymoma
आंत्रान्त्र प्रवेश	intussusception
अंतस्त्वक्	intradermal
अंतर्मणिबंध आकुंचिका	flexor carpii ulnaris
आंत्राविष्टांश	intussusceptum
अंतर्रोध	occlusion
अतर्वलन	invagination
अंतर्वस्तु	contents
अतर्वाहिका	intravascular
अंतर्वेष्टन	intrathecal
अत.वक्ष प्रावरणी	endothoracic fascia
अंत्य	terminal
अत्य परपोषी	definitive host
अंतर्लसीका दाब	endolymphatic pressure
अंतर्लोपी	obliterative
अंत:शल्यता	embolism
अंतः-शल्योच्छेदन	embolectomy
अतस्थल	endplates
अत.स्रावी त्रुटि	endocrine defeciency
अतर्हृद्	endocardium
अंतर्हृद शोथ	endocarditis
अतरालीय	interstitial

अतराली अनुप्रयोग	interstitial application
अंतरांगुलि	interphalangeal
अंतराली हर्निया	interstitial hernia
अतरावग्रह	intersigmoid
अंतरादंत तार बाधना	interdental wiring
अंतराधमनी रक्ताधान	interarterial transfusion
अंतराफलक	interlaminar
अतरालिन्दी खातिका	interatrial groove
अंतरावकाशी	interlumenal
अंतरावग्रह	intersigmoid
अंतराशिखरक	intertrochanteric
अंतरास्थूलक भंगिका	intertrochanteric notch
असफलक	scapula
अन्त.स्राव	internal secretion
अदम्य आक्षेप	uncontrollable convulsion
अद्वार गुद	imperforate anus
अंधभौमिक प्रदीप्ति	darkground illumination
अध रंध्र	foramen caecum
अंधात्र	caecum
अधात्र-	caecal
अंधात्र खात	caecal fossa
अधात्र छिद्रीकरण	caecostomy
अधात्र पश्च	retrocaecal
अन्यत्रानुभूत वेदना	referred pain
अंसकूट-अक्षक सधि	acromioclavicular joint
अंसकूट प्रवर्ध	acromion process
अंसगर्त खात	glenoid fossa
असगर्त-प्रगड स्नायु	glenohumeral lig
अंसतुड प्रवर्ध	coracoid process
असतुडाक्षक	coracoclavicular
अनुकम्पी उच्छेदन	sympathectomy
अनुक्रमानुपाती	directly proportional

अपकर्षण	distraction
अपकेन्द्रण	centrifugalise
अपकेन्द्रित	centrifugalised
अपघर्षण	abrasion
अपरदन	erosion
अपवर्तन	abduction
अपवर्तन फ्रेम	abduction frame
अपवर्तिका	abductors
अपवर्धन	maldevelopment
अप्रत्यक्ष	indirect
अपवाही ततु	efferent fibres
अपसामान्यता	abnormality
अपसामान्य गतिशीलता	abnormal mobility
अपस्फीत एन्यूरिज्म	varicose aneurysm
अपस्मार	epilepsy
अपसवेदन	paraesthesia
अपसंवेदी ऊर्वाति	meralgia paraesthetica
अपहरण/एब्लेशन	ablation
अपहृत करना	strip off
अपार्यता	opacity
अपावरोही वृपण	maldescended testes
अपुन:स्थापित सधिच्युति	unreduced dislocation
अपुन:स्थाप्य	irreducible
अपित्तमेही कामला	acholuric jaundice
अपूतिता	asepsis
अप्रकुचन	asystole
अभिघात	trauma
अभिघातज निकुंचन	traumatic stricture
अभिघातज प्रलाप	traumatic delerium
अभिघातज वातस्फीति	surgical emphysema
अभिघातोत्तर ज्वर	posttraumatic fever
अभिमध्य गुल्फिका स्नायु	medial malleolar ligament

अभ्युदर	ventral
अभिपृष्ठ	dorsal
अभिलक्षक	characteristic
अभिलेखन	recording
अभिलेपन	smear
अभिवर्ध	epiphysis
अभिवर्तन	adduction
अभिवाही	afferent
अभिविन्यास	orientation
अभिष्यन्दी मुखपाक	catarrhal stomatitis
अभिसरण	converge
अभिसूचना/संकेत	indications
अभिहृद्/जठरागम	cardia
अभिहृद् जठर-अशिथिलता	achalasia cardia
अमूत्रता	anuria
अमीबिकता	amoebiasis
अमीबिक अतिसार	amoebic dysentery
अमीबाजन्य विद्रधि	amoebic abscess
अमीबोमा	amoeboma
अयथार्थ एन्यूरिज्म	aneurysm, false
अयुक्त कपाल	cranium bifidum
अयुक्त मेरुदंड	spina bifida
अरक्तज परिगलन	avascular necrosis
अरक्तता	anaemia
अरक्तलायी	non-haemolytic
अरुचि	anorexia
अरीय	radiating
अर्धचन्द्र उपास्थि	semilunar cartilage
अर्धचन्द्राकार रेखा	Linea semilunaris
अर्धचन्द्राभ	lunate
अर्धांगघात	hemiplegia
अर्धजिह्वोच्छेदन	hemiglossectomy

अर्धदृष्टिता	hemianopia
अर्धबृहदान्त्रोच्छेदन	hemicolectomy
अर्ध सन्यास	semicoma
अर्धावनत	midprone
अर्बुद	tumour
अल्पावशेषी आहार	low-residue diet
अल्पघनास्री बिम्बाणु परप्यूरा	thromboeytopaenic purpura
अल्पतम	minimal
अल्पताप	hypothermia
अल्पदन्द्रोन कोशिकायें	oligodendroglia cells
अल्पपरिवर्धन	underdevelopment
अल्पप्रोटीन रक्तता	hypoproteinaemia
अल्पमूत्रता	oliguria
अल्परजित	hypopigmented
अल्पवर्णी अरक्तता	hypochromic anaemia
अल्पविकसन	hypoplasia
अल्पसवेदिता	hypoaesthesia
अल्पशर्करारक्तता	hypoglycaemia
अलिन्द पर सीवन	atroseptopexy
अलिन्द-विकम्पन	atrial fibrillation
अलुप्त	unobliterated
अव-अधात्र	subcaecal
अव-अधोहनु	submandibular
अव-असफलक	subscapular
अवांसफलका	subscapularis
अवासपृष्ठिका	infraspinatus
अवअरकनाइड रक्तस्राव	subarachnoid haemorrhage
अवकाश	space
अवकाश पूरक क्षति	space occupying lesion
अवकाशिका	lumen
अवकाशी ऊतक	areolar tissue
अवकेन्द्रिक	intranuclear

अवकंठद्वारीय	infraglottic
अवचिबुक	submental
अवगमी	perceptive
अवग्रह	sigmoid
अवग्रह वृहदान्त्र दर्शन/सिगमाइडोस्कोपी	sigmoidoscopy
अवघुटिका मध्यपदकूर्च अन्तर्वर्तन	subtellar midtarsal inversion
अवघुटिका संधिस्थिरीकरण	subtellar arthrodesis
अवचेतक दुष्क्रियता	hypothalamic dysfunction
अवतीव्र जीवाणुज अन्तर्हृद्शोथ	subacute bacterial endocarditis
अवजिह्वा डरमाइड	sublingual dermoid
अवजिह्वा पुटी	thyroglossal cyst
अवटुजिह्वा वाहिनी	thyroglossal duct
अवतानन	pronation
अवतुण्डक	subcoracoid
अवत्वक्	subdermal
अवदृढतानिका रक्तस्राव	subdural haemorrhage
अवधारण	retention
अवधारण एनीमा	retention enema
अवधारण पुटी	retention cyst
अवनमन	depression
अवपर्यस्थि रक्तगुल्म/हीमेटोमा	subperiosteal haematoma
अवपर्यस्थि विद्रधि	subperiosteal abscess
अवपर्शुक	subcostal
अवमध्यच्छद विद्रधि	subphrenic abscess
अवमस्तिष्कच्छदीय	infratentorial
अविवरता	atresia
अवरणित रोगी	unselected cases
अवरुद्धपथ कामला	obstructive jaundice
अवरोधक	obstructive
अवशिखरक	subtrochanteric
अवशख अन्वेषण	subtemporal exploration

अवश्लेष्मिक उच्छेद	submucous resection
अवश्लेष्मल कला/अवश्लेष्मल	submucosa/submucous membrane
अवश्लेष्मिक मार्ग	submucous approach
अवसंधि भ्रंश	luxation
अवसम्पुटीय	subscapular
अवस्थान भ्रंश	subluxation
अवसादन/अवसन्नता	prostration
अवस्तनपुटक	submammary fold
अवाप्तियां	findings
अवांसकूट	subacromial
अवांसगर्तिक	subglenoid
अविकसन	anaplasia
अविकसनित	anaplastic
अविभक्त	unipartite
अविटामिनता	avitaminosis
अवशिष्ट	residual
अवशिष्ट अंगघात	residual paralysis
अविशिष्ट कणिकागुल्म	nonspecific granuloma
अविशिष्ट अभिष्यन्दी नासाशोथ	nonspecific catarrhal rhinitis
अविशिष्ट संक्रमण	nonspecific infection
अविस्तारणीय पाती फुप्फुस	unexpandable atelectic lung
अवृन्ती/वृन्तहीन	sessile
अवोपास्थि पुटी	subchondral cyst
अवोष्ठविवर छिद्रीकरण	sublabial anterostomy
अशक्तता	morbidity
अशक्त/मूढ	imbecile
अश्मरी	calculus
अश्मरी अमूत्रता	calculus anuria
अश्मरी भंजन	litholapaxy
अश्वपाद	equinus
अश्रुस्राव	epiphora

अशस्थलान्तरण/विक्षेपण	metastasis
अर्श	piles, haemarrhoids
अर्श आभ्यतर	internal piles/inthaemarhoids
अर्श, वाह्य	external piles/ext. "
असत्यमार्ग/कूटमार्ग	false passage
अस्तनता	amazia, amastia
अस्थानता	ectopia
अस्थानी मूत्राशय	ectopia vesitcae
अस्थानी वृपण	ectopic testes
अपुन·स्थापित सविच्युति	unreduced dislocation
अस्थिकर पेशीशोप	myositis ossificans
अस्थिकर आवेष्टन	bony shell
अस्थि-ड्रिल	bone drill
अस्थिनिरोपण	bone grafting
अस्थि निरोप	bone graft
अस्थ्यर्बुद	osteoma
अस्थ्योपास्थिमय	osteocartilaginous
अस्थिजनक सारकोमा	osteo genetic sarcoma
अस्थि दुष्पोषण	osteodystrophy
अस्थिभग	fracture of bone
—अनुदैर्घ्य	—longitudinal
—अनुप्रस्थ	—transverse
—अपूर्ण	—incomplete
—अवनत	—depressed
—उपद्रवयुक्त	—complicated
—नवशाखा/ग्रीनस्टिक	—greenstick
—पूर्ण	—complete
—संपीडन	—compression
—सर्पिल	—spiral
—रेखाकार	—linear
—विवृत	—compound, open,
—सवृत	—simple, closed

अस्थिभंगुरता — fragilitas ossium
अस्थिमज्जा शोथ — osteomyelitis
अस्थिमृदुता — osteomalacia
अस्थिरता — instability
अस्थिविकास — ossification
अस्थिसंधि विकृति — osteoarthropathy
अस्थिसंधि शोथ — osteoarthritis
अस्थिशोष/अस्थिसुषिरता — osteoporosis
अपूय — non-suppurative
असमन्वय — inco-ordination
असंयोजन — non-union
असंतुलित — unbalanced
असंतुलन — imbalance
असममिति — asymmetry
असममित — asymmetrical
असंवेदिता/असंवेदन, संज्ञाहरण — anaesthesia
अक्षक — axis (vert.)
अक्षिदोलन — nystagmus
अक्षिबिम्ब शोफ — papilloedema

आ

आकर्ष/उद्वेष्ट — spasm
आकर्षी — spasmodic
आकर्षरोधी/आकर्षहर — antispasmodic
आकुंचक उपबंधनी — flexor retinaculum
आकृत्यनुसार — morphologically
आकृतिकी — morphology
आक्सीजन अल्पता/अल्पाक्सीयता — hypoxia
आखुरण — scrapings
आगन्तुक शल्य — foreign bodies
आघटन — incidence
आघात — injury

आचूषण	aspiration
आतत भाग	pars tensa
आतंचन/स्कंदन	coagulation
आतंचनरोधी	anticoagulant
आतंचनीयता	coagulability
आणवीय विलयन	molecular solution
आद्य	primitive
आद्य आंत्रन्त्र	primitive gut
आद्य मुखपथ	stomodaeum
आद्यांगिक	rudimentary
आधारी	basal
आधारी कुंड	basal cistern
आधारी कोशिका इपीथीलिओमा	basal cell epithelioma
आधारी कोशिका कार्सिनोमा	basal cell carcinoma
आधारी प्लूरा-फुप्फुसशोथ	pleuropulmonary inflammation
आध्मान	tympanitis/distension of intestines
आननघात/आनन अंगघात	facial paralysis
आनन-ग्रस्तता	facial involvement
आनन-तंत्रिका	facial nerve
आनन-विदर	facial cleft
आन्त्रावरोध	intestinal obstruction
आन्त्रचूषण	intestinal suction
आन्त्रधावन	bowel washes
आन्त्रयोजनी घनास्रता	mesenteric thrombosis
आन्त्रयोजनी-भित्तिक खात	mesentero-parietal fossa
आन्त्र की वातपुटिकामयता	cystic pneumatosis of intestines
आन्त्रवायु नली	flatus tube
आपात	emergency
आपाती सर्जरी	emergent surgery
आप्लावी मूत्र असंयति	overflow incontinee of urine

आभ्यन्तर अर्श	internal haemarrhoids
आभ्यन्तर औदरिक द्वार	internal abdominal ring
आभ्यन्तर तिर्यक् औदरिका	obliquus abdominis internus
आमाशय	stomach
आमाशयदर्शी/गैस्ट्रोस्कोप	gastroscope
आमाशय प्रक्षालन नली	stomach tube
आरोही शोणिकावृक्कशोथ	ascending-pyelonephritis
आरोही शोणिका-एक्सरे-चित्रण	ascending pyelography
आरोही प्रशाखा	ascending ramus
आरोही संक्रामी पैरोटिडशोथ	ascending infective parotitis
आलवाल	calyx
आलव	fulcrum
आवर्तक अधरांगघात	recurrent paraplegia
आवर्धन	magnification
आवृत्ति क्रम	frequency range
आशयिक	splanchnic/visceral
आशय-अनुकम्पी तंत्रकोच्छेदन	splanchnicectomy
आशयनिःसरण	eventration
आशयभ्रंश	visceroptosis
आंशिक जठरोच्छेदन	partial gastrectomy
आंशिक वृक्कोच्छेदन	partial nephrectomy
आस्तर	lining
आसन कंटक	ischial spine
आसन गुलिका	ischial tuberosity
आसन मलाशय खात	ischiorectal fossa
आसंजन	adhesion
आसंजित	adherent
आसंजित प्लास्तर	adhesive plaster
आहारोत्तर	postpandral
आक्षेप	convulsions
इतरविकसन	metaplasia
इतिवृत्त	history

इनैमल अंग	enamel organs
इफ़ेड्रिन	ephedrine
इवैकुएटर/ निस्सारक	evacuator
उग्र उदर	acute abdomen
उच्छ्रायी	erectile
उच्छ्रयण	erection
उच्छेदन	excision
उच्छेद जीवोतिपरीक्षा	excision biopsy
उच्छेद सम्मिलन	resection-anastomosis
उत्केन्द्रित	eccentric
उत्क्रमणीय/उत्क्रमणशील	reversible
उत्खनित उपान्त/परिसीमा	underground margin
उत्तान/उथला	shallow
उत्पादक/जननिक	germinal
उत्सर्जन कार्य	excretory function
उत्सर्जन गोणिका एक्सरे-चित्र	excretory pyelogram
उत्सिक्त	flushed
उद्भवन काल	incubation period
उदर-कचुक हाइड्रोसील	abdomino-vaginal hydrocele
उदरछेदन	laparotomy
उदरपार आरोपण	transcoelomic implantation
उदरमध्य रेखा	linea alba
उदरभित्ति	abdominal wall
उदरभित्ति के छेदन	abdominal incision
उदर-मूलाधार-उच्छेदन	abdominoperined resection
उदर-रज्जुका हाइड्रोसील	abdomino-funicular hydrocele
उदर-वक्ष	abdomino-thoracic
उद्वर्ध/अपवृद्धि	excrescence
उद्वृद्धि	outgrowth
उंडुकपुच्छ	vermiform appendix
उंडुकपुच्छोच्छेदन	appendicectomy
उंडुकपुच्छयोजनी	mesoappendix

उंडुकपुच्छशोथ	appendicitis
उंडुकपुच्छोच्छेदनोत्तर सलक्षण	post appendicectomy syndrome
उन्मूलन	enucleation
उपकला प्रचुरोद्भवन	epithelial proliferation
उपत्वचाभ कार्सिनोमा	epidermoid carcinoma
उपद्रव	complications
उपरिस्थ	superficial
उपरिस्थ उपस्थ	superficial pudendal
उपरिस्थ पैरोटिडोच्छेदन	superficial parotidectomy
उपरिस्थ परिभ्रमी घनास्रशिराशोथ	superficial migratory thrombophlebitis
उपस्कर	equipment
उपार्जित	acquired
उपार्जित त्रुटियां	acquired defects
उपात्त	data
उपान्त	margin
उपान्तीय	marginal
उपास्थ्यर्बुद	chondroma
उपास्थि दुष्विकसन	dyschondroplasia
उपास्थिमृदुता	chondromalacia
उभार	bulge
उरोऽस्थि	sternon
उरोस्थिजत्रुक सधि	sternoclavicular joint
उरःकटि बहिःप्रवाह	thoracolumbar outflow
उरः जत्रुककर्णमूलिका	sternocleidomastoideus
उरोस्थि मुष्ठक	manubrium sterni
उलूखल	acetabulum
उलूखलोष्ठ	acetabular labium
उलूखल सधि	ball and socket joint
उल्लाघता काल	convalescence
उल्व	amnion
ऊतक विकृति	histopathology

ऊतक शोथ	cellulitis
ऊर्ध्व अग्न्याशयग्रहणीधमनी	superior pancreaticoduodenal artery
ऊर्ध्व आन्त्रयोजनी धमनी	superior mesenteric artery
ऊर्ध्व चतुर्थांश अर्धदृष्टिता	upper quadrantic heminopsia
ऊर्ध्वोष्ठ खात	philtrum
ऊर्ध्व प्रेरक न्यूरोन	upper motor neurone
ऊर्ध्वाधर	vertical
ऊर्ध्व सकीर्णिका	superior constrictor
ऊर्ध्व हनु	maxilla
ऊर्ध्व हनुकोटर	maxillary antrum
ऊर्ध्व हनु प्रवर्ध	maxillary process
ऊर्ध्व हनु विवर	maxillary sinus
ऊर्ध्व हनु विवरशोथ	maxillary sinusitis
ऊष्मा नियामक केन्द्र	heat regulating centre
ऊष्मस्वेदन	hot fomentation
एक-कोष्ठकी	unicellular
एक-पार्श्वी	unilateral
एकल गुलिका	tuberculum impar
ऐक्टिनोमाइकोसिस	actinomycosis
एक्सरेअपार्य	radiopaque
ऐक्सरेपार्य	non-radiopaque
ऐक्सरे चिकित्सा	x-ray therapy
ऐक्सोन-तन्तु विच्छेद	axontmesis
ऐटिक	attic
ऐंठन/मरोड	twist
ऐडीनाइड	adenoids
ऐडीनाइडोच्छेदन	adenoidectomy
ऐडीमेन्टोमा	adementoma
एथमाइड	ethmoid
एथमाइडी विवर	ethmoidal sinus
एथमाइड शोथ	ethmoiditis

ऐथीटोसिस/वलन	athetosis
ऐथीटोसी	athetotic
ऐन्यूरिज्म	aneuryson
ऐन्यूरिज्मी वेरिक्स	aneurysmal varix
ऐप्थी	aphthac
ऐप्थसी मुखपाक	aphthous stomatitis
ऐप्यूलिस	epulis
ऐमोनियामय विघटन	ammoniacal decomposition
ऐम्पाईमा/अन्तःपूयता	empyema
ऐपेसिरिलास	erysipelas
ऐराइथ्रोमाइसिन	erythromycin
ऐलर्जी	allergy
ऐलवूमिनमेह	albuminuria
ऐस्कीरिया कोलाई	escheria coli
ओमेगा	omega
ओष्ठ	lip
औटोफांनी	otophony
और्वी कैल्कर/कैल्कर फैमोरेल	calcar femorale
और्वी चतुःशिरस्का	quadriceps femoris
और्वी पट	septum femorale
और्वी त्रिभुज	femoral triangle
और्वी नलिका	femoral canal
और्वी हर्निया	femoral hernia

क

ककालकर्षण/अस्थिकर्षण	skeletal traction
कंकतिका क्षेत्र	pectinate area
कंगुप्ररूप	miliary type
कटकोत्कर्पिका	erector spinae
कटिपार्श्वच्छदिका	latissimuosdorsi
कटिवेधन	lumbar puncture
कटि लंवनिका	psoas

कंठद्वार	glottis
कठोर/कठिन	sclerous
कठिन कार्सिनोमा	scirrhus carcinoma
कंडराकला/कंडरावितान	aponeurosis
कंडराकल्पिका	semiten dinosus
कंडराछेदन	tenotomy
कंडरारज्जु	chonda tendinae
कंडराश्लेष्मकलाशोथ	tenosynovitis
कणिका-ऊतक	granulatıon tissue
कणिकागुल्म/ग्रेनूलोमा	granuloma
कणिकागुल्मी एप्यूलिस	*granulomatous epulis*
कंडरापुटी, गंठिका	ganglion
कन्दरिका/वैलीकुला	vallecula
कन्दवहि:प्रवाह	bulbar outflow
कन्द प्ररूप	bulbar type
कनफेड	mumps
कनिष्ठा	little finger
कनिष्ठामूलोत्सेध	lypothenar emmınence
कपाटिका	valve
कपाटिकीय प्रत्यावहन	valvular regurgıtation
कपाल अन्तराल	fontanelle
कपाल-अस्थि-सयोजन	craniosyntosıs
कपालत्रिक वहि:प्रवाह	cranıosacral outflow
कपालवाह्य उपद्रव	extracranıal complications
कपाली वायुपुटी	cranial pneumatocele
कपालशीर्ष	vertex
कफस्राव	expectoratıon
कवकाकार	fungıform
करभास्थियां	metacarpal bones
करभ-अगुलि संधि	metacarhophalangeal joint
कर्ण	ear
कर्णकाठिन्य	otosclerosis

कर्ण गडिका	otic ganglion
कर्णदर्शन	otoscopy
कर्णपल्लव	auricle
कर्णपालि	lobule of ear
कर्णमूथ	wax (in ear)/cerumen
कर्णमूल कोटर	mastoid antrum
कर्णपटह छेदन	myringotomy
कर्णमूलोच्छेदन	mastoidectomy
कर्णमूल प्रवर्ध	mastoid process
कर्णमूल शोथ	mastoiditis
कर्षण	traction
कर्णस्वरयत्र विद्	otolaryngologist
कर्णक्ष्वेड	tinnitus
कण्डू	pruritis
करोत्तानिका	supinator
कर्तन अस्थिभग	shear fracture
कर्तन आघात	shear injury
क्रमांकित	graduated
क्रान्ति	crisis
क्रान्तिक क्षेत्र	critical area
क्रियाविधि	mechanism
क्रेपिटस/करकर	crepitus
क्रोन रोग	crohn disease
कला मध्यछद/डायाफ़ाम	membranous diaphragm
कलामध्य मूत्रमार्ग	membranous urethra
क्लान्तिशीलता	fatiguability
कशेरूका अग्रसर्पण	spondylolisthesia
कक्षपुटक	axillary fold
कक्षपुच्छ	axillary tail
काकलक/युवुला	uvula
कठोरता/दृढ़ता	rigidity
काठिन्य	sclerosis

काठिन्यकर विलयन	sclerosing solution
कांड	shaft
काय/देह/शरीर	body, soma
कायिक	somatic
कार्यात्मक वाचाघात/क्रियात्मक वाचाघात	functional aphonia
कार्यात्मक/क्रियात्मक अपविन्यास	functional derangement
कारोनरी हृद्रोग	coronary heart disease
कार्बाकोल	carbachol
कारवंकल	carbuncle
कारसिनोमावत अर्बुद	carcinoid tumours
किण्वन	fermentation
किरेटिनीकृत कोशिकायें	kera'inised cells
किरीटी पट	coronal septum
किरीटी परिखा	coronal sulcus
किरणन	irradiation
किरण कवक	ray fungus
किलाटी पदार्थ	caseous material
किलाटीभवन	caseate/caseation
क्विन्सी	uinsy
कुविवर्तन/कुघूर्णन	malrotation
कीपवक्ष	funnel chest (pectus excavatus)
कीलक	wedge
कीलकाकार उच्छेद	wedgeshaped resection
कीलकपद कूर्चोच्छेदन	wedge tarsectomy
किलाइड	keloid
कुटिल	tortous
कुंठित व्यवच्छेदन	blunt dissection
कुपोषण	malnutrition
कुब्जता	kyphosis
कुर्बरित	mottled
कुल्या	aquaeduct

कुष्ठ	leprosy
कुसंयोजन	malunion
कुक्षि	coeliac
कुक्षिधमनी	coeliac artery
कूट	spurious, false, pseudo
कूटकलायुक्त मुखपाक	pseudomembranous stomatitis
कूटबद्धता सलक्षण	entrapment syndrome
कूटबन्धक स्थान	entrapment point
कूटमिकसोमा	pseudomyxoma
कूटम्यूसिन	pseudomucin
कूटम्यूसिनी पुटी	pseudomucinous cyst
कूटसंधिता	pseudoarthrosis
कूटसम्पुट	pseudocapsule
कूप दन्तार्बुद	follicular odontome
कूर्पर/कफोणी संधि	elbow joint
कूर्पर प्रवर्ध	olecranon process
कृन्तक दांत	incisors
कृत्रिम वातलवक्ष	artificial pneumothorax
कृष्ण जिह्वाशोथ	glossitis nigrano
केथिटर/मूत्रशलाका	catheter
केथिटर प्रवेशन	catheterization
केनुला	canula
केलोरीय परीक्षण	caloric testing
केवर्नोमिटी	cavernomatous
केशिकाशैया	capillary bed
केशिका वाहिकार्बुद	capillary haemangioma
केशिका स्तवक	glomerulus
केसोन रोग	cason disease
कैन्सर	cancer
कैरोटिड गह्वर नालव्रण	carotid cavernous fistula
कैरोटिड रक्तस्राव	carotid haenorrhage
कैलस	callus

कैल्सीकरण	calcification
क्लैब्स-लौफलर दंडाणु	klebbs-loffler bacillus
कोटर	antrum
कोथ	gangrene
कोथयुक्त पित्ताशयशोथ	gangrenous cholecystitis
कोथयुक्त मुखपाक	gangrenous stomatitis
कोवाल्ट किरणपुंज	cobalt beam
कोरिया	chorea
कोरियनइपीथीलियोमा	chorion epithelioma
कोरियो एथीटोसिस	chorioethetosis
कोलीन धर्मी	cholergic
कोलाइड प्ररूप	colloid type
कोशिका नीड	cell nests
कोष्ठक	acınus
कोष्ठिकायें/कोष्ठिकी-भवन	sacculations
कोष्ठिकीय	acınous
कोर्डी	chordae
कोटरीकरण	cauterization
कौकसावारा/अन्तर्नत नितंब	coxa vara
कोकसा वाल्गा/वहिर्नत कूनितव	coxa valga
कौन्ट्रेकूप/विपरीतांग पात	contre coup
कौर्नीवैक्टीरियम डिप्थरी	cornybacterıum diphtheriae
कौलीसिस्टेटिओमा	cholecysteatoma
कौलिस्टरोसिस/कौलेस्टरोलता	cholesterosis
खंडाश	segments
खडतालु	lobe cleftpalate
खडीय निमोनिया	lobar pneumonia
खडकीय निमोनिया	lobular pneumonia
खडोच्छेदन	segmental resectıon
खडाशोच्छेदन	lobectomy
खंडक	lobule
खात	fossa

खातिका	groove
खातिकायुक्त	grooved
खुला हुआ अंडाकार रंध्र	patent foramen ovale
खुली धमनीवाहिनी	patent ductus artoriosus
गजचर्मता	pachyderma
गड़े हुए स्थूणक	burried stump
गतिकारक	pacemaker
गतिविभ्रम	ataxia
गतिशीलता/चलत्व	mobility
गंडिका, चाप	zygoma
गंडिका,कंडरापुटी	ganglion
गंडिकातंत्रिकार्बुद	ganglioneuroma
गंडिकापूर्व परिच्छेदन	preganglionic section
गंडिकारोधन	ganglion blocking
गभीर	deep
गम्मा	gumma
गम्माजन्य, गम्मीय	gummatous
ग्रन्थ्यर्बुद	adenoma
गरारे, कुल्ले करना	gargle
ग्रसनी	pharynx
ग्रसनी-ग्रासप्रणाल संगम	pharyngo-oesophageal junction
ग्रसनी थैली	pharyngeal pouch
ग्रह	seizure
ग्रहणी, आन्त्रावरोध	duodenal ileus
ग्रहणी टोपी	duodenal cap
ग्रहणी नलिकाप्रवेशन	duodenal intubation
ग्रहणी प्रत्यावहन	duodenal regurgitation
ग्रहणी वेध	duodenal perforation
ग्रहणी-मध्यान्त्र वक्र	duodeno-jejunal flexure
ग्रास प्रणाल	oesophagus
ग्रासप्रणाल-जठर संयोजन	oesophago-gastric anastomosis

ग्रासप्रणाल द्वार/छिद्र	oesophageal piatus
ग्रीवा/ग्रैव	cervical
ग्रीवा अंसकठिका पर्व	jugulo-omohyoid node
ग्रीवा खिंचाव	cervical strain
ग्रीवा-द्विपिंडिका पर्वसमूह	jugulodigastric nodc group
ग्रीवा-रध्र संलक्षण	jugular foramen syndrome
ग्रीवा घनास्रशिराशोथ	jugular thrombophlebitis
ग्रीवा शिरा	jugular vein
ग्रीष्म प्रवाहिका	summer diarrhoea
ग्रैव पर्शुका	cervical ribs
ग्रैव हर्नियाभवन	cervical herniation
गल तोरणिका	fauces
गलतोरणिका टोंसिल	faucial tonsil
गलतोरणिका स्तंभ	pillars of fauces
गलदाह	sore throat
गलपिचु	throat swab
ग्लायोमा	glioma
गवाक्ष	obturator
गवीनी	ureter
गवीनी अश्मरीनिष्कासन	ureterolithotomy
गवीनी कलिका	ureteric bud
गवीनी कुहरच्छेदन	ureteric meatotomy
गवीनी-मूत्राशय सवरणिका	uretero vesical sphincter
गवीनी शूल	ureteric colic
गह्वर रक्तवाहिकार्बुद	cavernous haemangioma
गह्वर शिरानाल	cavernous sinus
गह्वर शिरानाल घनास्रता	cavernous sinus thrombosis
गिल चाप	branchial arch
ग्लिस्सन सम्पुट	glissons capsule
गुच्छित	racemose
गुद अन्तरापेशीपट	anal intermuscular septum
गुद आकर्ष	rectal spasm

गुदानुत्रिक राफे	anococcygeal raphe
गुद उन्नमनी	levator ani
गुद कडू	pruritis ani
गुद गर्तिका	anal pit
गुद मलाशय भगन्दर	anorectal fistula
गुद मलाशय वलय	anorectal ring
गुद विदार	anal fissure
गुद सकीर्णता	anal stenosis
गुद सवरणी	anal sphincter
गुद दर्शन	proctoscopy
गुद नालव्रण	anal fistula
गुप्त श्रयुक्त मेरुदड	spina bifida occulta
गुप्त वृषणता	cryptorchidism
गुवर्नेकुलम टेस्टिस	gubernaculum testis
गुम्वद	dome
गुरुत्व	gravity
गुरुत्वीय वल	gravitational force
गुल्फ प्रतिक्षेप	ankle jerk
गुल्फिका/गुल्फ	malleolus
गुल्फ अवमोटन	ankle clonus
गुहा/गुहिका	cavity
गुहिका/गुहा	cavus
गूढ़/गुप्त	occult
ग्लूकोजमेह	glucosuria/glycosuria
गृध्रसी	sciatica
गृध्रसी हर्निया	sciatic hernia
गृहचिकित्सक	house physician
गोणिका	pelvis
गोणिका अश्मरी निष्कासन	pyelolithotomy
गोणिका-गवीनी संगम	pelviureteric junction
गोणिका छिद्रीकरण	pyelostomy
गोणिकावृक्काश्मरी निष्कासन	pyelonephrolithotomy

गोणिकावृक्कशोथ	pyelonephritis
गोणिकावृक्कशोथज संकुचित वृक्क	pyelonephritic kidney
गोणिकाशोथ	pyelitis
गोनोमेहजन्य निकोचन	gonorrhoeal stricture
गोलकपश्च तन्त्रिकाशोथ	retrobulbar neuritis
गोलकोशिकाकृत सारकोमा	roundcelled sarcoma
गोल रुधिरकोशिका बहुलता	spherocytosis
गोलाकार प्रवर्ध	globular processes
गोलार्धोच्छेदन	hemispherectomy
घट्टा	corn
घनास्र-अन्तर्धमनी-उच्छेदन	thrombo-endarterectomy
घनास्रशिराशोथ	thrombophlebitis
घनास्रित	thrombosed
घनीभवन	consolidation
घर्घर	stridor
घर्षण ध्वनि	friction rub
घातक अरक्तता	pernicious anaemia
घातज आन्त्रावरोध	paralytic ileus
घातित	paralysed
घ्राण तंत्रिका	olfactory nerve
घुटिका	talus
घुमेड	dizziness
चक्कर	whorl
चक्रक	trochlear
चक्रिका	disc
चक्रिकाभ/चक्रिक	discoidal
चचु प्रवर्ध	coronoid proccss
चतुर्थांश	quadrant/one-fourth
चतुष्पुच्छ	four tailed
चप्पा	chip
चयापचय कार्य	metabolic function
चर्वणक दात	molar teeth

चर्वणिका	masseter
चर्मकील	wart
चर्मिल आमाशय	leather-bottle stomach
चतुरस्र अवतानिका	pronator quadratus
चतुर्विकृति	tetrology
चतुरांगघात	quadriplegia
चलप्लीहा	mobile spleen
चलवृक्क	floating kidney
चलायमान	mobile
चलीकरण	mobilization
चापजघा	bowleg
चापपद	pes cavus
चार आलव विधि	fourflap method
चालक	conductor
चालकीय वधिरता	conductive deafness
चालनीवत् आच्छादन	cribriform covering
चालित	mobilized
चिरकारी आवर्ती पैरोटिड-शोथ	chronic relapsing parotitis
चिरकारी अतिवृद्धिक/अतिवर्धी, नासा-शोथ	chronic hypertrophic rhinitis
चिरकारी गमाजन्य वृषणशोथ	chronic gummatous orchitis
चिरकारी-पर-तीव्र	acute-on-chronic
चिरकारी ग्रसनीपश्च विद्रधि	chronic retropharyngeal abscess
चुम्बन कैंसर	kissing cancer
चुम्बन व्रण	kissing ulcer
चूचुक	nipple
चूर्ण्य	friable
चूषण	suction
चूषक कवलिका	suctorial pad
चूषिका	lozenges/troches
चेचक	small pox
चेतक	thalamus

चेतन्त अन्तराल	lucid interval
चेतनाह्रास	loss of consciousness
छाले/बुलबुले	blebs, bullae
छिद्र/द्वार	aperture
छिन्नमस्तिष्क दृढ़ता	decerebrate rigidity
छेदन	incision
छेदनोत्तर हर्निया	post incisional hernia
छेनी	chisel
छोर सम्मिलन	end-to-end anastomosis
जघन गुलिका	pubic tubercle
जघन पुरस्थ स्नायु	puboprostatic ligament
जघनास्थि	pubic bone
जघनानुत्रिका	puboc-coccygeus
जठरान्त्र	gastrointestinal
जठरान्त्र आचूषण	gastrointestinal aspiration
जठरान्त्रपथ	gastrointestinal tract
जठरचूषण	gastric suction
जठरग्रहणी उच्छेद	gastroduodenal resection
जठरग्रहणी धमनी	gastroduodenal artery
जठरछिद्रीकरण	gastrostomy
जठरछेदन	gastrotomy
जठरोच्छेदन	gastrectomy
जघरनिर्गम संकीर्णता	pyloric stenosis
जठरनिर्गम प्रान्त	pyloric end
जठरप्लीहा स्नायु	gastro splenic ligament
जठरवपा धमनी	gastroepiploic arti
जठरमध्यान्त्र बृहदान्त्र नालव्रण	gastro-jejuno-colic fistula
जठरमध्यान्त्र सम्मिलन	gastrojejunostomy
जठरबृहदान्त्र	gastrocolic
जठरयकृतवपा	gastrohepatic omentum
जठर व्रण	gastric ulcer
जड़ वामन	cretins

जतूक-एथमाइडी दरी	spheno-ethmoidal recess
जतूक कटक	sphenoidal ridge
जतूक विवर	sphenoidal sinus
जतूकशोथ	sphenoiditis
जनन कटक	genital ridge
जनन पुटक	genital fold
जन्मजात	congenital
जघापिंडिका	gastrocnemius
जरावधिरता	presbycusis
जलाभेद्य अपवाहिका	waterseal drain
जलगवीनी	hydroureter
जलनिमग्न व्यायाम	under water exercises
जलमस्तिष्क	hydrocephalus
जलवृषण/डाइड्रोसील	hydrocele
ज्वालाकार	flameshaped
जलशोफयुक्त कोशिका	hydropic cell
जलापवृक्कता	hydronephrosis
जानुसधि	knee joint
जानुका	patella
जानुका स्नायु	ligamentum patellae
जानुकोच्छेदन	patellectomy
जानुपृष्ठ शिरा	popliteal vein
जालक अन्तःकला अर्बुदी दशा	reticulo-endothelial neoplastic condition
जालक अन्तःकला तन्त्र	reticulo endothelial system
जालक कोशिकाबहुलता	reticulocytosis
जालक मेरुरज्जुपथ	reticulospinal tract
जालक रचना	reticular formation
जालिका रूपी तन्त्रिकातन्तु अर्बुद	plexiform neurofibromata
जिह्वा अवटुका	lingual thyroid
जिह्वा की सोराइसिस	psoriasis linguae
जिह्वा टौंसिल	lingual tonsil

जिह्वा ग्रसनी तंत्रिका	glossopharyngeal nerve
जिह्वाग्रह	ankyloglossia
जिह्वा धमनी	lingual artery
जिह्वा बंधनी	frenum linguae
जिह्वाशोथ	glossitis
जीवनशक्ति	vitality
जीवनक्षम	viable
जीवाणुमेह	bacilluria
जैतून का तेल	olive oil
जैन्थीन	zanthine
जैवविपरक्तता	toxaemia
जैवोति परीक्षा	biopsy
झनझनाहट	tingling
टरेटोमा	teratoma
ट्रस/आत की पेटी	truss
ट्रिगर अंगुलि	trigger finger
टीनिया/पट्टक/पट्टिका	taenia
टीनिया एकिनोकोकस	taenia ecchinococcus
टैट्राडियम	tetradium
ट्रैंडिलिनबर्ग स्थिति	trendelenburg position
ट्रैबीकुल	trabecula
टोमोग्राफी	tomography
ठेस	callosities
ठोस/घन	solid
डिप्थीरिया	diphtheria
डिंबग्रन्थि उच्छेदन	oopherectomy
डिंब-वाहिनी-ग्रन्थिशोथ	salpingo-oophoritis
डुपट्रिन का संकोच	dupuytren's contracture
डैन्टीन	dentine
डैस्माइड	desmoid
तडाग अस्थिभंग	pond fracture
तनु (adj)	dilute

तनुकरना (verb)	dilute
तनूकृत	diluted
तनु पेशी/तनुका	gracilis muscle
तनुतानिका शोथ	leptomeningitis
तन्तु अर्बुद	fibroma
तन्तुकर अस्थ्यर्बुद	fibrosing osteoma
तन्तुग्रन्थिलता	fibroadenosis
तन्तूपास्थिकृत	fibrocartilaginous
तन्तुपुटीय	fibrocystic
तन्तुपुटी रोग	fibrocystic disease
तन्तुकृत/तन्तुमय	fibrosed
तन्तुपुटीय स्तनविकृति	fibrocystic mastopathy
तन्तुमयता	fibrosis
तन्तु सारकोमा	fibrosarcoma
ततिकार्ति	neuralgia
तंत्रिकाकार्य-विच्छेद	neurapraxia
तत्रिकातन्तु-अर्बुद	neurofibroma
तंत्रिकात	nerve ending
तत्रिका प्रभावन यंत्रावलि	neuro-effector mechanism
तत्रिका प्रसू अर्बुद	neuroblastoma
तत्रिकापेशी असमन्वय	neuromuscular inco-ordination
तत्रिकामोचन	nenrolysis
तत्रिकाविकृतिजन्य सधिविकृति	neuropathic arthropathy
तत्रिकावरणार्वुद	neuronoma/neurolemoma
तंत्रिकाविच्छेदन	neurotmesis
तत्रिकाविक्षिप्ति	neurosis
तत्रिकावसाद/न्यूरेस्थीनिया	neurasthenia
तत्रिकीय त्रुटि	neurological deficit
तर्कुरूप	spindle shaped
तप्त तरलदाह	scalding
तरल स्तर	fluid/level
त्रिकपर्दी अविवरता	tricuspid atresia

पारिभाषिक शब्दावली

त्रिकपर्दी संकीर्णता	tricuspid stenosis
त्रिकास्थि	sacrum
त्रिकोणकार गोफण	triangular sling
त्रिकोणिका	deltoideus
त्रिधारा तन्त्रिकार्ति	trigeminal neuralgia
त्रिधारा पथछेदन	trigeminal tractotomy
त्रिशिरस्का बाह्वी	triceps brachii
तलछट	sediment
त्वक् शोथ	dermatitis
त्वग्वसा पुटिका	sebacious cyst
त्वचापूयता	pyodermia
त्वचाभंगिका	corrugator cutis
त्वचारोपण/निरोपण	skin grafting
तान	tone
तारककोशिकार्बुद	astrocytoma
ताराविस्फार	mydriasis
तालु	palate
तालुग्रसनिका	palatopharyngeus
तालुटॉसिल	palatine tonsil
तालुजिह्विका	palatoglossus
तालुतानिका	tensor palati/tensor veli palati
तालुप्रवर्ध	palatine process
तिर्यक	oblique
तिर्यकता	obliquity
तीव्र	acute
तीव्र उदर	acute abdomen
तीव्र जठरशोथ	acute gastritis
तीव्र सपूय मध्यकर्णशोथ	acute suppurative otitis media
तीव्र सार ऊतकी जिह्वाशोथ	acute parenchymatous glossitis
तृतीयक सिफिलिस	tertiary syphilis
थोरेकोप्लास्टी/वक्ष सधान	thoracoplasty
दन्तकूप	tooth follicle

दन्तकोश	dental sac
दन्तधर पुटी	dentigerous cyst
दन्तपुटी	dental cyst
दन्तपूति	dental sepsis
दन्तप्रसू	odontoblast
दन्तमज्जा	tooth pulp
दन्तमूल की विद्रधि	root abscess
दन्तवल्कलार्बुद	adamantinoma
दन्तमूल संक्रमण	dental root infection
दन्तार्बुद	odontoma
दन्ताभ प्रवर्ध	odontoid process
दन्तावलि, कृत्रिम	denture, artificial teeth
दन्तुर स्नायु	dentate ligament
दन्तोलूखल विद्रधि	alveolar abscess
दन्तोलूखल उपान्त	alveolar margin
दन्तोलूखल (धारा) उपान्त	alveolar margin
दरी	crypt
द्रवण, द्रावण	liquifaction
द्रवनिवेशन	perfusion
द्रवस्थैतिक	hydrostatic
दात्राकार स्नायु	falciform ligament
दानेदार/शितकणी	gritty
दाब प्रवणता	pressure gradient
दाब व्रण	pressure sores
द्वार नृत्य/हाइलरनृत्य	hilar dance
दाहार्ति	causalgia
द्राक्षगुच्छाभ	racemose
द्विकपर्दी अक्षमता	mitral incompetence
द्विकपर्दी द्वारा/माइट्रल द्वार	mitral orifice
द्विकपर्दी प्रत्यावहन	mitral regurgitation
द्विकपर्दी संकीर्णता	mitral stenosis
द्वितीयक	secondary

द्वितीयक प्रक्षेपी	secondary metastatic
द्वितीयक वृद्धियां	secondary growths
द्वितीयक रक्तस्राव	secondary haemorrhage
द्वितीयक लैंगिक गुण/गौण लैंगिक गुण	secondary sexual characters
द्वितीयक सिफिलिस	secondary syphilis
द्वितीयक सीवन	secondary suture
द्विपार्श्वी/उभयपार्श्वी	bilateral
द्विशाखन	bifurcation
द्विशिख यूवुला	bifid uvula
द्विशिरस्की खातिका	bicipital groove
दुहिता पुटी	daughter cyst
द्विहस्त परिस्पर्शन	bimanual palpation
दीर्घ अक्ष	long axis
दीर्घ अंगुष्ठ आकुंचिका	flexor pollicis longus
दीर्घ अंगुष्ठ प्रसारिका	extensor pollicis longus
दीर्घतमा	sartorius
दुर्गंधित नासास्राव	ozena
दुर्दम	malignant
दुर्दम अवरोध	malignant obstruction
दुर्दमता	malignancy
दुर्विकसन	dysplasia
दुर्विकसित	dysplastic
दुष्कार्य	dysfunction
दुःसाध्य	intractable
दूरानुभूत वेदना	referred pain
दृढ़तानिकाबाह्य (विद्रधि)	extra dura (abscess)
दृढ़ीभवन	induration
दृढीभूत	indurated
दृष्टितन्त्रिका	optic nerve
दृष्टितन्त्रिकाशोष	optic atrophy
दृष्टिपात/दृष्टिहानि	failure of vision
दृष्टिविक्षोभ	disturbance of vision

दृष्टिक्षेत्र	visual field
दोलनमापी	oscillometer
धड़ाका	explosion
धनात्मक संवातन	positive ventilation
धमनी	artery
धमनीकाठिन्य, लोपी	arteriosclerosis obliterans
धमनी घनास्रता	arterial thrombosis
धमनी मंदचेतनता	arterial stupor
धमनी लघुपथ/उपपथ	arterial bypath
धमनी स्नायु	ligamentum arteriosum
धारक कला	basement membrane
धारक कोशिकायें	supporting cells
धावन	lavage
ध्रुव	pole
नखरहस्त	clawhand
नम्य	resilient
न्यायवैद्यक	medicolegal
न्यूमोकोकसजन्य एम्पायीमा	pneumococcal empyema
नलिका प्रवेशन	intubation
नवजात वौलवूलस	volvuls neonatorum
नाड़ी दाब	pulse pressure
नाड़ीव्रण	sinus
नाभिबाह्य हर्निया	examphalos
नाभि रज्जु	umbilical cord
नाभि हर्निया	umbilical hernia
नाम पद्धति	nomenclature
नासा/नासिका	nose
नासाश्मरी	rhinolith
नासागर्त	nasal pit
नासाग्रसनी अभिष्यन्द/प्रतिश्याय	nasopharyngeal catarrh
नासाग्रसनी टौंसिल	nasopharyngeal toncil
नासाग्रसनी तंतु अर्बुद	nasopharyngeal fibroma

नासाडिफ्थीरिया	nasal diphtheria
नासादर्शन	rhinoscopy
नासापट	nasal septum
नासापनसिका	nasal furunculosis
नासापोलिप	nasalpolyp
नासाश्रय	nasal support
नासाशोथ	rhinitis
नासारक्तस्राव	epistaxis
नासास्वर	nasal twang
निकटस्थ	proximal
निकोचन	stricture
निगरणकष्ट	dysphagia
नितंब पुटक	gluteal fold
नितंब स्नान	hip bath
नितंब संधि	hip joint
निदान	diagnosis
निमोनिया	pneumonia
निम्न/अव-अधोहनु लाला ग्रन्थियां	submandibular salivary glands
निम्न प्रेरक न्यूरोन प्ररूप	lower motor neurone type
नियततापी	warm blooded
निरोप	graft
निर्गत	output
निर्जलित	dehydrated
निर्जलीकरण	dehydration
निर्जीवाणुकरण	sterilization
निर्बंध	persistant
निर्भेद	perforation
निर्मूलक	radical
निर्मूलक स्तनोच्छेदन	radical mastectomy
निलय	ventricle
निलयकुंडछिद्रीकरण	ventriculocisternostomy
निलयछिद्रीकरण	ventriculostomy

नेलेटन रेखा	nelaton's line
निवर्तन/प्रतिगमन	retraction
निवर्तनित्र	retractor
निर्विषीकरण	detoxicating
निवेशन प्रयोग	inoculation experiments
निशे	nitche
निशा मूत्र असंयमि	nocturnal incontinence
निश्चलकरण/अचलीकरण	immobilization
निःश्वसन	expiration
निःश्वसनकष्ट	expiratory dyspnoea
निस्तानिका	tenesmus
निस्त्वचन	excoriation
निःस्रवण/निःस्राव	exudation, exude
निःस्राव	discharge
निस्सारक	evacuator
निर्हरण/निकास	drainage
निक्षेप	deposit
नील	contusion
नीलाभता	lividity
नील अश्मरिया	indigo calculus
नेत्रछद	eyelid
नेत्रपेशीघात	ophthalmoplegia
नेत्र श्लेष्मला	conjunctiva
नेत्रश्लेष्मला शोफ	chemosis
नेत्रशिरा	ophthalmic vein
नेत्रोत्सेध	exophthalmos
नेफ्रोब्लैस्टोमा	nephroblastoma
नोदन	pulsion
नौकाभ	scaphoid
पट	septum
पट्टक	squamma
पट प्रसर	septal spur

पथमार्ग	path way
पदपात	foot drop
पनसिका	furunculosis
पराउरोस्थि	parasternal
पराकशेरुक खात	paravertebral fossa
पराकशेरुक रोध	paravertebral block
परागकण	pollen grains
पराग्रहणी खात	paraduodenal fossa
पराग्रसनी विद्रधि	parapharyngeal abscess
परानाभि	paraumbilical
परानासाविवर	paranasal sinuses
पराफाइमोसिस/परिवर्तिका	paraphimosis
परावृहदान्त्र	paracolic
परामध्यम छेदन	paramedian incision
परामध्य वृक्कवाहिनी	paramesonephric duct
परासमोदर छेदन	pararectal incision
परिकपाल	pericranium
परिगलन	necrosis
परिगलनक स्टेफिलोकॉकसजन्य आंत्र-शोथ	necrotising staphylococcal enteritis
परिगवीनी लसीकावाहिकायें	periureteric lymphatics
परिगुदा अवकाश	perianal space
परिगुदा पूयता/पूयीभवन	perianal suppuration
परिग्रहणी	periduodenal
परिसारी ग्रैव संयोजीऊतक शोथ	spreading cervical cellulitis
परिजठर	perigastric
परितन्त्रिका प्रसू अर्बुद	perineural fibroblastoma
परिताडन	percussion
परिदृढ़तानिका तन्तुमयता	peridural fibrosis
परिधीय स्वजात निरोप	circumferntial autogenous graft
परिपरिवेश	circumareola
परिमलाशय पूयता/पूयीभवन	perirectal suppuration

परिमित	circumscribed
परिमूत्रमार्ग विद्रधि	periurethral abscess
परिवर्ती कोशिकाकृत सारकोमा	transitional celled sarcoma
परिवर्धन	development
परिवर्धनात्मक दोष	developmental defects
परिवर्धनात्मक असंगतिया	developmental anomalies
परिवर्धन पुटी	developmental cyst
परिविपुटी विद्रधि	peridiverticular abscess
परिवृक्क	perirenal
परिवृक्क विद्रधि	perinephric abscess
परिवृत्त अंकुरक	circumvallate papillae
परिवाहिनी लसीकावाहिकायें	periductal lymphatics
परिशिराशोथ	periphlebitis
परिशुद्ध अलकोहल	absolute alcohol
परिशिखरक/पैरिट्रोकैन्टर	peritronchanteric
परिसरी अस्थिभग/उपान्तीय अस्थिभग	marginal fracture
परिसूक्ष्मनलिकीय	pericanalicular
परिस्पर्शन	palpation
परिस्पर्श्य/परिस्पर्शनीय	palpable
पर्याणिका	sella turcica
पर्याणिका तानिकार्बुद	sellar meningioma
पर्याण नासिका	saddle nose
पर्याणपृष्ठ	saddle back
पर्युदान्तर बंध	intraperitoneal bands
पर्युपास्थि शोथ	perichondritis
पर्युदर्या	peritoneum
पर्युदर्या दरिया	peritoneal recesses
पर्युदर्यापश्च अर्बुद	retro peritoneal tumour
पर्युदर्याशोथ	peritonitis
पर्युदर्या शोथ तीव्र विसरित	peritonitis, acute diffuse
पर्यस्थिशोथ	periostitis
पर्व	node

पर्वित अन्त.सरण	nodular infiltration
पर्विलता	nodularity
पर्शुकोच्छेदन	costotransveisectomy
पर्शुक उपान्त	costal margin
पर्शुकाकशेरुक	costovertebral
पर्शुकान्तरा धमनी/अन्तरापर्शुक धमनी	intercostal artery
परिहृद्	pericardium
परिहृद् शोथ	pericarditis
प्रकाश परिवर्त	light reffex
प्रकाशभीति	photophobia
प्रकाश शंकु	cone of light
प्रकीर्णन	dissemination
प्रकुचनी मर्मर	systolic murmur
प्रक्रम	technique
प्रगंडास्थि	humerus
प्रगडिका	brachialis
प्रगंड जालिका	brachial plexus
प्रगडशीर्ष धमनी, शिरा	brachiocephalic artery, vein
प्रघाणकार्य परीक्षण	vestibular function test
प्रघाण पुटक	vestibular folds
प्रघाणशोथ	vestibulitis
प्रचुरोद्भवी/प्रफलनी	proliferating
प्रचुरोद्भवन/प्रफलन	proliferation
प्रच्छन्न/गुप्त	invidious
प्रत्यावहन	regurgitation
प्रतानन	stretching
प्रत्यावाही	regurgitant
प्रत्यास्थ	elastic
प्रति अमीबी	antiamoebic
प्रतिकफोणी/प्रतिकूर्पर	anticubital
प्रतिक्रमण	regression
प्रतिकर्षण	countertraction

प्रतिकारी शोफ	reactive oedema
प्रतिक्रियात्मक रक्तस्राव	reactionary haemorrhage
प्रतिक्रियाशील तापन्यूनता	reactive hypothermia
प्रतिगमन	recession
प्रतिगामी	retrograde
प्रतिगामी गोणिका चित्रण	retro grade pyelography
प्रतिगामी स्मृतिलोप	retrograde amnesia
प्रतिगामी शिराघनास्रता	retrograde veus thrombosis
प्रतिछेदन	counterincision
प्रतिजन/एन्टीजन	antigen
प्रतिजीवी	antibiotics
प्रतिदर्श	sample
प्रतिदीप्तिदर्शन	fluorscopy
प्रतिदीप्तिदर्शी	fluorocope
प्रतिदीप्ति पट	fluoroscopic screen
प्रतिपिंड	antibody
प्रतिपिंड अनुमापी	antibody titre
प्रतिमान	pattern
प्रतिस्थापन	replacement
प्रतिस्थापन संधिसधान	replacement arthroplasty
प्रतिहारी अतिरक्तदाब	portal hyper tension
प्रतिहारीतंत्र	portal system
प्रतिहारीद्वार	porta hepatis
प्रतिहारी पूयरक्तता	portal pyaemia
प्रतिहारी-महाशिरा पार्श्व पथ	porto-caval shunt
प्रतिहारी शिरा	portal vein
प्रतिहारी शैया	portal bed
प्रतिक्षेपी स्पर्शासहता	rebounding tenderness
प्रतीप दाब	backpressure
प्रतिरोपण	transplantation
प्रतिलोठन	ballotment
प्रतिलोमित/व्युत्क्रमित	inverted

प्रतिलोमित/व्युत्क्रमित, अस्थिवर्ध स्थूल निरोप — inverted diaphyseal massive graft
प्रतिवर्ती संदमन — reflex inhibition
प्रत्यक्जघन/जघनपश्च पुरस्थोच्छेदन — retropubic prostectomy
प्रत्यक् पर्यदर्या/पर्युदर्यापश्च — retroperitoneal
प्रत्यक् बृहदान्त्र/बृहदान्त्रपश्च — retrocolic
प्रत्यक्स्तन/स्तनपश्च, विद्रधि — retromammary abscess
प्रत्यक्स्तनजालिका — retromammary plexus
प्रत्यक्ष — direct
प्रत्यक्ष अभिघात — direct violence/trauma
प्रत्यक्ष निरोपण — direct implantation
प्रथम सहाय — first aid
प्रधूमन/फूंकना — insufflation
प्रपद दंड — metatarsal bar
प्रपदास्थि — meta tarsal
प्रबल/उग्र — virulent
प्रबलता/उग्रता — virulence
प्रमस्तिष्क मेरु तरल दाब — cerebrospinal fluid pressure
प्रमस्तिष्कतानिका क्षताक — cerebromeningeal cicatrix
प्रमस्तिष्कमेरु तरल — cerebrospinal fluid
प्रमस्तिष्क व्यपजनक विक्षति — cerebral degenerative lesion
प्रमस्तिष्की सस्तंभी अंगघात — cerebral spastic paraplegia
प्रमस्तिष्क क्षोभ — cerebral irritation
प्रयाण/प्रगम, अस्थिभंग — march fracture
प्ररूप — type
प्ररूपक — typical
प्रलेपक ज्वर — hectic fever
प्रवर्ध — process
प्रवाहिका — diarrhoea
प्रविधि — technique
प्रवेगी निशि श्वासकृष्ट — paroxysmal nocturnal dyspnoea
प्रशीतन — refrigeration

प्रश्वसन	inspiration
प्रसृत काठिन्य	disseminated sclerosis
प्रस्फोटी (कपाल)	bursting (cranium)
प्रसवोत्तर पूतित	puerperal fever
प्रेरक अपह्रास	motor deterioration
प्रस्फोट (विद्युत तरंग)	bursts (electric waves)
प्रस्वेद्य	d ffluent
प्रक्षेप	projection
प्रक्षेपी वमन	projectile vomiting
पल्लविका-शख तत्रिका	auriculotemporal nerve
प्लस्तर शैया	plaster bed
प्लस्तर स्वस्तिका	plaster spica
प्लीहावृक्क पार्श्वपथ	lineorenal shunt
प्लीहावृक्क स्नायु	lineorenal ligament
पश्चदाव	back pressure
पश्चनासाद्वार पौलिप	antrochoanal polyp
पश्चनत	retro verted
पश्चमुद्रिकावटुकी	posterior cricothyroideus
पश्चात् चिकित्सा	after treatment
पश्चायाम	opisthotonos
पश्चाभिमध्य	posteromedial
पश्चकपाल	occipital
पश्चखात (करोटि)	posterior fossa (cranium)
पक्षाभ अकुश	pterygoid hamulus
पक्षान्तरण	transposition
पाडुर पिंड	globus pallidus
पात	collapse
पात चिकित्सा	collapse therapy
पाद	crus
पादपृष्ठाकुचन	dorsiflexion
पारउरश्छद मार्ग	transpectoral route
पारगमन	permeation

पारजठर निर्गमतल	trans
अनुप्रस्थजठरनिर्गमतल	transpyloric plane
पारपट/अनुप्रस्थपट	transseptal
पारपर्युदर्या	transperitoneal
पारशिखरक/अनुप्रस्थ-ट्रोकैन्टर	transtrochanter
पारप्रदीपन/पारप्रदीप्ति	transillumination
पारवेधन टांके	transfixation suture
पारभासी	translucent
पारमूत्रमार्ग उच्छेदन	transurethral resection
पाररेखाकन	cross striation
पारसंयोजन	cross-union
पारिवारिक अति सुग्राहिता	familial hypersensitiveness
पाश/स्नेयर	snare, loop
पार्ष्णिका	caleaneus
पार्श्वकुब्जता	scoliosis
पार्श्विका	parietal
पार्श्विकोत्सेध	emminentia parietatis
पार्श्वपिंड	lateral mass
पार्ष्णिकडरा	tendoachilles
प्राक्ज्ञान	prognosis
प्राथमिक	primary
प्राथमिक वृद्धि	primary growth
प्राथमिक संयोजन	primary union
प्राथमिक सिफ़िलिस	primary syphilis
प्राणयाम व्यायाम	deep breathing exercises
प्रान्तस्था (केन्द्रक) अंधता	cortical (central) blindness
/प्रान्तस्थीय ,, ,,	cortical ,, ,,
प्रान्तस्था प्रमस्तिष्क-शोप	cortio-cerebral atrophy
प्रारंभी/आरब्धी/आरभमाण	incipient
प्रालंब	flap
प्रालब कपाटिका	flap value
आवरणी छेदन	fasciotomy

प्रावरणी-शिरा तल	fascio-venous plane
प्लास्टिक रूप	plastic type
पिचु	swab
पित्त केशिका	bile capillaries
पित्तवाहिनीचित्रण	cholangiography
पित्तवाहक पथ	billiary passage
पित्तवाहिनी विद्रधि	cholangitic abscess
पित्ताश्मरी	gallstones
पित्त श्मरीयता	cholelithiasis
पित्ताशयछेदन	cholecystotomy
पित्ताशयोच्छेदन	cholecystectomy
पित्ताशय-जठर छिद्रकरण	cholecystogastrostomy
पित्ताशयवाहिनी	cystic duct
पित्ताशयशोथ	cholecystitis
पित्तवाहनीशोथ	cholangitis
पित्ती/शीतपित्त	urticaria
पीठिका	stroma
पीतक कोश	yellow sac
पीतरजकता/जैन्थोक्रोमिया	xanthochromia
पीयूपिकावाहिनी अर्बुद	craniopharyngioma
प्लीहा	spleen
प्लीहिका	splenicule
प्लीहातिवृद्धि	splenomegaly
प्लीहावेध	splenic puncture
प्लीहावंक	splenic flexure
प्लीहोच्छेदन	splenectomy
पुच्छान्त	caudal end
पुच्छाभिगमन	caudal migration
पुच्छी केन्द्रक	caudate nucleus
पुटामिन	putamen
पुटी	cyst
पुटी भित्ति	cyst wall

पुटी रोग	cystic disease
पुनरारोपण	reimplantation
पुनरावर्ती/पुनरावर्तक	recurring/recurrent
पुनरभ्यास	reeducation
पुनर्वक्रन	recurvaturn
पुनरावर्ती पैरोटिड ग्रन्थिशोथ	recurrent parotitis
पुन:स्थापन	reduction
पुनर्वासन	rehabilitation
पुरस्थपश्च कोष्ठक	postprostatic pouch
पुरुपजनन पथ	male genital tract
पुरुपशुक्रनिवृत्ति	male climacteric
पुरस्थ	prostate
पुर:कुब्जता	lardosis
पुर:सरण	peristalisis
पुरीष नालव्रण	foecal fistula
पुरोउलूखली	prealveolar
पुर:ऊर्ध्वहनु	premaxilla
पुरोकैन्सरीय	precancerous
पुरश्चर्वणिका	premasseteric
पुर:पल्लविका	preauricular
पुरोमहाधमनी	preaortic
पुरोललाट	prefrontal
पुरोशेपान्त्र	prileal
पुरिस्द्रोनवधित	premammary abscess
पुरोहृद	precordial
पुरस्त्रिक-तंत्रिकोच्छेदन	presacral neurectomy
पुरस्त्रिक	presacral
पूर्ण असंयोजन	absolute non-union
पूति, पूतित	sepsis
पूतिजीवरक्तता	septicaemia
पूतित अन्त:शल्य	septic embolus

पूतित उपद्रव	septic complication
पूतिरोधी	antiseptic
पूतिस्वेदलता	bromidrosis
पूय	pus
पूयता/पूयीभवन	suppuration
पूय अपवृक्कता	pyonephrosis
पूयमेह	pyuria
पूयरक्तज विद्रधि	pyaemic abscess
पूयरक्तता	pyaemia
पूरक अतिवृद्धि	compensatory hypertrophy
पूरक बन्धन/स्थिरीकरण	complement fixation
पूर्वगामी	precursor
प्लूरापर्युदर्या नलिका	pleuroperitoneal canal
प्लूराबाह्य सम्पीडन	extrapleural plombage
पृथुस्नायु	broad ligament
पृष्ठक	facet
पृष्ठवेदना	backache
पेप्टिक व्रण	peptic ulcer
पेशी-आकर्ष	muscle spasm
पेशीद्वार/पेशीछिद्र	muscle hiatus
पेशीछेदन	myotomy
पेशीजन्य अभिघात	muscular violence
पेशीशोषी पार्श्वकाठिन्य	amyotrophic lateral sclerosis
पैत्तिक	biliary/bilious
पैरोटिड अश्मरी	parotid calculii
पैरोटिड ग्रन्थि	parotid gland
पैरोटिड नालव्रण	parotid fistula
पैरोटिड वाहिनी	parotid duct
पैरोटिड शोथ	parotitis
प्लैटीबेसिता	platibasia
पॉन्सीय	pontine
पॉलिप	polyp

पालिपता/पॉलिपमयता	polyposis
पोलियो	poliomyelitis
—आरोही प्ररूप	—ascending type
—मेरुशीर्ष	—bulbar type
—मेरुरज्जु	—spinal type
फलक	lamina
फलकित/स्तरित	laminated
फलकोच्छेदन	laminectomy
फार्निक्स/तोरणिका/चापिका	fornix
फाइब्रिनी परिहृदशोथ	fibrinous pericarditis
फाइमोसिस	phimosis
फाइलेरिया रोग/फाइलेरियेसिस	filariasis
फास्फेट वर्ग	phosphatic group
फास्फेटेज़ सक्रियता	phosphatase activity
फिनौसल्फोथेलीन	phenolsulphonpthalein
फुप्फुसोच्छेदन	pneumenectomy
फुप्फुसपात, फुप्फुस अनुन्मीलन	atelectasis
फुप्फुसशोथ	pneumonitis
फुप्फुसी अन्तःशल्यता	pulmonary embolism
फुप्फुसी प्रतिरक्तदाब	pulmonary hypertension
फुप्फुसी वाहिका-प्रतिरोध	pulmonary vascular resistance
फुप्फुसी संकीर्णता	pulmonary stenosis
फैलोपी नली	fallopian tube
फोड़े/फुन्सी	boils
फौर्शेट	fourchette
बटुआ सीवन	purse-string.suture
बद्ध पाश	closed loop
बधिरता	deafness
बक	flexure
बध्यकरण	castration
बधन	ligature/ligation
बपा	omentum

वाह्य जानुपृष्ठ धमनी	external poplıteal art.
वाह्यतिर्यक् औदरिका	obliquus extornus abdominis
वाह्यस्थ निरोप	outlay graft
वाह्य मूत्रपथ कुहर	external urinary meatus
वाह्य श्रवण कुहर	external auditary meatus
ब्रायन्ट का त्रिभुज	bryant's trıangle
विद्ध अस्थिभंग	punctured fracture
विभव, गक्य	potential
विन्दुक विधि	drıp method
विन्दुकित	spotted
विन्दुपातन	instilatıon
विन्दुमूत्रकृच्छ	strangury
विन्दुक संक्रमण	droplet infection
विलंवित संयोजन	delayed unıon
विलिरूविन	bllirubin
वुध्न	fundus
वूजी	bougie
वेध/छिद्र	perforation
वेध	stab
वेधी	penetrating
वेधन	penetration
वेधक शाखाए	perforating
वेधन/वेध	puncture
व्रेस	brace
ब्लास्टीमा/प्रसूकोशिकापुंज	bastema
वौमन सम्पुट	bowman capsule
व्रौंकोनिमोनिया	bronchopneumonia
व्रौंकोस्कोपी/श्वसनीदर्शन	bronchoscopy
वृहत् अभिवर्तिका	adductor magnus
वृहत् ग्रहणी-अंकुरक	major duodenal papilla
वृहत् जिह्वता	macro glossia
वृहत् मुखद्वार	macrostoma

मध्यकर्ण विदर	middle earcleft
मध्यकुहर	middle meatus
मध्यकंचुक	middle coat
मध्यकर्ण-पट्टिका	tympanic plate
मध्यकर्ण पटहतंत्रिका	chorda tympani
मध्यकर्णशोथ	otitis media
मध्यखात (करोटि)	middle fossa (skull)
मध्यच्छदिका	diaphragm
मध्यच्छद-तंत्रिका	phrenic nerve
मध्यच्छद हर्निया	diaphragmatic hernia
मध्यतानिका धमनी	middle meningeal artery
मध्य-नितंबिका	gluteus medius
मध्य-पोषद	intermediate host
मध्यम प्रक्षेप	median projection
मध्यरेखा छेदन	midline incision
मध्यवर्ती/केन्द्रीय-तंत्रिका तंत्र	central nervous system
मध्यस्थानिका अर्बुद	mediastinal tumour
मध्यस्थानिका-शोथ	mediastinitis
मनोप्रेरक	psychomotor
मनोविक्षिप्ति	neurosis
मन:शल्यचिकित्सा	psychosurgery
मंडूकानन विरूपता	frog face deformity
मन्द उत्प्लावी नाड़ी	slow bounding pulse
मन्दवर्धी	slow growing
मन्यास्तंभ	torticollis
मनस्तंत्रिका विक्षिप्ति	psychoneurosis
मरोड़	torsion
मर्फी त्रिक	murphy triad
मलवमन/विष्ठावमन	foecal vomitting
मलाश्मरी/विष्ठाश्मरी	stercolith, faecolith
मलाशय कणिकागुल्म	rectal granuloma
मलाशयदर्शन/प्रौक्टोस्कोपी	proctoscopy

मूत्रमार्गछेदन	urethrotomy
मूत्रमार्ग नालव्रण	urethral fistula
मूत्रमार्गसंधान/यूरेथ्रोप्लास्टी	urethroplasty
मूत्राशय	urinary bladder
मूत्राशय अस्थानता	ectopia vesicae
मूत्राश्मरी	urinary calculus
मूत्राशय-बृहदान्त्र नालव्रण	vesicocolic fistula
मूत्राशयशोथ	cystitis
मूर्छा	syncope
मूलाधार पिंड	perineal body
मूलाधार मूत्रमार्ग छेदन	perineal urethrotomy
मूलक	radical, radicular
मूल सम्पीडन	root compression
मूलक्षोभ	root irritation
मूषकपुच्छ आकृति	rat tailing appearance
म्यूकोसील/श्लेष्म पुटिका	mucocoele
मृत अवकाश	dead space
मृदुकरण	softening
मेटानेफ्रोस/पश्चवृक्क प्रसू	metanephros
मेरुचेतक पथ	spinothalamic tract
मेरुतंत्रिका	spinal nerve
मेरुनलिका-विदर	rachischisis
मेरुनलिका	spinal canal
मेरुरज्जु पुच्छ	cauda equina
मेरुरज्जुतानिका हर्निया	medulla oblongata
मेरुशीर्ष	medullary
मैकबर्नी बिन्दु	Mcburney's point
मैकबर्नी मार्ग	Mcburney's approach
मैकिल विपुटी/मैकिल अपवर्त	Meckel's diverticulum
मैगट	maggots
मैट्रेस/गद्दा	mattress
मैलियोलस के पुटक	malleolar folds

मोच	sprain
मोच अस्थिभंग	sprain fracture
मोचक छेदन	release cut
मोटन	kinking
यकृत	liver
यकृत-अग्न्याशय कलशिका	hepatopancreatic ampulla
यकृतोच्छेदन	hepatectomy
यकृत खंडिका	hepatic lobule
यकृत धमनी	hepatic artery
यकृत पात	hepatic failure
यकृत प्रतिहार	porta hepatis
यकृत बंक	hepatic flexure
यकृत (सामान्य) वाहिनी	hepatic duct, common
यकृत शिरा	hepatic vein
यथार्थ एन्यूरिज़्म	true aneurysm
यक्ष्मिका, गुलिका	tubercles
यक्ष्मिकागुल्म	tuberculoma
यक्ष्मारोधी	antitubercular
युवन	adolescent
यूरिया उत्सर्ग परीक्षण	urea clearance test
यूरिया सान्द्रण परीक्षण	urea concentration test
यूरीमिया	uraemia
यूरेकस	urachus
यूस्टेकी नली	eustaachian tube
यूस्टेकी नलीशोथ	eustachian salpingitis
रुधिर	blood
रक्तातंच	blood clot
रक्तजन्य संक्रमण	haematogenous infection
रक्ततुलनाकरण	matching of blood
रक्तदावह्रासी	hypotensive
रक्तदावमापी	sphygmo manometer
रक्तमेरुरज्जु	haematomyelia

लघु अंगुष्ठ आकुंचिका	flexor pollicis brevis
लघुकोश	lesser sac
लघुपथ	short circuit
लघुपथकर शस्त्रकर्म	short circuiting operation
लघुमुख द्वार	microstoma
लघुतरवक्र	lesser curvature
लघुतरवपाकोश	lesser omental sac
लाला ग्रन्थियां	salivary glands
लाला चित्रण	sialography
लाला ग्रन्थिशोथ	sialoadenitis
लालास्रवण/लालास्राव	lalivation
लिथोट्राइट/अश्मरी भंजक	lithotrite
लिथोट्राइटी/अश्मरी भंजन	lithotrity
लिपियोडोल	lipiodol
लिविडोरेटी क्यूलेमि	diviloreticulasis
लिसलिसा	slimy
लीक अभेद्य	leak proof
लीक करना/चूना	leak (verb)
लुडविग शोथ	Ludgwig's angina
लूकीमिया	leukaemia
लूपस	lupus, lupus vulgaris
लोगन की चाप	Logan's bow
लोठनी हायेटस हर्निया	rolling hiatus hernia
लोपी घनास्र धमनीशोथ	thromboangitis obliterans
लोहिताणु अवसादन दर	erythrocytic sedimentation rate
वक्र उत्क्रमित 3 चिन्ह	curve-reversed 3 sign
वक्र गंडिका	geniculate ganglion
वर्गीकरण	classification
वर्णकता	pigmentation
वर्णकविरागी	chromophobe
वर्तुलाकार	cylindrical
वर्धीअंगघात	progressive paralysis

वर्धी मेरुपेशीशोथ	progressive spinal muscular atrophy
वर्धी विस्फार	progressive dilatation
वय की परमावधियां	extremes of life
वलयाकार	annular
वलय कारिसनोमा	ring carcinoma
वक्षछेदन	thoracotomy
वलि/पुटक	fold
वलि/झुर्री	rugae
वसा-अन्त:शल्यता	fat embolism
वसा अन्त:संचरण	fatty infiltration
वसातन्तु सारकोमा	lipofibrosarcoma
वसार्बुद	lipoma
वसासम्पुट	fatty capsule
वस्तुनिष्ठमापन	objective measurement
वेगसछेदन	vagotomy
वाक्हानि /स्वरहानि	aphonia
वाचाघात	aphasia
वातनिरपेक्षी	anaerobic
वातमस्तिष्कचित्रण /मस्तिष्कवायुचित्रण	pneumo-encephalography
वातस्फीति	emphysema
वातिल अग्निमांद्य	flatulent dyspepsia
वामपार्श्व	left lateral
वायुगद्दी	aircushion
वायुपर्युदर्या	pneumoperitoneum
वायुमेह	pneumaturia
वास्तविक संधिग्रह /यथार्थ संधिग्रह	true ankylosis
वाहक कोण	carrying angle
वाहिकार्बुद	angioma
वाहिकाकर्ष जन्यरोग	vasospastic disease

वाहिकातंत्रिकीय शोफ	angioneurotic oedema
वाहिकाप्रेरक विक्षोभ	vasomotor disturbances
वाहिका वोलस	vascular bolus
वाहिकामय	vascular
वाहिकावलय	vascular ring
वाहिकाहृदचित्रण	angio-cardiography
वाहिनी अंकुरार्बुद	duct-papilloma
वाहिनी पश्च	postductal
विकरित, विकरण करना	radiate
विकरण उष्मा	radiant heat
विकंपन	fibrillation
विकलाग जूता	orthopaedic shoe
विकलांगी विरूपता	orthopaedic deformity
विकारस्थानी	focal
विकिरण-सुग्राही	radiosensitive
विकीर्ण	sporadic
विकृतशरीरक्रिया /विकारी शरीरक्रिया	pathophysiology
विकृतिजनन	pathogenesis
वैकृत अस्थिभग	pathological fracture
विकैल्सीकरण/विकैल्सीभवन	decalcification
विखडित अस्थिभग	comminuted fracture
विखनिजीकरण	demineralisation
विच्छिन्न	interrupted, loose
विचलन	deviation
विचलनीय अनुनाद /चल मन्दस्वनता	shifting dullness
विचूर्ण्य	crumbling, friable
विजातीय निरोप	heterogenous graft
विटामिन त्रुटि/न्यूनता	vitamin defeciency
विदर,	tear, cleft, fissure
विदारक एन्यूरिज्म	dissecting aneurism

विदारण	laceration
वदीर्ण अस्थिभंग	fissured fracture
विद्युद् अपघट्य	electrolytes
विद्युत्-अवरोधी	insulated
विद्युदातंचन/विद्युत्-स्कन्दन	electro-coagulation
विद्युत्-पेशीलेखन	electro-myography
विद्युन्मस्तिष्कलेखन	electro-encephalography
वद्युन्मस्तिष्कलेख	electro-encephalograph
विद्युत्-हृद्लेख	electro-cardiogram
विद्रधि	abscess
वैद्युत् विसर्जन	electrical discharge
विन्सेंट एंजाइना	Vincent's angina
विन्सेंट मुखपाक	Vincent's angina
विपथी	aberrant
विपर्यास मेरुरज्जुचित्रण	contrast myelography
विपर्यास स्नान	contrast bath
विपाशन	strangulation
विपुटी	diverticulum
विपुटीयता	diverticulosis
विपुटीशोथ/आर्तवशोथ	divorticulitis
विभेदित	differentiated
विमाइलिनीकरण/भवन	demyelination
विरूप	deformed
विरूपक पेशीदुस्तानता	dystonia musculorum deformans
विरूपता	deformity
विरूपागतायें	malformations
विरोधाभासी श्वसन	paradoxical respiration
विरोहण	healing
विविशोथ	sinusitis
विवर्णता/पाण्डुता	pallor
विवर्तिका (पेशियां)	peronei

विवर्तनी अवसंधिभ्रंश	rotatory subluxation
विवर्तनी संधिच्युति	rotatory dislocation
विवर्धित	enlargement
विवर्धित संवलन चिन्ह	increased convolutional impression
विविक्त	sequestrum
विविक्तोच्छेदन	sequesterectomy
विविक्तीभवन	sequestration
विविक्तीभवन डरमाइड	sequestration dermoid
विवृत मूत्राशय	extroversion
विवृति, सहज	dehiscence
विशल्कित	desquemated
विशिष्ट सक्रमण	specific infection
विश्रान्त रस	resting juice
विषनिराकरण	detoxication
विसर्ग	remission
विसरित यकृतशोथ	diffuse hepatitis
विसरित, विसार, विसरण	diffuse
विसरित दृढ सूजन	diffuse indurated swelling
विसरित विवर्धन	diffuse enlargement
विसरित हृत्पेशीशोथ	diffuse myocarditis
विसम्पीडन	decompression
विसुग्राहीकरण	desensitization
विस्तृत पर्युदर्याशोथ	generalised peritonitis
विस्तरण	elaboration
विस्थापन	displacement
विस्थापित	displaced,
विस्फार, विस्फारण	dilatation
विस्फारक	dilator
विस्फारित	dilated
विस्फोट	rash
V-y प्रगम	V-Y advance

वीक्षण	visualisation
वूल्फे का निरोप	Wolfe's graft
वृक्क	kidney
वृक्काश्मरी	renal calculus
वृक्काश्मरी निष्कासन	nephrolithotomy
वृक्क कोण	renal angle
वृक्क छिद्रीकरण	nephrostomy
वृक्क, नालाकार	horse-shoe kidney
वृक्कपात	renal failure
वृक्क प्रावरणी	renal fascia
वृक्क वृन्त	renal pedicle
वृक्क शूल	renal colic
वृक्क शोथ	nephritis
वृक्क स्थिरीकरण	nephropexy
वृन्तयुक्त प्रालव	pedunculated flap
वृन्तक	pedicle
वृषण अनुवंध	adpendix testes
वृषणकोश	scrotum
वृषणधर कचुक	tunica vaginalis
वृषणधरकचुक डाइड्रोसील	vaginal hydrocele
वृषण थैली	scrotal pouch
वृषणधर कंचुक प्रवर्ध	processus vaginalis
वृषण प्रतीति	testiculor feeling
वृषण योजनी	mesorchium
वृषणरज्जु	spermatic cord
वृषणरज्जुशोथ	funiculitis
वृषणशोथ	orchitis
वृषण उत्कर्षिका पेशी	cremasteric muscle
वृषणोत्कर्षणी प्रावरणी	cremasteric fascia
वृषणोच्छेदन	orchectomy
वेटर की कलशिका	ampulla of Vater
वेणु अस्थिभग	bamboo fracture (infraction)

वेदनाहर	analgesic
वेरूमोन्टेनम शोथ	verumontanitis
वैकृत	pathological
वैरिकोसील	varicocele
वौकमैन का स्थानिक अरक्तिक अवकुचन	Volkman's ischaemic contracture
वोलवूलस	volvulus
वंक्षण	groin
वंक्षणी हर्निया	inguinal hernia
व्यवच्छेदन	dissection,
व्यपजनन	degeneration
व्यतिरेक	exclusion
व्यावसायिक चिकित्सा	occupational therapy
व्यवर्तन	opposition
व्यावर्तिका	opponens
व्युत्क्रमानुपात/अन्तर्वर्तन	inversion
व्युत्क्रमानुपात	inverse ratio
व्रण	ulcer
व्रणोत्पादी	ulcerating
शक्तिपात/अवसादन/अवसन्नता	prostration
शमन	resolution
शर प्रवर्ध	styloid process
शरीरक्रिया विज्ञान/शरीर वृत्ति	physiology
शरीरबाह्य परिसंचरण	extracorporal circulation
शल्की	squammous
शल्की उपकला	squammous epithelium
शल्की कोशिका कार्सिनोमा	squammous celled carcinoma
शल्की कोशिका इपीथीलिओमा	squammous cell epithelioma
शस्त्रकर्म	operation
शस्त्रकर्मोत्तर	postoperative
शस्त्रकर्मोत्तर भित्तिक घनास्रता	postoperative mural thrombosis
शस्त्रकर्म पूर्व	preoperative

शाखादीर्घता/एक्रोमेगेली	acromegaly
शाखाश्यावता	acrocyanosis
शान्त	silent
शामक	demulcent
शामक/उपशामक	palliative
शिकणी	gritty
शिखर विद्रधि	apical abscess
शिखर—	apical
शिथिलन	relaxation
शिथिलभाग	pars flaocida
शिरचकराना	giddiness
शिराघनास्रता	phlebothrombosis
शिरास्फीति	varicosity
शिरिका	veinules
शिरीय अन्तर्रोधी प्लैथिस्मोग्राफी	venous acclusive plethysmography
शिरोवेदना	headache
शिरोवल्क	scalp
शिरोवल्कन	scalping
शिरोवल्क रक्तगुल्म	scalp haematoma
शिश्न	penis
शिश्न फ्रीनम (बंधनी)	frenum penis
शिश्नमुंडशोथ	balanitis
शिस्टोसोमा रुग्णता	schistosomiasis
शीतकंप	rigor
शीतनिष्क्रिया	hibernation
शीर्षधर	atlas
शीर्ष प्रान्त	cephalicend
शीर्ष ब्रुइ	cephalic bruit
शीर्षरक्तगुल्म	cephalhaematoma
शीर्षविरूपता	cap deformity
शुक्रवह	vas deferens

शुक्रवहा उच्छेदन	vasectomy
शुक्तिकायें	turbinator
शुक्राणुजंन सूक्ष्मनलिकाये	seminiferous tubules
शूक अपसामान्यताये/स्पाइक अपसामान्यताये	spike abnormalities
शूलवत	colicky
शृंग	horn
शेपान्त्र छिद्रीकरण	ileostomy
शेषान्त्र छिद्रीकरण थैली	ileostomy bag
शेषान्त्र छिद्रीकरण, द्विवैरल	double barelled ileostomy
शेपान्त्रपश्च	postileal
शोपान्त्र-मलाशथ सम्मिलन	ileorectal anastomosis
शेष-वृहदान्त्र शिरा	ileocolic vein
शेपान्त्र योजनी	ileal mesentery
शेषान्त्रशोथ	ileitis
शैशव अर्धांगघात	infantile hemiplegia
शोथ	inflammation
शोफ	oedema
शोपकर अस्थ्युपास्थि विलगन	osteochondritis dessicans
शोप	atrophy
शोपित	atrophied
शोपीजठर शोथ	atrophic gastritis
शकुक	conoid
शखास्थि का अश्म भाग	petrous portion of temporal
शंख-अधोहनु संधि	temporomandibular joint
शंख-अधोहनु सधिशोथ	temporomandibular arthritis
शंवूक-पथव्रण	snail track ulcer
श्यावता	cyanosis
श्याव	cyanotic
श्रवण नलिका	auditary canal
श्रवणमिति परीक्षण	audiometric test
श्रोणि	pelvis

श्रोणिफलकानुत्रिका	ileococcygeus
श्रोणिफलक-कटिलंवनिका	ileopsoas
श्रोणिफलककंटकअग्रोर्ध्व	iliac spine, ant. sup.
श्रोणिफलक खात	iliac fossa
श्रोणिगत वृहदान्त्र	pelvic colon
श्रोणिलक-वंक्षणी	ilioinguinal
श्रोणिफलक शिखा	iliac crest
श्रोणिभूमि	pelvic floor
श्रोणि मलाशय विद्रधि	pelvirectal abscess
श्लथ पिंड	loose bodies
श्लीपद	elephantisis
श्लेपक अस्थ्योपस्थि रुगणता	synovial osteochondro matosis
श्लेष्म पर्यस्थि	mucoperiosteum
श्लेष्माभ	mucoid
श्लेष्मपूय	mucopus
श्लेष्माभ व्यपजनन	mucoid degeneration
श्लेष्मलावलय/श्लेष्मला कपाटिकायें	valvulac connivartes
श्लेष्मिक	mucous
श्लेष्मिक चकत्ते	mucous patches
श्लेष्मल जठरशोथ	phlegmonous garstritis
श्लेष्मिक पुटी	mucous cyst
श्लेष्मल पेशिका	muscularis mucosae
श्लेष्मला	mucosa
श्वसन वायु	tidal air
श्वसनी चित्रण	bronchiography
श्वसनी छेदन	bronchotomy
श्वसनीजन्य कार्सिनोमा	bronchiogenic
श्वसनी-वहिका खंड	bronchio-vascular segment
श्वसनी विस्फार	bronchiectasis
श्वसनी वृक्ष	bronchial tree
श्वसनीशोथ	bronchitis
श्वानार्वुद	Schwannoma

श्वान का पिधान	sheath of Schwan
श्वासावरोध	asphyxia
श्वासकष्ट	dyspnoea
श्वासधारिता	vital capacity
श्वासप्रणाल	trachea
श्वासप्रणाल-ग्रासप्रणाल नालव्रण	tracheobranchial fistula
श्वासप्रणाल छिद्रीकरण	tracheastomy
श्वेत कोशिका	leucocyte
श्वेतकोशिका वहुलता	leucocytosis
श्वेतरक्तकोशिका निर्मोक	leucocytic cast
श्वेत जंघा	white leg
श्वेतरक्तता	lukaemia
श्वेत रेखा	white line
श्वेत शल्कता	lleukop-akia
सगर्भता	pregnancy
सघन	dense
सजातीय निरोप	homogenous graft
सनालव्रण	fistilous
सन्निधान/सन्निकटन	approximnaiton
सन्निधि	contiguity
सन्तरी अर्श	sentinel pile
सन्यास	coma
सपाट पाद	flapfoot
सपीड-कुन्थन	tenesmus
सतन्तुपुटीमय अस्थिशोथ	ostitis fibrocystitis
सपूय पैरोटिड शोथ	suppurative parotitis
सपूय गोणिका शिराशोथ	suppurative phyelophlebitis
सपूय नासास्राव	purulant rhinitis
सपूय निःस्राव	purulent exudate
सपूय पित्तवाहिनी शोथ	suppurative cholangitis
सपूय विवरशोथ	suppurative sinusitis
सपूय संधिशोथ	supparative arthritis

समनिरोप	homograft
समजात	homologue
सम्पूर्ण जिह्वोच्छेदन	total glossectomy
सम्पीडन पट्टी	compression bandage
सम्पीडन संलक्षण	compression syndrome
सम्पीडच	compressible
समन्वय करना	coordination
समयानुक्रमित श्वासधारिता	tuned vital capacity
समलम्बाभ	trapezoid
समलविका	trapezium
समाग/समांगी	homogenious
समापीडन	coarctation
समलोच्छेदन	extirpation
समोदरिका	rectus abdominis
समोदरिका विधान	rectus sheath
समूह गति	mass movement
समूह व्यवच्छेदन	block dissections
सम्पुट	capsule
सम्पीडन आघात	compression injuries
सरला	planus
सरलपेशी अर्वुद	leiomyoma
सर्पिल	spiral
सर्पीवृक्क/चलवृक्क	movealbl kidney
सर्पी हर्निया	sliding hernia
सर्वकोशिकाल्पता	pancyto penia
सविरामी	intermittent
सव्रण वृहदान्त्रशोथ	ulcerative colitis
सव्रण मुखपाक	ulcerative stomatitis
सहज अविवरता	congenital atrosia
सहवर्ती	coexisting
संकट	crisis
संकीर्णक अतिवृद्धि	stenosing hypertrophy

संकीर्णता	stenosis
संकीर्णक परिहृदशोथ	constative pericarditis
संकीर्णन	constriction
सकीर्णक बंध	constricting band
सकेन्द्री	concerntric
संकुचनशील	contractile
सकुलता	congestion
सकुलित/रक्ताधिक्ययुक्त	congested
सकुलज दक्षिण हृत्पात	congestive rightsided heart failure
सकुलनहर	decongestive
सक्रमण	infection
सक्रामी चर्मकील	infective wart
सक्रामक कोथ	infective gangrene
ग्राहक सूक्ष्मनलिका	collecting tubule
सतत आचूषण	continous aspiration
सतति पुटी	daughter cyst
सदमी	inhibitory
सदमन	inhibition
संदूषण	contamination
सधर/क्लैम्प	clamp
सधायक प्रवर्ध	articular process
सविग्रह	ankylosis of joint
संधिच्युति	dislocation
संधिजाड्य	locking of joint
सधिग्राही कशेरुशोथ	ankylosing spondylitis
सधिशोथ	arthritis
सधिस्थिरीकरण	arthrodesis
सपिंडन	consolidation
संयुक्त कंडरा	conjoined tendon
संयुक्तवृक्क	fused kidney
संयोजी ऊतक	connective tissue

सयोजिकाच्छेदन	commissurotomy
संयोजिका विभाजन/संयोजिका विभाग	commissural division
संयोजीऊतकशोथ	cellulitis
संरक्षी	conservative, protective
संरक्षी अवरोध	protective barrier
संरूपण	configuration
संलग्नशील	tenacious
सलक्षण	syndrome
संलगन	attatchment
सवर्धन	culture
संवरणी अतानता /संवरणी ह्रास	sphincter atony
संवातन नाल	ventilation shaft
सवृत अस्थिभंग	closed (simple) fracture
संस्तंभी अंगघात	spastic paralysis
संस्थिति	position
संस्थितिज निर्हरण	postural drainage
संहत	compact
संज्ञाहीन/सवेदनाहीन	insensitive
स्कन्दनता	coagulabilitay
स्कंधसंधि	shoulder joint
स्टेन्सनवाहिनी	Stenson's duct
स्टेमिटिल	stemitil
स्ट्रैंगुरी/विन्दु मूत्रकृच्छ	strangury
स्तन	breast
स्तन पंप	breast pump
स्तन परिवेश	areola of breast
स्तनवाहिनी विस्फार	mammary duct ectasia
स्तब्धता	shock
स्तंभाकार	columnar
स्तभिका	columella
स्तरित	stratified
स्तवकी वृक्कशोथ	glomerular nephritis

स्थाणुक अवर्ध	clinoid process
स्थलान्तरण अंश/विक्षेप	metastases
स्थाननिर्धारण चिन्ह /स्थानीकरण चिन्ह	localising signs
स्थानिक संवेदनाहारी फुहार	local anaesthetic spruy
स्थानीकृत	localised
स्थूलौष्ठता	macrocheilia
स्थूल	massive
स्थूल घनास्रता	massive thrombosis
स्थूल रूप	macroscopic form
स्थूलक	condyle
स्थैतिकता	stasis
स्नेहक	lubricant
स्नेहित	iubricated
स्पन्दी नेत्रोत्सेध	pulsating exophthalmos
स्पन्दी/स्पन्दनयुक्त	pulsatile
स्पर्मेटोसील/शुक्रपुटी	spermatocele
स्पर्शतरग	fluctuation
स्पर्शतरगयुक्त	fluctuating
स्मेग्मा	smegma
स्मृतिलोप	amnesia
स्रावी	secretory, secreting
स्वतः	spontaneous
स्वत:शमन/स्वत:रोगमुक्ति	spontaneous cure
स्पर्शासहता	tenderness
स्फोटकज्वर	erruptive fever
स्फीतशिरायें/अपस्फीत शिरायें	varicose veins
स्वच्छ उपस्थि/शुभ्रउपस्थि	hyaline cartilage
स्वजात निरोप/स्वअस्थि निरोप	autogenous graft
स्वत:वृक्कोच्छेदन	autonephrectomy
स्वधारक केथिटर	self retaining catheter
स्वप्रदीप्त कर्णदर्शी	selfilluminating otoscope

स्वरभंग	hoarseness of voice
स्वरयंत्रग्रसनी	laryngopharynx
स्वरयंत्रघात	laryngeal paralysis
स्वरयंत्रक डिप्थीरिया	laryngeal diphtheria
स्वरयंत्रदर्शन	laryngoscopy
स्वरयंत्रदर्शी	laryngoscope
स्वरयंत्रशोथ	laryngeal oedema
स्वरयत्र-श्वासप्रणाल श्वसनीशोथ	laryngo-tracheo-bronchitis
स्वरयंत्र संकीर्णता	laryngeal stenosis
स्वस्तिक स्नायु	cruciate ligament
स्वररज्जु	vocal cords
स्वरयंत्र	laryngitis
स्वरित्रद्विभुज	tuning fork
सांख्यिकीय प्रमाण	statistical proof
साग्रही/निर्बंध	persistant
सातत्य	continuity
सार ऊतक	parenchyma
सापेक्ष निदान	differential diagnosis
सापेक्ष श्यावना	differential cyanosis
सामान्य पित्तवाहिनी	common bileduct
सायुज्य/संगलन	fusion
सारकोइडोसिस	sarcoidosis
सार्कोमा	sarcoma
सालमोनेला	salmonella
सास उखड़ना	breathlessness
स्रावी उपकला	secretory epithelium
स्रावी एक्जिमा विक्षति/स्रावी पामा विक्षति	weeping eczematoid lesion
स्रावप्रेरक तन्तु	secretomotor fibres
स्वाद अग	taste organs
सिरिंगोमाइलिआ	syringomyelia
सिरोसिस	cirrhosis

स्वचालित तन्त्रिकातन्त्र	autonomic nervous system
स्वायत्त "	"
सिरसाइड एन्यूरिज्म	cirsoid aneurysm
सिस्टीन	cystine
सिस्टोसील	cystocoele
सिस्टोसर्कोसिस/सिस्टोसर्कस रुग्णता	cystocercosis
सिस्टोस्कोपी/मूत्राशयदर्शन	cystoscopy
सिंहवन् करोटि	leontiasis ossea
स्किरस/कठोर	scirrhus
स्थिरता	fixity
स्थिरीकरण	fixation
स्ट्रेप्टोकोकसजन्यपर्युदर्याशोथ	streptococcal peritonitis
स्ट्रेप्टोकोकस फिकेलिस	streptococcus faecalis
स्पिगेली खड	spigelian lobe
स्प्लिन्ट/कुशा	splint
स्मिथपिटर्सन कील	Smith-Peterson nail
सीमेन्ट	cement
सीमेन्टार्बुद	cementoma
सीरमी कचुक	serous coat
सीरीर क्तमय	serosanguinous
सीलोम	coelom
सीवन/टाके	sutures, suturing
सीस	lead
स्क्लीरोडर्मा	scleroderma
सुग्राही	sensitive
सुग्राहिता	sensitivity
सुदम	benign
सुधार/विरोहण	repair
सुधारक असगति	corrective anomaly
सुन्नत करना/खतना	circumcision
सुन्नता/संज्ञाहीनता	numbness
सुरक्षा वाल्व	safety valve

सुविभेदित	welldifferentiated
सुषिर अस्थ्यर्बुद	cancellous osteoma
सुषिर पट्टिका	cribrıform plate
सूखा रोग	marasmus
सूजन	swelling
सूत्राकार	filıform
सूत्राकार बूजी	fiitıform bougıe
सूत्रकृमि	thread worm
सूक्ष्मनलिकान्तर	intracanalicular
हनु	jaw
हनुस्तंभ	trismus, lockjaw
हर्निया	hernıa
हर्नियाछेदन	herniotomy
हर्नियासीवन	herniorrhaphy
हर्नियासंधान	hernıoplasty
हर्पीज जोस्टर	herpes zoster
हर्षणी तन्त्रिकायें	nervi erigentes
हस्तकौशल	manıpulatıon
हाइलम, हाइलस	hialum, hialus
हाइडेटिड पुटी	niadatıd cyst
हिमीकरण-शुष्कीकृत	freeze-drıed
हिमीभूत परिच्छेद प्रविधि	frozen sectıon method
हिमेटोसील/रक्तवृषण	haematocele
हिस्टोसाइटता	histo eytosts
हुक	hook
हुकलेट	hooklet
हृदय	heart
हृदयायास	heart straın
हृद् चक्र	cardıac cycle
हृद् छेदन	cardıotomy
हृद् धमनी घनास्रता	coronary thrombosia
हृद् टैम्पोनाड	cardiac temponade
हृद् पात	cardıac outpot
हृद्पेशी	myocardium

हृद् पेशीशोथ	myocarditis
हृद् मन्दता	bradycardia
हृद् परिसंचरण	coronary circulation
हृद्-फुप्फुस मशीन	heartlung machine
हृद्रोध	heart block
हृदवपस्थिरीकरण	capdio-omentopexy
हृद् विराम	cardiac arrest
हृद् सदमन केन्द्र	cardio inhibitory centre
हृद्-क्षति अपूर्ति	cardiac decompensation
हृद्क्षिप्रता	tachycardia
हेतुकी	aetiology
हेमार्टोमा	hamaıtoma
हेनले का संवलित पाश	convoluted tubule of Henle
हौस्टन कटिका	Hauston's valve
क्षति/विक्षति	lesion
क्षतांक	scar, cicatrix
क्षतांकन	cicatrixation
क्षत संक्रमण	wound infection
क्षयग्रस्त पर्व	tubercular node
क्षयजन्य अंधान्त्र विक्षति	tuberculous coecal lesion
क्षयजन्य पर्युदर्याशोथ	tuberculous peritonitis
क्षयजन्य भगन्दर	tuberculous fistula
क्षार	alkali
क्षाररक्तता	alkalaemia
क्षारमयता	alkalosis
क्षीणता	cachexia
क्षुद्रान्त्र	small intestine
क्षुद्रान्त्र योजनी	mesentery
क्षुधावेदना	hunger pain
क्षेपण लक्षण	dumping syndrome
क्षैतिज	horizontal
क्षैतिज प्रवर्ध	horizontal process
क्षोभ	irritalion
क्षोभक	irritant